श्री मद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध की श्रीमद्वल्लभाचार्य कृत संस्कृत टीका

श्रीसुबोधिनी का हिन्दी अनुवाद

नमामि हृदये शेषे लीला क्षीराब्धि शायिनम् ।
लक्ष्मी सहस्र लीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम् ॥ १ ॥
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा ।
षड्भिर्विराजते योऽसौ पंचधा हृदये मम ॥ २ ॥

प्रकाशक—श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (रजि०)
जोधपुर (राजस्थान)

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ-माला — द्वितीय पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण

की

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित संस्कृत टीका

श्री सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद

(सहित)

दशम स्कन्ध — पूर्वार्ध

अध्याय ५ - १४

श्रीसुबोधिनी — तामस - प्रमाण उप - प्रकरण

अध्याय १ - ७ : प्रक्षिप्त अध्याय १ - ३

सहायक ग्रन्थ

टिप्पणी—श्रीमद्विठ्ठलनाथजी (गुसांईजी)

लेख—गो० श्रीवल्लभजी महाराज

प्रकाश—गो० श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज

योजना—प. भ. पं० श्रीलालूभट्टजी

कारिकार्थ—प. भ. पं० श्रीनिर्भयरामजी भट्ट

अनुवादक —

प. भ. पं० श्रीफतहचन्दजी वासू (पुष्करणा)

शास्त्री, विद्याभूषण

जोधपुर (राजस्थान)

प्रथम आवृत्ति

प्रति १०००

श्रीमद्वल्लभजयन्ती महामहोत्सव

विक्रम संवत २०२५ वै. कृ. ११

श्रीवल्लभाब्द ४९१

तारीख २३ अप्रेल, १९६८

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक

श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (रजि०)

मानधना भवन, चोपासनी मार्ग

जोधपुर (राज०)

न्योछावर—

सादर भेंट संस्था सदस्यों को

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (रजिस्टर्ड) जोधपुर

कार्यालय–मानधना भवन, चोपासनी मार्ग.

मुख्य उद्देश्य—

जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य वर्य द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं अन्य पुष्टिमार्गीय साहित्य का संरक्षण, संवर्द्धन, प्रकाशन तथा संस्कृत साहित्य का देवनागरी एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद करवाने एवं उसके प्रकाशन अध्ययन, अध्यापन द्वारा जन साधारण में प्रचार करना तथा सङ्गीत कला चित्र कला एवं अन्य ललित कलाओं की उपलब्ध सामग्री की शोध करना व करवाना।

सदस्यता—

विशिष्ट आजीवन सदस्य रु० १०००) व इससे अधिक की आर्थिक सेवा कर्ता।

आजीवन सदस्य रु० १२५) से ९९९) तक की आर्थिक सेवा कर्ता।

संस्था के निष्काम कार्यकर्त्ता—

प. भ. पो. श्री कण्ठमणिजी शास्त्री, उपाध्यक्ष, सम्पादन मण्डल कांकरोली।
,, श्री नरनारायणजी आसोपा, एम. ए. साहित्यालङ्कार, उपाध्यक्ष, जोधपुर।
,, श्री नन्दलालजी मानधना (मेनेजर मारवाड़ सिमेंट कम्पनी) कोषाध्यक्ष, जोधपुर।
,, श्री पुरुषोत्तमदासजी पुरोहित बी. ए. रिटायर्ड कलेक्टर, जोधपुर।
,, श्री नन्ददास (रामचन्द्र वर्मा) प्रभाकर बी. ए., जोधपुर।

मुद्रक : राजस्थान लॉ वीकली प्रेस, उच्च न्यायालय मार्ग, जोधपुर।

॥ श्री हरिः ॥

❋ सामग्री ❋

दो शब्द . . .	गो० श्री व्रजभूषणलालजी महाराज-अध्यक्ष .	अ
आमुख . . .	श्री नन्ददास (रामचन्द्र)–प्रधान मंत्री .	आ
गो० श्री वृजभूषणलालजी महाराज के जीवन चरित्र की एक झलक—श्री नन्ददास (रामचन्द्र) .		ॠ
श्री सुबोधिनीजी के प्रथम पुष्प पर प्राप्त सम्मत्तियों से कुछ . . .		ॡ
चरित्रनायक का कुछ	भक्त शिरोमणि सूरदासजी .	घ
श्रीमद्विट्ठलनाथजी (गुसांईजी) प्रभुचरण के जीवन की झांकी .	गो०वा० श्रीद्वारकादासजी परीख .	च
श्री भागवतार्थ प्रकरण (श्री तत्वार्थ दीप निबन्ध) .	श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण	
१ से १४ अध्याय-अनुवादक .	प० भ० श्री पुरुषोत्तमदासजी पुरोहित .	थ
सूर सारावली	भक्त शिरोमणि सूरदासजी .	श
तामस प्रमाण अवान्तर प्रकरण की भूमिका .	गो० श्री व्रजभूषणलालजी महाराज .	ज्ञ

श्री मद्भागवतानुसार अध्याय	श्री सुबोधिनी अनुसार तामस प्रमाण उप-प्रकरण अध्याय		
५	१	नन्द महोत्सव (कृष्ण जन्म के उपलक्ष में) .	१
६	२	पूतना उद्धार . . .	५६
७	३	शकटभञ्जन और तृणावर्त उद्धार . .	११६
८	४	नामकरण संस्कार और बाललीला . .	१८३
९	५	श्रीकृष्ण का ऊखल से बांधा जाना . .	२६१
१०	६	यमलार्जुन का उद्धार . . .	३३६
११	७	गोकुल से वृन्दावन जाना, वत्सासुर व बकासुर उद्धार	४०१
१२	प्रक्षिप्त १	अघासुर उद्धार . . .	४६१
१३	प्रक्षिप्त २	ब्रह्माजी का मोह और उसका नाश . .	४६१
१४	प्रक्षिप्त ३	ब्रह्माजी के द्वारा भगवान् की स्तुति . .	५३५

शुद्धि पत्र . . .	प० भ० श्रीगोकुलचन्दजी काबरा .	५६७
अनुक्रमणिका . . .	प० भ० श्री पुरुषोत्तमदासजी, पुरोहित .	५६६
प० भ० श्री नन्दलालजी मानधना का संक्षिप्त जीवन वृत .	श्रीनन्ददास (रामचन्द्र) .	६०७
गो० वा० यमुनादासजी व चि० गिरधरदासजी का जीवन चरित्र .	श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी	६११

चित्र-सूची

तिरंगे चित्र	पृष्ठ	इक रंगे चित्र	पृष्ठ
मुरलीधर श्रीकृष्ण .	मुख पत्र	गो० श्री व्रजभूषणलालजी महाराज .	अ
श्री नन्द महोत्सव .	२३	श्री नवनीतलाल प्रभु .	ङ
पूतना उद्धार, बाल कृष्ण की रक्षा	६५	श्री मद्विठ्ठलेश प्रभुचरण (गुसांईजी) .	च

चित्र-सूची

तिरंगे चित्र

श्री कृष्ण बलराम की बाल लीला २३०
यमलार्जुन उद्धार . ३७३
ब्रह्माजी की स्तुति . ५३६
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण . अन्तिम मुख पत्र

इकरंगे चित्र

प० भ० श्री नन्दलाल जी मानधना . ६०६
प० भ० गो० वा० श्रीमती सौभाग्यवती मानधना ६०९
प० भ० गो० वा० श्री यमुनादासजी मूंधड़ा ६१२
प० भ० श्री गिरधर दास जी मूंधड़ा . ६१५

मुख्य संरक्षक

तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज
गोस्वामी श्री व्रजरत्नलालजी महाराज ... ... नाथद्वारा
गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज .... सूरत
गोस्वामी श्री दीक्षितजी महाराज .... कांकरोली
गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज ... . बम्बई
गौस्वामी श्री गोविन्दरायजी महाराज .... कोटा
गोस्वामी श्री रणछोड़ाचार्यजी महाराज .... पोरबंदर
गोस्वामी श्री व्रजरायजी महाराज ... ... जतिपुरा
गोस्वामी श्री घनश्यामलालजी महाराज ... राजनगर (अहमदाबाद)
गोस्वामी श्री रघुनाथलालजी महाराज ... ... कामबन
गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज–अध्यक्ष ... ... गोकुल
चोपासनी (जोधपुर), जामनगर

सम्मानित सदस्य

श्रीमान् मोहनलालजी सुखाड़िया, मुख्य मंत्री, राजस्थान जयपुर .... जयपुर
श्रीमान् डी० एस० दवे मुख्य न्यायमूर्ति, राजस्थान उच्च न्यायालय ... ... जोधपुर
श्रीमान् डाक्टर श्री गोविन्ददासजी पद्मभूषण–सदस्य लोकसभा ... ... नई दिल्ली
श्रीमति सुमतिबेन मोरारजी (पामवन गांधी ग्राम जुहू) ... ... बम्बई
श्रीमति चन्द्रकान्ता आर० भट्ट एम० ए (सुरेन्द्र निवास विले पार्ले) ... ... बम्बई

विशिष्ठ आजीवन सदस्य

परम भगवदीय श्री नन्दलालजी मानधना, मानधना भवन, जोधपुर ... ... ५०००)
परम भगवदीया गो० वा० श्रीमती सौभाग्यवतीजी मानधाना, जोधपुर ... ... ५०००)
परम भगवदीय गो० वा० श्री यमुनादासजी मूंधड़ा, बीकानेर, द्वारा उनके सुपुत्र प. भ. जीवनदासजी प्रभृति ... ... ३५०१)
परम भगवदीय श्री गिरधरदासजी मूंधड़ा, बीकानेर एवं उनके सुपुत्र प. भ. श्री गोविन्ददासजी व माधवदासजी प्रभृति बीकानेर .... ३५०१)
प. भ. श्री भगवानदासजी अग्रवाल, कलकत्ता ... ... १००१)
प. भ. श्री ईश्वरलालजी चिमनलालजी, बड़ोदा ... . १००१)
प. भ. श्री व्रजमोहनदासजी विजय, शुजालपुर मण्डी ... ... १००१)
प० भ० श्री वल्लभदास जी राठी, अमरावती ... ... १००१)
प० भ० श्री बाला भाई दामोदरदास ट्रस्ट द्वारा श्री साकरलाल बालाभाई — अहमदाबाद १००१)
प० भ० श्री वेलजी भाई चतुरभुज जी — बम्बई ... . १००१)

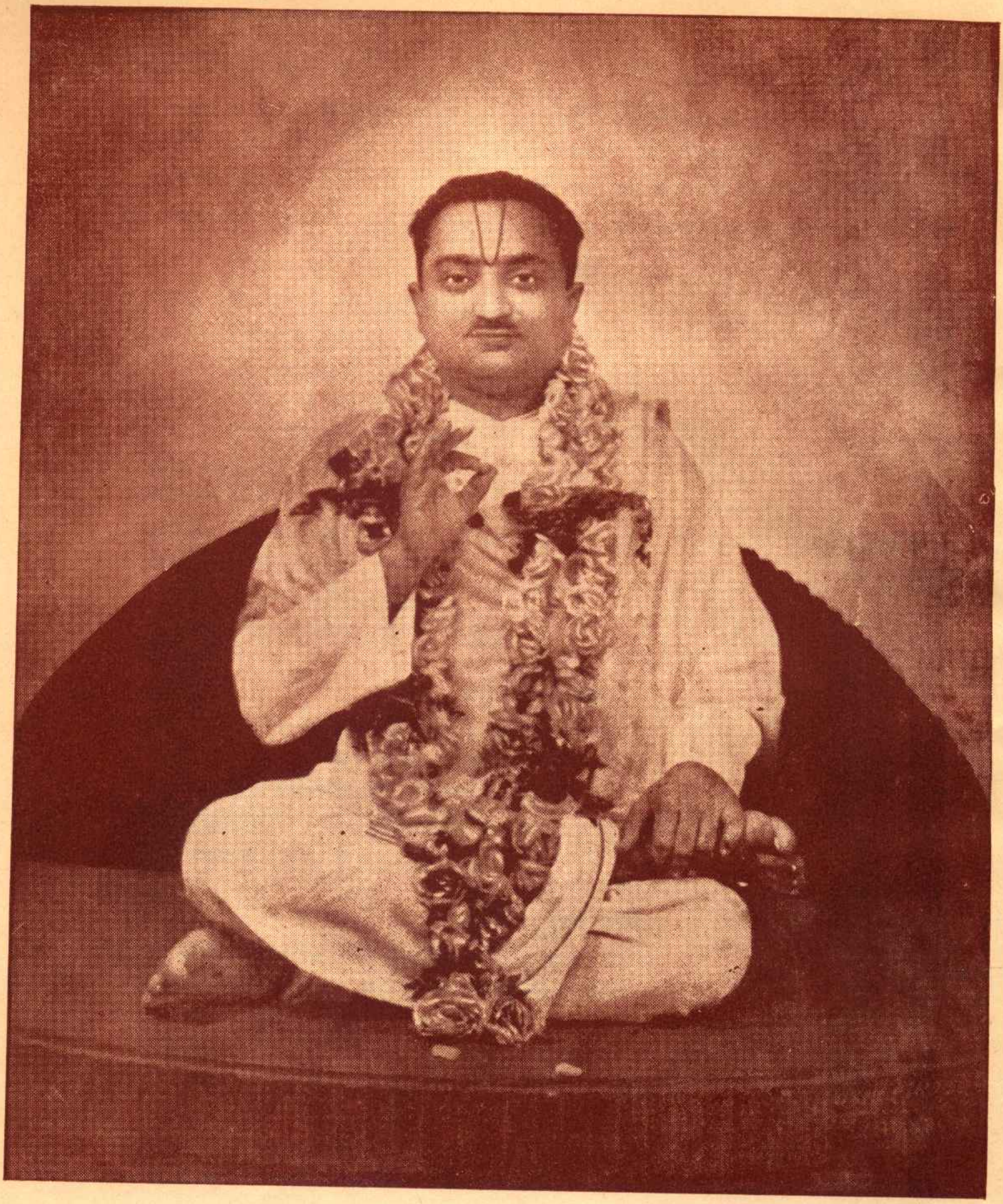

पूज्यपाद गोस्वामी श्री व्रजभूषणलाल जी महाराज चोपासनी व जामनगर
अध्यक्ष–श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर.

।। श्री वाक्पति श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विजयते ।।

दो शब्द

श्री सुबोधिनी रसपिपासु वैष्णव वृन्द ! लीला पीयूषनिधि श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी टीका के रसका पान करने के लिये उत्सुक आप के समक्ष "श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला" का यह 'द्वितीय पुष्प' प्रस्तुत करते हुए अन्तःकरण में आनन्द का प्रचुर अनुभव हो रहा है, आशा है कि पाठक इस द्वितीय पुष्प में से, दशमस्कन्ध के तामस प्रमाण-अवान्तर-प्रकरण की लीलाओं में भरे हुए मधु का रस पान कर अपने आप को कृतार्थ करेंगे ।

दशम स्कन्ध में निरोध लीलाकर्ता, निरोध लीला में प्रविष्ट एवं उन लीलाओं के नियामक आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र का निरूपण किया हुआ है । प्रभु ने भक्त निरोधार्थ की हुई विविध लीलाओं में से प्रथम तामस भक्त निरोधार्थ प्रमाण लीलाएं कर, उनका अपने में स्नेहात्मक निरोध सिद्ध किया है ।

तामस भक्त वास्तव में. सर्व गुणातीत निर्गुण भक्त हैं, कारण कि उन्होंने सर्व प्रकार लौकिक विषयों में से अन्तःकरण को खींच कर भगवान् में दृढ़ आसक्त किया, उनकी ऐसी दृढ़ आसक्ति थी जो,भगवान् की आज्ञा भी ठुकरा देते थे, ऐसे दृढ़ आग्रह के कारण ही वे भक्त तामस कहलाते हैं, इससे पाठकों को भी यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि हम भी भगवान में ऐसा दृढ़ प्रेम रखें, जो किसी तरह भी विचलित न हो ऐसे दृढ़ आग्रही अनन्य भक्त होने पर ही भगवान् स्वयं साधन बनकर उन भक्तों को अपने में निरोध करते हैं ।

मुद्रणालय आदि की अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी, प्रभु कृपा से १४ अध्याय तक का अनुवाद अब तक प्रकट होकर उत्सुक पाठकों को रस पान करा रहा है, आशा है कि प्रतिदिन कार्य की द्रुतगति होती जाएगी, क्योंकि २१ अध्यायों (तामस फल उप-प्रकरण तक की पाण्डुलिपि तैयार है और दशम स्कन्ध के कुल ९० अध्यायों में से ८७ अध्यायों का अनुवाद तैयार हो गया है केवल ३ अध्यायों का करना शेष रहा है सो दो मास तक समाप्त हो जाएगा इससे कार्य–कर्ताओं का दृढ़ विश्वास है कि श्रीमदाचार्य चरणों की प्रेरणा से ही इस कार्य का प्रारम्भ हुआ है, अतः यह कार्य विघ्नों को पार कर शीघ्र पूर्ण होगा, जिससे भागवत रस पानेच्छु, रसिक भावुक भगवदीय श्री सुबोधिनीजी के गूढरहस्य को हृदयंगम करके, सेवा के सत्व स्वरूप को समझ प्रेम से सेवा करते हुए आनन्दोदधि में मग्न हो जाएँगे ।

अन्त में इस कार्य को लगन से सम्पादन करने वाले सज्जनों को अभिनन्दन देते हुए श्रीश्याम मनोहर प्रभु के चरणों में प्रार्थना करता हूँ कि इन सबको पूर्ण सामर्थ्य प्रदान करें, जिससे यह कार्य निर्विघ्न शीघ्र पूर्ण हो—इत्यलम्

श्रीराम जयन्ती महोत्सव, वि० सं० २०२५
जामनगर

गो० व्रजभूषणलाल
अध्यक्ष

॥ श्री हरिः ॥

आ मु ख

श्री मद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका के जन्म प्रकरण (प्रथम चार अध्यायों) के हिन्दी अनुवाद सहित का प्रकाशन श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला के प्रथम पुष्प के रूप में श्री जन्माष्टमी वि० सं० २०२३ के शुभ दिन हुआ था। उस ग्रन्थ की कुछ प्रतियां कतिपय परमादरणीय श्री मद्वल्लभ कुल आचार्य एवं विद्वद्-वर्ग को भेंट की गई थी जिससे ग्रंथ में रही हुई त्रुटियाँ जानी जा सकें और भविष्य का कार्य किस प्रकार सुचारु रूप से हो इसका भी हमें मार्ग-दर्शन मिल सके। मुद्रण की भूलें तो बहुत कुछ हमारी दृष्टि में थीं ही जिसका शुद्धि पत्र ग्रंथ में लगाया गया परन्तु अनुवाद की भाषा शैली विषय प्रतिपादन इत्यादि का सम्यक् ज्ञान होना भी आवश्यक था। इस सम्बन्ध में लगभग सभी महानुभावों ने कुछ न कुछ ग्रंथ को अधिक उपादेय एवं चित्ताकर्षक बनाने के सुझाव दिए हैं जिनमें से कुछ का उल्लेख अन्यत्र है। हम उन सभी महानुभावों का आभार स्वीकार करते हैं कि उन्होंने ग्रंथ का अवलोकन एवं अध्ययन कर निज योग्यता एवं अनुभवानुसार हम को मार्ग दर्शन दिया, जिसका हम कहां तक अनुसरण कर सके हैं यह पाठक स्वयं देखें।

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण ने दशम स्कन्ध के प्रकारणार्थ में (तीनप्रक्षिप्त अध्यायों के अतिरिक्त) ८७ अध्यायों का वर्गीकरण निम्न श्लोक में किया है—

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा।
षड्भिर्विराजते योऽसौ पञ्चधा हृदये मम ॥

इसका अनुकरण करते हुए दशम स्कन्ध की सुबोधिनी टीका का हिन्दी अनुवाद १३ पुष्पों (खण्डों) में प्रकाशित किया जाएगा। यथा—

	अध्याय		अध्याय
जन्म प्रकारण—प्रथम पुष्प	४	राजस प्रमेय—सप्तम् पुष्प	७
तामस-प्रमाण —द्वितीय पुष्प	७	राजस-साधन —अष्टम् पुष्प	७
(प्रक्षिप्त सहित) (३)		राजस-फल —नवम् पुष्प	७
तामस प्रमेय — तृतीय पुष्प	७	सात्विक-प्रमेय—दशम पुष्प	७
तामस साधन —चतुर्थ पुष्प	७	सात्विक-साधन—एकादश पुष्प	७
तामस-फल —पञ्चम पुष्प	७	सात्विक-फल —द्वादश पुष्प	७
राजस-प्रमाण —षष्ठं पुष्प	७	गुण-प्रकरण —त्रयोदश पुष्प	६
	३९		४८

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण ने श्रीमद्भागवत महापुराण का शास्त्रार्थ, स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ, अध्यायार्थ, वाक्यार्थ, पदार्थ और अक्षरार्थ इन सात प्रकारों से जिस प्रकार अविरोध हो उस प्रकार श्री सुबोधिनी टीका की है। इनमें से प्रथम चार प्रकार के अर्थ तत्वार्थ दीप निबन्ध के

श्री भागवतार्थ प्रकरण में और शेष तीन अर्थात् वाक्यार्थ पदार्थ और अक्षरार्थ श्री सुबोधिनी में आप श्री ने वर्णन किए हैं जिनका समावेश प्रस्तुत ग्रन्थ में है। इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण छप जाने के पश्चात् यह विचार आया कि उपर्युक्त चार प्रकार के अर्थों का विवेचन भी यदि इस ग्रन्थ में हो जाए तो जिज्ञासु पाठकों को इस एक ही ग्रन्थ में सातों प्रकार के अर्थों की उपलब्धि हो सकेगी और ग्रन्थ की उपादेयता में भी निस्सन्देह वृद्धि होगी। अतः भागवतार्थ प्रकरण के दशम स्कन्ध विवरण में से प्रथम १४ अध्यायों (जन्म प्रकरण के चार अध्याय, जिनका अर्थ प्रथम पुष्प में नहीं दिया गया था व तामस प्रमाण उप-प्रकरण के सात अध्याय, तथा प्रक्षिप्त तीन अध्याय) की कारिकाएँ ज्यों की त्यों और उनका हिन्दी में सरल अर्थ भी प्रस्तुत ग्रन्थ में दिया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय की प्रथम मुद्रण लिपि (प्रूफ) जाँचते समय नन्द महोत्सव का वर्णन पढ़ते पढ़ते विचार आया कि ऐसा ही वर्णन भक्त शिरोमणि सूरदासजी ने श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा दीक्षित होने व श्रीमद्भागवत की अनुक्रमणिका सुनने के पश्चात् आप श्री की आज्ञा से प्रथम पद रचना—"व्रज भयो महर के पूत जब यह बात सुनी' से की है। भगवद्रस पूर्ण पाठकों के आनन्दोल्लास को प्रज्वलित करने के हेतु पाद टिप्पणी में सूरदासजी आदि अष्ट छाप के बनाए हुए पदों का उपयुक्त स्थान में समावेश किया गया है। परन्तु जब देखा कि एक पद, पाद-टिप्पणी में होने से, कई पृष्ठों पर आ गया है तो उसे पढ़ने और मनन करने में अवरोध पड़ता है। अतः इस क्रम को त्याग कर प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस अध्याय में वर्णित लीला का पद देना आरम्भ किया। जो महानुभाव प्रस्तुत ग्रन्थ के दस अध्यायों में वर्णित लीलाओं का एक साथ पाठ हिन्दी पदावली में करना चाहें उनके लिए सूर सरावली में से इन्हीं दस अध्यायों का वृत भी दिया गया है।

ग्रन्थ को अधिक चित्ताकर्षक बनाने के लिए भाव पूर्ण नवीन चित्र बनाने के लिए नाथद्वारा के सुविख्यात श्री खूबीरामजी चित्रकार से कुछ वर्षों पूर्व तय हुआ था। प्रभु इच्छा से वे महानुभाव इस अरसे में परलोक सिधारे, अतः उनके सुपुत्र श्री राजेन्द्रप्रसादजी शर्मा ने चित्र बनाने की इच्छा प्रकट की अतः पूज्य-पाद तिलकायत श्री गोविन्दलालजी महाराज श्री की अनुकम्पा एवं महोदारता से आप श्री के निजी पुस्तकालय में बिराजमान् चित्रमय श्री मद्भागवतजी के इन दस अध्याथों में दिए हुए चित्रों के दर्शन चित्रकारजी को कराए गए जिन में से चार चित्र छांटे गए जिनके अनुरूप चित्र बनाने का आदेश उनको दिया गया। इन चार चित्रों का खाका खिंचवा कर उनके बनवाने की, अध्यक्ष महोदय से उचित संशोधन के पश्चात् स्वीकृति ली गई और चित्रकारजी को संशोधन वृत समझाया गया तथापि वे पूर्णतया अनुकरण नहीं कर सके जिससे मुझे तो सन्तुष्टि नहीं हुई। परन्तु चित्र बम्बई में ऐसे समय में प्राप्त हुए जब कि उनके ब्लाक बनने वाले से सब कुछ बात हो चुकी थी। उन चित्रों को पुनः बनवाने में कम से कम दो मास का विलम्ब और होना था जो करना उचित न समझ कर ब्लाक तैयार करवा कर चित्र छपाए गए।

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला के प्रथम पुष्प में श्री मद्वल्लभाचार्य चरण के 'जीवन चरित्र की झलक' शीर्षक लेख दिया गया है इस बार श्री मत्प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजी (गुसांईजी) के

"जीवन चरित्र की एक झाँकी" लेख प्रस्तुत किया गया। यह लेख सम्प्रदाय के सुविख्यात इतिहासकार परम भगवदीय गोलोकवासी श्री द्वारकादासजी पारीख द्वारा लिखित "श्री विठ्ठलेश चरितामृत" का एक संक्षिप्त विवरण है। श्री मद्विठ्ठलेश प्रभु ने श्री सुबोधिनी के गूढ़ आशय को "टिप्पणी" ग्रन्थ द्वारा स्पष्ट किया है जिसके आधार पर ही यह अनुवाद किया गया है।

इस संस्था के अध्यक्ष महोदय पूज्य पाद गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज श्री की इच्छा न होते हुए भी मैंने आप श्री का संक्षिप्त परिचय देकर अपनी लेखनी पवित्र करने का जो साहस किया है जिसके लिए पूज्य महाराज श्री से मैं कर बद्ध क्षमा याचना करता हूँ क्योंकि सम्भव है मेरे लेख में न्यूनता रही हो परन्तु जितना मुझे ज्ञात है और जो मेरे अनुभव में आया है उसके आधार पर ही मैंने निवेदन किया है।

श्री सुबोधिनीजी का हिन्दी अनुवाद आर्थिक सेवा द्वारा प्रारम्भ एवं संचालन कराने वाले महानुभावों का परिचय प्राप्त करने की इच्छा कतिपय सज्जनों ने प्रकट की तदर्थ अध्यक्ष महोदय के समक्ष ऐसे उदार चरित्र भक्तों का संक्षिप्त जीवन वृत देने का प्रस्ताव अध्यक्ष श्री की सेवा में प्रस्तुत किया गया जिसका आप श्री ने तुरन्त सहर्ष समर्थन किया अतः इस ग्रन्थ के अन्त में प०भ० श्री नन्दलालजी 'मानधना' गो० वा० श्री यमुनादासजी मूंधड़ा प्रभृति का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यद्यपि श्री नन्दलालजी मानधना ने अपना परिचय देने के लिए सफा मना कर दिया इससे जो कुछ ज्ञात था उसके आधार पर ही कुछ लिखा है।

प्रथम पुष्प के मुद्रण समय में आई हुई कठिनाईयों का अनुभव प्राप्त होने पर भी इस दिशा में हमें सफलता न मिली क्योंकि खेद है कि अधिकांश में अब भारतीय जनता में से वचन पालन का महत्व विलीन होकर स्वार्थ सिद्धि की भावना जागृत हो गई है। जिन महानुभाव ने इस ग्रन्थ को अधिक से अधिक चार माह में छाप कर देने का वचन दिया था वे उस वचन को नहीं निभा सके और दुगना समय उन्होंने लिया। सोई हाल चित्रकार, चित्र का ब्लाक बनाने वाले और चित्र छाप कर देने वाले सज्जनों का देखा। किया भी क्या जाए किस किस काम को यह संस्था सम्भाले अपना मुद्राणलय स्थापित करे या चित्रकार वेतन भोगी रखे अथवा चित्र छापने की मशीनें लगवावे ? सदस्य गण इन कठिनाईयों का अनुभव कैसे कर सकते हैं, क्योंकि सहृदय सज्जन बहुत अल्पसंख्यक हैं। अस्तु हम फिर भी सदस्य महानुभावों से इस पुष्प के प्रकाशन में हुई विलम्ब के लिए क्षमा याचना करते हैं। इस की प्रकाशन तिथि श्री मद्विठ्ठलेश जयन्ती रखी थी परन्तु चार मास में भी यथावत् सामग्री न जुट सकी अतः अब श्री मद्वल्लभ जयन्ती महोत्सव ही प्रकाशन तिथि रखने में हमें हर्ष है कि जिन "अदेय दान दक्षश्च" महोदार चरित्रवौन् ने—

श्री भागवत अमृत दधि मथ के श्री वल्लभ सर्वोत्तम।
कर आवरण दूर निज जनके हाथ दिए पुरुषोत्तम ॥
सेवा साज श्रृंगार सुभग रस श्री वल्लभ प्रगटायो।
वृन्दावन निकुञ्ज की लीला हरि जीवन स्वाद चखायो ॥

"रसो वै सः" श्रुति को व्यावहारिक रूप में विश्व को दिखा दिया । उनके जयन्ती महोत्सव के दिवस उनकी वाणी स्वरूप श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला के सौरभमय प्रफुल्लित द्वितीय पुष्प से हमारे गृह धाम को पावन करें ।

आभार दर्शन--

सबसे अधिक हर्ष का विषय है कि संस्था के अध्यक्ष श्री गो० श्री व्रजभूषणलालजी महाराज ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिख कर अपने भाव विचारों से हम लोगों को अवगत कराने की कृपा की है । स्वरूप-सेवा एवं नाम सेवा के साथ साथ जनता जनार्दन की सेवा में हर समय लगे रहने पर भी आप श्री ने अवकाश निकाल कर प्रत्येक अध्याय में वर्णित भगवल्लीला के गूढार्थ का प्रदर्शन किया है । जिस लगन व स्नेह एवं उत्साह से इस संस्था के कार्य-कलापों में आप श्री सहयोग देते हैं, वह अनिर्वचनीय है । आप श्री के इस अनुग्रह का बदला शब्दों द्वारा नहीं चुकाया जा सकता है । श्री सुबोधिनी के सुधा रस का आस्वादन आप की कृपा से जो हो रहा है उसके लिए पाठक आप श्री के चिर ऋणी रहेंगे ।

इस ग्रन्थ के लिए चित्रों के छपाने के सम्बन्ध में जब मैं बम्बई गया हुआ था उस समय श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प की एक प्रति पू०पा०गो० श्री गोपीनाथजी महाराज को भेंट की । आप श्री ने पुस्तक लेकर शिरोधार्य की और अवलोकन करके कहने लगे कि श्री महाप्रभुजी के सर्वोच्च भगवद्रसार्णव के अनुरूप ही इस का बाह्य स्वरूप चित्ताकर्षक मन मोहक होना चाहिए था जिससे दर्शक सहज में ही उसके विषय को पढ़ने के लिये आकर्षित हो जाता । पूज्य महाराज श्री उच्चकोटि के कलाकार हैं और इससे आप श्री का मार्ग-दर्शन के रूप में यह आज्ञा करना वास्तव में उपयुक्त है जिसके लिए हम आपके आभारी हैं और इससे भावी प्रकाशन पर इसका ध्यान अवश्य रखा जाएगा । प०भ० श्री उद्धवदास मूंधड़ा जो मेरे साथ थे अन्य दिवस प०भ० श्री रवेन्द्र भाई के पास मुझे ले गए जो इन महाराज श्री के परम कृपा पात्र हैं । रवेन्द्र भाई एक सहृदय, सम्प्रदाय के हितेषी, धन सम्पन्न, सच्चे सौन्दर्य उपासक, वैष्णव महानुभाव हैं । पूज्य महाराज श्री की प्रकाशन के सम्बन्ध की भावना के इनकी वार्तालाप में भी दर्शन हुए । इतना ही नहीं आपने तो यह इच्छा प्रकट की, कि अनुवाद भी किसी न किसी हमारी सम्प्रदाय के विद्वान आचार्य महानुभाव द्वारा अवलोकन करवा कर ही ग्रन्थ का मुद्रण करवाना श्रेयस्कर है । इस कार्य में मैंने आपके सहयोग के लिये प्रार्थना की । तब आपने कहा कि मेरे पास भावी प्रकाशन की पाण्डुलिपि भेज देवें फिर जो कार्यवाही करनी है वह करके आपको सूचित करूँगा इस निर्णय के अनुसार 'तामस-प्रमेय' उप-करण की सुबोधिनी के अनुवाद की पाण्डुलिपि आपको भेज दी । आपने अब सूचित किया है कि पाण्डुलिपि का अवलोकन पूज्य पाद गोस्वामी श्री दीक्षितजी महाराज श्री के आयुष्मान चि० श्री श्याममनोहरजी कर रहे हैं । इतना ही नहीं आप श्री ने, विनती करने पर, कुछ समय बाद तामस फल प्रकरण (रास पंचाध्यायो आदि) का हिन्दी अनुवाद

करके देने का वचन भी दिया है इन शुभ समाचारों के लिये हम प० भ० रवेन्द्रभाई को सहर्ष अभिनन्दन सहित धन्यवाद देते हैं कि उनके प्रयत्न से अब सर्वोत्कृष्ट अनुवाद का प्रकाशन होगा। हालां कि हमारे पास इस उप-प्रकरण के अनुवाद की पाण्डुलिपि तैयार है।

जिन जिन आचार्य महानुभावों एवं विद्वानों ने प्रथम पुष्प पढ कर हमें भविष्य के लिए मार्ग दर्शन दिया है और इस प्रकार हमारी कठिनाईयों को दूर करने में हमें सहयोग दिया हैं उनका हम हृदय से आभार मानते हैं।

प० भ० श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी शास्त्री एम.ए. सम्पादक "कल्याण" के सौजन्य एवं उदारता पूर्ण व्यवहार को हम कभी नहीं भूल सकते कि जो समय समय पर ग्रन्थ-प्रकाशन में मार्ग दर्शन ही नहीं अपितु कठिन परिस्थितियों में भी गीता प्रेस से चित्र भेज कर ग्रन्थ को अलंकृत करने में सदैव प्रयत्नशील रहते हैं इससे यह संस्था आपकी आभारी है।

इस ग्रन्थ की प्रारम्भिक मुद्रण लिपि (प्रूफ) जांचने में संस्था के उपाध्यक्ष श्रीमान नरनारायणजी आसोपा एम. ए. साहित्यालङ्कार ने सहयोग दिया है तथा प०भ० श्रीगोकुलचन्दजी काबरा ने इस सेवा के साथ साथ ग्रन्थ का शुद्धि पत्र भी तैयार करके देने की अपनी निष्काम सेवा अर्पित की जिसके लिए हम इन दोनों महानुभावों को हृदय से धन्यवाद देते हैं।

त्वरा के कारण, भागवतार्थ प्रकरण के १४ अध्यायों की कारिका का हिन्दी अनुवाद गुजराती की टीका से किया गया था परन्तु कहीं कहीं वह अर्थ अगम्य था अतः प० भ० श्री पुरुषोत्तमदासजी पुरोहित बी०ए० भूत पूर्व कोतवाल जोधपुर नगर एवं अवकाश प्राप्त कलेक्टर से उन उन श्लोकों के अर्थ का स्पष्टी करण करने को निवेदन किया गया। परन्तु ७० वर्ष की आयु होने पर भी उन्होंने एक नव युवक की भांति समस्त ५५ कारिकाओं का अर्थ सरल हिन्दी भाषा में कर कार्यालय में स्वयं आकर दे गए, जो प्रस्तुत ग्रन्थ में विद्यमान है। 'प्रथम पुष्प' को शीघ्र प्रकाशन कराने में जैसे इन्होंने सहायता दी उससे भी द्वितीय पुष्प प्रकाशन में दिया गया सहयोग किसी प्रकार कम नहीं है। पिछली बार की तरह ग्रन्थ की अनुक्रमणिका भी इन्होंने शीघ्र ही तैयार करके भेज दी। आपकी निष्काम सेवा भावना ही नहीं श्लाघ्य कार्य तत्परता के लिए यह संस्था आपका आभार स्वीकार करती है।

निम्न लिखित महानुभावों ने इस ग्रन्थ प्रकाशन में विशिष्ट आजीवन सदस्य के रूप में प्रत्येक ने रु० १००१) की सेवा की है, उनका यह संस्था आभार मानती है।

प० भ०	श्री जीवनदासजी मूंधड़ा	—	कलकत्ता
प० भ०	श्री गोविन्ददासजी माधोदासजी मूंधड़ा	—	कलकत्ता
प० भ०	श्री वल्लभदासजी राठी	—	अमरावती
प० भ०	श्री वृजमोहनदासजी विजय	—	शुजालपुर
प० भ०	श्री वेलजी भाई चत्रभुजजी	—	बम्बई
प० भ०	श्री बालाभाई दामोदरदास ट्रस्ट द्वारा प० भ० श्री साकरलाल बाला भाई	—	अहमदाबाद

इस बार इस संस्था के आजीवन सदस्य बनाने में प. भ. उद्धवदासजी मूंधड़ा एवं उनकी धर्मपत्नी काशीबाई ने तथा प.भ. श्री व्रजमोहनदासजी विजय शुजालपुर वालों ने व आदरणीय भाई श्री वल्लभदासजी राठी, अमरावती वालों ने अथक परिश्रम से सहयोग दिया है जो बहुत ही सराहनीय है, संस्था इन महानुभावों को लगन सहित इस निष्काम सेवा के लिए बार-बार धन्यवाद देती है, तथा आशा करती है कि इसी तरह ये इस प्रकार की सेवा में निरन्तर तत्पर रहेंगे और महाप्रभुजी के कृपा भाजन बनेंगे।

इस संस्था के मंत्री प.भ. श्री फतहचन्दजी शास्त्री, विद्याभूषण ने ८० वर्षों की आयु होते हुए भी एक नवयुवक से बढ़कर दशम स्कन्ध के ९० अध्यायों की सुबोधिनीजी में से ७१ अध्यायों का हिन्दी अनुवाद शीघ्र ही समाप्त कर दिया है। आप एक विनम्र-सम्पन्न पुष्टिमार्गीय साहित्य के मर्मज्ञ किन्तु गुप्त विद्वान् हैं जैसा कि अनुवाद कार्य से स्पष्ट झलकता है जो सर्वदा प्रशंसनीय है।

अन्य १४ अध्यायों का सरल हिन्दी अनुवाद कोटा निवासी गो. वा प. भ. श्री गोवर्धन शर्माजी शास्त्री वेदान्ताचार्य द्वारा सम्पन्न हुआ है आप एक सौम्य एवं विनम्र प्रकृति पूर्ण उत्कट विद्वान् थे, आपकी तीव्र इच्छा होते हुए भी इससे आगे आप यह कार्य न कर सके जिसका हमें खेद है क्योंकि अचानक अस्वस्थ होने से देह छोड़ आप हरिशरण हो गए। आपका सरल सुबोध अनुवाद कार्य अभिनन्दनीय है।

इस संस्था के सहायक मन्त्री श्री नाथजी पुरोहित का रुचि पूर्ण कार्य श्लाघ्य है।

अन्त में, मैं प.भ. श्री नन्दलालजी माधवना का अभिनन्दन किए बिना नहीं रह सकता कि जिन्होंने उदारतापूर्ण आर्थिक सेवा से श्री सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद का श्री गणेश करवा कर कार्यालय को गत सात वर्षों से अपने निवास स्थान में रख छोड़ा है और संस्था को अपनी निज की मानकर हर प्रकार से इसके संचालन करने में सहयोग देते रहते हैं।

इस वर्ष में हमारा मनोरथ है कि श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला का तीसरा चौथा एवं पांचवा पुष्प विकसित (प्रकाशित) हो जाए परन्तु इसमें कहाँ तक सफलता मिलती है सो श्रीमद्वल्लभाधीश के हाथ में। ग्रन्थ में भूलों का रह जाना स्वाभाविक ही है क्योंकि यह एक जीव स्वभाव है तथापि सुज्ञ उनकी ओर ध्यान न देकर नीर क्षीर न्याय से ग्रन्थाध्ययन कर से आनन्द प्राप्त करेंगे तथा समय समय पर हमें निर्देश देते रहेंगे इस विनम्र प्रार्थना सह,

भवदीय चरणरजाभिलाषी

नन्ददास (रामचन्द्र)

दीनकिङ्कर (प्रधान मंत्री)

। श्री हरिः ।

पूज्यपाद श्रीमद् गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज

अध्यक्ष

श्री सुबोधिनी प्रकाशन, मण्डल (रजि०) जोधपुर

के

जीवन चरित्र की एक झलक

अखण्ड भूमण्डलाचार्य चक्र चूड़ामणि श्रीमद्वल्लभाचार्य वर्य के वंशावतंस पूज्यपाद गोस्वामी श्री रघुनाथलालजी महाराज श्रीश्याममनोहर प्रभू के सेवारत चोपासनी वालों के द्वितीय कुमार गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज का प्रागटच शुभ तिथी माघ कृष्णा १२ वि० सं० १९७६ के दिवस जूनागढ़ में हुआ था। प्रभु इच्छा से आप श्री की बाल्यावस्था में ही पूज्य पितृचरण के भगवल्लीला संवरण के कारण आप श्री का विद्याध्ययन पूज्य मातु श्री एवं ज्येष्ठ भ्राता पूज्यपाद गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज के संरक्षण में हुआ। आप श्री ने स्वल्प काल में ही संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य, वेद शास्त्र, दर्शन सङ्गीत एवं चित्रकलादि का परिज्ञान प्राप्त कर लिया। बाल्यावस्था से ही पुष्टिमार्गीय पद्धति मेंड मर्यादा के अनुसार बड़ी ही श्रद्धा एवं स्नेह से भगवत्सेवा करने के आप दृढाग्रही हैं।

पूज्यपाद गोस्वामी श्री अनिरुद्धलालजी महाराज के दत्तक पुत्र के रूप में वि० सं० २००२ में जामनगर एवं नडियाद की मोटी हवेलियों का अधिकार प्राप्त किया उसी समय से आप श्री ने सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में नीति एवं नियंत्रण शक्ति द्वारा हवेलियों की भगवत्सेवोपयोगी सम्पत्ति का संरक्षण एवं परिवर्द्धन करना प्रारम्भ किया जिससे वार्षिक आय में उत्तरोत्तर आशातीत वृद्धि हुई। आप श्री भगवत्सेवा को मुख्य मानते हैं अतः तत्सम्बन्धित कार्य कलापों में निस्सङ्कोच होकर धन का विनियोग करते हैं। सौराष्ट्र के सोरठ हालारादि विभागों में प्रति वर्ष आप श्री नियमित रूप से प्रचारार्थ पधार कर अनेक जीवों को प्रभु शरणागत करते हैं।

आप कवि भी हैं। छन्द पिङ्गल का आप श्री ने अध्ययन किया है और कविता बनाने का अभ्यास भी है परन्तु अष्टछाप के रसपूर्ण पदों का मर्म समझने से आप श्री ने कविता रचने का कार्य समाप्त कर दिया।

भगवन्नाम सेवा निमित्त पुष्टिमार्गीय ग्रन्थों के प्रकाशन, उनके अध्ययन, अध्यापन की व्यवस्था में तथा पुस्तकालय वाचनालयादि की स्थापना में आपकी पूर्ण रुचि है। श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर की स्थापना आप श्री के वरद् हस्त से हुई और तब ही से आप श्री, अध्यक्ष पद से इसका सुसञ्चालन कर रहे हैं जिससे श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला के इस द्वितीय पुष्प का प्रकाशन हो रहा है और शीघ्र ही तीन पुष्प और विकसित होने वाले हैं।

श्री वल्लभ सम्प्रदाय की सर्वोच्च संस्था 'अखिल भारतीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद' के जन्म काल से ही सुदृढ़ पृष्ठ पोषक एवं सक्रिय उपाध्यक्ष आप रहे हैं एवं नाथद्वारा प्रकरण समिति के अध्यक्ष पद को प्रारम्भ से ही आप श्री ने विभूषित कर नाथद्वारा प्रकरण समाधान में अथक परिश्रम एवं तन मन धन से आठ वर्षों तक सहयोग दिया है। सम्प्रति आप परिषद् के अध्यक्ष पद को सुशोभित करते हुए उसके विभिन्न रचनात्मक कार्य-कलापों में भाग लेकर तथा प्रत्येक बैठक में उपस्थित होकर हर प्रकार से निज पदानुरूप उत्तरदायित्व को सुचारु रूप से निभा रहे हैं। आप सार्वजनिक राष्ट्रीय कार्यों में भी तन मन धन से सहयोग देते हैं। गत वर्ष बिहार भूख पीड़ित देशवासियों की सहायतार्थ रु० ५०००) की रकम आप श्री ने भेंट की तथा गोवध निरोध आन्दोलनों में आप श्री ने अपनी उपयुक्त सेवाएँ अर्पण की।

आप श्री की पूज्यधर्मपत्नीजी बहुत विवेक शील बुद्धिमान चतुर विदूषी हैं,श्री ठाकुरजी की सेवा साज शृंगार स्वयं बड़े स्नेह से करती हैं एवं अपने आराध्य देव को हिन्दी व गुजराती भाषा में बहुत सुन्दर तथा रसमय स्वरचित पद-पुष्पों से अलंकृत करती रहती हैं। अपने नन्हें नन्हें बालकों को भीभगवत्सेवा में नियम पूर्वक लगाए रखना आपके भक्त हृदय का प्रतीक है। आप श्री के छः चिरंजीव (पुत्र रत्न) और दो बेटी जी हैं जिनमें से ज्येष्ठ आयुष्मान श्री विठ्ठलनाथजी एवं ज्येष्ठ बेटीजी विवाहित हैं। सब ही बालकों को आप श्री संस्कृत, हिन्दी एवं साम्प्रदायिक साहित्य संगीत चित्र कला की शिक्षा दिलाते हैं और भगवत्सेवा में अपने साथ रखते हैं।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण के सेव्य स्वरूप चौपासनी ग्राम में जो जोधपुर नगर से छ माइल की दूरी पर बिराज कर समस्त मरुस्थल को पावन कर रहे हैं, उन श्री श्याम मनोहर प्रभु में पूज्य महाराज श्री की बड़ी आसक्ति है अतः प्रति वर्ष प्रायः आषाढ से कार्तिक मास तक सपरिवार चौपासनी में बिराजकर आप श्री श्याम मनोहरलाल को विविध मनोरथों एवं उत्सवों से रिझाते रहते हैं और जोधपुर नगर निवासियों को सनाथ करते हैं। पूज्य महाराज श्री के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के अन्तर्गत दया, कृपा, सहानुभूति एवं अपार स्नेह का भण्डार विद्यमान है जिससे आप श्री के दर्शन कर सहज में ही जीव आकर्षित हो जाता है इसलिये देश में अग्रगण्य आचार्यों में आपकी गणना है।

आधुनिक काल में श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के ब्रह्मवाद की प्रचार–लगन तथा श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभु चरण जैसी वैभवशाली रसमई भगवत्सेवा उत्कंठा के दर्शन श्री व्रजभूषणलालजी महाराज में होते हैं। आप श्री का आचार्य-जीवन आदर्श एवं दर्शनीय है और वल्लभ (पुष्टि) सम्प्रदाय के लिये गौरवमय है।

भवदीय चरण रजाकांक्षी---
नन्ददास (रामचन्द्र)

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला के प्रथम पुष्प (श्री भद्भागवत के दशम स्कन्ध के प्रथम चार अध्यायों की सुबोधिनी के हिन्दी अनुवाद) पर प्राप्त सम्मतियों में से कुछ निम्न है

पूज्यपाद तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज, नाथद्वारा (राज.)

'द्वादशोह वै पुरुषः' श्रीमद्भागवत के बारह स्कन्ध ही भगवान् के बारह अंग हैं श्रीमद्भागवत में प्रथम स्कन्ध से लेकर द्वादश स्कन्ध तक भगवान् की बारह लीलाओं का निरूपण है, इनमें दश लीला प्रधान हैं।

श्रीमद्भागवत के इस अलौकिक किंवा विलक्षण स्वरूप का साक्षात्कार श्रीमदाचार्य चरण ने अपनी श्री सुबोधिनी में कराया है।

श्रीमद्भागवत के रसमय अर्थ की प्रतीति श्री सुबोधिनी के पुनः पुनः श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा कृतिसमवेत भाग्यशाली को सहज सुलभ है।

श्रीमद्भागवत पर श्री सुबोधिनी रूप व्याख्यान का पाण्डित्य स्तर ही विचार किया जाय तो यह पाण्डित्य अपूर्व है अनुपम है।

अपार जलराशि से उच्छलित भावोर्मिशोभित इस सुबोधिनी रूप महार्णव को देखकर क्या कोई इसके स्वरूप का निर्देश विशेष रूप से कर सकता है ? अस्तु,

उपर्युक्त कारणों से श्री सुबोधिनी सुधारस का आस्वादन करना प्रत्येक पुष्टिमार्गीय वैष्णव के लिये आवश्यक है किन्तु दुरूह होने से वह सर्व सामान्य सुलभ नहीं है अतः श्री सुबोधिनी सुधारस को सरल हिन्दी भाषा के द्वारा सर्व सामान्य वैष्णव जनता को आस्वादन कराने का जो अनुवादकों का एवं प्रकाशक श्री नंददासजी का प्रयास है वह प्रशंसनीय है।

द्वितीय पत्र—श्रीमदाचार्यचरण विरचित श्री सुबोधिनी सुधा का सर्व सुलभ हिन्दी अनुवाद सम्प्रति अत्यावश्यक है, परन्तु इसके स्वारस्य का यथावत् हिन्दी रूपान्तर भगवदनुग्रह से ही सम्भव है। इस लक्ष्य को दृष्टि पथ में रखकर यह प्रयास सराहनीय है। श्रीमदाचार्यचरण अपने कृपा बल से इसे सम्पन्न करें यही शुभाशीर्वाद

पूज्यपाद गोस्वामी श्री व्रजरत्नलालजी महाराज, सूरत.

दशम स्कन्ध के जन्म प्रकरण के प्रथम दो अध्यायों की सुबोधिनीजी का हिन्दी अनुवाद छपा हुआ मिला जिससे हमको बहुत आनन्द हुआ। आप जानते हो कि प्राकृतिक अस्वथता के कारण हमसे बांचने का कार्य नहीं होता है। इससे हमने शास्त्री श्री चिमनलालजी से अनुवाद को मुख्य २ स्थलों से सुना। अनुवाद सुबोधिन्यानुसार एवं सरल है। सर्वजन साधारण भोग्य है। श्री सुबोधिनी की टीकाएँ टीपण्यादि का निर्देश किया है जिससे स्वारस्य की स्पष्टता हुई है। अनुवाद हिन्दी भाषा भाषी को उपकारक होगा। आपके सम्प्रदाय-प्रचार कार्य के लिये धन्यवाद।

पूज्यपाद गोस्वामी श्री दीक्षितजी महाराज, बम्बई

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर द्वारा प्रारम्भ किया हुआ श्री सुबोधिनीजी के हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन का कार्य अत्युत्तम और आवश्यक है। मैंने श्री सुबोधिनी दशम स्कन्ध पूर्वार्ध अध्याय १-२ (जन्म प्रकरण की सुबोधिनीजी) का हिन्दी अनुवाद पढ़ा यह अनुवाद ठीक हुआ है। इस कार्य के लिये मेरे हार्दिक आशीर्वाद है और श्री बालकृष्ण प्रभु श्री सुबोधिनी प्रकाशन कार्य में श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल को सब प्रकार की अनुकूलता और सहाय प्रदान करें यह मेरी हार्दिक भावना सह शुभाशीष है।

पूज्यपाद गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज, काँकरोली

श्री मद्भागवत के दशम स्कन्ध के प्रथम एवं द्वितीय अध्यायों की सुबोधिनी का समूल हिन्दी अनुवाद यथा समय अवलोकनार्थ प्राप्त हो गया था। ग्रन्थकार के आशय को अधिकाधिक सुस्पष्ट करते हुए सरल और सुबोध शैली में अनुवाद सुन्दर हुआ है। यों तो ग्रन्थ का मर्म बहुत कुछ विवेचनीय है किन्तु एक बार आधार भूत सामने आ जाने पर अग्रिम संस्कारों में परिमार्जन होता रहेगा। इस प्रकाशन से सुबोधिनीजी के हिन्दी अनुवाद की एक बड़े अभाव की पूर्ति हो रही है। इस दृष्टि से संयोजकों का श्रम और मनोयोग श्लाघ्य है।

पूज्यपाद गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज कोटा (राज.)

भाषा-शैली, विषय प्रतिपादन अति सुन्दर है। अब तक हिन्दी अनुवाद न होने से संस्कृत ज्ञाता ही सुबोधिनीजी का लाभ उठा सकते थे। हिन्दी अनुवाद होने से समस्त अनुरागी वैस्णवों को इसका पूरा लाभ पहुँचेगा। वैष्णव जगत में एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई। बहुत समय से इसकी कमी अनुभव हो रही थी वैष्णव सृष्टि इसके लिये बड़ी कृतज्ञ होगी। अब हिन्दी जानने वाले वैष्णव भी इसका पाठ कर पूरा पूरा लाभ उठा सकेंगे। पं० श्री फतेहचन्दजी का यह कार्य बहुत सराहनीय है।

पूज्यपाद गोस्वामी श्री गोविन्दरायजी महाराज, पौरबन्दर (सौराष्ट्र)

श्री सुबोधिनी—१० स्क० अ० १ व २ मिले। प्रथमाध्याय के मंगलाचरण का अनुवाद बहुत स्वारस्य पूर्ण हुआ है। बाद में यथाक्रम प्रकरण निर्देष, श्लोकार्थ, कारिकार्थ और श्री सुबोधिनी मूल भी रखने का आग्रह परम सुन्दर है। प्रति पदोक्त अध्ययन करने वालों के लिये यह शैली अत्युत्तम है। बाद उसीका भाषानुवाद भी सरल होने से सर्वोपकारक बना है। स्थान २ पर व्याख्या द्वारा भी स्पष्टता मिलती है। ग्रंथ का आकार मुद्रण, टाईप, कागज इत्यादि और सफाई यह सब ग्रन्थ का गौरव व सुन्दरता बढ़ाने वाले हैं। मंडल के इस कार्य के लिए अनेक धन्यवाद सह शुभाशीष पठाता हूँ। इस कार्य में मेरी हार्दिक सहानुभूति है। साथ में सभी वैष्णवों एवं भागवत और सुबोधिनीजी के चाहकों से मेरा अनुरोध है, कि वे इन प्रकाशनों को अवश्यमेव संग्रहीत करें और उसका प्रचार भी करें। अधिकाधिक आर्थिक सहाय करके इस बहुमूल्य और सर्वोपकारक कार्य करते हुए मंडल को प्रोत्साहित करें।

पू०पा०गो० श्री व्रजरायजी महाराज अहमदाबाद

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल जोधपुर, द्वारा दशम स्कन्ध जन्म प्रकरण सुबोधिनी के अनुवाद का प्रकाशन पुष्टिमार्गीय वैष्णव जनता की एक बहुत बड़ी सेवा है। सरल लोक भोग्य अनुवाद एवं

प्रसादिक शैली में तार्किक संगतिपूर्वक विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकाशन की प्रमुख विशिष्टताएँ हैं। सुबोधिनी सम्बन्धी अन्य विवेचन साहित्य का भी यथा साध्य आधार लिया गया है। फुटनोट के निर्देश ग्रन्थ सम्पादन के लिए किये गए परिश्रम के सूचक हैं।

श्रीमद्भागवत एवं सुबोधिनी सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य में यह ग्रन्थ केवल संख्याभिवृद्धि नहीं करता है अपितु गुणदत्ता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है, यह देखकर आनन्द की अनुभूति हुई।

अनुवाद की भाषा में वाक्य रचना की दृष्टि से कहीं कहीं पुरानापन दिखाई देता है। अगले प्रकाशन में इसकी क्षतिपूर्ति की आशा कर सकते हैं। मुद्रण दोष की निवृत्ति की ओर भी कुछ ज्यादा ध्यान दिया जाय, ऐसी अपेक्षा है।

पू०पा०गो० श्री माधवरायजी महाराज, पोरबंदर

प्रयास अत्यन्त ही सराहनीय अथ च समयोपयोगी होने के साथ साथ सम्प्रदाय के साहित्यिक गौरव की श्री वृद्धि करने वाला है। श्री सुबोधिनीजी के हिन्दी अनुवाद का यह प्रथम एवं मौलिक प्रयास है एतदर्थ आवकार्य है, हिन्दी जगत् के लिए इस प्रकाशन से आपने मह दुपकार किया है यहाँ पर यह कहना आवश्यक होगा कि यदि भिन्न-भिन्न विद्वानों से अनुवाद कराने के बजाय एक ही प्रौढ़ विद्वान से अनुवाद कराया गया होता तो भाषा एवं शैली का सामंजस्य ठीक रह पाता, इस के अतिरिक्त प्रेस की भी अशुद्धियां दृष्टिगोचर होती हैं, भाषा में भी कई जगह त्रुटियां पाई जाती हैं, जिन्हें नए संस्करण में सुधारना चाहिए। इतना सब होते हुए भी सम्प्रदाय के उत्थान का यह कार्य अवश्य ही उपादेय है। एतदर्थ संस्था को शतशः बधाई।

पू०पा० श्री रसिकरायजी, मथुरा

श्रीकृष्ण स्वरूप श्रीमद्वल्लभप्रभु की अलौकिक वाणी का रसास्वाद हमें उनके द्वारा श्रीमद्भागवत पर लिखी हुई टीका श्री सुबोधिनी में मिलता है।

चूंकि संस्कृत भाषा होने के कारण जन-सामान्य इनका लाभ नहीं उठा सकता अत: इनका अनुवाद बहुत ही अपेक्षित था। गुजराती में तो हमें पूर्ण अनुवाद प्राप्त होता है परन्तु हिन्दी में अभाव था। श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल ने इस क्षति की पूर्ति करके हिन्दी-भाषा-भाषी जनता पर बहुत उपकार किया है। आशा है इसी प्रकार अन्य प्रकरणों के अनुवाद भी प्रकाशित होते रहेंगे, आपके इस उत्तम कार्य के लिए हार्दिक शुभ कामना है।

प०भ० श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी, एम-ए, शास्त्री, सम्पादक 'कल्याण' गीता प्रेस, गोरखपुर।

श्रीमद्भागवत महापुराण समस्त पुराणों में श्रेष्ठ एवं भगवान् का स्वरूप कहा गया है यह भगवान् का वाङ्मयावतार है। इसके गम्भीर भावों को प्रकाश में लाने वाली सुबोधिनी टीका भी अनुपम एवं विलक्षण है। इसके पद, पदार्थ एवं भावों को ठीक ठीक समझने के लिए अगाध विद्वत्ता, सूक्ष्म दर्शिता, एवं गम्भीर चिन्तन-मनन की आवश्यकता है। प्रस्तुत संस्करण में दशम-स्कन्ध के मूल श्लोक, उन पर सुबोधिनी टीका और उसका विशद अनुवाद एवं भावार्थ है। विषय को स्पष्ट करने के लिए स्थान स्थान पर महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ दी गयी हैं। अनुवाद की भाषा पुराने ढंग की जान पड़ती है। इसमें भक्त हृदय की भावुकता, विनय और श्रद्धातिरेक के दर्शन होते हैं। भावों को खोलकर रखने की

विशेष चेष्टा दृष्टिगोचर होती है । यह सब होते हुए भी अनुवाद में भूल रह गयी है । प्रूफ देखने में भी अधिक सावधानी नहीं बरती गयी है अतः बहुतसी अशुद्धियाँ ठीक नहीं हो पाईं हैं । हम आशा करते हैं कि दूसरे संस्करण में ये त्रुटियाँ अवश्य दूर हो जायगी । भाषा के प्रवाह में भी आधुनिकता लाने की चेष्टा होनी चाहिये जिससे पाठकों के हृदय में इस अनुवाद के प्रति आकर्षण पैदा हो । कागज बहुत अच्छा लगा है । छपाई सफाई भी अच्छी है हमारा पाठकों से नम्र निवेदन है कि वे इस अनुवाद के द्वारा श्री सुबोधिनी को और उसके द्वारा श्रीमद्भागवत के मर्म को समझने की चेष्टा करें, जिससे उनके हृदय में भगवच्चरणानुराग जगे और वे परम मंगल के भागी बनें ।

सुबोधिनी का हिन्दी रूपान्तर करके धार्मिक जगत् का निस्सन्देह आपने महान् उपकार किया है । इस विषम समय में आप लोगों का यह प्रयास अत्यन्त ही श्लाघ्य है । महाप्रभु श्रीमद् वल्लभाचार्य की भास्वती सरस्वती की महिमा सूर्यालोकवत् द्योतित है उनकी सुबोधिनी का प्रकाशन इधर यद्यपि बहुतों ने किया है । अनेक भाषाओं में उसके अनुवाद भी हो रहे हैं, फिर भी हिन्दी में अनुवाद का आपका यह कार्य प्रथम दीखता है इसमें आपका कारिकाओं की हिन्दी व्याख्या का कार्य प्रशंसनीय है । अन्य विवेचन भी सुन्दर हुए हैं । सभी अध्यायों की पृष्ठ अलग-अलग रखने के बजाय यदि एक साथ रक्खी जाती तो उद्धरण आदि के समय पृष्ठ संख्या देने में अधिक सुकरता होती । ग्रन्थारम्भ में श्रीमद्महाप्रभु की अनुसन्धानपूर्ण जीवनी देकर आपने बहुत अच्छा किया । इससे एवं सभी आवश्यक स्थलों पर आकर्षक एवं सुन्दर चित्र देकर आपने ग्रन्थ को अधिक उपयोगी एवं प्रिय दर्शन बना दिया । अस्तु, आपके इस शुभ कार्य के लिए अनेकशः धन्यवाद ।

प०भ० श्री क० गोकुलानन्दजी तैलङ्ग, बी.ए, साहित्य भूषण, सम्पादनालङ्कर, साहित्यरत्न, बड़ौदा.

श्रीमद्भागवत "सुबोधिनी" दशम-स्कन्ध, के प्रथम व द्वितीय अध्यायों के हिन्दी अनुवाद का यथा समय अवलोकन किया । यह टीका नाम से जितनी "सुबोधिनी" है तात्विक चिन्तन की दृष्टि से उतनी ही गहन, गम्भीर भी, किन्तु अनुवादकों ने उसका तलस्पर्श करके, उसके हार्द को जिस सरल शैली से लोक योग्य सुबोध भाषा में अभियुक्त किया है, वह सर्वथा सराहनीय है । मूल श्लोक, सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद सहित देकर जहां, तहां पारिभाषिक शब्दों वा शास्त्रीय विवेचनों को पाद-टिप्पणी में सुस्पष्ट करके ग्रंथ को अधिकाधिक उपादेय बनाने का प्रयास किया गया है । दिव्य वाणी को राष्ट्रवाणी में अनुदित कर, जो साहित्य सर्व सामान्य को दुर्बोध्य था, उसे सरल सुगम बनाने की यह योजना पुष्टिमार्गीय साहित्य एवं भारतीय वाङ्मय का एक महत्वपूर्ण अंग है । अनुवाद के अग्रिम चरणों को सहज सफलता के लिए हमारी हार्दिक कामना है ।

श्री आनन्दीलालजी शास्त्री व्याकरणाचार्य, विद्याविभाध्यक्ष, नाथद्वारा.

श्री सुबोधिनी के अनुवाद में वेद व्याकरणादि एवं पुष्टिमार्गीय ग्रन्थों के परिशीलन के साथ साथ श्री महाप्रभुजी की कृपा भी परमावश्यक है । आपके द्वारा प्राप्त इस अनुवाद में ये ही कुछ बातें देखी जा रही है अतः यह अनुवाद सर्वथा उपादेय है ।

श्री गोवर्द्धनधर प्रभु आपको आगे के प्रकाशन में भी इसी रूप में सफलता प्रदान करें–यह ही कामना है ।

सद्गत प०भ० श्री हरिकृष्णजी वोरजी शास्त्री, शुद्धाद्वैत विशारद, पोरबन्दर.

श्रीमद्वल्लभ महाप्रभु की वाक् सुधा स्वरूप श्री सुबोधिनीजी दशम-स्कन्ध जन्म प्रकरण के दो अध्याय का हिन्दी अनुवाद आपका दिया हुआ मैंने पढ़ा, अत्यन्त आनन्द हुआ। अनुवादक पं० श्री फतहचन्द शास्त्रीजी ने तल-स्पर्शि अध्ययन करके अनुवाद किया है ऐसा प्रतीत हुआ है। हिन्दी भाषा भाषी वैष्णव समाज को इससे श्री सुबोधिनीजी के रसास्वाद का सौभाग्य प्राप्त होगा। श्री सुबोधिनी प्रकाशन समिति के उद्भावक एवं अध्यक्ष पूज्यपाद गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज, जामनगर वालों, को इस चिरकाल सेवित मनोरथ को सफल बनाने के लिए किन शब्दों में अभिनन्दन देना मालुम नहीं होता। दशम स्कन्ध प्रतिपाद्य निरोध लीला भगवान् श्रीकृष्ण का हृदय होने से उसको समझना केवल आचार्यानुग्रह से ही साध्य हो सकता हैं। किमधिकम्।

श्री जेठालालजी गो० शाह एम.ए. अवकाश प्राप्त प्रिंसीपल, राजनगर, (अहमदाबाद)

I congratulate the President and the members of the committee, for having evinced interest in the publication of the most needed work of Shri Vallabhacharya in Hindi. It was a long standing desideration of Hindi speaking Vaishnavas. I am glad that your association is the first to undertake this publication. I am very much pleased with the translation of the Subodhini by the learned pandits. It is a very good and successful attempt. I congratulate them for their intellectual service. I must not forget the patrons and the donors for their financial support to the project. Since the beginning is made and that in a bold manner, I wish by our Lord's grace it will be continued and carried to the end in a successful manner undeterred by any difficulties. I make an humble appeal to all the lovers of Subodihni, especially well-to-do Vaishnavas, to contribute liberal amount to the successful execution of the whole project.

Although, on the whole it is a very good successful performance. I beg to offer a few suggestions regarding the future works in the series.

(1) *Cover Page*—If possible the cover should be cloth bound or in card-board. As 'Subodhini' is a supreme work of Shri Vallabhacharya, the cover must be beautifully bound and also it must be tough enough to give service for a long time.

(2) The picture on the cover page according to me is not in conformity with the work.
Instead, some photo of Vallabhacharya in a very small size will serve the purpose.

(3) No doubt the three learned pandits have rendered best of service in rendering the Subodhini in Hindi, it is not advisible to entrust the chapters of Prakaran (जन्म प्रकरण) to three different

pandits. That does not preserve the uniformity of language and style in the translation. I think each writer should be entrusted with one subpart of each Prakaran, for example Praman, Prameya, Sadhan and Fala, so that each writer will have sufficient work of translating seven chapters (अध्याय) instead of one.

The writers need not discuss the grammatical points discussed in the Subodhini but for clarificatian ideas in the Subodhini it is necessary that the Tippani and Lekha should be utilised.

The following two verses (१ नमामि हृदये शेषे, २—चतुर्भिश्च) should be published some where in the beginning of the publication of the text, as Managlacharan in every future publication.

These suggestions are only in a friendly manner.

If the writers consult the Gujarati translation of Subodhini by Nanubhai Gandhi their work of rendering it in Hindi will be very much simplified. I very much wish that the project should be continued and executed with the cooperation of three pandits. The Hindi speaking Vaishnavas owe a deep debt of gratitude to the sponsors of the project and the translators.

प.भ. श्री केशोरामजी का. शास्त्री विद्या वाचस्पति, राजनगर (अहमदाबाद)

श्री सुबोधिनी दशम स्कन्ध के "जन्म प्रकरण" के चार अध्यायों का अनुवाद हिन्दी में सबसे प्रथम प्रसिद्ध हुआ देख कर बड़ा आनन्द हुआ। अनुवादक महोदयों से श्रम पूर्वक तैयार किया हुआ यह अनुवाद प्रामाणिक सरल एवं सुबोध है और सर्वथा संग्राह्य है।

डा० श्री राधाकृष्णन् राष्ट्रपति, नई दिल्ली

आपका दिनाङ्क २७ दिसम्बर का पत्र तथा छ ग्रन्थों का पारसल राष्ट्रपतिजी के नाम प्राप्त हुआ। एतदर्थ धन्यवाद।

उत्तर में मुझे आपको सूचित करना है कि राष्ट्रपतिजी पुस्तकों आदि पर अपने विचार नहीं लिखते। अतः खेद है कि आपकी प्रार्थना को स्वीकार करना सम्भव नहीं होगा।

भवदीय

Sd/- खेमराज गुप्त

राष्ट्रपति का अपर निजी सचिव

डा० श्री सम्पूर्णानन्दजी—राज्यपाल-राजस्थान—जयपुर

श्री वल्लभाचार्य का भारत के आध्यात्मिक जगत् में जो स्थान रहा है वह सर्व विदित है। उनकी धार्मिक और आध्यात्मिक मान्यताओं से जिन लोगों का मतभेद हो वह भी उनके जीवन और

उनके विचारों की महत्ता स्वीकार करेंगे। आपके किये हुए भागवत के अनुवाद को देखा। पुस्तक उपादेय है। मैं आशा करता हूँ कि आप उसको शीघ्र ही सम्पूर्ण कर लेंगे। ऐसे बहुत से लोग हैं जो श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं है और न उसकी उपासना पद्धति का अनुमोदन कर सकते हैं परन्तु शुद्धाद्वैतवाद से प्रभावित हैं। ऐसे लोगों को लक्ष्य में रखकर साहित्य का प्रकाशन होना चाहिए और यह बात स्पष्ट आनी चाहिए कि श्री वल्लभाचार्य के दार्शनिक विचार उनकी उपासना सम्बन्धी विचारों से पृथक् किये जा सकते हैं।

प. भ. श्री मोहनलालजी सुखाड़िया मुख्य मंत्री, राजस्थान-जयपुर

श्री सुबोधिनी के हिन्दी अनुवाद की प्रति प्राप्त हुई। मैं इसके लिए आपका आभारी हूँ। इस सुन्दर प्रकाशन के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें।

प. भ. डा० श्री गोविन्ददासजी पद्म-भूषण सदस्य लोक-सभा—नई दिल्ली.

एक महान् कार्य आप लोगों ने किया है। इस नव निर्माण युग में आध्यात्मिकता की सबसे अधिक आवश्यकता है। श्रीवल्लभाचार्य के इन ग्रन्थों के द्वारा इस सम्बन्ध में बहुत कार्य हो सकता है। आपकी संस्था के उद्देश्य अत्यन्त सराहनीय हैं और इन ग्रन्थों के सम्पादन में जिस कुशलता और विद्वत्ता के दर्शन होते हैं वह भी अत्यन्त सराहनीय है, पूज्यपाद श्री व्रजभूषणलालजी महाराज की अध्यक्षता में यह कार्य उत्तरोत्तर उन्नति करे यही मेरी भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में प्रार्थना है।

प. भ. डा० श्री गोवर्धननाथजी शुक्ल, एम. ए. पी एच. डी–अलीगढ़

हिन्दी में पहली बार इतना सुन्दर कार्य हुआ है उसके लिए पूज्य शास्त्रीजी को एवं आपको बधाई है। पूज्य श्री वल्लभाचार्य चरण की अनुपम कृपा है। यह कार्य अति उत्तम संतोषप्रद एवं सर्वथा अभिनन्दनीय है।

प. भ. श्री गोविन्दासजी वैष्णव,
प्रधान मन्त्री, अ. भा. श्री विष्णुस्वामी महासभा, वृन्दावन

श्री सुबोधिनीजी का हिन्दी अनुवाद पढ़कर प्रसन्नता हुई। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी की भाषा अति कठिन होने से अच्छे अच्छे विद्वानों के लिए भी यह महान् ग्रन्थ दुर्बोध हो रहा था हिन्दी भाषा में अब तक किसी ने भी ऐसा अनुवाद प्रकाशित नहीं किया जिससे साधारण जन-समुदाय इस ग्रन्थ रत्न का रसास्वादन प्राप्त कर सके। श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल ने इस अनुवाद को प्रकाशित करके हिन्दी प्रेमी वैष्णव जगत् का महान् उपकार किया है। इस दृष्टि से मण्डल का यह प्रयास सर्वथा स्तुत्य है। अनुवाद स्वरस्य पूर्ण, गम्भीर भावों को भी खोलने वाला, सरल तथा सुबोध हुआ है। जिससे साधारण जन समुदाय भी लाभ उठा सकेगा। ग्रन्थ का आकार प्रकार ठीक है कागज भी अच्छा है तथा छपाई भी सुन्दर है चित्र आदि से युक्त प्रकाशन का सम्पूर्ण कार्य सन्तोषप्रद हुआ है। आशा है इस अनुवाद के द्वारा वैष्णव जगत् को महान् लाभ होगा।

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल के सभी सदस्यों को हार्दिक धन्यवाद।

प० भ० श्री गोपालदासजी झालानी बी.ए.बी. कॉम, सम्पादक श्री वल्लभ विज्ञान प्रधान मन्त्री अ० भ० पुष्टि मार्गीय वैष्णव परिषद्, इन्दौर (म. प्र.)

इस शुभ प्रयास की कहां तक सराहना की जाय । पुष्टि सम्प्रदाय में श्री सुबोधिनी हमारा सर्वस्व है । श्रीमदाचार्य चरण के अनन्तर दूसरा महत्त्व श्री हरिराय चरण ने श्री सुबोधिनी को दिया है। "नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी" सो आपके मण्डल के अध्यक्ष श्री पू. पा. गो. श्री व्रजभूषणलालजी महाराज तथा आपकी जितनी प्रशंसा की जाए कम है। श्रीमदाचार्य आपके इस प्रयास को भूरि-भूरि सफलता देवें ।

प्रकाशन में प्रूफ सम्बन्धी, अनुवाद यथेष्ट हिन्दी में कहीं-कहीं न होने संबन्धी तथा एक ही प्रकार की टाइप रचना सर्वत्र न होने संबन्धी आदि त्रुटियां है परन्तु विषय के महत्त्व और व्यावहारिक कठिनाईयों को ध्यान में रखते हुए वे नगण्य हैं आगे वे सुधर सकती हैं । आज जनता श्री सुबोधिनी ज्ञान के लिए तरस रही है उसे इस अमृत पान से मतलब है न कि उन अवान्तरिक बातों से । आज सम्प्रदाय में जिनको इस विषय पर सर्वाधिक ध्यान देना चाहिए, उनमें यदि उदासीनता है तो आपके मण्डल का क्या दोष है। संप्रदाय की अमूल्य साहित्य निधि की रक्षा पर हम उपेक्षा किए हुए हैं (जो कि निवारणीय है दुःसाध्य भी नहीं है) तो यही कहा जाएगा कि हम अभागे हैं।

अस्तु ! प्रभु आपके प्रयासों में अधिकाधिक सफलता दे, यह मण्डल सम्प्रदाय की 'शीर्ष संस्था' बने, यही मेरी हार्दिक कामना है ।

प०भ० श्री प्रेमलालजी गो० मेवचा, सम्पादक 'वैश्वानर'

साम्प्रदायिक हिन्दी साहित्य-जगत् में दीर्घ काल से जिसके पियूष पान का अभाव था-उसकी क्षति पूर्ति 'श्री सुबोधिनी प्रकाशक मण्डल' बड़ी लगन से कर रहा है । जिसका अनुभव 'जन्म प्रकरण सुबोधिनी, का मूल सह सचित्र हिन्दी अनुवाद के प्रत्यक्ष दर्शन करके हुआ । इस अनुकरणीय नाम-सेवा के लिए मण्डल के सक्रिय कार्यकर्त्ताओं को हार्दिक बधाई ।

आपका यह अनुपम उपकार स्वरूप उपहार, पुष्टि जगत् में चिरकाल तक स्मरणीय रहेगा ।

श्री आचार्य-वचनामृत का मूल सहित अवगाहन करने में जो आनन्द प्राप्त होता है वह नितांत अवर्णनीय है । मूल सहित श्री सुबोधिनी का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करके एतत्साहित्य के अभ्यासकों पर आपने बहुमूल्य उपकार किया है ।

मूल संस्कृत सुबोधिनीजी के प्रकरणों का आजकल प्राप्त होना दुर्लभ हो गया हैं, तब आपकी मूल सहित हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने की प्रवृत्ति समयोपयोगी एवं अत्यन्त आवकार्य है ।

मैंने आपका ग्रन्थ आद्योपान्त पढ़ा है । उसमें ३ विद्वानों के अनुवाद प्राप्त होते हैं । तीनों की अनुवाद शैलियों में अपनी अपनी विशिष्टता है ।

आधुनिक शैली में प० फतहचन्दजी की शैली अच्छी है । एवं पं० श्री सबलकिशोरजी, मूल के भाव खोलने में अच्छी क्षमता रखते हैं । पं० आनन्दीलालजी ने भी अच्छा प्रयास किया है । 'भूमिका' आदि अग्रिम विषयों का भी भाव पूर्ण है ।

कतिपय सुझाव निम्नलिखित हैं—

(१) मूल श्लोक, श्लोकार्थ, श्री सुबोधिनी तथा हिन्दी अनुवाद के टाइप अलग अलग रखना चाहिए । सभी ग्रन्थों में एकसी सरणि रहनी चाहिए ।

(२) एक प्रकरण में एक ही विद्वान् का अनुवाद देना चाहिए। जिससे अनुवाद, भाषा एवं शैली का एक सा स्वरूप प्राप्त हो सके।

(३) बाइंडिंग स्टीच नहीं परन्तु ओपन होनी चाहिए।

(४) बाइंडिंग--जिल्द पक्की होना आवश्यक है। ऊपर का चित्र श्री महाप्रभुजी, सेवकों के संमुख सुबोधिनी प्रवचन कर रहे हैं ऐसा फोटो ब्लाक दो या तीन कलर में छपना चाहिए। 'आवरण' रखने से भी ग्रन्थ नयनरम्य बनेगा।

प.भ. श्री राधेश्यामजी रस्तोगी, एम-ए., एल-एल. बी.
रिटायर्ड प्रोफेसर लखनऊ विश्व-विद्यालय, लखनऊ

Subodhini Prakashan Mandal has undertaken the arduous task of publishing the Sanskrit Subodhini of the Tenth Skand of Srimad Bhagwat with its Hindi Translation. It has already published the said commentaries on the first four chapters of the Tenth Skand.

Subodhini is, on all hands, considered to be one of the valuable commentaries on Srimad Bhagwat. Shree Vallabha Charya, the author of Subodhini, is the last of the Vaishnav Acharyas, who is universally recognised as 'वाक्पति' 'Lord of Speech'. He was the first to have given in a comprehensive form the underlying significance as well as the subtle interpretations of Srimad Bhagwat, the crowning glory of the Puranas. He rendered, through Subodhini, signal service not only to the entire Vaishnav Sampradaya, but also to the Hindu religion and to the spiritual thought of the world.

Sri Nand Dassji is the moving spirit of the Subodhini Prakashan Mandal. For several years he has been engaged in translating into actual practice the dream of the Vaishnavas, namely, that the Subodhini may be translated into Hindi by the learned scholars of the Sampradaya and it may be made available to the Hindi knowing public.

I am glad that a beginning has been made and I am sure that with his persistent zeal, the entire Tenth Skand will be translated in Hindi and published in due course.

प. भ. श्री राधाकृष्णजी कोठारी, कलकत्ता-शाखा मन्त्री,
अ. भा. पुष्टि मार्गीय वैष्णव परिषद्

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में 'अणुभाष्य' एवं 'श्रीमद्भागवत पर सुबोधिनी टीका' का आचार्यत्व की परम्परा में एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दी साहित्य में आपके 'मण्डल' द्वारा श्री सुबोधिनी टीका का हिन्दी में 'अनुवाद प्रकाशन' एक ऐसे अभाव का पूरक है, कि जिसके लिये 'पुष्टि सम्प्रदाय' आपका चिरकृतज्ञ होगी।

पुष्टि मार्ग में 'सेवा प्रकरण' को ही प्रधानता दी गई है पर जब तक श्रीमदाचार्य चरण की गूढ़ वाणी को हृदयंगम न कर लिया जाय तब तक 'सेवा भाव' की मार्मिकता को समझ लेना अति ही कठिन है। श्री सुबोधिनी के गूढ़ तत्वों को तथा भावनाओं को समझ लेना किसी विद्वान व्यक्ति के लिये भी सरल साध्य नहीं हैं फिर भी आपके 'मण्डल' द्वारा मनोनीत उपयुक्त विद्वानों द्वारा यह 'अनुवाद' इतना सरल, सुबोध तथा भाव पूर्ण हुआ है कि किसी भी हिन्दी भाषा भाषी विचारक व्यक्ति के लिये इसका अध्ययन एवं मनन करने के लिये विशेष कठिनाई प्रतीत नहीं होती। प० भ० श्री फतहचन्दजी शास्त्री कृत अनुवाद में तो उनके हृदय की सरसता टपकसी रही है। सेवा निष्ठ वैष्णवों के लिये आपका यह प्रकाशन कामधेनु सा सिद्ध होगा—इसमें मुझे सन्देह नहीं हैं।

कागज, छपाई सफाई तथा यथा स्थान सुन्दर एवं उपयुक्त चित्रों के समावेश से इस ग्रन्थ का सम्पादन कार्य अतीव सुन्दर हुआ है जिसके लिये आपके 'मण्डल' उसके प्रतिष्ठापक, संरक्षक वृन्द आदि को मेरा हार्दिक अभिनन्दन है। सेवा निष्ठ धनीमानी वैष्णवों से मेरा हार्दिक अनुरोध है कि अपना आर्थिक सहयोग देकर 'मण्डल' को प्रगतिशील बनाकर अपनी सेवा भावना को सार्थक करें। सेवा प्रकरण के अन्य अवलम्बनों से साम्प्रदायिक प्रकाशन व प्रचार सेवा का महत्व, किसी भी प्रकार से कम नहीं आंका जा सकता।

आपका प्रयास स्तुत्य है।

प. भ. श्री नारायणजी त्रिपाठी शास्त्री–नाथद्वारा.

अनुवाद में श्री सुबोधिनीजी के भाव को स्पष्ट किया गया है, भाषा की शैली भी अच्छी है। मुद्रण भी चित्ताकर्षक है हिन्दी भाषा के अभ्यासियों को इससे अच्छा लाभ होगा। श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल जोधपुर का यह कार्य अत्यन्त ही स्तुत्य है। आशा है अन्य पुष्प भी 'प्रथम पुष्प' की भांति विकसित होकर वैष्णव समाज को आमोदित करेंगे।

प. भ. श्री यमुनावल्लभजी शास्त्री, राजनगर (अहमदाबाद)

आपने गाढ परिश्रम के साथ इस प्रकाशन का कार्य सफल बनाया है इसका आपको शतसः धन्यवाद है। आपके निस्वार्थ सम्प्रदाय साहित्य हिन्दी भाषा में छपकर प्रकट हो इस भगीरथ प्रयत्न को श्री आचार्य चरण ने सफल किया है। बहुत ही सुष्टुतर ग्रन्थ तैयार हुआ है। भगवान् नन्द नन्दन आप के कार्यों को भूय भूयः सफलता प्रदान करें। श्रीमद्वल्लभकुलाचार्य महानुभावों के मन्तव्य भी इसके साथ छपे हैं सो बहुत ही सुन्दर हैं।

॥ श्री हरिः ॥

चरित्र-नायक का कुछ—

❀ राग समकली ❀

बलिबलि चरित्र गोकुल राय ।
दावानल को पानकीवो पिवत दूध सिराय ॥ १ ॥

पूतना के प्रान शोषे रहे उर लपटाय ।
कहत जननी दूध डारत खीझि कछु अनखाय ॥ २ ॥

धर्यो गिरिवर दाहिने कर, धरत बांह पिराय ।
शकट भंजन धरत कुच युग, कठिन लागत पाय ॥ ३ ॥

तृणावर्त्त आकाशतें गहि, शिला पटक्यो आय ।
डरत ललना झूलत पलना, खरे देत झुलाय ॥ ४ ॥

बकासुर की चोंच फारी, सबै दृष्टि दिखाय ।
कोर पिंजरा देत अगरी, श्याम लेत भजाय ॥ ५ ॥

बिना दीपक सदन में हरि, तेकु धरत न पाय ।
अघासुर मुख पेठि निकस्ये, बाल बच्छ जिवाय ॥ ६ ॥

लिख्यो द्वारै नाग कारो, स्याम देखि डेराय ।
शत ही फनपर निर्त कीनों, सप्त ताल बजाय ॥ ७ ॥

घोषनारी संग मोहन, रच्यो रास बनाय ।
कहत जननी व्याह की तब, हँसत बदन दुराय ॥ ८ ॥

यमुलार्जुन तोरि तारे, हृदे प्रेम बढ़ाय ।
कहत तात पकास पल्लव, देहु देत दिखाय ॥ ६ ॥

वृषभ भंजन हनत केशी, हन्यो पुच्छ फिराय ।
भजत सखन समेत मोहन, देखि व्याई गाय ॥१०॥

हरे ब्रह्मा बाल बच्छ कृत, हेत दोरी माय ।
बच्छ ग्वाल समूह सब मिलि, फिरि ब्रज रच्योहे आय ॥११॥

शेष महिमा कहि न आवे, सहस रसना पाय ।
एक रसना सूर कहा कहे, अंग अगनित भाय ॥१२॥

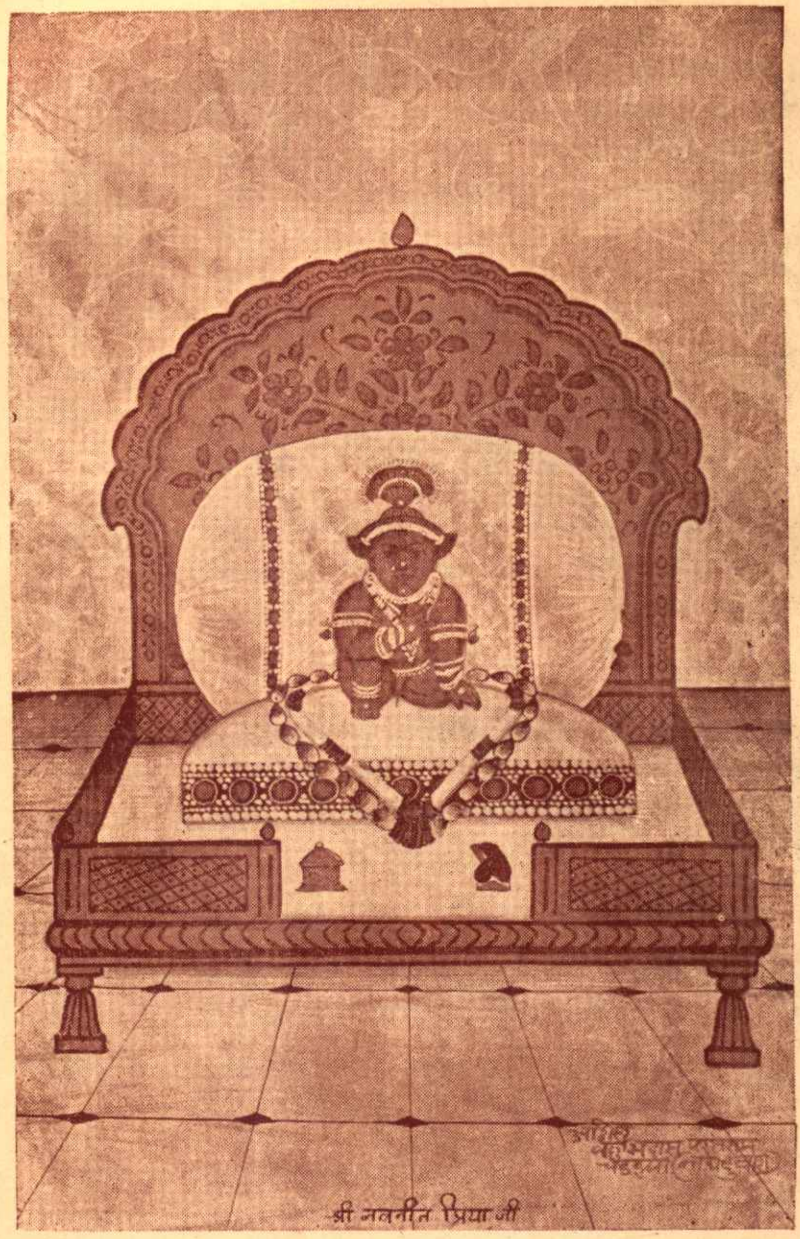

शोभित कर नवनीत लिए-श्रीनवनीत प्रियाजी

॥ श्री हरिः ॥

❀ राग—बिलावल ❀

शोभित कर नवनीत लिए ।
घुटरुवन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किए ॥ १ ॥
चारु कपोल लोल लोचन छबि, गोरोचन को तिलक दिए ।
लर लटकन मानो मत्त मधुप गन मादिक मधुहि पिए ॥ २ ॥
कठुला कण्ठ वज्र केहरि नख, राजत हैं सखी रुचिर हिए ।
धन्य सूर एको पल यह सुख, कहा भयो सत कल्प जिए ॥ ३ ॥

❀ राग—आसावरी ❀

बनी सहज यह लूट हरि केलि गोपिन के, सुपनें यह कृपा कमला न पावे ।
निगम निरधार त्रिपुरार हू विचार रह्यो, पच रह्यो दोष नहीं पार पावे ॥ १ ॥
किन्नरी बहुर अरू बहुर गंधर्वनी, पनगनी चितवन नहीं मांझ पावें ।
देत करतार, वे लाल गोपालसों, पकर व्रजबाल कपिज्यों नचावें ॥ २ ॥
कोऊ कहे ललन पकराव मोहि पावरी, कोऊ कहे लाल बल लाओ पीढी ।
कोऊ कहे ललन गहाव मोहि सोहनी, कोऊ कहे लाल चढ़ जाउ सीढी ॥ ३ ॥
कोऊ कहे ललन देखो मोर कैसे नचें, कोऊ कहे भ्रमर कैसे गुँजारें ।
कोऊ कहे पौर लग दौर आओ लाल, रीझ मोतीन के हार वारें ॥ ४ ॥
जो कछु कहें ब्रजवधू सोइ सोइ करत, मधुर बेन बोलन सुहावें ।
रोय परत वस्तु जब भारी न उठे तबे, चूम मुख जननी उरसों लगावें ॥ ५ ॥
बेन कहि लोनो पुन चाहि रहत बदन हँस, स्वभुज बीच लेले कलोलें ।
धाम के काम व्रजबाम सब भूल रहीं, कान्ह बलराम के संग डोलें ॥ ६ ॥
सूर गिरिधरन मधु चरित्र मधु पान के, और अमृत कछु आन लागे ।
और सुख रंकको कोन इच्छा करें, मुक्ति हों लोंन सी खारी लागे ॥ ७ ॥

श्रीमद्विठ्ठलनाथजी (गुसाईंजी) प्रभुचरण के जीवन की एक झांकी

❀ राग—देवगंधार ❀

रेशम की धोती पहरे, रेशमी उपरना ओढे, तिलक मुद्रा धर बैठे, आभूषण राजे ।
पुत्र मैया संग बिराजे, कुमकुम को तिलक भ्राजे, श्रीफल बीरा, दक्षिण भाग आरती मंगल साजे ।।१।।
संवत् पन्द्रह सौ बहत्तर, पोष कृष्ण नौमी, शुभ तारा हस्त, वार बुध, आनन्द योग भ्राजे ।
भक्त सबन सुख दीनों, विप्र को दक्षिणा दीनों, द्वारकेश यश गावे बाजे बहु बाजे ।।२।।

जय श्री वल्लभराज कुमार ।
पर पाखण्ड कपट खण्डन कर सकल वेद धुरी धार ।।१।।
परम पुनीत तपोनिधि पावन तन शोभित जितमार ।
निज मुख कथित कृष्ण लीलामृत, सकल जीव निस्तार ।।२।।
निज मुख सुदृढ़ सुकृत कर हरिपद, नवधा भक्ति प्रचार ।
दुरित दुरे अचेत प्रेत गति, हतित पतित उद्धार ।।३।।
नहीं मतिनाथ कहां लों वरणों, अगणित गुण गणसार ।
छीत स्वामी गिरधरन श्री विठ्ठल प्रकट कृष्ण अवतार ।।४।।

❀ राग—सारंग ❀

जयति वल्लभ सुवन, श्रुति उद्धार, फेरि नन्द के भवन की केलि ठानी ।
इष्ट गिरवरधरन, सदा सेवत चरन, द्वार चारों वरन भरत पानी ।। १ ।।
वेद पथ व्यास से, हनुमानदास से ज्ञान को कपिल से कर्मयोगी ।
साधु लच्छमन निपुन, मनहु व्रजराज सुत, प्रगट सुख रास मानो इन्द्र भोगी ।। २ ।।
सिंधु सम गम्भीर विमल मन अति धीर प्रीति को जल-क्षीर व्रज उपासी ।
ध्यान को सनक से, भक्ति को फनिग से या ही तें सद्य किए व्रज में बासी ।। ३ ।।
मनहु इन्द्रियजीति, कृष्ण सों करी प्रीति निगम की चली नीति अति विसेखी ।
रहित अभिमान तें, बड़े सन्मान तें, सील और दाम गोविन्द टेकी ।। ४ ।।
सदा निर्मल बुद्धि, अष्ट सिद्धि नव निधि द्वार सेवत जहां मुक्तिदासी ।
रामराय गिरधरन जानि आयो सरनि, दीन के दुःख हरन घोखबासी ।। ५ ।।

जयतिनाथ विठ्ठल नवल चारू लोचन कमल, अमल रस ताही को सर्व व्यापी ।
जीत मायावाद दसों दिसि विध्वंस कर, लाल गिरधरन दृढ़ भक्ति थापी ।। १ ।।
जयति शुक वचन, श्रुति वचन ताहि को सार, भजन विस्तार कर कृष्ण जापी ।
अभय दीनो लेख हरिदास वर्य भेख, कृष्णदास पंच वर्ण छाप छापी ।। २ ।।

श्री कृष्ण भक्ति प्रवर्त्तकः

श्री मत्प्रभुचरण श्री विठ्ठलनाथजी (गुसांईजी)

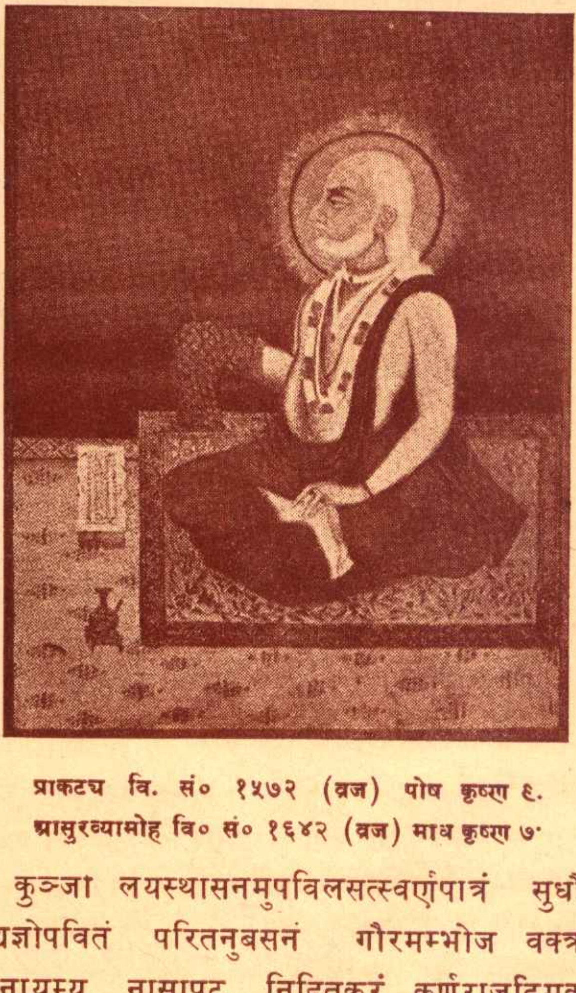

प्राकट्य वि. सं० १५७२ (व्रज) पोष कृष्ण ६.

आसुरव्यामोह वि० सं० १६४२ (व्रज) माघ कृष्ण ७.

सायं कुञ्जा लयस्थासनमुपविलसत्स्वर्णपात्रं सुधौतं ।
राजद्यज्ञोपवितं परितनुबसनं गौरमम्भोज वक्त्रम् ।
प्राणानायम्य नासापुट निहितकरं कर्णराजद्विमुक्तं ।
वन्देऽर्धोन्मीलिताक्षं मृगमद तिलकं विट्ठलेशं सुकेशम् ॥

श्री मद्विठ्ठलेश प्रभु चरण कृत ६ विज्ञप्तियों में से कुछ सूक्ति रत्न

यद्दैन्यं त्वत्कृपाहेतुर्न तदस्ति ममाण्वपि ।
तां कृपां कुरु राधेश यया ते दैन्यमाप्नुयाम् ॥

हे राधेश! आपकी कृपा का हेतु जो दीनता है सो तो अणु मात्र भी मुझमें नहीं है, इसलिए ऐसी कृपा करो जिससे दैन्य प्राप्त हो।

शास्त्रं नियामकं तावद्यावत्पूर्णकृपा न ते ।
कृपया तेन पूर्णस्य नैव कोऽपि नियामकः ॥

हे नाथ! शास्त्र की मर्यादा तब तक ही नियामक हे जब तक आपकी पूर्ण कृपा न हो और जो आपकी कृपा से पूर्ण हैं, उनके लिए कोई भी नियामक नहीं हैं।

बलिष्ठा अपि मद्दोषास्त्वत् क्षमाग्रेऽति दुर्बला ।
तस्या ईश्वरधर्मत्वाद्दोषाणां जीव धर्मतः ॥

हे नाथ ! यद्यपि मेरे दोष बलिष्ठ हैं तो भी आपकी क्षमा के आगे अति दुर्बल हैं, कारण, क्षमा ईश्वरीय धर्म है और दोष जीव धर्म है।

इत्थं जीवनमस्तु क्षणमपि भवदंघ्रिविप्रयोगे तु ।
मरणं भवतादेवं भावे शरणं त्वमेवाशु ॥

हे नाथ ! मेरा जीवन तो आपके संग में होय और क्षण मात्र भी यदि आपके चरणकमल का वियोग होय तो मरण को ही प्राप्त हो, कारण ऐसा होने से भी आपकी शरण प्राप्त होगी।

बहुधैवममापराधवृन्द – स्तदपि त्वं न विमुंचसि स्वकीयान् ॥
अतएव न क्वापि कापि चिन्ता। भवति प्राणपते ममेदृशस्य ॥

बहुधा मेरे ही अपराधबृंद हैं तो भी आप अपने भक्तों का त्याग नहीं करते हैं इसलिए हे प्राणपति! मेरे अनेकों अपराध होने पर भी मुझे कभी भी कोई प्रकार की चिन्ता नहीं होती।

दण्डं स्वकीयतां मत्वेत्येवं चेदिष्टमेव नः ।
अस्मासु स्वीयतां मत्वा यत्र कुत्र यदा तदा ॥

हे प्रभो ! हमको आप अपना मान कर जहां कहीं पर जब कभी दण्ड देंगे तो वह हमें अच्छा ही है।

यद्यत्करिष्य त्यखिलं तदस्तु प्रतिजन्मनि ।
इदमेव सदा प्रार्थ्यं वं त्वदीयत्वव्रजेश्वर ॥

हे व्रजेश्वर ! आप जो कुछ करें सो हमको प्रतिजन्म में हो, परन्तु सदा यही प्रार्थना करते हैं कि हम आपके हों।

श्रीमद्विठठ्लनाथजी (गुसांइजी) प्रभुचरण

प्राकट्य—श्रीमद्वल्लभाचार्यजी (महाप्रभुजी) की धर्मपत्नि श्री महालक्ष्मीजी (अक्काजी) से दो पुत्र रत्न प्रकट हुए। ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथजी तथा द्वितीय आत्मज श्री मद्विठ्ठलेश प्रभुचरण (श्री गुसांईजी) हैं। आप श्री का प्राकट्य व्रज पोष कृष्णा नौमी विक्रम संवत् १५७२ भृगुवार के शुभ दिन चरणाट (चुनार) में हुआ था। उसी समय श्री आचार्यचरण को दक्षिण का एक ब्राह्मण भेट स्वरुप श्री मद्भागवत एवं श्रीविठ्ठलनाथजी (श्री ठाकुरजी) का स्वरूप दे गया। तब आचार्यचरण ने कहा कि स्वामी एवं सेवक दोनों रूपों से श्री विठ्ठलनाथजी पधारे हैं। यह स्वरूप श्री मदाचार्यजी के घर में ही आज तक बिराजमान हैं और अभी श्री नाथद्वारा में गो० श्री कल्याणरायजी महाराज इनकी सेवा में हैं।

विद्याध्ययन—श्री प्रभुचरण का यज्ञोपवीत संस्कार वि० सं० १५८० में काशी में हुआ आप श्री की प्रतिभा और मेधा शक्ति बाल्यकाल से ही तीव्र थी। आपका विद्याध्ययन उस युग के प्रकाण्ड पंडित श्री माधव सरस्वती के यहां प्रयाग में हुआ था। आप जो कुछ पाठ सुनते थे उसे एक ही बार के श्रवण मात्र से धारण कर लेते थे। घर पर आकर आप पितृचरण से केवल १० वर्ष की अवस्था में श्रीमद्भागवत का अध्ययन करते थे और उसी समय आप श्री ने "व्रजराज विराजत घोष वरे" इस राज भोग—आर्या की रचना कर श्री आचार्यचरण को सुनाई जिसे सुनकर आप श्री को बहुत सन्तोष हुआ और आपने आशीर्वाद दिया।

ललित कलाओं का भगवत्सेवा में विनियोग—आप श्री के ये तीन विषय प्रिय थे—

(१) काव्य रचना—आप में कवित्व शक्ति अद्वितीय थी, संस्कृत और व्रज भाषा दोनों में आप श्री रचना करते थे, किन्तु उस समय में भाषा में रचना करना आचार्यों के लिए गौरव पूर्ण नहीं समझा जाता था इसलिए आप अपनी भाषा की रचनाओं में अपने नाम का स्पष्ट उल्लेख न करते हुए "ललितादि" "सहज प्रीति" आदि छाप रखते थे। आप श्री का व्रज-भाषा के प्रति बड़ा अनुराग था उसका एक मात्र कारण अपने इष्टदेव का इस भाषा से सम्बन्ध था। भगवान् श्री बालकृष्ण ने इसी भाषा को अङ्गीकार की थी, अतः आप श्री ने इसे "पुरुषोत्तम भाषा" कह कर अपने सेवकों में समादत की थी। यही कारण है कि व्रज-भाषा का सब से अधिक प्रचार इस पुष्टि सम्प्रदाय में ही हुआ है। व्रज-भाषा के परिष्कृत गद्य और पद्य दोनों की विस्तृत एवं अनेक अलौकिक रचनाएँ—वार्ता, वचनामृत, पद, कीर्तनादि—इसी सम्प्रदाय में मिलती है। अष्ट छाप के कवियों का समादर एवं संगठन करके श्री विठ्ठलनाथजी (गुसांईजी) ने व्रज-भाषा को शताब्दियों तक हिन्दी भाषा गगन में देदीप्यमान रखा है, आप श्री का हिन्दी साहित्य के प्रति यह उपकार सर्वथा अविस्मरणीय रहेगा इसमें कोई सन्देह नहीं।

श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण की संस्कृत भाषा की रचना अत्यन्त प्रोढ एवं अलङ्कारों से परिपूर्ण होने के कारण विद्वद्भोग्य है। आपने संस्कृत में ५० से भी अधिक ग्रन्थों की रचना की

है जिनमें से कुछ हैं—श्री सुबोधिनीजी पर टिप्पणी, विद्वन मण्डन, शृंगार रस मण्डन, अणुभाष्य के अन्तिम ११ अध्याय पर भाष्य, निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण पर प्रकाश ३ से ५ स्कन्ध तक, भक्ति हंस, भक्ति हेतु, भक्ति जीवन, गीता तात्पर्य, गायत्री कारिका, षोडश ग्रन्थों मे से कुछ पर टीका, प्रकाश, विवरणादि, गुप्त रस, सेवा निकुञ्ज, यमुनाष्टपदी, श्री सर्वोत्तम स्तोत्र, श्री वल्लभाष्टक, श्री स्फुरतकृष्णप्रेमामृत, विज्ञप्ति, स्वामिनी स्तोत्र, भक्ति निर्णय आर्या—मङ्गला, शृंगार, राजभोगार्ति संध्यार्ति, शयनार्ति—प्रेमामृत भाष्यादि इन रचनाओं से आप श्री का अगाध पांडित्य ज्ञात होता है।

(२) **चित्र-कला**—शृंगार, सांझी, आरती, मन्दिर में पिछवाई आदि में चित्रकला का भगवद् विनियोग कराया। आप श्री चित्रकला में पूर्ण निपुण थे। आप श्री के स्व-हस्त के दो चित्र सम्प्रदाय में उपलब्ध हैं। एक ही चित्र भगवान् श्री बालकृष्ण का दूसरा स्वयं आप श्री का है।

(३) **संगीत कला**—संगीत कला के आप श्री अद्वितीय ज्ञाता थे। इस ललित कला का आप श्री को बाल्यकाल से ही अभ्यास था। एकबार आपको श्री नवनीतलाल को जगाते समय बीन बजाते हुए श्री आचार्यचरण ने देखा तब आपने बीन बजाने के लिए मना किया तब उसी समय से श्री प्रभुचरण ने यह वाद्य बजाना छोड दिया। इसका कारण यह था कि बीन बजाने से उँगलियों में खड्डे से पड़ जाते हैं जिससे वे प्रभु के स्पर्श योग नहीं रहती हैं।

आप श्री का संगीत में प्रेम अष्ट छाप की स्थापना तथा साम्प्रदायिक भेद बुद्धि रहित चारों भक्ति सम्प्रदाय के उत्तम कवियों के सन्मान आदि से स्पष्ट होता है। विविध प्रकार की समय एवं ऋतु अनुसार गेय पद्धति का विधि पूर्वक वाद्यों सहित सेवा में आप श्री ने आविष्कार किया जिसका क्रम चार सौ वर्ष से चल रहा है।

समाज का आकर्षण—श्री प्रभुचरण को बाल्यकाल से ही भोग राग शृंगार पूर्ण भगवत्सेवा का आग्रह था इसलिए आप श्रीनाथजी एवं श्री नवनीतप्रियाजी की सेवा बड़े प्रेम एवं उत्साह पूर्वक वैभव से करते थे और श्रीनाथजी का शृंगार बहुत ही अच्छे प्रकार से करते थे। आप श्री ने ही प्रचलित दान, मान, रास आदि लीला सूचक मुख्य आठ शृंगारों—मुकट, कुलह, टिपारा, सेहरा, पाग, दुमाला, ग्वालपगा फेंटा—का सम्प्रदाय में निर्माण किया। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के समय में तो केवल पाग और मोर चंद्रिका का मुकट—जोड़—ही धराया जाता था। पाक-कला, चित्र-कला का भी सम्पूर्ण भगवद् विनियोग आपने ही कराया इससे पुष्टि मार्गीय सेवा में एक अद्भुत् रस प्रकट हुआ और उसमें द्वापर की कृष्ण लीलाओं का साक्षात्कार भी होने लगा। इसलिए सूरदासजी ने अपने सेवाफल में कहा है—'सेवा की यह अद्भुत रीत, श्री विठ्ठलेशसों राखे प्रीत'। भक्तमाल में भी साक्षात लीला निदर्शक सेवा प्रकार को देख कर ही नाभाजी ने गाया है कि—'श्रीवल्लभसुत बलि भजन प्रतापते, कलियुग में द्वापर कियो'। इस प्रकार की जीव में रही हुई सहज लौकिक विषया-शक्ति को भगवद् सम्बन्धित कर उसे अलौकिक प्रेमा-सक्ति रूप बनाने की दिव्य प्रतिभा श्री विठ्ठलनाथजी में बाल्यकाल से ही थी। इसलिए श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भी अपने सामने ही इनको पुष्टि-भक्ति की दीक्षा देने का अधिकार दे दिया था। इसीसे उनके अनन्तर वैष्णव समाज श्री

विट्ठलेश प्रभुचरण के प्रति विशेष आकर्षित रहा। महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य का तिरोधान आषाढ़ सुद २ वि० सं० १५८७ के दिवस हुआ उस समय आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथजी २० वर्ष के और श्री विठ्ठलनाथजी (गुसांईजी) १५ वर्ष के थे।

गृहस्थाश्रम—श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण का विवाह वि० सं० १५८९ में काशी में विश्वनाथ भट्ट वागरोदी की कन्या श्री रुक्मिणीजी से हुआ था। इनसे आप श्री के छः पुत्र एवं चार कन्याएँ हुईं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—पुत्र श्री गिरधरजी, श्री गोविन्दजी, श्री बालकृष्णजी, श्री गोकुलनाथजी, श्री रघुनाथजी, श्री यदुनाथजी। पुत्रियाँ श्री शोभाजी, श्री कमलाजी, श्री देवकाजी और श्री यमुनाजी। वि० सं० १६१६ के पश्चात् श्री रुक्मिणी बहूजी का लीला प्रवेश हुआ। उसके अनन्तर वि० सं० १६२० में जब श्री प्रभुचरण सकुटुम्ब गढा में बिराजते थे तब वहाँ की रानी दुर्गावती के आग्रह से आप श्री का पद्मावती नामकी सजातीय कन्या से दूसरा विवाह हुआ उनसे आपको वि० सं० १६२८ में एक पुत्र रत्न प्राप्त हुआ, जिनका शुभ नाम श्री घनश्यामजी रखा गया। इस प्रकार आप श्री के सात पुत्र और चार पुत्रियाँ थीं। आप श्री ने निज निवास-स्थान अड़ेल, प्रयाग के पास, तत्पश्चात् गोकुल ही अधिकांश में रखा।

पुष्टि-मार्गीय प्रचार—(क) व्रजयात्राएँ—श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरण ने स्वतंत्र रूप से सहकुटुम्ब वि० सं० १६०० में प्रथम व्रज यात्रा की। दूसरी व्रज-यात्रा वि० सं० १६२८ में की।

(ख) द्वारिका यात्रा—आप श्री ने पुष्टिमार्ग के प्रचारार्थ ६ बार गुजरात एवं सौराष्ट्र की यात्रा वि० सं० १६००, १६१३, १६२०, १६२३, १६३१ और १६३८ में की। इस अन्तिम यात्रा में असारवा में आप श्री ने भाइला कोठारी के यहां रूपपुरा वाले गूंगे गोपालदास को अपना चर्वित ताम्बूल देकर वाणी दी जिससे उनने नवाख्यान की रचना की।

(ग) मगध देश की यात्रा—वि० सं० १६१० में आपने मगध देश को यात्रा कर वहां पर सम्प्रदाय का प्रचार किया।

(घ) जगदीश व गौड़ देश की यात्रा—वि० सं० १६१६ में आप श्री गौड़ देश में पधारे और वहां के बादशाह दाऊद के दीवान नारायणदास को शरण में लिया था। पुनः आप श्री पुरुषोत्तम क्षेत्र में पधारे और वहां पर श्री जगन्नाथजी को सर्व समर्पण किया।

(ङ) उत्तर यात्रा—वि० सं० १६२६ में उत्तरीय प्रदेशों में आप श्री ने यात्रा की और हरिद्वार में काबुल निवासी माधवदास को शरण में लिया। वहां से आप श्री बद्रीकाश्रम पधारे।

(च) आगरा व दिल्ली की यात्रा—वि० सं० १६३४ एवं १६३८ में सम्राट् अकबर के विनति करने पर आप श्री आगरा पधारे थे और धार्मिक चर्चाओं में आप श्री ने प्रमुख भाग लिया था। जिससे प्रसन्न होकर सम्राट् और उसके परिवार ने सन्तुष्ट होकर गुसांई पदवी के साथ गोकुल व जतीपुरा की गोचर भूमि की माफी आदि के कई फरमान जारी किए। इसी प्रकार दिल्ली में भी सूरत के साहूकार के बेटे की स्त्री की बिनति से आपने न्याय किया था जिससे प्रसन्न होकर

सम्राट् ने आप श्री को न्यायाधीश के अधिकार दिये थे । इन प्रवासों में राय पुरुषोत्तमदास राजा बीरबल, राजा टोडरमल, सम्राज्ञी 'ताज' व बीरबल की बेटी शोभावती आप श्री की शरण में आए । स्वयं सम्राट् अकबर इतना प्रभावित हुआ था कि समय समय पर श्री विट्ठलनाथजी की दुआ मांगने को गोकुल में आता था । यह पद्धति शानशाह जहांगीर व शाहजहां ने भी निभाई थी इस प्रकार श्री विठ्ठलेश प्रभु चरण का प्रभाव तीन पीढी तक शानशाही शासन पर पूर्ण रूप से रहा ।

अन्य महान् व्यक्ति—आप श्री ने वि० सं० १५९२ में श्री छीत स्वामी एवं श्री गोविन्द स्वामी को गोकल में, वि. सं. १५९८ में श्री चत्रभुजदासजी को गोवर्धन में, वि. सं. १६०७ में श्री नन्ददासजी को गोकुल में शरण में लिए इस प्रकार अष्ट छाप के ये चार भक्त कवि आप श्री की शरण में आए । वि. सं. १६२९ में तानसेन को और नरवरगढ़ के राजा आशकरण को वि. सं. १६३५ के आसपास चतुर्भुजदास मिश्र तथा चतुर बिहारी साम्राज्य के सम्मानित कवियों को गोकुल में शरण में लिए । वि. सं. १६४२ के प्रारम्भ में रसखान पठान को गोविन्द कुण्ड के पास श्रीनाथजी की आज्ञा से आप श्री ने शरण में लिया था । इस प्रकार राजकीय पुरुषों एवं इन महान् साहित्यिक व्यक्तियों के एक मात्रशरण स्थान श्री मद्विठ्ठलेश प्रभु चरण ही थे । इससे यह स्पष्ट है कि आप श्री का प्रभाव राज्य,समाज,साहित्य एवं धर्म पर कितना था। आप श्री ने उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम चारों दिशाओं में भक्ति मार्ग का काफी प्रचार किया था जिसमें लाखों व्यक्ति राजा से लेकर रङ्क एवं ब्राह्मण से शूद्र तथा यवन पठान तक आप श्री की छत्र छाया में आए ।

(२) **प्रचार के मुख्य केन्द्र स्थान**—पश्चिम में गुजरात, अहमदाबाद, खम्भात, गोधरा, सिद्धपुर वडनगर, ईडर, प्रांतीजादि तथा काठियावाड़ (सौराष्ट्र) में द्वारिका आदि स्थान थे । उत्तर प्रदेश में गोकुल, गोवर्धन, मथुरा, आगरा, दिल्ली, प्रयाग हरिद्वार इत्यादि थे । मध्य-प्रान्त में गढा (जबलपुर) पूर्व में अड़ेल, काशी, जगदीशपुरी और गौड़ देश था । दक्षिण में पंढरपुर, विजयनगर था फिर भी सम्प्रदाय का प्रचार इन तीन प्रदेशों की अपेक्षा दक्षिण में कम था ।

(३) **वैष्णवों द्वारा नाम मंत्र**—आप श्री ने अपने पितृ-चरण की उस प्रणाली का भी निर्वाह किया था जिसमें आदर्श सेवकों द्वारा भी अष्टाक्षर मंत्र की दीक्षा दी जाती थी । आप श्री के सेवक चाचा हरिवंशजी को तथा श्री तुलसीदासजी (आठवें लालजी) आदि को अष्टाक्षर मंत्र देने की आज्ञा दी थी ।

नित्यप्रति एक जीव को शरण में लेना—श्री प्रभुचरण का यह नियम था कि नित्यप्रति एक प्राणी को दीक्षा देकर भगवन्सन्मुख करना जब तक आप श्री किसी प्राणी को दीक्षा नहीं देते थे तब तक भोजन नहीं करते थे । कबूतर कबूतरी की वार्ता से इस बात का पता चलता है ।

भगवन्मण्डलियां—गुजरात–गोधरा में नागजी भट्ट, असारवा (अहमदाबाद) में भाइला कोठारी, सिद्धपुर में राणा व्यास, खम्बात में जीवा पारख एवं मुरारी आचार्य, गोड़ देश में नारायणदास दीवान, मध्य प्रदेश–उज्जैन में कृष्ण भट्ट, उत्तर प्रदेश––आगरा में रूपचन्द नन्दा, माणकचन्द व्रज में––अष्ट छाप के भक्त सूरदासजी आदि सत्संग मण्डलियाँ द्वारा सम्प्रदाय के

सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। इस प्रकार आचार्य एवं वैष्णव महानुभावों द्वारा पुष्टिमार्ग के प्रचार को व्यापक करने में महत्वपूर्ण योग रहा।

अन्ध-विश्वास के विरोधी—आप हिन्दू जाति में यंत्र-मंत्र की चल रही अन्ध-विश्वास की प्रथा के कट्टर विरोधी थे। इसका एक महान् प्रसंग सम्प्रदाय के वार्ता साहित्य में उपलब्ध है कि कुछ कारणों से सम्राट् अकबर की एक पञ्जाबी हिन्दू राणी ताज उनके मन से उतर गई जिससे ताज घबराई और अपनी सखी शोभावती (बीरबल की पुत्री) से कहा कि मुझे कहीं से ऐसा यंत्र लाकर दे कि सम्राट् पुनः प्रसन्न हो जाए। शोभावती ने सारा वृतान्त अपने गुरुदेव श्री विठ्ठलेश प्रभुचरण के पास भेजा और ऐसे यंत्र देने के लिए प्रार्थना की गई कि जिससे सम्राट् ताज बेगम के वश में हो जाए। आप श्री ने उत्तर में एक दोहा लिख कर भेज दिया, परन्तु ताज बेगम ने उसे यंत्र समझ कर अपने गले में बांध लिया। भाग्यवश सम्राट् की ताज पर कृपा हो गई जिससे उसके पास सम्राट् का आवागमन बढ़ गया। इस पर एक अन्य बेगम ने सम्राट् को भड़काया कि हजूर! ताज ने आपको अपने बस में करने के लिए एक हिन्दू फकीर से यंत्र मंगवा कर गले में बांध रक्खा है इसमें आपका कुछ अनिष्ट न हो जाए। इस पर सम्राट् ताज के पास आया और उसके गले में बंधे हुए यंत्र को निकलवा कर पढ़ा जो निम्न प्रकार से था।

कामन टोमन टोटका, ये सब डारो धोय।
पिया कहे सो कीजिए, आप ही ते बस होय॥

इसे पढ़कर सम्राट् बहुत प्रसन्न हुआ मानों उस पर किसी ने जादू कर दिया हो और ताज बेगम से पूछा कि यह किसने लिखा है। उसने प्रसन्न होकर कहा कि गोकुल के गुसांईजी ने लिखा है। तब सम्राट् गोकुल आकर आप श्री से मिला और उसकी उत्तरोत्तार आप श्री की तरफ श्रद्धा बढ़ती गई और ताज को आप श्री की सेवक होने की आज्ञा दी। श्री प्रभु चरण सच्चे प्रेम के अतिरिक्त किसी तथ्य को नहीं मानते थे, आप श्री एक प्रेम की ही साधना करते थे आप श्री के इष्ट प्रेम स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण ही थे।

अपूर्व-त्याग—जिस प्रकार आप भगवान् कृष्ण के प्रति अपूर्व अनुरागी थे उसी प्रकार आप कञ्चन और कामिनी के पूर्ण त्यागी थे। एक बार आप श्री गोकुल में बिराजते थे तब सम्राट् अकबर दिल्ली से आगरा नाव में जा रहा था। राह में गोकुल श्रीप्रभु चरण की दुआ लेने को आया और एक मणि भेंट की। आप श्री ने मणि श्री यमुनाजी में पधरा दी। तब समाट् ने अपनी मणि वापिस मांगी इस पर आप श्री ने श्रीयमुनाजी में से अञ्जली भर कर ऐसे अनेक मणियाँ निकाल दी और कहा कि जो आपकी मणि है वह पहचान कर लेलो। इससे समाट् बहुत लज्जित हुआ और इसके पश्चात् आप श्री को ईश्वर तुल्य समझने लगा और उसने अपने फरमानों में श्रीप्रभु चरण को 'गुसांई' एवं 'मारफते खुदा' के नाम से सम्बोधन किया है। जबकि सब से पहले फरमान में "विठ्ठलनाथ" के स्थान में "विठ्ठलदास" लिख कर सामान्य रूप से सम्बोधन किया है। ऐसे वार्ता साहित्य में अनेक उदाहरण हैं जिससे आपका कञ्चन त्याग करना सिद्ध होता है। इसी प्रकार गंगा बाई क्षत्राणी की वार्ता में ऐसा प्रसंग मिलता है कि एक अत्यन्त

सुन्दर स्त्री जो आप श्री पर आसक्त हो गई थी उसका गोकुल में प्रवेश करना सदैव के लिए बन्द कर दिया। एक गृहस्थ आचार्य के लिए इस प्रकार का त्याग अपूर्व ही कहा जा सकता है।

महोदारता—श्री मद्विट्ठलेश प्रभु जैसे अपूर्व त्याग के गुण से विभूषित थे वैसे ही महोदारता से भी। कृष्णदासजी अधिकारी ने श्रीप्रभु चरण को श्रीनाथजी के मंदिर में दर्शन करने से रोका इतने पर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ कि उसने जिस खिड़की से श्रीनाथजी श्री गुसांईजी को बाहर से दर्शन देते थे उसे भी मुन्दवा दिया जो कि उस सेवक का अक्षम्य अपराध था। कुछ समय पश्चात् आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरधरजी ने श्रीप्रभु चरण की डयोढी बन्द के समाचार बीरबल को दिए जिससे उसने कृष्णदासजी को कैद करवा दिया। श्री गिरधरजी ने कृष्णदासजी के बन्दीखाने में होने के समाचार देते हुए मन्दिर में पधारने की विनती श्री विठ्ठलेश प्रभु को की, इस पर आप श्री ने अत्यन्त खेद प्रकट किया और कहा कि जब तक कृष्णदास बन्दीखाने से छूट कर नहीं आवेंगे मैं अन्नजल नहीं लूंगा। तब कृष्णदास को तुरन्त बन्दीखाने से छुड़वा कर बुलवाया और आदर सहित अपना पूर्व स्थान सम्हालने को कहा। इतनी ऊँची महोदारता अन्यत्र कहां मिल सकती है।

दयालुता—श्रीप्रभु चरण में अपार दयालुता भी विद्यमान थी कि आप श्री ने अस्पृश्य जाति के एवं हेय कार्य करने वालों को भी शरण में लेकर पुष्टिमार्ग में स्थान दिया। अस्पृश्य जाति में अलिखान पठान, रसखान, धोंधी, मेहा, मोहना भंगी आदि और हेय कार्य करने वालों में माधवदास वाली वैश्या अपने गहनों और चांदी के पात्र आदि की गांठ को अपने घर में देहली के चोर को अपने हाथ से उठवाना दयालुता एवं उदारता की परिकाष्ठा है।

परोपकार—दूसरों के प्रति किसी भी जाति भेद भाव के बिना उपकार करना श्री प्रभु-चरण का सहज स्वभाव था, जो कूंजड़ी की वार्ता से स्पष्ट है। गरमी से घबरा कर बिना पानी मूर्छित मुसलमान कूंजड़ी को अपनी झारी से जल पिला कर उसे प्राण दान दिया जिससे उस कूंजड़ी ने आजन्म गोकुल में रह कर शाकादि बेच कर निर्वाह किया और अन्त समय में जो कुछ अपने पास था वह ठाकुरजी की सेवा में संयुक्ति निवेदन कराया।

न्याय दक्षता—आप श्री में न्याय दक्षता भी अद्भुत थी। सूरत के साहूकार के बेटे की बहू की वार्ता से प्रतीत होता है कि जैसा पक्षपात रहित शुद्ध न्याय सम्राट् अकबर न कर सका वैसा नीर्भीकता पूर्ण संयुक्ति सप्रमाण श्री प्रभुचरण ने किया कि अपराधी के दोषों को उसी के मुहँ से कहलवाना और गुप्त ढंग से उसे जान लेना एक विलक्षण शक्ति एवं शैली श्री विठ्ठलेश प्रभुचरण की थी जिससे प्रसन्न होकर सम्राट् अकबर ने आप श्री को न्यायाधीश के अधिकार के साथ साथ चाकदार वागा, खेंचमा पंखा एवं लोहे की आरसी आदि राजकीय वंश के उपयोग करने का अधिकार से सम्मानित किया।

व्यवहार कुशलता—आप श्री की व्यवहार कुशलता भी अद्वितीय थी। आप श्री आजन्म अजात शत्रु ही रहे। आप श्री ने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरधरजी को एक पत्र में लिखा है कि ठाकुर

द्वार में कोई राज्य का यवन आदि आवे जिससे कि अपना मन न मिलता हो उसका भी प्रसादादि से यथोचित सम्मान करना । अपने कार्य एवं वाणी से जहां तक हो सके किसी को भी बुरा न लगाना व **किसी का अहित न करना ही मनुष्य धर्म है । जब तक इस प्रकार का मनुष्य धर्म नहीं आता है वैष्णव धर्म आ ही नहीं सकता है** । मनुष्य धर्म में जो विवेक बुद्धि आवश्यक है उसकी झांकी उपरोक्त व्यवहार कुशलता में मिलती है ।

भगवद् अनुराग—श्री मद्विठ्ठलेश प्रभुचरण ने अपने सर्वस्व धन निधिरूप भगवान् के उन स्वरूपों को स्वीकार कर लिया था जो अपनी पैतृक सम्पत्ति रूप में वैष्णवों के यहां से और अपने गृह की परम्परा से प्राप्त हुए थे । अपने सात पुत्रों को अपने स्वाधिकार प्राप्त इन निधि स्वरूपों को ही सब कुछ बतलाते हुए उनको एक एक स्वरूप निम्न प्रकार से पधरा दिए । यही आपका भगवद् अनुराग को स्पष्ट करने वाला सबसे महान् प्रमाण है ।

पुत्र के नाम		स्वरूप		सम्प्रति बिराजमान
१. श्री गिरधरजी	—	श्री मथुरानाथजी	—	जतीपुरा (उ. प्र.)
२. श्री गोविन्दरायजी	—	,, विट्ठल नाथजी	—	नाथद्वारा (राज०)
३. श्री बालकृष्णजी	—	,, द्वारकानाथजी	—	कांकरोली (राज०)
४. श्री गोकुलनाथजी	—	,, गोकुलनाथजी	—	गोकुल (उ प्र)
५. श्री रघुनाथजी	—	,, गोकुल चन्द्रमाजी	—	कामां (राज०)
६. ,, यदुनाथजी	—	,, बालकृष्णजी	—	सूरत (गुजरात)
७. ,, धनश्यामजी	—	,, मदन मोहनलाल जी	—	कामां (राज०)

आपने अपना जो कुछ भी था सब इन स्वरूपों को ही अर्पण कर दिया था । इससे भिन्न सत्ता व धन का आप स्वीकार या संग्रह कभी नहीं करते थे । जब भी सेवकों द्वारा भेंट आया हुआ द्रव्य बढ़ जाता था तब ही आप छप्पनभोग आदि मनोरथ करके उसका विनियोग भगवान् में करा देते थे । द्रव्य को आप कलह का मूल रूप जानते थे । इसलिए आपने कभी द्रव्य का संग्रह नहीं किया । आपका राजसी ठाट भगवान् की प्रसादी वस्तुओं पर ही निर्भर था । आपके उपयोग के अच्छे वस्त्र, खान पान आदि सब भगवान् को समर्पित किए हुए पदार्थ ही थे । इसलिये आप रागी दिखते हुए भी वास्तव में वैरागी ही थे । भोगी होते हुए भी योगी ही थे ।

भगवान् श्रीनाथजी से विदा होकर आप दूर विदेश में जाते थे तब आप घी, दूध, आदि उत्तम पदार्थों का त्याग कर देते थे यह आपके उत्तम बैराग्य को सिद्ध करता है ।

आपके हृदय के भगवद् अनुराग को प्रकट करने वाला एक और प्रसंग इस प्रकार है—

जिस दिन आपने श्रीनाथजी का वैभव बढ़ाया और राज-भोग का बड़ा मंडान किया था उस दिन राज-भोग आरती अनन्तर आप भगवत्प्रसादी को लेने बैठे तब भाजी के शाक में एक तिनका आया । तब आपको बड़ा पश्चात्ताप हुआ और यह कहते हुए बिना भोजन किए ही उठ गए कि आचार्यचरण की प्रभु को उत्तमोत्तम प्रकारों से भोग लगाने की एक आज्ञा का भी हम से पालन

न हो सका। तत्काल आपने सन्यास लेने का निश्चय कर लिया और अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरधरजी को कोपीन रंगने को भी दे दिया।

इस प्रसंग से आपमें भगवान् के प्रति कितना भारी अनुराग था वह जाना जा सकता है।

अपने एक क्षत्री सेवक जिसने श्रीनाथजी के शृंगार के समय असंख्य रुपये भेंट किए जिसकी आवाज से आपका ध्यान श्रीनाथजी के स्वरूप में से बाहर हो गया। उसके द्रव्य को त्याग करके भी अपने भगवद् अनुराग की वृति की स्पष्टी की है।

इसी प्रकार आप बड़े वैभव से रहते हुए भी अभिमान से रहित थे। आप प्रभु के लिए छोटी से छोटी सेवा भी अपने हाथ से करते थे। अनेक सेवकों के रहते हुए इस प्रकार की सेवाएँ अपने हाथों से करना तथा अपने निष्कंचन सेवकों के यहां जाकर रहना, उनकी क्षुद्र से क्षुद्र समर्पी हुई वस्तुओं को अंगीकार करना ये सब दृष्टान्त आपके निरभिमान होने का प्रमाण है।

आप में दिव्य शक्ति एवं प्रतिभा थी जिससे सेवकों के अनेक कार्य आपने किये हैं। उनकी झांकी अनेक वार्ताओं से होती है। इस प्रकार आप में—

'जयति वल्लभ सुवन' इस पद में वर्णित सभी गुण विद्यमान थे।

सेवा का मंडाण—आपने वि. सं. १६०२ में भोग, राग, शृंगार आदि से आचार्यचरण प्रतिपादित सेवा का विस्तार किया था। फिर बंगालियों के निकालने के पश्चात् उसकी साम्प्रदायिक मर्यादाबद्ध विधि विधानपूर्वक की व्यवस्था करते हुए कुछ वैभव और बढ़ाया।

श्री विठ्ठलेश प्रभुचरण का यह नियम था कि द्रव्य के लिये कभी परदेश न जाना और अपने सेवक बिना किसी के द्रव्य को भेंट रूप में न लेना। आप जब वैष्णवों की (अपनी नई प्रजा की बहुत कंठी बाँधने के लिए) विनति आती थी तभी परदेश दैवी जीवों के अंगीकार के लिए पधारते थे। उस समय जो द्रव्य भेंट स्वरूप आता था उससे श्रीनाथजी और श्री नवनीतप्रियाजी की सेवा का कार्य चलाते थे। उसमें से भी जो द्रव्य शेष रहता था उसको प्रभु के अनेक मनोरथ, पात्र, आभरण आदि में लगा देते थे।

आपके अनेक राजा भी सेवक थे। उनके द्वारा आई हुई भेंट गायों के लिये खर्च करते थे। क्योंकि आपका राज्य द्रव्य को अपने उपयोग में न लेने का नियम था।

आपने वि.सं. १६१५ में श्रीनाथजी का छप्पनभोग किया था। वि.सं. १६२८ में श्रीनाथजी के राजभोग का नेग बहुत बढ़ा दिया था और वि. सं. १६४० में श्री नवनीतप्रियाजी के यहां भी छप्पन भोग के रूप में बड़ा मनोरथ किया था।

तिरोधान—वि० सं० १६४२ के माघ कृष्णा ७ के दिन आप ने श्री गिरराजजी के मुखारविन्द के निकट ही कन्दरा में गोविन्द स्वामी सहित प्रवेश किया और श्रीनाथजी के स्वरूप में लीन हो गए।

अन्तिम उपदेश—श्रीमद्वल्लभाचार्यजी अपने पितृचरण के सदृश आप श्री ने भी तिरोधान

के समय सब बालकों को श्रीनाथजी के सन्मुख उपस्थित कर यह उपदेश दिया था कि वे अपने कुल देवता हैं। इन्हें पीठ न देना अन्यथा काल तुम्हारा भक्षण कर जाएगा।

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण प्रतिपादित पुष्टिमार्ग अर्थात् निष्काम भगवद् सेवा मार्ग का श्री मद्विठ्ठलेश प्रभु चरण ने संवर्द्धन किया। आप श्री के सातों बालकों का परिवार ही सम्प्रदाय में वल्लभ कुल के गोस्वामी-बालकों के नाम से सुविख्यात है। इनके गृहों में बिराजमान निधि स्वरूप वे ही हैं जो श्री मदाचार्यचरण या श्री प्रभुचरण के सेव्य स्वरूप थे। पुष्टि मार्ग का प्रचार इतनी विपुल मात्रा में हुआ कि भारत वर्ष के समस्त भागों में करोड़ों की संख्या में वैष्णव विद्यमान हैं। वल्लभ कुल परिवार में उत्कट विद्वान और भगवत्सेवा परायण अनेक बालकों का प्राकटय हुआ है जिससे आज लगभग ५०० वर्षों से अविच्छिन्न सेवा प्रणालिका स्थिर है। यहां तक कि गेय कीर्तनों की गायन शैली भी अष्ट छाप के भक्तों की आज पुष्टिमार्गीय मन्दिर के कीर्तनकारों में दृष्टि गोचर होती है। हिन्दी भाषा के सर्वोच्च सरस एवं उत्तमोत्तम साहित्य का सृजन श्री वल्लभकुल सम्प्रदाय के सेवकों द्वारा ही हुआ है अष्ट छाप के कवियों के अतिरिक्त अनेकों वैष्णव कवियों की रसमयी कविता से हिन्दी साहित्य विभूषित है। अर्वाचीन हिन्दी भाषा शैली के निर्माता भारतेन्दु बाबु हरिश्चन्द्रजी इसी सम्प्रदाय के सेवक (शिष्य) थे जिन्होंने अपने गद्य एवं पद्य रचना से भाषा का एक नया स्वरूप प्रकट कर दिया। आज भी संस्कृत एवं हिन्दी काव्य की रचना करने वाले महानुभावों की इस सम्प्रदाय में बाहुल्यता है।

कृपासिंधु श्री विठ्ठलनाथ।
हस्त कमल छाया निस्तारी, हुते जु अधम अनाथ ॥ १ ॥
बाधा अब न रही कछु तन मन, भए सुदृष्टि सनाथ।
चत्रभुज प्रभु तुम सदा बिराजहु, श्री गिरवरधर साथ ॥ २ ॥

हों चरणत पाल की छैयां।
कृपा सिंधु श्री वल्लभनन्दन, बह्यो जात राख्यो गह बहियाँ ॥ १ ॥
नव नखचन्द्र शरद मण्डल छबि हरत ताप स्मरत मन महियाँ।
छीत स्वामी गिरधरन श्री विठ्ठल, सुयश बखान सकत श्रुति नहियाँ ॥ २ ॥

"श्री विठ्ठलेश चरितामृत" से

लेखक
गोलोकवासी प. भ. द्वारकादासजी पारीख

॥ श्री हरि: ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण ने श्रीमद्भागवत महापुराण का सात प्रकार से अर्थ किया है जैसा कि आप श्री ने कहा है--

शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे ।
एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते ॥

अर्थात् श्री मद्भागवत का (१) शास्त्रार्थ (२) स्कन्धार्थ (३) प्रकरणार्थ (४) अध्यायार्थ (५) वाक्यार्थ (६) पदार्थ और (७) अक्षरार्थ इन सातों प्रकार से जिस प्रकार विरोध न हो उस प्रकार एक ही अर्थ को जानता हुआ संसार से मुक्त हो जाना है। इनमें से प्रथम चार प्रकार के अर्थ श्रीतत्वदीप निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण में और शेष तीन अर्थ श्री सुबोधिनीजी में आपने वर्णन किए हैं। इन सातों प्रकार के अर्थों का परिज्ञान कराने के हेतु भागवतार्थ प्रकरण के दशम-स्कन्ध में वर्णित चार प्रकार के अर्थ निम्न प्रकार से है श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प जन्म प्रकरण में ये चार प्रकार के अर्थ दिए नहीं जा सके अतः यहां पर उस भाग को भी सम्मिलित कर लिया गया है।

महाप्रभुजी श्री वल्लभाचार्यजी विरचित तत्त्वद्वीप निबन्ध का तीसरा भाग

भागवतार्थ प्रकरण
का
दशम-स्कन्ध विवरण

चतुर्विंशतिधाभिन्ना भक्तिरुक्ताऽतिदुर्लभा ।
सप्ताशीतिरथाध्याया निरोधे दशमे मताः ॥१॥

कारिकार्थ—नवम स्कन्ध के अन्त में संक्षेप से भगवान् श्रीकृष्ण का चरित कहा। उस स्कन्ध में २४ अध्यायों से २४ प्रकार की भक्ति का वर्णन किया गया है। यहां यह प्रश्न उठता है कि जब नवम-स्कन्ध में भगवान् के अवतारों का एवं भगवद्भक्तों के चरित्रों का वर्णन हो चुका है तो यहां फिर वर्णन क्यों किया जाता है तो बताते हैं कि उन चरितों से अहंतादि का नाश करने वाला फल दूसरों पर अनुग्रह (कृपा) रूप भक्ति के बिना नहीं मिलता और ऐसी भक्ति भगवान् के अधीन है इसलिये वह दुर्लभ है।

अब इस दशम स्कन्ध में निरोध लीला है जो ८७ अध्यायों में है ॥१॥

नवत्यध्याय सन्दर्भो जातः कृत्रिमभावतः ।
केषाञ्चिदत्र सन्देहः स्कन्धार्थे प्रकटो महान् ॥२॥

कारिकार्थ—इस स्कन्ध के प्रसंग में ९० अध्याय लिखे जाते हैं परन्तु कृत्रिम (बनावटी) तीन अध्यायें इसमें प्रक्षिप्त हैं उन समेत ९० हैं,वे तीन अध्याय यहां नहीं माने गए हैं। इस स्कन्ध के अर्थ में किन्हीं को बड़ा संदेह प्रकट होता है। (श्रीधर स्वामी ने इस स्कन्ध का अर्थ 'आश्रय' माना है और श्री बोपदेव ने दुष्ट राजाओं का प्रलय–नाश–माना है परन्तु वे वेदव्यासजो के सम्मत नहीं होने से अमान्य हैं) ॥ २ ॥

तन्निवृत्त्यर्थ मधुना सर्वनिर्णयपूर्वकम् ।
दशमार्थः प्रकरणाध्यायार्थश्च विचार्यते ॥३॥

कारिकार्थ—उस सन्देह (आश्रय या दुष्ट राजाओं का नाश) को दूर करने के लिये सब विषयों का निर्णय करके दशमें-स्कन्ध का अर्थ तथा इसके प्रकरणों और अध्यायों के अर्थ का विचार किया जाता है ॥३॥

नवलक्षण लक्ष्योहि कृष्णस्तस्य निरूपणात् ।
आश्रयः क्रम भावित्वान्निरोधो वेति संशयः ॥४॥

श्रीकृष्ण नव लक्षणों (सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध और मुक्ति से पहिचाने जाते हैं। इस दशम-स्कन्ध में उन नवों लक्षणों का निरूपण है। तब यह सन्देह होता है कि इस स्कन्ध में नवों लीलाओं का वर्णन होने से यह आश्रय बताने वाला है अथवा भा–२–१०--१ में बताये हुए क्रम के अनुसार यह निरोध बताने वाला है ॥४॥

लीलानिर्धारकोह्यर्थः क्रम मात्रं तु दुर्बलम् ।
यथाकथञ्चिच्छ्रवणं सफलत्बाय कल्पते ॥५॥
निरोधः प्रलयो लोके प्रसिद्धः प्रकृते न सः ।
प्रतीतो द्वादशे चैव महत्त्वाच्छुद्ध लीलया ॥६॥
सहितो ह्याश्रयः स्कन्धे प्रतिपाद्य इतीति चेत् ।

(श्रीधर स्वामी का मत है कि) लीला का निर्णय कराने वाला ही स्कन्ध का अर्थ होता है, क्रम (भा. २-१०-१ में वर्णित) उसके सामने दुर्बल होता है। भगवान् की लीला का श्रवण किसी भी क्रम से सुना जाय, उसमें फल देने की शक्ति है। लोक में प्रसिद्ध है कि 'निरोध' 'प्रलय' है, इस प्रसंग (दशम-स्कन्ध) में वह प्रलय नहीं है वह (प्रलय) तो बारहवें-स्कन्ध में देखने में आता है। इसलिये दशम-स्कन्ध में उत्तम पक्ष के लिये शुद्ध (गुणातीत) लीला के सहित आश्रय (श्रीकृष्ण) का ही प्रतिपादन हुआ है। (यदि ऐसा मत है तो) ॥६॥

न हि सापेक्ष रूपस्य प्रथमं सुनिरूपणम् ॥७॥
नवलक्षण सापेक्षो ह्याश्रयो रूप्यते कथम् ।
अग्रेलीलाद्वय कथा फल सिद्धो वृथा भवेत् ॥८॥

(ऊपर श्रीधर स्वामी का मत कह कर उसका खण्डन करते हुए श्री महाप्रभुजी का सिद्धान्त बताते हैं)—जिसका आधार दूसरों पर हो, दूसरों का वर्णन किये बिना भली प्रकार उसका निरूपण नहीं किया जा सकता (भा० २-१०-२ में कहा गया है कि दशम पदार्थ—आश्रय लीला—की विशुद्धि के लिये नव पदार्थों—लीलाओं का वर्णन पहिले किया गया है जिससे दसवें पदार्थ का शुद्ध निरूपण हो सके । इसलिये नव लक्षणों पर आधार रखने वाले आश्रय का (इस दशम स्कन्ध में) वर्णन किस प्रकार हो सकता हैं ? यदि सात पदार्थ—लीलाएँ जान लेने से आश्रय रूपी फल सिद्ध हो सकता है तो फिर शेष आगे के दो (निरोध और मुक्ति) का वर्णन फल सिद्धि में वृथा (अनावश्यक) रहता है वैसी स्थिति में व्यासजी आश्रय की सिद्धि के लिये केवल सात लक्षण ही कहते ॥ ८ ॥

पूर्वोत्तर स्कन्धयोश्च नश्येत्कारण कार्यता ।
अर्थस्तवेकादशेऽप्यस्ति क्रमश्चस्वीकृतो भवेत् ॥९॥

यदि दशम स्कन्ध को आश्रय मानें तो पूव स्कन्ध कारण है और अगला स्कन्ध उसका कार्य है । इस प्रकार का कारण–कार्य का सम्बन्ध नष्ट हो जाता है । यदि यह कहा जाय कि इस (दशम) स्कन्ध में भगवान् की लीलाएं कही गई हैं जिससे इसको आश्रय माना जाय तो यह बात भी ठीक नहीं रहती क्योंकि भगवान् के चरित तो एकादश स्कन्ध में भी हैं इसलिये (भा० २-१०-१ में कहा हुआ) क्रम ही स्वीकार करना चाहिये (दशम स्कन्ध को निरोध मानें तो क्रम भंग नहीं होता ॥ ९ ॥

चरित्रं दशमे मुख्यं रूपं पूर्वत्र वर्णितम् ।
निरोधार्थं तथा भक्ति सिद्ध्यर्थं च हरिर्बभौ ॥१०॥

दशम स्कन्ध में भगवान् का चरित्र मुख्य है, भगवान् के स्वरूप का वर्णन तो पहले (नवम स्कन्ध में अध्याय २४ में) हो चुका है । (ग्यारहवें स्कन्ध में मुख्यता ज्ञान की है, इस प्रकार तीन स्कन्धों में श्रीकृष्ण का वर्णन है ऐसी स्थिति में दशम स्कन्ध में आश्रय का निरूपण नहीं माना जा सकता) भगवान् श्रीकृष्ण का प्राकटच (सर्व लोगों का) निरोध करने एवं उससे भक्ति सिद्ध हो सके इसके लिये है ॥ १० ॥

आश्रयो यादृशोह्यत्र तदर्थं न बभूव ह ।
आश्रयो यादृशोह्यत्र स वाच्यो द्वादशे स्फुटः ॥११॥

(बारहवें स्कन्ध में प्रलय स्पष्ट दिखता है न कि आश्रय, इसलिये यदि दशवें स्कन्ध में आश्रय का वर्णन नहीं मानें तो आश्रय बिना निरूपण किये ही रह जाता है श्रीधर स्वामी के ऐसे कथन का उत्तर देते हुए कहते हैं कि, जैसा आश्रय आप कहते हो (अर्थात् प्रलय) उसके लिये भगवान् का प्राकटच नहीं हुआ, जैसा आश्रय कहना भागवत में चाहा गया है वह बारहवें स्कन्ध में स्पष्ट कहा गया है ॥ ११ ॥

भूभारस्य निरोधो वा तत्कर्तुर्वा न सन्मतः ।
आद्यन्तयोरिहा भावान्मुक्तावप्यनुवृत्तितः ॥१२॥

(इस प्रकार श्रीधर स्वामी के मत का खण्डन कर अब श्री बोपदेव के मत––आश्रय अर्थात् 'दुष्ट राजाओं का नाश' का खण्डन करते हैं) यदि यह माना जाय कि पृथ्वी के भार का नाश या पृथ्वी पर भार करने वाले राजाओं का नाश इस स्कन्ध में है तो यह मत सन्पुरुषों का सम्मत नहीं है क्योंकि इस स्कन्ध के आदि और अन्त में भूभार का नाश अथवा भूभार करने वाले राजाओं के नाश का वर्णन नहीं है प्रत्युत ग्यारहवें स्कन्ध 'मुक्ति' में भूभार का नाश और दुष्ट राजाओं के नाश की बात कही हुई है (इसलिये इस स्कन्घ में निरोध का अर्थ 'नाश' नहीं हो सकता) ॥ १२ ॥

लक्षणस्याप्रवेशश्च लीलाधिक्यं तथा भवेत् ।
तदर्थं जन्म कथनं पृथास्तोत्रविरोधि हि ॥१३॥

"निरोधोऽस्याऽनुशयनमात्मनासह शक्तिभिः" अर्थात् शक्तियों के शयन के अनन्तर भगवान् का शयन करना निरोध है तब यदि निरोध का अर्थ दुष्ट राजाओं का नाश माना जाय तो) निरोध का लक्षण ठीक नहीं बैठेगा और यह एक अधिक लीला हो जायगी (दश से बढ़कर ग्यारह हो जायगी) फिर कुन्ती (प्रथा) ने भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए (भा० १-८-१९) में कहा था कि भगवान् का प्राकटच भक्तियोग के विधान के लिये हुआ है तो दुष्ट राजाओं के नाश के लिये भगवान् का जन्म कहना तो कुन्ती की स्तुति के विरुद्ध हो जायगा (अतः यहाँ निरोध का अर्थ दुष्ट राजाओं का नाश नहीं हो सकता) ॥ १३ ॥

पूर्वोत्तर स्कन्धयोश्च नश्येत्कारणकार्यता ।
निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः ॥१४॥
शक्तिभिर्दुर्विभ्याभि कृष्णस्येति हि लक्षणम् ।
निरोधो यौगिकश्चात्र रोधनात्मा सतां मतः ॥१५॥

(निरोध का अर्थ दुष्ट राजाओं का नाश मानने से) पहिले और पीछे के स्कन्धों के आपस में कारण–कार्य का सम्बन्ध है वह नष्ट हो जाएगा (देखो ऊपर श्लोक ९) (निरोध का लक्षण यह बताया गया है कि शक्तियों के शयन के अनन्तर भगवान् का शयन होता है अतः नवमें स्कन्ध में भगवान् का अचिन्तनीय शक्तियों से प्रपंच में क्रीडा करके (कारण) भक्ति का कार्य रूप निरोध अर्थात् भक्तों को प्रपंच विस्मृत कराकर अपने में रोकते हैं (आसक्त कराते हैं) । सत्पुरुषों का यही मत है कि यहां निरोध शब्द का यौगिक (व्याकरण आदि के अनुसार होनेवाला) अर्थ लिया जाएगा अर्थात् भक्तों का भगवान् में आसक्ति करना (रूढ अर्थ अर्थात् राजाओं का वध नहीं लिया जा सकता क्योंकि निरोध के लक्षण रूढ अर्थ में घटित नही होते) ॥ १४-१५ ॥

भक्ताः पूर्वत्र निर्दिष्टास्ते रोद्धव्या विमुक्तये ।
कृष्णे निरूद्धकरणाद्भक्ता मुक्ता भवन्ति हि ॥१६॥

भक्तेश्च शुद्धतासिद्ध्यै प्रपञ्चाद्विनिवारणम् ।
आसक्तिरात्मनि तथा निरोधार्थं न संशयः ॥ १७ ॥

भक्ति की शुद्धता की सिद्धि के लिये (मन, इन्द्रिएँ, अन्तःकरण आदि को भगवान् में लगाने के लिए) ही उनको प्रपंच से हटाया गया तथा उन (भक्तों) का निरोध करने के लिए ही अपने में आसक्ति कराई गई है, इसमें कोई सन्देह नहीं है (इसलिये दुष्ट राजाओं को मारने की बात यहां उचित नहीं) ॥ १७ ॥

प्रपञ्च विस्मृतिस्तस्मात्कृष्णासक्तिश्च वर्ण्यते ।
शय्यासनाटनालाप श्लोके फलितमीरितम् ॥ १८ ॥

भगवान् के प्रपंच में क्रीड़ा करने रूपी साधन से प्रपंच की विस्मृति और भगवान् में आसक्ति होने का इस (दशम स्कन्ध) में वर्णन है और उसका फल भा० १०।८७।४६ के 'शय्यासनाटनालाप' श्लोक में कहा गया है (जिसका अर्थ है श्रीकृष्ण में चित्त रखने वाले वृष्णिवंशियों को सोते, बैठते, फिरते बात चीत करते, खेलते, स्नान भोजन आदि कर्म करते समय अपने विद्यमान देह का भी भान नहीं रहता था) ॥ १८ ॥

रूपान्तरं तु नटवत्स्वीकृत्य त्रिविधान्निजान्
प्रपञ्चाभावकरणादुज्जहारेति निर्णयः ॥ १९ ॥

नट की भांति दूसरे स्वरूप को धारण करके तीन प्रकार के (तमोगुणी, रजोगुणी और सतोगुणी) अपने भक्तों को प्रपञ्च में से हटाकर भगवान् ने उनका उद्धार किया (इसलिये भक्तों के प्रपंच का नाश ही इस स्कन्घ का अर्थ है न कि दुष्ट राजाओं का नाश करना) ॥ १९ ॥

समुदायो जन्मवाची क्रीडायुक्तस्य वै हरेः ।
प्रपंच विस्मृतिः सक्तिर्भक्तानां चापि योगतः ॥ २० ॥

(शंका होती है कि यदि इस स्कन्ध का अर्थ निरोध माना भी जाय तो भी इसके प्रथम प्रकरण – जन्म प्रकरण अध्याय १–४–में तो भगवान् की क्रीडा का वर्णन नहीं है तो फिर इसको निरोध कैसे माना जाय तो इसका उत्तर देते हैं कि) भगवान् की क्रीडा विशेष होने के कारण और शक्तियों की सहायता होने से यह सारा स्कन्ध क्रीडा करने वाले हरि के जन्म और निरोध के योगिक अर्थ के अनुसार (देखो श्लोक १५ ऊपर) भक्तों के प्रपंच की विस्मृति और उनकी भगवान् में आसक्ति बताने वाला है ॥ २० ॥

(इस प्रकार स्कन्धार्थ सम्पूर्ण हुआ)

(अब प्रकरणार्थ कहते हैं)

प्रक्रियापञ्चकं ह्यत्र जन्मार्थं प्रथमा मता ।
तामसानां तु भक्तानामुद्धृत्यै तु ततः परा ॥२१॥

इस (दशम स्कन्ध) में पांच प्रकरण है जिनमें (१) प्रथम प्रकरण भगवान् के जन्म को बताने वाला माना गया है और (२) उसके पश्चात् का अर्थात् दूसरा प्रकरण तामस भक्तों के उद्धार के लिये कहा हुआ है ॥२१॥

राजसानां तृतीया तु चतुर्थी सात्त्विकी मता ।
अन्तर्याम्याधिदैवादिन्यायेनात्रापि वै हरेः ॥२२॥
भगस्य व्यपदेशः स्यादतस्तस्य निवृत्तये ।
भगस्य सहजत्वाय पंचमी प्रक्रियामता ॥२३॥

(३) तीसरा राजस प्रकरण राजस भक्तों का तथ्य, (४) चौथा सात्विक प्रकरण सात्विक भक्तों के उद्धार के लिये कहा गया है और (५) पांचमें में अन्तर्यामी अथवा आधिदेव के गुण धारण करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण में भगवान् के छः गुण (भग) होने कहे गये हैं ऐसा विचार होवे तो उसको दूर करने के लिये "उनमें ये छः गुण सहज है" ऐसा बताने के लिये यह पांचवां । गुण-प्रकरण माना गया है ॥ २२–२३ ॥

चतुर्भिश्च तथा तत्त्वैस्तत्त्वैर्विंशतिभिस्तथा ।
एकाधिकैस्तथा षड्भिरध्यायैः क्रमशो मता ॥२४॥

क्रम से इन पांचों प्रकरणों की अध्याय संख्या इस प्रकार है—(१) जन्म प्रकरण के ४, (२) तामस प्रकरण के २८, (३) राजस प्रकरण के २८, (४) सात्विक प्रकरण के २१ तथा (५) गुण प्रकरण के ६ अध्याय हैं ॥ २४ ॥

जन्म प्रकरण—अध्याय १ से ४

चतुर्मूर्तिर्हरिर्जातस्तेनाध्याय चतुष्टयम् ।
प्रथमे वासुदेवोऽभूद्वसुदेव हृदि स्थितः ॥२५॥

चार मूर्ति वाले भगवान् प्रकट हुए इसलिये (इस प्रकरण में) चार अध्याय हैं । (इनमें से) प्रथम अध्याय में शुद्ध चित्त और सत्त्व वाले वसुदेव के हृदय में रहने वाले वासुदेव प्रकट हुए (१०–१–५६) ॥ २५ ॥

मृत्युवारणसामर्थ्यमन्यथा न भवेत् क्वचित् ।

ऐसा न हो तो देवकी की मृत्यु को टालने की सामर्थ्य (वसुदेव में) नहीं हो सकती ॥२५½॥ (विशेष यह वासुदेव व्यूह का अवतार बताया गया है)।

सङ्कर्षणो द्वितिये तु स्फुटो दैत्यवधायहि ॥२६॥

तथा तृतीये प्रद्युम्नश्चतुर्थो तुर्य ऊच्यते ।
न निबधोयतः कैश्चिदतः सर्वे विमोचिताः ॥२७॥
धर्मरक्षार्थहेतूक्त्यै धर्मबाधश्च वर्ण्यते ।

दूसरे अध्याय (श्लोक ८) में दैत्यों के वध के लिये संकर्षण अवतार होना स्पष्ट कहा है ॥ २६ ॥

इसी प्रकार तीसरे अध्याय में (श्लोक ८ से) प्रद्युम्न अवतार होना और चौथे में (श्लोक १४ व २४ में) चौथा अनिरुद्ध अवतार होना स्पष्ट है । वह (अनिरुद्ध) किसी से रोका नहीं जा सकता इसलिये उसने सबको (विशेषतया वसुदेव देवकी को छुड़ा दिया) ॥२७॥

धर्म की रक्षा करना ही इस अवतार (अनिरुद्ध) का हेतु है, ऐसा कहने के लिये (इस अध्याय में) धर्म को भय होना भी कहा गया है ॥ २७½ ॥

वसुदेवाद्देवकीतो मथुरातश्च गोकुलात् ॥ २८ ॥
प्रादुर्भूतश्चतुर्मूर्तिर्भगवान्नात्र संशयः ।

(भीतर चार होंगे परन्तु बाहिर तो दो ही प्रकट हुए । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि) चार मूर्ति वाले भगवान् प्रकट हुए थे, एक वसुदेव से भगवान् (जो वसुदेव के हृदय में पहिले रहते थे), दूसरे वसुदेव से देवकी में प्रविष्ट हुए, उन दो में से एक काले केश वाले बलराम जी देवकी से हुए, तीसरे जब उस गर्भ को योगमाया ले गई, उसके पीछे वसुदेवजी के मन से देवकी से प्रविष्ट हुए । वे सब तत्त्वों में प्रवेश करने वाले भगवान् प्रद्युम्न मथुरा में प्रकट हुए और चौथे जो किसी से भी न रोके जाए वे अनिरुद्ध गोकुल में प्रकट हुए, इस विषय में सन्देह नही है ॥ २८ ॥

रूपान्तरस्वीकरणमध्याय त्रितयेन हि ॥ २९ ॥
नटभावश्चतुर्थेन

प्रथम तीन अध्यायों में भगवान् का दूसरे स्वरूपों का स्वीकार करना कहा हुआ है और चौथे अध्याय में नट की क्रिया ग्रहण करने का कहा गया है ॥ १९ ॥

(प्रथम अध्याय – भगवान् के प्राकटच का कारण)

हेतुराद्ये निरूपितः ।
त्रिविधानां त्रिया दुःखं हैतुर्जन्मनि वै हरेः ॥ ३० ॥

भगवान् के प्राकटच का कारण प्रथम अध्याय में कहा गया है । (भगवान् के प्राकटच का दूसरा हेतु बताते हुए कहते हैं कि) तामस, राजस और सात्विक ऐसे तीन प्रकार के भक्तों का दुःख भगवान् के प्राकटय का कारण है ॥ ३० ॥

भूमिर्माता तथा चान्यो दुःख भाजो हरेः प्रियाः ।
कंसादेः कालतोऽज्ञानात्त्रिधा दुःखं तु तद्गतम् ॥ ३१ ॥

(१) पृथ्वी, (२) माता देवकी और (३) हरि के दूसरे प्यारे (भक्त) दुःख पाते हैं। इनका दुःख तीन प्रकार से है — (१) कंसादि से, (२) काल से और (३) अज्ञान से ॥ ३१ ॥

कालजं प्रभुसम्बन्धात् कंसजं हेतुवारणात् ।
वाक्यैरज्ञान सम्भूतं शक्यं तत् त्रितयं हरेः ॥३२॥

(द्वापर और कलियुग की सन्धि के) काल (समय) से उत्पन्न हुआ दुःख भगवान् के सम्बन्ध से, आकाशवाणी से और फिर वसुदेव की प्रतिज्ञा के कारण देवकी को उत्पन्न हुआ। कंस का भय मृत्यु के कारण को रोकने से तथा कंस की मूर्खता से उत्पन्न हुआ, दूसरों के दुःख नारदजी के वचनों से; ये सब दुःख ऐसे थे जो भगवान् से ही दूर हो सकते थे। इन दुःखों को दूर करने के लिए ही भगवान् का प्राकटय हुआ, इससे इस अध्याय में भगवान् के प्राकटय का हेतु कहा गया है ॥ ३२ ॥

प्रश्नेन सहिता पूर्वं चतस्रः प्रक्रिया मताः ।

(तीन प्रकार के दुःख निवारण के) तीन विषय और राजा परीक्षित के प्रश्न का एक विषय इस प्रकार इस अध्याय में चार विषय कहे गए हैं ॥ ३२½ ॥

(अध्याय दूसरा — प्राकट्य के लिए उद्यम)

उद्यमश्च तथा प्रोक्तः सामग्री बल उच्यते ॥३३॥
माया शक्तिः स्वविहारे रूपं स्वस्य तृतीयकम् ।
सम्मतिः सर्वदेवानां चतुर्थ्यपि निरूपिता ॥३४

उद्यम भी वैसे ही (अर्थात् चार प्रकार का) कहा गया है। (वे चार यों हैं, (१) बलराम जी को सामग्री रूप कहा गया है, (२) भगवान् के विहार में मायाशक्ति भी सामग्री है, (३) तीसरा, भगवान् का स्वरूप भी (विहार में साधन रूप) है; और चौथी (देवकी के भय को दूर करने वाली) सब देवताओं की सम्मति (भी सामग्री रूप है) ॥ ३३-३४ ॥

रूप सामर्थ्य बोधाय कंसज्ञानादिरुच्यते

कंस का ज्ञान आदि (श्लोक २०-२३ में बताया हुआ) भगवान् के स्वरूप की शक्ति बताने वाले कहे गये हैं (अर्थात् ये ज्ञान आदि भी भगवान् के स्वरूप से ही हुए हैं) ॥ ३४½ ॥

अध्याय तीसरा — दूसरे रूप का स्वीकार

चतुर्धा स्वीकृतिश्चापिकाले मूल स्वरूपतः ॥३५॥
वसुदेवस्य सम्मत्या द्वितीयाऽपि निरूपिताः ।
देवक्याश्च तृतीयाऽपि चतुर्थी वाक्यनिर्गमै ॥३६॥

इस दूसरे स्वरूप के स्वीकार के भी चार प्रकार हैं। (वे यों हैं) (१) सर्व गुणों से युक्त (अर्ध रात्रि के) काल में मूल स्वरूप से (प्रकट होकर) ज्ञान कराया, (श्लो० १–१२),

(२) भगवान् दूसरा स्वरूप ग्रहण करे उसमें वसुदेव की सम्मति है (श्लो० १३–२२) (३) भगवान् दूसरा स्वरूप स्वीकार करे उसमें देवकी की सम्मति है (श्लो० २३–३०) और भगवान् के दूसरे स्वरूप के स्वीकार का चौथा प्रकार भगवान् के कहे हुए वचनों और गोकुल रवाने होने की बात से बतलाया गया है ॥ ३५–३६ ॥ (विशेष–इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मूल स्वरूप से ही यह दूसरा रूप धारण किया है) ।

(अध्याय चौथा – नट की चेष्टा)

चतुर्धा नटभावोऽपि देवक्या मायया तथा ।
पुनः कंसभयेनापि वसुदेवेन च स्थितिः ॥३७॥

नट की चेष्टा में भी चार विभाग हैं—(१) देवकी का किया हुआ (कन्या को कंस से बचाने के लिये, श्लो० ४–७), (२) माया का किया हुआ (श्लो० ८–१३), (३) कंस के भय के रहते हुए भी वसुदेवजी का अपनी स्थिति मथुरा में ही रखना (कहीं दूसरे स्थान पर जाने से कंस को सन्देह होता और वह अनिष्ट करने की चेष्टा करता श्लो० १४–२८) ॥ ३७ ॥

कर्मणो हेतुसिद्ध्यर्थं शेषोऽत्र विनिरूप्यते ।
अन्यथा नटलीलैव कंसाद्दुःखं निवारयेत् ॥३८॥

(४) कर्म से प्रयोजन की सिद्धि के लिये (कंस द्वारा आदिष्ट ब्रह्म-हत्यादि होने पर ही कंस के मारने का कारण उपस्थित हो जाता है क्योंकि वसुदेव देवकी के प्रति किया हुआ अपराध तो उसने क्षमा करा लिया था परन्तु ब्रह्म-हत्या क्षन्तव्य ही नहीं है) भगवान् की नटवत् चेष्टा है जो शेष अध्याय में (श्लो० २९ से अन्त तक) वर्णन की गई है । यदि ऐसा नहीं हो तो कंस से हुए दुःख का नटलीला ही निवारण कर देवे ॥ ३८ ॥

तावदेवात्र नाट्यं हि यावल्लीलां न बाधते ।
अतो नाट्यस्य संकोचो नाट्याध्याये निरुपितः ॥३९॥

जहां तक भगवान् की अनेक प्रकार की लीलाओं में बाधा न हो वहां तक ही यह नट लीला हुई । इसलिये नट लीला की आवश्यकता न रहने से इस चौथे नाटचाध्याय में ही उस नट लीला का संकोच कर दिया । अर्थात् नट लीला को बन्द कर दी ॥ ३९ ॥

एवं चतुर्भिरध्यायैर्नटवत् प्राकृतोऽभवत् ।

इस प्रकार चार अध्यायों से नट की भांति भगवान् बालक हुए (ऐसा कहा गया) ॥३९½॥

(जन्म प्रकरण समाप्त)

(तामस प्रमाण उप-प्रकरण)

अतस्तामसभक्तानामष्टाविंशतिभिः क्रमात् ॥ ४० ॥
मानमेयैः साधनैश्च फलैश्चापि पृथक् पृथक् ।
भगवान् सप्तधा लीलां कुर्वन्नुद्धारकः परः ॥ ४१ ॥
पुरुषोत्तम रूपेण यञ्चकार तदुच्यते ।

(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) साधन और (४) फल (इन चार उपकरणों) से सात प्रकार की पृथक् पृथक लीला करते हुए तामस भक्तों का उत्तम उद्धार करने के लिये भगवान् ने पुरुषोत्तम स्वरूप से जो लीलाएँ की वे अब क्रम से अट्ठावीश अध्यायों में कही जाती है ॥ ४०, ४१, ४१½ ॥

तत्र प्रमाण भावेन सप्तध्यायी निरूप्यते ॥ ४२ ॥

उन (ऊपर कहे हुए चार प्रकरणों में से तामस-प्रमाण उप-प्रकरण में) प्रमाण भाव से सात अध्यायों में कही हुई लीला का वर्णन किया जाता है ॥ ४२ ॥

भगवच्चरिते यस्मात्प्रमाणमिह मृग्यते ।
अज्ञानमन्यथाज्ञानं प्रमाणं भक्ति हेतुकम् ॥ ४३ ॥

यहां (इन सात अध्यायों में) कहा हुआ चरित्र भगवान् का ही चरित्र है ऐसा (भगवत् चरित्र सम्बन्धी) प्रमाण यहीं देखने में आता है। भगवान् के विषय में अज्ञान और अन्यथा ज्ञान (यह भगवान् नहीं, कोई दूसरा बालक है) देखने में आता है इसलिए अज्ञान और अन्यथा ज्ञान से भक्ति उत्पन्न होती है, इसलिये वह भी प्रमाण है ॥ ४३ ॥

पुरुषाणामत्र निष्ठा स्त्रीणां मेये ततः परे ।
साधनं सकलानां च फलं स्त्रीषु प्रतिष्ठितम् ॥ ४४ ॥

यहां (तामस प्रकरण के प्रथम प्रमाण-उप-प्रकरण अध्याय ५-११ में) पुरुषों की भगवान् में आसक्ति कही गई है, उसके पश्चात् (द्वितीय प्रमेय प्रकरण अध्याय १२-१८ में) स्त्रियों की भगवान् में आसक्ति कही गई है, (तीसरे साधन उप-प्रकरण अध्याय १९-२५ में) सब (भक्तों) के साधन भगवान् होते हैं और चौथे तामस फल उप-प्रकरण अध्याय २६-३२ में) फल स्त्रियों में प्रतिष्ठित हुआ है (अर्थात् फल मुख्यतया स्त्रियों को प्राप्त हुआ है) ऐसा कहा गया है ॥ ४४ ॥

अन्यत्रापि गतः कृष्ण उत्सवान् कुरुतेऽखिलान् ।
अत ऐश्वर्यभावोऽत्र प्रथमे विनिरूपितः ॥ ४५ ॥

दूसरी प्रकार से पधारे हुए श्रीकृष्ण भी सब प्रकार के उत्सवों को करते हैं। इसलिये (तामस प्रमाण उप-प्रकरण के) प्रथम—मूलतः पंचम-अध्याय में भगवान् के (छ गुणों में से प्रथम) ऐश्वर्य भाव का निरूपण हुआ है ॥ ४५ ॥

विशेष—(मोटा मन्दिर सूरत से संस्कृत में मूल ग्रन्थ और गो० श्री पुरुषोत्तमजी की योजना नामक टीका सं० १९९१ में छपी उसमें पाठ 'अन्यथा अपि' माना है जबकि मूल सहित गुजराती अनुवाद नडियाद से

पूतना मारणं वीर्यं यशस्तु शकटादिनुत् ।
शकटं तांमसं प्रोक्तं तृणावर्तस्तु राजस ॥ ४६ ॥
लालनं पुत्रभावेन् सात्विकं मोहनं तथा ।

भगवान् के दूसरे गुण 'वीर्य' और तीसरे 'यश' को दिखाते हुए कहते हैं) पूतना का वध (अध्याय ६ में) भगवान् का वीर्य दिखाता है और 'शकट आदि' का नाश किया (अध्याय ७ में) वह 'यश' दिखाता है । (सातमें अध्याय में भगवान् का 'यश' गुण किस प्रकार से दिखाते हैं तो कहते हैं कि) शकट तो (भारी होने से) तामस था, तृणावर्त (चंचल होने से) राजस था और यशोदा ने भगवान् का पुत्रभाव से लालन (लाड-प्यार) किया, तथा (भगवान् के मुख में विश्व को देखकर विस्मित हुई और फिर) भगवान् ने उसको मोहित किया, यह (उसको ज्ञान उत्पन्न करने वाला होने से) सात्विक है ॥ ४६-४६ ॥

श्रीस्तु लीला नामयुक्ता ज्ञानं बन्धन बोधनम् ॥ ४७ ॥
यमलार्जुनयोर्मुक्तिर्वैराग्यं भगवान् परः ।
सप्ताध्यायास्तु यत्रैव तत्रैव बुध्यतां क्रमः ॥ ४८ ॥

अब भगवान् के शेष तीन गुणों 'श्री' 'ज्ञान' और 'वैराग्य' का तथा 'धर्मी' का वर्णन करते हुए कहते हैं) नाम से सम्बन्ध रखने वाली लीला (अध्याय ८ में गर्गजी द्वारा नामकरण संस्कार) (तथा उससे पहिले आई हुई रिंगणादि लीला) 'श्री' का वर्णन किया गया है (वह श्री इसलिये है कि उससे सब का दुःख दूर होता है); भगवान् के बन्धन बताने वाली लीला (अध्याय ९ में वर्णित यशोदा द्वारा लाई हुई अनेकों रस्सियों से नहीं बन्धे परन्तु माता पर कृपा कर स्वयं बन्धन में आगये) 'ज्ञान' का वर्णन है; (दशवें अध्याय में) दो जोड़ के अर्जुन वृक्षों की मुक्ति का वर्णन कर भगवान् के 'वैराग्य' गुण का निरूपण किया गया है और (अध्याय ग्यारह में) धर्मी भगवान् का निरूपण किया गया है (इसमें भगवान् की स्वतंत्र लीला का वर्णन है) जिस प्रकरण में सात अध्याय हों वहां ऐसा ही क्रम समझना चाहिये (अर्थात् प्रथम छः अध्यायों में क्रमशः भगवान् के 'ऐश्वर्य', 'वीर्य', 'यश', 'श्री', ज्ञान-वैराग्य छ गुण और सातवें अध्याय में 'धर्मी' भगवान् का वर्णन) ॥ ४७-४८ ॥

अमेये मेयबुद्धिर्हि प्रमाणमिति केचन ।

"कुछ लोगों का मत है कि जिस भगवान् को जाना नहीं जा सकता उसके विषय में ऐसी बुद्धि रखना कि वह जाना जा सकता है" इसको प्रमाण कहते हैं (परन्तु श्री महाप्रभुजी को यह मत मान्य नहीं) ॥ ४८½ ॥

अष्टावत्र प्रमाणानि द्वयमेकत्र रूपितम् ॥४९॥

सं० २०१४ में छपा उसमें पाठ है 'अन्यत्र अपि' । अन्यत्रापि का गुजराती अनुवाद में अर्थ किया गया है कि मथुरा से गोकुल पधारे वहां भी मोटा उत्सव हुआ । 'अन्यथा अपि' पाठ मानने से अर्थ होगा कि गुप्त रूप से भगवान् मथुरा से गोकुल न पधार कर किसी अन्य प्रकार से पधारते अथवा और भी कहीं पधारते तो भी सब प्रकार के उत्सव करते ।

यहां (इस प्रमाण उप-प्रकरण में) आठ प्रमाण हैं सात अध्यायों में सात और सप्तमाध्याय में दो का वर्णन एक साथ है (स्त्रियों और बालकों को ऐसा ज्ञान प्राप्त करने वाला कहा गया है) ॥ ४९ ॥

विशेष—भाग० २।८।२५ की सुबोधिनी में यह बताया गया है कि कैसे ज्ञान को प्रमाण माना गया है।

प्रथमो वसुदेवोहि द्वितीयो नन्द उच्यते ।
बालाः स्त्रियस्तृतीया हि चतुर्थो गर्ग उच्यते ॥५०॥
यशोदा पञ्चमी प्रोक्ता षष्ठरूपाविहार्जुनौ ।
उपनन्दस्तु निर्दिष्टः सप्तमो धर्मिबोधकः ॥५१॥

(अब उन आठों को बताते हैं) प्रथम (पंचम अध्याय में) तो वसुदेवजी को (नंदजी वसुदेवजी की वार्ता से वसुदेवजी को विदित हो गया कि नन्दजी को वसुदेवजी का भगवान् को लेकर व्रज में आना विदित नहीं तथा नन्दजी श्रीकृष्ण को अपना ही पुत्र मान रहे हैं, दूसरे (षष्ठंअध्याय में) नन्दजी को कहे गये हैं (वे भगवान् को अपना पुत्र मानते हैं) तीसरे (सप्तं-अध्याय में) (शकट भंग से) बालकों को (तृणावर्त के सम्बन्ध में) तथा स्त्रियों को चौथे अष्टंअध्याय में) गर्गजी को (नन्दजी की भगवान् सम्बन्धी अज्ञान और खोटा ज्ञान था ऐसा जान कर) पांचमें (नवम्अध्याय में) यशोदाजी को (जिसने भगवान् को अपना पुत्र समझ कर ही ऊखल से बांधा था), छट्ठे (दशम्अध्याय में) नलकूबर आदि को (जिन्होंने ऊखल से बन्धे हुए भगवान् से जाने को आज्ञा लेते समय भी उनको नन्द पुत्र ही जाना) और सातवा धर्मी बोध कराने वाला उपनन्द (जिसने श्रीकृष्ण को लौकिक बालक ही जाना) को कहा गया है। (भगवान् सम्बन्धी अज्ञान अथवा अन्यथा ज्ञान भी भक्ति कराने वाले होने से ये प्रमाण हैं (देखो कारिका ४३ ऊपर) ॥ ५०–५१ ॥

देशदोषभ्रमं कृष्णो वारयामास चित्रधा ।
आद्येन भगवन्मार्गे बाधकानि बहूनि हि ॥५२॥

सात प्रकार से लीला करने का प्रयोजन बताते हुए तामस प्रमाण उप-प्रकरण के पहिले अध्याय में भगवान् कृष्ण ने देश में दोष होने की भ्रांति (घोष में रहने वाले अज्ञानी और आचार-हीन होते हुए भी भगवान् कृष्ण के पधारने पर इतना बड़ा उत्सव किया जिससे देश के दोष की भ्रांति) का निवारण हो गया। निश्चय ही भगवान् के मार्ग में बहुत विघ्न होते हैं ॥ ५१ ॥

द्वितिये तदभावोहि कृष्णेनैव भवेदिति ।
साधकः सकलार्थानां तृतीये विनिरूपितः ॥५३॥

इसलिये (दूसरे अध्याय में) भगवान् से ही देश के दोष का अभाव होता है ऐसा कहा गया है और तीसरे अध्याय में कहा गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही सब प्रकार के अर्थ प्राप्त कराने वाले हैं ॥५३॥

भक्तिप्रदश्चतुर्थे हि भक्तिवश्यस्ततः परः ।
सर्वोद्धारप्रयत्नस्तु सर्वेषां सर्वदोषनुत् ।।५४।।

चौथे अध्याय में बताया गया है कि भगवान् ही भक्ति देने वाले हैं (नाम के माहात्म्य और बाल लीला से) उसके पश्चात् (पांचमें अध्याय में) बताया गया है कि भगवान् भक्ति से वश में होते हैं (घर की सब रस्सियें एकत्र कर लेने पर भी यशोदा उनको नहीं बांध सकी परन्तु कृपा करके स्वयं ही बन्धन में आ गए; इसके पश्चात् छट्ठे अध्याय में बताया गया है कि सब के उद्धार का प्रयत्न करने वाले भगवान् सबके सभी दोष दूर करते हैं (नलकूबर और मणिग्रीव का उद्धार करते हैं और उनके शाप के दोष को दूर करते हैं) ।। ५४ ।।

ततोऽपि परमानंददायी सप्तम ईर्यते ।
प्रपञ्च विस्मृतिः सर्वा तदासक्तिः स्फुटैव हि ।। ५५ ।।
प्रमाणबलमासाद्य सर्वेषां गोकुले ह्यभूत ।। ५५½ ।।

इसके पश्चात् सातमें अध्याय में बताया गया है कि भगवान् परमानन्द देनेवाले हैं क्योंकि प्रमाण बल प्राप्त करके गोकुल में सब (भक्तों) के प्रपंचों की सम्पूर्ण विस्मृति और अपने में आसक्ति कराना स्पष्ट बताया गया है ।। ५५–५५½ ।। (इस तामस प्रमाण उपप्र-करण में प्रत्येक अध्याय में प्रायः पुरुषों की ही क्रिया बताई गई है इसलिये इस प्रकरण में पुरुषों की ही भगवान् में निष्ठा होना कहा गया है) ।

इति श्री श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित तत्वार्थदीपनिबन्ध के अन्तर्गत
भागवतार्थ प्रकरण के
जन्म प्रकरण एवं तामस प्रमाण उपप्रकरण की कारिकाएँ हिन्दी अनुवाद सहित समाप्त
अनुवादक–प० भ० श्री पुरुषोत्तमदासजी पुरोहित-बी० ए० जोधपुर.

तामस–प्रमाण उप–करण व प्रक्षिप्त अध्यायों की लीलाओं का सार

—— सूर सारावली से ——

पांचवें अध्याय में वर्णित लीलाएँ—

भयो भोर यशुमति गृह आनंद मंगलाचार बधाई ।
जागी महर पुत्र मुख देख्यो आनंद उर न समाई ॥
जैसे शशि प्रगटत प्राची दिशि सकल कला भरिपूर ।
यशुमति कूख आय हरि प्रगटे असुर तिमिर कर दूर ॥
नंदराय घर ढोटा जायो महर महा सुख पायो ।
विप्र बुलाय वेद धुनि कीनो स्वस्ती वचन पढायो ॥
जात कर्म कर पूजि पितर सुर पूजन विप्र करायो ।
द्वै लष धेनु दई तेहि औसर बहुतहि दान दिवायो ॥
परवत सात तिलन को कीन्हों रतनन ओघ मिलायो ।
मागध सूत और बंदी जन ठौर ठौर यश गायो ॥
बाजे बजत विचित्र भांति सों रह्यो घोष सब गाज ।
सुर सुमनन बरषावत गावत व्योम विमानन साज ॥
बांधत बंदनवार साथिये द्वारे ध्वजा सुहाई ।
कनक कलश प्रति पौर विराजत मंगल चार बधाई ॥
सुरभी वृषभ सिंगारे बहु विधि हरदी तेल लगाई ।
सुवरन माल विचित्र धातु रंग अंग अंग चित्र बनाई ॥
आये गोप भेंट लै लै के भूषन बसन सुहाये ।
नाना विध उपहार दूध दधि आगे धर शिर नाये ॥
यशुमति के गृह पुत्र प्रगट भयो सुनी सकल ब्रज नारी ।
मंगल साज संवार हाथ लै घर घर मंगलकारी ॥
अति आतुर ह्वै चली झुंड जुरि सिर सुमनन बरषावें ।
मानों रीझ मधुप धरनी को रस पराग दरसावें ॥
पहुँची जाय महर मन्दिर में करत कुलाहल भारी ।
दरसन करि यशुमति सुत को सब लैन लगी बलिहारी ॥
नाचत गोप परसपर सब मिल छिरकत है नवनीत ।
दूध और दधि और हरद जल सींचत है कर प्रीत ॥
यशुमति कूष सराहि बलैया लेन लगीं ब्रजनार ।
ऐसो सुत तेरे गृह प्रगट्यौ या ब्रज को शृंगार ॥

यशुमति रानी देत बधाई भूषन रतन अपार ।
फूली फिरत रोहनी मइयां नख सिख कर शृंगार ।।
देत अशीस चली व्रज सुंदरि जिय उपज्यौ सुख भारी ।
ग्रह पूजन सब कियो वेद विधि नंदराय सुखकारी ।।
देश देश ते ढाँढी आये मन वांछित फल पायो ।
को कहि सकै दसोधी उनको भयो सबन मन भायो ।।
ता दिन ते सग रेया व्रज में रमा रूप दरसायो ।
निज कुल वृद्ध जान एक ढाँढी गोवर्द्धन ते आयो ।।
परम उदार महर व्रजपतिजू ढाँढी निकट बुलायो ।
बाजत हुड़क मंजीरा नूपुर नाना भांति नचायो ।।
झगा पगा अरू पाग पिछोरा ढाँढिन को पहिरायो ।
हरि दरयाई कंठ लगाई पर दरसात उठायो ।।
बहुत दान दीनें उपनन्द जू रतन कनक मनि हीर ।
धरानंद धन बहुत हि दीन्हों ज्यों बरषत घन नीर ।।
कुंडल कान कंठ माला दै ध्रुवनंद अति सुख पायो ।
सीधो बहुत सुर सुरा नंदै गाडा भरि पहुँचायो ।।
कर्मा धर्मा नंद कहत है बहुतहि दान दिवायो ।
व्रजरानी ढाँढिन पहराई मन वंछित फल पायो ।।
चले भवन को दै असीस दोऊ निरभय कीरत गावै ।
जिन याचै व्रजपति उदार अति याचक फिर न कहावै ।।
नानाविध के विविध खिलोना रतनन अधिक अमोले ।
ताको लेन गये मथुरा को आनक-दुंदुभि बोले ।।
बेग जाव गोकुल तुम अबही सुनियत हैं उत्पात ।
सुनि व्रजराज तुरंत घर आये जिय में अति अकुलात ।।

छठे अध्याय में वर्णित लीलाएँ—

प्रथम पूतना कंस पठाई अति सुन्दर वपु धारेव ।
घसके गरल लगाय उरोजन कपट न कोउ निहारेव ।।
लिये उठाय श्याम सुन्दर को थन गहि के मुख लीनो ।
लीन्हें खैंच प्राण विस्मय जुत देह निकल तब कीनो ।।
छांड छांड कहि परी धरनि पर कर चरनन जु पसार ।
जोजन डेढ विटप बेली सब चूर चूर कर डार ।।
ताको जननी की गति दीन्हीं परम कृपाल गोपाल ।

दीन्हों फूक काट तन वाको मिलके सकल गुआल ॥
एतने नंदराय जू आये कौतुक सुनि यह भारी ।
विस्मित भये देवन राख्यौ बालक यह सुखकारी ॥
विप्र बुलाय वेद धुनि कीन्हीं रक्षा बहुत कराई ।
आरति विविध उतार महरजू मंगल करत बधाई ॥
एक दिना हरि लई करोटी सुन हरषी नंदरानी ।
विप्र बुलाय स्वस्ति वाचन करि रोहनी नैंन सिरानी ॥
नित मंगल नित होत कुलाहल नितनित बजत बधाई ।
भादौ देव छट्ठिको शुभ दिन प्रगट भये बल भाई ॥
वर्ष देवस पहिले ब्रजमंडल शेष महा वपु लीन्हो ।
अपनो धाम जान प्रगट्यो भुव रूप प्रगट निज कीन्हों ॥

सातवें अध्याय में वर्णित लीलाएँ—

कंस नृपति ने सकट बुलायो लेकर बीरा दीन्हों ।
आय नंद गृह द्वार नगर में रूप सकट को कीन्हों ॥
मारी लात श्याम पलना ते परेव धरणि भहराय ।
जहं तहं ते दौरे ब्रजवासी श्यामहि लियो उठाय ॥
बच्छ पुछ लै दियो हाथ पर मंगल गीत गवायौ ।
यशुमति रानी कूष सिरानी मोहन गोद खिलायौ ॥
एक दिन स्तन पान करावत यशुमति अति बड भागी ।
बदन पसार विस्व दिखरायो छन एक मुरछा जागी ॥
तृणावर्त विपरीत महाखल सो नृपराय पठायो ।
चक्र बात ह्वै सकल घोष में रज धुंधर ह्वै छायो ॥
चल्यौ उठाय गोपाल व्योम में तब हरि कंठ गहायौ ।
पटक्यौ शिला खरिक कै आगे क्षिन निरजीव करायौ ॥

आठवें अध्याय में वर्णित लीलाएँ—

गर्गराज मुनि राज महाऋषि सो वसुदेव पठायो ।
नाम करण ब्रजराज महर घर अति आनंदित आयो ॥
नाम करन कीन्हो न दोहुन को नारायण सम भाषै ।
तुमरे दुःख मिटावन कारन पूरण को अभिलाषै ॥
रामकृष्ण अवतार मनोहर भक्तन के हित काज ।
वहुत हि काज करेंगे तुमरे सुनहु महर ब्रजराज ॥

एक दिना पलना हरि पोढे नंद महर के द्वार ।
नंदरानी गृह कारज लागी नाहिन लई संभार ।।
कंस नृपति एक असुर पठायौ धरे व काग को रूप ।
सनमुख आय नैने दोऊ जोरे देख्यो श्याम को रूप ।।
कंठ चांप बहुवार फिरायो पटक्यौ नृप के पास ।
एक याम में बचन कह्यौ यह प्रगटभयो तुव नास ।।
यह कहि के तन त्याग कियो उन कंस नृपति के आगे ।
भयो उदास सुहात न कछुए छिन सोवत छिन जागे ।।
एक दिना व्रजराज महर जू और यशोदा रानी ।
घुटुअन चलत श्याम को देखत बोलत अमृत बानी ।।
इततें नंद महर बोलत हैं उततें जननि बुलावत ।
सुन्दर श्याम खिलौना कीन्हों हंसि हंसि गोद बढ़ावत ।।
शशि कूं देख आर हरि ठानी करि मनुहार मनावत ।
मधुमेवा पकवान मिठाई बिबिध खिलोना लावत ।।
कमल नेन को महर यशोदा जल प्रतिबिंब दिखावत ।
फेरत हाथ चंद पकरन को नाहिन होत लखावत ।।
बूढ़े बाबू दरसन आये लाय चन्द्रमणि दीनी ।
ताकूं देख आर सब छांडी भोजन की सुध कीनीं ।।
औटचौ दूध कपूर मिलायो प्यावत कनक कटोरे ।
पीवत देख रोहनी जसुमति डारत हैं तृन तोरे ।।
कछु दिन भये संग होऊ बालक बल मोहन दोऊ भाई ।
चोरी करत हरत दधि मांखन लीला कहिय न जाई ।।
सब ब्रजनार उराहन आईं ब्रजरानी के आगे ।
मैं नाहिन दधि खायौ याको सिसु ह्वै रोवन लागे ।।
एक दिना वृजपति की पौरी खेलत हरि बृजबाल ।
माटी खाय वदन देखरायो चंचल नैन विशाल ।।
सकल ब्रह्मांड उदर में देख्यो वृजमंडल पाताल ।
नंदमहर जसुदा रोहनि पुन धेनु सकल वृजग्वाल ।।
हृदय ज्ञान उपज्यौ तब जसुमति पूरन ब्रह्म बिसेषे ।
हरि उपजाई माया तब सब बहुर पुत्र करि लेषे ।।

नवमें अध्याय में वर्णित लीलाएँ—

एक दिना दधि मथन करत हों महर घोष की रानी ।
हरि मांग्यो माखन नहीं दीन्हो तब मन में रिस ठानी ॥
फोरे भांड दही आंगन में फेल परेव अति भारी ।
दौरी पकर देत नहिं मौहन अति आतुर महतारी ॥
जानी बिकल वहुत जननी को हरि पकराई दीन्ही ।
बहुत दाम लै बांधन लागी आँगुर द्वै भई हीनी ॥
व्याकुल भई बंधत नहि मोहन दया श्याम को आई ।
ऊखल दाम बंधे हरि जाने गोपी देखन धाई ॥
तो लौं बंधे देवदामोदर जौलों यह कृत कीन्हो ।
देख दुखित ह्वै सुत कुबेर के कृपा दृष्टि कर दीन्हो ॥

दसवें अध्याय में वर्णित लीलाएँ—

नारद मुनि को श्राप पाय के श्याम दई गति ताहि ।
निकसे बीच अटक ऊखल में श्याम रहे अटकाय ॥
चरन परसि ते पुलकि भए भुव परे वृक्ष भहराय ।
भयो शब्द आघात स्वर्ग लौं सुनि आये वृजराय ॥
अस्तुति करि वे गये स्वर्ग को अभय हाथ करि दीन्हों ।
बंधन छोर नंद बालक को लै उछंग कर लीन्हो ॥
यशुमति जू सौं लरे महरजू तुम क्यों बांध्यो दाम ।
गर्ग कह्यो मोहै नारायण आये हैं बलश्याम ॥
यशुमति माय धाय उर लीन्हो राई लोन उतारो ।
लेत बलाय रोहनी नीके सुन्दर रूप निहारो ॥
कबहुंक कर करताल बजावत नाना भांति नचावत ।
कबहुंक दधि माखन के कारण आछी आर मचावत ॥
बड़े गोप उपनंद बुलाये नंद महर के धाम ।
कीन्हे मंत्र गोप सब मिलकै जेहि विधि पूरण काम ॥
बहु उतपात रहत है गोकुल नित प्रति कंस पठायौ ।
अंत जाय कहुँ बास करेंगे बालक देव बचायौ ॥
अब वृन्दावन जाय रहेंगे जह बीरुध तृनपानी ।
चले गोप अति ओप बिराजै बोलत हो हो बानी ॥
यमुना उतर आय वृन्दावन जहां सुखद द्रुम राजैं ।
गोवर्द्धन वृन्दावन यमुना सघन कुंजन अति छाजैं ॥

बसे जाय आनन्द उमग सो गइयां सुखद चरावें ।
आयो दुष्ट बछासुर जान्यों हरिचित बात धरावें ।।
करि विचार छिन में हरि मारो सो बछरा बन आज ।
ता पाछें जो बकासुर आयो घात कियो ब्रजराज ।।

तीन प्रक्षिप्त अध्यायों में वर्णित लीलाएँ—

बछ चरावत बेनु बजावत गोप सखन के संग ।
सो देखन चतुरानन आये हरिलीला रस रंग ।।
छाकैं खात खवावत ग्वालन सुन्दर यमुना तीर ।
ग्वालमंडली मध्य बिराजत हरि हलधर दोउ बीर ।।
गाय गोप अरु बच्छ सबै विध छिनहीं में हरि लीनों ।
सब को रूप भये हरि आपुन नैक विलंब न कीनों ।।
जब ही गर्व भयो चतुरानन अद्‌भुत चरितहि देख ।
परो धाय हरि पाय जीर कर नाथ कृपा कर देख ।।
अस्तुति करी वेद विध करिकै चतुरानन बहु भांति ।
अद्भुत चरित देख माधो को हँसते लसत किलकांति ।।
गये धाम अपने विध सुख सो हरि आज्ञा सुख पाय ।
वर्ष दिवस लौं सर्व रूप हरि वृजवासिन सुखदाय ।।

॥ विजयते श्री श्याममनोहरः प्रभुः ॥

श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्ध
अध्याय ५ से ११ तक (कुल योग ७) का

तामस प्रमाण अवान्तर प्रकरण

की

– भूमिका –

श्रीकृष्णं सच्चिदानन्दं, दश लीला युतं सदा ।
सर्व भक्त समुद्धारे, विस्फुरन्तं परं नुमः ॥१॥

सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अखिल ब्रह्माण्ड नायक अनन्त गुणागार प्राणीमात्र के पालक रक्षक तथा सृष्टिकर्ता हैं । जगन्नियन्ता जगदीश्वर निर्गुण तथा सगुण व्यक्त एवं अव्यक्त रूप में समस्त चराचर में अपनी सत्ता द्वारा व्यापत हैं तथा जिस महान् सृष्टिकर्ता अखिलेश को मुनियों ने श्रुतियों में "एवं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" के नाम से सम्बोधित किया है वास्तव में वही "एकोऽहं बहुस्याम्" परमेश्वर की अपार शक्ति द्वारा अपनी भक्ति में निरोध कराने के लिये स्वय दश लीला से युक्त सच्चिदानन्द स्वरूप द्वारा भक्तों के उद्धारार्थ विशेष प्रकार से स्फूर्तिमान हो रहे हैं । उन परब्रह्म स्वरूप को प्रणाम करते हैं ।

यह प्रपंच विस्मृति पूर्वक भगवदासक्ति रूप निरोध है, जैसा कि भगवान् अपनी विविध शक्तियों के साथ जगत् में प्रकट होकर निज लीलाओं द्वारा निस्साधन भक्तों की प्रपंच से विस्मृति कराके अपने में पूर्ण आसक्ति कराते हैं । उन लीलाओं को निरोध लीला कहते हैं ! अतः दशम-स्कन्ध पूर्ण पुरुषोत्तम का हृदय कहा गया है। भगवान् के हृदय रूप दशम् स्कन्ध में ९० अध्याय हैं, किन्तु हमारे शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त के संस्थापक महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य चरण तो ८७ अध्याय दशम् स्कन्ध में मानते हैं और ३ अध्यायों को क्षेपक गिना गया है । जिसकी उपपत्ति बताते हुए आज्ञा करते हैं कि देह में नाड़ी रूप शक्ति ७२ (बहत्तर) हैं एवं भगवान् की भी श्री आदि शक्तियां १२ हैं फिर जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति से शयन तीन प्रकार का है, अर्थात् ये तीनों अंक "७२+१२+३" मिलाने से ८७ होते हैं । अतः इनके गूढ़ भावों को प्रकट करने के लिये दशम् स्कन्ध में अध्याय भी सित्तासी हैं । शेष तीन अध्याय प्रक्षिप्त हैं जिनका स्पष्टीकरण निबन्ध एवं सुबोधिनी में किया है ।

कारिका—**कथा मात्रं हरेर्वाच्यं सर्वत्रेत्यत्र केचन ॥**
कथा वक्तुं भागवतीं क्वचित् सिद्धामलौकिकम् ॥ १ ॥
योजयित्वा त्वाधुनिका अध्याय त्रितयं जगुः ॥

शब्दार्थ संगतीनां हि स्पष्टा तत्र विरुद्धता ॥ २ ॥

लोक प्रसिद्धस्तच्चापि कथञ्चिद् रूप्यते स्फुटम् ॥ २½॥

भगवान् वल्लभाधीश ने दशम् स्कन्ध को ५ विभागों में बाँटा है ।

यथा——**चतुर्भिश्च[1] चतुर्भिश्च[2] चतुर्भिश्च[3] त्रिभिस्तथा[4] ।**

षड्भिर्विराजते[5] यो सौ पंचधा हृदये मम ॥ १ ॥

१–चतुर्भि: – से तात्पर्य है	– जन्म प्रकरण के चार अध्यायों से......................	योग	४
२–चतुर्भि: – „ „	– तामस प्रकरण के चार अवान्तर प्रकरणों से है प्रत्येक सात २ अध्यायों का है...	योग	२८
३–चतुर्भि: – „ „	– राजस प्रकरण के चार अवान्तर प्रकरणों से है प्रत्येक सात २ अध्यायों का है	योग	२८
४–त्रिभि: -- „ „	-- सात्विक प्रकरण के तीन अवान्तर प्रकरणों से है प्रत्येक सात सात अध्यायों का है	योग	२१
५--षडभि: -- „ „	-- गुण प्रकरण के छ अध्यायों से	योग	६
		महायोग	८७

जिनमें से यह दूसरा प्रकरण "तामस प्रकरण है" जिसके चार अवान्तर प्रकरण क्रमश: प्रमाण प्रमेय साधन और फल हैं । श्रीकृष्ण का प्राकट्य सर्व प्रकार से भक्तों के उद्धार के लिये हुआ है । अत: चतुर शिरोमणि प्रभु ने "तामस, राजस और सात्विक" भक्तों का निरोध करने के लिये इस प्रकार लीला की है जैसे उनके स्वभाव परिवर्तन करने में प्रभु को कष्ट न करना पड़े अथवा उन भक्तों को कष्ट न हो, अर्थात् उनके सहज स्वभावानुसार ही लीला करके मनस्तोष पूर्ण निरोध कराया । प्रथम अवान्तर तामस प्रमाण प्रकरण, ५ से ११ तक सात अध्यायों का है भगवान् ने अपने अपने स्वरूप एवं धर्मों से "सात प्रकार से" भक्तों की एकादश इन्द्रियों से लीलाऐं की हैं । बाललीला भगवान् की सात प्रकार की है । बालभाव में प्रेमी भक्तों का बाललीला से निरोध होता है । अत: प्रथम इसका निरूपण है ।

पांचवे अध्याय में, प्रथम श्लोक—

"नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताल्हादो महामना," - से लेकर अठारवें श्लोक

"तत आरभ्य नन्दस्य व्रज: सर्वसमृद्धिमान् ।

हरेर्निवासत्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप" ॥ १८ ॥

तक नन्द महोत्सव का वर्णन है । इस अध्याय में ३२ श्लोक हैं जिनमें १८ नन्दमहोत्सव के और १४ नन्द वसुदेव संगम के हैं इसका तत्वदृष्टि से विचार करते हैं तो इसमें अष्टादश पुराणों का मगंलमय सार है । अष्टादश स्मृतियों का निचोड़ है अष्टा-

दशाध्यायी गीताजी का भी दिव्य रहस्य समन्वित है। अष्टादश सिद्धियों का परं निधान है एतदर्थ शोडषकलानिधि प्रभु ने अपने षड़ गुण सम्पन्न स्वरूप से क्रमशः अलग अलग गुणों धर्मे से लीला की है

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशस्यः श्रियः
ज्ञान वैराग्यययो श्चैव षण्णां भगद्वतीरणा ॥

तदनुसार यह भगवान् की 'ऐश्वर्य मयी' लीला का दर्शन है।

छठ्ठे अध्याय (तामस प्रमाण उप–प्रकरणान्तर्गत दूसरे अध्याय) में पूतना मोक्ष वर्णन और बाल रक्षास्तोत्र है। पूतना के स्तन्यपान के साथ प्राण खींच लेना और बालकों की भी रक्षा करना, यह भगवान् के चरित्र, लोक एवं शास्त्र में भी अद्भुत कहे और समझे जाते हैं। सर्वेश्वर प्रभु का एक कार्य (लीला) बहुत अर्थों को सिद्ध करता है "बल बल चरित्र गोकुल राय"। यथा पूतना वध द्वारा दुष्टों का नाश एवं वृज के अन्य बालकों की रक्षा अर्थात् भय निर्मुक्ति का कार्य।

अतः इस अध्याय में भगवान् के 'वीर्य' गुण के दर्शन हो रहे हैं, माया द्वारा दुःख उत्पन्न करके फिर उससे मुक्त करना, वीर्य गुण द्वारा प्रभु ने भीतरी और बाहरी, दोनों प्रकार का भय मिटाया है।

अब सातवें अध्याय (तीसरे अध्याय) में तृणावर्त शकट-भंजन लीला द्वारा भगवान् के 'यश' गुण के दर्शन हो रहे हैं। राजस, तामस और सात्विक भक्तों के संग्रह निरोध के लिए 'ऊपर फेंकना' 'नीचे गिराना' और 'जम्भाई लेते हुए मुख को खोलना' इस प्रकार के तीन चरित्रों का वर्णन करते हैं। जिनके सुचरित्र का जब सारी जनता गान करती है तब उसका यश होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने यशोदाजी एवं नन्दरायजी के लौकिक प्रपंच का नाश करके अपने में आसक्ति रूप निरोध कराया है। अतएव उपरोक्त लीला द्वारा 'यश' का दर्शन होने से राजा परीक्षित के मन में शंका हुई कि भगवान् द्वारा की हुई आश्चर्य कारक लीलाओं व चरित्रों द्वारा यशोदाजी की प्रपंच विस्मृति पूर्वक भगवदासक्ति हो गई जिसका वर्णन पांचवे अध्याय में शुकदेवजी ने किया है।

अब भगवान् में उत्पन्न हुई यशोदाजी की आसक्ति का विशेष वर्णन शुकदेवजो करेंगे, क्योंकि किसी किसी ऋषि का मत है कि प्रपंचविस्मृति ही पुरुषार्थं है इस शंका को दूर करने के वास्ते "परीक्षित येनयेनावतारेण" से प्रारम्भ करके तीन श्लोकों में पूछते हैं—

हे प्रभु ! भगवान् हरि, ईश्वर जिन जिन अवतारों से जिन जिन चरित्रों को करते हैं वे चरित्र हमारे कर्णेन्द्रिय को रसान्वित करने वाले हैं। भगवान् के चरित्र भाव जानकर प्रेमपूर्वक सुनने में आवे तो वे चरित्र श्रोताओं के हृदय में सर्वगुण उत्पन्न करते हैं। यदि बिना भाव जाने भी भगवच्चरित्र सुने जाय तो भी श्रोता के सर्व दोष नाश हो जाते हैं इतना ही नहीं पर सर्व गुण भी हृदय में आ जाते हैं।

अतः श्री आचार्यचरण ने आज्ञा की है कि भगवान् के सर्व चरित्र हितकारी हैं एवं उससे

भी अधिक वे गुणकारी हैं पर स्नेह उत्पन्न करने वाले चरित्र उन गुणकारी चरित्रों से भी विशेषतर हैं अतएव भगवान् के ऐसे स्नेह बढ़ाने वाले चरित्र कहने और सुनने चाहिए। कारण कि अखिल ब्रह्माण्ड नायक प्रभु ने 'भगवान्' शब्द से, स्वरूप से शकट भंजन द्वारा शकटासुर को मारकर अन्य लौकिक स्मृति छुड़ा कर अपने में आसक्ति कराई और उनको धारण किए क्योंकि—

भक्तान्भितीति — भ
भक्तानाम् संगच्छतीति — ग
भक्तानाम् हृदि वसतीति — व
भयस्तुत्यां — न

इन चारों अक्षरों से 'भगवान्' शब्द बनता है तदनुसार भक्तों को धारण किए।

तत्पश्चात् हरिः शब्द द्वारा भक्तों के दुःख का नाश किया। दुःख हर्ता प्रभु ने तृणावर्त्त को मार कर भक्तों को आपत्ति से निवृत्त किए। यह हरिः शब्द का स्वारस्य है।

अन्त में प्रभु ने ईश्वर शब्द द्वारा सर्व करण समर्थ हैं ऐसी लीला का दर्शन कराया श्री यशोदाजी बालकृष्ण प्रभु को गोद में लेकर जब स्तन पान कराने लगी तो षडैश्वर्य प्रभु को जृम्भा (उबासी) आई जिससे मुख में समस्त विश्व के दर्शन कराके आश्चर्यान्वित किए यह ईश्वर शब्द का स्वारस्य है।

वास्तव में भगवच्चरित्र "अन्तःकरण शोधक" सर्व साधनों से उत्तम साधन है, अतएव जिन भगवान् के चरित्रों से अन्तःकरण शुद्ध होवे वे चरित्र इस आठवें अध्याय में कहेंगे।

भगवान् के माहात्म्य ज्ञान से, भगवत्स्वरूप का ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है।

भगवान् का नामकरण करने "गर्गाचार्यजी" गोकुल आए। नामकरण प्रस्ताव की गंध भी किसी को न लगे इससे नन्दबाबा की गौ शाला में भगवान् का नामकरण किया।

अध्याय के २१ श्लोकों में नाम करण प्रसंग रहा तत्पश्चात् २२, २३, २४ इन तीन श्लोकों से भगवान् की सात्विक लीला का स्वरूप, २५, २६, २७ इन तीन श्लोकों में भगवान् की राजस लीला का वर्णन किया है। २८ वें श्लोक में मुग्ध लीला सात्विक मिश्रित तामसी लीला है। २९ वें श्लोक में धृष्टता लीला राजस मिश्रित तामसी लीला है। ३० वें और ३१ वें श्लोक में धौर्त्य लीला तामस तामसी लीला है। इस तरह १० श्लोकों में रूप वर्णन हुआ अर्थात् ३१ श्लोक तक। तत्पश्चात्-मृद् भक्षण लीला जो कि शुद्धनिर्गुण स्वरूप से की एवं निर्गुण भक्तों का निरोध किया। ४१ से ४४ श्लोक तक फिर माता को तत्वज्ञान रूपी विचार उत्पन्न होने से भगवान् ने वैष्णवी माया का प्रभाव उस पर डाला। ४५ वें श्लोक में भगवान् के स्वरूप का महात्म्य, जो कि तीनों वेद उपनिषद्, सांख्य, योग, और सात्वत शास्त्र गान करते हैं उन हरि को यशोदा जी अपना पुत्र मानने लगी।

श्लोक—**त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः ।**
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम् ॥४५॥

उसके बाद यशोदाजी को इतना उत्कृष्ट फल किस कर्म से हुआ ? अन्य गोपियों को ऐसा उत्तम फल क्यों नहीं मिला है ? इस प्रकार की शंका मिटाते हुए कहते हैं कि यशोदाजी पर महत्पुरुषों की कृपा हुई है, इसका वर्णन अन्तिम सात श्लोकों ४६ से ५२ में करते हैं।

फिर नवम् अध्याय में भगवान् के ऊखल बन्धनादि अद्‌भुत चरित्रों का वर्णन है। भगवच्चरित्रों का स्मरण करने के साथ साथ भगवान् का स्वरूप और कृपालुता को पूर्णतया भी जानना चाहिए।

भगवान् ज्ञान, वैराग्य और स्वरूप से भक्तों के आधीन होते हैं। अतएव इन तीन "९, १०, ११" अध्यायों में भगवान् ने जीवों (भक्तों) के आधीन होकर लीलाएँ की हैं और जब भक्तों का भगवान् में और भगवान् का भक्तों में, निरोध हो जावे तब दोनों का सुन्दर श्रेष्ठ सम्बन्ध हो जाने से निरोध दृढ़ हो जाता है।

यह निश्चित रूपेण समझ लेना चाहिए कि जो भगवान् स्वतंत्र हैं उनको भी वश कर लेना यह जीवों का पौरुष (पराक्रम) है। भगवान् बारह अंगों का अर्थात् नौ प्रकार की सगुण भक्ति, दशवीं गुणातीत भक्ति, वेद के दो काण्ड (पूर्व काण्ड-कर्म एवं उत्तर काण्ड ज्ञान) इस तरह १२का अतिक्रमण करके केवल स्वेच्छया निज में विराजमान ६ (छ) गुणों से ही वश हो जाते हैं।

भगवान् लोकोंकी पंचपर्वा अविद्या का नाश करते हैं इससे भगवत्सम्बन्धी विचार ५ श्लोकों से किया गया है। "एकदा गृहदासीषू" से लेकर 'मारूढ़' तक। पश्चात् भगवान् को अन्यासक्ति के कारण क्रोध आया। आपने छाछ की मथनी भीतर जाकर फोड़ दी तथा माखन (नवनीत) आरोगने लगे। यशोदाजी दूध ओटा कर दधि मन्थन मन्दिर में आई तो क्या देखती है कि माखन का अभाव और तक्र (छाछ) का बहजाना। यह देखकर माता यशोदा समझ गई कि यह कार्य मेरे पुत्र का है अतः यशोदाजी को कर्ता कर्म और करण तीनों का पूर्ण ज्ञान हो गया था। इस प्रकार के ज्ञान से यशोदाजी लौकिक आवेश वाली हो गई। भगवान् ने दैत्यावेश को दूर कर दिया था, इससे यशोदाजी हँसने लगी, क्रोध न किया।

भगवान् के दधि पात्र भंजन करने के कार्य से उनको पकड़ने के लिए यशोदाजी हांथ में लकड़ी लेकर दौड़ी किस के पीछे कि "योगियों का तपस्या से प्रेरित (शुद्ध) मन भी जिसके पास पहुँच नहीं सकता, उस सर्व करण समर्थ" के पीछे दौड़ी। "एवं परम् तद्दाह कृपालु गृहीत्वा, यत् कृतवति" इस प्रकार परम कृपानिधि, दयानिधि को पकड़ने के बाद श्री यशोदाजी ने डराना धमकाना शुरू किया। अंजनभरी आंखों को हाथों से मसलते हुए भय से विह्वल नेत्र वाले अपराधी के रूप में रोते हुए भगवान् का हाथ पकड़ कर उठाया, तथापि पुत्र प्रेम भी असाधारण होने से एवं भगवान् के वीर्य को न जानने वाली यशोदाजी ने आत्मज को भयभीत समझ कर यष्टि (लकड़ी) फेंक दी और रज्जू से बान्धने की इच्छा की उन परमेश्वर परात्पर ब्रह्म को, जिनकी माया रूपी बन्धन से सारा संसार बन्धा हुआ है जिनके अन्तर बाहिर, आगे वा पीछे कुछ भी नहीं है। जो जगत् के भीतर और बाहिर आगे तथा पीछे हैं और जो जगत् रूप हैं।

श्लोक—न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥१३॥
तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिंगमधोक्षजम् ।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥१४॥

ऐसे प्रभु को यशोदाजी ने अपना आत्मज पुत्र समझ कर ऊखल से बान्धा । किन्तु बान्धने वाली रस्सी भगवान् के कटि भाग में दो अंगुल कम हुई । तब घर में काम आने वाली सभी रस्सियाँ जोड़ दी तथापि आखिर दो अंगुल ही कम रही । इस अद्भुत चरित्र का दर्शन करने दूसरी व्रज की गोपियाँ भी आई थीं । वे ये देख कर मन में गर्वित हुई और अपने मन ही मन विचार करने लगीं कि इतनी रस्सियाँ जोड़ने पर भी भगवान् नहीं बन्धे और हम लोग (गोपियाँ) तो हमारी भुजाओं में ही प्राण प्रिय को बान्ध लेते हैं ।

अन्ततोगत्वा—अत्यन्त परिश्रम के कारण, जिनके पसीना आ गया है और वेणी से फूल गिर रहे हैं । ऐसी माता को देख कर, प्रभु कृष्ण, कृपापूर्वक वन्धन में आ गए । जिनके लोकपाल और देवता आदि सहित सर्व जगत् वश में हैं उन्होंने स्वतन्त्र होते हुए भी इस प्रकार अपनी भक्त वश्यता प्रकट की ।

भगवान् से जिस प्रकार का प्रसाद (कृपा) गोपी श्री यशोदाजी ने प्राप्त किया वैसा प्रसाद (कृपा) भगवान् के श्री अंग का आश्रय कर रही लक्ष्मीजी ने, ब्रह्मा और शंकर ने भी नहीं प्राप्त किया ।

तत्पश्चात् माता तो घर के कामों में लग गई । उधर भगवान् कृष्ण ने गुह्यक देवयोनि में उत्पन्न होने वाले कुबेर के पुत्र, जो कि अर्जुन के वृक्ष थे उन्हें देखा और दोनों का उद्धार करने की कृपा की । उन्हें वृक्ष योनि से मुक्त किया क्योंकि कीर्ति और श्री वालों का उद्धार करना योग्य ही है ।

अब दसवें अध्याय में श्रीकृष्ण के भक्त की मैत्री का कारण कहते हैं । इस अध्याय में कुल ४२ श्लोक हैं । जिनकी संगति निम्न प्रकारेण है.—

पहले ६ श्लोकों में शाप का उद्यम, तत्पश्चात् १२ श्लोकों में नारदजी के शाप के कारण, अर्थात् १८ श्लोक तक । अनुग्रह रूप शाप ३ श्लोकों में, फल की शीघ्रता ६ श्लोकों में अर्थात् २७ स्तुति १० श्लोकों में और कृपा ५ श्लोकों में, इस तरह कुल ४२ श्लोकों में वर्णन कर आदि और मध्य व अन्त में मन आदि "काया और वाणी" से प्रणाम करते हैं ।

कारिका—"आदि मध्यावसानेषु नमनं मन आदिभिः"

फिर भगवान् से अनुचर किंकर रूप में आज्ञा मांगते हुए वहां जाकर रहने वाले हमको आपकी भक्ति स्थिर रहे, यह प्रार्थना की ।

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तो च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत् प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेस्तु भवत्तनूनाम् ॥

मनुष्य के अंगों में ६ अंग मुख्य हैं। (१) वाणी, (२) कान, (३) हाथ, (४) चित्त, (५) मस्तक, और (६) नेत्र। ये ६ अंग यदि भगवान् की सेवा कार्य में लगे रहें तो उनकी वास्तविक सार्थकता है।

अब ११ वे अध्याय में भगवान् की ७ प्रकार की लीलाओं का वर्णन हैं। वे क्रमशः इस तरह हैं। इस अध्याय के कुल ४६ श्लोक हैं ऊखल में बँधे हुए भगवान् को छुड़ाना प्रथम लीला, मुग्ध लीला दूसरी लीला, अन्य स्थान पर जाकर रहना, तीसरी लीला, वहां लीला करनी चौथी वत्सासुर का वध, पांचवीं लीला बकासुर का वध, छट्ठी लीला और ज्ञान लीला सातवीं लीला श्लोकों में इन लीलाओं की संगति निम्न है—

भगवान् को ऊखल बन्धन से छुड़ाने का ६ श्लोकों से वर्णन है, मुग्ध लीला ३ श्लोकों से, दूसरे स्थान पर जाकर रहने का १६ श्लोकों से लीला करने का, ४ श्लोकों से वत्सासुर का वध ६ श्लोकों से, बकासुर के वध का वर्णन ६ श्लोकों से ज्ञान लीला का ५ श्लोकों से इस तरह ४६ श्लोकों में वर्णन है। व्रजवासियों के साथ प्रभु ने विराज कर अपने स्वरूप से जीवों का निरोध कराया है।

इस प्रकार 'तामस प्रमाण' उप-प्रकरण के इन सात अध्यायों की लीलाओं से प्रभु ने नन्दादि गोप ग्वालों का निरोध सिद्ध किया है। यह स्नेहात्मक निरोध सर्व श्रेष्ठ है, कारण कि प्रमाण लीलाओं के द्वारा उद्भूत स्नेहात्मक निरोध होने के अनन्तर प्रमेय की सिद्धि होती है जिसका वर्णन १२ वें से १८ वें अध्याय तक (सात अध्यायों में) है। इस सूक्ष्म भूमिका से पाठकगण, वैष्णव जन प्रमाण अवान्तर प्रकरण के विषय को समझ गये होंगे। विशेष तो श्रीवल्लभ प्रभु द्वारा निर्मित सुबोधिनीजी को पढ़ने से प्रमाण अवान्तर प्रकरण की लीलाओं के रहस्यामृत का पान कर सकेंगे। 'इतिशुभम्–इत्यलम्'

— गो० ब्रजभूषणलाल

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी सौरभपूर्ण पुष्पवाटिका में से चुनी हुई कलियों में से कुछ –

मुख्यपितुः सेवार्थं गौणपितु राज्ञोल्लङ्घनं युक्तम् ।१०-१-२	मुख्य पिता (भगवान्) की सेवा के लिए गौण पिता की आज्ञा का उल्लंघन योग्य है ।
'कृषि भूं वाचकः शब्दोणश्च निर्वृ ति वाचकः॥ तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत इतिसदानन्दः कृष्ण उक्तः । तच्चरित्रमपि सदानन्दरूपमेव ।१०-१-१२	'कृष्' का अर्थ है 'सदा' और 'ण' का अर्थ है 'आनन्द' दोनों के मिलाने से बना 'कृष्ण' जिनको परब्रह्म कहते हैं इस तरह 'कृष्ण सदानन्द' है । उन कृष्ण के चरित्र भी सदानन्द रूप है ।
भक्तानां दुःखनाशाय कृष्णावतरणं मतम् । ये भक्ताः शास्त्ररहिताः स्त्रीशूद्रद्विजबन्धवः । तेषांमुद्धारकः कृष्णः स्त्रीणामत्र विशेषतः ॥ १०-१-१७	ऐसा माना जाता है कि श्रीकृष्णवतार भक्तों के दुःख का नाश करने के लिए हुआ है । स्त्रियों, शूद्रों द्विज बन्धुओं (नाम मात्र के ब्राह्मणों, कर्म से नहीं) और भक्तों (जो शास्त्र के जानकार नहीं हैं) के उद्धार करने वाले श्रीकृष्ण है । विशेषकर स्त्रियों के उद्धारक ।
न हिं भगवद्भक्तानामन्यनिष्ठाऽप्युचिता । १०-१-६०	भगवान् के भक्तों में अन्य की निष्ठा (भक्ति) भी उचित नहीं है ।
अतिक्लेश एव भगवदागमनं न स्वास्थ्ये । १०-१-६१	अतिशय दुःख में ही भगवान् पधारते हैं न कि सुख में ।
परमानन्दे हृदि प्रविष्टे प्राणीसर्वदुःखनिवृत्तो भवति । १०-२-२०	जब परमानन्द (भगवान्) का प्रवेश हृदय में होता है जीव के सब दुःख दूर हो जाते हैं ।
भगवद्रक्षितो न नश्यति । १०-२-२८	जिसकी भगवान् रक्षा करते हैं उसका नाश नहीं होता है ।
भक्तिमार्गान्मार्गान्तरं साधनतः फलतश्च न समीचीनम् । १०-२-३३	भक्ति मार्ग के सिवाय कोई भी मार्ग साधन या फल में उत्तम नहीं है ।
सर्वशास्त्ररूपाणि भगवदाभरणानि । १०-३-१०	सब शास्त्र भगवान् के आभरण (भूषण) हैं ।
आधिदैविकव्यतिरेकेणाधिभौतिकात्केवलात्कार्यंन सम्भवति । १०-३-१५	आधिदैविक विना केवल आधिभौतिक से कार्य सिद्धि नहीं होती है ।
ईश्वरे निवेदनमात्रं सेवककार्यं, कर्त्तव्यं तु प्रभुरेव जानाति ॥ १०-३-२२	ईश्वर को निवेदन करना ही सेवक का कर्त्तव्य है । परिणाम क्या होगा यह तो प्रभु ही जानते हैं ।

सत्संगो भागवतं चेति भगवच्चरणद्वयमाधिभौतिकम्, ज्ञानं भक्तिश्चाध्यात्मिकम्, चरणावेव प्रसन्नस्याधिदैविकौ, तन्मध्येऽन्यतर प्राप्तावपि कृतार्थता । १०-३-२७	'सत्संग और भागवत' ये भगवान् के दो आधिभौतिक चरण हैं । 'ज्ञान' और 'भक्ति' (ये दोनों) आध्यात्मिक (चरण) हैं और प्रसन्न हुए भगवान् के चरण ही उनके आधिदैविक (चरण) हैं । इन सब में से किसी एक के प्राप्त होने पर भी कृतार्थता होती है ।
वाक्यापेक्षया कृतेः प्रबलत्वम् । १०-७-६	वाक्यों से क्रिया बलवती होती है ।
अवतार विषयिणी भक्तिरतिपुष्टा । १०-७-६	अवतार सम्बन्धी भक्ति अति पुष्ट है ।
न हि दुष्टेषुवध क्रियया व्याप्तेषु दयोचिता । १०-७-२६	वधक्रिया से व्याप्त दुष्टों के प्रति दया उचित नहीं है ।
यः सर्वत्र समदृष्टिः स दोषाभावान्न हन्यते । १०-७-३३	जिसकी सर्वत्र समदृष्टि है उसका नाश नहीं होता है ।
लौकिक निष्ठता भगवन्निष्ठता च परस्परं विरुद्धा । १०-८-२६	लौकिक में निष्ठा और भगवान् में निष्ठा आपस में विरुद्ध है ।
यावदात्मीयतया परमस्नेहे रस उत्पद्यते न तावदीश्वर भावेन भय ज्ञानस्य स्नेह प्रतिबन्धकत्वात् । १०-८-२६	भगवान् का निज का हो जाने में परम स्नेह से जो आनन्द उत्पन्न होता है वह ईश्वर भाव से नहीं होता है क्योंकि भय का ज्ञान स्नेह में प्रतिबन्धक होता है ।
प्रतिकूलोऽपि भगवदर्थं श्रमः सार्थकः १०-६-१०	भगवान् के लिए विरुद्ध श्रम भी फल देने वाला होता है।
कृपा च सर्वधर्मधर्मिभ्यो बलिष्ठा । १०-६-१६	भगवान् की कृपा सब धर्मों और धर्मी से भी अधिक बलवती होती है ।
सन्मार्गः सत्संगो वा सद्बुद्धया भवति श्रीमदेन तु सद्बुद्धिः कदापि नोत्पद्यते । १०-१०-८	सन्मार्ग अथवा सत्संग सद्बुद्धि से होता है परन्तु लक्ष्मी (धन) के मद से कभी भी सद्बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है ।
भूतद्रोहान्नरकपातः १०-१०-१०	प्राणियों से द्रोह करने वाला नरक में पड़ता है ।
आत्मौपम्येन भूतानां दर्शनं दरिद्रस्यैव नान्यस्य ॥ १०-१०-१४	दरिद्र (गरीब) ही अपने समान अन्य प्राणियों को देखता है दूसरा वैसा कोई नहीं देखता है ।
मोक्ष इन्द्रियजयो योगशास्त्रसिद्धः साधनत्वेन यथा सांख्येऽहंकाराभावः दारिद्रे इन्द्रियजयः स्वभावत एव भवति । १०-१०-१६	जिस प्रकार योग शास्त्र में इन्द्रियों को जीतना और सांख्य शास्त्र में अहंकार रहित होना मोक्ष का साधन प्रसिद्ध है, वह इन्द्रियों को जीतना दरिद्रता में अपने आप ही हो जाता है ।
साधुसङ्गात् तृष्णापगमः । ते हि भगवत्प्रेरिता परिभ्रमन्ति लोकानामुद्धारार्थम् । तेनावृतत्वाद दरिद्रस्यैव गृहे यच्छन्ति ॥ १०-१०-१७	साधु के संग से तृष्णा मिटती है क्योंकि वे भगवान् से प्रेरणा प्राप्त कर लोक कल्याण के लिए भ्रमण करते हैं और दरिद्री (गरीब) तृष्णा से घिरा हुआ रहता है इसलिए साधु उसीके घर जाते हैं ।

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित – सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस प्रकरण

'प्रमाण' अवान्तर प्रकरण

प्रथम अध्याय

श्रीमद्भागवतानुसार : पञ्चम अध्याय

जन्म प्रकरण संगतिकारिका

तामस प्रकरणान्तर्गत प्रमाण - प्रकरण की कारिकाओं का हिन्दी अनुवाद

कारिका—**एवं चतुर्भिरध्यायैर्जन्म विष्णोर्निरूपितम् ।**
हेतूद्यमोत्तराङ्गैश्च राजसादि गुणैर्युतम् ॥ १ ॥

कारिकार्थ—इस प्रकार दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध के प्रथम चार अध्यायों में हेतु, उद्यम और उत्तरांग से, राजसादि गुणों से युक्त, श्री विष्णु के जन्म का निरूपण[1] हुआ।

व्याख्यार्थ—जन्म प्रकरण के चार अध्यायों को सम्पूर्ण करने के बाद दूसरा तामस प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। इस तामस प्रकरण के साथ जन्म प्रकरण की संगति[2] बतलाने के लिये यह 'एवं चतुर्भिः' कारिका कही गई है।

१—वर्णन। २—मेल।

कारिका——सप्त सप्ततिभिः कृत्यं हरेरत्र निरूप्यते ।
भगवान् स्वेन धर्मैश्च सप्तधैका दशेन्द्रियैः ॥ २ ॥
कृत्यं चकार यस्माद्धि ततस्तावद्भिरुच्यते ।
त्रिविधानि च कर्माणि त्रिविधानां हिताय च ॥ ३ ॥

कारिकार्थ——यहाँ जन्म प्रकरण कह कर अब भगवान् की लीला सतहत्तर अध्यायों में वर्णन की जाती है ।

प्रकाश—

शङ्का—जब भगवान् का जन्म तीसरे अध्याय में हुआ है तो अब तीन अध्यायों में जन्म निरूपण कहना सङ्गत[1] नहीं है ।

समाधान—इस शङ्का के समाधानार्थ कहते हैं कि यद्यपि भगवान् के प्राकट्य का तीसरे अध्याय में वर्णन है, तो भी शेष (पहला दूसरा और चौथा) अध्याय भी जन्म प्रकरण के हैं । क्योंकि पहले और दूसरे अध्यायों में जन्म के कारण 'हेतु' एवं 'उद्यम' का वर्णन है और चौथे अध्याय में माया का कार्य भगवत्प्राकट्य में सहायक है; अतः 'हेतु' और 'उद्यम' ये दोनों जन्म के पूर्वाङ्ग है और माया का कार्य उत्तराङ्ग है । इसलिये पूर्वाङ्ग एवं उत्तराङ्ग सहित प्राकट्य का वर्णन एक ही प्रकरण का विषय होने से चार अध्याय जन्म प्रकरण के मानने में कोई असङ्गति नहीं है ।

प्रकाशकार 'अथवा' कहकर दूसरे प्रकार से शङ्का का समाधान करते हैं—

'राजसादि गुणैः युतं जन्मः' इस पंक्ति से राजस, तामस और सात्विक भक्तों से लीला कारणार्थ स्वरूप भूत व्यूहों की आवश्यकता होगी और वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का एक एक अध्याय में पृथक् पृथक् वर्णन होने से चार अध्याय जन्म प्रकरण के हैं । इस प्रकार से भी असंगति मिट जाती है ।

शङ्का—यदि यह कहा जाय कि चारों अध्यायों में वासुदेवादि चार स्वरूपों का प्राकट्य है इसलिये चार अध्याय जन्म प्रकरण के हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्ण पुरुषोत्तम का जन्म हुआ ही नहीं ?

समाधान—पुरुषोत्तम स्वरूप तो अजन्मा है किन्तु 'अजायमानो बहुधा विजायते' 'अजन्मा ब्रह्म अनेक प्रकार से प्रकट होता है' इस श्रुति के अनुसार वासुदेवादि व्यूहात्मक स्वरूपों के जन्म से ही 'पुरुषोत्तम' का जन्म माना जाता है । इसलिये कारिका में 'विष्णोः जन्मः' (जिस व्यापक सर्वात्म स्वरूप में व्यूहादि स्वरूप भी स्थित हैं उस पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप का प्राकट्य हुआ है) पद दिया है ।

लेख—

पूर्वाङ्ग—१. भगवान् के जन्म का हेतु भक्त-दुःख है । यह पहले अध्याय का अर्थ है ।
२. भगवान् के जन्म का हेतु उद्यम (माया को आज्ञा देना आदि है) यह दूसरे अध्याय का अर्थ है ।

१—उचित ।

भगवान् ने अपने स्वरूप एवं धर्मों से सात प्रकार से भक्तों की एकादश इन्द्रियों से लीलाएँ कीं, इससे सतहत्तर अध्यायों से लीला का वर्णन किया जाता है।

तामस, राजस और सात्विक तीन प्रकार के भक्त हैं उनके हित के लिये भगवान् ने तीन प्रकार से लीलाएँ की हैं।

व्याख्यार्थ—इन कारिकाओं में श्री महाप्रभुजी ने सतहत्तर अध्यायों का कारण व भावार्थ बताया है कि भगवान् ने भक्तों की प्रत्येक इन्द्रिय[1] से सात प्रकार[2] से लीला की है इसलिये सतहत्तर[3] अध्याय हैं:—

---

३. रूपान्तर स्वीकरण (द्विभुज बाल रूप होना) तीसरे अध्याय का अर्थ है। कारिका में 'च' दिया है, इसका आशय है कि द्विभुज रूप में यह चतुर्भुज स्वरूप भी विराजमान है।

उत्तरार्ध—४. 'हेतूद्यमोत्तराङ्गैः' यह समासान्त पद इसलिये दिया है कि ये तीनों साक्षात् भगवान् ने किये हैं। माया द्वारा किये हुए कार्यों का वर्णन चतुर्थ अध्याय में है।

५. 'राजसादि गुणैः युतं जन्म' राजसादि गुणों के साथ जन्म हुआ। इसका आशय बताते हैं कि चतुर्थ अध्याय में माया के कार्य 'व्यामोह' को सिद्ध करने के लिये यह पंक्ति दी है क्योंकि 'व्यामोह' करना रजोगुण का कार्य है जो माया के द्वारा हुआ है। इसलिये 'माया का कार्य व्यामोह' चौथे अध्याय का अर्थ है।

यद्यपि पहले तामस प्रकरणीय लीलाओं से प्रारम्भ होने से यहाँ (कारिका में) 'तामसादि गुणैः' कहना चाहिये था वह न कहकर आपने 'राजसादि गुणैः' कहा है। उसका आशय लेखकार बताते हैं कि सृष्टि उत्पत्ति आदि लीला में, प्रथम रजोगुण का कार्य-उत्पत्ति होता है। उस क्रम को लेकर 'राजसादि' गुणैः' कहा है और प्रथम कारिका के चतुर्थ पद का द्वितीय कारिका के पहले आधे भाग के साथ अन्वय करते हैं जैसे कि 'अत्र राजसादि गुणैः युतं हरेः कृत्यं सप्त सप्ततिभिः निरूप्यते'। यहाँ सतहत्तर अध्यायों में राजसादि गुणों से युक्त हरि की लीलाओं का वर्णन किया जाता है।

दशम स्कन्ध में ९० अध्याय हैं उनमें तीन प्रक्षिप्त निकालने से शेष सतासी बचते हैं। छ अध्यायों में भगवान् ने केवल ऐश्वर्यादि छ गुणों से लीलाएँ की हैं, उन छ को एवं चार 'जन्म प्रकरण' के अध्यायों को पृथक् करने से शेष सतहत्तर रहते हैं। उनमें भगवान् ने उपर्युक्त प्रकार से लीलाएँ की है।

योजनाशय—जैसे कि जब निरोध्य (भगवान्) भक्त के नेत्रों का विषय स्वयं बन जाते हैं तब भक्त के नेत्रों में भगवान् का आनन्दमय स्वरूप एवं आनन्दमय लीलाओं का ही दर्शन होता रहता है जिससे वह भक्त प्रपञ्च भूल जाता है और उस आनन्द में लीन होकर आनन्दी हो जाता है। "रसंलब्ध्वा आनन्दी भवति" श्रुति के अनुसार जीव अपने मूल रस स्वरूप को पाकर स्वयं भी आनन्द रूप हो जाता है।

१—भक्तों की ग्यारह इन्द्रियों से।

२—एक भगवान् का स्वरूप और छ भगवान् के धर्म इस प्रकार सात प्रकार से।

३—ग्यारह को सात से गुणा करने पर गुणनफल सतहत्तर होते हैं।

कारिका——तत्त्वातिक्रमणे रोधः तामसे राजसे भवेत् ।
कालातिक्रमणे शिष्टे कालस्तत्रैकविंशतिः ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—अट्ठाईस तत्वों का अतिक्रमण कर, तामस एवं राजस प्रकरण में, तामस तथा राजस भक्तों का निरोध किया है। इक्कीस प्रकार के काल का अतिक्रमण[1] कर, सात्विक प्रकरण में, सात्विक भक्तों का निरोध किया है ।

व्याख्यार्थ—तामस प्रकरण में निरोध करने योग्य तामस भक्तों का अट्ठाइस अध्यायों में की हुई लीलाओं द्वारा निरोध[2] हुआ है । एक एक अध्याय की लीला से एक एक तत्व का अतिक्रमण[3] भगवान् ने किया है, इसलिये अट्ठाईस तत्वों का अतिक्रमण[3] अट्ठाईस अध्यायों में हो जाने से तामस भक्तों का निरोध सिद्ध किया है । ऐसे ही राजस प्रकरण के अट्ठाईस अध्यायों से राजस भक्तों का निरोध सिद्ध किया । सात्विक भक्तों का निरोध इक्कीस अध्यायों की लीला द्वारा हुआ । कारण कि वहाँ भगवान् ने एक विंशति (इक्कीस) प्रकार के काल[4] का इक्कीस अध्यायों में की हुई लीलाओं द्वारा अतिक्रमण[3] किया है । कालातिक्रमण से सात्विक भक्तों का निरोध सिद्ध किया है ।

सात्विक भक्तों को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है । इसलिये इस सात्विक प्रकरण में प्रमेय के साथ साधन के सात और फल के सात अध्याय हैं । तीनों मिलाकर समग्र सात्विक प्रकरण में इक्कीस अध्याय हैं ।

कारिका——"द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश" इति श्रुतेः
लौकिकेषु तु धर्मेषु यत्रैव हरिवेशनम् ।
निवर्तते तदेवात्र वह्नेर्दारुमयं यथा ॥ ५ ॥

इसी प्रकार भगवान् अपने ऐश्वर्य्यादि छः धर्म एवं सातवें धर्मी स्वरूप से (सात प्रकार के स्वरूपों से) भक्तों की ग्यारह इन्द्रियों द्वारा भक्तों को आनन्ददान (रसदान) करते हैं । इसका अनुभव (पान) कर व्रज-भक्तों ने कहा है कि 'अक्षण्वतां फलमिदं' इन्द्रिय धारियों का यही फल है । इस प्रकार सतहत्तर प्रकार की लीलाओं के कारण सतहत्तर अध्याय हैं ।

१—लोप ।

२—प्रपञ्च विस्मृति और भगवान् में आसक्ति ।

३—तत्वों एवं काल के धर्मों का लोप ।

४—काल इक्कीस प्रकार का है—जैसा कि श्रुति कहती है कि 'द्वादशइमे मासाः' पञ्चऋतवः त्रय इमे लोकाः असौ आदित्यः ।' बारह मास, पांच ऋतु, तीन लोक और एक सूर्य यों काल २१ प्रकार का है । ऋतु छः हैं, यहाँ जो पाँच लिखी हैं सो हेमन्त और शिशिर को एक करके लिखा है ।

कारिकार्थ––श्रुति कहती है कि बारहमास, पाँच ऋतुएँ, तीन-लोक, एक आदित्य ऐसे काल इक्कीस प्रकार का है। जहाँ भी लौकिक धर्मों (देह इन्द्रियादि रूप तत्वों) में भगवान् विराजमान (प्रविष्ट) होते हैं वहाँ उन तत्वों के प्राकृत (लौकिक) धर्मत्व नष्ट हो जाते हैं और वे भगवद्रूप हो जाते है; जैसे कि लकड़ी में आग प्रविष्ट होती है तो लकड़ी का लकड़ीपन लुप्त हो जाता है और वह अग्निरूप हो जातो है।

व्याख्यार्थ—अट्ठाईस तत्वों एवं इक्कीस प्रकार के काल के अतिक्रमण का प्रकार बताते हैं: अतिक्रमण का तात्पर्य है उन तत्वों तथा काल के धर्म उनमें से लुप्त हो जावें और उनमें भगवद्धर्म प्रविष्ट हो जाय, जिससे भक्तों पर "तत्वों" एवं "काल" के लौकिक धर्मों का प्रभाव न हो, किन्तु भगवद्धर्म का प्रभाव हो जिससे उनकी प्रपञ्च की आसक्ति छूट जावे और भगवदासक्ति हो जावे। इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि काष्ठ में जब अग्नि का प्रवेश होता है तब काष्ठ से काष्ठ के धर्म लुप्त होकर, अग्नि के धर्म काष्ठ में आ जाते हैं उस समय उस पर हाथ रखने से हाथ में उष्णता प्रवेश करती है। तत्व एवं काल में भगवद्धर्म प्रविष्ट होने से वे (तत्व एवं काल) भी भगवद्रूप हो कर भक्तों के निरोध में सहायक होते हैं। अर्थात् भक्तों के तत्वरूप देहेन्द्रियादि में भगवान् के प्रविष्ट होने से उनकी लौकिकता नष्ट हो कर, उनमें अलौकिकत्व आ जाता है। जिससे प्रपञ्च विस्मृति हो कर अलौकिक भगवद्रूप में आसक्ति होती है। इसी प्रकार सात्विक प्रकरण में काल का प्रभाव नष्ट हो जाता है। जिससे उन भक्तों का भी निरोध सिद्ध होता है।

कारिका––**स्वभावस्यान्यथा भावो न वै शक्यः कथञ्चन।**
अतस्त्रिविधजीवेषु त्रिविधा भगवत्कृति ॥ ६ ॥

कारिकार्थ––स्वभाव किसी भी प्रकार बदल नहीं सकता है, इसलिये तीन प्रकार के जीवों के साथ भगवान् ने तीन प्रकार से लीला की है।

व्याख्यार्थ—जीव (स्वयं) तो अपने स्वभाव बदल नहीं सकते हैं, यदि वे स्वभाव को बदल कर लीला करते तो लीला तो हो सकती थी; किन्तु उसमें एक ओर तो भगवान् को परिश्रम होता व दूसरी ओर लीला में रसालता न आती एवं विविधता भी न होती। अतः भगवान् ने सर्वकरण समर्थ एवं निर्गुण स्वरूप होते हुए भी ,भक्त के स्वभावानुकूल लीलाएँ कीं। जिससे इस कार्य में भगवान् की भक्तवत्सलता, परम दयालुता तथा भक्ति मार्ग की उत्तमता सिद्ध होती है।

प्रपञ्च में गुणानुसार तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं—कोई सात्विक, कोई राजस तो कोई तामस। इससे उनके स्वभाव भी एक प्रकार के नहीं होते हैं। भगवान् परमोत्तम शिक्षक, दयालु एवं उद्धारक हैं, इसलिये 'स्थितस्य गतिः चिन्तनीया' इस न्यायानुसार भक्त का मानदण्ड

विचार स्वयं भक्त स्वभावानुकूल बन, उस प्रकार की लीलाएँ कर, सब का उद्धार करते हैं।[1]

कारिका—लौकिकं तामसे मुख्यं कामान्ताच्च कृतिः स्फुटा ।
कामोद्भूते तथा प्रीतिस्तेनादौतन्निरूप्यते ॥ ७ ॥

कारिकार्थ—तामस में लौकिक मुख्य है। इसलिये इस तामस प्रकरण में काम लीला का स्पष्ट वर्णन है। तामस में जब काम उत्पन्न होता है तब ही प्रीति होती है। इसलिये तामस प्रकरण का पहले वर्णन किया है।

व्याख्यार्थ—भक्ति मार्ग में पुरुषोत्तम स्वरूप ही परमोत्तम मुख्य फल है, अन्य मोक्षादि फल तो पुरुषोत्तम के सम्बन्ध से ही फल माने जाते हैं। भगवान् को पूर्ण निरोध करना है, वह उन भक्तों में हो सकता है, जो स्थिरमति गूढ़ आग्रही हों। जिन जीवों की बुद्धि ऐसी होती है कि जिसको वे एक बार अपना लेते हैं, उसका वे कदापि त्याग नहीं करते; वे होते हैं तामसी बुद्धि वाले। सात्विक बुद्धि वाले शास्त्रीय सिद्धान्त में रुचि वाले होते हैं; उनको जैसा कोई मार्ग बताता है, उसमें उनकी प्रवृत्ति हो जाती है, वे लोग प्रायः अस्थिर (चंचल) विचार वाले होते हैं। राजस गुण वाले विक्षिप्त चित्त वाले होते हैं, जिससे लौकिक तथा अलौकिक में आसक्त होने से उनको स्वरूप विस्मृति हो जाती है। अतः इन दोनों का पूर्ण निरोध उस प्रकार से नहीं हो सकता है जैसा कि तमोगुण वालों का होता है। तमोगुण वालों में लौकिक मुख्य है। व्रज भक्तों में तमोगुण के कारण मूढ़ता थी, इसलिये जिसमें भी उनका आग्रह हो गया उसे उन्होंने कभी छोड़ा नहीं। लौकिक में भी यही सर्वत्र देखा जाता है। व्रजवासियों का प्रकट पूर्णानन्द श्रीकृष्ण स्वरूप में ऐसा दृढ़ स्नेह हो गया था, जो वे उस स्वरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहते थे। उन्होंने भगवान के उपदिष्ट धर्म एवं उद्धव के द्वारा मिले हुए ब्रह्मज्ञान को भी तिलांजलि दे दी।[2] इन कारणों से सर्वात्मभाव से पूर्ण निरोध इन व्रजभक्तों को ही सिद्ध हुआ है। इसलिये पुष्टिमार्ग की गति, मर्यादा मार्ग से विपरीत है। इसको समझाने के लिये ही इस प्रकरण को

१—आजकल के हमारे भाई 'मनोविज्ञान' के अनुकूल शिक्षार्थी को शिक्षा देने की परिपाटी को नवीन पश्चिम से आई हुई समझते हैं; किन्तु यह परिपाटी प्राचीन भारतीय है। इस कारिका एवं भगवत् लीला से यह सिद्ध होता है।

२—इस भाव का प्रदर्शन निम्नलिखित सवैये में स्वयं एक व्रजभक्त करतीं हैं :

ऊधो योग सिखावत हो, हम एक ही रंग रंगी रंग डोरो ।
ओर को नाम कदापि कढ़े तो हलाहल में रसना गह बोरों ।
कवि ठाकुर एक ही टेक को, जानत हैं व्रजवासी सुभाव है भोरो ।
ऊधो ये अंखियां जर जाँय, जो सांवरो छांड तके रंग गोरो ।

तामस प्रकरण कहते हैं। वास्तव में तो यह प्रकरण निर्गुण ही है। 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्राय: श्रेयो भवेदिह' इति भगवद्वाक्यात्। इस भक्ति मार्ग में ज्ञान एवं वैराग्य भी श्रेय देने वाली नहीं हैं क्योंकि ऐसे भक्त तो भगवत्स्वरूपानन्द के अतिरिक्त नरक, स्वर्ग एवं मोक्ष को भी एक समान समझते हैं। इसलिये यह भक्ति, ज्ञानादि सर्व मार्गों से उच्च कोटि की मानी जाती है। भगवान् में ही एकनिष्ठ विशुद्ध भाव वाले भक्त ही सब से उत्तम हैं, यह शास्त्रसिद्ध सिद्धान्त है। प्रेमस्वरूप परमात्मा में प्रेम भाव ही लौकिक है; यह तामस प्रकरण में मुख्य, जैसा कि कहा है कि 'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यागमन् प्रथाम्' गोपियों का प्रेम ही लोक में काम नाम से प्रसिद्ध हुआ।

व्रज भक्तों ने ब्रह्म को सर्व व्यापक, सर्व का अन्तरात्मा जान कर भी, उसके उस स्वरूप से बाहर प्रकट स्वरूप व्रजविहारी श्याम को ही अपना विशेष प्रेमास्पद बनाया और वे उस निश्चय से रञ्च मात्र भी न हटे।

मर्यादा मार्ग से इस पुष्टि भक्ति मार्ग की विशेषता यह है कि जो "काम" मर्यादा मार्ग में मुक्ति का प्रतिबन्धक[1] है, वही "काम" यहाँ गणित ब्रह्मानन्द से विशेष, अगणित आनन्द रूप, अन्तिम फल का दाता है। इस विषय में असम्भावना नहीं समझनी चाहिये क्योंकि आगे लीला से यह स्पष्ट सिद्ध होगा।

मर्यादा मार्ग में, मर्यादा, भक्ति अथवा ज्ञान से, भगवान् का प्राकटय होता है। पुष्टि भक्ति में, 'काम' से, अर्थात् प्रभु प्राप्ति की आन्तरिक अनवच्छिन्न[2] चाह से भक्त में दीनता आती है, जिस दीनता से प्रभु प्रकट होते हैं। उस स्वयं प्रकट आनन्द स्वरूप में, भक्त का गाढ़ स्नेह होता है न कि मर्यादानुसारी स्नेह होता है। इस प्रकरण में भगवान् ने नि:साधन दीन भक्तों को, वह भजनान्द दिया, जो साधनों से अप्राप्य एवं ब्रह्मादिकों को भी दुर्लभ है। भगवान् ने व्रज-भक्तों की अधीनता स्वीकार की किन्तु स्वयं भगवान् में भी भक्तों के लिये काम या चाहना होती है। इसी प्रकार भक्त एवं भगवान् दोनों में परस्पर मिलने की चाह से दोनों में गाढ़ स्नेह उत्पन्न होता है। उस उत्पन्न अलौकिक स्नेह से ही लीलाएँ हुई हैं।

कारिका—**बाललीला मध्यलीला प्रौढलीला तथैव च।**
कामलीलेति लोकेवै चतस्रः सुखदाः स्मृताः ॥ ८ ॥

कारिकार्थ—लोक में निश्चय से चार प्रकार की लीलाएँ (बाल लीला, मध्य लीला, प्रौढ लीला और काम लीला) सुख देने वाली होती है।

१—रुकावट डालने वाला। २—लगातार।

व्याख्यार्थ--तामस प्रकरण में चार अवान्तर प्रकरण हैं, जिनके नाम 'प्रमाण', 'प्रमेय', 'साधन' और 'फल' हैं। इस श्लोक में जिस प्रकरण में जो जो लीला की है, वह बतलाते हैं। पहले प्रमाण प्रकरण में बाललीला की है। दूसरे प्रमेय प्रकरण में मध्य लीला (पौगन्ड्र[1]), तीसरे साधन प्रकरण में प्रौढ़ लीला और चौथे प्रकरण में कामलीला (कलात्मक लीला) की हैं। ये भगवान् की चारों लीलाएँ भक्तों को सुख देने वाली हैं।

कारिका—**एकं भगवतः कार्यं बह्वर्थानां च साधकम् ।**
प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा तदासक्तिश्च वर्ण्यते ॥ ९ ॥

कारिकार्थ—भगवान् की एक लीला बहुत अर्थों (कार्यों) को सिद्ध करती है। समग्र प्रपञ्च की विस्मृति[2] और भगवान् में पूर्ण आसक्ति का वर्णन है।

व्याख्यार्थ--उपर्युक्त बाल, मध्य, प्रौढ एवं कामलीला चारों लीलाएँ भगवान् ने मनुष्य रूप तथा लौकिक रीति से दिखाई हैं। तब भगवान् को मनुष्य समझने से उनका निरोध कैसे सिद्ध हुवा होगा ? इस शंका की निवृत्ति इस कारिका से करते हैं कि भगवान् की एक लीला बहुत कार्य सिद्ध करती है। जैसे कि पूतना के दूध को पीते हुए उसके प्राण लेने की एक ही लीला से अनेक कार्य सिद्ध किये:—

(१) अपना वीर्य प्रकट किया, (२) पूतना की मुक्ति, (३) लोक और वेद में अपने प्रमेय बल की विशेषता, (४) पूतना ने जिन बालकों का भक्षण किया था उनका उद्धार, (५) दूसरों (बचे हुए बालकों) की रक्षा, (६) माहात्म्य ज्ञान से व्रज वासियों का श्रीकृष्ण में स्नेह होना, (७) लीला सुनने से विस्मय आदि अनेक कार्य हुए। वैसे ही अन्य लीलाओं से भी अनेक कार्य हुए।

कारिका—**येनैव त्रिविधा भवता न स्मरन्ति जगत् क्वचित् ।**
कृष्णे च सन्नतात्मानस्तत्कार्यं भगवत्कृतम् ॥ १० ॥

कारिकार्थ--प्रपञ्च की विस्मृति और भगवदासक्ति के कारण ही तीनों प्रकार के भक्त कभी भी जगत् का स्मरण नहीं करते हैं और सर्वदा कृष्ण में ही मन वाले (यह समझ कर) होते हैं कि यह कार्य भगवान् ने किया है।

१—पाँच वर्ष से ग्यारह वर्ष की आयु में की हुई लीला।

२—भूल जाना।

व्याख्यार्थ—बलदेवजी ने भी लीलाएँ की हैं तो इससे सब चरित्र श्रीकृष्ण चरित्र कैसे माना जाय ? इसके उत्तार में कहते हैं कि फलितार्थ से जाना जाता है कि सम्पूर्ण लीलाएँ भगवान् की ही हुई हैं। इसलिये सब भक्त श्रीकृष्ण स्वरूप में ही नतात्मा (आसक्त) हैं। बलदेव चरित्र भी पुरुषोत्तम का ही चरित्र है। क्योंकि वे लीलाएँ श्रीकृष्ण स्वरूपाविष्ट बलदेवजी ने की हैं। अर्थात् वे लीलाएँ, उन बलदेवजी ने की हैं, जिनमें भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप प्रवेश कर चुका था, न कि केवल बलरामजी ने की हैं। इसलिये, मुख्य स्वरूप लीलाकर्ता, श्रीकृष्ण ही थे; अतः सबों का निरोधादि श्रीकृष्ण में ही हुआ है। इसीलिये ब्रह्माजी ने कहा है कि 'बल, पार्थ, भीष्म व्याजाहूयेन' अर्थात् बलराम, अर्जुन, भीष्मादिक के तो केवल नाम मात्र हैं वास्तव में सब कुछ आपने हो किया है।

कारिका—**बाल लीला सप्तविधा प्रथमं सा निरूप्यते ।**
बालभाव रता ये हि तेषां रोधस्ततो भवेत् ॥ ११ ॥

कारिकार्थ—सात प्रकार की बाललीला है। बाल भाव के प्रेमी भक्तों का बाललीला से निरोध होता है। इसलिये प्रथम उसका निरूपण है।

व्याख्यार्थ—तामस प्रकरण में बाल लीला का वर्णन प्रमाण उप-प्रकरण के सात अध्यायों में किया गया है। सात अध्याय इसलिये हैं कि भगवान् ने बाललीला सात प्रकार से करके, जो जो भक्त जिस जिस बाल भाव का प्रेमी था उसका उस उस लीला द्वारा निरोध सिद्ध किया है।

कारिकाएँ—**उत्सवाविष्ट चित्ता ये ह्याश्चर्याभिनिवेशिनः ।**
अलौकिकरता ये च ये चोपद्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥
स्त्रीस्वभावरता ये वै ये च तत्त्वे च लौकिके ।
सर्वोद्योगपरा ये च तेषां रोधो निरूप्यते ॥ १३ ॥
जन्मोत्सवो हरेरत्र पञ्चमे विनिरूप्यते ।
आवश्यकं परित्यज्य कृतं तदिति चोच्यते ॥ १४ ॥
अन्यथा ज्ञानशङ्काच तैनैव विनिवार्यते ।
उत्सवस्त्वन्यथा न स्यात् द्रव्यानयनमेव च ॥ १५ ॥
आसक्ति बोधनार्थाय तस्यान्ते भयवर्णनम् ॥ १५½ ॥

कारिकार्थ—(१) उत्सव में आविष्ट चित्तवाले, (२) आश्चर्ययुक्त मन वाले,

(३) अलौकिक के प्रेमी, (४) उपद्रव देखने की इच्छा रखने वाले, (५) स्त्री स्वभाव वाले, (६) लौकिकत्व के चाहने वाले, (७) सर्व प्रकार के उद्यमशील। इन सात प्रकार के भक्तों के निरोध का वर्णन किया है।

पाँचवे अध्याय में भगवान् के प्रकट होने के उत्सव का वर्णन किया गया है, वह उत्सव नन्दरायजी ने आवश्यक कार्य छोड़ कर किया है।

इससे अर्थात् आवश्यक कार्य जन्मोत्सव करने से हो अन्यथा ज्ञान की शङ्का (यह बालक दूसरे का पुत्र है) को मिटाया गया है। यदि यह शंका न मिटी होती तो उत्सव होता ही नहीं और न भगवान् के उत्सव के लिये इतने उत्तम सामान मंगाये जाते।

नन्दरायजी की आसक्ति को जताने के लिये राजा कंस को कर[1] देने के बाद भय का वर्णन है।

व्याख्यार्थ--तामस प्रकरण के प्रथम 'प्रमाण अवान्तर प्रकरण' में सात अध्याय इसीलिये हैं कि इसमें की हुई बाल लीला के अधिकारी सात प्रकार के हैं! उन सात प्रकार के अधिकारियों के स्वभाव का वर्णन बारहवें तथा तेरहवें श्लोक में करते हैं।

भगवान् में आसक्त चित्त वाले भक्तों के हृदय में भगवान् के सम्बन्ध मात्र से सकल लीलाएँ स्फुरित हो जाती हैं।

पांचवे अध्याय में नन्दरायजी द्वारा किये हुए भगवान् के प्रकट होने के उत्सव से 'उत्सव' में आविष्ट[2] चित्त वाले भक्तों का निरोध सिद्ध हुआ।

छठे अध्याय में हरि के शरण जाने से ही भय-निवृत्ति हो सकती है, ऐसा बताने वाली लोला ही तत्त्व है तथा अनधिकारी जीव की मुक्ति से 'प्रमेय बल का तत्वपना बताया गया है। नारदोक्ति के द्वारा लोक तत्व जताया है इत्यादि। लौकिक एवं परमार्थ तत्वों की लीला से शरणागत हीन तत्व से प्रेमी भक्तों का निरोध सिद्ध किया गया है।

सातवें अध्याय के 'शकटभञ्जनादि' लीला से भगवान् ने आश्चर्ययुक्त मन वाले, भक्तों का निरोध सिद्ध किया है।

आठवें अध्याय में, भगवान् पुरुषोत्तम के, गर्गजी से कहे गए, कृष्ण वासुदेव आदि नामों को, अलौकिक ही समझने वाले प्रेमी भक्त का, रिंगण लीला भी, दैत्यनाशपूर्वक भक्तों का, इष्ट साधन वाली अलौकिक है। यों समझने वाले, आश्चर्ययुक्त प्रेमी भक्तों का, लोक में निन्दित,

---

१—मालगुजारी। २—लगे हुए।

चौर्य[1], मृत्स्ना भक्षण,[2], मुखारविन्द में विश्वदर्शन आदि लीलाओं के अलौकिकत्व से आश्चर्य-चकित भक्तों का निरोध सिद्ध किया है ।

नवम् अध्याय में दधिभाण्डादि[3] तोड़ने के उपद्रवों[4] को भी अलौकिक समझने वाले उपद्रव-प्रिय भक्तों का निरोध सिद्ध किया है । दशवें अध्याय में नलकूबर, मणिग्रीव की लीला से, स्त्रीभाव (राजस और तामस भाव) में, प्रेम वाले (स्त्री स्वभाव-रत) भक्तों का निरोध सिद्ध किया गया है ।

सात प्रकार की लीलाओं से इस तरह सात अध्यायों में सात प्रकार के अधिकारियों का निरोध सिद्ध किया गया है ।

तामस - प्रकरणांतरगत

प्रमाण – प्रकरण

प्रथम अध्याय

श्री शुक उवाच

श्लोक—**नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताल्हादो महामनाः ।**
आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलङ्कृतः ॥ १ ॥
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै ।
कारयामास विधिवत् पितृदेवार्चनं तथा ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि नन्दरायजी पुत्र जन्म होने पर, अत्यन्त प्रसन्न हुए और पुत्र का जातकर्म संस्कार कराने लगे । पहले स्वयं स्नान से

१—चोरी करना । २—मिट्टी खाना । ३—दही के बर्तन आदि । ४—झगड़ों ।

पवित्र होकर एवं अनेक प्रकार के आभूषण पहन कर तैयार हुए। तत्पश्चात् उदारमन से निमन्त्रण देकर, बुलाये गए वेद जानने वाले ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन पढ़वा कर, पुत्र का जात कर्म संस्कार तथा पितर और देवताओं का विधिवत् पूजन कराया।

सुबोधिनी— पूर्व "यशोदाशयने सुतं निधाय तत्सुतामादाय गृहानगा" दित्युक्तं, "जातं परमबुध्यत" इति च, ततो मायायां निर्गतायां यशोदा प्रबुद्धा पुत्रं ज्ञातवती, ततः सर्वेषु यदासीत् तदाह **नन्दस्त्वात्मज** इति, पितुः पुत्रः, अतो **नन्दो जातकर्म कारयामासे**तिसम्बन्धः,तुशब्दः पूर्वकथां व्यावर्तयति शङ्कां चयवावर्तयति, तदाह **आत्मज उत्पन्न** इति, यस्य यथा प्रतीतिस्तथैव शुकेनानूद्यते, भगवता तथैव तेषां बुद्धेः सम्पादनात्, अन्यथा तद् भगवच्चरित्रं न स्यात्, अत आत्मनः सकाशाज्जातः पुत्र एवायमिति नन्दस्य बुद्धिः, तदाह **आत्मज उत्पन्न** इति, वासुदेवोत्रैवाविर्भूत इतिसिद्धान्तः, अन्यथा केवलमायाजनितं स्तन्यं भगवान् न पिबेत् सिद्धवत्कारेण च शुको न वदेत्, अन्तःकरणप्रतीत्यापि पुत्रोयमितिनिश्चयार्थमाह **जाताल्हाद** इति, यद्यपि पुत्रजन्मज्ञान एवाह्लादस्तथाप्यन्यथाज्ञानमपि भवेदिति तद्व्यावृत्त्यर्थं जन्मैव निमित्तत्वेनोक्तं, रूपान्तरेपि स्वीकृतेनुभावोवर्जनीयो भवत्येव, अतः प्राकृतोपि **नन्दो महामना जातः** प्राकृतानामल्पमेव मनो भवत्यल्पकार्यंकारि, महत् महत्कार्यंकारि मनो यस्य महान्तमुत्सवं करिष्यामीति, सोपि विधिपूर्वकं कर्तव्य इति ब्राह्मणाकारणं कृतवानित्याहाहूयेति, विशेषेण प्रान्तीति तेषां पूरकत्वमुक्तं, अन्यथार्थनाशकत्वेन ते निन्दिताः स्युः,उत्सवे तेषामाकारणे हेतुमाह **वेदज्ञा**निति, "यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ती" तिश्रुतेः, सर्वदेवतासान्निध्ये हि महानुत्सवः, तत्र विहितानि कर्माण्याह **स्नात** इत्यादि, स्नानं नैमित्तिकं, सूतकसम्भावनायामाह **शुचि**रिति, अन्यामपि शुद्धि सम्पादितवान्, **अलंकृत** इति, अलंकरणं शुभसूचकं, विशिष्टालंकार उत्सवः सर्वजनीनो भवति ॥ १ ॥ सर्वकर्मस्वादौ **स्वस्तिवाचनं, जातकर्मे**ति कर्मनामधेयं, क्षत्रियवैश्ययोरन्यद्वारा कारणं, **विधिः** पुरोहितशाखानुसारेण, आत्मजस्येति पुत्रे यो विधिः, **भगवान्** स्वस्मिन् पुत्रत्वं प्रकटितवानिति वैदिककर्मणां सार्थकत्वं गार्भिकबैजिकदोषाभावकीर्तनं च तथैव, नैमित्तिको वात्मसंस्कारपक्षः, भगवच्चरित्रमेवेदमितिसिद्धान्तः, **पितृदेवार्चनं** नान्दीश्राद्धं,तथा विधानपूर्वकं युगलेन संस्कारनिरूपणं प्रवृत्तिमार्गनिष्ठत्वाय ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ---वसुदेवजी यशोदाजी की शय्या पर अपने पुत्र को विराजमान कर उनकी कन्या को लेकर घर गए। पहले यशोदाजी ने जाना कि मेरे कुछ उत्पन्न हुआ है। इसके अनन्तर माया के जाने पर यशोदा जागी और उनको पता चला कि मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ है। ऐसा जानने पर जो कुछ हुआ वह 'नन्दस्त्वात्मज' से शुकदेवजी वर्णन करते हैं।

पुत्र वह है जो पिता से उत्पन्न होकर उसको 'पुन्नाम' नरक से बचावे। यह पुत्र नन्दजी से उत्पन्न हुआ है इसीसे पुत्र होने के कारण नन्दजी उसका जात-कर्म संस्कार कराने लगे। मूल श्लोक में जो 'तु' शब्द दिया है वह पूर्व कथा अर्थात् वसुदेवजी के गृह की कथा से उसका भेद दिखलाता है। इसीलिये यह कहा गया है कि 'नन्दस्त्वात्मज' इति। यह बालक मेरी आत्मा से उत्पन्न होने से मेरा पुत्र है। जिसको जैसी प्रतीति[1] होती है शुकदेवजी वैसा ही कहते हैं; क्योंकि भगवान् ने उनकी बुद्धि वैसी ही बना दी है। यदि भगवान् ऐसी बुद्धि न बनाते, तो न भगवान्

१—भान।

की लीला ही हो सकती थी और न भगवान् को, जो जो चरित्र करने थे, वे ही हो पाते, इसलिये यह पुत्र मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, ऐसी नन्दजी की बुद्धि हो गई। इसलिये कहा है, कि 'आत्मज उत्पन्न इति' (पुत्र प्रकट हुआ)। वासुदेव (व्यूह) का प्राकटच यहाँ ही हुआ है, यह सिद्धांत है। यदि ऐसा न होता और केवल माया ही प्रकट होती तो, माया के लिये उत्पन्न हुए दूध को, भगवान् कैसे पीते ? अर्थात् नहीं पीते और न निश्चयात्मक रूप से, शुकदेवजी ही ऐसा कहते। अन्तःकरण की प्रतीति से भी, यह मेरा पुत्र है—इस निश्चय को बताने के लिये, नन्दरायजी को अपूर्व आल्हाद (आनन्द) हुआ, जिससे शुकदेवजी ने कहा है कि 'जाता ह्लाद इति'। श्रीनन्दरायजी के आह्लाद का कारण, पुत्र जन्म ही था। क्योंकि यह कहा गया है कि, नन्दरायजी को अन्यथा ज्ञान नहीं था कि यह पुत्र कहीं से आया है या किसी से सुना है कि तुम्हारे पुत्र हुआ है; किन्तु उनको सच्चा और पक्का ज्ञान था कि मेरी आत्मा से ही यह पुत्र उत्पन्न हुआ है। इस दृढ सत्य (निश्चयात्मक बुद्धि) के कारण, आह्लाद होते ही, प्राकृत (सामान्य गांव वाले) नन्दजी भी महामना, अर्थात् बड़े उदार मन वाले हो गये। ग्रामवासियों का मन अल्प[1] होता है, इसलिये वे सब कार्य अल्प[1] ही करते हैं, किन्तु श्री नन्दरायजी ने बड़े मन से महोत्सव की तैयारी की। वह महोत्सव केवल लौकिक रीति से ही नहीं मनाया; किन्तु शास्त्र विधि के अनुसार कार्य करने के लिये वेदों को जानने वाले विप्रों (ब्रह्मर्षियों) को बुलाया, जिससे कार्य व्यर्थ और निन्दित न हो। वेद जानने वालों को इसीलिये बुलाया गया कि उन ब्राह्मणों में सब देवता रहते हैं। सर्व देवताओं के सान्निध्य में ही महान् उत्सव होते हैं। उत्सव में वेद और लोक के अनुसार सब कर्तव्य किये। 'स्वतः' स्नान कर देह की शुद्धि की। जनना-शौच में वैदिक कर्म कैसे किया, इस शङ्का के निवारण के लिये कहते हैं कि वे 'शुचिः' (पवित्र) हुए। आप तो शुद्ध हुए ही किन्तु दूसरी भी शुद्धि करने लगे। उत्सवादि शुभ कार्यों में अलङ्कार अवश्य पहनने चाहियें, इसलिये 'अलंकृत' कहा है। यदि उत्सवकर्ता अलङ्कार न पहने तो उत्सव की शोभा ही न हो। इसलिये कहा है कि 'विशिष्टालङ्कार उत्सवः' जब वस्त्र आभूषणादिकों से सब सुसज्जित होते हैं तब वह उत्सव कहा जाता है या समझा जाता है ॥ १ ॥

प्रकाश—१०-५-१—'पितुः पुत्रः'

श्री पुरुषोत्तमजी "प्रकाश" ग्रन्थ में श्री सुबोधिनी में दिये हुए, 'पितुः पुत्रः' शब्द पर प्रकाश डालते हुए आज्ञा करते हैं कि श्री नन्दरायजी अपने पितादि को, 'पुन्नाम' नरक से बचाने के कारण, अपने पिता के पुत्र हैं, अर्थात् पुत्र इसीलिये उत्पन्न किया जाता है कि पितरों का ऋण उस व्यक्ति के सिर से उतरे, तो अब श्री नन्दरायजी भी आत्मज (पुत्र) उत्पन्न करने से, उस पितृ ऋण से उन्मुक्त हुए और समझने लगे कि मेरा भी उद्धार होगा।

शङ्का—शुकदेवजी ने सर्वज्ञ होते हुए भी, अजन्मा भगवान् के लिये 'आत्मज' शब्द कैसे कहा ? इस

---

[1]—छोटा।

सर्व वैदिक कर्मों में पहले 'स्वस्तिवाचन' पढ़ा जाता है। अतः नन्दरायजी ने भी पहले स्वस्तिवाचन पढ़वाया। जन्म के समय किये जाने वाले, वैदिक संस्कार का नाम—'जात कर्म

शङ्का को मिटाने के लिये सुबोधिनी में कहा है, कि श्री शुकदेवजी आत्मविद् भक्तों में श्रेष्ठ होने से, सर्वज्ञ थे; इसलिये यह जानते थे कि भगवान् की यह लीला है कि उन्होंने अपने में नन्दजी की पुत्र बुद्धि करादी है, अतः वे भगवान् को निश्चित रूप से पुत्र ही जानते हैं, इनको ऐसी ही प्रतीति हो रही है। इस कारण से श्री शुकदेवजी ने 'आत्मज' शब्द दिया है।

शंका—अजन्मा भगवान् के लिये, 'उत्पन्न' शब्द, जिसका अर्थ है 'जन्म लिया' क्यों कहा? इस शंका के निवारण के लिये, सुबोधिनी में उत्पन्न शब्द का भावार्थ कहा है कि यह 'शब्द 'वासुदेवोऽत्रैवाविर्भूतः' वासुदेव (व्यूह) यहाँ (नन्दरायजी के गृह में) हुआ अर्थात् शुकदेवजी ने जो 'उत्पन्न' शब्द श्लोक में कहा है वह अजन्मा पुरुषोत्तम के लिये नहीं दिया है, किन्तु वासुदेव व्यूह जो नन्दरायजी के घर में प्रकट हुआ है उसके लिये दिया है।

शंका—"निबन्ध" में, वासुदेव का प्रादुर्भाव वसुदेवजी के हृदय में कहा है, फिर यहाँ (सुबोधिनी में) नन्दरायजी के घर उसका प्राकट्य कैसे कहा गया?

समाधान—इस शंका को मिटाने के लिये, सुबोधिनी में कहते हैं कि यहाँ तो बाहर प्रकट हुए और यदि बाहर प्रकट न होते तो, माया के लिये उत्पन्न दूध को भगवान् कैसे अरोगते? तथा वासुदेव के कार्य-मोक्ष, भक्ति, पद, चरित्र जो व्रज में करने थे, वे कार्य कौन करता? इसलिये वासुदेव यहाँ ही प्रादुर्भूत हुए, यह सिद्धान्त है।

श्लोक में दिये हुए 'शुचिः का भावार्थ बताते हैं कि नालच्छेदन के अनन्तर 'जनना' शौच होता हैं। जात-कर्म, नालच्छेदन से पहिले किया जाता है, इसलिये जात-कर्म करने के समय, 'जनना' शौच न होने से नन्दरायजी पवित्र थे अर्थात् उनको 'जनना' शौच नहीं था।

योजना—१०-५-१ 'पितुः पुत्रः' का आशय देते हुए लालूभट्टजी लिखते हैं कि मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह के समान यहाँ भगवान् का प्राकट्य नहीं हुआ किन्तु नन्द के पुत्र बनकर हुआ है। नन्दजी को भगवान् के पिता होने के नाते से उनका जात-कर्म कराना योग्य ही था इसलिये कहा है कि 'पितुः पुत्रः'।

शंका—भगवान् में नन्दजी की पुत्रत्व बुद्धि वास्तविक नहीं थी तो की हुई लीलाएँ भी वास्तविक नहीं होंगी?

समाधान—इसके उत्तर में नन्दजी की पुत्रत्व बुद्धि का आशय बताते है कि उनकी पुत्रत्व बुद्धि, मायिकी (झूठी) नहीं थी और न लीलाएँ ही मायिकी थीं, किन्तु नन्दजी का यह समझना कि यह मेरा पुत्र मेरी देह से लौकिक पुत्रवत् उत्पन्न हुआ है, ऐसी जो नन्दजी की बुद्धि थी वह भ्रान्त (झूठी) थी। शेष पुत्रत्व बुद्धि सत्य थी, क्योंकि भगवान् वहाँ अलौकिक रीति से प्रकट तो हुए ही थे और पुत्र भाव से, रमण के लिये उन्होंने श्री नन्दरायजी के हृदय में, अपने में पुत्र भाव की बुद्धि उत्पन्न करदी थी।

लेख—१०-५-१—लेखकार श्री वल्लभलालजी महाराज।

'तु शब्दः पूर्व कथां व्यवर्तयति शङ्कां च व्यावर्तयति' इस सुबोधिनीजी की पंक्ति का भावार्थ स्पष्ट करते हैं।

शंका—जैसे वसुदेवजी ने जात-कर्म न कराके स्तुति ही की थी, वैसे ही यहाँ नन्दरायजी को भी स्तुति

संस्कार' है तथा क्षत्रिय व वैश्यों का यह वैदिक कर्म अन्य (ब्राह्मण) द्वारा होता है। कर्म (संस्कार) की विधि उनके पुरोहित की शाखानुसार होती है। उत्पन्न हुए पुत्र का विध्यनुसार संस्कार हुआ क्योंकि भगवान् ने अपने में पुत्र भाव प्रकट किया था, इसलिये वैदिक कर्म की सार्थकता एव गार्भिक बैजिक दोषों का भी, अभाव हुआ। यह जात कर्म संस्कार, नैमित्तिक था। वास्तव में यह सब भगवान् की लीला ही थी। यह सिद्धान्त है कि पितृदेवार्चन का तात्पर्य "नान्दी" श्राद्ध है। नन्दरायजी एवं यशोदाजी ने मिलकर शास्त्रानुसार यह जात कर्म, प्रवृत्ति मार्ग (वैदिक मार्ग) में अपनी निष्ठा दिखाने के लिये किया ॥ २ ॥

ही करनी चाहिये थी न कि जात-कर्म और यह अलौकिक बालक है, वसुदेवजी के आने की सम्भावना से, यह मेरा पुत्र है या नहीं, ऐसी शंका होती तो, जात-कर्म में नन्दजी की प्रवृत्ति नहीं होती।

समाधान—इन दोनों विचारों के निवारण के लिये 'तु' शब्द की व्याख्या 'पूर्वकथां'—'वसुदेववत् स्तुति कथां कीदृशोऽयं बाल इति शंकां व्यावर्तयति'—वसुदेवजी के समान स्तुति, कथा और यह कैसा अद्भुत रूप बालक है, इसका निवारण करते हैं। वसुदेवजी के वहाँ तो भगवान् ने पूर्व जन्म स्मरणार्थ, चतुर्भुज रूप से दर्शन दिये थे इसलिये वहाँ पर वसुदेवजी ने स्तुति की; परन्तु यहाँ (नन्दजी के गृह में) तो लौकिक बालवत् दर्शन देने से पूर्व कथा से इसकी पृथकता दिखा दी और नाल सहित बालक रूप में दर्शन देने से अलौकिकता की शंका भी मिटा दी।

लेख—१०-५-१—श्री सुबोधिनीजी का 'केवल माया जनितं स्तन्यं भगवान् न पिबेत' इस पंक्ति का भावार्थ बताते हैं कि—

यशोदाजी के स्तन्य पान का कारण अन्तःस्थित बालकों का पोषण है। यदि मात्र, माया जनित स्तन्य होता तो, वे बालक मुग्ध होने से, लीला रस पान नहीं कर सकते थे इसलिये माया के दोष की निवृत्ति के लिये, 'वासुदेव' का सम्बन्ध यहाँ आवश्यक था। यदि मात्र 'वासुदेव' जनित स्तन्य होता तो, बालक मुक्त हो जाते, तो भी लीला रस ले नहीं सकते थे। इसलिये 'केवल' शब्द देकर समझाया है कि, 'माया' और 'वासुदेव' दोनों साथ थे, दोनों का प्राकट्य नन्दरायजी के यहाँ हुआ है। ऐसे स्तन्य पान से, बालक न मुग्ध हुए और न मुक्त हुए परन्तु स्तन्य से पुष्ट होकर लीला-रस पान करने लगे।

प्रकाश—१०-५-२—गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज सुबोधिनीजी में दिये हुए 'सार्थकत्वं' का आशय बताते हैं कि—

यदि भगवत्प्राकट्य पर, जात कर्म वेद विधि-पूर्वक न होता तो 'सर्ववेदाः यत्पदम' यह श्रुति सार्थक न होती, अर्थात् कुपित होती इसलिये नन्दजी ने कर्म द्वारा श्रुति की सार्थकता सिद्ध की। यों तो अजन्मा भगवान् किसी के आत्मज नहीं होते हैं किन्तु लीला के कारण ही, भगवान् ने नन्दरायजी के मन में, अपने में, पुत्र की भावना को उत्पन्न की है।

शंका—यदि भगवान् में, गर्भ और बीजादि, दोष मिटाने के लिये, संस्कार किया यों मानेंगे तो, पहले, जो उनका अलौकिक स्वरूप और प्राकट्य माना गया है, उसका विरोध होगा और भगवान् में गर्भादि दोष मानना, ये शब्द कानों को कडुए लगते हैं। इस शंका को मिटाने के लिये 'नैमित्तिकः' शब्द सुबोधिनीजी में दिया है, जिसका भावार्थ, श्री पुरुषोत्तमजी खोलकर बताते हैं कि यह जात-कर्म संस्कार गर्भादि दोषों के मिटाने के लिये नहीं किया गया था, किन्तु प्राकट्य के निमित्त किया गया था। भगवान् में तो गर्भादि दोष लेश मात्र भी नहीं है। केवल नन्दरायजी को पुत्र भाव स्थिर कराने के लिये ऐसी प्रतीति हुई है।

श्लोक––धेनूनां नियुते प्रादाद् विप्रेभ्य समलंकृते ।
तिलाद्रीन् सप्त रत्नौघान् शातकौम्भाम्बरावृतान् ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ––ब्राह्मणों को अलंकृत दो लाख गौ और रत्न समूह सहित जरी के वस्त्रों से वेष्टित सात तिलों के पर्वत दिये ।

सुबोधिनी—'महामना' इतिविशेषणस्य कृत्यमाह धेनूनामिति, नियुतं लक्षं, लक्षद्वयमपि प्रत्येकमलङ्कृतं, भगवत्सान्निध्याद् द्रव्यक्रियाणां न परिक्षयः, विप्रेभ्य इति समुदायेन दानं, सङ्कल्पमात्रव्यावृत्त्यर्थमाह प्रादादिति, विशेषेण पूरकत्वान्नास्यापि परिक्षयः, तिलाद्रीनिति तिल पर्वतान्, रत्नौघानिति पृथक्, रत्नानामोघः समूहो येष्विति वा, शातकौम्भेन सुवर्णेनाम्बरैश्चावृतान्, अन्नेषु तिला मुख्याः "गावौ हिरण्यं वासांसि तिला रत्नानि चेति" पञ्चानां दानं, सर्वाण्येव सर्वदैवत्यानि ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ—नन्दरायजी के महामना होने से उनने जो कुछ उदारता से किया वह बताते हैं । अलंकृत दो लाख गौ देने का केवल सङ्कल्प नहीं किया, किन्तु दे दी । इसे बताने के लिये श्लोक में 'प्रादात्' शब्द दिया है । भगवत् सान्निध्य होने के कारण द्रव्य एवं क्रियाओं में कमी नहीं हुई । विप्रों (विशेष रीति से पूरक होने से) के कारण गोधन की भी कमी न हुई । गौ के अतिरिक्त रत्नों के समूह, सोने और वस्त्रों से आवृत तिल के पर्वतों का दान किया । अन्नों में तिल मुख्य है । 'गौ, हिरण्य, वस्त्र, तिल, रत्न' इन पाँचों का दान किया । ये सब देव सम्बन्धी हैं ॥ ३ ॥

श्लोक––कालेन स्नानशौचाभ्यां संस्कारैस्तपसेज्यया ।
शुध्यन्ति दानैः सन्तुष्ट्या द्रव्याण्यात्मात्मविद्यया ॥ ४ ॥

शंका—यदि ऐसा माना जायगा तो कर्मों की सार्थकता हुई माननी पड़ेगी ।

समाधान—यह सब भगवच्चरित्र है । यह सब भगवान् ने अपनी माया अर्थात् इच्छा से किया है । नहीं तो परमार्थ स्वरूप भगवान् में वैदिक मर्यादादि की कौनसी आवश्यकता है ?

लेख—१०-५-२

लेखकार श्री सुबोधिनीजी के 'भगवच्चरित्र' में 'वेद मिति सिद्धान्तः' इसका भाव बताते हैं कि यद्यपि भगवान् में गार्भिकादि (गर्भ और बीज से होने वाले) कोई दोष नहीं, जन्म निमित्त है जात-कर्म संस्कार हुआ, किन्तु उन दोषों के न होते हुए भी उन गार्भिकादि दोषों के अभाव के लिये किया हुआ संस्कार भी, एक प्रकार से भगवत्सेवा ही है । ऐसा करने से बाल रूपी भगवान् को प्रसन्नता होगी । जैसे पुष्पादि समर्पण के उपचारों से भगवान् को आनन्द आता है वैसे ही इससे भी आनन्द प्राप्त हुआ । इस विषय की विशेष जानकारी पूतना प्रसंग की टिप्पणी में देखिये ॥ २ ॥

लेख १०-५-३—'द्रव्य क्रियाणां' इसका आशय बताते हुए लिखते हैं कि 'द्रव्य' सुवर्णादि पदार्थ और गौओं के सजाने की क्रिया में कमी आई नहीं । एक ही गौ को सजाने में सब गौ सज गई । एक एक को सजाने में समय बहुत लगता ।

श्लोकार्थ--काल, स्नान, शौच, संस्कार, तप और यज्ञ से प्राणी शुद्ध होते हैं। दान से द्रव्य और संतोष से अन्तःकरण तथा आत्म (ब्रह्म) विद्या से आत्मा (जीव) की शुद्धि होती है।

सुबोधिनी—बहु दत्तमितिशङ्कां वारयितुं तस्य ततोपि बह्वस्तीति वदञ् छुद्धयर्थमपि तेनैतावद् दातव्यं भवतीति वदन् समानैरन्यैः कालादिभिः सह द्रव्यं निरूपयति **कालेनेति**, **कालादिना** प्राणिनः सर्वे शुध्यन्ति, नव शोधकानि, तत्र कालो मुख्यः सर्वं कालोद्भवमिति, उत्पन्नः पुत्रः शतं वर्षाणि जीवति, तत्र दश दिनानि षट्त्रिंशच्छतानामेको भागो भवति, सम्पूर्णे काले तावान् कालस्त्वशुद्धः, एवं द्रव्याण्यपि ज्ञातव्यानि, जननादौ **कालेनैव** शुद्धिर्न स्नानादिना, वंशशुद्धिजनकः **कालः**, **स्नानं** सम्पूर्णदेहशोधकं, **शौचमे**कदेशस्य, लौकिकव्यवहारार्थं त्रिधेयं शुद्धिः, अदृष्टाद्युत्पत्त्यर्थं त्रिधा शुद्धिमाह, **संस्कारै**र्जातकर्मादिभिर्देहो वैदिककर्मार्थं संस्कृतो भवति, एतेषां भूतसंस्कारकत्वमेव, **तपस्त्व**न्तःकरणशोधकं, अदृष्टोत्पत्तिद्वारेति केचित, **इज्या** यागः, तेन भगवान् सन्तुष्यति, एवमाधिभौतिकस्याध्यात्मिकस्याधिदैविकस्य संस्कारकाणि त्रीणि निरूपितानि, एवं षड्विधैरपि सर्वे शुध्यन्ति, बहिर्शुद्धिमाह **दानैरिती**,**दानैर्द्रव्याणि शुध्यन्ति**, दानव्यतिरेकेण द्रव्याणां न शुद्धिः, वित्तानुसारेण च दानं, अतो लक्षद्वयदानं गवां शुद्धयर्थमेव, अल्पानि प्राप्तानि **सन्तुष्ट्यैव** शुध्यन्ति, अतो द्रव्यशुद्धौ द्वयमुक्तं, **आत्मा** तु जीवः, **आत्मविद्ययैव** शुध्यति "सोहमस्मी" त्यादिरूपया ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—नन्दरायजी ने बहुत दान दिया। इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि इनके इतना दान देने के अनन्तर भी अभी बहुत है। यह बताने के लिये कहते हैं कि शुद्धि के लिये भी इनको (नन्दजी को) इतना देना चाहिये। यह बताते हुए दूसरों के समान कालादि के साथ द्रव्य (पदार्थ) निरूपण करते हैं। 'कालेनेति' कालादि से प्राणी और सब शुद्ध होते हैं। नौ पदार्थ शुद्धि करने वाले हैं। उनमें काल मुख्य है, क्योंकि सब काल द्वारा उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न हुआ पुत्र सौ वर्ष तक जीता है, अर्थात् शास्त्र मनुष्य की आयु सौ वर्ष बताते हैं। सौ वर्ष के प्रत्येक छत्तीस सौ दिनों पर एक भाग अर्थात् एक दिन अशुद्ध माना गया है। इस प्रकार सारी आयु में दस दिन का काल अशुद्ध गिना जाता है, इसी प्रकार द्रव्यों का भी भाग अशुद्ध होता है। इन सब की अशुद्धि कैसे मिटाई जा सकती है उसको बताते हैं। जनना-शौच की शुद्धि स्नान मात्र से नहीं, किन्तु काल से होती है। वंश की शुद्धि काल करता है। सम्पूर्ण देह की शुद्धि स्नान से होती है और शौच से एक अंग की शुद्धि होती है। लौकिक व्यवहार के लिये, यह तीन प्रकार की शुद्धि कही। अब अदृष्ट आदिक से हुई अशुद्धि भी तीन प्रकार से मिटाई जाती है—(१) जातकर्मादि संस्कारों से गर्भादि दोष युक्त देह शुद्ध हो, वैदिक कर्म के योग्य बनता है। इनको भूत संस्कारत्व कहते हैं। (२) तपस्या से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। कितने ही अदृष्टोत्पत्ति द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि कहते हैं। (३) यज्ञ से भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक के तीन संस्कार (शुद्धि) बताये। इसी प्रकार छः प्रकार से सब अन्तःशुद्धि कही। अब बाहिर की शुद्धि बताते हैं। दान से द्रव्य शुद्ध होता है (दान के बिना दूसरी प्रकार से द्रव्य की शुद्धि नहीं होती है), अपने वित्त के अनुसार ही दान होता है, इसीलिये गौ की शुद्धि के लिये

ही नन्दजी ने दो लाख गौ दान की। जो कुछ थोड़ा सा प्राप्त हो, तो उसकी शुद्धि सन्तोष से होती है। द्रव्य की शुद्धि के लिये दान और सन्तोष दो बताये हैं। 'आत्मा' (जीव) तो ब्रह्म विद्या से 'सोऽहमस्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के ज्ञान से जीव शुद्ध होता है, अर्थात् अविद्या मिटाने से स्वरूप को समझ अपने कर्त्तव्य के योग्य होता है।

महामना नन्दरायजी, आनन्द पूर्वक उत्साह से पुत्र जन्म महोत्सव मना कर, अन्य आवश्यक सर्व कार्य छोड़ कर, शीघ्र ही कंस को कर[1] देने के लिये मथुरा गये। इससे सिद्ध है कि नन्दजी के मन में दृढ़ निश्चय था कि यह बालक मुझ से उत्पन्न हुवा है और मेरा ही पुत्र है। यदि उनके मन में कुछ भी शंका होती, तो इस प्रकार उदार होकर, पुत्र के लिये बहुमूल्य वस्तुएँ न मंगाते और न पुत्र को प्यार से उठाकर गोदी में लेते। ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि नन्दजी की निश्चित बुद्धि थी कि यह मेरा ही पुत्र है। महान् पुरुषों का ऐसा पवित्र अन्तःकरण होता है जो वह पराई वस्तु को अपनी कभी नहीं समझते हैं। इसलिये 'प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः' यह प्रसिद्ध है ॥ ४ ॥

प्रकाश १०-५-४

"समानैः" का आशय बताते हैं कि यह दान श्री नन्दरायजी के माहात्म्य का व्यापक और शोधक होने से उचित है और वैसे ही अन्य शोधकों के सामान्याधिकरण (समान भाव) बताता है कि, यह इस द्रव्य का शोधक है, किन्तु आने वाले द्रव्य की शुद्धि के लिये दान का चिह्न है।

सौ वर्ष की आयु में दस दिन अशुद्ध हैं। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि शत वर्ष का एक दसवां भाग दस वर्ष होता है। प्रत्येक दस वर्ष का पहला एक दिन अशुद्ध है, इसी से एक साथ तो दस दिन अशुद्ध नहीं होते हैं तो आप जन्म के समय एक साथ दस दिन अशुद्ध क्यों मानते हो? इस शंका का निवारण करते हैं कि दस दस वर्ष में पहला एक दिन, साधारण मनुष्य नहीं गिन सकेगा क्योंकि वैसे अव्यवस्था हो जायगी और कोई वह अशौच पालन नहीं कर सकेगा, अतः सब की सुविधा के लिये ऋषियों ने जन्म समय के साथ में ही दस दिन के आशौच की व्यवस्था की, जिससे सबको सुविधा हो गई। इसी प्रकार द्रव्य की भी व्यवस्था समझनी, अर्थात् छत्तीस सौ रुपये पर एक रुपया अशुद्ध समझना चाहिये, उसकी शुद्धि स्नान से नहीं किन्तु दान से होती है।

नन्दरायजी ने गौएँ और द्रव्य का इतना महादान किया, जिससे नन्दरायजी के पास की महती (बड़ी) समृद्धि का पता लगता है।

लेख १-५-४—'एतेषां भूत संस्कारत्वमेव' का स्पष्टीकरण करते हैं। जातकर्मादि संस्कार से देह की शुद्धि होती है, न कि अन्तःकरण और अन्तर्यामी की शुद्धि होती है। (तपस्या से अन्तःकरण की शुद्धि और यज्ञ से अन्तर्यामी की शुद्धि होती है)। अन्तर्यामी की शुद्धि का तात्पर्य है कि, यज्ञ करने से, अन्तर्यामी प्रसन्न होता है।

'परमात्मा में शुद्धयन्ताम् (१) इससे जाना जाता है कि श्रुति (वेद) में भी, यही शुद्धि का स्वरूप है। इसका विस्तार तृतीय स्कन्ध के पाँचवे अध्याय में 'हृदिस्थितोयच्छति भक्तिपूते' इस श्लोक की टीका में किया गया है।

१—माल गुजारी या टेक्स।

श्लोक—**सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधबन्दिनः ।**
गायकाश्च जगुर्नेदुर्भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ—विप्र, सूत[1], मागध[2], बंदी[3], ये सब मांगलिक वचन कहने लगे और भेरिया[4] तथा दुंदुभि[5] भी बारंबार मांगलिक ध्वनि करने लगी ।

सुबोधिनी—एवं प्रसङ्गान्नन्दस्य माहात्म्यमुक्त्वाग्रे वक्ष्यमाणमुत्सवमुपपत्त्या निरूप्योत्सवमनेकप्रकारमाह **सौमंगल्येतिदशभिः**, विद्याकृतो यावानुत्सवः स प्रथमं निरूप्यते, **सौमंगल्यं** सुमंगलता, यैर्वेदैः पौराणैर्वाक्यैर्मङ्गलं भवति तच्च निरन्तरं पठन्तीति **सौमंगल्यप्रतिपादिका** गिरो येषामित्युक्तं, गिरां वैयर्थ्याभावो विप्रपदेनोक्तः, **सूताः** पौराणिकाः, **मागधाः** वंशशंसकाः, **बन्दिनो** वैतालिकाः, तेपि **सौमंगल्यगिरो** जाताः, **गायका** अन्ये केवला नृत्यादिसहिताश्च स्त्रियश्च वाद्यवादकाश्च, **नेदुः**, **भेर्यः** उत्सवसूचिकाः, **दुन्दुभयो** मंगलवाद्यानि शुभकर्ममात्रे प्रवृत्तानि, **मुहुः** श्रमपर्यन्तं वादयित्वा पुनर्निवृत्ताः वादयन्तीति, एतद् वाद्यमपि **संगीतशास्त्रप्रसिद्धं**, अतो विद्याकार्यं सर्वमुक्तम् ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रसंग में नन्दरायजी का माहात्म्य (महत्व) कहकर कहे जाने वाले उत्सव को 'उपपत्ति' से निरूपण करके उत्सव के अनेक प्रकार बताते हैं । 'सौमङ्गल्य' आदि दस श्लोकों में विद्या से हुए उत्सव का वर्णन किया जाता है । सौमंगल्यं—सुमंगलकारक वेद, पुराण और काव्य की वाणी को निरन्तर उच्चारण करने वाले विप्र (ब्राह्मण) सूत[1], मागध[2], बन्दीगण[3] ये मंगलमय वाक्य बोलने लगे । इनकी वाणी सफल हुई क्योंकि मंगल पाठ में 'विप्र' थे एवं सूत मागध बंदीगण की भी वाणी विप्र संसर्ग से मंगलमय हुई । मागध बन्दीगण से पृथक् दो प्रकार के गायक थे : १—केवल गान करने वाले, २—नाच आदि के साथ गानकर्ता । गाने वालों में स्त्री गायिकाएँ थीं । वाद्य (मृदगांदि) बजाने वाले भी थे । भेरियां[4] उत्सव की सूचक थीं और दुन्दुभि[5] मंगल वाद्य शुभ कर्म में ही बजाये जाते हैं। भेरी और दुन्दुभि बजाते २ थक जाते तो कुछ विश्राम कर फिर बजाते । यह वाद्य भी संगीत शास्त्र में प्रसिद्ध है । इससे विद्या का सब कार्य बताया ।

प्रकाश १-५-५—'उपपत्ति' का भाव बताते हैं कि जहाँ उपर्युक्त रीति से दान की बहुलता बताई गई है, वहाँ अवश्य विशेष उत्सव हुवा होगा ।

लेख १-५-५—'माहात्म्य' का भावार्थ बताते हैं कि नन्दरायजी का 'धेनूनाम्' इस गौ आदि पदार्थों के दान बाहुल्य से बताया हुआ महामनस्त्व (मन की उदारता) ही उनका माहात्म्य सूचक है ।

१—पुराणों की कथा कहने वाले । २—भाट—जो वंश चरित्र सुनाते हैं । ३—चारण ।
४—बड़ी ढक्काएँ । ५—नगाड़े व नोबतें ।

श्लोक——**व्रजः सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः ।
चित्रध्वजपताकास्रक्चैलपल्लवतोरणैः ॥ ६ ॥**

श्लोकार्थ——व्रज में द्वार, आंगन, घरों के भीतर के भाग और रास्ते आदि सब झाड़े और छिड़के गए । विचित्र ध्वजाओं एवं पताकाओं की मालाएँ लगाई गई । वस्त्र और पत्रों की बन्दनवारों से द्वार सुशोभित किये गए ।

सुबोधिनी——भूसंस्कारानने‌कविधानाह **व्रज** इति, सम्यङ् **मृष्टा** रजोदूरीकरणेनोज्ज्वलीकृतास्ततः **सम्यक् सिक्ता** गन्धोदैर्द्वारादयो यस्मिन्, द्वाराणि बाह्यानि, अन्तराणि च, **अजिरमंगणं, गृहान्तरं** गृहमध्यं, गृहा अन्तराणि च, तदुपरिभागानामपि मार्जनं भवति, एतादृशो **व्रजो** जातः, **चित्रध्वजादिभिरपि** युक्तो जातः, एते बहिःशोभाजनकाः गरुडादिचिह्निता **ध्वजाः**,जयपत्रांकिताः **पताकाः**, उभये **विचित्राः**, **स्रजो** मालाः पुष्पनिर्मिताः, **चैलैः पल्लवैश्च** कृतास्तोरणा इति वस्त्रादिभिर्यावानलंकारो भवति स सर्वोपि तत्र कृत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—अनेक प्रकार से किये हुए पृथ्वी के संस्कारों का वर्णन करते है । 'व्रजइति' व्रज में पहले रास्तों के एवं गृह के ऊपर के भाग आदि, बाहर के और भीतर के द्वार, आंगन, इनके भीतरी भाग की धूलि को दूर कर स्वच्छ किया, बाद में सुगन्धित जल से सिञ्चन[1] किया । गरुड़ादि चिन्हों वाली ध्वजाओं से, जय पत्रों से अंकित पताकाओं से, ध्वजा पताकाएँ विचित्र बनी हुई थीं । पुष्पों की मालाओं से एवं वस्त्र और पत्तों के तोरणों से, सारी भूमि सुसज्जित की गई थी । वस्त्रों से, जितनी भी नाना प्रकार की सजाने वाली वस्तुएँ बन सकती हैं, वे सब वहाँ बनाई गई थीं जिससे अभूतपूर्व शोभा वाला व्रज हो गया था ॥ ६ ॥

श्लोक——**गावो वृषाश्च वत्साश्च हरिद्रातैलरूषिताः ।
विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकांचनमालिनः ॥ ७ ॥**

श्लोकार्थ——गाय, बैल और बछड़ों को हल्दीयुत तैल से रंगे, विचित्र धातु (गेरू, खडिया आदि) लगाये, मोरपंख लगाई, झूलें ओंढ़ाई और सुवर्ण की मालाएँ पहनाई । इससे इनकी अपूर्व शोभा हुई ।

सुबोधिनी—गवां शोभामाह **गाव** इति, **गावो** बलीवर्दा धेनवश्च, **वृषाश्च** स्थूलककुदो महान्तः, चकारादवान्तरभावापन्ना वृद्धाश्च, **वत्सा** वत्सतर्यश्च, सर्वे हरिद्रायुक्ततैलेन **रूषिताः**, विचित्रा गैरिकादिधातवः, बर्हाणि मयूरपिच्छानि, वस्त्राणि **काञ्चनमालाश्च** वर्तन्ते येषां, हरिद्रातैलं मङ्गलार्थे, धात्वादयः शोभार्थाः ॥ ७ ॥

१—छिड़काव ।

व्याख्यार्थ—गौओं की शोभा का, वर्णन करते हैं। 'गाव इति' गौ और बैल[1] 'वत्सा' से बछड़े और 'च' से बहुत छोटी बछड़ियां भी थीं। ये सब हल्दी मिश्रित तैल से रंगे गये थे, रंग बिरंगे गेरू आदि धातुएँ उन पर लगाई थीं एवं मयूर पिच्छ (मोर पंख), झूलें और सुवर्ण की मालाएँ पहनाई गई थीं। हल्दी से मिलाया तैल मंगलसूचक[2] है। गेरू आदि धातुएँ शोभा के लिये लगाई गई थीं॥ ७॥

श्लोकार्थ—**महार्हवस्त्राभरणकञ्चुकोष्णीषभूषिताः।**
गोपाः समाययू राजन् नानोपायनपाणयः॥ ८॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! बड़े बड़े मूल्यवान् ऊँचे वस्त्र एवं आभूषण पहन, अंगरखे, पगड़ी आदि से भूषित होकर सब गोप अनेक प्रकार की भेटें हाथों में लेकर आए।

सुबोधिनी—गोपानां शोभामाह महार्हेति, अमूल्यानि वस्त्राणि यानि स्थापितानि तान्यपि तस्मिन् दिवसे परिहितानीति ज्ञापयितुमाह महार्हेति, अमूल्यानि वस्त्राणि परिधेयान्याभरणान्यपि तथा, बहिः **कञ्चुकोष्णीषै-भूषिता** कटिबन्धनैरपि, तेषामकथनमुत्सवासंक्तिख्याप-नार्थं, **गोपा** व्रजान्तरस्थिता अपि यावन्तो नन्दपरिचिताः सर्वे सम्यगाययुः, राजन्निति सम्बोधनमुत्सववर्णनायां सम्मत्यर्थं, नानाविधान्युपायनानि वस्त्राभरणदुग्धदध्यादीनि, रिक्तहस्तगमनाभावार्थमेतदुक्तं न तु नन्दस्य तैः काचित् समृद्धिः॥ ८॥

व्याख्यार्थ—गोपों की शोभा वर्णन करते हैं—'महार्हेति' ऊँचे मूल्य वाले सुन्दर वस्त्र जो जो गोपों ने अपने यहाँ रक्खे थे, वे उसी दिन पहने क्योंकि आज ऐसे आनन्दप्रद महोत्सव में तो ऐसे ही उत्तम कपड़े और आभूषण पहनने चाहियें। ऊपर से पगड़ी तथा अंगरखे पहने और कटिबन्ध कमर में बांधे। (उत्सव के आनन्दरस में आसक्ति के कारण कमर में बंधे हुए कटिबन्ध का वर्णन करना भूल गये) इसी प्रकार व्रज के तथा व्रज से बाहर रहने वाले भी गोप अनेक प्रकार की भेटें (वस्त्र) आभरण दूध दही आदि लेकर आए। इन भेटों के लाने का कारण यह था कि किसी के यहाँ उत्सव में खाली हाथ नहीं जाना चाहिये। इसलिये नहीं की नन्दजी के यहाँ कोई कमी थी। इन भेटों से नन्दजी की कोई समृद्धि नहीं हुई॥ ८॥

श्लोक—**गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम्।**
आत्मानं भूषयाञ्चक्रुर्वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः॥ ९॥

१—'वृषः' से जिनका कंधा और शरीर बहुत बड़ा था ऐसे बैल और 'च' से बूढ़े बैल भी थे।

२—ये मङ्गल सूचक एवं शोभाजनक कार्य उत्सव के चिह्न हैं।

श्लोकार्थ––यशोदा के पुत्र का जन्म सुनकर, प्रसन्न मन गोपियों ने वस्त्र आभूषण और अंजन आदि से अपने आप को अलंकृत किया ।

सुबोधिनी—गोपीनामप्युत्सवमाह चतुर्भि:, गोप्यश्चतुर्विधाः सम्बद्धा असम्बद्धाश्चोभयविधा अपि सङ्गता असङ्गताश्च, **गोप्य** इति, चकारादन्या अपि तत्र तत्र निलीनास्तथाविधा भूत्वा गता इति निरूप्यते, ब्राह्मणस्त्रियोन्याश्च, तासां नन्दप्राधान्याभावात्, **यशोदाया** अपत्योत्पत्तिसम्भावनारहितायाः सुतस्याकस्माद्भवं श्रुत्वा श्रवणेनैवान्तःसन्तोषस्तासां जातः, चतुर्विधपुरुषार्थस्तासां विशेषाकारेण सेत्स्यतीत्याकर्ण्यैव **मुदिता** न तु निश्चयमप्यपेक्षन्ते, तासां निवेदनीय आत्मैवेत्यात्मानमेव **भूषयाञ्चक्रुः**, आत्मपदप्रयोगश्च शरीरादीनामप्यविकृतत्वाय, सशरीराणामेव ब्रह्मानन्दानुभवात्, उत्तमानि **वस्त्राणि** परिधाय तथाकल्पान्याभरणान्यपि, **अञ्जनं** कज्जलं, **आदि**शब्देन तिलकमाल्यादीनि ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ––गोपियों के उत्सव (आनन्द) का वर्णन भी चौदह श्लोकों से करते हैं। सम्बद्ध[1] गोपियाँ चार प्रकार की थीं और असम्बद्ध[2] भी चार प्रकार की थीं। दोनों प्रकार की सम्बद्ध एवं असम्बद्ध गोपियाँ संगत[3] और असंगत[4] होने से दो प्रकार की थीं। 'च' का आशय बताते हुए कहते हैं कि जहाँ तहाँ छिपी हुई गोपियों के अतिरिक्त ब्राह्मणों की स्त्रियाँ तथा दूसरों की स्त्रियाँ भी आईं, जिनके ऊपर नन्दजी का कोई अधिकार नहीं था। जिससे सन्तान उत्पत्ति की आशा नहीं थी, ऐसी यशोदा को अचानक पुत्र उत्पन्न हुआ सुनकर गोपियों के अन्तःकरण में भी सन्तोष हुआ। क्योंकि अब गोपियों का चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्ध होगा; इससे सुनते ही उनके मन में मोद (आनन्द) हुआ। जिससे गोपियों ने पुत्र प्राकट्य के निश्चय की भी अपेक्षा नहीं की

लेख १०-५-६ – संगत असंगत आदि संख्या के तात्पर्य बताने के लिये कहा गया है। प्रत्येक श्लोक में यह विभाग नहीं समझना चाहिये।

पहले, जन्म प्रकरण में श्रीकृष्ण भगवान् को वसुदेव-पुत्र कहा, यहाँ यशोदा पुत्र कहा, उसका भाव बताने के लिये लिखते हैं कि, 'तासां चतुर्विध पुरुषार्थः विशेषाकारेण सेत्स्यति। गोपियों के चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्धि, विशेष रूप से, यहां ही होगी। इसलिये यशोदा पुत्र कहकर जताया कि यह सिद्धि इस स्वरूप से ही होगी। पुष्टिमार्गीय चतुर्विध पुरुषार्थ, 'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव च। कामो हरिर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्थलेद्ध्रुवं। पुष्टिमार्ग में १–धर्म भगवान् का दास्य है, २–'अर्थ' हरि ही है। ३–कामना हरि के दर्शनों की अभिलाषा और ४–कृष्ण की प्राप्ति ही मोक्ष है। ये ४ पुरुषार्थ यशोदा पुत्र स्वरूप से ही होंगे।

'आकर्ण्य' पद में 'आ' उपसर्ग अल्प अर्थ में है, न कि, निश्चयार्थ में।

१—**टिप्पणी** : नन्दरायजी के कुल और देह से सम्बन्ध वाली—सम्बद्ध

२—**योजना** : नन्दरायजी के कुल और देह से बिना सम्बन्ध वाली—असम्बद्ध

३—**लेख** : सङ्गताः भगवद्भोग्याः। भगवत्सेवा में अङ्गीकृत।

४—**योजना** : (क) भगवान की परिचर्या में विशेष प्रकार से नियुक्त—संगताः
(ख) समान कक्षा वाली अनाश्रित—असंगताः।

नन्द महोत्सव

और आत्मा को सुभूषित करने लगीं। आत्मा को इसीलिये भूषित करने लगीं कि उन्हें आत्मा ही भगवान को अर्पण करनी थी। 'आत्मा' शब्द का प्रयोग वहाँ भी किया जाता है जहाँ शरीर अविकारी होता है। ऐसे अविकारी शरीरों से ब्रह्मानन्द का अनुभव किया जाता है न कि पुरुषोत्तम के भजनानन्द का। उन्होंने उत्तम वस्त्र पहन कर तथा आभूषणों से सुसज्जित हो, कज्जल लगा के, पुष्प मालाएँ गले में डाल, और भाल में सुन्दर तिलक की बिन्दी लगा कर अपने आपको अलंकृत किया ॥ ६ ॥

श्लोक—**नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपंकजभूतयः ।**
बलिभिस्त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः ॥ १० ॥

श्लोकार्थ—पिसी हुई नवीन केसर के तिलक एवं बिंदियों से जिनके मुखकमल सुशोभित हो रहे हैं, ऐसी पुष्ट नितम्ब वाली एवं चलने से जिनके स्तन चलायमान हो रहे हैं ऐसी गोपियाँ भेटें लेकर शीघ्र ही भगवान् के दर्शन के लिये नन्दरायजी के घर जाने लगी।

सुबोधिनी—श्रवणादि गमनपर्यन्तमात्मालंकारो यावता भवति तावत् कृत्वा गता इत्याह **नवेति**,ताः सर्वा देवतारूपा भगवत्सम्मुखे गच्छन्त्यो विकसितवदना जाताः सोलौकिको विकास इति तं वर्णयति, चर्वितताम्बूलाः सुलक्षणवशाद् वारक्तरेखायुक्ता मुखभागास्तासां, नूतनं **कुंकुम** काश्मीरं तस्य ये **किञ्जलका** उत्तमा आरक्तास्त एव योजितास्तिलकादौ पिष्टा वा रेखाकाराः कृतास्तत्सदृशा वा **किञ्जल्काः**, एतादृशानि **मुखपंकजानि** तैर्भूतिर्यासां, **बलिः** पूजासाधनानि स्रगादीनि, यद्यपि सर्वस्वमेव नेयं तथापि **त्वरितं जग्मुः**, त्वरागमनं तासामत्यशक्यं, यतः **पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः**, अत्युच्चतया कुचयोश्चलनं गमनप्रतिबन्धकं भवति, यत्राशक्यं ताः सम्पादयन्ति तत्र शक्ये कः सन्देह इतिभावः, अत एव माल्यानां बन्धनं शिथिलं, त्वरया यथाकथञ्चिद्बन्धनात्, तेन मार्गे च्युतिरग्रिमवाक्ये कथयिष्यते ॥ १० ॥

श्लोक ६ से १८ में दिये हुए नन्द महोत्सव का वर्णन भक्त शिरोमणि सूरदास जी अपने निम्नलिखित दो पदों में किया है।

राग देव गंधार

व्रज भयो महरि के पूत जब यह बात सुनी।
सुनि आनंद सब लोक गोकुल गणित गुनी[1] ॥
व्रज पूरव पूरे पुन्य रूपी कुल सुथिर थुनी[2] ।
ग्रह लग्न नक्षत्र बलि सोधि कीनी बेद ध्वनी ॥ १ ॥

१—जोतसी, २—खंभ,

व्याख्यार्थ--गोपीयां कानों से लेकर पैरों तक जितनी हो सकीं उतनी आत्मा की शोभा कर नन्दजी के घर गईं। इसका वर्णन 'नव कुङ्कुम' श्लोक से करते हैं।

वे सब देवता रूप थीं इसलिये भगवान् के सम्मुख जाते हुए प्रफुल्लित मुख वाली हो गईं। उनके इस अलौकिक विकास का वर्णन करते हैं। जैसे कि तांबूल चबाने से लाल मुखवाली अथवा पद्मिनी आदि सुलक्षण होने के कारण, आरक्त रेखायुक्त मुखवाली, नवीन केसर की उत्तम लाल केसराओं को तिलक आदि से मिला दिया है अथवा केसर की केसराओं को पीस कर उनसे मुख पर रेखा करली है या नवीन केसर की केसराएं ओष्ठ पर स्वाभाविक लाल रेखाओं के सदृश शोभित हो रही हैं। उनसे सुशोभित मुखारविन्द से विभूति वाली गोपियों को सर्वस्व ले जाना था, किन्तु शीघ्रता के कारण केवल पूजा की सामग्री, पुष्पादि लेकर गईं। यद्यपि शीघ्र जाने में गोपियों के स्थूल[1] नितम्ब एवं अति उन्नत चलायमान स्तन प्रतिबन्धक होते थे तो भी शीघ्र गईं। वे जहाँ अशक्य को शक्य कर सकती हैं वहाँ शक्य को शक्य करने में कौनसा संदेह है। शीघ्रता से जाने के

प्रकाश—सुबोधिनी में दिये हुए 'यावता' का भावार्थ दो प्रकार से है। यावता 'नाटक हंस नूपुरादिना' नूपुर आदि से जितना बन सका उतना आत्मा को सजाया। २–यावता कालेनजन्म सुनते ही आनन्दित हुईं तो जाने में विलम्ब क्यों? इस पर कहा है कि आत्मा सुशोभित करने में जितना समय लगा उतना आवश्यक विलम्ब हुआ। 'ता सर्व देवताः' कहा। शुकदेवजी ने गोपियों का इस तरह वर्णन क्यों किया? इसलिये सुबोधिनी में आचार्य श्री ने कहा कि गोपियां साधारण स्त्रियां नहीं थी किन्तु 'ता सर्व देवताः' ये देवताओं की स्त्रियां थी, इसलिये श्री शुकदेवजी ने इस प्रकार वर्णन किया।

लेख १०-५-१०—'ता सर्वा देवता रूपाः' का भावार्थ बताते हैं कि गोपियों के देह को आत्मा शब्द से कहा गया है, इससे वह देह अविकृत होने से अलौकिक थीं, इसलिये गोपियों को देवता रूप कहा है। नवकिञ्जल्क आदि से उनकी शोभा या उत्तमता का वर्णन गौण है। मुख्य तो उनकी शोभा मुखारविन्द का

१—भारी।

(पृष्ठ २३ से आगे)

सुनि धाईं सब व्रज नारि सहज सिंगार किये।
तन पहरें नौतन चीर काजर नैन दिये॥
कसि कंचुकि तिलक लिलाट शोभित हार हिये।
कर कंकण कंचन थार मंगल साज लिये॥ २॥

वे अपने अपने मेल निकसी भांति भली।
मानो लाल[3] मुनिन की पांति पिंजरन चूर चली॥
वे गावें मंगल गीत मिलि दृश पांच अली।
मानो भोरभयो रवि देखि फूली कमल कली॥ ३॥

३—लाल पक्षियों की पंक्ति।

कारण जैसे तैसे बांधी हुई मालाओं के बन्धन शिथिल होने से रास्ते में गिरने लगे इसका वर्णन आगे के वाक्य में होगा ॥ १० ॥

कारिका—**गन्धो रूपं तथा स्पर्शः कटाक्षभ्रमरोक्तयः ।**
ताभिश्चतुष्टयं ज्ञेयं रसं ज्ञास्यति माधवः ॥ ११ ॥

कारिकार्थ—गन्ध, रूप, स्पर्श, शब्द और रस इन पांचों में से गन्ध, रूप, स्पर्श

विकास आदि अलौकिक था। इसलिये अलौकिक विकासादि को भगवान् ही जानते थे। अलौकिकता के कारण उसका ज्ञान ध्वनि से ही मालूम होता है। 'आरक्त रेखा युक्ता' का आशय कहते हैं कि 'अधरस्थित रेखाएँ ही किञ्जल्क हैं अथवा किञ्जल्क अधर के समान हैं, और इसी प्रकार नवीन केसर के समान किञ्जल्क जिनमें नवीन केसर की किञ्जल्क जिनमें ऐसे सुन्दर विकसित मुखकमलों से शोभावाली गोपिकाएँ।

योजना १०-५-१०

योजनाकार का आशय—'नवकिञ्जल्क' श्लोक से शुकदेवजी ने यह बताया है कि गोपियों में गन्ध, रूप, स्पर्श, शब्द एवं रस ये सब से उत्तम पाँचों विषय भगवद् भोग्य हैं। इसका वर्णन आचार्यश्री ने कारिका में किया है। उसका स्पष्टीकरण योजनाकार करते हैं कि—मूल श्लोक के 'नवकुङ्कुम पद से सुगन्ध 'किञ्जल्क पद से' रूप (सौन्दर्य युक्त) 'मुखपंकज' पद से स्पर्श शब्द एवं रस बताये हैं। पंकज (कमल) का स्पर्श सुखकारक है। इससे इनके स्पर्श की आनन्दप्रदता सूचित की। कमल पर भ्रमर गुंजार करते ही हैं इससे गोपियों में 'सु' शब्द बताया। कमल में मकरन्द रहता है इससे गोपियों को रसवती कही। यों कहने का भाव यह है कि भगवान् के नासिका नयनादि से भोग्य पांचो विषय गोपियों के अलौकिक अंगों में विराजते हैं।

(पृष्ठ २४ से आगे)

उर अंचल[४] उडत न जान्यो सारी सुरंग सुही।
मुख मांड्यो[५] रोरी[६] रंग सेंदुर[७] मांग[८] छुही॥
श्रम श्रवनन तरुल[९] तरोना[१०] वेनी सिथल गुही।
शिर वरषत कुसुम सुदेस[११] मानो मेघ फुही[१२] ॥ ४ ॥

पीय पहलें पोंहोची जाय अति आनंद भरी।
लई भीतर भवन बुलाय सब[१३] पाय परी॥
एक वदन उघारि निहारत देत असीस खरी।
चिरजीयो जसोदा नन्द पर न काम करी॥ ५ ॥

४—कपड़े का पल्ला, ५—लगाए, ६—कूंकूं, ७—हींगलू, ८—श्रीमंत, ९—चंचल, १०—कान का आभूषण, ११—सुंदर, १२—बूंदें, १३—बालक।

और शब्द–ये चार उन गोपी जनों के द्वारा जाने जाएँगे, रस तो माधव प्रभु आप ही जानेंगे।

श्लोक—**गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्यश्चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः।**
नन्दालयं सवलया व्रजतीर्विरेजुर्व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—गोपियां कानों में उज्ज्वल मणियों की जड़ाऊ कुण्डल पहिने हैं, गले में पदकों के हार धारण किय हैं। हाथों को कलाइयों में कंकण पहिने हैं एवं विविध, विचित्र वस्त्र पहिने हैं, जिनकी वेणियों में से, मार्ग में फूलों की वृष्टि हो रही है। स्तन, कुण्डल और हार हिल रहे हैं, ऐसी गोपियों की नन्दजी के घर में प्रवेश करते समय विशेष शोभा हुई।

सुबोधिनी—एवं गच्छन्तीनां स्वरूपमुक्त्वा **नन्दगृहे** प्रविशन्तीनां स्वरूपमाह **गोप्य** इति, दूरादागत्य यथाकथञ्चिद् यदा ता निकटे समागतास्तदा सर्वशोभानां प्राकट्याद् विरेजुरिति ता वर्णयति, **गोप्य** इतिपुनर्ग्रहणमग्रपश्चाद्भावेन समागतानां सम्भूयगमनार्थं, **नन्दालयं व्रजतीर्विरेजु**र्विशेषेण रेजुः, पूर्वं विहिताभरणा अपि प्रकटाभरणा जाताः, तथा प्रकटवस्त्राः, **माल्यानां** पुष्पाणां शिखातश्च्युतानां **वृष्टिरिव** मार्गे जाता, **वलया**नामपि शब्दतो रूपतश्च प्राकट्यं, **व्यालोलाः कुण्डले पयोधरौ** हाराश्च, तैः **शोभा** यासां, तद्वता राजसास्तामसाः सात्त्विकाश्च लोला जाताः, अनेन तासामुत्सवासक्तिरुक्ता, सुष्ठु **मृष्टे** उज्ज्वले मणियुक्ते **कुण्डले** यासां, **निष्कयुक्तः कण्ठो** यासामस्ति ता **निष्ककण्ठ्यः**, पूर्वोक्ताश्च ता **निष्ककण्ठ्यश्च** विचित्राण्यम्बराणि यासां, **पथि शिखातश्च्युतानां माल्यानां वर्षा** यासां ताः, **नन्दालयं** नन्दगृहं, **सवलया** वलयसहिताः, **व्यालोलकुण्डलपयोधरहाराणां शोभा** याभिः ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार उपर्युक्त नवमें एवं दसवें श्लोक में जाती हुई गोपियों के स्वरूप का वर्णन कर, अब नन्दगृह में प्रवेश करती हुई गोपियों के स्वरूप का वर्णन करते हैं। 'गोप्य

(पृष्ठ २५ से आगे)

धन्य धन्य दिवस धन्य यह पहर घरी।
धनि धन्य महरिजु की कुखि भाग सुहाग भरी ॥
जिन जायो ऐसो पूत सब सुख फलन फरी।
थिर थाप्यो सब परिवार मन को शूल हरी ॥ ६ ॥

सुनि ग्वालन गाय बहोरि[१४] बालक बोलि लिये।
गुहि गुंजा घसि बन[१५] धातु अंग अंग चित्रठये[१६] ॥
सिर दधि माखन माट गावत गीत नये।
संग झांझ मृदंग बजावत सब नंद भवन गये ॥ ७ ॥

१४—फेरि, १५—गेरू, १६—बनाये,

इति' दूर दूर से आई हुई गोपियां जैसे तैसे किसी प्रकार वे समीप आकर आपस में मिलीं। तब उन सब के साथ मिलने से शोभा विशेष बढ़ी। दुबारा 'गोप्य' इसलिये कहा है कि गोपियां सब एक स्थान से नहीं आई थीं, किन्तु कोई कहीं से, और कोई कहीं से आकर सब नन्दरायजी के घर के निकट मिलके इकट्ठी हुईं और नन्दजी के घर में, साथ ही प्रविष्ठ हुई।

आभूषणादि तो, वे लोग पहले ही पहने हुए थीं, किन्तु वे वस्त्रों के भीतर ढके हुए थे, इसलिये उनकी शोभा घर में आने पर, खुले होने से दिखाई देने लगी, जिससे सबों ने जाना कि ऐसे ऐसे इतने इतने और ये ये आभूषण, इन्होंने धारण किये हैं। ऐसे ही वस्त्रों की शोभा भी घर में आने पर ज्ञात हुई। रास्ते में शिखा[1] से गिरते हुए पुष्पों की वर्षा गोपियों की शीघ्र गति एवं जाने के मार्ग की सूचना दे रही थी। कंकणों ने भी रूप और शब्द से अपना प्राकट्य अर्थात् दूसरे आभूषणों के समान हम भी हैं, ऐसा बताया गोपियाँ हिलते हुए कुण्डल, पयोधर और हारों से सुशोभित देखने में आई। 'तद्गताः ?' इन आभूषणों में कुण्डल राजस, पयोधर तामस और हार सात्विकता के प्रतीक[2] थे। उनमें चंचलता आ जाने से सब प्रकार की गोपियों की उत्सव में आसक्ति बताई। जिनके कानों में उज्ज्वल मणियुक्त कुण्डल, कण्ठ में पदकों के हार और विचित्र वस्त्र हैं तथा जिनकी मालाओं के फूलों ने रास्ते में वर्षा की है ऐसी गोपियों ने नन्दरायजी के घर में प्रवेश किया। जिस प्रकार गोपियां आभूषणों से सुशोभित थीं उसी प्रकार कंकण सहित चलायमान कुण्डल, स्तन और हार भी गोपियों के कारण सुशोभित हो रहे थे ॥ ११ ॥

श्लोक——ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं पाहीति बालके ।
हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्योजनमुज्जगुः ॥ १२ ॥

लेख १०-५-११—दशम-श्लोक में 'गमन' का मुख्य रूप से वर्णन है इसलिये इस ग्यारहवें श्लोक में 'प्रवेश' का मुख्य रूप वर्णन करना चाहिये, वह न करके शोभा की मुख्यता का वर्णन क्यों किया ? इस शंका का निवारण करने के लिये कहा गया है कि 'दूरादागत्य' दूर दूर से आकर एक स्थान पर सब मिलीं। तब दोनों (गोपियों एवं आभूषणों) की परस्पर अत्यन्त शोभा हुई, अर्थात् गोपियों की आभूषणों से और आभूषणों की गोपियों से। इसलिये 'व्यालोल कुण्डल पयोधर हार शोभा' इस संस्कृत पद के दो प्रकार के विग्रह करके दो भाव बताये हैं। इसलिये प्रवेश की मुख्यता न बताकर शोभा की मुख्यता बताई गई है।

१—केशपाश या वेणी। २—चिह्न।

(पृष्ठ २६ से आगे) *एक नाचत करत कुलाहल छिरकत हरद दही।*
मानो वरखत भादो मास नदी घृत दूध वही ॥
जाको जहीं जहीं चित्त जाय कौतिक तहीं तहीं।
रस आनंद मगन गुवाल काहू वदत नहीं ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ--गोपियां बालक को आशीर्वाद देती हुईं तथा यों कहती हुईं कि आप हमारी बहुत समय तक रक्षा करो, हलदी, चूना, तैल और पानी मिला के परस्पर एक दूसरे पर डालती हुईं उस बालक (भगवान्) का जोर से यश गाने लगीं।

सुबोधनी--तत्रागतानां कृत्यमाह **ता आशिष** इति, **ता** गोप्य एवमुत्कण्ठतया समागता **आशिषः प्रयुञ्जाना** जाताः, तासां भगवदावेशात् सत्या एवाशिषो निर्गता इत्याह **चिरं पाहीति बालके**, आशिषो न परोक्षतया निरूपयन्ति किन्तु प्रत्यक्षतयेति **पाही**तिमध्यमपुरुषप्रयोगः, तासां सर्वभावेन पालनमल्पकाल एवेति ज्ञात्वा बहुकालरक्षार्थं प्रार्थना, एतदपि प्रत्येकं वचनं, तासां प्रत्येकं भगवत्स्फुरणात्, एव**माशिषः** प्रयुञ्जाना भगवद्भावेनात्यन्तं मत्ता **हरिद्राचूर्णतैलजलान्येकीकृत्य परस्परं सिञ्चन्त्यो जनं** भगवन्तमुज्जगुः, हरिद्राचूर्णयोर्मेलने आरक्तो भवति, तैलेन च सम्पृक्तं न कदापि त्यजति बहुकालमिममर्थं ज्ञापयति, जले योजितं प्रसृतं भवति। ननु कुलस्त्रीणां कथमेवम्भावस्तत्राहा**जनमुज्जगु**रिति, भगवद्भावस्य ज्ञापक**मजन**पदं, स हि भगवांस्तत्र जात इति ताभिर्ज्ञातं, अतो भगवति प्राप्ते सर्वापेक्षाभावात् तथा **सिञ्चन्त्य उच्चैर्जगुः** ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ--नन्दगृह में आई हुई गोपियों के कार्य का वर्णन करते हैं कि वे गोपियां इस प्रकार बहुत स्नेह से आशीर्वाद देने लगी। उनके आशीर्वाद सत्य थे क्योंकि गोपियों में भगवदावेश था। इसलिये उन्होंने कहा कि 'बहुत समय तक हमारी रक्षा करो' आशीर्वाद भगवान् को परोक्ष समझ कर नहीं दिया किन्तु प्रत्यक्ष आँखों के सामने दृष्टि गोचर हो रहा है, ऐसा समझ कर 'पाहि' यह मध्यम पुरुष का रूप दिया। गोपियों का सर्वभाव से भगवान् पालन थोड़े समय तक ही करेंगे।*

---

* **प्रकाश १-५-१२**--गोपियों को आशीर्वाद में तो 'चिरंजीव' बहुत समय तक आप रहो, इतना कहना था इसके साथ (पाहि) हमारी रक्षा करो ऐसा क्यों कहा? इसका भाव बताते हुए सुबोधिनी में 'तासां भगवदावेशात् सत्या एवाशिषः' कहा है कि गोपियों का यह कहना सत्य है क्योंकि उनमें भगवदावेश होने से वे जानती थीं कि भगवान् मथुरा पधारेंगे और हमारी रक्षा थोड़े समय तक ही करेंगे। इसलिये पाहि (रक्षा करो) ये शब्द साथ में कहे। अथवा भगवान् मथुराजी भी जायं तो भी रात्रि के समय हमारा रक्षण करेंगे, दिन को नहीं करेंगे, इसलिये दिन के समय भी रक्षण करें। इसलिये 'चिरं पाहि' बहुत समय तक रक्षण करो अर्थात् 'दिन रात्रि' में हमारी रक्षा करो इस प्रकार कहा यह आशिष सत्य हुई क्योंकि 'स्त्रीपुरेमेह्यहर्निशं' कहा है। यदि ऐसी ही इच्छा थी तो 'चिरं'

(पृष्ठ २७ से आगे)

एक धाई नंद जू पे जाय पुनि[१७] पुनि पाय परें।
एक आप आपुही मांझ हसि हसि अंक[१] भरें॥
एक अंबर सबही उतारि देत निसंक खरें।
एक दधिरोचन[२] और दूब[३] सबन के शीस धरें॥ ६॥

१७--फिरिफिरि, १--छाती से लगाके भेंटना,
२--गोरोचन, ३--हरी घास,

यह समझ कर ही बहुत काल तक रक्षा के लिये उन्होंने प्रार्थना की । यह प्रार्थना किसी एक गोपी ने नहीं की किन्तु प्रत्येक गोपी पृथक् २ अपने मुख से अपने २ लिये प्रार्थना करते 'चिरं पाहि' का उच्चारण किया, क्योंकि प्रत्येक गोपी में भगवत्स्फूर्ति थी । इस प्रकार आशीर्वाद देती हुई भगवद्भाव से अत्यन्त मत्त हो गई । प्रेमावेश में मग्न हो गई । इससे हल्दी, चूना, तैल और पानी मिलाकर आपस में छिड़कती हुई भगवान् के गीत गाने लगीं । हल्दी और चूना मिलने से उनका रंग लाल हो जाता है, उसमें तैल मिला कर किसी के लगाने से वह रंग मिटता नहीं, बहुत समय तक लगा रहता है और जल में मिलने से वह रंग फैल जाता है । यों करने का आशय यह है कि भगवान् के प्रति हमारा प्रेम बहुत समय तक अधिकाधिक होता रहे मिटे नहीं । कुलीन स्त्रियों में ऐसा भाव (पर) पुरुष में कैसे हुआ ? इस शंका को मिटाने के लिये 'अजन' पद से बताया । अजन पद भगवद् भाव का ज्ञापक है । गोपियों ने यह जान लिया था कि नन्दजी के यहाँ साधारण मानव का जन्म नहीं हुआ है, किन्तु उस अजन्मा का यहाँ प्राकट्य हुआ है । इसलिये भगवान्[1] के मिलने पर अन्य सब की अपेक्षा जाती रहती है अर्थात् उनके मन में भगवत्प्रेम के अतिरिक्त लौकिक आदि का उद्भव ही नहीं होता है। इससे प्रेममत्त हो सिञ्चन करती हुई वे गोपियां भगवान् का जोर जोर से यश गान करने लगीं ॥ १२ ॥

(बहुत समय तक) न कहकर 'सदा' रक्षा करो कहना था । 'सदा' इसलिये गोपियों ने नहीं कहा कि वे जानती थीं कि यदि हम सदा रक्षण की प्रार्थना करेंगी तो प्राप्त रस का अनुभव न कर सकेंगी । इससे 'सदा' न कह कर 'चिरं' कहा ।

२—इस प्रकार वाणी से प्रार्थना कर क्रिया से भी उस आशय को बताती हैं । हल्दी व चूना आदि मिलाकर सिंचन करने से यह कहा कि जैसे लाल रंग व्यापक होकर मिटता नहीं हैं वैसे ही आपका और हमारा प्रेम ऐसा पक्का और व्यापक हो कि कदापि कम न हो ।

३—गोपियों ने ऐसे भाव जो प्रकट किये उसका कारण यह था कि गोपियों में भगवान् कृष्ण के लिए मनुष्य भाव नहीं था किन्तु ब्रह्मभाव था अर्थात् यह प्रकट बाल स्वरूप भगवान् (ब्रह्म) है इसलिये शुकदेवजी ने 'अजन' शब्द देकर बताया कि यह बालक अजन्मा भगवान् है ।

१-यहाँ भगवान् शब्द से पुरुषोत्तम समझना चाहिये । 'पुरुषोत्तम' जिनको मिले हैं उनको लोकवेद की अपेक्षा नहीं रहती है क्योंकि श्रुति कहती है कि 'न बिभेति' ब्रह्मज्ञा किसी से डरता नहीं ।—लेख

(पृष्ठ २८ से आगे)

तब नन्द न्हाय भये ठाड़े अरु कुस[4] हाथ धरें ।
घसि चंदन चारु मंगाय विप्रन तिलक करें ॥
नांदी मुख पितर पुजाय अंतर सोच हरें ।
वर गुरजन[5] द्विजन पहराय सबन के पाय परें ॥ १० ॥

४—डाभ, ५—बड़े,

श्लोक—अवाद्यन्त विचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे ।
कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते नन्दस्य व्रजमागते ।। १३ ।।

श्लोकार्थ—नन्दजी के व्रज में जगत् के नाथ अनन्त श्रीकृष्ण के प्रकट होने के कारण जन्म महोत्सव में विचित्र बाजे बजने लगे ।

सुबोधिनी—एवं विद्यावतां भूमेर्गवां गोपानां गोपीनां चालंकारा निरूपिताः, लौकिकवाद्यकृतमुत्सवमाहा-**वाद्यन्तेति**, स्वभावतो दशविधानि वाद्यानि **विचित्राणि** ततोऽप्यन्यतराणि **महोत्सवे** भगवतो जन्मोत्सवे वादका वादयामासुः, महोत्सवे निमित्तमाह **कृष्णे विश्वेश्वर** इति, **कृष्ण** इति, संज्ञा नामकरणानन्तरमेव भवतीति भगवति नियमाभावात् पूर्वसंज्ञानामेव गर्गेणोक्तत्वात् "कृषिर्भू-वाचकः शब्दोणश्च निर्वृतिवाचक" इतिवाक्यात् **कृष्णः** सदानन्दः आनन्दे चावश्यं वादित्राणि, किंच **विश्वेश्वरे** विश्वस्यैव नियन्तरि, महति समागतेन्ततो गत्वा वादित्राण्यपि वादनीयानि, बालके बालकान्तरवच्छंका नास्तीति सर्वथा महोत्सवः कर्तव्य इत्याहानन्त इति, न विद्यतेन्तो यस्य, अनन्तः कालो वा, अन्यथा स मारयेदिति, तत्रापि नन्दस्याल्पस्य तत्रापि **व्रजे**ल्पगृहे महति समागते महोत्सवः कर्तव्य एव, अन्यथा महानपकुर्यात्, किञ्च "द्रोणो वसूना" मित्यारभ्य "ततो भक्तिर्भगवति" "कृष्णो ब्रह्मण आदेश" मित्यन्तैर्वाक्यैः परमभक्तत्वेन **नन्दस्य** तदा वादित्रवादनमुचिततरम् ।। १३ ।।

व्याख्यार्थ—उपर्युक्त पांच से बारह श्लोकों में सूत मागध आदि विद्योपजीवियों, के व्रज भूमि के गाय और गोपियों के अलङ्कारों[1] का वर्णन हुवा । इस श्लोक में लौकिक बाजों के बजने से हुए उत्सव का वर्णन करते हैं ।

४—'सहि' शब्द से सुबोधिनी में बताया गया है कि गोपियों ने जान लिया है कि ये वेही भगवान् हैं जिनने हमको वरदान दिया था । वे भगवान् षड्गुणैश्वर्य संयुक्त अक्षर में ही विराजमान हैं । अन्य बालक की तरह पृथ्वी पर इनका जन्म नहीं हुआ है किन्तु अक्षर को प्रकट कर उसमें आपका प्रादुर्भाव हुआ है । यह गोपियों ने (भगवदावेश होने से) समझा था ।

---

१. **प्रकाश**—सुबोधिनी में कहे हुए अलंकार शब्द से, सुन्दर सत्यवाणी, जात-कर्म संस्कार, वेश और गुणगान समझने चाहिये ।

(पृष्ठ २६ से आगे)

मन मैया मिनी न जांय तरुन सुवच्छ बढ़ी ।
नित चरें जमुन जु के काछु[६] दूने दूध चढ़ी ॥
खुर रूपे तांबे पीठ सोने सींग मढ़ी ।
ते दीनी द्विजन अनेक हरखि असीस पढ़ी ॥ ११ ॥

६—किनारा,

स्वभाव से वाद्य दश[1] प्रकार के होते हैं, बाजे वालों ने उनसे भी विशेष वाद्य, भगवान् के जन्म महोत्सव में बजाये। महोत्सव करने का निमित्त कारण, विश्व के नियामक कृष्ण का प्राकट्य है। अभी तो बालक का जन्म हुवा है; नामकरण तो हुवा ही नहीं, तो कृष्ण नाम शुकदेवजी ने कैसे कहा? इस शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'भगवति नियमाभावात्' नाम करण संस्कार में नाम तो लौकिक बालकों का धरा जाता है इसलिये लौकिक बालक के नाम का ज्ञान, नामकरण होने पर होता है। भगवान् के साथ, यह नियम लागू नहीं होता है क्योंकि उनका नाम धरा नहीं जाता है। जैसे वे नित्य हैं वैसे ही उनका नाम सदैव नित्य है। शंका–तो गर्गजी ने नामकरण संस्कार में नाम क्यों धरे? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'पूर्व संज्ञानामेव गर्गेणोक्तत्वात्' गर्गजी ने नये नाम नहीं धरे थे किन्तु पहले के ही नाम कह सुनाये थे। जैसे "कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृतिवाचकः' 'तयो रैक्यं परंब्रह्मकृष्ण इत्यभिधीयते' —गोपाल-तापिनीयोपनिषद् 'कृष्' शब्द सत्तावाचक है 'ण' शब्द आनन्द वाचक है। दोनों शब्दों के ऐक्य से 'कृष्ण' बना है, उन कृष्ण[2] को परब्रह्म कहते हैं। अर्थात् "कृष्ण" सदानन्द स्वरूप हैं यह नाम कोई जन्म (प्राकट्य) के कारण नहीं है। आनन्द होने पर सामान्यतया बाजे अवश्य बजने चाहियें जिस पर यहाँ तो विश्व के नियामक का प्राकट्य हुआ है इसलिये महान् के पधारने पर स्वयं उसके पास जाकर बाजे भी अधिक बजाने चाहिये। यह तो दूसरे बालकों जैसा ही बालक। है, ऐसी शंका मन में नहीं लानी चाहिये क्योंकि शुकदेवजी ने इनको 'अनन्त' कहा है इसलिये यह

१—दश प्रकार के वाद्य—(१) मृदङ्ग, (२) शङ्ख, (३) भेरी, (४) वीणा, (५) पणव, (६) गोमुख, (७) धुन्धुरी, (८) आनक, (९) घण्टा, (१०) दुन्दुभि।

प्रथम स्कन्ध, दशवें अध्याय के श्लोक पन्द्रह में कहे हुए के अनुसार ये बाजे स्वयं आप ही नहीं बजेंगे, इसलिये सुबोधिनी में कहा है 'वादका वादयामासुः' अर्थात् बजाने वालों ने बजाये।

२—**टिप्पणी**—तेरहवें श्लोक में 'कृष्ण' शब्द 'विश्वेश्वर' और 'अनन्त' शब्द के समान भगवान् का सदानन्द स्वरूप बताने के लिये कहा गया है न कि कृष्ण का नाम है। ऐसी अवस्था में यह शंका करनी ही व्यर्थ है कि नामकरण से पहले शुकदेवजी ने 'कृष्ण' नाम कैसे दिया। टिप्पणीकार इसका उत्तर देते हैं कि 'विश्वेश्वर' और 'अनन्त' आदि शब्द पहले धर्म बता कर, धर्मी का ज्ञान कराते हैं, किन्तु 'कृष्ण' शब्द धर्म कहकर धर्मी का ज्ञान नहीं कराता है वह तो स्वयं आनन्द की सत्ता रूप है, इसलिये यह 'कृष्ण' नाम है न कि किसी का धर्म बताने वाला शब्द है। अतः यह शंका वास्तविक होने से

(पृष्ठ ३० से आगे)

तब अपने मित्र सुबंधु हास हसि बोलि लिये।
मथि मृगमद[७] मलय[८] कपूर माथे तिलक किये॥
उर मणि माला पहराय वसन[९] विचित्र दिये।
मानों वरखत मास असाढ़ दादुर मोर जिये॥ १२॥

७—कस्तुरी, ८—चंदन, ९—वस्त्र,

लौकिक बालक जैसा बालक नहीं हैं किन्तु जिनका कोई अन्त नहीं है ऐसे महान् हैं, या अनन्त काल[२] रूप हैं इसलिये यदि अन्यथा किया जायगा अर्थात् महोत्सव नहीं मनाया जाएगा तो कालरूप होने से वे नष्ट कर देवेंगे। इसके अतिरिक्त नन्दजी छोटे हैं और उनका घर व्रज भी छोटा है, वहाँ विश्व के 'ईश्वर' 'सदानन्द' 'अनन्त'[३] पधारे हैं। छोटे के छोटे घर में यदि महान् आजाए तो उनके आगमन पर अवश्य महोत्सव करना चाहिये। इससे आने वाले का स्वागत समादर होता है, नहीं तो उसका अपमान[४] होता है। जिससे अप्रसन्न होकर वह कुछ हानि भी करे। इन सब विचारों के साथ साथ नन्दजी द्रोण हैं और भगवद्भक्त हैं। तथा भगवान् कृष्ण, ब्रह्माजी के वचन सत्य करने के लिये, व्रज में पधारे हैं। इसलिये महामना नन्दरायजी ने आह्लाद में जो बाजे बजाने का महोत्सव किया सो बहुत उचित था।

श्लोक——गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृताम्बुभिः।
आसिञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—आनन्दमग्न गोपगण दही, दूध, घृत और जल आपस में (एक

उसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि पुरुषोत्तम स्वरूप सदानन्दात्मक हैं, 'कृष्ण' पद केवल सदानन्दात्मक स्वरूप का वाचक होने से 'मुख्य नाम' है। इसलिये शुकदेवजी ने यहाँ 'कृष्ण' पद नामवाचक ही दिया है।

२—**लेख**—'काल' यह काल भी भगवद्रूप है जैसा कि 'अथ सर्वगुणोपेतः' श्लोक में कहा है और 'तमद्भुतं' श्लोक में उसका विशेष विवरण है। इसलिये यह 'काल' साधारण काल नहीं, किन्तु भगवद्रूप है। भगवान् के लीला काल के प्रादुर्भाव होते हुए यदि सेवक पूर्णतया सेवा न करे, तो सेवकों का अहित ही होता हैं इसलिये भगवद्रूप काल के आगमन के कारण, सब सेवक सेवा करने लगे। अन्यथा दण्डपात्र होते।

३—**अनन्त**—'काल' लीला काल भगवद्रूप है, इसलिये लीला काल के समय, यदि सेवक सेवा न करे, तो वह काल रूप भगवान्, उन सेवकों को दण्ड देंगे।

४—**'अपमान'**—सेव्य की सेवा न करे, तो दोष है।

(पृष्ठ ३१ से आगे)

वर बंदी मागध सूत आंगन भवन भरे।
ते बोले ले ले नाम हित कोउ ना बिसरे॥
जिन जो जाच्यो सो दीनो रस नंदराय ढरे।
अति दान मान परधान[१०] पूरन काम करे॥ १३॥

१०—श्रेष्ठ,

दूसरे पर) सिंचन करने (उडेलने) लगे और दही आदि से मुख लेपन करते हुए माखन फेंकने लगे।

सुबोधिनी – गोपिकानां भगवत्स्मरणेनैव भगवदावेशो जातो गोपानां तु भगवत्सन्निधाने भगवद्धर्मप्राकट्य आवेश इति भगवदाविष्टानां गोपानामुत्सवप्राकट्यमाह **गोपा** इति, **दधिक्षीरघृताम्बुभिर्मिलितैः परस्परमासिञ्चन्तो** दध्यादि मुखेषु **विलिम्पन्तो** नवनीतैः पिण्डैश्चिक्षिपुरन्योन्यस्योपरि प्रक्षिप्तवन्तः, अथवा यस्य यत्प्राप्तिः केचिद् दध्ना केचित् क्षीरेण केचिद् घृतेनाम्बुभिश्च, आसिञ्चनं तुल्यतया, लिम्पनमाधिक्ये, अतिरसाविष्टे नवनीतैःक्षेपोतिमत्ततया, एवं सर्वेषां महानुत्सव उक्तः ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ—गोपिकाओं में भगवान् का आवेश भगवत्स्मरण से हुआ और गोपों में तो भगवान् के सन्निधान से, भगवद्धर्म प्राकट्य के कारण, भगवान् का आवेश हुआ। भगवदावेश होने पर, हर्ष से प्रफुल्लित गोपों के, मनाये हुए उत्सव का वर्णन करते हैं।

दधि, दूध, घी एवं जल को मिला कर आपस में सिंचन करने लगे; दही आदि एक दूसरे के मुखों पर लेपन करते हुए परस्पर मक्खन के गोले फेंकने लगे। अथवा जिसको जो वस्तु हाथ लगी जैसे किसी को दही हाथ लगा तो वह दही से दूसरे के मुख पर लेप करने लगा, यदि किसी को दूध या जल हाथ लगा तो वह दूध या जल उडेलने लगा। इसी प्रकार घृत एवं जल से सिञ्चनादि किये। सिञ्चन समान आनन्द वाले और अधिक आनन्द वाले करते थे। विशेष रस में मत्त होने पर नवनीत के गोलों की वर्षा करते थे। इसी प्रकार सबों के उत्सव का वर्णन किया है ॥ १४॥

श्लोक—**नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगोधनम् ।**
सूतमागधबन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ—उदार हृदय वाले नन्दरायजी ने उन सूत,[1] मागध[2] और बन्दीजनों को[3]

१—सूत=पौराणिक। २—मागध=वंश की स्तुति करने वाले भाट। ३—बन्दी=चारण।

(पृष्ठ ३२ से आगे)

तब रोहिनी अंबर मगाय सारी सुरंग घनी।
ते दीनी वधुन बुलाय जैसी जाय बनी॥
वे अति आनंदित महोरि निज ग्रह गोप धनी।
मिलि निकसी देत असीस रुचि अपुनी अपुनी॥ १४॥

तब घर घर भेरी मृदंग पटह निसान बजें।
वर बांधी वंदन माल अरु ध्वज कलश सजें॥
तब ता दिन ते वे लोग सुख संपति न तजें।
सुनि सूर सबन की यह गति जे हरि चरण भजें॥ १५॥

को तथा अन्य विद्योपजीवियों को वस्त्र अलंकार और गौएँ दीं ।

सुबोधिनी—एवं सर्वकृत उत्सवे सर्वेभ्यो दानरूपं नन्दस्योत्सवमाह **नन्दो महामना** इतित्रिभिः, विद्यावतामन्येषां च स्त्रीणां च सर्वाभीष्टदानं, तत्र विद्यावतां प्रथमतो दानमाह **महामना** इति, विद्यातारतम्येन दानं, तत्रैक एव बहुविद्यो भवति तथा सति बहुदानं तत्र कर्तव्यं भवति तत्राल्पसत्त्वस्य लोभः स्यात् तन्निवृत्त्यर्थमाह, **तेभ्यः** पूर्वोक्तेभ्यः, **वासांस्यलङ्करणानि गावो धनं च गोधनं** गोष्ठं वा, अनेन ब्राह्मणेभ्य एव वस्त्रालङ्कारपूर्वकमेकैकस्मा एकमेकं गोष्ठं दत्तवानिति लक्ष्यते, अन्येषामनुवादाच्चान्येभ्यो यथायोग्यं दत्तवानित्याह सूतेति, एतेभ्यो दानं कीर्त्यर्थं, **ये चान्ये** गायका वैद्या ज्योतिर्विदश्च, **अन्येपि** शाकुनिकाःस्त्रियश्चतेभ्यः सर्वेभ्य एव **वासोलङ्कारगोधनानिद** त्तवानितिसम्बन्धः ।। १५ ।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार सबों के आनन्द से उत्सव मनाने का वर्णन कर, अब नन्दरायजी के दान रूप उत्सव मनाने का वर्णन करते हैं ।

नन्दरायजी ने विद्योपजीवी विद्वानों, दूसरों और स्त्रियों को मुंह मांगा दान दिया । पहले विद्यावालों के दान का वर्णन करते हैं । विद्या के तारतम्य से (जो जितनी विद्या वाला होवे उसको उसकी योग्यतानुसार) दान करना चाहिये । यदि कोई अनेक विद्याओं का जानकार होवे तो उसको अधिक और थोड़ी विद्या वाले को कम दिया जाय तो, जिनको कम मिलेगा उनके मन में होगा कि नन्दरायजी हमको भी इतना देते तो हम भी प्रसन्न होते । इस प्रकार के लोभ का विचार किसी को न हो, इसलिये प्रत्येक ब्राह्मण को एक समान कपड़े, अलंकार, गौएँ और धन अथवा गौओं का एक एक गोष्ठ दान में दिया । सूत[1] आदि को अनुवाद[2] (विवरण) करने से ब्राह्मणों के समान न देकर योग्यतानुसार दिया । सूतों को यश के लिये दिया, दूसरे गाने वाले, वैद्य, ज्योतिषी, शकुन जानने वाले और स्त्रियां आदि जो उत्सव में आई थीं उन सबको शिरोपाव में वस्त्र अलंकारादि दिये ।। १५ ।।

१—**लेख**—मूल श्लोक १५ में 'तेभ्यः प्रादात्' उनको दिया इसका सम्बन्ध भा० अ० ५ श्लोक ३ में कहे हुए 'विप्रेभ्यः प्रादात्' से है ।

२—**प्रकाश**—१५ श्लोक–दूसरों का पृथक् विवरण (अनुवाद) देने के कारण दूसरों के दान में भी भेद है अर्थात् ब्राह्मणों जैसा दान उन्हें न मिला किन्तु अपनी योग्यतानुसार ही उन्हें दान मिला ।

ढांढ़ी का पद

हौं तो तिहारे घर को ढाढ़ी जाचौं नंद सुजान ।
सोई लेहु जो मन को भायो नंदराय को आन ।। १ ।।
धन्य नंद धनि धन्य यशोदा धनि धनि जायो पूत ।
धनि धनि भूमि धन्य व्रजवासी आनंद करत अकूत ।। २ ।।

श्लोक--**तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत् ।**
विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ--अदीन, निर्लोभी (महान्) आत्मा (मन) वाले नन्दरायजी ने आयें हुओं का कामनानुसार विष्णु की प्रसन्नता के लिये और अपने पुत्र के उदय के लिए यथायोग्य पूजन किया ।

सुबोधिनी--अन्येभ्यो दानमाह **तैस्तैरिति**, येषां येषां ये ये कामा अभिलषितास्तैस्तैः **कामैर्विष्णुबुद्धचा तानपूजयत्**, **अदीनात्मेति**, न दीनोलुब्ध आत्मान्तःकरणं यस्य, ननु यद्यदेयं प्रार्थयेत् कश्चिद्दैत्यो वा तदा किं कुर्यात्तत्राह **यथोचितमिति**, उचितमनतिक्रम्य, देये सम्प्रदाने चोचितत्वं, एवं सर्वेषां पूजनप्रयोजनमाह **विष्णोराराधनार्थायेति**, विष्णुप्रीत्यर्थं, **स्वपुत्रस्याभ्युदयार्थंच**, तस्य ज्ञानानुरोधाद भिन्नतया कथनं, **चकाराद्** ग्रहादिप्रार्थनार्थम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ--दूसरों को भी दान दिया उसका वर्णन करते हैं । नन्दरायजी का अन्तःकरण निर्लोभी था अर्थात् उदार था । इसलिये जिनके मन में जो जो पाने की इच्छा थी उस इच्छा के अनुसार उनका भी विष्णुबुद्धि[1] से आदर सत्कार किया ॥ १६ ॥

शंका—यदि किसी ने अदेय मांगा हो व मांगने वाला असुर था, तब वहाँ नन्दरायजी ने क्या किया ? तहाँ कहते हैं कि योग्यता अनुसार पूजन किया, अर्थात् जिसकी जैसी योग्यता थी उसको उतना दिया और जो कुछ देना योग्य था वही दिया क्योंकि देने और दान में, योग्यता आवश्यक है । इस प्रकार सबों के पूजा करने का प्रयोजन बताते हैं कि विष्णु[1] की प्रसन्नता के लिये, अपने पुत्र[2] की उन्नति के लिये सबों का

१—विष्णु प्रसन्न हों इस बुद्धि से पूजन (आदर सत्कार) किया—लेख

२—योजनाकार सुबोधिनी के 'तस्य नन्दस्य ज्ञानानुरोधात् भिन्नतया कथनं' के आशय को स्पष्ट करते हैं। विष्णु की प्रसन्नता और अपने पुत्र की उन्नति के लिये अलग २ लिखने का भाव यह हैकि नन्दरायजी ने अपने पुत्र को विष्णु से पृथक् लौकिक बालकवत् समझा था । अर्थात् अपने पुत्र को विष्णु रूप नहीं समझा था । तात्पर्य यह है कि शुकदेवजी ने नन्दजी की बुद्धि के अनुसार पृथक् २ कहा है ।

(पृष्ठ ३४ से आगे)

घर घर होत आनन्द बधाई जहां तहां मागध सूत ।
मनि मानिक पाटंबर अंबर दीने मंद बहुत ॥ ३ ॥

हय गज हेम भण्डार दिये सब फेरि भरे सों भात ।
जब ही देत तब ही फिरि देखौं सम्पति घर न समात ॥ ४ ॥

ते मोहि मिले जात घर अपने में बूझी तब बात ।
हँसि हँसि दौरि मिले अंक भरि हम तुम एक जाति ॥ ५ ॥

श्लोक——**रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता ।**
व्यचरद् दिव्यवासःस्रक्कण्ठाभरणभूषिता ।। १७ ।।

श्लोकार्थ——नन्दरायजी द्वारा प्रसन्न की हुई महाभाग्यशालिनी[1] रोहिणीजी[2] सुन्दर वस्त्र, माला और कण्ठाभरणों से भूषित हो इस महोत्सव में फिर रही थीं ।

सुबोधिनी—स्त्रीभ्यो दाने रोहिण्यै दत्तं भयादप्रकटं भवेदिति भगवदावेशाद् दातुः प्रतिग्रहीतुश्च भयाभावं ज्ञापयितुं रोहिणीचरित्रं निरूपयति **रोहिणी चेति**, भगवदागमनव्यतिरेकेणापि बलभद्रोत्पत्त्यैव सा कृतार्थेत्याह **महाभागेति**, यद्यपि देवकीव्यतिरिक्ता अन्या अपि वसुदेव-स्त्रियो भाग्यवत्यस्तथापीयं बाललीलादि द्रक्ष्यतीति **महा-भागेति** वा, चकारात् सर्वा एव स्त्रियः, स्त्रीष्वेव गुप्ततया प्रचारं वारयति **नन्दगोपाभिनन्दितेति**, प्रचारार्थं निर्भय-स्थित्यर्थं च, अत एव दिव्यानि **वासांसि स्रजः कण्ठा-भरणानि तैर्भूषिता**, त्रिविधानि हि स्त्रीणामलंकरणानि भवन्ति वस्त्रमयानि सुवर्णयानि पुष्पमयानि च, तत् त्रयं निरुक्तं, चरणहस्तयोः स्वभावतोपि भवन्ति कण्ठाभरणानि तु पदकहारादीनि वैशेषिकाणि, अतस्तेषां ग्रहणं, विशेषेणाचरत् गृहिणीव सर्वकार्यकर्त्री जाता, अनेन रोहिणीसम्बधादयं कृष्ण इतिज्ञानकृतं भयमपि निवारितम् ।। १७ ।।

पूजन किया । श्लोक में 'च'[3] दिया है इसका आशय बताते हैं कि ग्रहादि की प्रार्थना के लिये भी पूजन किया ।

१—रोहिणीजी को महाभाग्यशालिनी इसलिये कहा है कि वह 'कृष्ण' की सब लीलाएँ (व्रज में की हुई बालादि लीलाएँ और दूसरी भी लीलाएँ) देखेंगी । वसुदेवजी की दूसरी पत्नियाँ कृष्ण की बाल लीलाएँ नहीं देखेंगी । कंस के मरने के बाद जो लीलाएँ होंगी वे ही देखेंगी इसलिये वे स्त्रियाँ केवल भाग्यवतियां थीं ।

२—रोहिणीजी पूर्ण शृङ्गार से सुसज्जित होकर चारों ओर घूम रही थीं इससे 'कृष्ण' वसुदेवजी के पुत्र हैं यह शंका कंस के मन में भी न होगी । इसी प्रकार कंस के भय का भी निवारण हुआ ।—**प्रकाश**

३—'च' का आशय देने से महाप्रभुजी वैष्णवों को बताते हैं कि पुत्र जन्म आदि के समय, वैदिक कर्म ग्रहादि पूजन भी वैष्णवों को करना चाहिये । तदनुसार गोस्वामी बालक एवं वैष्णव समुदाय वैदिक मर्यादा अनुसार सर्व संस्कार अनासक्ति से करते हैं । 'वैष्णव सम्प्रदाय' को अवैदिक कहने वालों को इन पंक्तियों एवं कर्त्तव्यों पर ध्यान देना चाहिये । संस्कारादि के समय अन्य देव ग्रहादि के पूजन से अनन्यता का नाश नहीं होता है क्योंकि वे देव श्रीकृष्ण के ही अंग हैं । अङ्ग और अङ्गी का अभेद है । इसलिये आचार्य चरण ने आज्ञा की है कि 'भगवत्वेन देवतान्तर भजने न कोऽपि दोषः' ।

(सुबो० स्क० १० अ० ८७ श्लोक—१७)

(पृष्ठ ३५ से आगे)

संपति देहु लेहु नहीं एको, अन्न वस्त्र के काज ।
जो तुमपे हों मांगन आयो सोई लेहों व्रजराज ।। ६ ।।
अपने सुत को वदन दिखावो बडे महर शिरताज ।
तुम साहिब हों दाढ़ी तेरो प्रभु मेरो व्रजराज ।। ७ ।।

व्याख्यार्थ—स्त्री वर्ग के दान में, रोहिणीजी को दिया हुआ दान तो कंस के भय के कारण छिपाकर दिया होगा। इस शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि भगवान् के आवेश होने से दान करने वाले एवं लेने वाले को कोई भय नहीं होता है। इसलिये नन्दरायजी ने, जो रोहिणीजी को दिया, वह छिपकर नहीं दिया और न रोहिणीजी ने डर कर छिप छिप कर लिया। इस श्लोक में रोहिणीजी की निर्भयता दिखाने के लिये रोहिणीजी के चरित्र का वर्णन करते हैं।

रोहिणीजी को 'महाभागा' (बड़े भाग्यवाली) इसलिये कहा गया हैं कि भगवान् के आने से पहले ही रोहणीजी से बलरामजी प्रकट हो गये थे। यद्यपि देवकी के अतिरिक्त वसुदेवजी की सब पत्नियाँ भी भाग्यशालिनी थीं, किन्तु बाललीला आदि सब लीलाएँ रोहिणीजी देखेंगी, दूसरी पत्नियां बाललीला नहीं देखेंगी, इस कारण से यह विशेष भाग्यवती है। रोहिणीजी नन्दरायजी से अभिनन्दित (सम्मानित) होने के कारण केवल स्त्री-वर्ग में ही नहीं फिरती थीं, किन्तु सब जगह घूमती हुई सारा गृह-कार्य करती थीं और गृहणी के समान देख रेख करती थीं। रोहिणीजी प्रचार करने और निर्भयता दिखाने के लिये सुन्दर वस्त्र, मालाएँ तथा कण्ठाभरणों से अलंकृत हुई थीं। 'च' अक्षर से बताते हैं कि अन्य स्त्रियां भी दिव्य वस्त्र मालाएँ, कण्ठाभरण पहनकर सुशोभित हुई थी। स्त्रियों के तीन प्रकार के आभूषण होते हैं—(१) वस्त्रों के, (२) पुष्पों के और (३) सुवर्ण के। इसलिये उन्होंने तीन प्रकार के आभूषण धारण किये थे। पैर और हाथों के आभूषण तो यों ही स्त्रियों के सदैव रहते हैं, परन्तु कण्ठाभरण पदकहार आदि विशेष उत्सवों पर पहने जाते हैं। इसलिये उनका यहाँ वर्णन किया गया है। इससे रोहिणीजी के सम्बन्ध के कारण यह कृष्ण (वसुदेवजी के पुत्र) यहाँ आये हैं। यह भय भी मिटा दिया ॥ १७ ॥

श्लोक—**तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् ।**
हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! उस दिन से नन्दजी का सारा व्रज सम्पूर्ण समृद्धिवाला हुआ। भगवान् के घर होने से एवं उनकी आत्मा तथा ऐश्वर्यादि छः गुणों के निवास से वह व्रज लक्ष्मी का क्रीडा भवन हो गया।

सुबोधिनी—एवं सर्वैः प्रकारैः सर्वस्वे व्ययिते नन्दस्य सर्वसमृद्ध्यभावमाशङ्क्य भगवन्निवासात् तस्य महती समृद्धिर्जातेत्याह तत आरभ्येति, यदा पूर्वोक्तदानानि दत्तवांस्ततःप्रभृति विष्णुबुद्ध्या पूजितत्वात् तस्याप्या-

(पृष्ठ ३६ से आगे) *चंद्र वदन दरसन संपति द्वै, सोई ले घर जाऊँ।*
जो संपति सनकादिक दुर्लभ सो सब तुमारे ठाऊं ॥ ८ ॥

नुषङ्गिकमेव तत् फलं, सर्वा धनपशुज्ञानादिसमृद्धयो न केवलं नन्दस्य किन्तु सर्वेषामित्याह व्रज इति, न केवलं समृद्धिमात्रं किन्तु वैकुण्ठवत् कान्तिविशेषोऽपि जात इत्याह हरेरिति, गोकुले गवां सम्मर्दात् स्थानं कुश्लिष्टमेव भवत्यतस्तदभावार्थमेतद् वक्तव्यं, कान्तिश्चाधिदैविकी सर्वोत्तमा, सा लक्ष्मीनिवासादेव भवतीति तदाह **रमाक्रीडमभूदिति, रमाया** आसमन्तात् क्रीडा यस्मिंस्तद् **रमाक्रीडं** वैकुण्ठस्थानं तदभूत्, **हरेर्निवासात्मगुणैरिति**, स हि सर्वदुःखहर्ता भक्तानां वैकुण्ठपर्यन्तं गमनमप्यसहमान इहैव वैकुण्ठं समानीतवानित्यर्थः, आनीतेपि वैकुण्ठे यदि भगवान् न तिष्ठेत् तत्रापि त्रिभुवनसुन्दररूपेण तत्राप्यैश्वर्यादिस्वसर्वगुणप्राकट्येन तदा वैकुण्ठेऽपि शोभा न स्यात् तदाह पदत्रयेण **निवासात्मगुणैरिति, निवासः** स्थानं गृहं स्थितिर्वा, **आत्मा** देहः परमानन्दरूपः, **गुणा** ऐश्वर्यादयः, तैः कृत्वा **रमायाः** क्रीडनं, स्थितौ स्थितिः परमानन्दविग्रहेण रमणं गुणैरासमन्ताद् रमणमिति **नृपेति**सम्बोधनं यत्रैव राजा तिष्ठति सैव राजधानी भवतीतिज्ञापनं सम्मत्यर्थम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—महोत्सव में, इस प्रकार, सर्वस्व देने से नन्दरायजी के पास कुछ नहीं रहा होगा। इस शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि, स्वयं भगवान् के निवास स्थल होने से उन (नन्दजी) के पास पहले से भी अधिक समृद्धि हुई—इसका वर्णन 'तत आरभ्य' श्लोक से करते हैं।

नन्दरायजी के पहले कहे हुए दान देने और विष्णुबुद्धि से पूजन करने के कारण उस दिन से धन, पशु, ज्ञान आदि सर्वप्रकार की समृद्धियां केवल नन्दजी के पास ही नहीं, किन्तु समग्र व्रज में हो गईं, पर यह उसका गौण[1] फल है। न केवल समृद्धियां ही हुई किन्तु व्रज की वैकुण्ठ जैसी विशेष शोभा हुई, क्योंकि व्रज भगवान् का निवास बन गया, उसमें अपनी आत्मा (स्वरूप) और षड्गुणों सहित आप विराजमान् हुए। यों तो व्रज में गौएँ अधिक रहने से वह स्थान गोमयादि के कारण असुन्दर होता है, किन्तु वहाँ तो आधिदैविकी कान्ति (शोभा) सब से उत्तम हुई, वह तो लक्ष्मीजी के निवास से ही होती है, इसलिये कहते हैं कि, वह व्रज रमा के खेलने का स्थान (वैकुण्ठ) बन गया। गोमयादि से असुन्दरता मिट गई और उनमें आधिदैविकता आने से सर्वत्र अलौकिक सुन्दरता आ गई।

वैकुण्ठ में जाने का परिश्रम भी भक्तों को न हो, इसलिये सर्वदुःखहारी भगवान् यहाँ पर

१—विष्णुबुद्धि से किये हुए पूजन का गौण फल है—लेख।

टिप्पणी—प्रथम दान करने से नन्दरायजी को समृद्धि की प्राप्ति हुई, मुख्य फल विष्णु का आराधन मिला, जिससे नन्दजी ने सबका विष्णुबुद्धि से पूजन किया। दान का गौण फल है।

विष्णुबुद्धि से पूजन करने से वेद के दोनों काण्डों के फल नन्दजी को मिले—१—पूर्व काण्ड का फल धन, पशु और उत्तर काण्ड का फल ज्ञान।

'यत्र गावो भूरि शृङ्गा' इस श्रुति में आधिदैविक नित्यसिद्ध, लोक में प्रसिद्ध व्रज को वैकुण्ठ कहा गया है। आधिभौतिक व्रज में वैकुण्ठ को लाए।—लेख

(पृष्ठ ३७ से आगे)

व्रज मे रहों आन नहीं जाचों, प्रसाद तिहारो पाऊं।
हों तो जन्म जन्म को जाचक, सूरदास मेरो नाऊं॥ ९॥

ही वैकुण्ठ को लाए, यदि लाए हुए वैकुण्ठ में भी भगवान् न हों, तो वह वैकुण्ठ भी भक्तों को आनन्ददाता नहीं होता है। इसलिये भक्तेच्छापूरक भगवान् ने भक्तों की अभिलषित कामनाओं की पूर्ति के लिये, अपनी आत्मा (स्वरूप) तथा षड्गुणसहित व्रज को अपना निवास बनाया। भगवान् उनकी आनन्दमय आत्मा तथा षड्गुण के वहाँ विराजने से स्वयं रमा की क्रीडास्थल अर्थात् वैकुण्ठ हो गया अर्थात् परमानन्द स्वरूप का लीला स्थान होने से व्रज अत्युत्कृष्ट (सब से उत्तम) स्थान हुआ। हे राजन्! यह सम्बोधन देने से, यह भाव बताया है कि, जहाँ राजा रहता है, वह 'राजधानी' होती है। आप राजा हो, आपको तो यह अनुभव है ही। जब भगवान् स्वयं व्रज में रहे तो, वह व्रज भगवान् का धाम, वैकुण्ठ बन ही गया, इसमें कोई शंका का अवकाश नहीं है ॥ १८ ॥

आभास---एवमुत्सवं निरूप्य तस्य स्थानस्य वैकुण्ठत्वं चाकृत्रिमोत्सवार्थं निरूप्योसत्वसिद्धिपर्यन्तमत्यावश्यकमपि न कृतवानिति ज्ञापयितुं जात उत्सवेन्तरासक्तिज्ञापनार्थ भगवदर्थमुत्तमवस्तूनामानयनार्थं च मथूरां प्रति गत्वानित्याह गोपानिति अथवा देवकीवसुदेवयोरपि स्नेहातिशयाद् गोकुले भगवन्नयनं कोऽपि जानाति न वेतिसंशये मनसि खेदो भवतीति श्रीनन्दसंवादेन तन्निराकरणपूर्वकं तयोरप्युत्सवः सम्पत्स्यत इत्युत्सवानन्तरमव्यवधानेनैव व्रजेन्द्रस्य मथुरागमनमुच्यते, एवं सत्युत्सवलक्षणोध्यायार्थोप्यान्तः संगच्छत इति तमाह गोपानीति।

आभास का अनुवाद—श्री शुकदेवजी ने इस प्रकार जन्मोत्सव का वर्णन किया, जिसमें यह दिखाया कि यह उत्सव 'बनावटी'* नहीं था, क्योंकि भगवान् के प्राकट्य के कारण उत्सव मनाया गया था, चाहे नन्दजी की बुद्धि ऐसी नहीं थी तो भी वास्तव में तो, आनन्दरूप भगवान्

१०-५-१८ **योजना**—'हरेर्निवासात्मगुणैः' पदों से शुकदेवजी ने देह और षड्गुणों सहित भगवान् का व्रज में निवास कहा है। यहाँ देह शब्द से किसी को शंका हो कि भगवान् की भी मनुष्यवत् देह है क्या? इस शंका को मिटाते हुए योजनाकार कहते हैं कि भगवान् और भगवान् की देह पृथक् नहीं हैं वह भगवद्रूप ही है, इसलिये 'आत्म' शब्द दिया है और शास्त्रों में भी, भगवान् के देह को आनन्द रूप कहा है—जैसा कि 'कृषिर्भूवाचक' श्रुति में कृष्ण को सदानन्द स्वरूप कहा गया है। 'सच्चिदानन्द रूपाय' गोपालतापिनी उपनिषद में, सच्चिदानन्द रूप कहा है। 'आनन्दरूपममृतं यद् विभाति' श्वेताश्वतर उपनिषद में 'आनन्द रूप अमृत' कहा गया है। 'सच्चिदानन्द विग्रह' नन्दव्रज जनानन्दी ब्रह्माण्ड पुराण में नन्द के व्रज को आनन्ददाता सच्चिदानन्द शरीर धारी कहा है। इत्यादि प्रमाणों से कृष्ण आनन्दस्वरूप है, उनकी देह उनसे पृथक् नहीं है वह देह भी आनन्दात्मक ही हैं।

* लेख १०-५-१८—उत्सव बनावटी नहीं था। भगवान की अकृत्रिम उत्सव की लीला तो नित्य वैकुण्ठ में ही होती है। भूतल पर तो, जो लीला होती है वह (भूतल पर की हुई लीला) कृत्रिम (बनावटी) ही होगी, आप कैसे कहते हो कि लीला अकृत्रिम थी। इस शङ्का को मिटाने के लिये ही भगवान् ने गोकुल को वैकुण्ठ बना दिया था। इससे सिद्ध होता है कि उत्सव अलौकिक था।

के प्राकट्य के कारण सब के मन में उल्लास प्रकट हुआ, जिससे इतना महामहोत्सव मनाया गया और वह स्थान वैकुण्ठ बन गया। ऐसे महोत्सव में लगने के कारण, नन्दजी दूसरे आवश्यक कार्य भी न कर सके, तो भी, उत्सव पूरा होते ही, अन्तरासक्ति होने पर भी, भगवान् (पुत्र) के लिये सुन्दर वस्तु लाने को मथुरा गए। यह 'गोपान्' इस श्लोक से वर्णन करते हैं (अथवा वसुदेवजो और देवकीजी का भी भगवान् में अतिशय स्नेह है) भगवान् को हम गोकुल में छोड़ आए हैं इसका ज्ञान किसी को हुआ भी है या नहीं, इस संशय से उन के मन में खेद होता था। नन्दरायजी से बातचीत होने पर उन का वह खेद मिटेगा और उनको भी प्रसन्नता होगी। इस कारण से भी नन्दरायजी उत्सव पूर्ति होते ही बिना कुछ दिन ठहरे, मथुरा चले गए, जिसका वर्णन करते हैं। ऐसा करने से इस अध्याय का अर्थ उत्सव है, इसकी भी सिद्धि हो जाती है। मथुरागमन का वर्णन 'गोपानिति' इस श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**गोपान् गोकुलरक्षायां निरूप्य मथुरां गतः।**
नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं कुरूद्वह ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—हे कुरुनन्दन! नन्दरायजो गोकुल की रक्षा के लिये गोपों को नियुक्त कर, आप कंस को वार्षिक 'कर' देने के लिए मथुरा गए।

सुबोधिनी—एतेन वसुदेवकृतस्थितिनिषेधानन्तरं व्रजेन्द्रस्य पुनर्मथुरायामनागमनाद् व्रज एव **कंसनै**रपेक्ष्येण यथासुखं स्थित्या भगवदैश्वर्यमपि निरूपितं भविष्यति, पूर्वं रक्षायामनादरः स्थितः, इदानीमादरेण **गोकुलरक्षार्थं गोपान**न्तरंगानादिश्य स्वयं **मथुरां गतः**, करो हि सर्वाभिः प्रजाभिर्दीयते, इदानीमपि तस्मिन् देशे श्रावण्यनन्तरमेव करप्रवृत्तिः, वर्षपर्यन्तं यद् देयं तदेकदा दीयते महद्भिः, नन्दस्तु महान् भवतीति तन्नामग्रहणं, कुरूद्वहेतिसम्बोधनं राजधर्मज्ञापनार्थं ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी नन्दरायजी को मथुरा में रहने का निषेध करेंगे, इससे नन्दजी व्रज में लौट कर आने के अनन्तर मथुरा नहीं जाएँगे। कंस की चिन्ता न कर, व्रज में ही निश्चिन्त रूप से निवास कर, सुखपूर्वक दिन व्यतीत करेंगे। इससे भगवान् के ऐश्वर्य गुण का दिग्दर्शन हुआ। पहले गोकुल की रक्षा में नन्दजी का इतना आदर न था। अब अत्यन्त आदर से गोकुल की रक्षा के लिये, अन्तरंग गोपों को आदेश देकर मथुरा गए। कारण कि सारी प्रजा 'कर' देती है। अभी भी इस देश में श्रावणी (श्रावण शुक्ल १५) के अनन्तर कर देने का नियम है। सारे वर्ष में जो कर देना हो वह एक ही दिन बड़े पुरुष (साहूकार) दे देते हैं। नन्दजी महान् हैं

प्रकाश १०-५-१९—'गोपान्' इस श्लोक से सिद्ध करते हैं कि यह अध्याय—ऐश्वर्याध्याय—है। क्योंकि नन्दरायजी वसुदेवजी के निषेध करने के बाद फिर मथुरा में नहीं आवेंगे, व्रज में ही रहेंगे। कंस की थोड़ी सी भी चिन्ता न कर, निश्चिन्त वहाँ सुख पूर्वक समय बिताएँगे।

इसलिये उनका नाम करदाताओं में गिनाया गया है। कुरूद्वह ! यह सम्बोधन राजधर्मज्ञापन के लिये दिया गया है ॥ १९ ॥

आभास--यद्यप्यासक्ति ज्ञापनार्थं पश्चात् करदानं निरूपितं तथापीश्वरे भगवति विद्यमानेत्येभ्यः करदानमनुचितमिति ततः प्रभृति तन्निवृत्त्यर्थम् ।

आभास का अनुवाद—यद्यपि नन्दरायजी की उत्सव में आसक्ति बता कर, यह जताया है कि अब 'कर' नहीं देना चाहिये ऐसा निरूपण किया है, किन्तु वास्तव में ईश्वर (भगवान्) के विद्यमान होते हुए, अन्य को 'कर' देना उचित नहीं है। अब 'कर' नहीं देना चाहिये । यह समझाने के लिये वसुदेवजी का नन्दजी से मिलना आवश्यक है, जिसका वर्णन 'वसुदेव उपश्रुत्य' श्लोक से करते हैं —

श्लोक--**वसुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्दमागतम् ।**
ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे ययौ तदवमोचनम् ॥ २० ॥

श्लोकार्थ--अपने भाई नन्दरायजी का आगमन सुन और राजा कंस को कर दिया, यह जानकर वसुदेवजी उनके डेरे पर गए ।

सुबोधिनी-वसुदेवपुत्रो भविष्यतीतिशङ्कानिवृत्त्यर्थमुत्सवाधिक्यस्य ज्ञातत्वात् कंसकृतोपद्रवाभावार्थं कंसमन्त्रणस्य श्रुतत्वाद् विशेषरक्षार्थं च शीघ्रं नन्दं ततः प्रेषयितुं वसुदेवसमागमनवार्ता निरूप्यते, चतुर्णां मध्य एकस्याप्यभावे नोत्सवः सिध्येदिति, तत्र प्रथमं वसुदेवसमागमनमाह **वसुदेव** इति, मायाकृतस्य ज्ञापनं भगवत्कार्यमिति भगवच्चरित्रता, वसुदेवस्य नन्दस्य च धर्मभ्रातृत्वं, यस्मिन् कल्पे वस्वादिदेवा ब्रह्मण एव जाताः कश्यपोपि भवति ब्रह्मण एव तदा भ्रातृत्वं सिद्धमेव, ततः पूर्वजन्मनि तथैवेति जन्मान्तरेपि धर्मभ्रातृत्वं, तदाह **भ्रातरमिति**, आगमनात्पूर्वं चेच्छृणुयान्निवारयेदेव, करदानात् पूर्वमपि चेज्जानीयात् तदा न दापयेत्, दानपर्यन्तं च राजकीयास्तद**वमोचने** समायान्ति, तेषामज्ञानार्थं **ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञ** इति चोक्तं, **अवमोचनमुत्तरणस्थानं**, शकटादिकमवमुच्य यत्र स्थीयते ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ--(१) जिसके जन्म का हमने ऐसा महान् उत्सव मनाया है, वह वसुदेवजी का पुत्र होगा । इस शंका को मिटाने के लिये, वसुदेवजी का नंदजी से मिलना आवश्यक था ।

(२) कंस को महान् उत्सव का ज्ञान पूर्ण न हो जाय नहीं तो वह उपद्रव करेगा । यह जताने के वास्ते वसुदेवजी का नंदजी से मिलना आवश्यक था ।

(३) कंस ने मंत्रणा कर दूतों को गोकुल आदि स्थानों में बालकों का नाश करने को भेजा है, इसका ज्ञान वसुदेवजी को था जिसकी सूचना नंदजी को देनी थी सो उन दोनों का मिलना आवश्यक था ।

(४) नंदजी को मथुरा से गोकुल शीघ्र भेज कर, वहाँ पर ही रहने एवं बालकों की रक्षा के लिये कहना था, जिसके लिये वसुदेवजी को उनसे मिलना आवश्यक था।

उपर्युक्त चारों[1] में से एक का भी यदि अभाव हो, तो उत्सव की सिद्धि नहीं होगी। पहले वसुदेवजी के मिलने का वर्णन करते हैं। माया के कार्य को बताना यह भगवत्कार्य होने से भगवत् चरित्र ही है। वसुदेवजी और नंदरायजी आपस में धर्मभ्राता थे। जिस कल्प में वसु[1] आदि देव, ब्रह्मा के पुत्र थे; उस ही कल्प में कश्यप भी उनके पुत्र थे। इस प्रकार पूर्व जन्म में ये दोनों भाई भाई थे। इस दूसरे जन्म में भी पूर्व संस्कार से धर्म भाई हुए हैं, इसलिये शुकदेवजी ने नंदजी का विशेषण 'भ्रातरं' शब्द देकर सिद्ध किया है कि ये दोनों भाई हैं। यदि वसुदेवजी को यह सूचना पहले होती कि नंदजी मथुरा आते है तो वे नंदजी को यहाँ आने से ही रोक देते तथा यहाँ आने पर भी, कर देने से पहले ज्ञात हो जाता कि, यह कर देने आये हैं तो कर देना बंद करवा देते। नंदजी कर जब तक नहीं देंगे तब तक राज कर्मचारी डेरे पर आते रहेंगे, अतः वसुदेवजी ने जब जाना कि नंदजी ने कर दे दिया है और अब कोई भी राज-कर्मचारी उनके पास नहीं आएगा तथा इनसे मेरे मिलने का ज्ञान उनको नहीं होगा, इसलिये अब नंदजी से मिलें। यह सोच कर नंदरायजी से वे मिलने के लिये, उनके डेरे पर गए ॥ २० ॥

१—प्रकाश १०-५-२०—चारों में से एक के भी अभाव से नन्दजी एवं वसुदेवजी तथा अन्यों का उत्सव भी अपूर्ण रहता। जिससे अध्याय का अर्थ 'उत्सव' भी सिद्ध न होगा।

शंका—नन्दजी के डेरे पर मिले हुए वसुदेवजी और नन्दजी का संवाद भगवत्चरित्र न होने के कारण दशम स्कन्ध में यह प्रसंग नहीं देना चाहिये।

समाधान—इस शंका निवृत्ति के लिये सुबोधिनिजी में, (मायाकृतस्यज्ञापनं भगवत्कार्यं, भगवच्चरित्रता तक) कहा है कि माया वेशधारी कंस ने जो मंत्रणा की, वह वसुदेवजी ने नन्दजी को सुनाई। अतः यह भी भगवत्कार्य था, इसलिये यह भगवत्चरित्र होने से दशम स्कन्ध में आ सकता है।

१०-५-२०—'मायाकृतस्यज्ञापनं' का विशेष भाव बताते हुए कहते हैं कि कंस ने गोकुल में (व्रज में) उपद्रव करने के लिये जो जो दैत्य भेजे वे सब माया के कहे हुए वचनों से, जैसा कि नन्द की कन्या रूप धारी माया को, जिस समय कंस ने मारने की तैयारी की, उस समय उसके हाथ से छिटक कर, आकाश में जा, माया ने कंस को कहा था कि 'जातः खलु तवान्तकृत्। यत्र क्वचित् पूर्वशत्रुर्माहिंसीः कृपणान्वृथा।' हे कंस! तेरा अन्त करने वाला पूर्व शत्रु, जहाँ कहीं प्रकट हो चुका है, अब अन्य दीन बालकों को वृथा मत मार। इसका भाव यह है कि तुम्हारा शत्रु मथुरा में नहीं दूसरे स्थान में उत्पन्न हो गया है, वहाँ उपद्रव करो, मथुरा में नहीं। इस माया के ज्ञापनानुसार कंस ने मन्त्रणा कर, गोकुल में उपद्रव कराए, जिनकी सूचना वसुदेवजी 'सन्त्युत्पाताश्च गोकुले' श्लोक द्वारा नन्दजी को देंगे और भगवत् रक्षा के लिये उद्यत करेंगे। इस कारण से यह भगवत्चरित्र है। इस योजनानुसार भी 'प्रकाश' में उठाई शङ्का को मिटाया गया है।

१—नन्दजी 'द्रोण' नामक वसु थे, इसलिये उस जन्म में ब्रह्मा के पुत्र थे।

श्लोक--तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय देहः प्राणमिवागतम् ।
प्रीतः प्रियतमं दोर्भ्यां सस्वजे प्रेमविह्वलः ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ--जैसे देह में प्राण आने पर, देह उठ खड़ी हो जाती है वैसे ही नन्दजी भी वसुदेवजी को देखकर सहसा उठ खड़े हो गये और प्रसन्न हुए तथा प्रेम से व्याकुल हो दोनों भुजाओं से आलिङ्गन करते हुए प्रियतम से मिले ।

सुबोधिनी—भ्रातृत्वज्ञापनार्थं नन्दस्य सन्मानमाह तं दृष्ट्वेति, सहसोत्थानमत्यादरज्ञापकं, लोकव्यवहारादपि भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह देहः प्राणमिवागतमिति, मूर्छितो देहः प्राणे समागते शीघ्रमुत्तिष्ठति तेजोविशेषं च प्राप्नोति यथायःपिण्डोग्निसम्बन्धे तथा सर्वदेवतामये वसुदेवे निकटे समागते तेजो ज्ञानं सर्वे च सद्गुणा वसुदेवनिष्ठा अत्र समागता वसुदेवाधिदैविक रूपं च, तदाह प्राणे समागते देह इवेति, इदं तु भगवच्चरित्रमेव, अत एवात्यन्तं प्रीतः, आगमनेन सर्वस्वप्राप्त्या चात्यन्तं प्रीतः प्रियतमस्तु व्यवहारे स्निग्धो भवति, परमार्थश्च मायां दूरीकृत्य भगवन्तं दत्तवानिति, नह्येताद्दशादधिकः प्रियो भवति, इदानीं च सर्वस्वं दत्तवान्, क्षेमालिङ्गनमाह दोर्भ्यां सस्वज इति, अन्यत् तु कृत्यमालिङ्गनत्याग च न कृतवानित्यत्र हेतुमाह प्रेमविह्वल इति प्रेम्णोद्रतेन विवशो जातः, एताद्दशोपि पुनः स्थानस्थितोग्रिमकार्यं कृतवानितिभगवच्चरित्रम् ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—'तद्दष्ट्वा' इस श्लोक से वसुदेवजी के साथ 'भ्रातृपन' बताने के लिये नंदरायजी द्वारा किये सम्मान का वर्णन करते हैं। 'अकस्मात् उठना' विशेष आदर का सूचक है, लौकिक व्यवहार में भी कोई घर आता है, तो उसका उठकर आदर किया जाता है, किन्तु यहाँ तो वह लौकिकता नहीं थी, इसलिये शुकदेवजी ने 'देहः प्राणमिवागतम्' कहा है, इसका भाव यह है कि जैसे मूर्छित देह में प्राण आते ही, वह शीघ्र उठ कर खड़ी हो जाती है तथा उसमें तेजस्विता आ जाती है जैसे लोहे का गोला अग्नि के सम्बन्ध से विशेष तेज से चमकने लगता है । वैसे ही सर्व देवता रूप, वसुदेवजी के समीप आने से उनके तेज (वसुदेवजी के) ज्ञान और सब सद्गुण, जितने भी उनमें थे, वे सब तथा वसुदेवजी का आधिदैविक स्वरूप[1] भी नन्दजी में प्रवेश कर गया[2]

१—**प्रकाश** : वसुदेवजी का 'नन्दः परमानन्दः' इस श्रुति में जो आधिदैविक स्वरूप वर्णन किया है वह नन्दजी में प्रविष्ट हुआ । आधिदैविक वसुदेवजी को नमस्कारादि कार्य न किये ।—**लेख**

२—**योजना** : वसुदेवजी के आधिदैविक रूप का नन्दजी में प्रविष्ट होने का भाव बताते हैं कि भगवान् का व्रज से मथुरा में पधारने के अनन्तर नन्दजी को ज्ञात होगा कि वे वसुदेवजी के पुत्र हैं तो भी नन्दजी का, जो उनमें उत्कट वात्सल्य भाव था, वह कम न हुआ अर्थात् श्रीकृष्ण को वे अपना पुत्र ही समझते रहे । यदि आधिदैविक स्वरूप का प्रवेश नन्दजी में न होता तो भगवान् की वसुदेवजी के घर में पुत्र की तरह स्थिति और रुक्मिणी से विवाहादि का ज्ञान होने पर 'मेरा पुत्र है' यह बुद्धि मिट जाती और पुत्र स्नेह भी नष्ट हो जाता एवं नन्दजी का निरोध भी न रहता । ऐसा न होकर नन्दजी की वही बुद्धि बनी रहे, इसलिये भगवान् ने वसुदेवजी के आधिदैविक स्वरूप का नंदजी में प्रवेश कराया । जिससे वसुदेवजी के पुत्र का ज्ञान होने पर भी 'स्वपुत्र बुद्धि' मेरा पुत्र है यह बुद्धि स्थिर ही रही ।

इसलिये कहा है कि प्राण आने पर, देह की तरह नन्दजी भी इन गुणों से युक्त होने से स्फूर्तिमान् हो गए। यह सब भगवान् की लीला है इस कारण से नन्दजी अत्यन्त प्रसन्न हुए। अत्यन्त प्रसन्नता के दो कारण हुए—

१—वसुदेवजी का आगमन, २—प्राणों की तरह सर्वस्व देना। विशेष प्रियतम तो व्यवहार से दयालु एवं मनोहर होता है। वसुदेवजी ने भी नन्दजी से माया लेकर भगवान् को दिया। ऐसे दयालु भ्राता से विशेष प्रिय कौन होगा ? अर्थात् कोई नहीं होगा। इस समय तो अपना सर्वस्व (तेज, ज्ञान एवं आधिदैविक रूप आदि) भी दे दिया। इन कारणों से नन्दजी ऐसे प्रेम विवश हुए कि प्रेम से वसुदेवजी का दोनों भुजाओं से गाढ़ आलिंगन किया और छोड़ नहीं सके अर्थात् नंदजी और वसुदेवजी एक रूप हो गये। ऐसे प्रेममग्न एक रूप होते हुए भी स्थान पर ही आगे के कार्य करने लगे। यह भी भगवत्चरित्र (लीला) है ॥ २१ ॥

श्लोक—**पूजितः सुखमासीनः पृष्ट्वाऽनामयमादृतः ।**
प्रसक्तधीः स्वात्मजयोरिदमाह विशाम्पते ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—नन्दरायजी से पूजा और आदर पाकर अपने पुत्रों में आसक्त बुद्धि वाले वसुदेवजी सुख पूर्वक बैठे और आरोग्य पूछकर, यह कहने लगे कि हे वैश्यों के स्वामी !

सुबोधिनी—लौकिकमाह **पूजित** इति, अन्यथा देवगुह्यमुच्यमानमस्मिन् न स्थिरीभवेत, आदौ पूजितस्ततः सङ्कोचाभावेन सुखमुपविष्टः स्वयमप्यनामयमारोग्यं पृष्ट्वा 'वैश्यं पृच्छेदनामय' मितिवाक्यादादृतो नन्देन परमादरेण गृहीतः, देवगुह्यकथनार्थं हेतुमाह **प्रसक्तधीः, स्वात्मजयो**-रिति, एकः पुत्रो नन्देनापि ज्ञायते परस्तु न ज्ञायत इति साक्षादुभयोः कुशलं प्रष्टुमशक्यमतः साधारणं प्रष्टव्यमिति तस्य प्रकृतानुपयोगित्वमाशङ्क्य हेत्वर्थमाह प्रकर्षेण सक्ता धीर्यस्येति, इदं वक्ष्यमाणं, साधारणं रूपमाह **विशाम्पत** इति, देशानां राजेतिसम्बोधनं गूढवचनज्ञानार्थम् ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में लौकिक प्रकार कहते हैं (पूजितः) पूजे हुए। यदि वसुदेवजी नंदजी द्वारा पूजादि[1] से आदर न पाते तो वसुदेवजी, जो देव गुह्य (जिसको देवता ही जानते हैं) कथा नंदजी

१—**प्रकाश**—शास्त्र में कहा है कि 'पूज्य पूजा व्यतिक्रम' पूजनीय की पूजा न करने से 'दोष' लगता है इसलिये यदि नन्दजी वसुदेवजी का पूजन न करते तो दोष के भागी होते। इस दोष से बचने के लिये शास्त्रवचनानुसार नन्दजी ने वसुदेवजी का पूजन किया। इससे देवगुह्य भी नन्दजी के चित्त में स्थिर हुआ।

योजना—गुरु की पूजा से ही ज्ञान स्थिर होता है। वसुदेवजी उपदेश देने के कारण नन्दजी के गुरु हैं। इसलिये गुरु पूजा आवश्यक होने से नन्दजी ने वसुदेवजी का पूजन किया; यों गुरुपूजन करने से वसुदेवजी का उपदेश नन्दजी के चित्त में स्थिर हुआ। तदनुसार शीघ्र गोकुल गये।

को बताते, वह नंदरायजी के हृदय में स्थिर न होती। इसलिये नन्दजी ने पहले वसुदेवजी का पूजन किया। पूजन होने से वसुदेवजी के हृदय से बैठने आदि का संकोच निकल गया। जिससे सुखपूर्वक बैठे और वसुदेवजी ने भी 'वैश्यं पृच्छेत् अनामयम्' वैश्य से मिले तब आरोग्य पूछे। इस शास्त्र वचनानुसार नन्दजी से पहले आरोग्य पूछ कर नंदजी का आदर किया। वसुदेवजी ने नंदजी से देवगुह्य वार्ता क्यों की, तो कहते हैं कि, 'प्रसक्तधीः' अर्थात् वसुदेवजी अपने पुत्रों में अत्यन्त आसक्त बुद्धि वाले थे, इस कारण से वसुदेवजी देवगुह्य बातें भी नंदरायजी से छिपा नहीं सके। यद्यपि नंदजी को एक पुत्र (बलराम) का तो ज्ञान था कि, यह वसुदेवजी का पुत्र है किन्तु दूसरे का ज्ञान नहीं था कि यह मेरा पुत्र भी वसुदेवजी का ही पुत्र है। उसको तो वे अपना ही पुत्र समझते थे, इसलिये दोनों की कुशलता स्पष्ट पूछना कठिन था, इसलिये साधारण रीति से पूछना चाहिये। यह अवसर इसके पूछने का नहीं है तो भी 'आसक्तधी' होने से साधारण रूप से पूछेंगे इसलिये कहा 'विशाम्पते' हे देशों के राजा! यह सम्बोधन गूढ़ वचनों का (जो वसुदेवजी सूक्ष्म रीति से कहेंगे) ज्ञान नन्दजी को कराने के लिए है॥ २२॥

वसुदेव उवाच

श्लोक—दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते।
प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत् समपद्यत॥ २३॥

श्लोकार्थ—हे भाई! तुम अत्यन्त वृद्ध हो गये। तुम्हारे कोई सन्तान न थी। तुम संतान की आशा भी छोड़ चुके थे। यह बड़े आनन्द की बात है कि अब तुम्हें संतान प्राप्त हुई।

सुबोधिनी—आदौ तं पुत्रवत्त्वेन प्रोत्साहयति **दिष्ट्ये**ति, हे **भ्रातः प्रवयसो** वृद्धस्य **ते प्रजाशायां निवृत्तायां** प्रजाशायाः स्वयमपि निवृत्तस्य **प्रजा समपद्य**तेति यद् **दिष्ट्या** परमभाग्येन, **इदानीम-प्यप्रजस्ये**ति, यद्यपि स्पष्टतया निरूपितः प्रजाभावस्तथा-प्यन्वये भ्रमो भगवत्कृतो निरूपितः, **अप्रजस्ये**ति, कृत्रिमप्रजापि न सम्पादितेति ज्ञापितं, वृद्धत्वात् स्वरूपा-योग्यता निरूपिता, **आशाया निवृत्तत्वात्** प्रयत्नो निवारितः, इच्छाया अपि निवृत्तत्वात् पुरोहितादिद्वारापि प्रयत्नो निवारितः, प्रजाशब्दोपत्यमात्रवाची, अतो नानृतं, **समपद्यते**त्यकस्मादागमनं, मायायामपि रेतोजनितत्वा-भावाय वृद्धत्वादिकीर्तनं, तं प्रति भगवत्यपि तथात्व-ज्ञापनायोभयं भगवदिच्छयातो **दिष्ट्ये**त्युक्तं, अनेन सामा-न्यतस्तस्य स्वरूपमप्युक्तं अन्यथा भ्रातृवञ्चने दोषः स्यात्॥ २३॥

व्याख्यार्थ—पहले पुत्र वाला बता कर नंदजी को 'दिष्ट्या' इस श्लोक से प्रोत्साहित करते हैं।

हे भाई ! वृद्ध होने से प्रजा होने की आशा छूट गई थी एवं आपने भी प्रजा की आशा त्याग दी थी, किन्तु बड़े भाग्य से बिना प्रजा वाले भी आपको प्रजा प्राप्त हुई, इसकी आपको बधाई है। अभी भी बिना प्रजावाले आपको प्रजा हुई। यह वसुदेवजी ने स्पष्ट कह दिया। श्लोक में 'अप्रजस्य' शब्द के साथ में 'इदानीं' शब्द दिया है[1]। इससे इदानी शब्द को 'अप्रजस्य' के साथ लाने पर अर्थ होता है कि अभी भी आप प्रजा (सन्तान वाले) नहीं हो अर्थात् इस संकेत से वसुदेवजी ने बता दिया कि यह कृष्ण मेरा पुत्र है। यदि 'इदानीं' शब्द इसके साथ न लिया जाय तो अर्थ होगा कि आप पहले बिना प्रजावान् थे 'इदानीं' अभी आपको प्रजा हो गई है। इस तरह अन्वय में[2] भ्रम भगवत् इच्छा से हुआ। जिससे वसुदेवजी का झूठापन भी मिट जाता है और कंस को भी यह ज्ञान न हो कि वह वसुदेवजी का पुत्र है। 'अप्रजस्य' बिना प्रजावाले आपको इस शब्द से यह भी संकेत कर दिया कि आपके दत्तक आदि सन्तान भी नहीं है। बूढ़ा कहने से सन्तान उत्पन्न करनेवाले स्वरूप की अयोग्यता दिखाई। आशा न रही, इससे प्रयत्न की भी आवश्यकता न रही, इच्छा ही न रही, तो पुरोहितों द्वारा भी प्रयत्न न कराये। प्रजा शब्द अपत्यवाचक[3] (पुत्र वा पुत्री कोई भी संतान है, इसलिये प्रजा शब्द कहने से वसुदेवजी झूंठ भी नहीं कहा। श्लोक में 'समपद्यत' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि अचानक को आजावे यह अर्थ है, इसलिये आपके यहाँ किसी का जन्म नहीं मात्र अचानक आना हुआ है 'माया' भी वीर्य से उत्पन्न हुई थी इसी तरह भगवान् भी फिर बूढ़े तो हो ही, तो यह सब जो कुछ हुआ है वह भगवद् इच्छा

१—**टिप्पणी**—'इदानीं अप्रजस्य' का भावार्थ बताते हैं कि एक कन्या (माया) हुई थी वह भी आपके पास रही नहीं, इसलिये आप अब प्रजा (सन्तान) रहित हो। 'प्रजा समपद्यत' का भाव बताते हैं जो कि पहली कन्या नहीं अब तो पुत्र सन्तति आ गई। यह भगवान् के यहाँ आने के कारण वसुदेवजी ने कहा। यह सब वसुदेवजी की बुद्धि के अनुसार कहा गया है। यदि इस तरह अभिप्राय न हो तो 'बिना प्रजावाले' आपको प्रजा हुई इन दोनों में परस्पर विरुद्ध वाक्य की संगति नहीं होती।

२—**प्रकाश**—'अन्वय' शब्द का आशय बताते हैं कि—लौकिक रीति से उत्पन्न प्रजा को अन्वय (वंश) कहा जाता है। यहाँ लौकिक रीति से प्रजा नहीं हुई है इसलिये 'अप्रजस्य' कहना सत्य है। अर्थात् इस समय आपके प्रजा नहीं है। टिप्पणीकार प्रभुचरण ने पहिले नन्द गृह में भगवान् का प्राकट्य कहकर, अब 'अप्रजस्य' का भाव बिना प्रजावाला कैसे बताया। इसका समाधान करते हैं, कि यह कहना वसुदेवजी की बुद्धि के अनुसार है। नन्द के गृह में प्रकट स्वरूप का ज्ञान वसुदेवजी को नहीं है, वसुदेवजी को तो अपने यहाँ प्रकट भगवान् एवं नन्दजी के यहाँ प्रकट हुई माया रूप कन्या का ज्ञान था। कन्या को आप ले गए और भगवान् को वहाँ विराजमान कर गए। इस ज्ञान के कारण वसुदेवजी ने जो कहा उसका अनुवाद मात्र यहाँ किया गया है, अर्थात् वसुदेवजी की बुद्धि के अनुसार वर्णन किया गया है। सुबोधिनीजी में दो प्रकार बताये हैं—(१) माया और भगवान्—दोनों लौकिक रीति, वीर्यादि से उत्पन्न नहीं हुए, इसलिये प्रजा का अभाव। (२) भगवान् प्रकट हुए इसलिये प्रजा सम्पत्ति वाले नन्दजी हैं।

३—**योजना**—प्रजा शब्द अपत्य पुत्र वा पुत्री हो उसको कहा जाता है। इसलिये माया रूप कन्या का जन्म हुआ। इसलिये वसुदेवजी का कहना असत्य नहीं।

से ही हुआ है। इससे प्रसन्नता है। यों कहने से सामान्य रीति से सारी बात का सच्चा स्वरूप, एक भगवान् का स्वरूप भी कह दिया। यदि यों नहीं कहते तो भाई से वञ्चना (धोखेबाजी) करने का वसुदेव को दोष लगता ॥ २३ ॥

श्लोक--दिष्ट्या संसारचक्रेऽस्मिन् वर्तमानः पुनर्भवः ।
उपलब्धो भवानद्य दुर्लभं प्रियदर्शनम् ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ--इस संसार चक्र में चक्कर काटते हुए आपने नया जन्म पाया है फिर आज मुझे मिले हो। यह भाग्य से हुआ है क्योंकि प्रियतम के दर्शन दुर्लभ होते हैं।

सुबोधनी—आगमने जातं दर्शनं चाभिनन्दति दिष्ट्येति, **अस्मिन् संसारचक्रे वर्तमानः पुनर्भवः** पुनरुत्पन्नो **मयोपलब्ध** इति यदेतदपि **दिष्टया**, **संसारो** हि **चक्र**-भ्रमात्मकः, भ्रमणे पतितोत एवाधो गच्छेत्, दूरे स्थितस्तु परिभ्रमेत्, **चक्रे** वर्तमानस्तु पुनर्न दृश्यत एव, **चक्र** एव वर्तमाने उभयोरन्यतरस्य वा मज्जनसम्भवात् मग्नश्चेत् पुनरुत्तिष्ठति तस्य पुनर्भव एव, तथा सर्वमारकस्य कालस्य संवत्सरात्मकस्य वशं गताः पुनर्वत्सरान्ते चेत् तिष्ठन्ति तदा पूनर्भूता एव, संवत्सरः प्रजापतिर्जातो जनकत्वात्, अन्यथा कालो भवेत्, तत्रापि पुत्रादिसौख्यं चेत् प्राप्नुयात् तदा पुनरुत्पन्नः पुत्ररूपेणालौकिकः स्यात्, एतद् भाग्यव्यतिरेकेण न भवतीति **दिष्टया**, अतः **संसारचक्रे** स्थितिरपि **दिष्टया**, **पुनर्भवोपि दिष्टया**, **मयोपलब्धोपि दिष्टया**, मृत्युरस्मन्निकटे सदा वर्तत इति, **भवानिति** स्नेहः:, **अद्येत्यलभ्यलाभः**, एतस्य केवलमदृष्टसाध्यत्वे हेतुमाहदुर्**लभं प्रियदर्शनमिति**, संसारे सर्वमप्रियं दुःखदत्वात् तत्र **प्रियदर्शनं दुर्लभमेव**, **प्रियस्य** प्रीतिजनकस्य ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ—और[1] वसुदेवजी नन्दजी के यहाँ आने पर उनके दर्शन का अभिनन्दन (प्रशंसा) करते हैं। संसार रूप भंवर में परिभ्रमण द्वारा इधर से उधर प्राप्त हुए। आपको आज मैंने पाया है यह भी हमारा आपका नया जन्म है इसलिये हर्ष की बात है। संसार फिरते हुए चक्र (भंवर) के समान है उसमें पड़ा हुआ नीचे चला जाता है, दूर रहने वाला चक्कर काटता है और चक्र में पड़ जाने पर तो अदृश्य ही हो जाता है। वसुदेवजी नन्दजी से कहने लगे कि इस संसार चक्र में हम दोनों ही डूब जाते अथवा कोई एक डूब जाता तो जो डूब कर निकलता, उसका पुनर्जन्म ही कहा जाता है। सर्व नाशकारी संवत्सर रूपी काल के आधीन होने पर भी यदि कोई व्यक्ति संवत्सर पूर्ण होने के अनन्तर जीवित रहता है तो उसका जन्म नया ही समझना चाहिये। संवत्सर काल रूप होते हुए भी प्रजापति इसलिये कहलाता है कि वह किसी किसी को अपने (संवत्सर के) पश्चात् नया जन्म देता है। यदि ऐसा न करे तो प्रजापति नामकी सार्थकता न हो, मात्र काल रूप ही रह

१—लेख—'और' शब्द पहले श्लोक २३ व २४ का सम्बन्ध बताता है। पहले श्लोक में नन्दजी का उत्साह बढ़ाया इसमें दर्शन का अभिनन्दन किया।

जावे । इसमें भी जो कदाचित् संवत्सर पूर्ण होने के अनन्तर सन्तानादि सुख की भी प्राप्ति हो गई हो, तो पुत्र रूप से फिर उत्पन्न होना तो अलौकिक[1] ही है । यह भाग्य के अतिरिक्त नहीं होता है, इसलिये बधाई है ।

आपका संसार रूप भंवर में रहना भी महान् हर्ष का विषय है । नया जन्म भी महाभाग्य है । मुझे मिले यह भी महान् उत्सव है । मृत्यु तो अपने पास ही सदा रहती है । 'भवान्' (आप) यह शब्द स्नेह का चिन्ह है अर्थात् इस शब्द से निश्चित रूप से अपना स्नेह सिद्ध होता है । अद्य (आज) इस शब्द से यह भाव निकलता है कि मुझे एवं आपको (अलभ्य) नहीं मिलने वाला लाभ मिला है । इसका मिलना केवल प्रारब्ध से ही है कारण कि 'दुर्लभं प्रियदर्शनम्' प्रिय का दर्शन कठिनाई से होता है । संसार में बहुत करके पदार्थ दुःख देने वाले होते हैं, आनंद देने वाला एक प्रियतम (प्यारा) भाई (मित्र) ही है, जिसका मिलना दुर्लभ है, सो आज मिला है ॥ २४ ॥

श्लोक--**नैकत्र प्रियसंवासः सुहृदां चित्रकर्मणाम् ।**
ओघेन व्युह्यमानानां प्लवानां स्रोतसो यथा ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ--जल के प्रवाह से बहती हुई नौका, तृण और काष्ठ आदि की स्थिति जैसे एक स्थान पर नहीं रहती है, वैसे ही विचित्र प्रारब्ध वाले सम्बन्धियों का सुख देनेवाला निवास एक स्थान पर नहीं रहता ।

सुबोधिनी—एवं खेदेत्रैव स्थातव्यमितिशंकां परिहरन्ननागमनदोषं च परिहरन् दर्शनस्य दुर्लभत्वमुपपादयति **नैकत्रेति**, प्रिययोरेकत्र **संवासो** न सम्भवति, तत्रापि **सुहृदां** बन्धूनां मध्ये **प्रिययोः**, तत्र हेतुश्चित्र**कर्मणा**मिति, यद्येकं कर्म भवेदेकत्रोत्पन्ना भवेयुः प्रपायामेकदा सह समागता इव, तत्राप्यनियमः, तदैव मिलितानां **चित्रं कर्म** येषां, कर्माधीनाः कर्मणैवोत्क्रान्तिगत्यागतिमन्तो भवन्ति, न केवलं कर्माधीना एव, तत्रापि कालो महान् बाधक इति दृष्टान्तेन कालस्य बाधकत्वमाहौघेनेति, प्रवाहेण **यथा** विशेषत उह्यमानाः क्षणं मिलिताः पुनर्वियुक्ता भवन्ति, तत्रापि **प्लवा** नौकारूपाः, तत्रोभयोः प्रवर्तकत्वं जलस्य कर्णधारस्य **च**, प्रवाहस्य सहजत्वख्यापनाय **स्रोतस** इत्युक्तं, अनेन **प्लवानां गमनागमनमध्ये** सङ्गतिः क्षणमात्रमेव भवतीति निरूपितं पारेगतस्यापि दर्शनाभावश्च ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ—नन्दजी से मिलकर यों कहने के अनन्तर वसुदेवजी के मन में दो विचार आये । १—कदाचित नन्दरायजी के मन में यह शका हुई हो कि मैं लौटकर शीघ्र ही गोकुल जाऊँगा तो वसुदेवजी को खेद होगा इसलिये यहाँ ही रह जाऊँ । २—मैं इतने दिन नहीं आया इससे वसुदेवजी अप्रसन्न हुए होंगे। नन्दरायजी के खेद की शंका और देरी से आने के दोष को मिटाने के

१—**अलौकिक**–'आत्मा वै पुत्र नामासि' पिता ही पुत्र नाम धरता है । इसलिये यह अलौकिक है अर्थात् इसका प्रतिपादन (श्रुति) वेद करता है, न कि लोक ।

लिये 'नैकत्र' यह श्लोक कहकर बताया है कि आपका दोष नहीं है और आपको यहाँ रहने की शंका भी नहीं करनी चाहिये। प्रेमियों का एक स्थान पर निवास नहीं होता है। उनमें भी सुहृद् और सम्बन्धियों में जो प्रिय होते हैं उनका तो एक साथ में निवास महान् दुर्लभ है। कारण कि सबके किये हुए कर्म पृथक् २ होते हैं। एक ही कर्म यदि हो तो प्रपा (प्याऊ) में एक बार मिले हुए पुरुषों के समान एक ही स्थान पर सब का जन्म होता। इसमें भी निश्चित (स्थिर) नियम नहीं है कि प्रपा (प्याऊ) में मिले हुए भी जैसे जल के प्रवाह से इधर उधर हो जाते हैं वैसे ही एक कुटुम्ब में उत्पन्न होते हुए भी किन्हीं कारणों से बिछुड़ जाते हैं। इसलिये सब कर्म के आधीन है— कर्म से ही परलोक गमन तथा इहलोक में आगमन आदि होता है। न मात्र कर्म के अधीन है किन्तु वहाँ भी काल[1] महान् बाधक है। दृष्टान्त देकर काल की बाधकता दिखाते हैं। 'ओघेन' (प्रवाह से) जैसे नदी में थोड़ी देर मिले हुए पदार्थ फिर प्रवाह से अलग हो जाते हैं। जैसे नावें भी नदी में आपस मे आकर मिलती हैं इनको मिलाने वाले मुख्य जल और नाविक होते हैं। प्रवाह को, सहज कारण होने से 'नदी' कहा है, इससे समझ में आता है कि नावों का आने जाने के समय मिलाप जैसे क्षणिक है वैसे हो जीवमात्र का भी मिलाप क्षण मात्र ही होता है। पार पहुँचने पर जैसे नाव देखने में नहीं आती है वैसे ही बिछुड़ने के बाद प्रिय सम्बन्धियों मित्रों आदि के भी दर्शन नहीं होते हैं॥ २५ ॥

श्लोक——**कच्चित् पशव्यं विरुजं भूर्यम्बुतृणवीरुधम् ।**
बृहद्वनं तदधुना यत्रास्से त्वं सुहृद्वृतः ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ——जिस महावन में आप अपने बन्धु बान्धवों के साथ रहते हो वह तुम्हारे पशुओं के लिए रोग आदि रहित तो है न, और वहाँ जल, घास और लता आदि की बहुलता तो है न ?

सुबोधिनी—एवं दर्शनं नन्दं चाभिनन्द्य देवगुह्य-प्रकारेणाह **कच्चिदिति**, **कच्चित्** सम्भावनाप्रश्ने, **बृहद्वनं पशव्यं कच्चित्** ? पशूनां हितं **पशव्यं**, यत्र पशवो रमन्ते परम्परया पशूस्थान आधिदैविकपशुसद्भावे वा पशूनां रमणं, तत्रापि **विरुजं**, क्वचिद् देशविशेषे पशूनां रोगा भवन्ति यत्रैवाकाले पशुनाशः, सर्वथा रोगाभावस्तु भगवत्सान्निध्यादिति सामान्याभावेन भगवत्त्वं ज्ञापितं, पशूनां भक्ष्यादिसम्पत्तिं च पृच्छति, **भूरीण्यम्बूनि तृणा-**दीनि **वीरुधो** लताश्च यस्मिन्, जलानां बहुत्वं सरसता-ख्यापकं, तेन दुग्धसम्पत्तिरपि निरूपिता, **तृणानां** बहुत्वं पशूनामभिवृद्धिहेतुः, **वीरुधामाधिक्यं** घृताधिक्यजनकं सौगन्ध्यजनकं च, सम्भावनायां हेतुमाह **बृहद्वनमिति**, अर्थतः शब्दतश्च **बृहद्वनं**, शब्दतो धर्महेतुश्चोक्तः, तदिति प्रसिद्धं, **अधुना यत्रास्स** इति सर्वदास्थितिस्थानं तु प्रष्टव्यं न स्यात्, कदाचित् तस्य स्थितिर्गोष्ठेष्वपि भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **सुहृद्वृत** इति, बन्धुभिः कुटुम्बेनापि सहितो यत्र वर्तस इत्यर्थः ॥ २६ ॥

१—**प्रकाश**—काल प्रवाह रूप है और कर्म नाविक रूप है।

व्याख्यार्थ--इस प्रकार नन्दजी और उनके दर्शन का अभिनन्दन कर, देवगुह्य नीति से कहते हैं--'कच्चित्' यह अव्यय सम्भावना (कल्पना) अर्थ में प्रश्न करने पर दिया जाता है जैसे कहा जाता है कि ऐसा है न? तो यहाँ वसुदेवजी भी महावन के विषय में इसी तरह सम्भावना (कल्पना) से पूछते हैं कि महावन पशुओं का हितकारी है न? इस वन में पशु आनन्द से रमण करते हैं न? यहाँ परम्परा से (पीढ़ियों से) पशुस्थान है, यहाँ के पशुओं में आधिदैविकत्व[1] है इसलिये पशुओं का रमण होता है न? यह स्थान दूसरे स्थानों के समान नहीं है इसलिये 'विरुजं' रोग रहित है न? कोई देश ऐसे भी है जहाँ पशु रोगी होते हैं और अकाल में ही मर जाते हैं। कुछ भी रोग न हो यह तो भगवान् के निकट बिराजने पर होता है। सामान्य रीति से रोग का अभाव दिखा कर यह बता दिया है कि यहाँ भगवान् बिराजते हैं।

पीने के लिये पानी का बाहुल्य है न? तृण लताएँ आदि से भी तो वन हराभरा है न? जल की बहुलता से वन सरस हरा होता है तो दूध भी वहाँ विशेष उत्पन्न होता है अर्थात् दूध की सम्पत्ति का भी इससे पता पड़ जाता है। घास की विशेषता पशुओं के वृद्धि का कारण है। वीरुध अधिक हो तो घृत विशेष उत्पन्न होता है और वन सुगन्धित रहता है। वसुदेवजी ऐसी सम्भावना इसलिये करते हैं कि इसको 'बृहत् वनं' कहा है अर्थात् यह वन ही महावन है इसके अर्थ से इन पदार्थों का इसमें अधिक होना स्वाभाविक है। और 'बृहद्वनं[2]' इस शब्द से भी जाना जाता है कि यह 'वन' धर्म का भी हेतु (कारण) है। 'तद्' शब्द से इस महावन की प्रसिद्धि सूचित की गई है। 'अधुना यत्र आस्से' (अभी जहाँ रहते हो) सर्वदा रहने का तो पूछना ही नहीं था! कभी तो आप गोष्ठ में भी रहते हैं। इस गोष्ठ में रहना भी सर्वदा नहीं, इसलिये पूछते हैं कि सुहृद् और सम्बन्धियों के साथ जहाँ रहते हो वहाँ तो सब प्रकार से कुशल है न? ॥ २६ ॥

श्लोक--**भ्रातर्मम सुतः कच्चिन्मात्रा सह भवद्व्रजे ।**
तातं भवन्तं मन्वानो भवद्भ्यामुपलालितः ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ—हे भाई! मेरा पुत्र जो आपको पिता करके मानता है और माता के

१—लेख : भगवान् जैसे 'गोकुल' में वैकुण्ठ लाये वैसे ही वहाँ के गौ आदि पशु भी आये। इसलिये श्रुति में 'यत्रगावो भूरिश्रृङ्गा' लिखा है। जिस वैकुण्ठ रूप गोकुल में बड़े २ श्रृङ्ग वाली गौएँ है अतः आधिदैविक हैं। इनमें रोगादि भी नहीं।

योजना—कृष्णोपनिषद् में 'गोप्योगाव ऋचस्तस्ययष्टिका कमलासनः'। इसमें गौओं और गोपियों को श्रुतिरूपा कहा हैं ऐसी ये गौएँ आधिदैविक हैं।

२—प्रकाश : 'बृहद्वनं' बृहत् शब्द से वन को धर्म का हेतु और अक्षर रूप बताया गया है।

लेख—'बृहद्वनं' गोचारण रूप धर्म की सिद्धि होगी।

साथ आपके व्रज में रहता है, एवं आप दोनों (नन्द यशोदा) प्रेम के साथ जिसका लालन पालन करते हो, वह कुशल से है न ?

सुबोधिनी—एवं देशकुशलतां पृष्ट्वा बालकयोः कुशलं पृच्छति **भ्रातरिति**, अन्यत्र भार्यापुत्रयोः स्थापनमनुचितमिति **भ्रातरित्युक्तं मम सुत** इति स्वानुभवः, **मात्रा सह भवद्व्रजे** कुशली कच्चित् ? रक्षामात्रमेव तव कर्तव्यं, बालकशुश्रूषा त्वन्यत एव सिद्धा, भाराधिक्यं वा, **तातं भवन्तं मन्वान** इतिदीनत्वं, पालनादिकं लौकिकं न प्रष्टव्यमेव यतो **भवद्भ्यां नन्दयशोदाभ्यामुपलालितः**, पालनप्रीणनान्तरमुपलालनमतस्ते च निरूपिते, भगवांस्तु न प्रष्टव्य एव, प्रकारान्तरेण तु पृष्ट एव ।। २७ ।।

व्याख्यार्थ—देश का कुशल[1] पूछकर अब बालकों का कुशल पूछते हैं। 'भ्रातः इति' 'भ्रातः' कहने का भाव बताते हैं कि स्त्री व पुत्र दूसरे के पास छोड़ना अयोग्य है, तो वसुदेवजी कहते हैं कि नहीं, मैंने दूसरे के पास नहीं छोड़े हैं, ये तो मेरे भाई हैं। मैंने भाई के पास भेजे हैं। इसलिये 'भ्रातः' कहा। 'मम सुतः' मेरा पुत्र क्यों कहा ? कि वसुदेवजी को अपना स्पष्ट अनुभव था कि मेरा पुत्र है। माता के साथ कुशल से तो हैं न ? इस माता शब्द कहने का तात्पर्य यह है कि हे भाई ! आपको तो केवल उसकी रक्षा ही करनी है, शेष अन्य शुश्रूषा तो दूसरे अर्थात् माता आदि करेंगे। आपको पिता मानकर बालक (मेरा पुत्र) दीनता प्रकट करता है। पालनादि तो लौकिक है, उसके पूछने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आप (नन्द, यशोदा) पालन, प्रीणन (प्रसन्नता) के अनन्तर उपलालन—ये सब प्रेम से करते ही हो। भगवान् के लिये तो पूछना ही नहीं किन्तु दूसरी रीति से तो पूछ ही लिया है।। २७ ।।

श्लोक—**पुंसस्त्रिवर्गोभिहितः सुहृदो ह्यनुभावितः ।**
न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते ।। २८ ।।

श्लोकार्थ—पुरुष के लिए वही त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) शास्त्र विहित है जिससे बन्धु बान्धवों का भी अभ्युदय हो। जिस त्रिवर्ग से बन्धु बान्धवों को क्लेश हो वह श्रेयस्कर नहीं है।

१—लेख : २६ वें श्लोक में देशकुशलता का पूछने का आन्तरिक उद्देश्य (तात्पर्य) भगवान् (अथवा दोनों पुत्रों) की कुशलता पूछने का था। अर्थात् देश में घृत, धान्य, निरोगता आदि हैं तो हमारा पुत्र भी सुख पूर्वक आनन्द में होगा।

इस श्लोक में स्पष्ट रूप से बलभद्रजी की कुशलता पूछते हैं किन्तु सामान्य प्रश्न से दोनों बालकों की कुशलता पूछ ली है।

सुबोधिनी—नन्विदानीं तवापि सर्वा समृद्धिरस्त्यतः कथं दैन्यं भाषस इत्याशंक्याह **पुंस** इति, **पुंसस्त्रिवर्गो** धर्मार्थकामाख्यः शास्त्रेभिहितः कर्तव्यत्वेन समीचीनत्वेन च परं **सुहृदः** सम्बन्धी चेत्, एकाकिना तु मोक्षः किल सम्पादनीयो न धर्मादित्रयं, हि युक्तश्चायमर्थः, एकाकिनस्त्रिवर्गविध्यभावात् प्रयोजनाभावाच्च, सुहृत्पदेन चेतनविषयमात्रत्वमुक्तं, तेन यत्र क्वापि त्रिवर्गफले सुहृदो भवन्त्येव, किञ्च न सुहृत्सम्बन्धमात्रेण त्रिवर्गस्योपयोगः किन्तु सुहृदैवानुभावितः पुष्टः सह संवर्धित इत्यर्थः, ततः किमत आह **न तेष्विति, तेषु क्लिश्यमानेषु** सुहृत्सु सत्सु-त्रिवर्गः **पुरुषार्थाय न कल्पते** पुरुषार्थरूपो न भवति, तेषां तत्र मुख्यत्वात्, यथात्मनः कंसस्य पुत्रमारकत्वान्नाकारणं देवकीपुत्रत्वं सम्भाव्येतेति, अतो दीनत्वमुचितमेव ।।२८।।

व्याख्यार्थ—नन्दजी के मन में यह शङ्का हो कि तुम्हारे पास भी सर्व समृद्धि है फिर तुम दीनता क्यों दिखा रहे हो ? इस शङ्का को मिटाने के लिये 'पुंसः' यह श्लोक कहा है ।

शास्त्रों में पुरुष के लिये त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) सिद्ध करने की आज्ञा है; किन्तु वह त्रिवर्ग, जब सुहृदों के सम्बन्ध वाला हो तब अर्थात् उस त्रिवर्ग से सुहृदों को भी लाभ हो, न कि उस अकेले को ही लाभ हो । अकेले के लिये तो, त्रिवर्ग सिद्ध करने की शास्त्राज्ञा नहीं है । वह तो चौथे पुरुषार्थ मोक्ष को ही सिद्ध करे । श्लोक में 'हि' शब्द इस वास्ते दिया है कि निश्चयपूर्वक अकेले को मोक्ष ही सिद्ध करना चाहिये । अकेले के लिये त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) सिद्ध करने की आज्ञा नहीं है । सुहृद् पद से चेतन[1] मात्र समझने चाहिये । इससे कहीं न कहीं त्रिवर्ग के फल

१—लेख : सुहृद् शब्द से मात्र सम्बन्धी नहीं समझने चाहिये किन्तु चेतन मात्र समझने चाहियें । कारण कि तीन पुरुषार्थों में से काम पुरुषार्थ में तो सम्बन्धियों का स्पष्ट उपयोग होता है किन्तु धर्म और अर्थ में दूसरों का भी उपयोग होता है जैसे धर्म-कार्य (यज्ञादिक) में ऋत्विक् एवं अर्थ कार्य (व्यापारादि) में काम करने वाले मुनीम आदि का उपयोग होता है । अतः 'सुहृद्' शब्द का अर्थ चेतनमात्र समझना चाहिये ।

योजना—योजनाकार 'आत्मनः कंसस्य पुत्र मारकत्वान्नाकारणं देवकी पुत्रत्वं संभाव्येत' के सम्बन्ध में अपनी सम्मति देते हैं कि नन्दजी ने वसुदेवजी को पुत्र जन्मोत्सव में नहीं बुलाया कारण कि कंस वसुदेवजी के पुत्रों का नाशक है एवं उनके बुलाने से कंस समझेगा कि यह देवकीजी के पुत्र हैं तो अनर्थ होगा इसलिये नन्दजी ने मुझे बुलाया नहीं किन्तु सुहृदों के न होने से उत्सव में आनन्द नहीं हुआ । अर्थात् मेरे न जाने से नन्दरायजी का चित्त प्रसन्न नहीं रहा । अतः नन्दजी के त्रिवर्ग की भी मेरी तरह सार्थकता नहीं हुई । इस पंक्ति के कहने से वसुदेवजी का यह आशय प्रकट होता है ।

१०-५-२८ टिप्पणी—'आत्मनः कंसस्य' वसुदेवजी के नन्दजी अतिप्रिय थे इसलिये नन्दजी को प्रसन्न करने के लिए उन्हें अपने घर पर बुलाना उचित था । तो भी वसुदेवजी ने इसलिए नहीं बुलाया कि इससे कंस समझेगा कि यह देवकी का पुत्र है तो नन्दजी का अनिष्ट (बुरा) करेगा । जिससे मेरे प्रिय नन्दजी दुःखी होंगे इसलिये नहीं बुलाया । इस उक्ति से कहा—यह भी एक दुःख ही है । वसुदेवजी ने भी इस कारण से नन्दजी को नहीं बुलाया । इस तरह दोनों का सम्बन्ध बताया ।

साधन बल त्याग जिन्होंने भगवदाश्रय ही लिया है उनका फलरूप भगवान् गोकुल में प्रकट हुआ है इसलिये हम सब तरह से निश्चिन्त हुए हैं ।

में सुहृद मिल ही जाते हैं। सुहृदों के सम्बन्ध मात्र से, त्रिवर्ग का उपयोग नहीं है, किन्तु सुहृदों द्वारा पुष्ट (बढ़ाया) हुआ त्रिवर्ग लाभदायी सार्थक होता है; ऐसा हो तो क्या ? इसका उत्तर देते हैं कि उस त्रिवर्ग से सुहृदों को यदि लाभ न होवे और सुहृदों को कष्ट हो, तो त्रिवर्ग सिद्धि पुरुषार्थ रूप और सार्थक नहीं है। त्रिवर्ग में सुहृद् ही मुख्य हैं, जैसे वसुदेवजी के पास त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) सिद्ध भी थे किन्तु वसुदेवजी नन्दजी को अपने घर बुला नहीं सकते हैं क्योंकि नन्दजी को बुलाने से वसुदेवजी के पुत्रों का नाश करने वाले कंस को यह निश्चय होगा कि नन्दजी के यहाँ जो बालक (भगवान्) है वह वसुदेवजी का पुत्र है इसलिये वसुदेवजी नन्दजी को अपने पास नहीं बुलाते हैं। जिससे वसुदेवजी का त्रिवर्ग सुहृदों के काम न आने से व्यर्थ ही है। इस कारण से वसुदेव को दीनता दिखाना योग्य ही है ॥ २८ ॥

श्लोक—**अहो ते देवकीपुत्राः कंसेन बहवो हताः ।**
एकावशिष्टावरजा कन्या साऽपि दिवं गता ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ—अहो ! खेद व आश्चर्य है कि देवकी से उत्पन्न तुम्हारे बहुत से पुत्र कंस ने मार डाले। अन्त में उत्पन्न हुई एक कन्या ही शेष थी वह भी स्वयमेव स्वर्गलोक को चली गई।

सुबोधिनी—द्रव्यादिदानं तु भेदजनकं, एतत् पृष्टम-वचनेनैवाङ्गीकृत्य वसुदेवस्य सम्भावनामाह **नन्दः अहो** इति, लोकरीत्या तस्य दुःखे निरुक्ते दुःखाभावो भवति, परमार्थज्ञाने च वसुदेवस्य सुखं भवति, वृत्तान्तकथनेन स्वस्यैतदन्वेषणं सर्वदेति ज्ञापितं, यद्यपि वसुदेवस्य बह्वः स्त्रियस्तासां पुत्राश्च कुशलिनोपि **देवकीपुत्राः कंसेन बहव** एव (षड्) **हताः**, सर्वैरेव भगवद्गुणैः सह तस्य द्रोहः सिद्धः, अत एव **अहो** इत्याश्चर्यं, एको हि मारणीयः, **एका त्ववशिष्टावरजा**, सर्वान्ते जाता, एतद् भगवच्चरित्रं अन्यथान्यवचनानां निरूपणमत्र नोपयुज्येत, **सापि** चेदपत्यादिकमुत्पाद्य विवाहनन्तरं गच्छेत् तथापि देवक्याः कृते वंशस्तिष्ठेत् तदन्यावृत्त्यर्थमाह **कन्येति**, सापि सिद्धापि देवतारूपापि पुत्राभावखेदनिवर्तिकापि **दिवं गतां** स्वयमेवोड्डीय सशरीरं गता, अनेन न केवलं कंसस्यैव दोषो भाग्यमेव तादृशमिति ज्ञापिते, अन्यथा पश्चात् सा समागच्छेत् ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी नन्दजी को कंस के डर से घर नहीं बुला सकते थे तो धन देकर इनका आदर करते। वहाँ कहते हैं कि 'द्रव्यादि दानं तु भेद जनकं' सुहृद् संबन्धियों को द्रव्य देना भेद का द्योतक है। अर्थात् द्रव्य देने से बन्धुत्व न रह कर पृथकता देखने में आती है। लौकिक रीति से, दुःखी वसुदेवजी के दुःख की स्पष्ट व्याख्या करने से उनका दुःख कम होता है और वास्तविक स्थिति का ज्ञान होने से वसुदेवजी को सुख की प्राप्ति होगी। सब वृत्तांत (जो कुछ घटना घटी) कहने से वसुदेवजी को निश्चय होगा कि सचमुच नन्दजी मेरे सच्चे सुहृद् हैं, जो मेरी सब बातों का ध्यान सदा रखते हैं। वसुदेवजी के तो बहुत स्त्रियाँ हैं, उनके पुत्र भी हैं और कुशल भी हैं। कंस ने देवकी के बहुत (छः) पुत्र मारे। वे छः भगवान् के

छः गुण रूप थे इससे कंस ने इनको मार कर भगवद्गुणों के साथ द्रोह किया । नन्दजी इसलिये अहो कह कर बताते हैं कि यह आश्चर्य है कि मारना तो एक को था तो भी छः पुत्र मार दिये । अन्त में जन्मी एक कन्या शेष थी, यह सब भगवान् की चरित्र लीला है, नहीं तो दूसरे (भगवान् के चरित्रों के अतिरिक्त) वचनों का यहाँ कहना योग्य नहीं था । श्लोक में दिये हुए 'कन्या' पद का आशय बताते हैं कि, वह बची हुई कन्या भी, यदि विवाह कर पुत्रादि उत्पन्न होने के बाद में जाती तो भी देवकी का वंश तो रहता, वह भी न हुवा इसलिये 'कन्या' कहा । वह कन्या भी साधारण कन्या नहीं थी, किन्तु सिद्धा, देवता रूपा होते हुए भी तथा पुत्र न होने के दुःख की निवारिका होकर भी स्वयं ही उड कर शरीर सहित आकाश में चली गई । इससे ज्ञात होता है कि मात्र कंस का ही दोष नहीं, किन्तु वसुदेवजी के भाग्य का भी दोष है । वसुदेवजी का प्रारब्ध मन्द न होता तो वह कन्या ऐसी थी जो लौट कर आसकती थी, किन्तु आई नहीं । कंस का भय तो उसे था ही नहीं । इससे समझा जाता है कि इसमें प्रारब्ध ही मूल कारण (प्रयोजक) है, यह (नूनं) इस श्लोक से बताते हैं ।। २९ ।।

श्लोक—**नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयमदृष्टपरमो जनः ।**
अदृष्टमात्मनस्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति ।। ३० ।।

श्लोकार्थ—निश्चय ही मनुष्यों की निष्ठा[1] अदृष्ट[2] में ही है । अदृष्ट ही सब जीवों का परम नियामक है । आत्मा का तत्त्व अदृष्ट ही है । जो इस कर्मरूप आत्मतत्त्व को जानता है वह मोह में नहीं फँसता अर्थात् उसका मोह नष्ट हो जाता है ।

सुबोधिनी—कंसकृतं तु भयं तस्या नास्तीति तस्मादेतादृशेर्थेऽदृष्टमेव प्रयोजकमित्याह **नूनमिति**, सर्वस्यापि पुरुषस्यादृष्टे निष्ठा, अयं तु कर्मप्रधानः, यत् किञ्चित् करोतु पर्यवसानमदृष्टाधीनमित्यर्थः, प्रारम्भोप्यदृष्टाधीन एवेत्याहादृष्टपरम इति, अदृष्टमेव **परमं** नियामकं प्रवर्तकं यस्य, अदृष्टादेव प्रवर्तते, अदृष्टानुसारेणैव फलं च प्राप्नोतीत्युक्तं,अत्र हेतुर्जन इति,यस्तु जायते स कर्मवशादेव कर्मवादिनां तथैव सिद्धान्तः,अतः कर्माधीनं सर्वं ज्ञात्वा यस्तिष्ठति तस्य शोको न भवतीत्याहअदृष्टामिति, **आत्मनस्तत्त्वं** यथार्थरूपं प्रवर्तकनिवर्तकं यथा ब्रह्मवादिनां ब्रह्म यथा भगवांस्तथा कर्मात्मतत्त्वमिति यो मन्यते **स न मुह्यति**, पक्षान्तरेषूपालम्भोपि कश्चित् स्यात्, कर्मपक्षे स्वकृतत्वान्न कोप्युपालभ्यो न प्रार्थनीयः, पक्षान्तरे तु प्रकारान्तरेण मोहः स्यात्, एवं शोकापनोदनार्थं कर्मतत्त्वमुपदिष्टम् ।। ३० ।।

व्याख्यार्थ—प्रत्येक पुरुष की अदृष्ट[2] में निष्ठा[1] होती है। यह सिद्धान्त कर्म को ही आत्मा और प्रवर्त्तक मानने वालों का है । जो कुछ प्रवृत्ति होती है अर्थात् कर्म किया जाता है उसकी

१—'विश्वास', २—अदृष्ट = प्रारब्ध.

प्रारम्भ एवं पूर्ति प्रारब्ध के आधीन है। इसलिये श्लोक में कहा है 'अदृष्टपरमः'[1]। अदृष्ट ही प्रवृत्ति कराता है तथा उसके अनुसार ही फल मिलता है। शास्त्रों में मनुष्य के लिये 'जन' शब्द आया है, वह भी इसलिये कि वह कर्म के अनुसार जन्म लेता है। यह सिद्धान्त कर्मवादियों का है। जो मनुष्य सब कुछ कर्माधीन है यह समझ लेते हैं उनको शोक नहीं होता है। अर्थात् ऐसे मनुष्यों को जब कुछ भी सुख-दुःख होता है तो वे कहते हैं कि यह हमारा अदृष्ट है तदनुसार उनका सिद्धान्त दिखाते हुए महाप्रभुजी कहते है कि इस आशय को लेकर श्लोक में भी 'अदृष्टं' पद दिया है। आत्मतत्व का सच्चा स्वरूप प्रवर्तक (कर्म में प्रवृत्ति कराने वाला) और निवर्तन कराने वाला है। ब्रह्मवादियों का आत्मतत्त्व जैसे ब्रह्म है और भक्तों का भगवान् है, वैसे ही कर्मवादियों का आत्मतत्त्व कर्म है। इस प्रकार जो समझ लेता है वह मोहित नहीं होता है। दूसरे पक्षों में (सिद्धान्तों में) किसी को उलहना भी दिया जा सकता है किन्तु कर्म सिद्धान्त में स्वयं कर्म करने वाला है, इससे किसी को न तो उलहना दे सकता है न किसी की प्रार्थना करनी पड़ती है। दूसरे पक्षों में दूसरे प्रकार से मोह भी होता है। इस प्रकार नन्दरायजी ने शोक मिटाने के लिये वसुदेवजी को कर्मतत्त्व का उपदेश दिया ॥ ३० ॥

आभास--एवं सम्भाषणेन कियत्कालं स्थित्वा ततोनन्दं प्रेषयितुं वसुदेवस्तस्य भयमुत्पादयति 'कर' इति ।

आभास अनुवाद--इस प्रकार नन्दजी और वसुदेवजी ने कुछ समय वार्तालाप किया तदनन्तर वसुदेवजी नन्दजी को शीघ्र ही गोकुल भेजने के लिये 'करो वै' इस श्लोक से उनके मन में भय उत्पन्न करते हैं।

वसुदेव उवाच

श्लोक--**करो वै वार्षिको दत्तो, राज्ञे दृष्टावयं च वः ।**
नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले ॥ ३१ ॥

प्रकाश—१—भक्तों का 'भगवान्' है। वेद के पूर्व काण्ड में 'कर्म' नाम द्वारा ब्रह्म की क्रिया शक्ति का वर्णन है, उत्तर काण्ड में 'ज्ञान' नाम द्वारा ब्रह्म की ज्ञान शक्ति का वर्णन है और भागवत् में ज्ञान और क्रिया शक्ति युक्त ब्रह्म का भगवान् नाम से वर्णन है, वह भक्तों का शेष हैं अर्थात् ब्रह्मवादी ज्ञानी एक ज्ञान शक्ति को ही आत्मतत्त्व मानते हैं, कर्मवादी क्रिया शक्ति को ही आत्मत्त्व मानते हैं किन्तु भक्त, भगवान् (ज्ञान और क्रिया शक्ति रूप पूर्ण ब्रह्म) को आत्मतत्त्व मानते हैं ।

१—अदृष्ट – प्रारब्ध

श्लोकार्थ--वसुदेवजी ने नन्दजी को कहा भाई ! आपने राजा को कर तो दे दिया। हम एक दूसरे से मिल भी लिये। अब आपको मथुरा में बहुत समय ठहरना नहीं चाहिये, कारण कि गोकुल में उपद्रव हो रहे हैं।

सुबोधिनी— तत्कृतमनूद्यते कृतकार्यत्वज्ञापनाय, वार्षिकः करो राज्ञे दत्तो वयं च सुहृदो दृष्टा अतः कौतुकार्थं नेह बहुतिथं, स्थेयं, तत्र हेतुर्गोकुले चकरादन्यत्राप्युत्पाताः सन्ति, तथामन्त्रणस्य श्रुतत्वात् ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ--नन्दजी ने मथुरा में अपने सब कार्य पूरे किये थे। अब वसुदेवजी नन्दजी को सूचित करने के लिये उनके किये हुए कार्यों की पुनरावृत्ति करते अर्थात् दोहराते हैं। आपने राजा को वार्षिक कर दे दिया, तथा हम सुहृदों से मिले। अब कुतूहल के कारण विशेष समय यहाँ (मथुरा में) न ठहरें कारण कि गोकुल में उपद्रव हो रहे हैं। श्लोक में 'च' का आशय कहते हैं कि केवल गोकुल में ही नहीं किन्तु व्रज में अन्यत्र भी उपद्रव हो रहे हैं। मैंने सुना है कि कंस ने अपने मंत्रियों से परामर्श करके उपद्रव करने का निश्चय किया है, इसलिए अब आप यहाँ न ठहरें ॥३१॥

आभास--एतावच्छ्रवणमात्रेणैव नन्दादयस्ततः शीघ्रं निर्गता इत्याहेतीति,

आ० अनुवाद--इतना सुनते ही नन्दजी आदि वहाँ से शीघ्र जाने के लिये तैयार हुए।

श्लोक—**इति नन्दादयो गोपाः प्रोक्तास्तेशौरिणा ययुः।**
अनोभिरनडुद्युक्तैस्तमनुज्ञाप्य गोकुलम् ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ—वसुदेवजी के वचन सुनकर नन्दजी आदि गोपों ने बैलों के गाडे जोड़े और वसुदेवजी से आज्ञा लेकर गोकुल गये।

सुबोधिनी—निर्गमने प्रधानगुणभावस्य विस्मृतत्वान् नन्दादय इति,निर्गमने सर्व एवोक्ताः, इत्येवं शौरिणोक्ताः, न त्वधिका काचित् सम्भावना जाता, स्वतस्तेषां गमनेपि सामर्थ्यं न जातमिति साधनानां पुरस्कारमाहानोभिरिति, **अनडुद्युक्तै**र्योजितबलीवर्दैः, **तमनुज्ञाप्य** तमपि ततः स्वगृहं प्रेषयित्वा लोके यथा स्नेहोभिव्यक्तो न भवति तथा कृत्वा **गोकुलं ययुः**, मध्ये कंसाद्युपद्रवमप्राप्य सुखेन गोकुलं प्रविष्टा इत्यर्थ ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ—जाने की शीघ्रता में छोटे बड़े के क्रम का ध्यान न रख कर 'नन्दादयः' नन्दादिक एक साथ कह दिया। सब साथ में ही मथुरा से रवाना हुए, कारण कि वसुदेवजी ने इसी प्रकार से जाने के लिये शीघ्रता की थी, इससे अधिक और कोई सम्भावना नहीं थी। पैदल जाने का भी साहस नहीं था। इसलिये जाने के साधन बैल गाड़ों की तय्यारी की। उसी समय

वसुदेवजी से आज्ञा लेकर उनको अपने घर इसलिये भेज दिया कि हम लोगों के प्रेम का लोक में प्रकाश न हो। इस प्रकार सब कार्य करके, वे गोकुल गये। श्लोक में दिये 'ययुः' पद का भाव बताते हैं कि मार्ग में कंसादिक का कोई उपद्रव न हुआ तथा वे सब सुखपूर्वक गोकुल पहुँच गये ॥ ३२ ॥

कारिका—**गोकुलोत्सवमीशानं गोपगोपीगवां हितम् ।**
ज्ञानतः कर्मतश्चैव तामसानां नमाम्यहम् ॥ १ ॥ १७½ ॥

कारिकार्थ—तामस भक्त गोप, गोपी और गौओं के ज्ञान तथा कर्म द्वारा कल्याण करने वाले गोकुलोत्सव प्रभु को प्रणाम करता हूँ।

लेख—"ज्ञान" शब्द का भाव बताते हुए कहा है कि जैसे वेद के उत्तरकाण्ड में निरूपित "ज्ञान" द्वारा ज्ञानियों को अनुभवानन्द होता है वैसे ही तामस भक्तों को गुणगान द्वारा अनुभवानन्द करा कर "ज्ञान" से उनका हित किया और जैसे वेद के पूर्व काण्ड में कही हुई क्रिया शक्ति द्वारा कर्मात्मा का भजन कर, कर्मिष्ठ आनन्दानुभव करते हैं वैसे ही गोपीजनों को अच्युत भगवान्, कान्त रूप से, रमण क्रिया में लीन कर, आपने उनका कर्म द्वारा हित किया। इसी प्रकार दोनों दलों द्वारा अनुभव करा कर निरोध को स्थिर किया।

योजना—'गोकुलोत्सव' पद द्वारा 'उत्सव' पञ्चमाध्याय का अर्थ कहा। 'ईशान' पद द्वारा भगवान् के ईश्वरत्व को कहा। वियोगावस्था में जो भगवान् की अन्तःस्थिति का अनुभव किया जाता है वह अनुभव यहाँ ज्ञान नाम से कहा गया है (अर्थात् भगवान ने व्रज भक्तों को जो विरहावस्था में, अन्तःकरण में प्रकट (स्थित) हो आनन्दानुभव कराया वह उत्तरकाण्डस्थ ज्ञानवत् होने से यहाँ 'ज्ञान' नाम से कहा गया है। संयोगावस्था में जो लीलाओं द्वारा अनेक प्रकार का विहार होता है वह यहाँ 'कर्म' नाम से कहा गया है। (अर्थात् भगवान् स्वयं प्रकट हो, भक्तों के साथ जो संयोग (प्रत्यक्ष) में लीलाएँ करते हैं जिसमें तामस भक्तों को क्रियाओं द्वारा आनन्द प्राप्ति होती है वह पूर्वकाण्डस्थ यज्ञात्मक कर्मात्मक की क्रियाशक्ति होने से इसको 'कर्म' संज्ञा दी गई है)। इसी प्रकार ज्ञान और कर्म से तामस भक्तों के हितकारी हुए। भगवान् तामस भक्तों को संयोग वियोग दोनों अवस्थाओं द्वारा आनन्दानुभव कराकर, सदा व्रज भक्तों को परमानन्द संयुक्त करते हैं। यह तामस प्रकरण का अर्थ है।

वियोगावस्था को ज्ञान रूपता और संयोगावस्था को कर्म रूपता दी। ज्ञानमार्ग में अन्तर में ही भगवत् स्फूर्ति होती है तथा वियोगावस्था में भी अन्तर में भगवत्स्फूर्ति होती है। इसलिये वियोगावस्था को ज्ञान-रूपता कहा वह योग्य ही है। जैसे कर्म मार्ग में सारी क्रिया बाहर होती है वैसे ही संयोगावस्था में सब क्रियाएँ प्रत्यक्ष होती हैं इससे संयोगावस्था को 'कर्म' कहना उचित है। इस कारिका में गोकुलवासियों को सर्वदा सर्वथा भगवान् कैसे हितकारक हैं ऐसी जिज्ञासा (जानने की इच्छा) हो तो श्रीप्रभुचरण कृत श्री गोकुलाष्टक पढ़ कर अनुभव करना चाहिये। गोकुलाष्टक इस कारिका की टीका है।

सूक्ष्म व्याख्या—इस कारिका द्वारा इस अध्याय के दो अर्थ 'गोकुलोत्सव' विशेषण से उत्सव और 'ईशान' विशेषण से ऐश्वर्य बताये हैं। निबन्ध में उत्सव को लक्षण और ऐश्वर्य को लक्ष्य कहा है। ज्ञान और कर्म द्वारा तामस गोप, गोपी तथा गौओं का जो हित किया है वह प्रकरणार्थ है।

इति श्रीभद्भागवत पुराण, दशम स्कंध (पूर्वार्ध) प्रथम अध्याय की
श्री मद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका का हिन्दी अनुवाद

।। श्री कृष्णायनमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभायनमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनमः ।।

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित – सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस-प्रमाण-उप-प्रकरण

'प्रमाण' अवान्तर प्रकरण

द्वितीय अध्याय

श्रीमद्भागवतानुसार : षष्ठम अध्याय

तामस प्रकरणान्तर्गत प्रमाण - प्रकरण की कारिकाओं का हिन्दी अनुवाद

कारिका—**चरित्रमद्भुतं शास्त्रे लोकेऽपि भगवत्कृतम् ।**
पूतनासुपयःपानं षष्ठे रक्षा निरूप्यते ।। १ ।।

कारिकार्थ—पूतना के स्तन्य पान के साथ प्राण खींच लेना और बालकों की भी रक्षा करना ये भगवान् के चरित्र लोक एवं शास्त्र में भी अद्भुत् कहे और समझे जाते हैं। इनका छठे अध्याय में निरूपण किया जाता है ।

प्रकाश—छठे अध्याय के आशय का स्पष्टीकरण करते हैं कि जैसे पांचवें अध्याय की लीलाओं में निज स्वरूपमात्र प्रकट करके भगवान् ने भक्तों का निरोध किया है वैसे आगे की लीलाओं में केवल स्वरूप से ही निरोध नहीं होगा, किन्तु स्वरूप एवं लीलाओं द्वारा भक्तों का निरोध होगा । जैसे पांचवें अध्याय में

कारिका—एकं कार्यं भगवतो बह्वर्थानां तु साधकम् ।
अतो दुष्टवधो रक्षा बालकानां ततः कृता ॥ २ ॥

कारिकार्थ—भगवान् का एक कार्य (लीला) बहुत अर्थों को सिद्ध करता है, जैसे पूतना-वध की लीला से दुष्टों का नाश, पूतना द्वारा प्रथम मारे हुए बालकों का हित, एवं दूसरे बालकों का मरने से निर्भय (रक्षा) होना आदि कार्य सिद्ध हुए।

भगवान् के प्रकट होने पर किया हुवा नन्दमहोत्सव निरोध सिद्ध करने वाला था। वैसे ही यहाँ पर बालकों की रक्षा लीला, निरोध बतलाने वाली है। इसे समझाने के लिये इस चरित्र और रक्षा प्रसंग की संगति बताई जाती हैं। इस चरित्र अर्थात् पूतना चरित्र को शास्त्र में (भागवत के द्वितीय स्कन्ध के सातवें अध्याय के २७वें श्लोक 'तोकेन जीवहरणं' में अद्भुत् इसलिये कहा गया है कि दुष्ट स्वभाव वाली, शास्त्रीय साधन रहित पूतना जिसने मुक्ति के लिये शास्त्रों में लिखे हुए साधन में से कोई भी साधन नहीं किया) ऐसी को भी मुक्ति दे दी। इससे विशेष अनूठा चरित्र क्या होगा? अथवा पूतना के प्राण रूपी स्तन्य (दूध) के पान द्वारा बालकों की रक्षा की इस कार्य को रूपक समझ लेवें तो इस अध्याय में एक ही लीला बताई गई है।

प० भ० निर्भयराम भट्ट कारिकार्थ में कहते हैं कि—भगवान् ने पूतना के प्राणों के साथ दूध पीकर, जो बालकों की रक्षा की, उस रक्षा में पूतना द्वारा प्रथम मारे हुए बालक कृतार्थ[1] हुए और अन्य बालकों की पूतना के मरजाने के कारण रक्षा हुई।

योजना—कारिका २ में **'रक्षा बालकानां ततः कृता'** दुष्ट पूतना के वध द्वारा व्रजस्थों की रक्षा की। नहीं तो नन्दजी जब तक नहीं पहुँचे थे, तब तक जैसे बालकों को पूतना ने मारा था वैसे ही नन्दजी के पहुँचने पर भी मारती। इसलिये पूतना-वध से बालकों की रक्षा हुई और साथ ही नन्दजी का अन्तर्भय भी, जो वसुदेवजी के शब्द सुनने से हुआ था, वह कम हुआ॥ २॥

लेख—पूतना के वध से, पूतना द्वारा मारे हुए जो बालक, पूतना के भीतर थे वे भी मारे गये होंगे; क्योंकि गर्भवती माता के मरने पर जो बालक उदर में होता है वह भी मर जाता है, वैसे ही वे भी मरे होंगे, इस शङ्का को इस कारिका द्वारा मिटाया गया है।

टिप्पणी—छठे अध्याय में वीर्य का वर्णन करते हुए भक्तों के दुःखों का वर्णन करना ठीक नहीं है। इसका समाधान करते हैं कि 'मायया' भगवान् ने माया द्वारा भक्तों को दुःख दिया और उस माया रूपी पूतना को मार कर, भक्तों का दुःख मिटा कर निरोध किया। यह सब भगवान् की वीर्य लीला होने के कारण, इस अध्याय में भक्तों के दुःख का वर्णन है, इस कारण से भक्ति मार्ग में यह अवगुण नहीं है। श्रुति में कहा गया है कि 'मायेत्यसुराः' असुर लोगों का भगवान् माया है—अर्थात् असुर लोग, माया रूपी भगवान् के सेवक हैं उसीकी सेवा करते हैं। माया रूप पूतना का यह स्वरूप (माया रूप) भगवान् ने ही भक्तों को दुःख देने के लिये

१—पूतना द्वारा मारे हुए बालकों को भगवान् ने पूतना से खींच कर, अपने श्रीअङ्ग में स्थापित किया इसलिये वे कृतार्थ (सन्तुष्ट) हुए।

कारिका——वीर्यं भगवतो वर्ण्यं मायया भगवत्कृतम् ।
दुःखं तस्मात् तु मुक्तिर्हि निरोधोक्तेर्न दूषणम् ॥ ३ ॥

कारिकार्थ——इस अध्याय में भगवान् के वीर्य (वीरता) गुण का वर्णन करना है। भगवान् ने माया द्वारा दुःख दिलाकर, फिर उससे मुक्त किया, इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है; क्योंकि यह दुःख निरोध सिद्धि के लिये दिलाया था।

कारिका——भयं निवर्त्यं वीर्येण द्विविधं बाह्यमान्तरम् ।
आन्तरं शब्दजं[1] बाह्यं पूतनाजनितं तथा ॥ ४ ॥

कारिकार्थ——वीर्य द्वारा भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार का भय मिटाना है। भीतरी भय शब्द द्वारा पैदा हुआ है और बाहरी भय पूतना द्वारा हुआ है।

श्रीशुक उवाच

श्लोक——नन्दः पथि वचः शौरेर्न मृषेति विचिन्तयन् ।
हरिं जगाम शरणमुत्पातागमशङ्कितः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ——शुकदेवजी ने कहा वसुदेवजी के वचन झूठे नहीं होंगे, इस प्रकार मार्ग में विचार करते हुए, उपद्रव होने की शंका से युक्त नन्दरायजी भगवान् की शरण में आये।

तय्यार करवाया था। इसलिये भगवान् ने ही पूतना को साधन रूप बना कर भक्तों को दुःख दिया था। इसलिये उस पूतना में व्रज-भक्तों का लक्ष्मी भाव हुआ था, नहीं तो वे ही उसको निकाल देते। दूसरे बालकों को अब कष्ट न हो, इसलिये पूतना को मुक्ति-दान दिया। यदि मुक्ति न देते तो फिर उसके दूसरे में प्रवेश होकर दुःख देने की सम्भावना थी। वह सम्भावना अब सदा के लिये मिट गई। इस कारण से निरोध-मार्ग मर्यादा भक्ति-मार्ग से विलक्षण है। ईश्वर की रक्षा करनी योग्य न थी, इसका समाधान भी यही है कि निरोध मार्ग (प्रेम मार्ग), मर्यादा मार्ग से अनूठा है; क्योंकि उसमें स्नेह ही मुख्य है।

१—'शब्दज भय' (भीतरी भय) वसुदेवजी ने नन्दजी को मथुरा में कहा था कि गोकुल में उत्पात (उपद्रव) हो रहे हैं ये शब्द सुनते ही नन्दजी के हृदय में भय उत्पन्न हुआ था "मैं यहाँ हूँ, वहाँ न जाने कौनसे उपद्रव हो रहे होंगे", इस प्रकार के इस भय को कारिका में 'शब्दज' कहा हैं।

सुबोधिनी—प्रथमं वाक्यादुत्पन्नमन्तर्भयं भगवत्स्मरणेन नश्यत इत्याह **नन्द** इति, श्रवणमात्रेणैव भयाच्चिंता मध्ये गन्तुमप्यशक्ता वाक्यं विचारितवन्तः किमस्माकं भयं कंसकृतं भविष्यतीति ततो निर्गमनार्थमुक्तमाहोस्विद् यथाश्रुतमेव गोकुले भयमस्तीति तद्वाक्यं विचार्यान्यार्थमपि बाधितार्थं वदन्ननृतीभवतीति निश्चित्य निर्णयमाह **शौरेर्वचो मृषा न भवतीतीमर्थं** विशेषेण **चिन्तयन् पथि** कार्यान्तराभावान्निश्चिन्ततया तमेवार्थं विचारयन् हृदयेनापि संवादं प्राप्य भयनिवृत्यर्थं **हरिं शरणं जगाम,** **'सन्ती'** तिवचनं न विचारितं, अन्यथा जीवनमेव न स्यात्, किन्तु शङ्कामात्रं जातं, तदप्युत्पातागमनस्य, कदाचिदुत्पात आगच्छेदिति न त्वागत इति नापि **निश्चयस्तदाहोत्पातागमशङ्कित** इति, उत्पातागमार्थं शङ्कां प्राप्तः एवसन्देहकरणं भगवच्चरित्रं वस्तुतस्तु यदा वसुदेव आह तदैव पूतना गोकुले समागता ।। १ ।।

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी के वचनों से पैदा हुआ भीतरी भय ईश्वर की शरण में जाने से नष्ट होगा, इसका वर्णन '**नन्दः पथि**' श्लोक से श्री शुकदेवजी कहते हैं । वसुदेवजी के वचनमात्र सुनते ही नन्दादि गोप भयभीत होकर मथुरा से निकले, बीच में (मार्ग में) भय के कारण चलने की भी शक्ति क्षीण हो गई, इससे चल नहीं सकते थे और वसुदेवजी के वाक्यों को विचारते थे, "क्या हमको कंस द्वारा भय होगा ? इसलिये मथुरा से जाने के लिये वसुदेवजी ने कहा, अथवा जैसे उनसे सुने गए शब्द हैं कि गोकुल में भय (उपद्रव) हैं इस कारण वसुदेवजी का विचार हमको मथुरा से निकालने का था, इसलिये ये शब्द कहे । नहीं-नहीं, ऐसा हो नहीं सकता । वसुदेवजी कभी झूठ नहीं बोलते हैं। यों कहें तो असत्यवादी हो जाँय।" इससे यह निश्चय किया कि वसुदेवजी ने जो कुछ कहा वह कदाचित् सत्य भी हो जाय । इस प्रकार शङ्काशील होते हुए, भीतर भय वाले नन्दजी गोकुल जाने लगे ।

ऐसा विचार करते हुए मार्ग में कोई भी कार्य न होने से निश्चिन्त हो भय मिटाने के लिये नन्दजी ने हरि की शरण ली । 'गोकुल में उत्पात (उपद्रव) हैं, नन्दजी ने वसुदेवजी के इस वाक्य पर ध्यान न दिया अर्थात् इस शब्द का विचार न किया । यदि करते (ध्यान देते) तो उनके प्राण भी निकल जाते । नन्दजी के मन में उपद्रवों की शङ्का मात्र हुई, वह भी उपद्रवों के आने की शङ्का हुई कि कदाचित् उपद्रव होंगे; अब हो रहे हैं, यह निश्चय नन्दजी को नहीं हुआ । इसलिये श्लोक में शुकदेवजी ने कहा है कि उत्पात आने की शङ्का वाले नन्दजी थे । नन्दजी के मन में इस प्रकार का संदेह ही रहा, यह भी भगवान् का चरित्र (लीला) है, सचमुच तो जिस

योजना १०-६-१—जब कि नन्दराय को निश्चय था कि वसुदेवजी सत्यवक्ता हैं, उन्होंने जो कहा वह सत्य ही है । वसुदेवजी ने स्पष्टतया कह दिया था कि गोकुल में उत्पात (उपद्रव) हो रहे हैं, फिर भी नन्दजी के मन में जो सन्देह हो रहा था, उसका कारण भगवान् का चरित्र है अर्थात् भगवान् की इच्छा ऐसी थी कि नन्दजी को इस विषय में सन्देह ही हो, नहीं तो, भगवान् में विशेष वात्सल्य स्नेह होने से, नन्दजी के प्राण पक्षी उड़ जाते, इससे भगवान् ने ही नन्दजी के मन में सन्देह कराया, निश्चय होने नहीं दिया । श्रीशुकदेवजी ने भी मूल श्लोकों में **'उत्पातागमशङ्कितः** (उपद्रव आने की शङ्का वाले नन्दजी), लिखा । इसलिये सुबोधिनी में यह सन्देह उत्पन्न कराना भगवच्चरित्र है, इस प्रकार व्याख्या की है ।

समय वसुदेवजी ने नन्दरायजी को 'गोकुल में उपद्रव हैं' कहा था उस समय ही 'पूतना' गोकुल में पहुँच गई थी।

इस प्रकार भीतरी भय मिटाकर, बाहरी भय श्री भगवान् मिटाते हैं। इसलिये पहिले बाहरी भय का वर्णन **'कंसेन'** इस श्लोक से लेकर ८॥ श्लोकों में करते हैं॥ १॥

श्लोक—**कंसेन प्रेषिता घोरा पूतना बालघातिनी।**
शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—कंस की भेजी हुई बालकों को मारने वाली घोर पूतना नगर, गांव और व्रज (गोष्ठ) में बालकों को मारती हुई घूमती थी।

सुबोधिनी—एवमान्तरं भयं निवर्त्य बाह्यं भगवान् निवर्तयतीति प्रथमतो भयप्राप्तिमाह **कंसेनेति** सार्धैरष्टभिः; प्रथमतः सामान्यतस्तस्याः सर्वोपद्रवकर्तृत्वमाह यतो मारणीयेति, **कंसेन प्रेषिता शिशून् निघ्नन्ती चचारेति** कार्यमावश्यकं, स्त्रियः बालेषु स्नेहो भवतीति कथं प्रेषणमितिचेत् तत्राह **घोरेति**, जन्मादिसंस्कारेण संस्कृतान् वैदिककर्मणा सम्बद्धांस्तत्तदधिष्ठातृदेवतादिरक्षितान् कथं मारयतीत्यत आह **पूतनेति**, पूतानपि नयतीति **पूतना** पुरुषानप्युत नयतीति वा, अतोतिबलिष्ठा, सर्वानेव मारयितुं शक्ता, ननूक्तं देवादीनां रक्षकत्वं तत्राह **बालघातिनीति**, यथा देवानां रक्षणसामर्थ्यं तथा तस्या बालघातकत्वं, भगवता तथैव निष्पादिता, अत एव **शिशूंस्त्रिवर्षपूर्वान् निघ्नन्ती चचार**, यदि भक्षयेत् तदाल्पेनापि निवृत्ता भवेत्, किन्तु बालकानां प्राणान् पीत्वा पीत्वा गच्छति, त्रिगुणेष्वपि स्थानेषु तस्या अप्रतिघात इति **पुरेषु** सात्त्विकेषु **ग्रामेषु** राजसेषु **व्रजेषु** तामसेषु च विद्यमानान् **शिशून् मारयन्ती** तदेकप्रयोजना **चचार, आदिशब्देन** खेटखर्वटवाटीष्वपि ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—पूतना सब जगह सब उपद्रव करने वाली है, इस कारण यह मारने योग्य है। इसको पहले सामान्य ढंग से वर्णन करते हैं।

कंस की भेजी हुई घोर पूतना, बच्चों को मारती हुई, सब जगह फिर रही थी। स्वामी[1]

१—पूतना का शासक कंस था। —लेख

राग बिहागारो

राजा को काज आज करि आउ।
बेग संघारो सकल घोष सिसु जो मुख आयसु पाउ।
मोहन मूर्धन बसीठी पठ्यो मति सन्मुख ह्वै धायो।
अंग सुभग साजेह्वैं मधु मूरति नैननि मांह समायो।
घसि चंदन कंकोल उरोजनि लौं रुचि सो पैं प्यायो।
सूर सोच मन करे अब ही तो पूतना नाम कहायो॥

(शासक) ने जिस कार्य के लिये भेजा, वह कार्य सेविका को अवश्य करना चाहिये । स्त्री-जाति का बच्चों में स्वाभाविक स्नेह होता है इसलिये वे बच्चों को प्यार करती हैं उन्हें मारती नहीं; ऐसा जानते हुए भी कंस ने स्त्री को क्यों भेजा ?

इसलिये शुकदेवजी कहते हैं कि यह पूतना दूसरी स्त्रियों के समान कोमल हृदय वाली न थी, किन्तु घोरा (भयंकर) थी । यह जानकर कंस ने बच्चों को मारने के लिये इसको भेजा । जात-कर्म आदि संस्कारों द्वारा पवित्र, वैदिक कर्मों से सम्बन्ध वाले उन कर्मों के अधिष्ठात्री (नियामक) देवताओं आदि द्वारा रक्षित हुए बालकों को किस प्रकार मारेगी ? इस पर शुकदेवजी कहते हैं कि वह 'पूतना' है; उसके ऐसे घोर कर्मों के करने के कारण उसका 'पूतना' नाम धरा गया है । जैसेकि 'पूतान् नयतिइति पूतना' शुद्ध पवित्रों को भी जो लेजाती है उसको पूतना कहा जाता है । इतना हो नहीं यह केवल बच्चों को ही नहीं लेजाती है, अपितु पुरुषों को भी लेजाती है, इसलिये भी इसका नाम पूतना हुआ है । पुरुषान् अपि उन्नयति' इस व्युत्पत्ति से पुरुषों को भी लेजाने वाली को पूतना कहा जाता है । ऐसी घोर स्त्री समझ कंस ने इसको भेजा है । इन कारणों से यह बहुत बलवाली है, सबको मारने की शक्ति रखती है । संस्कारों के करने के कारण, जब देवता रक्षक हैं तब उन्हें यह कैसे मारती है ? बहाँ कहते हैं कि 'बालघातिनी' जैसे देवताओं में रक्षा करने की शक्ति है, वैसे इसमें बालकों के घात करने (मारने) की शक्ति है । भगवान् ने ऐसी ही शक्ति उसको दी है । इससे ही तीन वर्ष से छोटे बच्चों को मारती हुई फिरती रहती थी । जो बच्चों को खा जावे, तो थोड़ों से ही पेट भर जाने के कारण मारना छोड दे, लेकिन बालकों के प्राण मात्र चूस-चूस कर चली जाती है । तीनों गुणों वाले स्थानों में जाने की इसको रुकावट न थी, इससे सात्विक (सतोगुणी) नगरों में, राजस (रजोगुणी) गांवों में और तामस (तमोगुणी) व्रज (गोष्ठों) में रहने वाले बालकों को मारती हुई, इस कार्यमात्र के लिये वहाँ घूमती थी । अर्थात् कभी यहाँ कभी वहाँ चक्कर काटती थी । श्लोक में 'आदि' शब्द है उसका भाव है कि वह केवल नगर, गाँव और गोष्ठों में ही नहीं घूमती थी किन्तु 'खेट खर्वट वाटीषु अपि' खेड़ो, (छोटे गांवों) खिड़कों और वाड़ियों में भी घूम-घूम कर बच्चों के प्राण चूसती थी ।। २ ।।

जो पहले भी इस प्रकार होता[1] तो उस समय भी कोई बालक जीता न रहता । इस शङ्का को 'न यत्र' श्लोक से मिटाते हैं ।। २ ।।

१—प्रकाश-पूतना का बालकों को मारना ही केवल प्रयोजन होता तो ।

राग आसावरी

प्रथम कंस पूतना पठाई ।
मंद धरनि सुत लिए जहं बैठी चली चली निज धामहि आई ।

श्लोक——**न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु ।**
कुर्वन्ति सात्त्वतांभर्तु र्यातुधान्यश्च तत्र हि ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ——जहाँ मनुष्य, अपने कर्मों में, राक्षसों के नाश करने वाले वैष्णवों के भर्ता, भगवान् के श्रवणादि, कुछ नहीं करते हैं, वहाँ ही राक्षसियां अपना काम (मारना, दुःख देना) करती हैं ।

सुबोधिनी—नन्वेवं सति पूर्वमपि कोऽपि बालकस्तदापि न जीवेदत आह **न यत्रेति**, यत्र **सात्त्वतां** भर्तु र्भगवतो देवादिपोषकस्य **श्रवणादीनि** नवविधानि षड्विधानि वा तत्रापि **रक्षोघ्नानि** वा यैर्गु णै राक्षसा एव हन्यन्ते यथा रघुनाथचरित्राणि ताटकादिमारणरूपाणि, **स्वकर्मसु** रक्षककर्ममु स्वधर्मेषु वा 'स्वशब्देनाधर्मशाखाः सर्वा एव निवारिताः, तत्र तु भवन्त्येव **यातुधान्यः**, तदीया वा ते, "यस्य स्मृत्या चे'' तिवाक्यात् स्वधर्मा भगवच्छ्रवणाद्यभावे पूर्णा एव न भवन्ति, रक्षांसि सर्वत्र देशादिषु तिष्ठन्ति, अत एव "अपहता असुरा'' इत्यादिमन्त्राः, अत एव रक्षसां पूर्वं तत्र सम्बन्धात् तत्सम्बन्धेन **यातुधान्यः** समायान्ति, यातुधानसम्बन्धी यत्रकुत्रचिदिति सर्वत्र तत्तत्स्वामिनिराकरणसमर्थाः, युक्तश्चायमर्थः, भर्तृषु विद्यमानेषु स्त्रीणां गतिरबाधिता भवतीति, रक्षोमारकैरेव रक्षोनिवृत्तिर्यथा वायुवशाद् दीपे गच्छति तैलेन न प्रतीकारस्तथा रक्षोघ्नव्यतिरिक्तैर्न प्रतीकारः, मन्त्राणां तु स्वाध्यायपोषितानामेवापहतपाप्मत्वाद् "अग्नि वै जात'' मित्युपाख्यानेपहतपाप्मत्वं तस्यैवनि रूपितं, मर्यादायामाधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकेषूत्तरमुत्तरं बलीयः सापेक्षसामर्थ्याच्च तदधिष्ठातृदेवताप्रेरणेन परस्मिन् फलजननसामर्थ्यात्, भगवांस्तु सर्वगतः, भक्तिमार्गश्च स्वप्राकट्यार्थं विशेषेण हेतुः कृतः, अतः **सात्त्वतामेव भर्तुः श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि** भवन्ति, आगन्तुकैरागन्तुकानामेव निवारकत्वं न तु सहजानां, एवं प्रबलदुर्बलभावे बाध्यबाधक भाव उचितः, अनेनाग्रे श्रोतुः शङ्कापि निवारिता, वर्णाश्रमधर्मवत्त्वेन स्वमात्रसम्बन्धिषु न तु भगवदर्थकेषु कर्मसु यत्र भगवन्नामश्रवणेनैव रक्षोनिवृत्तिस्तत्र साक्षाद्भगवति विद्यमाने का चिन्तेति, एतदर्थमेव स्वपदम् ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ—जहाँ मनुष्य, अपनी रक्षार्थ किये हुए कर्मों में और स्व (अपने) शब्द कह कर स्व (अपने) धार्मिक कर्मों में, अधर्म की शाखाओं को हटाने या रोकने में, देवादिकों के पोषण करने वाले वैष्णवों के पति भगवान् के, नव प्रकार के अथवा छः[1] प्रकार के श्रवणादि भजन और इसी प्रकार जिन भगवद् गुणों के गान से राक्षसों का नाश होता है (जैसे ताटकादि राक्षसों के नाश

१—**प्रकाश**—भागवत के २-४-१५ 'यत् कीर्तनं यच्छ्रवणं' से बताई हुई छः प्रकार की भक्ति ।

लेख—श्रवणादि नव प्रकार की भक्ति कह कर, फिर छः प्रकार की भक्ति कि, दास्य, सांख्य और आत्मनिवेदन इन तीन प्रकार की भक्तियों से राक्षसों के सम्बन्ध की शङ्का ही नहीं है । इससे राक्षसों के नाशक रघुनाथजी के चरित्र गाने के लिये कहना नहीं चाहिये, इसलिये कहते हैं अथवा छः प्रकार की ।

(पृष्ठ ६४ से आगे) *अति मोहनी रूप धरि लीन्हों देखत सबहीं के मन भाई ।*
जसुमति देखि रही वाको मुख काकी वधू कौन धौं आई ।

करने वाले श्रीरघुनाथजी के चरित्र गान आदि) ऐसे कर्म (जहाँ) नहीं होते हैं, वहाँ राक्षसियां होती ही हैं और आकर उपद्रव करती ही हैं क्योंकि वे कर्म (अधर्म) श्रवणादि न करने से उन्हीं के (राक्षसों के) सम्बन्ध वाले हो जाते हैं।

इसलिये कहा है कि 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या' इस वाक्य से स्वधर्म (अपने धर्म कर्म आदि) भगवान् के श्रवणादि के अभाव में अपूर्ण ही रहते हैं, भगवान् के स्मरण एवं नाम ग्रहण से ही पूर्ण हो जाते हैं। राक्षस तो सब जगह होते ही है इस कारण से ही 'अपहतासुराः' ये मन्त्र (उनके नाश करणार्थ) हैं। इससे जाना जाता है कि राक्षसों का तो वहाँ जहाँ भगवत्स्मरण आदि नहीं है पहले से ही सम्बन्ध है इसलिये राक्षसों से सम्बन्ध वाली राक्षसियां भी वहाँ आ जाती हैं, अर्थात् राक्षसों से सम्बन्ध वाली राक्षसियां भी जहाँ तहाँ आ और जा सकती है एवं पृथक् पृथक् मन्त्रों के स्वामियों का निराकरण[1] भी कर सकती हैं। यह अर्थ योग्य है कारण कि पतियों की उपस्थिति में स्त्रियां प्रबल होने से कहीं भी जा सकती हैं। कोई उनको रोक नहीं सकता है। इससे राक्षसों का नाश करने के लिये 'रक्षोघ्न' मन्त्र जप पाठ आवश्यक है, उसके अतिरिक्त[2] उपद्रव नष्ट नहीं होंगे। राक्षसों के नाश हो जाने पर राक्षसियाँ कुछ नहीं कर सकेंगी। जैसे प्रबल वायु से दीपक बुझ जाता है और उसमें डाला हुआ तेल व्यर्थ हो जाता है अर्थात् दीपक को बुझने से बचा नहीं सकता; इसी प्रकार राक्षसों के नाश होने से राक्षसियां बेकार हो जाती हैं। इसलिये उपद्रवों का प्रतीकार[3] एकमात्र 'रक्षोघ्न' (राक्षस नाशक) मन्त्रों के सिवाय दूसरा कोई नहीं है। पूर्ण शुद्ध विधि से पढ़े हुए मन्त्र ही पापों का नाश करने में समर्थ होते हैं। 'अग्नि वै जातं' इस उपाख्यान में ऐसे ही (शुद्ध) मन्त्रों से पाप-नाश होना कहा गया है। मर्यादा मार्ग में आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक; इन तीनों को उत्तरोत्तर[4] प्रबल बताया गया है। परस्पर सामर्थ्य की अपेक्षा[5] होने से, उसके अधिष्ठाता देवता की प्रेरणा से, दूसरे में फल पैदा करने की शक्ति आती है।

भगवान् तो सब जगह विद्यमान् हैं और अपने प्रकट होने का विशेष कारण 'भक्ति मार्ग' को बनाया है अर्थात् भक्ति मार्ग द्वारा आपका प्राकटय एवं और सकल विघ्न, दोषों आदि का नाश भी हो जाता है। इसलिये वैष्णवों के पति परमात्मा के श्रवणादि भक्ति द्वारा 'रक्षोघ्न' मन्त्रों का फल, राक्षस नाश भी हो जाता है।

१—निवारण २—सिवाय ३—बदला ४—एक से दूसरा ५—आशा, भरोसा।

(पृष्ठ ६५ से आगे)

मंद सुवन तबहीं पहिचानो असुर घरनि असुरनि की आई।
आपुन वज्र समान भए हरि माता दुखित भई भर पाई।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार पूतना सब प्रकार के उपद्रव करने वाली है। यह बात हेतुओं से सिद्ध कर अब उसका गोकुल में आने का 'सा खेचरी' श्लोक से वर्णन करते हैं। वह (पूतना) जिस समय देवादिकों का सम्बन्ध न था एवं आश्लेषा नक्षत्र, विष घटिका, मृत्यु योग था एवं भगवान् पृथ्वी पर विराजमान थे उस समय एक वार गोकुल में आ पहुँची। श्लोक में 'खेचरी' विशेषण देने का भावार्थ बताते हैं कि भूमि की सर्व देवता रक्षा करते हैं इसलिये वह भूमि पर से आ नहीं सकती थी, इस कारण से वह पक्षी की तरह आकाश में उडती हुई गोकुल में आई। यों तो गोकुल मर्यादा धर्म वाला है, किन्तु वैकुण्ठ से पधार कर आये हुए भगवान् जहाँ बिराजें वहाँ मर्यादा धर्म का नाश हो जाता है; इसलिये गोकुल न कह कर शुकदेवजी ने 'नंद गोकुल' कहा है। नंद गोकुल में वह (पूतना) आ नहीं सकती, किन्तु जिस समय नंदजी एवं गौ दोनों गोकुल में नहीं थे, उस समय वह आ गई।

पूतना गोकुल के निकट तो पहुँच गई परन्तु उसमें भीतर आने की सामर्थ्य न थी, तब उसने अपने इष्ट, माया रूप भगवान् का ध्यान धरा, तब माया रूप भगवान् ने उसको यशोदा आदि स्त्रियों के समान, सुन्दर रूपवती स्त्री का रूप प्रदान किया। (जैसे श्रुति में कहा है कि 'मायेत्यसुरा' 'तद्धैनान् भूत्वाऽवतीं' ति 'च' माया असुर है वे प्रकट हो इनकी रक्षा करते हैं।) इसलिये श्लोक में कहा है कि 'उपेत्यात्मानं मायया योषित्वा' अपना रूप माया से स्त्री जैसा बनाकर, गोकुल में प्रवेश किया। श्लोक में दिये हुए कामचारिणी पद का भावार्थ बताते हुए कहते हैं कि अजान स्त्री होते हुए भी उसने प्रवेश किया क्योंकि वह स्व इच्छा से वहाँ भी प्रवेश कर सकने की शक्ति वाली थी, एवं उसने युवती स्त्री का रूप भी इस निश्चय से लिया था कि मैं गोकुल में प्रवेश करूं तो मेरे रूप को देख कर कोई पुरुष भी मुझे रोके नहीं। जहाँ-जहाँ काम का प्रवेश था, वहाँ-वहाँ ही प्रवेश कर सकी। जैसे साक्षात् काम हो वा विशेष काम का वेग हो तो वहाँ प्राणी अन्धे हो जाते हैं अर्थात् वे कुछ भी देख व समझ नहीं पाते हैं।

प्रकाश—भगवान् का प्राकट्य रोहिणी नक्षत्र में हुआ और छठे दिन आश्लेषा नक्षत्र में पूतना आई। इससे जाना जाता है कि भगवान् ने पूतना को मारा तब भगवान् 'छः' दिन के ही थे। पद्मपुराण में लिखा है कि भाद्रपद कृष्णा चतुर्दशी को पूतना को मारा। इससे श्री भगवान् उस समय 'छः' दिन के ही थे हरिवंश में लिखा है कि छः मास के भगवान् ने पूतना को मारा, यह कथा दूसरे कल्प की है।

लेख—जहाँ सतोगुण और धर्म होता है, वहाँ राक्षसादि प्रवेश नहीं पा सकते हैं, इसलिये कहा कि पूतना उस समय आई जिस समय गोकुल में सतोगुण रूप नन्दजी नहीं थे एवं धर्म रूप गौ भी नहीं थीं।

(पृष्ठ ६६ से आगे)

मुख चुम्यौंगहि कंठ लगायो विष लपट्यो अस्तन मुख माई।
पय पैं संग प्राण अचौंहरि लीन्हों जोजन एक गिरो मुरझाई।

आगन्तुक (अचानक आने वाले राक्षस आदि द्वारा) दुःखों का निवारण[1] मन्त्रों द्वारा ही हो सकता है; किन्तु सहज (स्वाभाविक व साथ में पैदा हुए) दोषों का निवारण मन्त्रों द्वारा नहीं हो सकता है । इस प्रकार प्रबल और दुर्बल भाव होने पर, बाधा बाधक भाव होना उचित ही है । अर्थात् जहाँ एक बलवान हो, दूसरा शक्ति-हीन या निर्बल हो, तो वहां यदि एक हटाने वाला और दूसरा हटने वाला हो जाय, तो वह योग्य ही है । इससे आगे श्रवण करने वाले की शङ्का भी मिटाई गई । वर्णाश्रम धर्म वाले जो कर्म करते हैं वे देह-मात्र से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं तथा उन कर्मों का सम्बन्ध भगवान् से कुछ नहीं होता है । जहाँ भगवान् के नाम सुनने से ही राक्षस भाग जाते हैं, वहाँ स्वयं भगवान् की उपस्थिति में राक्षसों की चिन्ता कैसी ? अर्थात् कोई चिन्ता नहीं । इसलिये ही 'कर्मसु' के पहले 'स्व' शब्द दिया है ॥ ३ ॥

श्लोक——**सा खेचर्येकदोपेत्य पूतना नन्दगोकुलम् ।**
योषित्वा माययात्मानं प्राविशत् कामचारिणी ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ——आकाश में विचरण करने वाली, उस पूतना ने एक बार नन्दजी के गोकुल के निकट पहुँच कर और कपट से अपना सुन्दर स्त्री का रूप बना कर स्वच्छन्द घूमती हुई गोकुल में प्रविष्ट[2] हुई ।

सुबोधिनी—एवं तस्याः सर्वोपद्रवकर्तृत्वं सूपपत्तिकमुपपाद्य गोकुलेपि तस्याः समागमनमाह **सा खेचरीति**, **एकदेति** यस्मिन् काले देवादीनां न सम्बन्धः, **आश्लेषा**, नक्षत्रे **विषघटिकायां मृत्युयोगे** भूमिष्ठे भगवति, भूमिः सर्वदेवरक्षितेति कथं तस्या आगमनमित्याशङ्क्याह **खेचरीति**, तद्धर्मवत्त्वेन प्रतिपादितं वैकुण्ठादेरागतस्य **मर्यादानाशकत्वबोधनार्थं**, **नन्दस्य गोकुलमिति**, **नन्दे** विद्यमाने **गोषु** वागन्तुं न शक्नुयात्, उभयोरपितत्राभावात् **समागतेति**, आदौ निकटे समागत्य यत्र स्थिता माया प्रवेशं कृतवती तत्र स्थित्वा ततोग्रे गमनासामर्थ्यात् स्वस्येष्टदेवतां मायारूपं भगवन्तं ध्यातवती तदा भगवान् मायारूपस्तां स्त्रीरूपां **यशोदा**दितुल्यां कृतवान् "मायेत्यसुरा" इतिश्रुतेः "तद्धैनान् भूत्वावती" ति च, तदाहो-**पेत्यात्मानं मायया योषित्वेति**, आत्मानं योषितं कृत्वेत्यर्थः, तदा **प्राविशत्**, ननु तथाप्यज्ञाता स्त्री कथं प्रवेशं प्राप्तवतीति तत्राह **कामचारिणीति**, **कामं** यथेच्छं **चरतीति** तथा, प्रवेशे तरुणीरूपं कृतवतीति पुरुषा न निवारयिष्यन्तीतिनिश्चयः, यत्रयत्र कामप्रवेशस्तत्रतत्र प्रवेष्टुं शक्तेति, अतो यथा मूर्तिमति काम उद्रिक्ते वा प्राणिनामन्धत्वमेवं तस्यामपीत्युक्तम् ॥ ४ ॥

१—मिटाना २—प्रवेश किया, घुसा ।

(पृष्ठ ६७ से आगे) *अहो महरि पालागन मेरी मैं तुमरो सुत देखन आई ।*
यह कहि गोद लियो अपने तब त्रिभुवन पति मन मन मुसकाई ।

श्लोक--तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमाम् ।
सुवाससं कम्पितकर्णभूषणत्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननाम् ॥ ५ ॥

श्लोक--वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितैर्मनो हरन्तीं वनितां व्रजौकसाम् ।
अमंसताम्भोजकरेण रूपिणीं गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवागतां पतिम् ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ--बालों के जूड़ों में गूंथे हुए मोगरों के फूलों वाली, बड़े नितम्ब, स्तन एवं पतली कटिवाली, सुन्दर वस्त्रों वाली, हिलते कुण्डलों की कान्ति से झलकते केशो से सुशोभित मुखवाली, मनोहर मुस्कानवाले कटाक्ष, चलायमान दृष्टि से व्रजवासियों के मन को हरण करने वाली उस सुन्दर स्त्री को गोपियों ने हाथ में कमल धारण करने के कारण समझा कि लक्ष्मी अपने स्वामी के दर्शन के लिये आ रही है ।

सुबोधिनी—सर्वव्यामोहनार्थं भगवत्कृतं तस्या रूपं वर्णयति तां **केशे**तिद्वाभ्यां स्वरूपचेष्टाभेदेन, मायाकृतमेव रूपमिति हिरण्याभरणाम्बरादिभिरेव तस्या मोहकत्वमुच्यते, **केशबन्धे व्यतिषक्ता मल्लिका** यस्यां, दूराद् दर्शनेन गन्धेन च व्यामोह उक्तः, बन्धे मल्लिकास्तु न पतन्ति, **मल्लिका** तत्कालपुष्पोपलक्षिका, सौन्दर्यं गन्धश्च तत्रैव प्रतिष्ठितौ, **स्थूलनितम्बस्तनै**रल्प**मध्येन** च सर्वबन्धसहितसम्भोगयोग्यता निरूपिता, वस्त्रं चोत्तमं रसजनकं, **कम्पिते** ये **कर्णभूषणे** कुण्डले तयोस्त्विषोल्लसन्ति यानि **कुन्तलानि तैर्मण्डितमानन**मिति, मुखेसौन्दर्यं मोहार्थे निरूपितं, **कर्णभूषण**मुपरिभागस्थं वा, तेन कुण्डलयोरपि कान्तिः, भूषणस्य सर्वोत्तमत्वं निरूपयति ॥ ५ ॥ तस्याश्चेष्टामाह **वल्गुस्मिते**ति सहजस्मिताभावाय **वल्गुस्मित**मित्युक्तं तत्सहितं, यदपाङ्गनिरीक्षणं कटाक्षदर्शनं तदप्यनेकविधमलसवलितादिरूपं तदाह बहुवचनेन, अपाङ्गानां **विशेषेण सर्गा** यत्र **वीक्षितेषु**, अतो **व्रजौकसां मनो हरन्तीं**, **व्रज**स्थिता विवेकरहिता भवन्ति, अनेनैव गोपैर्निवारणं प्रतिषिद्धं, **मन** इत्येकवचनं सर्वेषामेकरूपत्वबोधनाय, अत एव गोपैः सा सम्यग् दृष्टापि न गोपीभिरेव परं दृष्टा, तास्तु पूर्णज्ञानवत्योपि भगवत्कृतं तद्रूपं मत्वा भगवच्चरित्रत्वाद् घातकत्वमबुद्ध्वा स्वभोगार्थं लक्ष्मीमेवाकारितवानिति ज्ञातवत्यः, न हि लक्ष्म्यां दासीनां वैमनस्यं सम्भवति, तदाह **गोप्यो द्रष्टुमागतां तां श्रियमेवामंसत**, तथैव च भगवान् रूपं सम्पादितवानिति, लक्ष्म्या असाधारणं चिह्नमाहाम्**भोजकरेणो**पलक्षितेति, लीलाकमलयुक्तेन **करेण**, अनेन रिक्तहस्ततापि निवारिता, **रूपिणी**मिति स्वस्मिन्नावेशातिरिक्तरूपां, तत्रापि **पतिं द्रष्टु**कामा न केनापि निवार्या, अतो **गोप्यः** पुरस्कारमेव कृतवत्य इति न तासां बाधकत्वम् ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—सब को महित करने के लिये भगवान् द्वारा बनाये हुए पूतना के रूप का वर्णन करते हैं । ५वें श्लोक में रूप का एवं ६ठे में चेष्टाओं का वर्णन है ।

(पृष्ठ ६८ से आगे) *त्राहि त्राहि करि व्रज मन धारा अति बालक क्यों बच्यौ कन्हाई ।*
अति आनन्द सहित सुत पायो हृदय मांझ लपटाई ।

पूतना का यह रूप, माया रूप भगवान् ने किया है । उसकी मोहकता सोने के आभूषण एवं सुन्दर वस्त्रों के कारण थी एवं बालों के जूड़ों में गूंथे हुए मोगरों के फूल ऐसे लगे थे कि गिरते नहीं थे । श्लोक में 'मल्लिका' उपलक्षण[१] है, लेकिन जूड़े में उस ऋतु के विविध फूल गूंथे हुए थे । सौन्दर्य और सुगन्धि उन में थी । बड़े स्तन तथा नितम्ब एवं पतली कमर के कारण, सब प्रकार के आसनों द्वारा, भोग करने योग्य थी, उत्तम वस्त्र रसजनक थे, हिलते हुए कुण्डलों की कान्ति से झलकते केशों से सुशोभित मुख की सुन्दरता का मोह के लिये ही निरूपण है । अथवा कानों के ऊपर के भाग में पहने हुए आभूषणों से ही कुण्डलों जैसी कान्ति होती थी, अर्थात् कुण्डल धारण नहीं किये थे, तो भी, उन आभूषणों से कुण्डलों की कान्ति का भान होता था । इससे उन भूषणों की सर्वोत्तमता बताई गई ॥ ५ ॥

छठे श्लोक में पूतना की चेष्टा (हाव-भाव, अङ्ग-चालन आदि) का वर्णन करते हैं । पूतना में स्वाभाविक स्मित (मुस्कान) का अभाव था, इसलिये श्लोक में 'स्मित' न कहकर 'वल्गु' विशेषण दिया, जिसका आशय है कि पूतना की मुस्कान बनावटी थी । ऐसी बनावटी मुस्कान से जो अक्रियता (चेष्टा रहित) से लपेटे हुए कटाक्षों को (बहुवचन से कहा) विविध प्रकार से दिखाती, व्रजवासियों के मन को हरण करती, बिना रोक-टोक के गोकुल में आगई । व्रजवासी विवेक रहित (भोले या सीधे-सादे) होते हैं, इससे पूतना के बनावटी मुस्कान एवं कटाक्षादि को पहचान न सकने के कारण मोहित हो उसको रोक नहीं सके । गोप बहुत थे, तो भी 'मन' एक वचन इसलिये दिया कि सब गोपों का मन एक जैसा ही था अर्थात् सब एक सरीखे विवेक रहित थे । इससे गोपों ने उसको (पूतना को) पूर्ण रीति से देखा (समझा) नहीं । गोपों ने अच्छी तरह से देखा भी, किन्तु गोपियों की तरह नहीं देखा । गोपियों ने तो पूरी तरह से देखा, वे तो पूर्ण ज्ञान वाली थीं, उसका रूप भगवान् का बनाया हुआ है, यह जान लिया । भगवान् की लीला से उसकी घातकता न समझ सकीं, किन्तु यों समझा कि अपने रमण (भोग) के लिये भगवान् ने लक्ष्मीजी को बुलाया है । लक्ष्मी भगवान् की पत्नी है । उससे दासियों का वैमनस्य वा वैर नहीं होता है; इसलिये श्लोक में कहा है कि गोपियों ने दर्शन के लिये आई हुई उसको लक्ष्मी ही समझा । भगवान् ने वैसा ही रूप बनाया है इसलिये उसके हाथ में लीला कमल था । यही पहचान का असाधारण

१—लेख—पूतना के आने के समय वर्षा ऋतु थी उस काल में मोगरे होते नहीं, लेकिन वर्षा ऋतु के पुष्पों में मोगरे जैसी शोभा एवं सुगन्ध होने से 'मल्लिका' (मोगरा) लिखा है ।

(पृष्ठ ६९ से आगे)

कर बर बड़ी टरी मेरे की घर घर करत आनन्द बधाई ।
सूर श्याम पूतना पछारी यह सुनि जिय डरप्यो नृप राई ॥

चिह्न है। इससे खाली हाथ का भी निषेध हुआ वह अपने में आवेश[1] से बढ़े हुए स्वरूप के कारण सुन्दर रूपवती[2] हुई थी। पति-दर्शन के लिये आई हुई जानकर, किसी ने उसको रोका नहीं। गोपियों ने तो उसका समादर किया, इसलिये गोपियों का न रोकना गोपियों के लिये बाधक नहीं ॥ ६ ॥

श्लोक--**बालग्रहस्तत्र विचिन्वती शिशून् यदृच्छया नन्दगृहेऽसदन्तकम् ।**
बालं प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं ददर्श तल्पेऽग्निमिवाहितं भसि ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ--बालकों के लिए ग्रह के समान वह पूतना बालकों को ढूँढती हुई नन्दजी के घर गई। वहाँ उसने शय्या पर सोये हुए बालक कृष्ण को देखा जो दुष्टों के काल समान थे लेकिन जिन्होंने भस्माच्छादित अग्नि के समान अपने प्रचण्ड तेज को छिपा रखा था।

सुबोधिनी—सा गोकुलेपि बालकान्वेषणार्थमेव प्रवृत्ता न तु साक्षाद्भगवन्निकटे स्वतो गतेत्याह **बालग्रह** इति, बालान् गृह्णतीति **बालग्रहः**, भगवांस्तु न बाल इति तत्र तस्या नाग्रहः, **तत्र** गोकुले **शिशून् विचिन्वती** चचार, विचयन एव प्रवृत्ता जाता, न तु कश्चिन्मारितवती भगवतो रक्षकत्वात्, तदा भगवान् स्वनिकट एव तामानीतवानित्याह **यदृच्छया नन्दगृहे बालं ददर्शे**ति, भगवदिच्छाव्यतिरेकेण सर्वैरेवोपायैस्तत्र गमनमशक्यं, नन्वेषा कृत्रिमा दुष्टा कथं भगवन्तं दृष्टवतीत्याशङ्क्याह**सदन्तक**मिति, असतामन्तको मारकः, तांश्च दृष्ट्वैव मारयति, अतो

१—टिप्पणी—पूतना स्वतन्त्रता से स्वयं गोकुल में आ नहीं सकती थी इसलिये आचार्य चरणों ने श्री सुबोधिनीजी में कहा है कि 'स्वस्मिन्नावेशातिरिक्त रूपां' गोपियों के सम्बन्ध की इच्छा से वहाँ प्रवेश किया।

२—प्रकाश—श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि जब वल्गुस्मित एवं श्रीयंअमंसत से ही उसकी शोभा चेष्टा और रूप का वर्णन हो गया फिर श्लोक में 'रूपिणी' क्यों कहा ? इसका भावार्थ समझने के लिये श्रीसुबोधिनीजी में 'स्वस्मिन्नावेशितातिरिक्त रूपां' कहा। इस सुबोधिनीजी के पंक्ति को श्री प्रभुचरण ने टिप्पणी में समझाया कि पूतना अपने आप गोकुल में नहीं आ सकती थी इसलिये गोपियों के सम्बन्ध की इच्छा से वहाँ (गोपियें जहाँ थी) प्रवेश किया। इस टिप्पणी एवं सुबोधिनी के संस्कृत (स्वस्मिन्नावेशातिरिक्त रूपां को विशेष स्पष्ट समझाते हैं कि "स्वस्मिन्"—गोपीजनों में जो आवेश था, उससे पूतना का भी रूप बढ गया अर्थात् विशेष सुन्दर हो गया, अथवा स्वस्मिन्—पूतना में जो लक्ष्मी का (भगवान् की पत्नी होने का) आवेश से अभिमान था; इससे भी सुन्दर रूपवती देखने में आई और गोपीदास्यात्मक आवेश से भी सुन्दर रूपिणी हुई। इन्हीं सब कारणों से श्लोक में 'रूपिणी' कहा गया है। जिसको—स्वस्मिन्नावेशित रूपां' पंक्ति से श्रीआचार्य चरण ने स्पष्ट कर समझाया है।

टिप्पणीजी एवं प्रकाश से यह साफ समझ में आया कि पूतना गोकुल में स्वयं स्वतन्त्र न आ सकी, किन्तु गोपियों के सम्बन्ध (आवेश) से ही आ सकी।

मारणीयानामपि दर्शनं न बाधितं, नन्दगृहेष्यसन्तो भगवता निवारणीयाः, तस्या बालाविष्टचित्तायास्तत्र विचारो न जात इति सूचनार्थमाह **बालमिति**; तथाप्यलौकिककान्त्या कथं न विचारो जात इत्यत आह **प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसमिति, प्रतिच्छन्नं** स्वेनैवाच्छन्नं प्रतिकूलार्थं वाच्छन्नं **निजंयदुरु तेजः**, वैष्णवतेजसि प्रकटेसुरघातकं तदिति दन्दह्यमाना निवर्तेत, सर्वथा कान्तितिरोधाने यशोदादीनां भयं स्यादत आहोर्विति, यावता तस्या आगमनं सम्भवति तावत् तिरोधानं, भगवतः क्रियाज्ञानशक्ती अतिरोहिते सर्वदा प्रकृतेपि च तदुपयोगात्, ततः कथं ताभ्यां न निवारितेत्याशङ्कयाह **तल्प** इति, **तल्पे** शयानो बालकः क्रियारहितो भवति, अवस्थया क्रियाशक्तेस्तिरोभावः, तत उत्थाने चलनेन सह क्रियाविर्भविष्यति, ज्ञानशक्तेः प्रकाशः सहजो यतो ब्रह्मविदामपि ज्ञाने सति तद् भवति स कथं न बाधक इत्याङ्कयाहाग्निमिवाहितं **भसीति**, यथाग्निहोत्रिणा भस्मनाग्निस्तिरोहितः क्रियते काले प्रादुर्भावार्थं तत्तेजोन्यन् नाशयेन्न तु स्वजनितं, अतो ज्ञानशक्त्या जनिता येच्छा तया तिरोहितं प्रवृत्तिपर्यन्तं न बाधकं भवति ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—वह (पूतना) गोकुल में भी बालकों के ढूंढने में हीं प्रवृत्त रही; न कि भगवान् के निकट आप ही गई । इसका वर्णन 'बालग्रह' श्लोक से किया जाता है ।

बालकों को पकड़े, उसे 'बालग्रह' कहते हैं । पूतना बालकों को पकड़ ले जाती, इसलिये पूतना को 'बालग्रह' कहा गया है अर्थात् बालकों को पकड़ने वाली । बालकों के पकड़ने में, आग्रह होने के कारण, अपने आप ही, भगवान् के पास न गई, क्योंकि वह बालक नहीं था किन्तु भगवान् थे । इसलिये गोकुल में बालकों को ढूंढती फिरने लगी । ढूंढने में ही लगी रही, न कि, किसी को भी मारा, कारण कि भगवान् उनके रक्षक थे । जब वह दूसरों को ही पकड़ती रही, भगवान् के पास न आई, तब भगवान् ने अपनी इच्छा से उसको अपने पास बुलाया । इसलिये श्लोक में 'यदृच्छया' शब्द दिया है । अर्थात् पूतना का इस घर में आने का विचार नहीं था, किन्तु भगवत्प्रेरणा से अचानक नन्द के घर में आई और बालक को देखा । भगवान् की इच्छा के अतिरिक्त सकल उपायों से भी नन्दगृह में आना अशक्य था । सुन्दर रूप वाली बनावटी दुष्टा स्त्री (पूतना) को भगवान् के दर्शन कैसे हुए ? इस शङ्का के मिटाने के लिये श्लोक में 'असदन्तकं' कहा है, जिसका अर्थ है—भगवान् दुष्टों का काल है । इसलिये जिन दुष्टों को मारना है उनको देखकर ही मारते हैं इस कारण से मारने वालों को भी दर्शन होने में कोई बाधक नहीं । भगवान् को नन्दगृह में दुष्टों के आने को भी रोकना था । बालकों के हरण में ही चित्त वाली उसको यह विचार ही न आया कि यह भगवान् है, दुष्ट असुरों के नाशक हैं । उन (भगवान्) को साधारण बालक के रूप में देखा, इसलिये श्लोक में 'बालं' शब्द दिया है । यद्यपि बालक रूप था तो भी अलौकिक तेज से यह विचार क्यों नहीं आया कि यह 'भगवान्' है ? यह शङ्का मिटाने के वास्ते ही श्लोक में कहा है कि 'प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं' भगवान् ने अपना अधिक अलौकिक तेज छिपा लिया था । यदि वह न छिपाते तो उस भगवान् के तेज से असुर जलने के कारण दूर से ही भाग जाते तो मरते नहीं । बिल्कुल तेज छिपा लेते तो यशोदादि व्रजवासियों को डर होता इसलिये 'उरु' शब्द से बताया कि अधिक तेज छिपा लिया । भगवान् की ज्ञान और क्रिया-शक्ति तो सर्वत्र सदैव रहती ही है; किन्तु लीलार्थ तिरोहित सी दीखती है । अतः जब तक पूतना भगवान् के पास

पहुँची, तब तक उस तेज को कुछ छिपाने जैसा कर लिया, कारण कि भगवान् उस वक्त पलंगड़ी पर पौढ़े थे। पौढ़ने के समय क्रिया-शक्ति कार्य नहीं करती है। अवस्था (आयु) वा निद्रादि काल से क्रिया-शक्ति का तिरोभाव होता है। निद्रा से उठकर चलने-फिरने से वह क्रिया-शक्ति आविर्भाव पाती है। ज्ञान-शक्ति का प्रकाश तो स्वाभाविक है, जिससे ब्रह्मज्ञानियों को भी ज्ञान होने पर उनमें प्रकाश आ जाता है। वह ज्ञान-शक्ति का प्रकाश पूतना के लिये क्यों न बाधक हुआ ? इस शङ्का को मिटाने के लिये श्लोक में कहा है कि 'अग्निमिवाहितं' जैसे अग्निहोत्री अग्नि को भस्म से ढांक देते हैं, फिर हवन के समय भस्म दूर होने पर, वह अग्नि अपना तेज दिखाती है, वह तेज (अग्नि) दूसरों को तो जलाती है किन्तु अपने में से पैदा हुई भस्म को नहीं जलाती है; वैसे ही ज्ञान-शक्ति से उत्पन्न इच्छा, उस इच्छा से तिरोहित प्रकाश रूप शक्ति प्रवृत्ति होने तक बाधक नहीं होती है। अर्थात् पूतना की प्रवृत्ति में वह ज्ञान-शक्ति का प्रकाश भगवद्इच्छा से बाधक नहीं हुआ ॥ ७ ॥

श्लोक—**विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहं चराचरात्मा स निमीलितेक्षणः।**
तमङ्कमारोपयदन्तकान्तकं यथोरगं सुप्तमबुद्धिरज्जुधीः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ—चल और अचल के आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने उस बाल-हत्यारिणी पूतना को जानकर नेत्र मूंद लिये। मूर्ख मनुष्य जैसे सोते सांप को रज्जु समझ लेवे, वैसे ही पूतना ने अनन्त काल रूप भगवान् को साधारण बालक समझ गोद में ले लिया।

सुबोधिनी— स्वतो ज्ञानशक्तेर्बाधकत्वमाशङ्क्य तस्या अपि तिरोधानमाह **विबुध्येति**, ज्ञानशक्तेः स्वरूपमेतत् कीर्तितं, न तु बोध उत्कर्षार्थमुक्तः, पुरोवर्तीन्द्रियसन्निकर्षे संकेतितस्य स्मरणमिव तस्या दर्शनेन तदीया गुणा उद्भूता इत्येतदर्थमाह **तां बालकमारिकाग्रहमिति**, प्रसिद्धिप्रेरणादिकं तच्छब्देनोक्तं, मुख्यं दोषमनुवदति, **बालकानां मारिका** बालघातिनी, तथाभूता सती ग्रहरूपा च, गृह्णन्तीति ग्रहाः, मारयितुं चेन्न शक्नुवन्ति, शीघ्रं गृहीत्वापि तावत् तिष्ठन्ति तथा प्रतीकारेपि, ननु तदुत्थाय कथं न मारितवांस्तत्राह **चराचरात्मेति,** स्थावरजङ्गमानामयमात्मा यदि मर्यादां त्यजेत् तदा जीवजडयोर्विलय एव स्यात्, अस्तु विलय इति चेत तत्राह **स** इति, **स** मूलभूतो जगत्कर्ता, ज्ञानमतिरोहितमेव भवतीति तस्य तिरोधानार्थं यत्नं कृतवानित्याह **निमीलितेक्षणो** जात इति, एवं सर्वांशेनाबाधे जाते सा समागत्य भगवन्तं गृहीतवतीत्याहानन्तमिति, ग्रहणे शङ्काभावार्थमनन्तपदं, अनेनान्यदपि सूचितमविलष्टकर्मा भगवान् स्वतो न कञ्चिन्मारयति तथैव परं स्वतः कालो गृहीत इति निकट उपविश्य **तमंके समारोपयत्**, कालो हि घातकानां हितकारीतिशङ्काव्युदासार्थमाहान्तकमिति, स हि **सर्वमारकः**, नन्वारोपणे क्रियाशक्तिः प्रबुद्धा कथं न बाधिका जातेत्याह **यथोरगं सुप्तमिति**, सर्पाणामतितामसत्वात् तेषामत्यन्तं निद्रा, अतो मारणपर्यन्तं न क्रिया तेषु, तथा भगवतोपि क्रिया सर्वथा नाविर्भूता, ननु स्पर्शेण ज्ञानशक्तिस्तेजः कथं नाविर्भूतमिति चेत् तत्राहाबुद्धिरज्जुधीरिति, अबुद्ध्याज्ञानेन सर्पे **रज्जुधीर्यस्य,** रज्जुर्बन्धिका, सर्पो मारकः, स्नेहेन स्तने दत्ते मय्यनुरक्तो भविष्यतीत्यापाततो बुद्धिर्न तु मारकत्वं जानाति यथा रज्जुबुद्ध्या गृहीतः सर्पः स्वस्पर्शेपि न ज्ञानं जनयति, अतो भगवज्ज्ञानं तेजोऽपि स्पर्शेन नाविर्भूतमित्यर्थः ॥८॥

व्याख्यार्थ—ज्ञान-शक्ति अपने आप उसके आने में रुकावट करदे तो, इसके लिये 'विबुध्यतां' इस श्लोक में वह ज्ञान-शक्ति के तिरोहित होने का वर्णन करते हैं।

श्रीशुकदेवजी ने श्लोक में 'विबुध्यतां बालक मारिका ग्रहं' उसको—पूतना को—बालकों को मारने वाला ग्रह समझ कर, यह पंक्ति कह कर, भगवान् के ज्ञान होने का उत्कर्ष (आधिक्य) नहीं बताया है, वरन् ज्ञान-शक्ति का स्वरूप बताया है। अर्थात् भगवान् की ज्ञान-शक्ति ऐसी है कि कोई किसी भी रूप में आवे, तो भी उसके निजी भीतरी स्वरूप को पहचान लेती है। और 'विबुध्यतां मारिका ग्रहं' यह पंक्ति इसलिये भी कही कि जैसे इन्द्रियों का सामने वाले पदार्थ से सामीप्य (सम्बन्ध) होते ही, संकेतित (ठहराव) के स्मरण की तरह, उसके गुण स्वयं प्रकट हो जाते हैं, वैसे ही उस पूतना के देखने से, उसके भी गुण प्रकट दिखाई देने लगे अर्थात् पूतना को देखने मात्र से उसके गुण भगवान् को भी प्रत्यक्ष दीखने लगे। 'तां' शब्द का आशय बताते हैं कि इस 'तां' से उसकी प्रसिद्धि और कंस की प्रेरणा आदि भी कहदी एवं उसका मुख्य दोष बालकों को मारना एवं पकड़ कर ले जाना भी बता दिया। ग्रह शब्द का भावार्थ बताते हैं कि जो पकड़ लेते हैं, उनको 'ग्रह' कहा जाता है। उनमें मारने की शक्ति नहीं हो, तो भी वे शीघ्र पकड़ कर, अपने पास तब तक रखते हैं, जब तक उनकी शक्ति चल सकती है। प्रतीकार[१] होने पर भी पकड़ रखते हैं। जब प्रतीकार से शक्ति नष्ट होती है, तब छोड़ते हैं। इसलिये पूतना को ग्रह कह कर यह बताया है कि जब तक प्रतीकार से इसकी शक्ति नष्ट न होगी, तब तक यह इस कार्य को छोड़ेगी नहीं। ऐसा है तो भगवान् ने उठकर क्यों नहीं उसका नाश किया ? इस शंका के निवारण के लिये कहते हैं कि भगवान् चराचरात्मा (चल और अचल दोनों की आत्मा) हैं। यदि दोनों की आत्मा स्वयं ही मर्यादा[२] छोड़ दे, (कर्ता तो पालक चाहिये न कि मारक) तो जीव[३], जड़[४] दोनों का नाश[५] हो जाय। यदि कोई कहदे कि भले प्रलय हो जाय, इस पर कहते हैं कि श्रीशुकदेवजी ने श्लोक में कहा है कि 'सः' यह बालक साधारण बालक नहीं है; किन्तु यह वह मूल रूप जगत्कर्ता है। इसलिये वह मर्यादा तोड़, अब प्रलय कैसे करे ? मूल भूत की ज्ञान-शक्ति, तो सदैव रहती है। उसके छिपाने के लिये यह प्रयत्न किया कि आंखें मूंद लीं।

इस प्रकार सब तरह बाधा-निवृत होने पर उसने आकर अनन्त (भगवान्) को उठा लिया।

उठाने में उसको किसी प्रकार की शंका न हुई, क्योंकि भगवान् अनन्त रूप थे। 'अनन्त' पद का दूसरा यह भी आशय है कि भगवान् (जगत्कर्ता) किसी को स्वतः[६] मारता नहीं, क्योंकि आप अक्लिष्ट कर्मा है। उसने (पूतना ने) अपने आप ही काल को पकड़ लिया। उसके समीप बैठ गोद में बैठाया। काल (अनन्त) तो हत्यारों का हितकारी है ? इस शंका को मिटाने के लिये 'अन्तक' विशेषण दिया है कि वह अनन्त सबों को मारने वाला है।

१—बदला। २—नैतिक विधि या सीमा। ३—चल। ४—अचल। ५—प्रलय।
६—अपने आप।

श्लोक में 'यथोरगं सुप्तम्' (जैसे सोये हुए साँप को) देने का भावार्थ बताते हैं कि यदि किसी को यह शंका होवे कि बालरूप भगवान् को गोद में लेने पर, भगवान् की क्रिया-शक्ति तो जाग्रत हुई होगी तो उसको यों करने में क्यों न बाधा डाली ? इसपर कहा है कि जैसे सोये हुए साँप को—साँप अति तामस प्रकृति वाला होने के कारण बहुत गहरी नींद लेता है । इससे जब तक उसको पीटा नहीं जाता तब तक वह कोई क्रिया नहीं करता है अर्थात् वहीं पड़ा रहता है । उसमें किसी प्रकार की चलन क्रिया (कांपना हिलना आदि) नहीं होती है । तैसे ही भगवान् की भी क्रिया-शक्ति का कोई भी कार्य प्रकट न हुआ ।

क्रिया-शक्ति का कोई कार्य न हुआ; किन्तु ज्ञान-शक्ति का तेज तो प्रकट होना चाहिये था, वह क्यों न प्रकट हुआ ? इसका उत्तर देते हैं कि 'अबुद्धिरज्जुधी:' जैसे साँप को रस्सी समझने वाला बेसमझी से साँप को पकड़ता है तो उस पकड़ने वाले को साँप अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं कराता है कि मैं तुझे मार डालूंगा । रस्सी तो बन्धन करने वाली है; लेकिन मारने वाला साँप है । पूतना ने भी बेसमझी से समझा था कि स्नेह से स्तन्य पान कराने के कारण मुझ पर प्रसन्न ही होंगे । पूतना ने यह न समझा कि यह मेरा अंत करने वाला है । जैसे रस्सी समझ साँप को पकड़ने वाला नहीं समझता है कि यह मुझे काटेगा, वैसे ही पूतना भी इसको साधारण बालक समझ, गोद में ले स्तन्य पान कराने लगी । इस कारण से भगवान् का ज्ञान, तेज, वा प्रकाश भी स्पर्श से प्रकट न हुआ ॥ ८ ॥

श्लोक--**तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टितां वीक्ष्यान्तराकोशपरिच्छदासिवत् ।**
वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते निरीक्षमाणे जननी ह्यतिष्ठताम् ॥ ९ ॥

लेख—७ वें श्लोक में धर्म-रूप ज्ञान का तिरोधान होने के कारण ब्रह्मविद् का दृष्टान्त दिया था । इस ८ वें श्लोक में ज्ञान-शक्ति के धर्मी स्वरूप का तिरोधान हुवा हैं । इतना भेद है । यद्यपि भगवान् की कोई भी शक्ति तिरोहित होती ही नहीं है, सदैव उनका आविर्भाव ही रहता है; किन्तु लीलार्थ भगवान् स्वयं ऐसा दिखावा देते हैं, अत: यहाँ पूतना आ सके, इसलिये आँखे मूंद कर ज्ञान-शक्ति को स्वरूपत: तिरोहित सा कर दिया । ज्ञान-शक्ति प्रकट न हुई अर्थात् पूतना की बुद्धि को यह मालूम न हुआ कि यह भगवान् हैं ।

प्रकाश—भगवान् ने अपनी इच्छा से ज्ञान-शक्ति का अत्यन्त तिरोधान कर लिया था । भगवान् का महान् उत्कर्ष 'चराचरात्मा' (जड़ और चेतन की आत्मा हैं) पद से बताया है इसलिये पूतना के दोषों के ज्ञान से, उत्कर्ष नहीं बताया है ।

योजना—इस श्लोक में शुकदेवजी ने ज्ञान-शक्ति का स्वरूप ही बताया है, क्योंकि भगवान् तो अपरोक्ष ज्ञान वाले होने से सब छिपे हुए पदार्थों को भी जानते ही हैं, इससे पूतना के सर्वदोषों के ज्ञान से, भगवान् का कुछ भी उत्कर्ष प्रकट नहीं किया । इसलिये प्रथम ७वें श्लोक में तिरोधान में ब्रह्मविद् का दृष्टान्त दिया यहाँ भगवान् ने आँखें मूंदना रूप यत्न किया है ।

श्लोकार्थ—म्यान में छिपी हुई तलवार के समान बहुत तेज (क्रूर) चित्तवाली और बुरे कार्य करने वाली घर में आई हुई उत्तम रूप वाली स्त्री (पूतना) की कान्ति से दबी हुई दोनों माताएँ (केवल खड़ी खड़ी) उसको देखती ही रहीं।

सुबोधिनी—ननु यशोदारोहिणीभ्यां कथं सा न निवारितेत्याह **तां तीक्ष्णचित्तामिति, तां** निरीक्ष्य **तत्प्रभया धर्षिते जननी** जनन्यावतिष्ठतां निवारयितुं वाशक्ते जाते **यशोदारोहिण्योर्मोहा**भावात्, भगवत्समीपे मायाया विलयात्, तद्गता धर्मा सर्वे भाता इत्याह **तामि-**त्यादिपदैः, तच्छब्देन तद्गताः पूर्वधर्माः **सर्वे** निरुक्ताः, पूर्वं प्रवेशार्थं व्यग्रचित्ता मोहनाभिनिविष्टा च, इदानीं तु तद्भयाभावात् **चित्रक्रौर्यं** प्रकटीभूतं ताभ्यां **ज्ञातं** निरूपयति **तीक्ष्णचित्तामिति** तस्या अन्तर्गतो दोषो निरूपितः, बहिर्गतान् निरूपयत्यति**वामचेष्टितामिति,** अत्यन्तं **वामं वक्रं** कठिनस्पर्शादिरूपं **चेष्टितं** यस्याः, **एवमन्तर्बहिस्तस्या** दोषं दृष्ट्वापि स्वतो निवारणेऽशक्तावपि रक्षकेभ्यो निवेदनाभावे हेतुमाहा**न्तराकोशपरिच्छदा-सिवदिति, अन्तरा** ग्रहमध्येन्तर्वा महतां, तत्रागमनमयुक्तं मध्यस्थितानां चाप्रयोजकत्वं ज्ञातं, **किंच कोश एव परिच्छदो** वेष्टनसाधनं यस्यैतादृशोसिः खड्गः, आसमन्तात् **कोश** इति वा, अतिधनयुक्तः परिच्छदो वा यस्य, अनेन बहिर्मुखलोका अन्तर्गतं दूषणं तद्गतं येनकेनचिदुच्यमानं न ग्रह्णन्त्येव, अत एवं ज्ञात्वा ताभ्यां न कश्चिज्ज्ञापितः, तथाभूतं प्रकृते विशेषणमाह **वरस्त्रियमिति, वरणीया स्त्री** परमसुन्दरी, अतः पुरुषमात्रेणैव वरणीयेति न कोप्येनां मारयिष्यतीतिभावः, स्त्रीणां त्वसामर्थ्यमेव, तथापि भगवत्स्नेहात् प्रयत्न एव कर्तुमुचितो न त्वौदासी-न्यमिति चेत् तत्राह **तत्प्रभया च धर्षिते** इति, **तस्याः प्रभा** भगवत्कृता, राक्षसो भावो मानुषभावोपमर्दकः, अतस्तस्याः **प्रभयोभे** अपि **धर्षिते, चकाराद्** भगवदिच्छया च, अत एव **निरीक्षमाणे एवातिष्ठतां, अजननी**त्यपि, जनने हि सहजो भावो भवति, **जनन्यावपी**ति वा ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ—पूतना को घर में आती देख कर भी यशोदा तथा रोहिणी ने उसको क्यों नहीं रोका ? इस शङ्का का उत्तर इस श्लोक में दिया है। वह (पूतना) बहुत तेज वाली थी। उसको देखकर उसके तेज से दबायी जाने के कारण दोनों माताएँ रोकने में असमर्थ हो गईं ! इसलिये देखती ही रह गईं और यशोदा रोहिणी को इतना मोह (वात्सल्य) भी न था, जो कि जननी[1] (जनने वाली माता) में होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों अजननी थीं। 'तां' शब्द का भाव बताते हैं कि भगवान् जहाँ बिराजते हैं वहाँ माया (मोहकराने वाली) अपने कार्य करने में असमर्थ होती है इससे माया के कारण जो पूतना के चित्त की क्रूरता आदि धर्म छिप गये वे अब प्रकट हो गये। 'अति तीक्ष्ण चित्ता' बहुत तेज (क्रूर) चित्त वाली कह कर, उसके भीतर के दोष जताये और 'अति वाम चेष्टिता' (अत्यन्त कठिन स्पर्शादिवाली) कह कर उसके बाहर के दोष बताये। जब इस प्रकार दोनों माताएँ—ये दोष प्रत्यक्ष देख कर समझ गई थीं, तब उसको यदि स्वयं रोकने में

१—'सहजभाव' सन्तान के पैदा होने के साथ जो लौकिक भाव (वात्सल्य भाव) माता जनने वाली में होता है, वह लौकिक वात्सल्य यशोदा तथा रोहिणी में न था। यहाँ तो अलौकिक भाव था; वह भगवान् की इच्छानुसार ही होता है। भगवान् की इच्छा थी की पूतना को कोई रोके नहीं, भले ही वह आवे, मैं इसका उद्धार करूँगा, इसलिये वे दोनों उसके तेज से दब गईं और कुछ न किया।

असमर्थ थीं, तो दूसरों को (पुरुषों को) क्यों न कहा ? यदि पुरुषों को कहतीं, तो वे उसको रोकते। (इस शङ्का का निवारण 'अन्तराकोशपरिच्छदासिवत्' पद से करते हैं। 'अन्तरा' शब्द से यह बताया है कि वह घर के भीतर आ गई, जहाँ पुरुषों का आना योग्य नहीं। और 'कोशपरिच्छदासिवत्' पद से यह बताया है कि जैसे म्यान में छिपी तलवार अथवा कोश में छिपे हुए धन को बाहर का बेसमझ आदमी पहचान नहीं सकता है, वैसे ही इसके छिपे हुए दोष बहिर्मुख लोग समझ नहीं सकेंगे, इसलिये पुरुषों को कहना व्यर्थ है और 'वरस्त्रियं' (सुन्दर रूप वाली) से भी उन्होंने (यशोदा-रोहिणी ने) समझा कि यह रूपवती सब पुरुषों के वरण योग्य (मोहित करने वाली) है, इससे इसको कोई पुरुष मारेगा नहीं। इस कारण से भी उन्होंने दूसरों को न बताया और न कहा। स्वयं मारने व भगाने में असमर्थ थीं, तो भी भगवान् के प्रेम के कारण प्रयत्न तो करना ही चाहिये था। इस प्रकार उदासीन होना अच्छा नहीं था। इस पर कहते हैं कि वे स्वयं उसके तेज से दब गई थीं। इतना तेज उसमें भगवान्[1] ने किया था।

मनुष्य भाव राक्षस भाव के प्रभाव से दब जाता है इस कारण से उस राक्षसी की प्रभा से ये दोनों दब गईं। तथा श्लोक में दिए हुए 'च' का आशय है कि भगवान् की इच्छा ऐसी थी। इससे वे खड़ी-खड़ी देखती ही रहीं ॥ ९ ॥

श्लोक—**तस्मै स्तनं दुर्जरवीर्यमुल्बणं घोराङ्कमादाय शिशोर्ददावथ ॥ ९½ ॥**

श्लोकार्थ—भीतर आने के बाद दुष्ट पूतना ने बालक को गोदी में लेकर, दुर्धर जहर से भरा हुआ गाढ (कठोर) स्तन उसको (उसके मुख में) दिया ॥ ९½ ॥

सुबोधिनी—एवमप्रतिबन्धे यत् कृतवती तदाह **तस्मा** इति, तस्मै सम्भृतसर्वधर्माय भगवते स्तनं ददौ, अन्यथा दातुमेव न शक्नुयात्, **स्तन**मेकं, ननु दत्ते स्तने तस्याः कः पुरुषार्थ इति चेत् तत्राह **दुर्जरवीर्य**मिति, **दुर्जरं वीर्यं** यस्य स्तन्यस्य, स्तने स्तन्यं तिष्ठतीति स्तन्यदानमप्रत्यक्षमिति **स्तन**पदप्रयोगः, न केवलं परिणामाहितकर्तृत्वं किन्तूल्बणं क्रूरं, ग्रहणदशायामप्यनिष्टजनकं, नन्वेवं भगवति कथं कृतवती तत्राह **घोरे**ति, कदाचित् स्तनं न पिबेदिति लालनार्थं शिशोर**ङ्कमादाय** बालकस्याङ्कस्थानं स्पृशन्त्युत्तोलयन्ती ततो भगवतः पृष्ठभाग अरुणा परिगृहीतः, दक्षिणहस्तेन स्तनं निष्पीड्यन्ती वामहस्तेन भगवतोऽङ्कस्थानमुत्तोलयन्ती स्तनं ददावित्यर्थः ॥ ९½ ॥

१—माया रूप भगवान् ने पूतना को जब किसी ने रोका नहीं तब जो उसने किया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

प्रकाश—गोपों के न रोकने का कारण था कि वह अत्यन्त रूपवती बनकर आई थी। उसको देख कर, कामोत्पत्ति के कारण वे मोहित हो गये थे। गोपियों ने इसलिये न रोका कि उसके स्वरूप में उनको लक्ष्मीजी का भाव हुआ, इन दोनों में—ये दोनों कारण न होने से उनमें मोह का अभाव था, किन्तु (भगवदिच्छा से) ये दोनों उसके तेज से दब गईं इसलिये वे रोक न सकीं।

व्याख्यार्थ—उसने (पूतना ने) भीतर सब धर्म धारण करने वाले उस बाल रूप भगवान् को अपना स्तन दूध पिलाने के लिये मुख में दिया । यदि भगवान् ने अपने धर्म भीतर न छिपाये होते तो पूतना भगवान् के मुख से स्तन दे न सकती, एक स्तन दिया ।

स्तन देने में उसका कौनसा अर्थ था ? इसका उत्तर देते हैं कि उसके स्तन में दुर्जर[1] वीर्य[2] वाला स्तन्य[3] था अर्थात् जिसके पीने से शरीर अस्वस्थ रहे । स्तन्य शब्द न देकर स्तन शब्द इसलिये दिया कि दूध पिलाने का कार्य छिपा हुआ हो । किसी को मालूम न हो । यह स्तन्य ऐसे वीर्य[4] वाला था, जो केवल (एक मात्र) परिणाम में ही हानि नहीं करता है, किन्तु (उल्बणं) (क्रूर भी है अर्थात् लेने के समय में ही हानि करने वाला है) । पूतना ने ऐसा अनर्थ का कार्य भगवान् के साथ क्यों किया ? तो कहते हैं कि वह 'घोरा' थी अर्थात् भयानक थी । पूतना के मन में यह विचार आया कि कदाचित् वह दूध न पीवे तो इसलिये उसने लाड़ प्यार करने के लिये अपनी गोदी में ले, बांयें हाथ से भगवान् की पीठ को पकड़ कर डुलाती हिलाती थी और दाहिने हाथ से दूध निकालने के लिये स्तन को दबाती हुई भगवान् के मुख में देने लगी ।। ९½ ।।

श्लोक—**गाढं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत् प्राणैः समं रोषसमन्वितोपिबत् ।।१०।।**

श्लोकार्थ—'पूतना के इस प्रकार स्तन देनें पर' भगवान्, क्रोध पूर्वक दोनों हाथों से स्तन को जोर से दबाते हुए, प्राणों के साथ स्तन्य पीने लगे ।

सुबोधिनी—अथ तस्याः क्रियासमाप्त्यनन्तरं भिन्न-प्रक्रमेण भगवान् स्तन्यमपिबदित्याह **गाढमिति**, यथा निर्बन्धेन पाययिष्यामीतियत्नं कृतवती तथा भगवान् स्तन्यमप्यदत्वा पलायिष्यतीति निग्रहस्यावश्यकर्तव्यत्वात् **कराभ्यां गाढं स्तनं प्रपीड्यापिबादितिसम्बन्धः**, एवं निर्भयतया स्तनपानप्रवृत्तौ हेतुमाह **भगवानिति**, ईश्वरत्वात् स्त्रीमारणदोषः परिहृतः, "पुमान् योषिदुत क्लीब" इतिवाक्याद् वीर्यवत्त्वाज् जीरणादिसामर्थ्यं द्योतितं, यशोवत्त्वादलौकिकचरित्रकरणं, श्रीयुक्तत्वान्न प्रकारान्तरेण मारणं तादृशशोभानाशप्रसङ्गात्, ज्ञानित्वात् तस्या दोषपरिज्ञानेन मारणावश्यकत्वं, वैराग्ययुक्तत्वाद् दैत्यपक्षवधो न बाधकः, एवं तस्या मारणे हेतुषट्कं, गुणैर्धर्मिणा च मोक्षदानं, अन्यथा न पिबेत्, अत एव तस्याः सर्वप्रायश्चित्तार्थं **प्राणैः सममपिबत्**, प्राणरक्षार्थं हि तया सर्वं कृतं, प्राणे तु भक्षिते सर्वं भगवदर्पणं भवति, शिशूनां प्राणा अप्यत्र सन्तीति तेषामपि मुक्तिः सूचिता, बहुवचनेन च **प्राणपदे**नेन्द्रियाण्यपि गृह्यन्ते, ततः सर्वैव सामग्री तदीया पीता भवति, ननु निन्दितपदार्थं **भगवान्** कथं गृहीतवानपहतपाप्मा हि स तत्राह **रोषसमन्वित** इति, **रोषेण सम्यगन्वितः**, यथा तदीयोंशो दुष्टो भगवति सम्बद्धो न भवति यथा वा स सर्वोप्यंशो दग्धो भवति, भगवान् **सर्वसमन्वित** इति क्रोध**समन्वित**त्वेपि न दोषः, पूर्वं रोषसम्बन्धो नास्तीति वक्तुं **प्राणैः समं रोषसमन्वित** इत्युक्तं, सर्वात्मकत्वात् नासङ्गत्वक्षतिः, न तु तस्या मारणार्थं **रोषो**पेक्ष्यते, वीर्यस्योक्तत्वात् स्तनद्वारापि प्राणपानं न विरुध्यते, साधनफलरूपा तदीया क्रिया नाशितेति ज्ञापयितुं **कराभ्या**मित्युक्तम् ।। १० ।।

१—कठिनाई से पचने वाला । २—तेज । ३—दूध । ४—विषवत् बल ।

व्याख्यार्थ—उसकी क्रिया (दूध पिलाने) के लिये जो कुछ करना था वह पूरी होने के अनन्तर भगवान् दूसरे ढंग से उसके दूध को पीने लगे इसका वर्णन 'गाढं' इस श्लोक में करते हैं।

पूतना आग्रह पूर्वक दूध पिलाने का प्रयत्न करने लगी। भगवान् ने सोचा कि इसको मारना आवश्यक है ऐसा न हो कि दूध पिलाने के बाद भाग जाय, इसलिये दोनों अर्थों से दृढ़ता पूर्वक स्तन को दबा कर (कठोरता से पकड़ कर) दूध पीने लगे। बालक होकर भी, इस प्रकार निडर होकर स्तन पान में प्रवृत्ति का कारण यह है कि आप भगवान् हैं। ईश्वर होने से आपको स्त्री को मारने का दोष भी लगता नहीं है 'पुमान् स्त्री षंड' यह वाक्य ईश्वर होने से लागू नहीं।

पूतना का दूध दुर्धर विष वाला और उल्बरण (क्रूर) लेते ही हानिकारक एवं अपच था, उसको भी पीकर, आपने अपना वीर्य धर्म प्रकट दिखाया, अलौकिक चरित्र कर यश धर्म दिखाया, जिस प्रकार पूतना ने दूध पिलाकर भगवान् को मारना चाहा, उसी प्रकार आपने भी, दूध पीते ही पूतना के प्राण ले लिये। यदि दूसरे प्रकार से मारते तो शोभा नहीं होती। इस चरित्र से, आपने श्रीधर्म प्रकट कर दिखाया। उसमें छिपे हुए दोषों के जानने से, उसको मारना हीं आवश्यक जाना, इससे अपना ज्ञानधर्म प्रकट किया। दैन्य पक्ष भी उसके (पूतना के) नाश करने में बाधक हुआ, इससे वैराग्य धर्म दिखलाया। इस प्रकार छः गुणों को प्रकट करने में छः हेतु दिखलाते हुए पूतना को मारा और धर्मी स्वरूप उसको मोक्ष दान दिया। जो भगवान् को यह लीला (पाप-प्रायश्चित्त-मोक्षदान) न करनी होती तो स्तन्य पान न करते। इसलिये ही उसके पापों का सर्व प्रायश्चित्त कराने के लिये प्राणों के साथ दूध पिया।

पूतना ने अब तक जो कुछ किया (बालहरणादि) वह सर्व अपने प्राणों की रक्षा के लिये किया, इसलिये उसके प्राण लेने से, पूतना का सब कुछ भगवान् के अर्पण हो गया (आत्म निवेदन करा दिया)। पूतना में हरण किये हुए बालकों के प्राण भी थे, इससे उनकी भी मुक्ति हो गई।

श्लोक में 'प्राणैः' बहुवचन दिया है, उसका आशय है कि भगवान् ने न केवल प्राणों को पिया, किन्तु इन्द्रियों को भी, इस कारण से उसका जो कुछ था, सब भगवान् ने चूस लिया (स्वीकार किया)।

भगवान् ने निन्दित पदार्थों को स्वीकार कैसे किया ? जब कि आप 'अपहतपाप्मा' अर्थात् पाप रहित हैं। इसलिये ही श्लोक में 'रोष समन्वितः' कहा है। भगवान् इस लीला के समय (क्रोध) वाले थे। जिससे उसके दुष्ट अंश का भगवान् से सम्बन्ध न हुआ अथवा वह दुष्ट भाग क्रोध स्पर्श से जल कर भस्म हो गया। भगवान् का तो सर्व सम्बन्ध है कोई वस्तु भगवान् के सम्बन्ध से रहित नहीं है। अतः भगवान् को क्रोध समन्वित होने का कोई दोष नहीं है। भगवान् में पहले रोष सम्बन्ध नहीं था, इसलिये श्लोक में 'प्राणैः समं रोष समन्वितः' अर्थात् प्राण पान के समय रोष वाले हुए।

'असंगोऽह्ययं पुरुषः' इस श्रुति में भगवान् को असंग कहा गया है तो भी भगवान् सर्वात्मक (सबकी आत्मा) होने से रोष युक्त होने में कोई हानि नहीं है। उसके (पूतना के) मारने के लिये भी रोष की अपेक्षा न थी, किन्तु लीला के कारण रोष का दिखावा किया। क्योंकि आपने वीर्य गुण प्रकट किया था। अतः स्तन द्वारा प्राण पान करने में कोई विरोध नहीं।

'कर' शब्द श्लोक में द्विवचन दिया है भगवान् ने पूतना के स्तन को दोनों हाथों से पकड़ा (दबाया) इसका आशय बताते हैं कि, भगवान् ने पूतना की साधन रूप एवं फल रूप दोनों क्रियाओं का नाश किया ॥ १० ॥

श्लोक—**सामुञ्चमुञ्चालमितिप्रभाषिणी निष्पीड्यमानाखिलजीवमर्म्मणि ।**
विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहुः प्रस्विन्नगात्रा क्षिपती रुरोद ह ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—प्रत्येक मर्म स्थानों में पीड़ित हुई वह (पूतना) 'छोड़दे छोड़दे अब बस' ऐसा कहती हुई आँखें फाड़ कर, बार बार हाथ पैर पछाड़ती पसीने से भरें शरीर वाली जोर से रोने लगी।

सुबोधिनी—अतो भगवता पेपीयमाने स्तने तत्र स्थितो भगवान् मायारूपोपि भगवत्येव प्रविष्टः, तत्सङ्ग आधिदैविकी **पूतना**पि भगवति प्रविष्टा, आध्यात्मिक्यास्तु कृत्यमाह **सा मुञ्चमुञ्चे**ति, सा पूर्वमेवं निर्बन्धयुक्तापि भगवता निष्पीडिता तदानीमपि भगवत्स्वरूपमज्ञात्वा वचनत्रयमुक्तवती **मुञ्चमुञ्चाल**मिति, यथा प्राकृते बालके पेपीयमाने च स्तनव्यथायां मुञ्चेत्युच्यते, अतिव्यथायां पुनः, पुनर्बालकस्य क्षुन्निवृत्तेति ज्ञात्वालमित्याह, बालो हि स्वबुद्धया पूर्णतां न जानात्यन्योक्तं च गृह्णात्यत आह, अन्तःस्थितो दुष्टभावो गतः, तेन **लौकिकभाषोक्ता**, मात्रोश्च परिज्ञानार्थं गतेपि प्राणे भगवत्सम्बन्धस्य विद्यमानत्वात् प्राणवत्या एव तस्याश्चेष्टामाहेतित्रभाषिणीति, "भगवान् कराभ्यां प्रपीड्य" ति यदुक्तं तद् बालकेन स्तने मर्दनं पीडाजनकं न भविष्यतीत्याशङ्क्याहाखिल**जीवमर्म्मणि निष्पीड्यमाने**ति, जीवस्य **मर्मस्थानानि** बहूनि यत्र प्रहारेण जीवो गच्छति, **अखिल** एव **जीवमर्म्मणि**मर्मस्थाने नितरां **पीड्यमाने** सति, निष्पीड्यमाना वा, वस्तुतस्त्वखिलेत्युक्त्वा **मर्मणी**त्येकवचनं यदुक्तं तेनाखिलपदं **जीवविशेषण**मेव, तथा च तया स्वस्मिन्नानीता ये बालकानां जीवास्ते स्वजीवमर्मस्थाने स्थापिताः सन्तीति तान् स्वस्मिन्नानेतुं भगवांस्तन्निष्पीडनमेव कृतवानित्यभिप्रेतोर्थः, बालकद्रोहाज्ञायां भगवानेव निमित्तमिति तादृशानां स्वस्मिन्नानयनमावश्यकमिति तथा, अत एव बाललीलारसंताननुभावयन् मृत्स्नामप्यनुभावितवानत एव "नाहं भक्षितवानि" तिवचनं सत्यं, अत एव तस्या उरसो भगवत्क्रीडायोग्यतापि भक्तानां तत्र स्थितिरासीद्यतः एत एव व्रतप्रसङ्गे च "वयस्यै" रितिपदेन वक्ष्यन्ते, तदातिव्यथया निवृत्तवाड् **नेत्रे** विवृत्य विपरीततया प्रसार्य **चरणौ भुजौ** चेतस्ततः **क्षिपन्ती** नितरां **स्विन्नं** सम्पूर्णं **गात्रं**

प्रकाश १०-६-१०—पूतना अविद्या का आधिदैविक रूप श्रवणादि से नाश होने वाला न होने के कारण भगवान् ही उसको नाश करने में समर्थ थे इसलिये भगवान् ने उसको मारा, उसको अपने में समा लिया (मोक्ष) दिया।

यस्यास्तादृशी सती रुरोद, उच्चैः:शब्दं कृतवती, अति-बालकस्पर्श एवम्भाव आश्चर्यजनको भवतीति हेत्युक्तं, अनेनान्तःपीडा महती तस्याः सूचिता भगवतश्च पराक्रमः, आकर्षणात्मकवायौ प्रविष्ट एवं कृतवानिति वीर्यं निरूपितं, सात्त्विके नेत्रे हस्तपादौ राजसौ गात्रं तामसमिति त्रिगुणपीडा निरूपिता, रजो मध्यस्थमुभयसङ्गतं भवतीति द्वयं निरूपितं, निर्गमनसमये प्राणस्य महान् घोषो रोदनं तेनाकृष्ट एव प्राणो भगवताकृष्ट इति ज्ञापितम् ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने पूतना के दूध पान के साथ, पूतना में स्थित माया रूप भगवान्, एवं उसके साथ आधिदैविक पूतना को भी अपने में प्रविष्ट कर लिया।

इस श्लोक में आध्यात्मिक पूतना के कृत्य (कार्य) का वर्णन करते हैं। वह पहले ही आग्रहपूर्वक दूध पिलाती थी; परन्तु जब भगवान् से पीड़ित हुई, तब भी भगवान् के स्वरूप को पहचान न सकी। इससे तीन वचन (मुञ्च मुञ्च अलम्) छोड़दे, छोड़दे, बस बोलने लगी। जैसे कोई लौकिक बालक माता को चूसता (माता का दूध पीता) है तब स्तन में पीड़ा होने पर माता बच्चे को कहती है 'छोड़दे' वह छोड़ता नहीं तो विशेष पीड़ा होने पर फिर भी कहती है कि 'छोड़दे' पर वह छोड़ता नहीं तब माता बच्चे का पेट भरा समझ कहती है कि अरे 'अब बस कर'। बालक अपनी समझ से मेरा पेट भर गया है यह नहीं समझ सकता, इसलिये दूसरे (माता) का कहना मानता है। इसलिये कहा कि पूतना के भीतर रहा हुआ दुष्ट भाव नाश हुआ। इसी कारण से लौकिक प्रकार की भाषा से 'छोड़दे-छोड़दे, बस' कहा एवं इसलिये भी कहा कि माताओं को भी ज्ञात हो जाय। प्राण[1] जाने पर भी उसका सम्बन्ध भगवान् से था, इससे उसकी चेष्टा (क्रिया) प्राणवाली जैसी ही थी—जैसे कि श्लोक में कहा है कि 'प्रभाषिणी' बोलने वाली थी। 'भगवान् कराभ्यां प्रपीडच' भगवान् के दोनों हाथों से दबाने से कुछ भी पीड़ा न होगी, क्योंकि यह भगवान् बालक है ऐसा कोई समझ न बैठे। इसलिये कहा है कि 'अखिल जीव मर्मणि निष्पीडचमानां' भगवान् से प्रत्येक मर्म (कोमल जीवनस्थान—जिनको थोड़ी सी चोट लगने से प्राण निकल जाय) स्थानों में पीड़ित थी, क्योंकि पूतना ने जिन बालकों के प्राण हरण किये थे, वे प्राण, उसके मर्म में रहे हुए थे। भगवान् को उन सब बालकों के प्राण अपने में प्रविष्ट करने थे। इसलिये सर्व मर्म स्थानों का मर्दन होने से, सर्व मर्म स्थानों में पीड़ा हुई। यहाँ अखिल शब्द, जीव शब्द का विशेषण समझना चाहिये।

बालकों से द्रोह करने की आज्ञा पूतना को कंस ने दी थी परन्तु इसमें मूलकारण भगवान् ही हैं, इसलिये कि बालकों को अपने में प्रवेश कराना आवश्यक था। बालकों को अपने में

१—**प्राण जाने पर भी**—बृहदारण्यकादि उपनिषदों में कहा है कि वाणी आदि इन्द्रियों में बोलने आदि का सामर्थ्य प्राणों से ही प्राप्त होता है, अब प्राण जाने पर भी, पूतना बोलती थी, यह क्यों ? इस शङ्का का निवारण करते हैं कि आधिदैविक प्राण, भगवान् में स्थित थे, उस (भगवान) का संग (स्पर्श) पूतना से था, इस संग (स्पर्श) के कारण ही पूतना बोलना आदि क्रिया कर सकती थी।

स्थित करा के उनको बाललीला रस (मिट्टी खाने) का अनुभव कराने के वास्ते ही आपने अपने मुख द्वारा उनको मिट्टी खिलाई । इसलिये अपनी माता को कहा कि 'मैया मैंने मिट्टी नांहि खाई' यह आपका कहना तभी तो सत्य है । इस प्रकार पूतना से मारे हुए भक्त बालक, पूतना के हृदय में थे, इसलिये ही पूतना की छाती भगवान् के क्रीड़ास्थल के योग्य थी । ये ही बालक, व्रतचर्य्या के प्रसंग में 'वयस्यैः, पद से वर्णन करेंगे । तब अत्यन्त पीड़ित होने से कुछ बोल न सकी । आंखे फाड़कर, हाथ पैर उलटे-सुलटे, जहाँ-तहाँ फैलाकर, पसीने से भींगे हुए शरीर वाली रोने लगी । जोर से रोने का शब्द करने लगी । श्लोक में दिये हुए 'ह' अक्षर से भगवान् का माहात्म्य बताया

लेख—१०-६-११—भगवान् के श्रीअङ्ग के सङ्ग (स्पर्श) से पूतना का समग्र शरीर (देह इन्द्रियादि) आधिदैविक (अलौकिक) हो गया इसलिये उसने (आधिदैविक पूतना ने) भगवान् में प्रवेश पाया । श्रीकृष्णावतार होगा तब 'सम्पद्याविर्भाव स्वेन शब्दात्' इस सूत्र के अनुसार 'पूतना' भी जन्मेगी, क्योंकि लीला के उपयोगी अलौकिक देहेन्द्रियादि पदार्थ, नित्य भगवान् में निवास करते हैं । इसलिये भूतल पर लीला धारी लीलार्थ प्रकट होते हैं, और लीला कार्य सम्पूर्ण होने पर भगवान् में ही प्रवेश करते हैं । जिन की मुक्ति नहीं, वे प्रकृति में स्थित होते हैं ।

आध्यात्मिक पूतना का स्वरूप—पूतना की लौकिक इन्द्रियाँ और प्राणों को आध्यात्मिक पूतना कहा जाता हैं ।

आधिभौतिक पूतना का स्वरूप—पूतना के लौकिक देहमात्र को आधिभौतिक पूतना कहा जाता है ।

प्रकाश—व्याख्या में 'अखिल' शब्द जीव शब्द का विशेषण क्यों कहा है । उसको स्पष्ट कर समझाते हैं कि भगवान् के जन्म के दूसरे दिन की हुई, कंस की मन्त्रणानुसार 'पूतना' भी गाँव आदि में बालकों को मारती छठे दिन गोकुल में आई । भगवान् को दूध पिलाने से पहले, जितने बालक मारे थे, उनके जीव सहित प्राण, पूतना के मर्म स्थानों में स्थित थे । उन बालकों के 'जीव' लिङ्ग देह सहित यम गति को प्राप्त क्यों न हुए ? एवं साधनाध्याय व प्रथम पाद में जैसे उत्पत्ति क्रम है, तैसे इनकी उत्पत्ति हो जाती । इस शङ्का का निवारण (समाधान) करते हैं कि ये जीव भगवल्लीलोपयोगी थे, इसलिये भगवान् की इनके साथ ही लीलाएँ करने की मूल इच्छा थी, इस मूल भगवदिच्छा के कारण ही ये पूतना के मर्म स्थानों में प्रविष्ट हुए । इसलिये यहाँ 'अखिल' शब्द 'जीव' का विशेषण है । आधिदैविक पूतना ने उनको अपने मर्म स्थानों में रख लिया । मर्म स्थान स्थित उन बालकों को अपने में स्थित करने के लिये ही भगवान् ने यह लीला की अर्थात् खेल किया ।

योजना—आधिदैविकी पूतना ने जो बालक अपने साथ लायी थी जिनको साथ ले भगवान् क्रीड़ा करेंगे वे बालक कौन थे ? लीलोपयोगी कैसे हुए ? इसका स्पष्टीकरण योजनाकार करते हैं कि रामावतार में दण्डकारण्यवासी ऋषियों को, श्रीरामचन्द्र के रूप लावण्य देख, स्त्री भाव उत्पन्न हुआ । उन ऋषियों के, पुम्भाव का तो बालक रूप से, व्रज में जन्म हुआ और स्त्री भाव का कन्या रूप से गौड़ देश में जन्म हुआ । उन बालकों को मार उनके प्राण पूतना ने अपने मर्म स्थान में छिपाकर रक्खे थे, उनको भगवान् ने पूतना के दूध पान करते हुए अपने में स्थित किया । जैसे चतुर वैद्य विषैली वस्तुओं को शोधकर, उनका विष निकाल, उन्हें निर्विष कर, शुद्ध करता है वैसे ही उन ऋषियों का लीला में प्रतिबन्धक, पुम्भाव रूप दोष, आधिदैवकी पूतना के सङ्ग से नष्ट हो गया । जो रमण योग्य स्वतन्त्रता प्रागल्भ्य (चतुराई) आदि गुण, वे तो उनमें वैसे

है, जैसे कि छोटे बालक के खेल (स्पर्श) से उसके भीतर कठोर पीड़ा होना आश्चर्यजनक है, किन्तु यह भगवान् का पराक्रम एवं महात्म्य है। आकर्षण शक्ति वाले, वायु में प्रवेश कर ही भगवान् ने यह लीला की, इससे वीर्य दिखलाया। नेत्र सात्विक थे, हाथ पैर राजस थे और शरीर तामस था यों तीन गुणों से दी हुई पीड़ा का निरूपण किया है। रजोगुण दोनों (सात्विक-तामस) गुणों के बीच में आने के कारण दोनों से मिला हुआ है इससे उसका दो स्थानों से (हाथ-पैर) से सम्बन्ध बताया है। निकलने के समय प्राणों की कठोर आवाज (रोदन) हुआ उससे आकृष्ट (खींचे हुये) ही प्राण भगवान् ने खींच लिये यह जताया॥ ११॥

श्लोक——**तस्याः स्वनेनातिगभीररंहसा साद्रिर्मही द्यौश्च चचाल सग्रहा।**
रसा दिशश्च प्रतिभेदिरे जनाः पेतुः क्षितौ वज्रनिपातशंकया॥ १२॥

श्लोकार्थ——अति गंभीर वेग वाले उस पूतना के शब्द से पर्वतों सहित पृथ्वी और ग्रहों सहित आकाश चलायमान हुआ। रसातल (पाताल) एवं दिशाओं में परछन्द उठने लगे, वज्रपात होने की शंका से मनुष्य पृथ्वी पर गिर पड़े।

ही रक्खे गये। अनन्तर भगवान् ने अपने चरण स्पृष्ट मिट्टी एवं प्रसादी दूध मक्खन आदि खिलाकर उनको लीलाधिकारी बना दिया। चीरहरण लीला के समय में, वस्त्र दान के साथ, उन पुम्भाव रूप भक्त बालकों को कुमारिकाओं में प्रवेश कराएँगे*। इससे प्रागल्भ्य स्वातन्त्र्यादि गुण रूप, पुम्भाववाली कुमारिकाएँ, रासोत्सव में भगवान् के साथ पुम्भाव से भी रमण करेंगी।

पुम्भाव मन का धर्म है, वह बालक एवं शरीर वाला कैसे हुवा? इस शङ्का का निवारण करते हैं कि क्रोध भी मनोधर्म है परन्तु उसका भी शरीर वाला होना तृतीय स्कन्ध में 'क्रोधं. कुमारोनील लोहितः' इस श्लोक में लिखा है ऐसे अन्य भी। इसलिये यह शङ्का निर्मूल है। इस प्रकार यह भी समझना कि जैसे क्रोधादि आधिदैविक थे वैसे ही यहाँ पुम्भाव भी आधिदैविक था।

इस श्लोक का वाक्यार्थ आध्यात्मिक पूतना का 'मरण' है

उसको 'निर्गमन.........महान् घोषः' (प्राणों के निकलने के काल में भयंकर आवाज हुई) से कहा हैं। घोर शब्द का कारण बताते हैं कि पूतना के अपने प्राण न निकले, इसलिये अपनी तरफ उनको खेंचे और भगवान् ने अपनी तरफ उसे खेंचा। इस प्रकार खेंचा तानी के कारण पूतना से प्राणों के निकलने की भयानक आवाज हुई।

लेख—'आकर्षण शक्ति' भगवान् का आकर्षण ही, वायु की स्वरूप भूत आत्मा (शक्ति) होने से, भगवान् ने उस वायु में प्रविष्ट हो, पूतना के प्राण खींचे। खींचना क्रिया वायु द्वारा होती है।

योजना—पूतना क्यों रोई? इसका स्पष्टीकरण योजना में लालूभट्टजी करते हैं कि भगवान् एवं पूतना ने अपनी अपनी तरफ प्राणों के खेंचने का जो कार्य किया उसमें पूतना हार गई इसलिये पूतना रोने लगी।

---

* इससे दण्डकारण्यवासी ऋषियों के दोनों भाव स्त्री भाव पुम्भाव मिलकर एकत्र स्थित हुए।

सुबोधिनी—भगवतो माहात्म्यं शृङ्गग्राहिकया प्रदर्शयिष्यन् भगवदाकृष्यमाणप्राणकृतस्वनस्य माहात्म्यमाह **तस्याः स्वनेनेति**, शब्दस्त्वमूर्तो मूतकार्यं चेत् कुर्यात् तदालौकिकं भवति, चरणाद्याघातेन हि कम्पो भवति, शब्देनैव तथा जातमित्याह **मही द्यौश्च चचालेति**, तत्तदधिष्ठातृदेवतानां भीतत्वात् कम्प इति केचित्, पुरुषोत्तमस्य वीर्यमवताराणामपि वीर्यादधिकमिति ज्ञापयितुं ब्रह्माण्डविग्रहस्य पुरुषस्यापि स्वनेन कम्पो जात इत्युच्यते, एकदैव सर्वत्र कम्पजनने हेतुरतिगभीररंहसेति, अत्यन्तगभीरमधस्तदलविदारणसमर्थमुपरिस्थितमज्जनसमर्थं च रंहो वेगो यस्य तेन, पर्वतसहिता पृथिवी, ग्रहनक्षत्रादिसहिता द्यौः. चकारात् तदुपरितना लोकाः, पर्वतानां महत्त्वात् स्थिरत्वात् कम्पाभावमाशंक्याद्रिसहितेत्युक्तं, ग्रहाणां भचक्रे ध्रुवे प्रतिष्ठितानां चलनाभावमाशंक्य सग्रहेति उभयोरुभयं वरप्राप्तं च "नक्षत्रविहिताहं चित्रविहिताह" मितिश्रुतेः, पातालदिशामसम्बन्धाद् दूरस्थितत्वाच्चलनाभावमाशंक्याह **रसा दिशश्चे**ति, तासामपि चलनं प्रतिस्वनजननं चाधिकं, तत्रत्यानां तु न किञ्चिदवशिष्टमित्याह **जनाः पेतुः क्षिताविति**, ननु कम्प उपपत्तिरुक्ता देवताभयात् पुरुषभयाद्वेति जनानां विवेकधैर्यादियुक्तानां पाते को हेतुरितिचेत् तत्राह **वज्रनिपातशंकयेति**, वज्र एव पतितः क्वचित् पतिष्यति वा तेन भयादेव पातः, विवेकेनापि पातः सम्भवति, उच्चैःस्थिते तस्य तेजोसहमानो वज्रस्तं मारयेदिति ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ—सींग के समान ग्रहण कराने वाली ध्वनि से, भगवान् का माहात्म्य दिखाते हुए, भगवान् द्वारा खींचे हुए पूतना के प्राणों से उठे हुए शब्दों का माहात्म्य, इस 'तस्यास्वने' श्लोक से वर्णन करते हैं।

निराकार शब्द, जब साकार जैसा कार्य करे, तब वह अलौकिक होता है चरण आदि के चोट से ही कम्पन होता है, वह कम्पन, यहाँ, शब्द से हुआ बताने के लिये, श्लोक में पर्वतों सहित पृथ्वी और ग्रहों सहित आकाश में, कम्पन होने का वर्णन किया है। कोई कहते हैं कि पर्वत आदिकों के अधिष्ठाता देवों के डर जाने के कारण इन्हों में कम्पन हुआ है। ब्रह्माण्ड विग्रह पुरुष को भी, इस शब्द से कम्पन हुआ, इससे यह बताया कि पुरुषोत्तम का वीर्य, (पराक्रम) अवतारों के वीर्य से विशेष है। एक ही समय में सब ठिकाने, कम्प का कारण बताने के लिये ही कहा कि पूतना का शब्द अति गंभीर वेग वाला था। ऐसा होने के कारण, उसमें इतनी शक्ति थी, जो अति गंभीर होने से, नीचे के भाग (पर्वत-पृथ्वी) के विदारण (चीरने, पृथक टुकड़े करने) में समर्थ था एवं वेग वाले होने से ऊपर के भाग (आकाश-तारागण) को डुबाने में समर्थ था। श्लोक में दिये हुए, 'च' शब्द से इसके ऊपर के लोक समझने, अर्थात् उनमें भी कम्पादि हुआ। पर्वत बड़े और स्थिर होने से, उनमें कम्प कैसे हुआ होगा, इसलिये श्लोक में पृथ्वी सहित पहाड़ों में कम्प हुआ लिखा है। इसी प्रकार ग्रहों का चक्र ध्रूव में स्थित होने से, उनमें भी कम्प कैसे हुआ होगा। इसलिये कहा कि, ग्रहों सहित आकाश चलायमान हुआ। पर्वतों सहित पृथ्वी, ग्रहों सहित आकाश का चलायमान क्यों हुवा उनका प्रमाण देकर स्पष्टीकरण करते हैं कि दोनों ने वर प्राप्त किये हैं जैसा कि 'नक्षत्रविहिताऽहं चित्रविहिताऽहं'[1] इस श्रुति में कहा है, कि आकाश ने यह वर प्राप्त

१—प्रकाश यह श्रुति तैत्तिरीय संहिता में दूसरे अध्याय के पञ्चम अध्याय के द्वितीय अनुवाक् में है।

किया है, कि मैं सदैव तारागणों से सुसम्पन्न (सुशोभित) रहूँ एवं पृथ्वी ने भी वर लिया है कि मैं सदैव अनेक प्रकार के पदार्थों से सुसम्पन्न रहूँ। इस कारण इनका कम्प साथ में ही हुआ लिखा है। पाताल और दिशाओं का सम्बन्ध न होने से और दूर होने से उनमें कम्प तो हुवा होगा? इसके उत्तर में कहते हैं कि श्लोक में पाताल और दिशाओं[1] का 'च' देकर भिन्नता बता कर, यह जताया है कि उनमें भिन्न कम्प हुआ एवं दूर होने के कारण उनमें कम्प शब्द की प्रतिध्वनि से हुआ। सब में कम्प हुआ कोई शेष बचा नहीं। शेष मनुष्यों के लिये कहा कि वे पृथ्वी पर गिर पड़े। यहाँ शङ्का करते हैं कि दूसरों में (पृथ्वी आकाशादि में) कम्प तो देवता भय से वा पुरुष भय से हुआ, किन्तु विवेक और धैर्य वाले मनुष्य पृथ्वी पर क्यों गिरे? इस शङ्का के निवारण के लिये श्लोक में कहा है कि मनुष्य इसलिये गिरे, कि उनको वज्र के गिरने का भय हुआ, उस भय से मनुष्य गिरे। विचार से भी पात हुआ क्योंकि वे ऊँचे स्थित थे, उन्होंने विचारा कि वज्र गिरेगा तो उसका तेज हम सहन न कर सकेंगे तो हमारी मृत्यु होगी, इससे भी वे गिरे ॥ १२ ॥

श्लोक--**निशाचरीत्थंव्यथितस्तना व्यसुर्व्यादाय केशांश्चरणौ भुजावपि ।**
प्रसार्य गोष्ठे निजरूपमास्थिता वज्राहतो वृत्र इवापतन्नृप ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ--इस प्रकार स्तनों की व्यथा से पीड़ित राक्षसी मरने के समय, अपना असली रूप पाकर, वज्र से मरे हुए वृत्रासुर के समान, गिर गई। (उस समय) उसका मुंह फट गया, केश बिखर गये, हाथ पैर लंबे फैल गये।

सुबोधिनी—एवं स्वनकृतकार्येण वीर्यमाहात्म्यमुक्त्वा भगवदाकृष्टानां प्राणानां पुनरावृत्तिमाशङ्क्य तत् परिहरन् पूतनायाः सर्वजनीनं मरणमाह **निशाचरीति, इत्थंव्यथितस्तना व्यसुर्भूत्वापतत्,** निशाचरीति कठिनप्राणत्वं निरूपितं, तादृश्याः शीघ्रं प्राणपरित्याग आश्चर्यहेतुर्भवति, राक्षसाः व्यथां महतीमपि सहन्ते, तादृश्यपीत्थं **व्यथितस्तना** जाता, येन साङ्गे सम्पूर्ण एव शरीरे महान् क्षोभो जातः, ततः प्राणानपि त्यक्तवती, प्राणत्यागोऽपि वैकल्यात्, तदाह **व्यादाय मुखं केशांश्चरणौ भुजावपि** प्रसार्य गोष्ठेवीरवदभूमावपि कृत्रिमरूपग्रहणकारणाभावाद् भगवत्सम्बन्धेन कृतार्थत्वान्निजरूपमास्थितापतत्, तस्याः स्वरूपमत्यन्तं स्थूलं सर्वोपद्रवकारीति दृष्टान्तेनाह **वृत्र इवेति,** वृत्रः स्वेच्छयापि पतति ततः पुनरुत्थानं भवेदिति **वज्राहत** इत्युक्तं, नृपेतिसम्बोधनं महत्त्वेन विश्वासार्थं, मुखव्यादानादिकं प्राणोत्क्रमणार्थं न भवति किन्तु नाडीनां वायुवशादाकर्षे तथा सर्वचेष्टा, मुखव्यादानेनैव देहक्लेशो निरूपितः, आदिमध्यावसानेषु क्लेशो जात इति वक्तुं **केशचरणभुजानां ग्रहणं, प्रसारणं** सत्त्वपरित्यागेन मुक्तिसूचकं, **निजरूपं** राक्षसं रूपं, यथा वृत्रे हते त्रयो लोकाः स्वस्थास्तथापूतनावधे जाता इति, एवमाध्यात्मिकपूतनायाः मरणमुक्तं, आधिभौतिक्या भूमौ पातः ॥ १३ ॥

१—निराकार दिशाओं में तो कम्प नहीं होना चाहिये, तो यह कम्पन दिशाओं के अधिष्ठातृ स्वरूपों में हुआ।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार पूतना की भारी आवाज से हुए कार्य से भगवान् के पराक्रम का माहात्म्य कहा, पूतना के प्राण पूतना में फिर आने की शंका मिटाने के लिये, सम्पूर्ण मरण का वर्णन, इस श्लोक में 'निशाचरी' से करते हैं।

इस तरह, स्तनों की व्यथा से व्याकुल वह प्राण रहित हो गिर गई। राक्षसी शब्द से बताया कि राक्षसों के प्राण कठिन होने से शीघ्र नहीं निकलते हैं परन्तु राक्षसी होते हुए भी उसके प्राण शीघ्र निकलना आश्चर्यजनक है। राक्षस तो घोर पीड़ा भी सहन कर सकते हैं, किन्तु भगवान् द्वारा स्तन पकड़ने से, इतनी घोर पीड़ा हुई कि वह राक्षसी होते हुए भी स्तन पीड़ा से व्यथित (दुःखित) हुई, जिससे शरीर के प्रत्येक अंग में घबराहट हुई, ऐसी अवस्था में उसने प्राणों को भी छोड़ दिया। घबराहट के कारण, प्राण छोड़ने से मुख खुल गया, बाल बिखर गये और हाथ पैर फैल गये। मायारूप भगवान् न होने से, बनावटी रूप न रहा; भगवान् के सम्बन्ध से कृतार्थ हो उसने असली रूप पाया। वीर की तरह अभूमि (बिना वीरों वाली पृथ्वी[1]) पर अर्थात् गोष्ठ[2] में गिर गई। इसका स्वरूप असीमित स्थूल सबको उपद्रव हानि करने वाला है, यहाँ वृत्रासुर का दृष्टान्त देकर यह समझाया है कि वृत्र अपनी इच्छा से गिरकर, फिर उठता था इसलिये वज्र से मारे हुए वृत्र का दृष्टान्त देकर यह बताया कि यह भी वैसे ही गिरी जैसे वज्र से मारा हुवा वृत्र गिर कर फिर न उठ सका, तैसे इसमें फिर प्राण न आये। 'नृप' शब्द का भावार्थ है कि आप महान् हो और श्रद्धालु हो इसलिये इस चरित्र को सद्रूप से समझोगे।

प्राणों के उत्क्रमण (निकलने) से मुख खुलना आदि क्रिया न हुई थी, किन्तु वायु द्वारा नाड़ियों के आकर्षण[3] (खींचने) से यह सब चेष्टा हुई थी। मुख खुल जाने से ही देह क्लेश होना बताया। केश, चरण और भुजाओं के स्वरूप के वर्णन से बताया कि उसको तीनों—प्रथम, मध्य और अन्त के कालों मे क्लेश हुआ। प्रसारण (फैलाना) शब्द से सतोगुण से प्राण परित्याग बता कर, मुक्ति का सूचन किया अर्थात् पूतना की मुक्ति हुई! निज रूप अर्थात् राक्षस रूप (छोड़ा) जैसे वृत्र के मरने पर तीनों लोक सुखी हुए तैसे ही पूतना के मरने से भी सब प्रसन्न हुए। इस

प्रकाश—

१—जहाँ गौ बांधी जाती है, गौशालाएँ (बाड़े) अथवा जिस पृथ्वी पर, वीरों को नहीं गिरना चाहिये।

२—गोष्ठ बिना वीरों वाली क्यों, उसका कारण प्रकाशकार बताते हैं कि छोटे बड़े सब गोप गौ और बछड़ों को चराने वन में गये थे इसलिए पुरुषादि (वीर) रहित, गोकुल में गिरी।—प्रकाश

३—प्राण तो भगवान् ने स्तन्य पान के साथ खींच लिये थे, आधिदैविकी तो उसकी वही प्रभु में प्रविष्ट हुई, शेष आध्यात्मिक और आधिभौतिक के लिए आगे पढ़िये।

प्रकार आध्यात्मिक पूतना[1] के मरण का (भगवान् में प्रविष्ट होने का) वर्णन किया। आधिभौतिक पूतना पृथ्वी पर गिरी ॥ १३ ॥

कारिका—**साधारणस्थितिर्लोके पूर्वाध्याये निवारिता ।**
अविद्यापूतना नष्टा गन्धमात्रावशेषिता ॥ १ ॥

कारिकार्थ—पूर्व (अगले पांचवे) अध्याय में यह बताया है कि लोक में गोकुल की स्थिति साधारण (मामूली) नहीं थी, कारण कि वहाँ नन्द-महोत्सव से हर्ष था और उत्पात से खेद था, अविद्या रूप पूतना का नाश हुआ किन्तु केवल उसकी गन्ध रही ।

व्रजवासियों, साधारण गोपियों एवं माताओं के भाव बताए । इससे ही आगे 'सन्तत्रसुः' श्लोक १७, १८ आदि में गोपियां डर गईं, तो भी श्रीकृष्ण को शीघ्र ले लिया और उसकी सर्व प्रकार से रक्षा की । श्रीकृष्ण में आसक्ति और प्रपञ्च का भूलना ही निरोध कहा जाता है ।

प्रकाश १०-६-१३—

१—भगवान् में आधिदैविक पूतना के प्रवेश का पहले वर्णन हो चुका है, यहाँ वर्णन है उस आध्यात्मिक पूतना के लिंग शरीर सहित प्राण एवं इन्द्रियादिक का—जो भगवान् में अब प्रविष्ट हुए और शेष, पूतना का आधिभौतिक शरीर पृथ्वी पर गिरा ।

टिप्पणी—भगवान् के पधारने पर तो गोकुल में सर्व प्रकार से उत्कृष्टता[1] का वर्णन करना चाहिये था न कि उपद्रवों का । इसका समाधान करते हैं कि उत्कर्ष दो प्रकार का होता है—एक लौकिक दूसरा अलौकिक । लौकिक उत्कर्ष पिछले (पांचवे) अध्याय में नन्दमहोत्सव से बताया है कि ऐसा उत्सवानंद दूसरे स्थान में नहीं हुआ एवं वहाँ उत्पात होने के कारण ही गोकुल की साधारण स्थिति कही गई है । इससे लौकिक उत्कर्ष कहा गया । अब अविद्या पूतना से गोकुल का अलौकिक उत्कर्ष बताते हैं ।

यहाँ यह भाव है—वह (अविद्या) स्वरूपाज्ञान[1], देहाध्यास[2], इन्द्रियाध्यास[3], प्राणाध्यास[4], अन्तःकरणाध्यास[5] रूप होने से पञ्च पर्वा (पांच अंग वाली) कही जाती है । उसके एक एक अङ्ग के प्रभाव का वर्णन करते हैं ।

१—**स्वरूप विस्मृति**—पूतना के प्रभा (तेज) से माताएँ देखती ही रह गईं, क्योंकि माताओं को पूतना (अविद्या) के तेज से अपने स्वरूप की विस्मृति हो गई अर्थात् उन्होंने अपने को

१—श्रेष्ठता ।

कारिका—अतः परं निरोधस्तु गोकुले सुगमो भवेत् ।
प्रपञ्चविस्मृतिः सा हि कृष्णासक्तिसमन्विता ॥ २ ॥

कारिकार्थ—अब (पूतना के मरने के अनन्तर) गोकुल में व्रजवासी (भक्तों) का निरोध सरल रीति से होगा । क्योंकि व्रजवासियों को भगवान् कृष्ण में आसक्ति एवं प्रपञ्च विस्मृति (निरोध रूप) होने लगी है ।

माताएँ नहीं समझा । इससे पूतना को रोका नहीं । अब पूतना (अविद्या) के नाश होने पर, जब माताओं को अपने स्वरूप का ज्ञान हुआ तब उन्हे ज्ञात हुआ कि हमारे चुप रहने पर इस (पूतना राक्षसी) ने ऐसे ऐसे कार्य किये इसलिये अब हम इस (पुत्र) की रक्षा में सावधान रहेंगी, जिससे दूसरी कोई भी ऐसी स्त्री यहाँ आ न सके, माताओं के ऐसे दृढ़ विचार हुए । मातृत्व धर्म जैसा होता है वैसा धर्म हृदय में प्रगट हुआ । इससे यह बताया कि इस प्रकार भगवान् ने अविद्यारूप पूतना को मार कर माताओं को निरोध रूप 'स्व स्वरूप स्मृति' कराई ।

२—**देहाध्यास**—भगवान् की रक्षा के लिए स्थापित गोप भी, पूतना के श्रीरूप पर मोहित होकर, देहाध्यास के कारण अपना स्वरूप भूल गये, जिससे उन्होने भी पूतना को आने से रोका नहीं । पूतना (अविद्या) के नाश होने पर, वे भी अपनी भूल समझने लगे और भगवान् की रक्षा में तत्पर हुए । इस प्रकार गोपों की भी स्वरूप स्मृति रूप निरोध सिद्ध हुआ । गोपों में अविद्या ((पूतना) के संयोग के कारण देहाध्यास (हम पुरुष हैं) प्रबल हुआ था, जिससे वे पूतना के स्त्री रूप पर मोहित हुए और उसको रोकने में असमर्थ हुए ।

३—**इन्द्रियाध्यास**—पूतना की सुन्दरता (शोभा) तथा बेनी में गूँथे हुए मल्लिकादि पुष्पों से गोपों का मन मोहित हो गया यह इन्द्रियाध्यास गोपों को हुआ जिससे भी पूतना को रोकने की क्रिया न कर सके ।

४—**प्राणाध्यास**—गोपों को जब वज्र के गिरने की आशङ्का हुई, तब उनका कर्त्तव्य था कि श्रीकृष्ण कहाँ हैं ? किस स्थिति में है ? यह विचार कर कृष्ण को ढूँढना चाहिये था । ऐसा न कर अपने प्राणों के बचाने के लिये गिर पड़े, गोपों ने यह कार्य **प्राणाध्यास** के कारण किया अर्थात् पूतना के दृष्टि द्वारा अविद्या उनके भीतर घुस कर, उन में 'प्राणाध्यास' उत्पन्न किया, जिससे वे कृष्ण की चिन्ता न कर, अपने प्राणों की चिन्ता करने लगे ।

अन्त:करणाध्यास—गोपिकाओं के अन्त:करण में भगवत्सम्बन्ध होते हुए भी पूतना के रूप को लक्ष्मी रूप समझा, जो न रोका, उसका कारण अन्त:करणाध्यास था ।

पूतना के जीते हुए उसके प्रभाव से, स्वरूप विस्मृति एवं देहाध्यासादि कारणों से सब शान्त रहे, अर्थात् रोका नहीं और अविद्या के कारण, इसके परिणाम का विचार ही न हुआ । पूतना के मरने के पश्चात् ज्ञान हुवा कि हमारे शान्त रहने से हमारा ही भगवत्सम्बन्धी अनिष्ट होता । जैसे तैसे, अपने प्यारे प्रीतम को पाकर पछताते हुए कहने लगे कि आगे के लिये हमको भगवद् रक्षा में सावधानी से रहना चाहिये । इसलिये ठीक ही कहा है 'अविद्या पूतना नष्टा' अविद्या रूप पूतना का नाश हुआ, अब 'निरोध' सरल रीति से होगा ।

इस प्रकार पूतना के वध का वर्णन कर, अब यदि किसी के हृदय में यह शंका उत्पन्न होवे कि भगवान् ने व्यर्थ में एक स्त्री को मार दिया, तो उस शंका को मिटाने के लिये नीचे के 'पतमानोऽपि' श्लोक से कहते हैं कि उस मरी हुई (पूतना) की देह भी कैसी महत्त्व वाली है।

श्लोक--**पतमानोपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् ।**
चूर्णयामास राजेन्द्र महदासीत् तदद्भुतम् ।। १४ ।।

श्लोकार्थ--हे राजेन्द्र ! पूतना के शरीर ने गिरते गिरते छः कोस के घेरे में आये हुए वृक्षों को चूर्ण कर दिया, यह बड़ा आश्चर्यकारक कार्य हुआ।

सुबोधिनी—एवं पूतनाया वधमुक्त्वा काचित् स्त्र्यप्रयोजिका मारितेतिशंका दूरीकर्तुं तस्या देहस्य मृतस्यापि महत्त्वमाह **पतमानोपीति**। अपिशंब्देन कृत्रिम-सामर्थ्ये ततोपि महद् रूपं भवतीति सूचितं, **त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान** क्रोशषट्कमध्यस्थितवृक्षांश्चूर्णयामासेतिभारस्थौल्यमुक्तं लम्बताव्युक्ता, भगवद्वीर्यस्य स्पष्टत्वात्, लोके तदेव **महदद्भुतमासीत्**, अलौकिकात्मनेपदप्रयोगेन तद्देहदाह एव तानि काष्ठान्युपयोक्ष्यन्त इति ज्ञाप्यत एतच्च भगवदिच्छयेति च, गोकुलवासिनां गव्यूतिरेव प्रसिद्धा, त्रिगव्यूत्यधिको देशस्तैर्न दृष्ट इति तावदेवोक्तं, राजेन्द्रेति, इन्द्रेण वृत्रवधः कृत इति तन्नाम्ना सम्बोधनं विश्वासार्थम् ।। १४ ।।

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'अपि' शब्द देकर इस शङ्का का निवारण करते हैं कि वह (पूतना) साधारण स्त्री न थी, किन्तु महा-शक्तिशाली एवं भयंकर तथा बालहत्यारिणी थी। वह इतनी तो शक्ति वाली थी जो प्रथम कृत्रिम[1] रूप बनाया और मरते समय इतना भारी वजन वाला रूप कर दिया, जिससे छः कोस के पेड़ चूर्ण हो गये। जिसने देखे वे अचंभे में पड़ गये तथा डरे और कहने लगे कि यह जीती तो अन्य बालकों को दुःख देती। इसलिये इसका नाश व्यर्थ में नहीं किया गया है वरन् अन्य बालकों की रक्षार्थ किया है।

छः कोस के घेरे के वृक्षों के चूर्ण हो जाने से, उसके देह की स्थूलता लम्बाई और बोझ का परिज्ञान हो जाता है। इस महान् अद्भुत लीलाकार्य से, भगवान् के वीर्य (पराक्रम) गुण का गौरव स्पष्ट समझ में आ जाता है। 'चूर्णयामास' इस आत्मने पद की क्रिया[2] के अलौकिक प्रयोग

१—**प्रकाश**—पूतना अपनी शक्ति से जब कृत्रिम (बनावटी) रूप बना सकती थी इसलिये मरने के समय भी घटोत्कच के समान बड़ा रूप बना सकी। जैसे घटोत्कच ने मरते समय आकाश में जाकर एक अक्षौहिणी सेना को नाश करने की सामर्थ्य वाला महत् रूप बनाया था, वैसे ही पूतना ने भी मरते समय महद्रूप बना लिया।

२—**प्रकाश** 'अलौकिक आत्मनेपद' कहने का तात्पर्य यह है कि यों तो आत्मनेपद तब दिया जाता है जब क्रिया का (जो कार्य किया जाय उसका) फल करने वाले को मिले, लेकिन यहाँ क्रिया का फल करने वाले को और दूसरों को भी मिला है, जैसे कि गिरने की क्रिया हुई उसका फल वृक्षों को मिला वे चूर चूर हो गये और पूतना को भी मिला कि उन चूर्ण हुई लकड़ियों की आग से वह जलाई गई। इसलिये श्रीआचार्यचरण ने कहा है कि यह आत्मनेपद अलौकिक है।

से यों समझ में आता है कि इस देह के जलाने में ही ये लकड़ियाँ काम आएँगी। यह सब भगवान् की इच्छा से हुआ। गोकुलवासियों ने छः कोस से विशेष देश देखा ही नहीं है उनमें 'गव्यूति' शब्द ही प्रसिद्ध है इसलिये इतना ही कहा गया है। राजा को शुकदेवजी ने इस श्लोक में 'राजेन्द्र' यह सम्बोधन, विश्वास के लिये दिया है कि इन्द्र ने वृत्र का वध किया आप भी राजाओं में इन्द्र हो इससे आप भी विश्वास रक्खो ॥ १४ ॥

श्लोक——**ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यं गिरिकन्दरनासिकम् ।**
गण्डशैलस्तनं रौद्रं प्रकीर्णारुणमूर्धजम् ॥ १५ ॥
अन्धकूपगभीराक्षं पुलिनारोहभीषणम् ।
बद्धसेतुभुजोर्वङ्घ्रि शून्यतोयहृदोदरम् ॥ १६ ॥
सन्तत्रसुः स्म तद् वीक्ष्य गोपा गोप्यः कलेवरम् ।
पूर्वं तु तन्निस्वनितभिन्नहृत्कर्णमस्तकाः ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ——इस पूतना के मुंह में हल के समान लम्बी और भयानक दाढ़ें, पर्वत की गुफा के समान नाक, पर्वत से गिरी बड़ी बड़ी शिलाओं जैसे स्तन, बिखरे हुए लाल केश थे। अन्ध कूप जैसे गहरे नेत्र, नदी के करारों के समान भयंकर जंघाएं, (विस्तृत) पुल के समान बाहु, घुटने और पांव, जल रहित सूखे तलाब जैसा पेट था। ऐसे भयंकर पूतना के शरीर को देख कर गोप और गोपियाँ जिनके हृदय, कान और मस्तक प्रथम ही उसके शब्द से विदीर्ण हो गये थे वे अति भयभीत हुए अर्थात् डरे ॥ १५-१६-१७ ॥

राग बिलावल

उबरयौ श्याम महर बड़ भागी ।
बहुत दूरि ते परयौ आई घर देखो में कहुँ चोट न लागी ।
रोग जाउं बलि जाउं कन्हैया यह कहि कंठ लगाई ।
तुमही हौ व्रज को जीवन धन देखत नैन सिराई ।
भली नहीं तेरी प्रकृति जसोदा छांडि अकेले जाति ।
गृह को काम इनहु ते प्यारो ने कहुं नहीं डराति ।
भलि भई अबके हरि बांचे अजहूं सुरति सम्हारि ।
सूरदास झुकि कह्यो ग्वालनी मन मन बिचारि ॥

सुबोधिनी—तद्रूपमवयवशो वर्णयतीषेतिद्वाभ्यां, ईषा लाङ्गलदण्डश्चतुर्हस्त:, ईषामात्रोग्रा दंष्ट्रा यस्मिन्नास्ये, अनेन तत्र कृषीवलानां दण्डस्थानीया एव दंष्ट्रा जातेत्युक्तं, तादृशमास्यं यस्मिन् रूपे, गिरे: कन्दरप्राया नासिका यस्य, क्रीडास्थानं तज्जातमिति, गण्डशैला: पर्वताच्च्युता: स्थूला: पाषाणा:, गण्डशैलाविव स्तनौ यस्य, प्रकीर्णा अरुणवर्णा मूर्धजा यस्य ।। १५ ।। अन्धकूपवद् गभीरे अक्षिणी यस्य, पुलिनवन नदीसैकतप्रदेशवदारोहस्थानं जघनभागस्तद् गुह्येन भीषणं भयानकं, बद्धा: सेतव इव भुजावूरू अङ्घ्री यस्य, शून्यं तोयं यस्मिन् तादृशह्रदवदुदरं यस्य, नव विशेषणानि प्राकृतगुणानां सर्वेषां समवायार्थानि, अविद्या हि नवधा भीषिका ।। १६ ।। अत एव तादृशावयवैर्बिभीषिका जातेत्याह सन्तत्रसुरिति सम्यक् तत्रसुर्भीता:, स्मेति प्रसिद्धे भगवत्सान्निध्याद् भयाभावमाशङ्क्य प्रमाणं कथयन्नाह संवीक्ष्येति, प्रथमत अज्ञानान्न तथा भयं सम्यग्दर्शने तु भयं जातमिति, गोपा गोप्य इति, तेषां मुग्धभावेन सम्यग्दर्शनप्राप्तिर्निरूपिता, कलेवरं मृतशरीरं, नन्वेतावत्कालमदर्शनं कुतस्तत्राह पूर्वमिति, तस्या निस्वनितेन रोदनेन भिन्नानि हृदयकर्णमस्तकानि येषां, तामसभूयिष्ठत्वात् त्रिविधावयवा: सर्वत्र निरूप्यन्ते ।।१७ ।।

व्याख्यार्थ—१५, १६ श्लोकों से पूतना के रूप का वर्णन करते हैं । उसके मुंह में चार हाथ लम्बी कृषकों के हल के दण्डे के समान भयानक दाढ़ें थीं, पर्वत की गुफा के समान नाक थी, पर्वत से गिरे बड़े पत्थरों के समान स्तन थे, बिखरे हुए लाल केश थे, अन्ध कूप जैसे नेत्र थे, नदी के रेतीले तट के समान जघन भाग (गुह्य) कठिनता के कारण भयंकर था, पुल के बांध, जैसे बाहु, जांघ और पांव थे, सूखे (जलरहित) तालाब सदृश पेट था । इस प्रकार पूतना के शरीर[1] के वर्णन में नव विशेषणों से सब प्राकृत[2] गुणों का समावेश बताया । नव विशेषण का भाव बताते हुए कहते हैं कि अविद्या नव प्रकार से डराती है ।। १५-१६ ।।

इस कारण से यह पूतना भी नव अवयवों से डराने वाली हुई । इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं । श्लोक में 'स्म' अक्षर का भाव प्रसिद्ध है कि वे (गोप गोपियां) भय को प्राप्त हुए जब कि भगवान्

१—इस प्रकार का शरीर भगवान् की क्रीड़ा स्थली हुई अर्थात भगवान् उसकी छाती पर खेलते हुए देखे गये 'तस्यां उरसि क्रीडन्त' १०-६-१८ में लिखा है—टिप्पणी

२—सत्व, रज, तम, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन सब नव दोषों का समावेश पूतना में था क्योंकि पूतना अविद्या थी—प्रकाश

राग आसावरी

देखहु यह विपरीति भई ।
अद्भुत रूप नारि एक आई कपट हेत क्यों सहैं दई ।
कान्ह हि लेन सुमति को राते रुचि करि कंठ लगाई ।
तब वहिं देह धरी जो जन लौं श्याम रहे लपटाई ।
बड़े भाग हैं नन्द महर के बड़ भागिनि नन्द रानी ।
सूर श्याम उर ऊपर उबरे यह सब घर घर जानी ॥

सानिध्य (पास) में थे तो वे डरे क्यों ? इसका उत्तर देते हैं कि 'संवीक्ष्य' उस पूतना को अच्छी तरह से देखने से डरे। पहले जब तक पूतना के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं था तब तक तो निडर थे, परन्तु उसके इस विचित्र भयानक रूप को देखने से डर गये। वास्तविकता का ज्ञान होने पर पूतना के सम्यक् दर्शन का निरूपण किया। इतने समय तक कलेवर क्यों न देखा ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'पूर्व' पहले तो इसके रोने के शब्द से उन गोप गोपियों के हृदय, कान और मस्तक फट गये थे, कुछ समय तक तो वे निकम्मे जैसे हो गये थे इसलिये कलेवर की तरफ उनका ध्यान न गया। विशेष तामसता के कारण तीन प्रकार[1] के अवयवों का सर्वत्र निरूपण किया है ॥ १७ ॥

श्लोक--**बालं च तस्या उरसि क्रीडन्तमकुतोभयम् ।**
गोप्यस्तूर्णं समभ्येत्य जगृहुर्जातसम्भ्रमा ॥: १८ ॥

श्लोकार्थ—घबराई हुई गोपियां उसकी (पूतना की) छाती पर निर्भय होकर खेलते हुए श्रीबालकृष्ण को शीघ्रता से निकट जाकर ले आई।

सुबोधिनी—एवं तस्या रूपं सकार्यं निरूप्य स्वापेक्षया भगवन्तमुत्कृष्टं दृष्टवन्त इति वक्तुं भगवन्तं पूतनाहृदये स्थितं वर्णयति **बालमिति**, एतावतीं **पूतनां** मारयिष्यन्नपि न स्थूलरूपं कृतवान्, अत एव कृष्णावतारचरित्रमत्यलौकिकं, अवस्थासाधनविरुद्धकार्यत्वात्, **चकाराद् बालं** ददृशुः पूतनां च, **चस्त्वर्थे** वा स्वसमानधर्मव्यावृत्त्यर्थं, **तस्या उरसि क्रीडन्तमिति** सर्वेषां हृदयेन्तर्बहिरपि क्रीडतीति सूचितं, न हि तल्लोकदृष्ट्या

१—**प्रकाश** पूतना का रोदन अति तामस होने के कारण सात्विक अङ्गों को दुःख दिया। इसलिये तीन प्रकार के सात्विक अवयव—हृदय, कान और मस्तक कहे गये हैं।

राग बिहागरो

नेक गोपाल हि मोकों देरी।
देखो कमल बदन नीके करि ता पाछें तूं कनिआं ले री।
अति कोमल कर चरन सरोज सु अधर दशन नासा सोहैरी।
लटकन सीस कंठ मनि भ्राजित मनमथ कोटि बार ने गैरी॥
द्यौस हुं निसा समान बिलोकत यह छबि कबहुं न पाई मेरी।
निगमनि अगम सुनों तन बालक बड़े भाग पाए हैं तेरी।
जिनको रूप जगत के लोचन चंद्र कोटि रवि आलय हैं री।
सूरदास बलि जाय जसोदा गोकुल नाथ पूतना बैरी॥

क्रीडास्थानं भवति नापि मुग्धभावेन क्रीडा । तथा सत्य-परिचितदर्शने भयाविष्कारं कुर्यात्, तत् तु नास्तीत्याहा-**कुतोभयमिति**, "संवीक्ष्य तत्रसुरिति" पूर्वेणैव सम्बन्धः, दृष्ट्वे त्येव वा, त्रासस्य भिन्नविषयत्वापत्तेः, कलेवरदर्शने त्रासः स्वविषयकः, भगवद्दर्शने तु भगवद्विषयकः ॥ १७½ ॥

इत्येवं दृष्ट्वा यत् कृतवत्यस्तदाह **गोप्य** इति, गोपा-पेक्षया गोपीनां स्नेहः साहसं वाधिकमिति ता एव ग्रहीतुं प्रवृत्ताः, अत एवाविचारेण **तूर्णमभ्येत्य जगृहुः**, भगवद्ग्रहणानन्तरं **जातसम्भ्रमा** जाताः **पूतना**देहं दृष्ट्वा भगवत्सम्बन्धं च, महानयमुत्पात इति मनसि सञ्जात-भया जाताः ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार उस पूतना का कार्य सहित रूप का निरूपण कर, अब वर्णन किया जाता है कि गोप गोपियों ने भगवान् को अपने से भी निर्भय देखा । यह बताने के लिये पूतना के हृदय पर स्थित भगवान् के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'बालं' बालरूप से ही पूतना का वध किया, अपना रूप बड़ा न किया । इस कारण से कृष्णवतार के चरित्र अलौकिक हैं क्योंकि कृष्ण के कार्य, आयु एवं साधनों से विरुद्ध हैं; अर्थात् पूतना को मारने के लिये सुदृढ बड़ी देह जो बड़ी आयु (युवावस्था) में होती है और साधन शस्त्रादि होने चाहियें, वे भी नहीं, इन दोनों के अभाव में बालक रूप से, बिना साधन पूतना जैसी राक्षसी को मारना, यह चरित्र लौकिक हो नहीं सकता अतः कृष्णचरित्र अलौकिक है । 'च' शब्द बालक और पूतना दोनों को देखने के लिये दिया है अथवा 'च' का भाव यह है कि जैसा भय उनको देखकर गोपियों को हुआ, वैसा भय बालक को न था । वह तो उसके हृदय पर खेल रहा था । इससे यह बताया कि वह बालक है, बालक का स्वभाव खेलना हीं होता है और यह बालक तो सदा सबों के हृदय में अन्दर बाहिर खेलता ही है । इसकी सूचना देने के लिये ही पूतना के हृदय पर भी खेलते हुए दर्शन दिये । वह लौकिकदृष्टि से क्रीडास्थान तो हो नहीं सकता था और न मुग्धभाव से क्रीड़ा थी । यदि मुग्ध भाव से होती तो, अपरिचित के दर्शन से भय होता परन्तु यहाँ भय तो कुछ नहीं था इसलिये 'अकुतोभयः' अर्थात् सर्वथा निर्भय होकर खेल रहा था । किन्तु गोप गोपी डरे । इनको दो डर हुए एक तो पूतना को देखकर स्वयं को डर हुआ और दूसरे भगवान् को देखकर उन के लिये डर हुआ, न जाने अब भगवान (बालक) का क्या होगा ? आदि । इस प्रकार डरते देखकर जो गोपियों ने किया उसका वर्णन इस १८ वें श्लोक के उत्तरार्द्ध में (गोप्यः) से करते हैं । गोपों से भी गोपियों में स्नेह और साहस[1] अधिक है इसलिये वे ही कृष्ण को लाने के लिये प्रवृत्त हुईं, कुछ भी विचार न कर शीघ्रता से जाकर ले आईं । भगवान के ले आने पर गोपियों के मन में विशेष विचार से कि पूतना की ऐसी भयानक भारी देह से इस छोटे बालक का सम्बन्ध भारी उत्पात[2] है इससे भय उत्पन्न हुआ ॥ १८ ॥

१—मन की दृढता । २—अशुभ घटना ।

श्लोक—**यशोदारोहिणीभ्यां ताः समं बालस्य सर्वतः ।**
रक्षां विदधिरे सम्यग् गोपुच्छभ्रामणादिभिः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—उन्होंने (गोपियों ने) यशोदा रोहिणी के साथ मिलकर गौ की पूँछ फिराने आदि द्वारा सब प्रकार से अच्छी तरह बालक की रक्षा की ।

सुबोधिनी—ततः स्वतान्त्र्येण किञ्चित् कर्तुमशक्ता यशोदारोहिणीभ्यां सहिता जाताः, **यशोदारोहिण्योः** स्त्रीप्रकृतिकत्वाद् **गोपीनामग्निकुमारत्वेनर्षित्वाद् गोपानां** तत्तदभिमानिदेवत्वात्, तत्रापि केवलभगवदुपासकानां गोपसम्बन्धरहितत्वादुपायमन्त्रद्रष्टृत्वेन प्रसिद्धा इति **ता** इत्युक्तं, **यशोदारोहिणीभ्यां समं बालस्येति** वा सम्बन्धः, सहार्थे **सम**शब्दः, **सम**मित्यव्ययं, ननु भगवानर्यामिति ज्ञात्वा कथं रक्षां चक्रुस्तत्राह **बालस्येति**, यतो भगवान् **बालभावं** प्राप्तः, अतो यथान्य उपचारास्तथैतदपि कर्तव्यमित्यर्थः, **सर्वतः** इति, अन्तर्बहिः केनाप्यंशेन यथानिष्टसम्बन्धो न भवति तथा, **रक्षां** कर्मविशेषं मन्त्राभिमन्त्रणरूपं **विदधिरे** कृतवत्यः, **सम्यगि**त्याधिदैविकप्रकारेण तत्तद्दैवतं तत्रतत्र स्थापितवत्य इत्यर्थः, आदौ स्थितस्य दैत्यसम्बन्धस्य परितो वा विद्यमानस्याधिभौतिकादित्रितयस्य निवृत्तिं **गोपुच्छभ्रामणादिभिः** कृतवत्यः, आधिभौतिकमनिष्टं तीर्थस्नानादिना गच्छति, **गवां पुच्छेषु तीर्थानि सन्ति,** तेषां भ्रामणे मन्त्रेण तत्रत्यानि तीर्थानि परितः स्थापितानि भवन्ति, **आदि**शब्देन मन्त्रध्याने अपरयोर्निवर्तके ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—वे (गोपियाँ) बालक को शीघ्रता से ले आईं किन्तु स्वतन्त्रता से अर्थात् अपने आप कुछ कर न सकीं । तब माता यशोदाजी एवं रोहिणीजी को साथ में लिया । यशोदा एवं रोहिणी दोनों स्त्री प्रकृति वाली थीं, अग्निकुमार गोपियाँ ऋषि रूपा थीं, गोप मन्त्रों के अभिमानी देव थे, इसलिये उस अवसर पर भी, जो गोप सम्बन्ध रहित होने से केवल भगवान् की उपासिकाएँ थीं एवं रक्षा के उपाय तथा मन्त्र द्रष्टा थीं, उनकी प्रसिद्धि के कारण इस श्लोक में 'ताः'[1] शब्द दिया है ।

दूसरे प्रकरण से अर्थ करते हैं कि यशोदा, रोहिणी और गोपियों नें साथ में मिलकर, बालक की रक्षा की । श्लोक में दिये हुए 'समं' शब्द का अर्थ 'सह' अर्थात् साथ (मिलकर) है । 'समं' यह अव्यय है ।

१—गोप एवं माताओं के विद्यमान होते हुए भी गोपियों ने क्यों रक्षा की ? इस शंका की निवृत्ति करने के लिये 'ताः' शब्द देकर बताया है कि माताएँ स्त्री प्रकृति थीं, गोप मंत्रों के अभिमानी देव होने से, केवल प्रेरक थे, गोपियाँ ऋषि रूप, मन्त्र रूप और देव रूप भी थीं एवं उनका भगवान् के साथ ही वास्तविक सम्बन्ध था । गोपियाँ विशेष सहज प्रेम के कारण प्रसिद्ध हैं इसलिये उन्होंने ही रक्षा की । 'गोपियाँ और गोप' दोनों देव रूप हैं—कृष्णोपनिषद् । 'गोपियाँ और गौएँ' मन्त्र रूप हैं—कृष्णोपनिषद् । 'गोपियाँ ऋषिरूपा एवं श्रुति रूपा भी हैं'—बृहद्वामन पुराण ।

इत्यादि प्रमाणों से गोपियाँ एक प्रकार की नहीं हैं तो भी सब का वास्तविक सम्बन्ध भगवान् से ही होने से उन्होंने ही रक्षा की ।

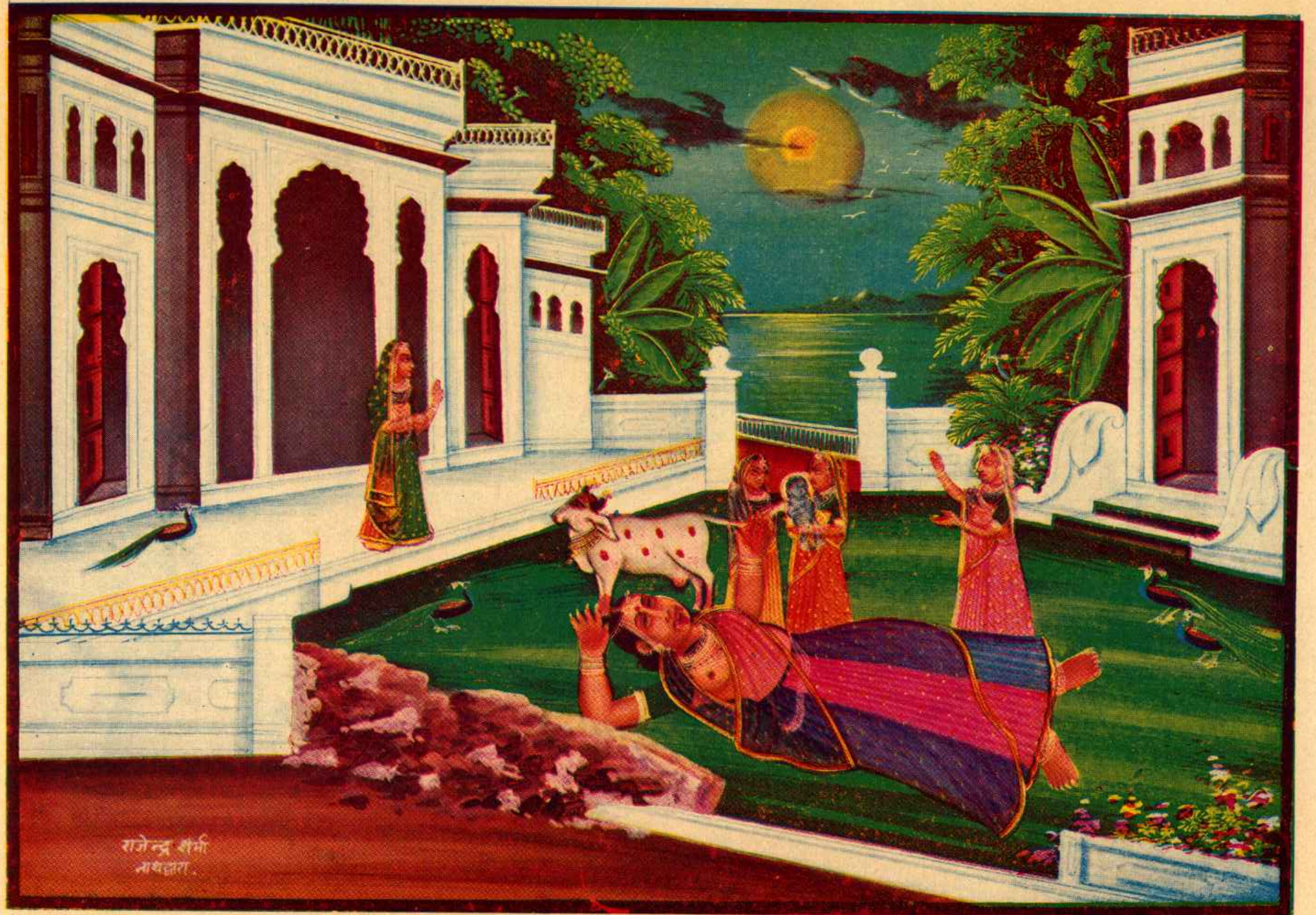

पूतना उद्धार

यह भगवान् है ऐसा जानकर भी उसकी रक्षा क्यों की ? इसका समाधान करते हैं कि श्लोक में 'बाल' शब्द देकर यह बतलाया है कि भगवान् होते हुए भी, लोक की तरह लीला करने के लिये, बाल भाव से प्रकट हुए हैं, इसलिये जैसे अन्य उपचार[1] किये जाते हैं वैसे ही यह रक्षा भी कर्त्तव्य है। श्लोक में दिये हुए 'सर्वतः' शब्द का आशय बताते हैं कि अन्दर, बाहर किसी भी तरह थोड़ासा भी अनिष्ट[2] न हो इस प्रकार मन्त्रों आदि द्वारा रक्षा करने लगीं। श्लोक में दिये 'सम्यक्' का भावार्थ बताते हैं कि आधिदैविक प्रकार से उस देवता को वहाँ स्थापित कर रक्षा की। पहले दैत्य सम्बन्ध से, चारों तरफ विद्यमान[3] आधिभौतिकादि तीन दोष[4] गौ पूँछ आदि फिराने से निवृत[5] किये। आधिभौतिक अनिष्ट, तीर्थ स्नान आदि से नष्ट होते हैं। अतः गोपुच्छ फिराये, क्योंकि शास्त्रों में कहा है कि 'गवां पुच्छेषु तीर्थानि सन्ति' गौओं की पुच्छों में तीर्थ रहते हैं। उनके फिराते हुए मन्त्र से, उसमें (पुच्छ में) स्थित तीर्थ, बालक के चारों तरफ अर्थात् शरीर में प्रविष्ट होते हैं जिससे आधिभौतिक अशुभ निवृत्त हो जाते हैं। आदि शब्द से, मन्त्र और ध्यान आध्यात्मिक और आधिदैविक को भी निवृत्त कर देते हैं।

श्लोक—**गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरजसार्भकम् ।**
रक्षां चक्रुः सशकृता द्वादशाङ्गेषु नामभिः ॥ २० ॥

श्लोकार्थ—गोपियों ने बालक को गो-मूत्र से नहला कर, फिर गोरज से नहलाके गोबर और गौ के खुरों की रज से भगवान् के नाम लेते हुए द्वादश अंगों की रक्षा की।

सुबोधिनी—एवमेकप्रकारेण बाह्यतो रक्षा कृता लोकसिद्धा परम्परया प्राप्ता, आर्षज्ञानेनापि सिद्धां रक्षामाह गोमूत्रेणेति, बालकं तथैव **गोमूत्रेण स्नापयित्वा** पुनर्गवामागतानां सम्मुखं खुरोद्धूतरजसा स्नापयित्वा, आर्द्रे शरीरे रजः सर्वत्र सम्बद्धं भवतीति पुनःस्नापनं, ननु कथं भगवति संस्काराः क्रियन्त इत्याशंकयाहार्भकमिति, पूर्वं केवलंमन्त्रेण कृता रक्षा, इदानीं सद्रव्येणेति रक्षायां विशेषः, **सशकृता गोरजसेति** गोमयेन सहिता गोखुरमृत्तिका पुनरङ्गेषु स्थापिता, द्वादशांगानि भवन्ति पुरुषे "द्वे सक्था" वित्यादिश्रुतेः, स्मार्तानि वा, "ललाटं बाहुमूले च हृदयं नाभिपार्श्वकं कण्ठः स्कन्धौ कटिमूर्धा स्तनौ चेति विदुर्बुधाः" **नामभिः** केशवनारायणमाधवगोविन्दविष्णुमधुसूदनत्रिविक्रमवामन श्रीधरहृषीकेशपद्मनाभदामोदरेति ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—लौकिक परम्परा से चली आई रीति से बाहिरी रक्षा की। अब आर्ष (ऋषियों के) ज्ञान से सिद्ध (प्राप्त) रीति से की हुई रक्षा का वर्णन 'गोमूत्रेण' इस श्लोक से करते हैं।

१—उपाय, मन्त्र प्रयोग आदि। २—अशुभ, बुरा। ३—मौजूद। ४—अशुभ। ५—समाप्त।

बालक को पहले गोमूत्र से नहला कर फिर आती हुई गौओं के खुरों से उड़ी हुई रज से नहलाया तो भींजे हुए शरीर पर वह रज चिपक गई, जिससे फिर जल से स्नान कराया। भगवान् के संस्कार क्यों किये जाते हैं ? इस शंका को मिटाने के लिये 'अर्भक' शब्द दिया है अर्थात् इस वक्त यह छोटा वा मुग्ध बच्चा है। इस रक्षा की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि पहले केवल मन्त्रों से रक्षा की गई अब पदार्थों सहित रक्षा की जाती है। इस प्रकार गोमूत्र[1] एवं रज आदि से स्नान कराके अनन्तर गोबर के साथ गौ के खुरों की मृत्तिका अंगों पर चिपकाई। पुरुष (भगवान्) के बारह अंग होते हैं। ('द्वे सक्था' वितिश्रुतेः) 'दो जांघ' आदि यों श्रुति में कहा है। स्मृति में भी ललाट, दो बाहुमूल, हृदय, नाभि के पास का भाग, कण्ठ, दो कन्धे, कमर, मस्तक, दो स्तन इस प्रकार विद्वान कहते हैं। इन द्वादश अंगों की रक्षा भगवान् के १–केशव, २–नारायण, ३–माधव, ४–गोविन्द, ५–विष्णु, ६–मधुसूदन, ७–त्रिविक्रम, ८–वामन, ९–श्रीधर, १०–हृषीकेश, ११–पद्मनाभ, १२–दामोदर, इन बारह नामों से रक्षा की ॥ २० ॥

२० वें श्लोक में आध्यात्मिकी रक्षा का निरूपण कर अब २१ वें श्लोक में आधिदैविकी रक्षा का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**गोप्यः संस्पृष्टसलिला अङ्गेषु करयोः पृथक् ।**
न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजैर्न्यासमकुर्वत ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ—गोपियों नें जल का स्पर्श कर, पहले अपने शरीर के पृथक् पृथक् अङ्गों में तथा करों में न्यास कर, पीछे बालक के अङ्गों एवं करों में न्यास किया।

सुबोधिनी—एवमियं द्वितीया रक्षा निरूपिताध्यात्मिकी, आधिदैविकीमाह **गोप्य** इति, पूर्वं कर्तृकर्मणोरसंस्कारः, कर्मण एव मध्यमे, कर्तुरपि तृतीये, प्रथममात्मसंस्कारो द्विविधो निरूप्यते **सम्यक्स्पृष्टसलिला** इति, बहि स्नानमन्तराचमनं चोक्तं, ततो **बीजमन्त्रा**नेकादशात्म**नि न्यासं** कृतवत्यः, स्वस्मिन्नागतायां देवतायामन्यस्मिन् स्थापनमनुभवसाक्षिकं भवति, ततस्त्याजित आधिदैविको दोषः स्वात्मानं वा गृह्णीयाद् बलिष्ठदोषस्य

१—**टिप्पणी**—जिन गोपियों ने प्रिय के प्राकट्य का श्रवण कर, आत्मा को भूषित किया उन गोपियों ने अपने प्रीतम को गोमूत्र से कैसे नहलाया ? इस शंका का समाधान करते हैं कि अपने प्रिय का दुष्ट राक्षसी के सम्बन्ध से कुछ भी अनिष्ट न हो जाय, इससे स्नान कराया। पहली सब बातें सहज स्नेह के कारण भूल गईं, यही आशंका रही कि हमारे प्रिय बालक स्वरूप की, कैसे भी हम रक्षा करें। इसलिये मूत्र से नहलाने में भी संकोच न किया। भगवान् की रक्षा भी स्नेहवश होकर ही की है।

भगवान् के माहात्म्य ज्ञान की दशा में भी सहज स्नेह रहता है जिससे भक्त ज्ञान पर ध्यान न देकर, स्नेह से सब कुछ करता है। यही ज्ञान से स्नेह (भक्ति) में विशेषता है। इससे कहा जाता है कि ज्ञान से स्नेह (भक्ति) बलवान् है।

त्याजकग्राहकत्वाद्, "अग्निं वै जात" मित्यत्र तथोक्तः, आत्मन्यपि द्विगुणा रक्षा कृता करणकर्तृभेदेन, साक्षात्करणे कर्तरि च दोषसम्बन्धसम्भवात्, तदाहाङ्गेषु वक्ष्यमाणेषूक्तेषु वा तैरेव नामभिः, करयोरिति, करतलकरपृष्ठाभ्यां सह दशाङ्गुलीषु दक्षिणाङ्गुष्ठमारभ्य वामाङ्गुष्ठपर्यन्तासु, पृथगिति करयोरेव वा सम्बध्यते, तेनाङ्गुलिचतुष्टये पर्वत्रये न्यासो भवति, "अङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वस्वि" तिवचनात्, पृथगिति दशन्यासा वा निरूपिता मातृकान्यासादयः, एवमात्मनि न्यस्य सर्वदेवताधारभूताः सत्योथ भिन्नप्रकारेण देवताः सर्वाः बहिः स्थिता विधाय बालस्य भगवतोङ्गेषु बीजैरेकादशाभिर्न्यासमकुर्वत कृतवत्यः ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—१९वें श्लोक में आधिभौतिक रक्षा की गई थी, किन्तु उसमें 'कर्ता' एवं 'कर्म' का संस्कार[1] न हुआ तथा २० वें श्लोक में आध्यात्मिक रक्षा की, तब केवल कर्म का संस्कार किया। अब इस आधिदैविक रक्षा के समय में, कर्ता का भी संस्कार[1] किया गया है।

पहले अपना संस्कार दो प्रकार से किया—१ बाहिर (देह) का स्नान कर संस्कार[1] किया, २–भीतर (आत्मा) का आचमन लेकर संस्कार[1] किया। इसके अनन्तर ग्यारह बीज मन्त्र अपने में स्थापन[2] किए। अर्थात् बीज मन्त्रों द्वारा अपने में देवताओं को प्रविष्ट किया अथवा देवता प्रविष्ट हो गए जिससे निज अनुभव के आधार पर अपने में आए हुए देवता का दूसरे में भी स्थापना कर सकने का निश्चय होता है अर्थात दूसरे में भी देवता स्थापित[2] हो गए।

गोपियों ने बीज मन्त्रों द्वारा अपने में देवता स्थापन क्यों किये ? उसका भाव (आशय) बताते हैं कि 'अग्निं वै जातं' इस मन्त्र में कहा है कि बलवान्, दोष छुड़ानेवाले में जाकर बैठते हैं तो वहाँ भी गोपियों ने समझा कि हम भगवान् में स्थित दोषों को देवता स्थापित कर निकालती हैं, वे दोष हममें प्रवेश न करें इसलिये गोपियों ने पहले अपना संस्कार कर, अपने में देवता स्थापित किए। गोपियों ने अपनी दुगुणी रक्षा की, क्योंकि गोपियाँ कर्ता और* करण दोनों थीं। इससे जो साक्षात् प्रकट करण (साधन) एवं कर्ता होता है, उससे ही दोष का सम्बन्ध होता है। रक्षा के प्रकार का वर्णन करते हैं कि कहे हुए बारह अंगों में, उन उन भगवान् के नामों से, दाहिने अंगूठे से बायें अंगूठे तक दस अंगुलियों सहित, हाथ के तल एवं पृष्ठ में न्यास किया, अथवा हाथ की चारों अंगुलियों के तीन तीन पर्वों में न्यास किया। जैसे कि कहा है कि "अंगुल्यंगुष्ठपर्वसु" 'इति वचनात्' अंगुठे से अंगुलियों के पर्वों में न्यास करें। पृथक् वा दूसरा आशय बताते हैं कि मातृका के स्थापन में भिन्न-भिन्न दश प्रकार के न्यास कहे हैं। इस प्रकार गोपियां बीज न्यास द्वारा, सर्व देवता की आधारभूत हुई, अनन्तर देवताओं को बाहर स्थापित कर, बालक (भगवान्) के अङ्गों में ग्यारह बीजों से देवता स्थापित किए ॥ २१ ॥

अब अगले श्लोक 'अव्यादजो' में मन्त्रों के बीज और देवों के स्थान गुप्त रखने योग्य हैं इसलिये दूसरे प्रकार से होने के कारण रक्षा के लिये स्तोत्र से देवता की प्रार्थना करते हैं।

---

*—टिप्पणी—गोपियां रक्षा करने के कारण कर्ता थीं और उनके अंग (जिनसे रक्षा की, हस्तादि) करण (साधन) थे।

१—शुद्धि। २—बिराजमान।

श्लोक—**अव्यादजोऽङ्घ्रिमणिमांस्तव जान्वथोरू यज्ञोच्युतः कटितटं जठरं हयास्य ।**
हृत् केशवस्त्वदुर ईश इनस्तु कण्ठं विष्णुर्भुजं मुखमुरुक्रम ईश्वरः कम् ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—अज भगवान् तेरे पैरों की, मणिमान घुटनों की, यज्ञ जङ्घाओं की, अच्युत कमर की, हयग्रीव पेट की, केशव हृदय की, ईश छाती की, इन्द्र कण्ठ की, विष्णु बाहु की, उरुक्रम मुख की, ईश्वर मस्तक की रक्षा करे ।

सुबोधिनी—बीजानि स्थानानि च गोप्यानीति भङ्गचन्तरेण देवताप्रार्थनरूपेण रक्षां स्तोत्ररूपां वदन्नाहाव्यादिति, भगवत एकादश रूपाणि मूलतः प्रसिद्धानि वैष्णवतन्त्रे, अन्यानि तु न समर्थान्युपढौकनेनारोपितसामर्थ्यानि वा भवन्ति, तत्र प्रथममजो न जायत इत्यविकृतो मूलभूत इति यावत् सोक्षरात्मको भवति, सोक्षरात्माजो भगवतोऽङ्घ्रिमव्यात् अङ्घ्रिरयमाध्यात्मिकः, स त्वाधिदैविक इ "त्यन्तर्याम्यवताराादिरूपे पादत्वमस्ये" ति निरूपणात्, ततः स एव सर्वोपास्यरूपो भवन् दुर्ज्ञेयत्वादणिमान् भवति, बीजरूपाण्येतानि नामान्यविकृतानि भवन्ति, जानुद्वयं सोव्यात् स्थूलादग्रे सूक्ष्मभावात्, एतद् द्वयं प्रमेयबलेन रूपद्वयेन निरूपितं, प्रमाणबलेन पुनः पृथङ् निरूपयत्यथेति, अनेन भक्तिमार्गो ज्ञानमार्गश्च प्रमेयबलादेव सिध्यतीति ज्ञापितं, यज्ञ ऊरू अव्यात्, स हि प्रजननात्मकः, अच्युतो यज्ञस्यैवाधिदैविकं रूपं कटितटमव्यात्, स हि रक्षको न केनापि प्रकारेण च्युत इति, वेदानां यज्ञानां च नित्यताप्युक्ता, हयास्यो जठरमव्यात्, नष्टेषु वेदेषु रक्षणार्थमवतीर्णः, उदरं सर्वमेव जगत्, तच्च कर्मणा परिपाल्यत इति यज्ञे प्रादुर्भूत उक्तः, हृद् हृदयं केशवोव्यात् कश्चेशश्च केशौ तयोर्वं सुखं यस्मादिति, ब्रह्मशिवयोर्बुद्धचहङ्कारनियामकयोरपि सुखदातान्तर्यामी हृदयपरिपालको भूयात्, हृदयं स्तनयोर्मध्ये निम्नस्थानं, उरस्तूच्चस्थानं, स्तनादुपरि कण्ठादधस्त्वदुर ईशोव्यात्, यस्त्वाधिदैविककालरूपो येन प्रकृतेर्गुणाः क्षुब्धा भवन्ति त्वदुर इति, उरसि लक्ष्मीरपि वर्तते, अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं त्वत्पदं, इनस्तु कण्ठं, तुशब्दो ब्रह्माण्डमध्यस्थितं वक्तुं बहिःस्थिताद् व्यावृत्तिमाह, इनः सूर्यान्तःस्थितो नारायणः स कण्ठमव्यात् सरस्वतीस्थानं तत्, त्रयीमयात्मकश्च सः, ततो जगद्रक्षायां स्थितः क्रियाशक्तिर्विष्णुर्भुजमव्यात् क्रिया भुजयोरेव प्रतिष्ठितेति, ततो भक्तबाधकत्वेन दैत्येषु समागतेषु तन्निवृत्त्यर्थं समागतो बलिबन्धनकर्तोरुक्रमो वामनो मुखमव्यात्, ततः कं शिर ईश्वरोव्यात्, यस्तु सङ्कर्षणरूपो "यस्य केशौ सितकृष्णौ" स शिरः प्रधानभूत इति शिरःपालनं युक्तमेव ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ—वैष्णव तन्त्र में, भगवान् के ग्यारह रूप आरम्भ से (शक्तिशाली) प्रसिद्ध हैं, दूसरे (इन ग्यारह रूपों के अतिरिक्त) रूप शक्तिवान् नहीं है, उनमें शक्ति संचार करने से (देने से) आती है ।

[1]जो जन्म रहित, अविकारी, मूल रूप अज है, वह अक्षरात्मा होता है, वह अक्षर रूप (आध्यात्मिक) अज चरणों की रक्षा करे । यह चरण जिसकी रक्षा की जाती है, आध्यात्मिक

१—लालूभट्टजी योजना में स्पष्ट समझाते हैं कि श्रीआचार्यचरणों ने जिस जिस नाम द्वारा जिस जिस अंग की रक्षाकी प्रार्थना की है, वह सब उपपत्ति पूर्वक (युक्ति देकर) समझाई है । जैसे यहाँ अज भगवान् 'चरणों की' रक्षा करें । इसको स्पष्ट समझाने के लिये श्रीआचार्यचरण कहते हैं कि 'अज' के दो रूप हैं—एक आध्यात्मिक दूसरा आधिदैविक और चरण भी आध्यात्मिक है । इसलिये आध्यात्मिक चरण की रक्षा की । प्रार्थना आध्यात्मिक स्वरूप अक्षरात्मा अजकी की गई है ।

है क्योंकि अन्तर्यामी आदि अवतार चरण रूप (आध्यात्मिक रूप) होते हैं। ऐसा शास्त्रों में निरूपण है। वह श्रीकृष्ण अज फलरूप तो आधिदैविक है।

(२) वह ही अज सबों का उपास्य रूप दुर्ज्ञेय* होने से 'अणिमान्'[1] होता है। ये भगवान् के नाम बीजरूप होने से अविकारी हैं, स्थूल से सूक्ष्म भाव वाला 'अणिमान्' दो घुटनों की रक्षा करे। प्रमेय बल वाले इन दोनों रूपों से इन दोनों (चरण और घुटनों) की रक्षा का निरूपण हुआ।

श्लोक में दिये 'अथ' शब्द का आशय बताते हैं कि इस प्रकार प्रमेय बल वाले रूपों के पश्चात्, प्रमाण बल वाले रूपों के कार्य का पृथक् वर्णन करते हैं। इससे यह बताया कि भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग की सिद्धि (निर्णय) प्रमेय बल से ही होती है।

(३)† 'यज्ञ' जङ्घाओं की रक्षा करे। कारण कि वह यज्ञ प्रजनन, वीर्य रूप, उत्पन्न करने वाला रूप है।

(४)‡ यज्ञ का आधिदैविक रूप अच्युत 'कमर' की रक्षा करे। वह (अच्युत) रक्षक किसी प्रकार से भी च्युत नहीं होता है। इससे यज्ञ एवं वेद की नित्यता कही।

श्रीकृष्ण (जिसके सामने प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे हैं वह) तो मूलरूप अज है अतः आधिदैविक है। आधिदैविक स्वरूप (श्रीकृष्ण स्वरूप) में विराजमान आध्यात्मिक स्वरूप ही आध्यात्मिक चरणारविन्द की रक्षा करें।

श्रीआचार्यचरणों की उपपत्ति[2] व्यासजी को भी अभिप्रेत[3] है, जैसे कि व्यासजी ने भी 'जले रक्षतु (वराहः)' आदि में उपपत्ति पूर्वक रक्षा का वर्णन किया है। वराह जल के भीतर निर्भय निर्विघ्न जा सकता है इसलिये जल में वह रक्षा करे। इस प्रकार अन्य भी।

योजना—अक्षर के दो रूप हैं—एक 'अज' दूसरा 'अणिमान्'। अज रूप से चरण रक्षा बताई। इससे यह सिद्ध हुआ कि अक्षर अज रूप से आधिदैविक रूप का चरणारविन्द होने से भक्ति रूप है, इसलिये यह भक्ति मार्ग है। 'अणिमान्' (सूक्ष्म) रूप से दो घुटनों की रक्षा बताई। सूक्ष्म रूप दुर्ज्ञेय होने से ज्ञान मार्ग कह कर, उस दुर्ज्ञेयता का वर्णन किया जैसे कि 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान मोक्षत्' कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को (ज्ञान द्वारा) देखता है।

*—'अणिमान्' शब्द का अर्थ बहुत सूक्ष्म जो कठिनाई से जानने में आवे करने पर 'अणिष्ठ' होना चाहिये। इस शंका का समाधान सुबोधिनीजी में महाप्रभुजी ने भगवान् के नाम, बीज रूप होने से अविकारी[4] हैं। दूसरे शब्द व्याकरणानुसार बनते और बदलते हैं। नाम तो बने हुए ही हैं।

†—**योजना**—यज्ञ उत्पत्ति करने वाला है, जैसा कि गीता में कहा है यज्ञ से मेघ, मेघों से वर्षा द्वारा अन्नादि उत्पन्न होते हैं। इसलिये यज्ञ प्रजनन (पैदा करने वाला रूप) है श्रुति में जंघाओं को भी पैदा करने में प्रयोजक कहा है अतः प्रजनन रूप यज्ञ भगवान् पैदा करने में प्रयोजक जंघाओं की भी रक्षा करें यह उपपत्ति कही।

‡—**योजना**—अच्युत यज्ञ का आधिदैविक स्वरूप है। कमर पृथ्वी रूप है। पृथ्वी (कर्म क्षेत्र) अन्नादिकों के उत्पत्ति का स्थान पैदा करने वाली है। इसलिये आधिदैविक यज्ञ स्वरूप अच्युत पृथ्वी रूप कटि (कमर) की रक्षा करे। यह कहना भी उपपत्ति पूर्वक समझाया।

१—कठिनाई से जानने योग्य। २—युक्ति पूर्वक समझाना। ३—वांछित, अभीष्ट। ४—जो सदैव एकसा रहे।

(५) 'हयग्रीव' पेट की रक्षा करे। सम्पूर्ण जगत् भगवान् का उदर है उसकी रक्षा कर्म (यज्ञ) से होती है, इसलिये भगवान् वेदों (वैदिक कर्म यज्ञादि) की रक्षा के वास्ते हयग्रीव रूप से यज्ञ में प्रकट हुए।

(६) 'केशव' हृदय की रक्षा करे। केशव शब्द का आशय बताते हैं कि 'केशव' शब्द में 'क' 'ईश' और 'व' ये तीन अक्षर हैं। 'क' का अर्थ ब्रह्मा, 'ईश' का अर्थ शिव और 'व' का अर्थ सुख है। इसलिये व्याकरणानुसार विग्रह करने से 'केशव' शब्द में द्वन्द्व और बहुव्रीही दो समास हैं जैसे कि कः च ईशः च केशौ द्वन्द्व समास हुवा। जिसका अर्थ हुवा, ब्रह्मा और महादेव। अब केशयोः वं यस्मात् सः केशवः यह बहुव्रीही समास हुआ। जिसका अर्थ ब्रह्मा और महादेव को सुख (आनन्द) जिससे मिलता है वह केशव। बुद्धि एवं अहंकार के नियामक ब्रह्मा और शिव को सुख देने वाला अन्तर्यामी केशव हृदय का परिपालन करे ऐसी आशा करती हैं। दोनों स्तनों के मध्य ढाल वाले स्थल को 'हृदय' कहा जाता।

(७) 'ईश' प्रकृति के गुण को उत्तेजित करने वाला (आधिदैविक काल रूप) तुम्हारी छाती (कंठ से नीचे का और स्तनों से ऊपर का भाग) की रक्षा करे। 'तुम्हारी' शब्द कहने का भावार्थ बताते हैं कि केवल छाती की ही रक्षा के लिये प्रार्थना करती हैं न कि छाती पर विराजमान लक्ष्मीजी की रक्षा के लिये भी प्रार्थना है।

(८) इन सूर्य के अन्दर विराजमान नारायण, कण्ठ की रक्षा करे। श्लोक में दिये हुए 'तु' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि यहाँ ब्रह्माण्ड मध्य स्थित को प्रार्थना करती हैं न कि ब्रह्माण्ड से बाहर स्थित प्रार्थना करती हैं। इसलिये शुकदेवजी ने श्लोक में 'तु' शब्द दिया है। 'कण्ठ' सरस्वती का स्थान होने से तीन वेदों का रूप है।

(९) 'विष्णु' (जगत् की रक्षा करने वाले क्रियाशक्तिरूप विष्णु) भुजाओं की रक्षा करे, भुजाओं की रक्षा का कारण बताते है, कि 'क्रियाशवित' (काम करने की शक्ति) भुजाओं में ही रहती है।

(१०) 'उरुक्रम' (वामन) मुख की रक्षा करे। 'उरुक्रम' का भाव बताते हैं कि जब दैत्यों द्वारा भक्तों को दुःख की सम्भावना होती है अथवा दुःख मिलते हैं तब आप पधारकर भक्तों को किसी प्रकार से भी दुःखों से बचाते हैं। जैसे बलि के हित के लिये बलि का बन्धन, वामन रूप से किया, जिससे आप 'उरुक्रम' कहलाते हैं।

(११) ईश्वर (सफेद और काले बाल वाला सङ्कर्षण) मस्तक की रक्षा करे। वह मुख्य होने के कारण 'शिर' की रक्षा करे यह प्रार्थना योग्य ही है ॥ २२ ॥

इस प्रकार चरणों से मस्तक तक रक्षा के लिये की हुई प्रार्थना का निरूपण २२ वें श्लोक में किया। अब पुरुष के जिस जिस बाहर के भागों के जो जो प्रेरक देव हैं, वे देव उस भाग की रक्षा करें। इस प्रकार की प्रार्थना इस २३ वें श्लोक 'चक्रयग्रतः' में करती हैं।

श्लोक––**चक्रयग्रतः सहगदो हरिरस्तु पश्चात् त्वत्पार्श्वयोर्धनुरसी मधुहाजनश्च ।
कोणेषु शङ्ख उरुगाय उपर्युपेन्द्रस्तार्क्ष्यः क्षितौ हलधरः पुरुषः समन्तात् ॥२३॥**

श्लोकार्थ––चक्रधर भगवान् आगे, गदाधर भगवान् पीछे, धनुषधारी मधुसूदन भगवान् और खड़गधारी अजन् भगवान् दोनों पाश्वो (पसलियों) में, शंखधर उरुगाव भगवान् कोनों में, उपेन्द्र गरुड़ भगवान् ऊपर, हलधर भगवान् पृथ्वी पर, पुरुष भगवान् चारों तरफ रक्षा करें ।

सुबोधिनी—एवं पादादिशिरोन्तानां रक्षा प्रार्थनया निरूपिता, बाह्यतः परितो रक्षामाह **चक्रयग्रत** इति, पुरुषस्य यावन्तो भागा बहिर्भवन्ति तेषु तत्र तत्र प्रयोजको रक्षत्विति प्रार्थयन्ति, **चक्री** चक्रपाणिश्चक्रं गृहीत्वाग्रे रक्षतु पूर्वभागं परिपालयतु, **सहगदो** गदाधरो गदासहित; **पश्चाद**व्यात् पृष्ठभागं परिपालयतु, ननु महतः कथं पृष्ठभागपरिपालनमुच्यते तत्र प्रार्थनया हेतुमाह हरिरस्त्विति, स हि सर्वदुःखहर्ता, यथा वा प्रार्थनया गजेन्द्रमागत्योद्धृतवान् न तु वैमनस्य विचारितवान्, अत इदानीमपि प्रार्थनया **पश्चाद्धरिः** स्वयमस्तु स्थितः सन् पालयत्वित्यर्थः, **त्वत्पार्श्वयो**र्दक्षिणवामयो–र्धनुर्धरोसिधरश्च **मधुसूदनोजनश्चा**व्यात, दक्षिणपार्श्वे धनुर्गृहीत्वा राक्षसांस्तत्रत्यान् दूरादेव (**मधुहा**) मारयतु, **अजन** उत्तरपार्श्वे सर्वज्ञानिसेव्यः सर्वेषां जन्मादिसर्वदुःखनाशकोसिं गृहीत्वाविद्याछेदकोव्यात, आयुधयोरपि स्वतःसामर्थ्यं द्योतयितुं भिन्नतया निरूपणं, चकारादुत्तरभागस्थिता हरिवर्षादिमूर्तयोपि पालयन्त्वित्युक्तं, **कोणेषु** चतुर्षु विदिक्षु **शङ्खं** गृहीत्वो**रुगायश्चा**वतु, शब्दो हि स सर्वेषां दैत्यानां दर्पहन्ता "विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्ये" तिवाक्यात्, अत एव प्रत्येकं कोणेषु भिन्ना निरुक्ताः, सोप्युरुगाय उरुभिर्नारदादिभिर्गीयत इति, अत एकेनैव सर्वत्र रक्षा सम्भवति, **उपर्युपेन्द्रस्तार्क्ष्यो**व्यात्, गरुडारूढो मन्वन्तरावतार‍रूपः, गरुडस्यापि रक्षकत्वं, उभावप्युपर्येव भवतः, **क्षितौ हलधरो** हलं गृहीत्वा सङ्कर्षणोधोभागे पालयतु, एवं प्रत्येकं रक्षामुक्त्वा सामान्यत आहुः **पुरुषः समन्तादिति**, **पुरुषो** नारायणः समन्तात् पालयतु, यस्योदरे सर्वं वर्तन्त इति स हि सर्वत्र तिष्ठति ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ—पुरुष के जितने वा जो जो भाग बाहर हैं उनकी वे नियन्ता रक्षा करें इस प्रकार की प्रार्थना करती हैं ।

चक्रधारण करने वाले भगवान् (चक्र धारण कर) आगे के भाग का पालन करें, गदाधर हरि (गदा धारणकर) पीछे के भाग की रक्षा करें । पीछे के भाग की रक्षा के लिये महान् को कैसे कहती हैं ? इस शंका के समाधान के लिये ही शुकदेवजी ने गदाधर को पीछे की रक्षा की प्रार्थना की है, जैसे गजेन्द्र के प्रार्थना करने पर, वैमनस्य का विचार न कर, तुरन्त आकर उसकी रक्षा की; क्योंकि आप 'सर्व दुःख हर्ता' हैं वैसे हो अब भी, प्रार्थना से स्वयं हरि यहाँ, पीछे स्थित होकर पालन करें, तेरी दोनों (बायें और दाहिने) पसलियों की धनुर्धारी मधुसूदन और असिधारी अजन रक्षा करें, अर्थात् दाहिनी तरफ धनुष लेकर वहाँ स्थित राक्षसों को दूर से ही मधुसूदन भगवान् मारें । बायें तरफ सब ज्ञानियों के सेव्य, सब के जन्मादि, सब प्रकार के दुःखों के नाशक,

अजन[1] भगवान् खड्ग लेकर अविद्या (अज्ञान) नाश करता हुआ रक्षा करे। प्रत्येक आयुध की सामर्थ्य दिखाने के लिये ही हर एक आयुध का भिन्न-भिन्न नाम दिया है। श्लोक में दिये हुए 'च' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि 'च' शब्द से गोपियों ने उत्तर की ओर स्थित हरिवर्ष आदि स्वरूपों की ही रक्षा के लिये प्रार्थना की है।

उरुगाय भगवान् शङ्ख धारण कर चारों कोनों में तेरी रक्षा करे, वह शब्द (शङ्ख[2] की ध्वनि) सब दैत्यों के दर्प (अभिमान) का हरण करने वाला है। (विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्येतिवाक्यात्) क्योंकि शास्त्र में कहा है कि विष्णु भगवान् के मुख से निकले वायु से भरे हुए शङ्ख (एक एक कोने में जुदे जुदे शंख कहे हैं) का वायु प्रत्येक कोने में यह कार्य (दैत्य नाश) करता है, इसलिये इसी एक से ही सब जगह रक्षा होती है। ऊपर के भाग में गरुड़ पर बिराजमान मन्वन्तर का अवतार रूप उपेन्द्र और रक्षक होने से गरुड़ भी रक्षा करे। इस प्रकार हर एक को रक्षा की प्रार्थना कह कर अब मामूली तौर से कहती हैं कि पुरुष नारायण सब जगह रक्षा करे क्योंकि उसके उदर में सब निवास करते हैं और वह सब ठौर है ॥ २३ ॥

इस प्रकार बाहर की रक्षा कह कर अब २४वें श्लोक में आध्यात्मिक[3] के अंशरूप[4] प्राण[5] की रक्षा का निरूपण करते हैं।

श्लोक—इन्द्रियाणि हृषीकेशः प्राणान् नारायणोवतु।
श्वेतद्वीपपतिश्चित्तं मनो योगेश्वरोवतु ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ—हृषीकेश इन्द्रियों को, नारायण प्राणों की, श्वेतद्वीप के पति चित्त की और योगेश्वर मन की रक्षा करें।

१—लेख—'अजन' नाम का भाव बताते हैं कि जिसके विराजते ही अविद्या (अज्ञान) नाश हो जाता है इसलिये वह ही ज्ञानियों के सेव्य एवं सब के दुःखों का नाश करने वाले अर्थात् अज्ञान नाश कर, आनन्द देने वाले हैं।

२—लेख—शङ्ख स्पर्श से ध्रुव में वाक्शक्ति आई। निबन्ध में कहा है कि शङ्ख में 'आसन्य' वायु रहती है इसलिये उसमें सर्वशक्ति है। इससे वह दैत्य मद नाश में समर्थ है।

३—प्रकाश—आध्यात्मिक के अंशरूप अक्षर ब्रह्म के अंश रूप।

४—लेख—इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण का संघात (समूह) आध्यात्मिक है और इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण अलग अलग उसके अंश कहलाते हैं।

५—लेख—प्राण शब्द से इन्द्रियां समझनी क्योंकि 'तथा प्राण' इस ब्रह्मसूत्र में और श्रुति में प्राण शब्द इन्द्रियों का उपलक्ष्यक माना गया है।

सुबोधिनी—एवं बाह्यरक्षामुक्त्वाध्यात्मिकांशभूतानां प्राणादीनां रक्षामाहुरिन्द्रियाणीति हृषीकाणामिन्द्रियाणामेव नियामकत्वेन स्थितः, 'अव्यादि' ति पूर्वेण सम्बन्ध, इन्द्रियाणि दश, चक्षुषश्चक्षूरूपत्वाद् भगवतः **प्राणान् नारायणोवतु**, प्राणापानादयो दश प्राणाः, नारं जीवसमूहस्तदयति प्रेरयति प्रविशतीति वा, प्राणमूलकं हि सर्वमतो **नारायणात् प्राणरक्षा**, अन्तःकरणचतुष्टयस्य रक्षामाह **श्वेतद्वीपपतिर्वासुदेवः** श्वेतद्वीपस्य शुद्धसत्त्वरूपत्वाच्चित्तरक्षकश्च स भवत्येव, अनिरूद्धो योगिभिः संराध्यः, अतो **योगीश्वरो मनोव्यात्**, योगशास्त्रं च मनोमूलकमेव ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ—इन्द्रियों का ईश (इन्द्रियों को नियम में रखने वाला) भगवान् नेत्रों का भी नेत्र होने से (इस प्रकार दश इन्द्रियों की इन्द्रियाँ आप है) दश इन्द्रियों की रक्षा करे। बालकरूप भगवान् के प्राणापानादि दश प्राणों की जीव समूह को प्रेरणा करने वाला व उसमें प्रवेश करने वाला नारायण भगवान् रक्षा करे क्योंकि सब के प्राणों की जड़ आप हैं एवं सबके जीवन की जड़ भी प्राण हैं इसलिये नारायण से प्राण रक्षा होती है। श्वेत द्वीप शुद्ध सत्त्वरूप है इसलिए शुद्ध सत्त्व का स्वामी ही चित्त (अन्तःकरण चतुष्टय) अर्थात् मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त की रक्षा करे, वासुदेव[1] ही चित्त रक्षक है। योगियों के सेव्य योगीश्वर अनिरुद्ध भगवान् मनकी रक्षा करे। योगशास्त्र का मुख्य विषय मन आदि की स्थिरता होने से योगशास्त्र को मनोमूलक कहा गया है ॥ २४ ॥

श्लोक—**पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान् परः ।**
क्रीडन्तं पातु गोविन्दः शयानं पातु माधवः ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ—पृश्निगर्भ (प्रद्युम्न) तेरी बुद्धि की, पर संकर्षण भगवान् अहंकार की, खेलते समय गोविन्द और सोते समय माधव रक्षा करे।

सुबोधिनी—**बुद्धि** प्रद्युम्नः सर्ववंशकर्ता प्रथमं **पृश्निगर्भो** जात इति स एवावतु, **आत्मानमहङ्कारं भगवान्** सङ्कर्षणोवतु, स चास्मात् **परश्च**तुर्मूर्तावुक्तः, **आत्मानं** जीवरूपं च **परः** पुरुषोत्तमोव्यात्, देहं च **भगवान्** सर्वनियामकोव्यादात्मानमेव वा भगवानव्यादिति, कृत्रिमभगवत्त्वव्यावृत्त्यर्थं **पर** इति, सर्वावस्थासु रक्षां प्रार्थयन्ति **क्रीडन्तं** बालकलीलया शृङ्गचग्न्यादिष्वपि गच्छन्तं **गोविन्दः पातु**, यस्तु सदा गवामिन्द्रो गुप्ततया रक्षकः, **शयानं माधवः पातु**, लक्ष्म्यास्तत्र प्रयोजकत्वात् ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ—सब के वंश को बढ़ाने वाला, पहले पृश्नि के गर्भ से प्रकट हुवा प्रद्युम्न ही बुद्धि की रक्षा करे। आत्मा[2] (अहंकार) की भगवान् संकर्षण रक्षा करे। यह संकर्षण उस

१—लेख—'यदाहुः वासुदेवाख्यं, श्लोक से सम्मति बताई है। अर्थात् शुद्ध सत्त्व (वासुदेव) ही अक्षर रूप का चित्त है इसलिये वह चित्त की रक्षा करे।

२—श्री आचार्यचरणों ने 'आत्मा' शब्द के अहंकार, जीव और देह अर्थ किए हैं इसलिये 'आत्मानं भगवान् परः' पाद का भिन्न-भिन्न अर्थ समझाया है। (अनुवादक)

(१) प्रद्युम्न से पर[१] अर्थात् श्रेष्ठ है, (२) आत्मा (जीव रूप) की (पर पुरुषोत्तम) रक्षा करे, (३) आत्मा (देह) की, सब का नियमन करने वाला भगवान् रक्षा करे, अथवा भगवान् आत्मा की रक्षा करे। यह भगवान् कृत्रिम नहीं है, इसलिये इस (भगवान्) को पर (सब से श्रेष्ठ) कहा है। अब हर अवस्था में अर्थात् सब अवस्थाओं में रक्षा की प्रार्थना करती हैं कि बाललीला (खेल) करते समय जहाँ भी पर्वत, अग्नि आदि की ओर जावे, तो वहाँ भी गुप्त रीति से स्थिति कर रक्षा करने वाले गौओं का इन्द्र, गोविन्द रक्षा करे। सोते हुए की माधव (लक्ष्मीपति) रक्षा करे। माधव नाम का भाव बताते हैं उस समय लक्ष्मी प्रयोजक है॥ २५॥

श्लोक—**व्रजन्तमव्याद् वैकुण्ठस्त्वासीनं त्वां श्रियः पतिः।**
भुञ्जानं यज्ञभुक् पातु सर्वग्रहभयंकरः॥ २६॥

श्लोकार्थ—चलते हुए की वैकुण्ठ भगवान्, बैठते हुए की लक्ष्मीपति और भोजन करते हुए की सब ग्रहों को भय कारक, यज्ञ भोक्ता तेरी रक्षा करे।

सुबोधिनी—व्रजन्तं शनैर्बाललीलया गच्छन्तं **वैकुण्ठः** पातुः स हि गतिदानार्थमेव वैकुण्ठं निर्माय स्थितः, अनेन सर्वत्र पदस्थापने कोमलत्वादिसुखदो भवत्विति प्रार्थितं, **आसीनमुपविष्टं त्वां** लक्ष्मीपतिरवतु, स हि लक्ष्मीविवाहसमय उपविष्टो लक्ष्म्या वृतः, तादृशभावापन्नः सर्वसौभाग्ययुक्तो लक्ष्मीपतिरासीनमवतु, सर्वमेव जगद् भगवत्युपविश्य निष्ठतीति, तदर्थमाह त्वामिति, एवं देहावस्थाचतुष्टयमुक्त्वा क्रियावयाथामाह भुञ्जानमिति, स्तन्यं दुग्धादिकं वा स्वतश्चौर्यादिना वा, **यज्ञभोक्ता** विष्णुः पातु, भोजने क्रियायां कालफलनियामका ग्राहाः सन्ति, तैरवश्यं स्वकालोद्भवं फलं देयमित्याशङ्कयाह **सर्वग्रहभयङ्कर** इति, **सर्वेषां** ग्रहाणां कालक्रियाद्रव्यादिनियामकानां नवग्रहाणां **भय**जनको भवति, अन्यथा यज्ञादीनां फलदातृत्वं न स्यात् तत्तत्कालफलमेव तेषां स्यात्, अतो यदा **यज्ञभोक्ता** फलं प्रयच्छति तदा ग्रहा निवृत्ता भवन्ति, निवृत्तिरपि न वचनादिना किन्तु रूपमेव दृष्ट्वा भीता निवृत्ता भवन्ति, तत उक्तं **भयङ्कर** इति॥ २६॥

व्याख्यार्थ—बाललीला करते हुए धीरे-धीरे जाते हुए तेरी वैकुण्ठ रक्षा करे क्योंकि वह चलने में वेग (सुख) देने के लिये ही वैकुण्ठ बनाकर स्थित है। इस प्रकार वैकुण्ठ (भगवान्) को प्रार्थना करने का आशय यह है कि जहाँ भी बालक चरण धरे, वह पृथ्वी कोमल गुणवाली होकर, वैकुण्ठ के समान सुखदायी होवे। बैठे हुए तुझे लक्ष्मीपति रखे (तेरी रक्षा करे) वह (लक्ष्मीपति)

१—**प्रकाश**—'चतुर्मूर्त्ति' (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) में संकर्षण नाम प्रद्युम्न से पहले आया है। इसलिए सुबोधिनीजी में संकर्षण को प्रद्युम्न 'पर' कहा है।

२—**लेख**—सुबोधिनीजी में जहाँ संकर्षण को प्रद्युम्न से 'पर' कहा है वहाँ आचार्य श्री ने 'च' दिया है उसका आशय लिखते हैं कि 'च' देने का आचार्यश्री का अभिप्राय है, कि संकर्षण।

लक्ष्मी के विवाह के समय, लक्ष्मी के साथ जिस भाव से बैठा था उस भाव को प्राप्त, सर्व सौभाग्य पूर्ण लक्ष्मीपति, बैठे हुए की रक्षा करे। सारा जगत् भगवान् में ही स्थित होकर रहता है इसलिये कहा 'तुझे'।

इस प्रकार देह की चारों अवस्थाओं को बताकर, अब क्रिया की अवस्था कहते हैं कि सहज रीति से वा चोरी आदि से प्राप्त स्तन्य अर्थात् दुग्ध आदि भोज्य[1] की यज्ञ भोक्ता विष्णु रक्षा करे। भोजन में और क्रिया में काल और फल के नियामक ग्रह हैं। अर्थात् ग्रह ही कालानुसार भोजनादि क्रिया में फल दाता हैं इसलिये वे ग्रह अवश्य फल देंगे। इस भय को मिटाने के लिये ही गोपियों ने भोजनादि में रक्षा करने को यज्ञभोक्ता विष्णु को प्रार्थना की है, क्योंकि काल, क्रिया, द्रव्य आदि के नियामक नव ग्रह उससे डरते हैं। यदि वे ग्रह, विष्णु से डरते न होते तो, यज्ञादि का फल ही न होता। ग्रहों के अनुसार फल होता किन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे जब यज्ञभोक्ता फल देता है तब ग्रह निवृत्त हो जाते हैं। ग्रहों की निवृत्ति वचनों से नहीं किन्तु विष्णु के केवल स्वरूप देखने से ही डरकर निवृत्त होते हैं (भाग जाते हैं)। इसलिये कहा है कि 'सर्वग्रहभयङ्करः' विष्णु यज्ञभोक्ता, सर्व ग्रहों के लिये भयङ्कर है। सारांश यह है कि जिनकी वे रक्षा करते हैं वहाँ वे ग्रह कुछ नहीं कर सकते हैं॥ २६॥

इस प्रकार सहज (स्वाभाविक) दोषों को निवृत्त करने वालों की प्रार्थना कर, अब आगन्तुक (आने वाले) दोषों की तीन श्लोकों से गणना करती हुई कहती हैं कि भगवान् का नाम उच्चारण करने से ही वे दोष स्वयं मिट जायेंगे।

श्लोक——**डाकिन्यो यातुधान्यश्च कूष्माण्डा येऽर्भकग्रहाः।**
भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः॥ २७॥
कोटरारेवतीज्येष्ठापूतनामातृकादयः।
उन्मादा ये ह्यपस्मारा देहप्राणेन्द्रियद्रुहः॥ २८॥
स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्धबालग्रहाश्च ये।
सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः॥ २९॥

श्लोकार्थ——डाकिनी, राक्षसियाँ, कूष्मांड, बालग्रह, भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, विनायक, कोटरा, रेवती, ज्येष्ठा, पूतना मातृका प्रभृति, उन्माद, अपस्मार, अन्य जो देह, प्राण एवं इन्द्रियों के द्रोही हैं तथा स्वप्न में देखे हुए महान् उत्पात, वृद्ध और बालकों के ग्रह, वे सब विष्णु के नाम से डरने वाले होने के कारण, विष्णु के केवल नाम लेने से ही भाग जावें।

१—पीने व खाने योग्य पदार्थ।

सुबोधिनी—एवं सहजदोषाणां निवर्तकैर्निवृत्तिं प्रार्थयित्वागन्तुकान् दोषान् गणयन्त्यः स्वत एव तेषां भगवन्नामोच्चारणेन निवृत्तिमाहुर्डाकिन्य इतित्रिभिः, एके महादेवसम्बन्धिनो दोषाः स्थूला अन्य आध्यात्मिका मध्यमास्ततोप्याधिभौतिका निकृष्टाः, स्वप्नादिष्वेव तेषां भयजनकत्वं, **डाकिन्यः** स्त्रिय एव दुष्टा दास्य इव पतिरहिताः सेनारूपाः, **यातुधान्यो** यक्षादिस्त्रियः **च**कारात् तदवान्तरभेदाः, **कूष्माण्डादयः** पुरुषाः कुत्सितो य **ऊष्मा** तत्कृता **अण्डा** इव ये भवन्ति, कूष्माण्डशब्दो **यौगिको** दुष्टमहादेवगणवाचकः, प्रलये तेषां विनियोगः, **रूढो** लौकिकः, नैमित्तिको वैदिकः, अतो दोषगणनायां तदुभयव्यावृत्त्यर्थं **य** इत्युक्तः **अर्भकग्रहा** अर्भकरूपा ग्रहाः, तेपि पिशाचविशेषाः, बालका एव भूत्वा सर्वान् गृह्णन्ति, **भूतप्रेतपिशाचाः** प्रसिद्धा **यक्षरक्षांसि** च, **विनायका** विघ्नकर्तारः, ते सच्छिन्नभिन्ना भवन्तीति तेषामधिपति**विनायक** उक्तः स तु न क्वापि स्वत आयातीति तन्निवृत्त्यर्थं **य** इत्यत्राप्यनुसन्धेयम ।। २७ ।। ततो हीनाः स्वतन्त्रस्त्रीरूपाः, **कोटरा** पूर्वदेशे "कुठारे" ति प्रसिद्धा, तथा **रेवती**, रेणुकेति केचित्, **ज्येष्ठा** दक्षिणदेशे प्रसिद्धा, **पूतने**यमेव, अज्ञानात् कीर्तनं, वस्तुतस्त्वेते मन्त्रास्ते च यादृशास्तादृशा एव कीर्तनीयाः, अन्यथा "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वे"तिवाक्यान्मन्त्रस्यान्यथात्वेन रक्षोपयोगित्वं न स्यात्, तेन तथाकीर्तनं तज्ज्ञानेपि, अत एवाप्रस्तुतस्यापि वृद्धग्रहस्य कीर्तनं, **मातृकाः** षोडश प्रसिद्धाः, **आदि**शब्देन सर्वा एव ग्रामदेवताः, एतावत्यः स्त्रियः, **उन्मादादयः** पुरुषाः, उद्गतो **मादो** यैः, यतः प्राणिन उन्मत्ता भवन्ति, **य** इतिरोगव्यावृत्त्यर्थं, **अपस्मारा** अपि बुद्धिभ्रंशहेतवः, यतो रोगरूपा अपि भवन्तीति **य** इति तेष्वपि ग्रहणं, उभयेषामुभयत्वं लोकसिद्धमिति तद्व्यावृत्तिर्युक्तैव, त्रिविधानन्यानाह **देहप्राणेन्द्रियद्रुह** इति, केचिद् **देहद्रोहं** कुर्वन्ति येन देहे निरन्तरं पीडा भवति तथा प्राणेषु येन क्षुधादिर्न भवतीन्द्रियाणां च स्रावबाधिर्यादि ।। २८ ।। भौतिकानाह, **स्वप्नदृष्टाः स्वप्न** एव भयपलायनशिरश्छेदादिदर्शनहेतवो **महोत्पाताश्च**, तेषां लक्षणं स्वप्नाध्याये भवति, **वृद्धबालग्रहाश्च** भवन्ति, नियतास्तेभगवदीयं भ्रामयन्त्येव, अतः पिशाचवद् भ्रान्तवद् वृद्धो बालश्च तिष्ठति, अत्रापि कालरोगव्यावृत्त्यर्थं **य** इति, एवं सर्वाननूद्य विनियोगमाहुः **सर्व**इति, उक्ता अनुक्ताश्च ते सर्वेस्मद्वाक्यात् स्वत एव **नश्यन्तु** पलायन्तां, तेषां निवृत्तौ नाधिकः प्रयास इति विशेषणमाह **नामग्रहणमात्रेणैव भीरव** इति, **विष्णोस्ते** तवैव **नामग्रहणेन न** ते तिष्ठन्ति कुतः पुनस्त्वत्समीप इत्यतोस्माभिर्वचनादेव निराक्रियन्ते ।। २९ ।।

व्याख्यार्थ—कितने ही महादेव सम्बन्धी स्थूल दोष हैं, दूसरे आध्यात्मिक मध्यम दोष हैं, तीसरे स्वप्न में डरानेवाले आधिभौतिक क्षुद्र (तुच्छ) दोष हैं। डाकिनी (चुडेल) दासियों की तरह पति रहित दुष्ट स्त्री जाति सेना सदृश हैं। (यातुधान्यः) राक्षसियाँ यक्षों की स्त्रियाँ हैं। श्लोक में दिये हुए 'च' का आशय है कि यातुधानियाँ अन्य प्रकार की भी होती हैं। 'कूष्मांड' महादेव के गणों में दुष्टगण पुरुष रूप हैं। कूष्मांड शब्द का यौगिक अर्थ कर, उनकी उत्पत्ति एवं आकृति बताते है, कि बुरे, गरमी से पैदा हुए अंडों के समान आकृति वाले पुरुष रूप को कूष्मांड कहते हैं। प्रलय के समय इनसे काम लिया जाता है। 'कूष्मांड' यह लौकिक रूढ नाम है। 'कूष्मांड' यह नैमित्तिक नाम होने से, 'वैदिक'[1] भी है। वैदिक से पृथक दोष वाला 'कूष्मांड' अन्य है, यह बताने के लिये श्लोक में 'ये' शब्द दिया है, अर्थात् जो 'कूष्मांड' दोष वाले, दुष्टगण हैं उनका यहाँ

१—**प्रकाश**—विवाहादि संस्कार के समय, अशौच की संभावना होती है, तो विवाहादि संस्कार में अशौच से रुकावट न पड़े, इसलिये वैदिक मन्त्रों से 'होम' किया जाता है, उस होम को 'कूष्मांड' कहते हैं इसलिये 'कूष्मांड' यह शब्द वैदिक भी है।

निरूपण है, लौकिक और वैदिकों का नहीं । 'अर्भक ग्रहा' अर्भक रूप ग्रह, पिशाच जाति के हैं वे बालरूप धारण कर सब को पकड़ते हैं । भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस और विनायक विघ्न करने वाले प्रसिद्ध हैं । वे छेद वाले छिन्न भिन्न होते हैं उनका अधिपति विनायक कहा है । वह तो स्वयं कहीं भी नहीं आता है । 'विनायक' नाम से कोई गणेश न समझें, इसलिये श्लोक में दिये 'ये' शब्द का यहाँ भी उपयोग करना अर्थात् 'ये' (जो) शब्द देकर यह बताया कि यहाँ दिये 'विनायक' शब्द से गणेश न समझना क्योंकि ये विनायक तो विघ्न करने वाले हैं और वह विनायक (गणेश) तो विघ्नविनाशक है ।। २७ ।।

उनसे (२७वें श्लोक में कहे हुओं से) क्षुद्र[1] स्वतंत्र[2] स्त्री रूप कोटरा नामक हैं जिनको पूर्व दिशा में कुठारे नाम से जानते हैं। तैसे 'रेवती' कोई उनको रेणुका कहते हैं । 'ज्येष्ठा' दक्षिण देश में प्रसिद्ध है 'पूतना' तो यही है किन्तु गोपियों ने अनजान में इसका भी नाम कह दिया है (जो कहना न चाहिए था) ।

यथार्थ[3] में तो ये मन्त्र हैं, इसलिये जैसे हैं वैसे ही पढ़ने चाहियें, नहीं तो उनका फल नहीं मिलेगा, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि यदि स्वर का वर्ण आदि से न पढ़ा जाएगा तो वह मन्त्र व्यर्थ[4] होगा, अर्थात् इससे कोई लाभ न होगा । इसलिये मन्त्र का जो रूप हो उस प्रकार ही उसका कीर्तन ज्ञान सहित करना चाहिये ।

पूतना की तरह, वृद्ध ग्रहों का कीर्तन भी सम्बन्ध बिना किया है । सोलह मातृकाएँ तो प्रसिद्ध हैं किन्तु श्लोक में दिये हुए आदि शब्द से सब ग्रामदेवियाँ समझनीं, ये सब स्त्रियाँ हैं । उन्मादि पुरुष हैं । ये पुरुषों को पागल बना देते हैं । 'अपस्मार' भी समझ नाशकर मिरगी आदि अचेतनता[5] के रोग करते हैं । वे दोनों ही, दोष और रोगरूप हैं इनको हटा देना आवश्यक है । अन्य भी तीन तरह के—देह, प्राण और इन्द्रियों को दुःख देने वाले हैं । इनसे देह में सदैव पीड़ा रहती है, प्राणों में व्याकुलता[6] से भूख नहीं लगती है और इन्द्रियां निर्बल होती जाती हैं जिससे बधिरता आदि होती है ।। २८ ।।

भौतिक दुःखों को कहते हैं—स्वप्न में देखे गए जैसे डर, भागना, शिरच्छेद और महान् उत्पात आदि दुःख । इनके लक्षण स्वप्नाध्याय में कहे गए हैं । वृद्धग्रह और बालग्रह अभक्तों को भ्रमित करते हैं वे पिशाच की नाईं तथा भ्रान्त के समान वृद्ध और बाल रूप होकर फिरते हैं । यहाँ भी जो श्लोक में 'ये' (जो) शब्द दिया है उसका आशय यह है कि ऊपर कहे हुए काल, रोग करने वाले नहीं है । इस प्रकार सब का वर्णन कर फिर सर्व शब्द देने का तात्पर्य है कि जो कहे गये अथवा जो नहीं कहे गये हैं वे सब हमारे वचनों से आप ही निवृत्त हो जाओ, भाग

१—नीच । २—आज़ाद । ३—वास्तव में, हकीकत में । ४—निष्फल । ५—बेहोशी । ६—वायुकोप ।

जाओ । उन्होके लिये अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि केवल नाम ग्रहण से ही वे डर जाते हैं । किसके नाम ग्रहण सें डरते हैं ? इसके उत्तर में वे कहती हैं कि तेरे नामग्रहण से । कारण कि आप विष्णु (सर्वत्र व्यापक) हो । जब कि नाम लेने से ही डर कर भाग जाते हैं तो आपके बिराजते हुए आपके सामीप्य (निकट) में कैसे ठहरेंगे । इस कारण से हम उनका अपने वचनों से ही निराकरण करती हैं ।। २६ ।।

इस तरह सब प्रकार से गोपियों ने तीन तरह की रक्षा की । इसके बाद जो कुछ हुआ उसका वर्णन इस श्लोक में शुकदेवजी करते हैं ।

श्रीशुक उवाच

श्लोक——**इतिप्रणयबद्धाभिर्गोपीभिः कृतरक्षणम् ।**
पाययित्वा स्तनं माता सन्न्यवेशयदात्मजम् ।। ३० ।।

श्लोकार्थ——इस प्रकार स्नेहबद्ध गोपियों द्वारा रक्षा किये हुए पुत्र को माता यशोदा ने स्तन पान कराके शयन कराया ।

सुबोधिनी—एवं सर्वप्रकारेण त्रिविधामपि रक्षां कृतवत्ययस्ततो यज्जातं तदाहेतीति, **प्रणयेन** स्नेहेन बद्धाभिर्न तु लौकिकन्यायेन **बद्धपदान्न** प्रेरणया नापि निवारितास्तिष्ठन्तीति ज्ञापितं, **गोपीभिरिति**पुनर्वचनं मध्ये ब्राह्मणादिशिक्षया कृतमितिव्यावृत्त्यर्थं, **कृतं रक्षणं** यस्य, रक्षाबन्धनादिकमपि कृतमिति ज्ञायते, पूतनास्तनपानेनाजीर्णशङ्कां व्यावर्तयति **पाययित्वा स्तनमिति, माता** यशोदा, गोपिकादीनां भाव्यर्थज्ञानात् स्तनादानं, अनुपद्रवज्ञापकं च स्तनपानं, **आत्मजं** पुत्रं, **सन्न्यवेशयत्** सम्यक् पल्यङ्के **न्यवेशयच्छा**यितवती ।। ३० ।।

व्याख्यार्थ—गोपियों ने लौकिक न्याय से (सम्बन्ध आदि से अथवा किसी की प्रेरणा से रक्षा नहीं; किन्तु सहज स्वाभाविक स्नेह से बद्ध होकर) रक्षा की थी । इसलिये किन्हीं के हटाने से भी वे हटने वाली नहीं थी । १८वें श्लोक में कहा गया है कि यह रक्षा, गोपियों ने ही की, फिर भी यहाँ श्लोक में, 'गोपीभिः' (गोपियों ने) शब्द देने का आशय यह है कि गोपियाँ तो स्वयं रक्षा कर रही थीं, किन्तु कोई यों न समझे कि बीच में ब्राह्मणों ने उनको शिक्षा दी होगी कि रक्षा करो, इस शङ्का को मिटाने के लिये, यहाँ फिर 'गोपीभिः' (गोपियों ने) पद दिया है । गोपियों ने न केवल वाणी से रक्षा की, किन्तु हाथों से रक्षा बन्धन आदि भी किया था, यों समझा जाता है । माता यशोदा ने स्तन पान कराके यह बताया कि पूतना के पयःपान से मेरे लाला को अजीर्ण आदि कुछ दुःख नहीं हुआ है । गोपिकाओं को भावी अर्थ (भविष्य) का ज्ञान था, इसलिये उन्होंने स्तनपान स्वयं न कराया क्यों कि माता का स्तनपान शान्ति को जताने वाला था । फिर आत्मज अर्थात् पुत्र को पलङ्ग पर अच्छे प्रकार से सुला दिया ।। ३० ।।

इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न करने वाला यह भगवान् का चरित्र स्पष्ट निरोध[1] है। ऐसे पूतना वध कर आगे की लीला की सिद्धि के लिये मन्त्रोच्चारण से भली भांति बचे हुए अज्ञान शेष को स्थापन कर, पूतना के मोक्ष का ज्ञान कराने के लिये, इस श्लोक से अध्याय समाप्ति तक आगे के चरित्र को कहते हैं।

श्लोक—**तावन् नन्दादयो गोपा मथुराया व्रजं गताः।**
विलोक्य पूतनादेहं बभूवुरतिविस्मिता ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ—इतने में मथुरा से व्रज में गए (पहुँचे हुए) नन्दादिक गोप, पूतना की देह को देख के अति आश्चर्य में पड़े।

सुबोधिनी—एवं बुद्ध्युत्पादनादेतद् भगवच्चरित्रं निरोधरूपं च स्पष्टमेव, एवं पूतनावधं कृत्वाग्रिमलीला-सिद्ध्यर्थमज्ञानशेषं चाभिमन्त्रणादिना सम्यग् जातमिति स्थापयित्वा पूतनाया मोक्षो जात इति ज्ञापनार्थमग्रिम-चरित्रमारभते तावदिति यावदध्यायसमाप्ति, देहसौरभ्येण हि मुक्तेति ज्ञातव्यं, रूपदर्शनाद् भयं जायत इति गन्धाग्रहश्च, तद् दाहे स्पष्टं भवति, तद्दाहश्च प्रभुसाध्यः, अतो नन्दागमनमाह तावदिति, यावद् गोप्य एतावत् कृतवत्यस्तावत्काले जाते मथुरायां गता नन्दादयः पूर्वोक्त-गोपिकानां पतयो गोपिकाप्राधान्यात् प्राधान्येनोक्ताः, मथुरायाः सकाशाद् व्रजं गताः, शुकस्तत्रैव भगवति स्थित्वा वदतीति गता इत्युक्तवान्, तादृशं पूतनादेहं विलोक्या-तिविस्मिता जाता लौकिकं न स्मृतवन्तः, अन्यथा तेषां निरोधो न स्यात्, बालक्रीडायां तेषामासक्तिर्न वक्तव्येति तदर्थं व्यापारान्तरं कर्तव्यमिति ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ—पूतना के रूप दर्शन से तो, भय उत्पन्न होता है अर्थात् इससे यों समझ में आता है कि पूतना का मोक्ष नहीं हुआ है, इस शङ्का को मिटाने के लिये, पूतना के देह के जलने से उत्पन्न हुए गन्ध से, उसके मोक्ष का ज्ञान होगा, इसलिये उसका आग्रह किया जाता है। उसके जलाने पर सब को स्पष्ट सुगन्ध मिलेगी। उसको (पूतना को) जलाना साधारण मनुष्य का काम नहीं था। ऐसी विशाल देह को जलाने वाला कोई बलवान होना चाहिये जिससे यह जलाई जाएगी। जब तक गोपियों ने यह सब कृत्य किया तब तक तो नन्दादिक मथुरा में रहे। यहाँ कार्य करने में गोपियां प्राधान्य (आगेवान) थीं, इसलिये मथुरा से लौटते समय गोपियों के पतियों के नाम प्रधानता में न देकर नन्द का ही दिया है। शुकदेवजी वहाँ (मथुरा में) ही भगवान् में स्थित होकर कह रहे थे, इसलिये 'व्रजं आगताः' 'व्रज में आये' न कहकर 'व्रजं गताः' 'व्रज को गये' कहा है। नन्दादिक, पूतना के ऐसे रूप को देखकर, अचम्भे में पड़ गये। उस समय सब लौकिक भूल गये। यदि लौकिक स्मृति रहती तो निरोध न होता ॥ ३१ ॥

१—भक्तों का चित्त संसार से निकाल कर अपने में (भगवान् में) आसक्त कराने को 'निरोध' कहते हैं। भगवान् के इस चरित्र से अविद्यानाश द्वारा भक्तों की संसार विस्मृति पूर्वक भगवान् में आसक्ति हुई।

उन (गोपों) की बालक्रीड़ा[1] में आसक्ति, न कहनी चाहिये (वा न हो) उनके[2] लिये दूसरे प्रकार का व्यापार (लीला) कहना चाहिये। क्योंकि वे प्रमाण परायण हैं अर्थात प्रमाण के अधिकारी हैं इसका निरूपण ३२ वें श्लोक में करते हैं।

श्लोक—नूनं बतर्षिः सञ्जातो योगेशो वा समास सः ।
स एव दृष्टो ह्युत्पातो यथाहानकदुन्दुभिः ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ—आहा ! निश्चय रूप से वसुदेवजी तो ऋषि हो गए हैं अथवा वे (वसुदेवजी) योगेश्वर बन गए हैं क्योंकि जैसा उन्होंने कहा वैसा ही उत्पात देखा।

सुबोधिनी—तेषामत्र प्रमाणपरतामाह **नूनमिति**, **बतेति** खेदे, वसुदेवो **नूनं ऋषिरेव सञ्जातः**, पूर्वं क्षत्रियः स्थित इदानीमृषिर्जातः, ऋषिवाक्यमेव हि प्रमाणं, ननु लौकिके ऋषिरप्रयोजकोन्यथा मन्त्राणां लौकिकत्वं स्यादत आह **योगेशो वा स** सम्यगासेति, योगेश्वराः सर्वं जानन्ति योगचक्षुषा, समिति सभायामपि ज्ञानात्, **स** वसुदेवः प्रसिद्धत्वात्, तस्य तदुचितमिति नासम्भावना, तस्य वाक्यस्य संवादमनुवदन्ति स्वज्ञानदार्ढ्याय **यमुत्पातमानकदुन्दुभिराह स एवास्माभिर्दृष्ट** इति, हीति युक्तश्चायामर्थः, "तदुदितः स हि यो यदनन्तर" इतिन्यायाद् यादृच्छिकसंवादित्वं परिहरन्नाहानकदुन्दुभिरिति, आनका दुन्दुभयश्च तस्य जन्मनि नेदुरतः प्रामाणिकमेव तस्य ज्ञानम् ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ—उन (नन्दादि गोपों) की प्रमाण परायणता वर्णन करते हैं। 'बत' शब्द से खेद दिखाया है। वसुदेवजी पहले (केवल) क्षत्रिय थे अब तो निश्चय रूप से वे ऋषि (भी) हो गए। ऋषियों का वचन ही प्रमाण माना जाता है। लौकिक में तो ऋषि अप्रयोजक (प्रमाण रूप नहीं) हैं क्योंकि इससे मन्त्र भी लौकिक हो जाएँगे (तो उनकी प्रामाणिकता में संशय रहेगा)। इस (संशय) को मिटाने के लिये कहते हैं कि न केवल ऋषि हुए किन्तु पूरे पूरे योगेश भी हुए हैं। योगेश्वर योग रूप नेत्र से सब देख लेते हैं। सभा आदि में जो कुछ होता है उसका ज्ञान उनको हो ही जाता है। वसुदेवजी के कहने में किसी प्रकार की असम्भावना नहीं करनी चाहिये क्योंकि वसुदेवजी साधारण मनुष्य नहीं हैं किन्तु प्रसिद्ध हैं। हमने जैसा वसुदेवजी का स्वरूप समझा है वह सत्य है इस (ज्ञान) की दृढ़ता के लिए वसुदेवजो के कहे हुए वाक्य को दुहराते हुए कहते हैं कि जिस उत्पात के लिये वसुदेवजी ने कहा था वह उत्पात हमने देखा। श्लोक में 'हि' शब्द का भी यह ही आशय है कि वसुदेवजी का कहना युक्त (सत्य) है। 'तदुदितः स हि यो यदन्तर' जो जिसके पीछे होता है वह उसमें होता ही है। इस न्याय के अनुसार भी यह कहना सत्य है।

१—गोपों की आसक्ति प्रमेय प्रकरण में मध्यलीला में कहनी चाहिये।

२—गोपों की आसक्ति सिद्ध करने के लिये आध्यात्मिक अविद्या की निवृत्ति हो जाने के पश्चात् प्रमेय प्रकरण में वर्णन करनी चाहिये। यहाँ केवल प्रमाण परायणता का वर्णन है।—लेख

विशेष में कहते हैं कि उसका कहना प्रामाणिक इसलिये भी है कि वसुदेवजी के जन्म के समय आनक और दुन्दुभि बजे थे। जिससे उन की आप्तता प्रकट है ॥ ३२ ॥

श्लोक—**कलेवरं परशुभिश्छित्त्वा ते तु व्रजौकसः।**
दूरे क्षिप्त्वावयवशो ददहुः काष्ठवेष्टितम् ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ—(तदनन्तर) उन ग्वालों ने पूतना के शरीर को कुल्हाड़ों से काट के सब अवयव दूर दूर फेंक कर (अलग अलग ढेर बनाकर) उनको लकड़ियों से लपेट कर जला दिया।

सुबोधिनी—ततः सर्व एव व्यवहारसिद्धयर्थं तस्याः **कलेवरं परशुभिश्छित्त्वा** छित्त्वावयवशो **दूरे क्षिप्त्वा** राशीकृत्य गन्धादिव्यावृत्त्यर्थं **काष्ठवेष्टितं** कृत्वा **निर्दहन्** (निरदहन्), जले क्षिप्ते राक्षसानां गतिर्दुर्ज्ञेयेति पुनर्जीवेत्, अदाहे वा खण्डशो नयेयुः पश्चाद् योजयेयुः, अतो दाह एवोचित इति तेषां बुद्धिस्तस्या मुक्तिज्ञापनाय भगवता तथा सम्पादितं, भस्मान्त एव मुक्तिरिति श्रुत्यभिप्रायः ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—इसके पश्चात् सब ग्वालों ने व्यवहार की सिद्धि के लिये, उस पूतना के शरीर को कुल्हाड़ों से काट के अवयवों को दूर फेंक कर ढेर किया। उसकी गन्ध (दुर्गन्ध) न आवे, इसलिये उस ढेर को लकड़ियों से ढक कर जला दिया। पानी में इसलिये नहीं फेंका कि राक्षसों की दुष्टता समझ में नहीं आती है, कदाचित् पानी में फेंकने पर, वह फिर जीवित हो जाय, तो इसलिये जलाना ही अच्छा समझा। जलावे भी नहीं और पानी में भी न डालें, यों ही खंड खंड पड़े छोड़ दिये जाँय (गीध आदि खावें) यों करने से कदाचित् राक्षस उन भागों को लेकर जोड़ देवें जिससे वह फिर जीवित हो जावे, इसलिये सब विचार कर उसको जलाना ही उचित समझा। उनकी ऐसी बुद्धि भगवान् ने इसलिये की, कि इसके जलाने से सुगन्धि निकलेगी, तो ये समझेंगे कि इसकी मुक्ति हो गई और श्रुति भी कहती है कि, इस शरीर को भस्म होने के बाद मुक्ति होती है ॥ ३३ ॥

श्लोक—**दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागरुसौरभः।**
उत्थितः कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मनः ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण के उपभोग (स्तन्य पान) करने से, तुरन्त पाप नष्ट वाली पूतना की जलती देह से अगर के समान निकला हुआ धूम ऊपर (आकाश में) जाने लगा।

सुबोधिनी—तस्या मुक्तिलक्षणमाह **दह्यमानस्य देह**-**स्य** सम्बन्धी **धूमः**,काष्ठभ्रमव्यावृत्त्यर्थं तथोक्तं, चकारादङ्गारा अपि सोज्ज्वला देहोपि घृतवज् ज्वलतीति ज्ञातव्यं, अगरुजनितधूमवत् सौरभ्यं यस्य **सौगरुसौरभः** सर्वजनीनार्थमुत्थित ऊर्ध्वगतः, ऊर्ध्वगमनमप्युत्तमगतिज्ञापकं, ननु दुष्टाया देहस्य कथं तथात्वमित्याशंक्य हेतुमाह **कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मन** इति, यदैव कृष्णेन नितरां भुक्तं तस्याः स्तन्यं प्राणश्च कृष्णभुक्त एव **सपदि** तस्मिन् कृष्णभुक्तक्षण इत्यर्थः, **सपदी**त्यव्ययं, कृष्णभुक्तस्य **सपद्य**प्यवहितः क्षणस्तस्मिन्नेवासमन्ताद् हतं नष्टं **पाप्म** यस्य देहस्य, आहतपाप्मां देहः ।। ३४ ।।

व्याख्यार्थ—जलते समय जो धुआं निकला, वह लकड़ियों का नहीं था, यह बताने के लिये मूल श्लोक में 'दह्यमानस्य देहस्यधूमः' शब्द दिये हैं जिसका अर्थ है कि जलती देह का धुआँ लकड़ियों का है । श्लोक में दिये 'च' अक्षर का आशय बताते हैं कि 'अंगार' भी उजले थे और देह भी घृत के समान जलती थी । अगर के जलने के धूम जैसी, उसके देह के जलने की धूम की सुगन्धि, धुएँ के साथ ऊपर (आकाश की तरफ) जाने लगी । धुएँ का ऊपर जाना, सारी जनता को बताता है कि इसकी ऊर्ध्व (उत्तम) गति हुई है । शंका होती है कि इस दुष्टा की उच्च गति क्यों हुई ? इसके मिटाने के लिये कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने स्तन्य पान कर, इसके सब पाप क्षणमात्र में नाशकर दिये थे, जिससे यह अब दुष्टा पापिनी नहीं रही, इसलिये इसकी उर्ध्व गति हुई, जिसका प्रमाण है कि उसकी पवित्र हुई देह से, अगर जैसी सुगन्धि निकल कर ऊंची जा रही थी ।। ३४ ।।

३५ से ४० तक छः श्लोक प्रक्षिप्त हैं उन पर व्याख्या प्रक्षिप्त तीन अध्यायों की तरह करनी चाहिये; किन्तु स्पष्ट अर्थ होने से व्याख्या की आवश्यकता नहीं। ३६ वें श्लोक में 'तन्मातरो' 'उसकी माताएँ' की व्याख्या अन्य टीकाकार करते हैं 'वसुदेवजी की स्त्रियाँ'।

श्लोक—**पूतनालोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना ।**
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्वाप सद्गतिम् ।। ३५ ।।
किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने ।
यच्छन् प्रियतमं लोके रक्तास्तन्मातरो यथा ।। ३६ ।।
पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः ।
अङ्गं यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत् स्तनम् ।। ३७ ।।

राग विहागरो

रूप मोहनी धरि व्रज आई ।
अद्भुत साजि सिंगार मनोहर असुर कंस दे पान पठाई ।
कुच विष लाई पोस कपट करि बाल घातिनी परम सोहाई ।
बैठी हुती जसोदा मंदिर हुलरावति सुत श्याम कन्हाई ।
प्रगट भई तह आनि पूतना प्रेरित काल अवधि निजराई ।

यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगतिम् ।
कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः किमु गावो नु मातरः ।। ३८ ।।
पयांसि यासामपिबत् पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम् ।
भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलार्थदः ।। ३९ ।।
तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम् ।
न पुनः कल्प्यते राजन् संसारोऽज्ञानसम्भवः ।। ४० ।।

श्लोकार्थ—लोगों के बालकों को मारने वाली और रुधिर पीने वाली पूतना, मारने की इच्छा से भी भगवान् को दूध पिलाने से मुक्त हो गई ।। ३५ ।। भला तब श्रद्धा तथा भक्ति से, श्रीकृष्ण को प्रिय वस्तु अर्पण करने वाली स्नेहवती माताओं के समान मोक्ष को प्राप्त हो, तो क्या आश्चर्य है ।। ३६ ।। भक्तों के हृदय में स्थित, लोकवन्दित[1] देवताओं से भी पूजनीय[2] चरणों से जिसके अंग को दबा के भगवान् ने जिसके स्तन का पान किया, वह राक्षसी भी माता जैसी गति[3] को प्राप्त हुई तो जिन गौ और माताओं का कृष्ण ने दूध पिया, उनकी गति होवे तो उसमें कहना ही क्या ? ।। ३७–३८ ।। कैवल्य[4] आदि सब पुरुषार्थों को देने वाले भगवान् देवकी पुत्र ने, जिन माताओं के सुत-स्नेह से टपकते हुए दूध को पिया और जो माताएँ निरन्तर[5] कृष्ण को पुत्र भावना से देखती हैं, हे राजन् ! उनको अज्ञान से उत्पन्न संसार फिर नहीं आता है, अर्थात् वे संसार से सदैव छूट जाती हैं ।। ३९-४० ।।

इस प्रकार देह के धूम निकलते हुए जो कुछ हुआ उसका वर्णन इस ४१ वें श्लोक से करते है ।

१—लोक जिनको नमन करते हैं ऐसे । २—वन्दन के योग्य । ३—स्वर्ग । ४—मोक्ष । ५—लगातार ।

(पृष्ठ ११२ से आगे)

आवत पीठ बेठमो दीन्हो कुशल पूछि अति निकट बोलाई ।
पौढाये हरि सुभग पालने नंदरानी कछु काज सिधाई ।
बालक लयो उछंग दुष्ट मति हरषित अस्तन पान कराई ।
बदन निहारी हरि प्रान हरि लीन्हो, परी देतमी जोजन छाई ।
सूरज दई जननी गति ताको कृपा सिंधु सुख धाम पठाई ।

श्लोक——कटभूमस्य सौरभ्यमवघ्राय व्रजौकसः ।
किमिदं कुत एवेति वदन्तो व्रजमाययुः ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ—व्रजवासी चिता के स्थान से आते धुएँ की सुगन्ध सूंघकर कहने लगे कि यह क्या है, कहाँ से आरही है ? यों कहते हुए व्रज में आ गये ।

सुबोधिनी—एवं देहधूमे निर्गते यदासीत् तदाह **कटधूमस्येति, अत्र षट् श्लोका विगीताः** सर्वत्र दृश्यन्ते तेप्यध्यायत्रयवद् व्याख्येयाः, स्पष्टत्वाद् वोपेक्ष्यन्ते, **तन्मातरो** (३६) 'वसुदेवस्त्रिय' इति व्याख्यातारः, **कटस्य** प्रेतदाहस्थानस्य चितायाः सम्बन्धिधूमस्य **सौरभ्यमवघ्राय व्रजौकसो** गोरक्षणार्थं कार्यान्तरार्थं वा दूरे गताः किमिदमाश्चर्यमति व्याकुलाः समीचीनं गन्धमाघ्रायागरुर्ज्वलतीति ज्ञात्वा **कुत एवेतिव**दन्तस्तत्तत्कार्यं परित्यज्य **व्रजमेवाययुः**, अनेन व्रजस्थानां सर्वेषामेव प्रपञ्चविस्मृतिरुक्ता भगवदनुभावस्यान्तःप्रवेशश्च, येनान्तःस्थितः प्रपञ्चो निवर्तिष्यते, तामसः प्रपञ्चस्तामसी च पूतना, अतो युक्तं गन्धस्य प्रपञ्चनाशकत्वम् ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ——चिता सम्बन्धी धुएँ की सुगन्ध को सूंघकर व्रजवासी गौओं की रक्षा के लिए वा अन्य कार्य के वास्ते दूर चले गये थे । सुगन्ध से अचम्भे में पड़कर व्याकुल होकर कहने लगे कि यह अगर जल रहा है यों समझ, यह सुगन्ध कहाँ से आती है । ये शब्द कहते हुए उस कार्य को छोड़ कर व्रज में आ गये । इससे सब व्रजवासियों की प्रपञ्च विस्मृति बताई और भगवान् का प्रभाव उनके अन्तर (देहादि में) प्रविष्ट हुआ, जिससे भीतर का प्रपञ्च भी नाश होगा । प्रपञ्च तमोगुणी है, पूतना भी तमोगुणी है इससे तामस द्वारा तामस का नाश होना योग्य ही है ।।४१।।

उन (नन्दादि गोपों) को भी कारण जानने पर आश्चर्य हुआ। इसका वर्णन ४२ वें श्लोक में किया जाता है।

श्लोक——ते तत्र वर्णितं गोपैः पूतनागमनादिकम् ।
श्रुत्वा तन्निधनं स्वस्ति शिशोरासन् सुविस्मिताः ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ——वे (नन्दादि गोप) ग्वालों द्वारा पूतना का व्रज में आगमन आदि और उसकी मृत्यु एवं बालक की कुशलता सुनके अत्यन्त आश्चर्य युक्त हुए ।

सुबोधिनी—तेषामपि निदानपरिज्ञाने विस्मय एव जात इत्याह **ते तत्रेति, तत्र** गोकुले **गोपैर्वर्णितं पूतनागमनादिकं श्रुत्वा, आदिशब्देन** स्तनदानादिप्रकारं **तन्निधनं** पूतनामरणं च **शिशोः** स्वस्ति कल्याणं त्रयं **श्रुत्वा, अत्यन्तविस्मिता** जाताः, सर्वेषामग्र आगमनमेवाश्चर्यं, अकस्मान्मरणं, ततोपि तस्या महत्या भक्षको मृत्युर्बालं त्यक्तवानिति सुतरां विस्मयः ॥ ४२ ॥

व्याख्यार्थ—वे (नन्दादि गोप) गोकुल में गोपों से (१) पूतना का आगमन, आदि शब्द से गोपों ने स्तन (दूध) पिलाने का ढंग भी बताया, (२) उसका मरण और (३) बालक का कल्याण, ये तीनों सुनकर बहुत अचम्भित हो गये; सब गोप गोपियों के वहाँ होते हुए पूतना का आगमन (नन्द के घर में भीतर आ जाना) ही आश्चर्य में डालने वाला कार्य था, ऐसे उसका अचानक मरण भी आश्चर्य का कारण था, इससे भी विशेष विस्मय इसका हुवा कि इस बलवान् पूतना को मारने वाले काल ने बालक को छोड़ दिया ।। ४२ ।।

वेद में कहा है, कि विदेश से लौटा हुआ पिता पुत्र के मस्तक को सूंघे विदेश से लौटे हुए नन्दजी को इस वृद्धावस्था तक दुर्लभ, यह आनन्द, अब मिला, उसका वर्णन ४३ वें श्लोक में करते है ।

श्लोक—**नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रोष्यागत उदारधीः ।
मूर्ध्न्यवघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वह ।। ४३ ।।**

श्लोकार्थ—हे कुरु के वंश में उत्पन्न ! उदार बुद्धि वाले ! देशान्तर से आये हुए नन्दजी ने अपने पुत्र को पास में ले मस्तक सूंघ कर हर्ष को प्राप्त किया ।

सुबोधिनी—नन्दस्य प्रोषितस्य पुत्राघ्राणं विहितमित्याजन्मदुर्लभं तदिदानीं कृतवानित्याह **नन्द** इति, आश्चर्ये जिज्ञासोत्पद्यते नटविद्यायां तथादर्शनात्, **स्वपुत्रं** बलभद्रव्यावृत्त्यर्थं, विहितत्वादादाय हस्ते गृहीत्वा, तथाकरणे हेतुः **प्रोष्यागत** इति, नूतनमिदं कर्म कृत्वा बहु देयमिति मनसि कृतवान्, भगवते च नानाविधान्याभरणानि कृत्वा समानीतवांस्तदाहोदारधीरिति, उदारा धीर्यस्य तदानीमुत्पन्ना, सर्वापि बुद्धिरुदारा नन्दस्यापि मोक्षदात्री, तस्य तामवस्थां ये च भावयन्ति, **मूर्ध्न्युपघ्राणं** विहितं वात्सप्रेण सूक्तेन "दिवस्परी" त्यादिना, गन्धेन प्रपञ्चस्य नाशितत्वाद् भगवदाघ्राणे परमानन्दो हृदि जात इत्याह **परमां मुदमिति**, कुरूद्वहेतिसम्बोधनं समस्तोपाख्यानविश्वासार्थम् ।। ४३ ।।

व्याख्यार्थ—नट विद्या में दिखाया (लिखा) है कि जिस बात को सुनकर आश्चर्य होता है, उस बात को जानने की इच्छा पैदा होती है । श्लोक में 'पुत्रं' (पुत्र को) न कह कर जो 'स्व पुत्रं' (अपने पुत्र को) कहा उसका आशय, आचार्य चरण बताते हैं कि यदि केवल 'पुत्र' कहते तो, उससे कोई बलदेवजी को समझ ले, इस संशय को मिटाने के लिये 'स्वपुत्रं' (अपने पुत्र को) कहा है अर्थात् अपने पुत्र श्रीकृष्ण के मस्तक को सूंघा । वेद में ऐसी विधि (आज्ञा) होने से नन्दजी ने हाथ से श्रीकृष्ण को अपने निकट करके मस्तक सूंघा क्योंकि देशान्तर से आए थे । नन्दजी ने यह नवीन कार्य कर (बेटे को) बहुत दूंगा ऐसा मन में विचार किया ।

भगवान् के लिये, अनेक प्रकार के आभूषण बनवा के ले आए थे, क्योंकि नन्दजी उदार बुद्धि वाले थे । नन्दजी की सम्पूर्णतया ऐसी उदार बुद्धि थी, जो नन्दजी को भी मोक्ष देने वाली

तो थी ही, किन्तु उस अवस्था की, अर्थात् नन्दजी जैसी उदारता की, भावना करने वालों को भी मोक्ष देने वाली है।

'वात्सप्रसूक्त' में 'दिवस्परि' इत्यादि से मस्तक को सूंघने का विधान है। गन्ध से प्रपञ्च नाश हो जाने के कारण भगवान् के मस्तक को सूंघने से नन्दजी के हृदय में अत्यन्त आनन्द उत्पन्न हुआ। इसलिये मूल में 'परमां मुदं' पद दिया है जिसका अर्थ है परम आल्हाद। परीक्षित् को इस श्लोक में 'कुरूद्वह' सम्बोधन देने का भाव यह है कि परीक्षित् का इस सम्पूर्ण चरित्र में विश्वास हो अथवा परीक्षित् को यह संकेत शुकदेवजी कराते हैं कि तू कुरु के कुल में उत्पन्न हुआ है। इसलिये तुझे इस चरित्र में विश्वास करना चाहिये ॥ ४३ ॥

पूतना के मोक्ष को 'कैमुतिक' न्याय से सिद्ध करने के लिये निम्न श्लोक में कहते हैं कि जो मनुष्य इस पूतना मोक्ष के चरित्र को सुनेंगे, उनको मोक्ष से भी विशेष, भगवान् में भक्ति रूप फल की प्राप्ति होगी।

श्लोक--**य एतत् पूतनामोक्षं कृष्णस्यार्भकमद्भुतम् ।**
शृणुयाच्छ्रद्धया मर्त्यो गोविन्दे लभते गतिम् ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ--जो मनुष्य इस पूतना को मोक्ष देने वाले, श्रीकृष्ण के विचित्र बाल-चरित्र को विश्वास से, अर्थात् यह सत्य है, ऐसा समझ के सुनेगा, वह गोविन्द में मोक्ष प्राप्त करेगा।

सुबोधिनी—पूतनाया मोक्षं स्थापयितुं कैमुतिकन्यायेन तच्चरित्रश्रोतॄणामपि मोक्षादप्यधिकफलां भक्ति फलत्वेनाहय एतदिति, **एतत् पूतनामोक्षं कृष्णस्यार्भकं** बाल्यसम्बन्धि **चरित्रमद्भुतं** लौकिकोपपत्तिरहितं, अनिष्टार्थं मारणमिष्टजनकमिति वा निशम्य **श्रद्धया** युक्तो भवति, अमर्त्यो वा भवति, देवभावं प्राप्नोति, देवा हि सत्ये प्रतिष्ठिताः, सर्वथेदं सत्यमिति मन्यते, स **गोविन्दे गतिं मोक्षं** रतिं वा **लभते**, इदमपि 'विगीत' मिति केचित् ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ—यह पूतना को मोक्ष देने वाला, श्रीकृष्ण की बाललीला सम्बन्धी चरित्र, जो कि लौकिक उपपत्ति रहित हैं, अर्थात् ऐसा विलक्षण चरित्र है कि जो लौकिक युक्तियों से समझ में ही नहीं आ सकता है। अनिष्ट[1] अर्थ को जिससे संसार उत्पन्न होता है ऐसे अर्थ, अविद्या को नाश करने वाला है। इस अर्थ (मोक्ष) को देने वाले चरित्र को सुनकर श्रद्धावाला अमर्त्य, अर्थात्

१--बुरा, जिसे कोई नहीं चाहता हो।

देवभाव को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि वह इस चरित्र को सर्वथा, सत्य मानता है, क्योंकि देवता सत्य में ही प्रतिष्ठित हैं। इस चरित्र के सुनने से मनुष्य में देवभाव आ जाता है तथा उसकी भी सत्य में प्रतिष्ठा होती है। अतः उस मनुष्य को इस चरित्र के सुनने से गोविन्द भगवान् में मोक्ष वा रति (प्रेम) होता है। कितने ही इस श्लोक को भी प्रक्षिप्त कहते हैं ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवत पुराण, दशम-स्कंध (पूर्वार्ध) के तामस-प्रमाण अवान्तर प्रकरण के द्वितीय अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचित सुबोधिनी टीका का हिन्दी अनुवाद।

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनम: ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित – सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस-प्रमाण-अवान्तर-प्रकरण

'यश निरूपक'

तृतीय अध्याय

श्रीमद्भागवतानुसार : सप्तमोऽध्याय

तामस प्रकरणान्तर्गत प्रमाण - अवान्तर - प्रकरण की कारिकाओं का हिन्दी अनुवाद

कारिका—**पूतना सुपयः पानं भगवत्त्वाय यत् कृतम् ।**
अलौकिकत्वज्ञानाय तत् षष्ठे विनिरूपितम् ॥ १ ॥

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण ने अपने भगवत्त्व तथा अलौकिकता जताने के लिये पूतना के स्तन्य पान के साथ उसके प्राणों का पान एवं उसके शव दाह से सुगन्धि का निकालना आदि जो चरित्र किये उनका निरूपण छठे अध्याय में किया गया है ।

व्याख्या प्रकाश—यह कारिका सातवें अध्याय के साथ छठे अध्याय की संगति बताने के लिये कही गई है । छठे अध्याय में पूतना के प्राण एवं स्तन्य पान की लीला करके श्री कृष्ण ने अपना भगवत्व

कारिका—ततोप्यलौकिकं लोके विशेषासक्तिबोधकम् ।
सप्तमे त्रिविधं प्राह शकटोत्पाटनादिकम् ।। २ ।।

कारिकार्थ सातवें अध्याय में छठे अध्याय में वर्णन किये गए वध चरित्र से भी लोक में विशेष अलौकिकता वाले एवं विशेष आसक्ति-बोधक, शकट[1] उत्पाटन[2] आदि तीन प्रकार के चरित्र निरूपण करते हैं ।

बताया है जिससे उनका वीर्य[3] प्रकट हुवा है, इसी लीला से श्रीकृष्ण ने अपनी अलौकिकता भी दिखाई है कि पूतना राक्षसी के देहदाह से सुगन्धि निकली अन्यथा उस राक्षसी के शरीर के जलने से तो दुर्गन्ध ही निकलनी थी ।। १ ।।

व्याख्या-प्रकाश—इस प्रकार, पहिले के अध्याय अर्थात छठे अध्याय में प्रयोजन सहित बताये हुए अर्थ सहित चरित्र से भी, इस सातवें अध्याय का चरित्र अलौकिक है; क्योंकि उस अध्याय में पूतना का मर्म स्थलों की पीड़ा से प्राण जाना सम्भव था उसमें ऐसी कोई विशेष अलौकिकता नहीं भी मानी जा सकती है किन्तु बालक के चरण से इतने भारी शकट को ऊपर फेंका जाना जिससे गिरकर उसका टूट जाना तो लोक में सम्भव ही नहीं है कारण कि जहां इतना छोटा सामान्य बालक पैर से इतने भारी शकट को थोड़ा सा भी नहीं हिला सकता है वहां इतना बड़ा भारी शकट सुकोमल चरण से फेंककर तोडना तो (विशेष) अलौकिक होने से विशेष आसक्ति कराने वाला है । यह प्रसंग पहले से भी अलौकिक होने से सङ्गतिकारक है । अलौकिक ज्ञान विशेषासक्ति का कारण है उससे किया हुवा प्रसङ्ग भी सङ्गतिकारक है । इस प्रकार सङ्गति बोध कराने के लिए अध्याय का अर्थ कह कर विशेषता बतलाने के लिये आदि' शब्द से तीन प्रकार के चरित्र प्रकट करते हैं ।

टिप्पणी—कारिका में दिये हुए संग्रह शब्द का तात्पर्य बताते हुए कहते हैं कि लोक में संग्रह शब्द अपने उपयोग में आने वाली ऊँची अथवा साधारण वस्तु को इकट्ठा कर रखने के अर्थ में दिया जाता है परन्तु यहाँ संग्रह का अर्थ 'निरोध' है क्योंकि भगवान् ने इस 'निरोध' के लिये ही ये तीन चरित्र[4] इकठ्ठे कर रखे थे—इसलिये चरित्रों का निरोध के साथ सम्बन्ध है ।

योजना—१—(शकटस्य उत्क्षेपः) गाड़े को ऊपर फेंकना, २—(तृणावर्तस्य अपक्षेपः) तृणावर्त्त को नीचे पटकना, ३—(प्रसारणं-जृम्भाली-लावा मुखस्य) जम्भाई लेते हुए मुख को खोलना ।

निर्भयराम भट्ट कृत कारिकार्थ—१—गाडे को ऊपर फेंकना, २—तृणावर्त को नीचे पटकना, ३—जम्भाई लेते, हुए मुख को खोलना, इन तीनों लीलाओं के आशय को तीसरी कारिका के उत्तरार्ध में बताते हैं कि ये ३ लीलाएं राजस, तामस एवं सात्विक भक्तों के निरोध के लिये की गई हैं । इस कारिका में वह क्रम नहीं रक्खा है जो दशमस्कन्ध के "निबन्ध" में दिया है, जैसे कि गाड़ा तामस है, तृणावर्त राजस है,

---

१—गाडा (बड़ी भारी गाड़ी ।) २—उठाकर फेंकना । ३—पराक्रम । ४—शकट भंजन ।
४—तृणावर्त वध । ४—जंभाई, (उबासी लेना) ।

कारिका—**उत्क्षेपणमवक्षेपः प्रसारणमितीर्यते ।**
राजसानां तामसानां सात्त्विकानां च संग्रहे ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—राजस, तामस और सात्त्विक (भक्तों) के संग्रह (निरोध) के लिये ऊपर फेंकना, नीचे गिराना और जंभाई लेते हुए मुख को खोलना, इस प्रकार के तीन चरित्र वर्णन करते हैं ।

पुत्र भाव से, दुल्हार और प्यार करना एवं मोह सात्विक है, इससे तीन चरित्रों से तामस, राजस एवं सात्विक का निरोध हुवा ऐसा समझना चाहिये ।

व्याख्या—प्रकाश के भावों का स्पष्टीकरण—

भगवान् ने देखा कि पूतना-वध लीला से भक्तजनों (यशोदादि) की जितनी आसक्ति मुझ में हुई थी अब तक वह उतनी ही है; केवल इतनी ही आसक्ति होने से ये भक्त आगे नहीं बढ़ सकेंगे । उस पूतना वध लीला को तीन महीने बीत गये हैं इससे अब इनमें शिथिलता आने लग गई है अतः इनकी शिथिलता दूर करनी चाहिये और ऐसा खेल खेलना चाहिये जिससे इनकी मुझ में विशेष आसक्ति हो । यों विचार कर शिथिल चित्त वाले भक्तों के चित्त में चेतनता लाने अर्थात् उन भक्तों के चित्त को विशेष आसक्ति के योग्य बनाने, एवं उनको लौकिक विषयों से हटाने के लिये तथा अपने में विशेष आसक्ति पैदा करने के लिये बालकृष्ण ने तृणावर्त को नीचे पटकने की लीला की, जिससे भक्तों को दुःख भी हुआ । दुःख इसलिये हुआ कि इस लीला से भगवान् में विशेषासक्ति होने से उन्होंने सोचा कि तृणावर्त द्वारा कृष्ण को कुछ कष्ट हुआ होगा । यह गाड़े को फेंकने वाली लीला से लौकिक रीति से विशेषासक्ति कराई, जम्भाई लेते हुए मुख खोला, इस लीला से भक्तों के हृदय से असम्भावना दोष निवृत्त कराकर, श्री बालकृष्ण ने अपने में विशेषासक्ति कराई ।

आचार्य श्री ने 'निरोध लक्षण' ग्रन्थ में निरोध का लक्षण देते हुए कहा है कि 'यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले' उपरोक्त लीलाओं से हृदय में भय उत्पन्न होने से, हृदय दुःखित हुआ । यह दुःख भी निरोध का रूप है इसलिये ही भगवान् ने यह लीला की है ।

लेख—श्रीवल्लभजी महाराज लेख में (सुप्त) शब्द का भावार्थ बताते हुए कहते हैं कि 'सुप्त–सोया हुवा' वह है जो कही हुई बात को न समझ सके, अर्थात 'मूढ' । इस समय यह दशा यशोदा की थी, इसलिये यशोदा के हृदय में स्फूर्ति लाने के लिये निष्क्रमण, (बालक को घर से बाहर ले जाने की) संस्कार कराने की प्रेरणा की । उस संस्कार को मनाने के लिये, आए हुए गोप गोपी आदि के आदर-सत्कार में लगा हुआ यशोदा का मन, वहाँ से (लौकिक से) हटे एवं सर्व प्रपञ्च को भूल जाय, इसलिये तृणावर्त को नीचे पटकने आदि की लीला श्रीकृष्ण ने की, जिससे यशोदा सर्व (लौकिक) कार्य को भूल गई और उसका मन कृष्ण में ऐसा आसक्त हो गया, जो कहने लगी कि हायहाय ! तृणावर्त के पटकने से कृष्ण को कुछ हुआ तो नहीं ? इस प्रकार के दुःख द्वारा भगवान् ने यशोदा का निरोध किया ।

कारिका--**सुप्तंचित्तमथोल्लास्य त्याजयित्वा च लौकिकान् ।**
स्वासक्ति सिद्धये प्रीत्या दुःखं च कृतवान् क्वचित् ॥ ४ ॥

कारिकार्थ--पूतना वध के अनन्तर भक्तों के सोये हुए (सुस्त होगए हुए) चित्त को उल्लास (उत्साह) में लाकर और उनके लौकिक विषयों का त्याग कराकर श्रीकृष्ण ने अपने में आसक्ति कराने के लिये उनको प्रेम से कभी दुःख भी दिया।

कारिका--**यशो हि सर्वगं चेत् स्यात् स्वासक्त्यैव च तद् भवेत् ।**
यशोदानन्दयोरत्र निःप्रपञ्चो विधीयते ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—जिसके सुचरित्र का जब सारी जनता गान करती है तब उसका 'यश' होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने यशोदा एवं नन्दजी के प्रपञ्च का नाश करके अपने में आसक्ति रूप निरोध कराया है।

टिप्पणी—भगवान् का यश (गुणगान) सर्वत्र तब हो, जब भगवान् की की हुई, यशोवर्द्धक लीलाओं का सर्व जनता को ज्ञान हो। भगवान् ने जिस लीला से, यशोदा एवं नन्द के प्रपञ्च का नाश कर, अपने में आसक्ति कराई, उस लीला का सर्वत्र फैलाव हो गया, जिससे सब भगवान् के गुणगान करने लगे।

भक्तजनों को सब प्रकार से जो दुःख होने लगा, उसका नाश कर, भगवान् ने भक्तजनों की अपने में आसक्ति कराई, इससे भी आपकी (प्रभु की) महिमा सर्वत्र फैल गई। सब कहने लगे कि देखो श्रीकृष्ण ने भक्तजनों का दुःख मिटाकर अपने में कैसी आसक्ति करा दी है कि इत्यादि प्रकार से आपके यश का सर्वत्र ज्ञान होने लगा। भगवान् भक्तों को इसीलिये दुःख देते हैं कि मैं प्रकट होकर उन के दुःखों का नाश कर, अपने में आसक्ति कराऊँ।

प्रकाश का भावार्थ—भगवान् ने अपने में आसक्ति कराने के लिये भक्तों को दुःख क्यों दिया? इस का आशय प्रकट करते हुए श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि भक्तों को दुःख इसलिये दिया कि भगवान् आसुर व्यामोह लीला करेंगे, उसके पश्चात् भी पृथ्वी पर होने वाले भक्तों को भगवान् की लीलाओं का ज्ञान हो, जिससे उनकी भी भगवान् में आसक्ति हो जाए। वह ज्ञान उनको तब होगा, जब सब उस समय में भी, भगवान् के गुणगान (यश) होते रहेंगे। इनका विचार कर, भगवान् ने दुःख आदि देकर, फिर लीला द्वारा उन दुःखों का नाश कर, अपने में आसक्ति कराई जिससे अब तक आप का जगहितार्थ यशोगान हो रहा है।

लेख का भावार्थ—दुःख तब होता है जब आसक्ति होती है, आसक्ति के अतिरिक्त दुःख नहीं होता है। व्रजभक्तों की भगवान् में आसक्ति थी इसलिये उनको दुःख होता था। भगवान् ने यशोदा और नन्दजी की प्रपञ्च विस्मृति कराके उन का भाव अपने में स्थिर कराया।

कारिका——**आनुषङ्गिकमन्येषां गोपानां सर्वदेहिनाम् ।**
गोपीनामिति तत्राद्ये यशोदाया वितन्यते ॥ ६ ॥

कारिकार्थ——गोप, गोपी और अन्य प्राणियों का प्रपञ्च भाव गौण रीति से किया है। मुख्य तो प्रथम यशोदाजी के प्रपञ्च भाव (आसक्ति) का विस्तार पूर्वक वर्णन करने में आता है।

आभास—पूर्वाध्याय आश्चर्योत्पादनेन प्रपञ्चविस्मृतिं कारयित्वा विशेषाकारेण यशोदायाः स्वासक्तिं वक्तुं मतान्तरे प्रपञ्चविस्मृतिमात्रस्यैव पुरुषार्थत्वात् तदासक्तिं न वक्ष्यतीत्याशङ्क्य राजा पृच्छति येनयेनेतित्रयेण ।

आभासार्थ——राजा परीक्षित के मन में शंका हुई कि भगवान् द्वारा की हुई आश्चर्यकारक लीलाओं द्वारा यशोदा की प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक आसक्ति हो गई, जिसका वर्णन पांचवे अध्याय में शुकदेवजी ने किया है। अब भगवान् में उत्पन्न हुई यशोदा की आसक्ति का विशेष वर्णन शुकदेवजी करेंगे, क्योंकि किसी किसी ऋषि का मत है कि प्रपञ्च विस्मृति ही पुरुषार्थ है। इस शंका को मिटाने के लिये परीक्षित 'येनयेनावतारेण' श्लोक से प्रारम्भ कर तीन श्लोकों में पूछते हैं।

लेखकार—शकट भञ्जन लीला से केवल यशोदाजी का प्रपञ्च नाश कराया है। दूसरों का नहीं ॥ ६ ॥

॥ श्रीराजोवाच ॥

श्लोक—**येनयेनावतारेण भगवान् हरिरीश्वरः ।**
करोति कर्णरस्यानि चरितानि च नः प्रभो ॥ १ ॥

शब्दार्थ—हे प्रभो ! हरि, ईश्वर, भगवान् जिन जिन अवतारों से जिन जिन चरित्रों को करते हैं वे चरित्र हमारे कर्णेन्द्रिय को रसान्वित करने वाले हैं ।

कारिका—**सर्वं चरित्रं हितकृद् गुणकृच्च ततोधिकम् ।**
तत्रापि स्नेहजनकं तद् वक्तव्यमितिस्थिति ॥ ७ ॥

कारिकार्थ—भगवान् के सर्व चरित्र हितकारी हैं, एवं उनसे भी अधिक वे गुणकारी हैं; पर स्नेह उत्पन्न करने वाले चरित्र उन गुणकारी चरित्रों से भी विशेषतर हैं[1] । भगवान् के ऐसे (स्नेह बढ़ाने वाले) चरित्र कहने चाहियें इस प्रकार की स्थिति[2] है ।

सुबोधनी—आदौ सर्वमेव चरित्रं भगवतः सर्वोत्तममित्याह, **येनयेन** मत्स्यकूर्मादिमध्ये यानियानि **चरितानि करोति** तानि **नः कर्णरस्यानी**तिसम्बन्धः, कृष्णावतारचरित्र एव कस्यचित् प्रीतिपक्षे तद्गतो भेदो द्वेषापरपर्यायः सिध्येदिति तन्निवृत्त्यर्थमेतद् वक्तव्यं **येनैवावतारेण करोती**ति, अवतारपरत्वे लौकिक बुद्धिर्भगवति भविष्यतीति तत्रानादरश्च वक्तव्यः, तदाह **वीप्सया**, वस्तुतस्तु **भगवान् करोति**, कृतौ प्रयोजनं **हरि**रिति, तथाविर्भाव उपपत्ति**रीश्वर** इति, इदानीन्तनानामस्माकं तथाभाग्याभावाद् दर्शनाभावेपि भवदादिप्रसादात् **कर्ण्यरस्यानि** भवन्ति, लोक उपनिबन्धनाभावशङ्कापि नास्तीत्याह **चरितानी**ति, उपनिबद्धं कृत्यं **चरित्रं**, **च**कारात् महतां मुखादकस्मादप्युक्तं, **न** इति श्रोतृणां सर्वेषां, **प्रभो** इतिसम्बोधनमन्तःकरणज्ञानार्थमन्यथाकथने दण्डकरणे सामर्थ्यार्थं च ॥ १ ॥

१—**निर्भयराम भट्ट कृत कारिकार्थ**—सातवीं कारिका का भावार्थ समझाते हुए भट्टजी कहते है कि 'हितकृत्' शब्द का तात्पर्य है भगवान् के चरित्र श्रवण से कर्णेन्द्रिय को जो रस (आनन्द) प्राप्त होता है वह श्रवणरूप फलात्मक साधारण गुण है। ऐसा फलदाता हितकारी चरित्र पहले 'येनयेनावतारेण' श्लोक से पूछा है । 'गुणकृत्' शब्द का आशय व्यक्त करते हुए कहते हैं कि गुण शब्द से सर्व दोषों को नाश कर, सत्त्व शुद्धि आदि गुणों को प्रकट करना समझें । इस प्रकार के गुण को प्रकट करने वाला चरित्र उससे (हितकृत् चरित्र से) भी अधिक है । यह गुणकृत चरित्र (यच्छृण्वतः) दूसरे श्लोक द्वारा पूछा गया है । इससे (गुणकृत् से) भी विशेष भक्ति (स्नेह) उत्पन्न करने वाला (शकट भङ्ग) लीला वाला चरित्र (अथान्यदपि) इस तीसरे श्लोक से पूछा है । वह चरित्र विशेष रूप से कहना स्थिति (मर्यादा) हैं

२—**स्थिति**—स्नेह उत्पन्न कराने वाली मर्यादा ।

व्याख्यार्थ—परीक्षित् ने प्रारम्भ में कहा है कि भगवान् के सर्व चरित्र उत्तम हैं। भगवान् जिन जिन चरित्रों को करते हैं, वे सर्व चरित्र कर्णेन्द्रिय को रसप्रद हैं। इस प्रकार का सम्बन्ध है। यदि कोई व्यक्ति कृष्णावतार के चरित्रों को प्रेम से श्रवण नहीं करना चाहता है तो यह एक प्रकार की भेद-बुद्धि है, जिसको द्वेष भीं कहा जा सकता है। इस प्रकार अवतारों में भेद-बुद्धि वा द्वेष नहीं है। इसलिये 'येनैवावतारेण' जिस भी अवतार के सम्बन्ध में यों कहना कि अवतार ही लीला करते हैं; भगवान् नहीं करते हैं। ऐसी लौकिक बुद्धि अवतारों में न हो इसके लिये आचार्यश्री कहते हैं कि 'वस्तुतस्तु भगवान् करोति' वास्तविक रीति से सर्व लीला भगवान् ही करते हैं अर्थात् वे अवतार भगवान् के ही हैं। भगवान् इस प्रकार के अवतार धारण कर ऐसी लीलाएँ क्यों करते हैं ? इस पर कहते हैं कि शुकदेवजी ने मूल में भगवान् का नाम 'हरि' इसलिये ही दिया है कि वे दुःखों को हरण करने वाले हैं। अतः दीन जनता के दुःखों को दूर करने के लिये अवतार धारण करते हैं। शुकदेवजी ने मूल में 'ईश्वर' (शब्द) जो दिया है, उसका भावार्थ आचार्यश्री कहते हैं कि वह सर्व समर्थ होने से सर्व प्रकार की आकृतियों से अपने को प्रकट कर सकते हैं। इस समय हम लोगों के ऐसे भाग्य नहीं हैं जो भगवान् के प्रकट रूप से दर्शन हों, फिर भी, आप जैसे महानुभावों की कृपा से, भगवच्चरित्र कर्णों को रसदायी हो रहे हैं। लोक में काव्यादि में लिखे हुए जो कृत्य (कथाएँ) हैं वे चरित्र नहीं हैं ऐसी शंका को भी स्थान नहीं है। क्योंकि श्लोक में 'चरितानि' शब्द देकर यह बताया है कि वे चरित्र काव्यादि ग्रन्थों में भी लिखे हुए हैं। श्लोक में दिये हुए 'च' शब्द का भाव कहते हैं महापुरुषों के मुख से अचानक कभी कहे हुए कृत्य (कथाएँ) भी चरित्र हैं, क्योंकि जिनको श्रवण कर, हम सब श्रोताओं की कर्णेन्द्रिय रसवती होती है। श्लोक में परीक्षित् ने शुकदेवजी को 'हे प्रभो' शब्द कह कर यह जताया है कि आप समर्थ हो तथा मेरे एवं सबके अन्तःकरण को जानते हो। यदि मुझ में कोई दोष हो, अथवा मैं विपरीत कहता हूँ, तो आप दण्ड भी दे सकते हो ॥ १ ॥

आभास—यद्यपि साभिप्राये ज्ञाते सर्वमेव चरित्रमेतादृशगुणजनकं भवति तथाप्यापाततोपि यच्चरित्रं सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकं सर्वगुणदायकं भवति तद् वक्तव्यमित्याह यच्छृण्वत इति।

आभासार्थ—भगवान् के चरित्र भाव जान कर, प्रेम से सुनने में आवें तो वे चरित्र, श्रोताओं के हृदय में सर्व गुण उत्पन्न करते हैं। यदि बिना भाव जाने भी ऊपर ऊपर से भगवत्-चरित्र सुने जायें तो भी श्रोता के सर्व दोष नाश हो जाते हैं और सब गुण भी हृदय में आ जाते हैं। ऐसे चरित्रों का प्रश्न निम्न श्लोक में किया है।

श्लोक—**यच्छृण्वतोपैत्यरतिर्वितृष्णा सत्त्वं च शुध्यत्यचिरेण पुंसः।**
भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ––भगवान् के चरित्रों में जो 'अरति' (प्रेम का न होना) एवं अहंता, ममता से उत्पन्न संसार की जो तृष्णा है, ये दोनों भगवच्चरित्र सुनने से नष्ट हो जाते हैं एवं अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। भगवान् में भक्ति और भगवान् के भक्तों में मैत्री पैदा होती है। जो आप चरित्रों को ऐसा मनोहर समझो तो कहो, अथवा ऐसे चरित्रों को आप योग्य समझो तो ऐसे प्रकार से वर्णन करो जैसे वे मनोहर हों।

सुबोधिनी—**यच्चरित्रं शृण्वतः** पुरुषस्य भगवच्चरित्रविषयिणी **यारतिः सापैति** माहात्म्ये स्वोपकारे च ज्ञाते, तथात्वं, विशेषेण संसारविषयिणी **तृष्णा चापैति** संसारस्य बाधकत्वे ज्ञाते, गुणदोषाभावरूपावेतौ साधारणौ दोषाभावरूपौ वा, गुणानाह **सत्त्वं च शुध्यति, अचिरेण** शीघ्रमेव, **पुंसः** स्वतन्त्रस्य, **सत्त्वमन्तः**करणं, शुध्यति कामक्रोधादिवासनारहितं भवति, ज्ञानात्मनः संसारातीतचरित्रे श्रुते यथा भगवतो मुखारविन्दे त्रैलोक्यवर्णनं, किञ्च **भक्तिर्हरौ** यथोलूखलबन्धने, **तत्पुरुषे** भगवत्सेवके **सख्यं** यथा यमलार्जुनभञ्जने, **चकारात्** तत्सेवकसेवकेपि, **तदेव हारं** मनोहारि यथा भवति तथा **वदे**तिप्रार्थना, **यदि मन्यस** इति, तादृशं फलमस्य सिध्यत्विति **यदि** तव कृपा, **यथाधिकारेण** बोधने मनोहारि भवति, एवं **पञ्चविधं** चरित्रं पृष्टं, तद् वक्ष्यति क्रमेण तृणावर्तवधादि, आश्चर्यरूपस्तृणावर्तवध **इत्यरतिर्गच्छति, तृष्णा च संसारेण गच्छति, भगवति** सर्वसत्त्वात्, अन्तःकरणं **देहेन्द्रियादिकमपि** शुध्यति, **भगवतो नामधौत्यादिश्रवणेन**, **उलूखलबन्धने भक्तिर्यमलार्जुनभङ्गे सख्यमिति** ॥ २॥

व्याख्यार्थ––जिस मनुष्य का भगवान् के चरित्र में प्रेम न हो, वह भी यदि भगवान् के चरित्रों को सुने, तो उसकी भी भगवच्चरित्र में प्रीति हो जाती है। भगवच्चरित्र श्रवण से, भगवान् के माहात्म्य का और अपने (जीव के) ऊपर भगवान् के किये उपकारों का जो ज्ञान होता है, उससे भी भगवच्चरित्र में प्रेम उत्पन्न होता है, अर्थात् अरति (प्रेम का अभाव) का नाश हो जाता है कि संसार दुःखदायी है और भगवान् के प्रेम की उत्पत्ति में सर्वथा बाधक है। इस ज्ञान से श्रोता की संसार विषयक तृष्णा भी, विशेष रूप से नष्ट हो जाती है। ये दोनों क्रमशः गुण और दोष के अभाव रूप हैं; अथवा साधारण रीति से दोनों दोष के अभाव रूप हैं। अर्थात् भगवान् के चरित्र श्रवण से भगवच्चरित्र में जो प्रेम का अभाव था वह मिट जाता है एवं उसमें प्रेम होता है। यह चरित्र श्रवण का गुण है और उससे (चरित्र श्रवण से) दोष रूप सांसारिक तृष्णा का नाश होना यह दोष का अभाव हुवा। अथवा साधारण रीति से, 'अरति' एवं सांसारिक तृष्णा दोनों दोष रूप थे। भगवच्चरित्र श्रवण से इन दोनों दोषों का अभाव हुआ। चरित्र श्रवण से उत्पन्न गुणों का वर्णन करते हैं कि स्वतंत्र श्रोता पुरुष का अन्तःकरण शीघ्र ही शुद्ध होता है अर्थात् काम क्रोधादि वासनाएँ उसके अन्तःकरण से नष्ट हो जाती हैं। ज्ञानात्मा (ज्ञान स्वरूप परमात्मा) के संसार से अतीत अर्थात् अलौकिक चरित्रश्रवण से जो फल होता है उसे कहते हैं। जैसे भगवान् के मुखारविन्द में तीनों लोकों का वर्णन श्रवण करने से अन्तःकरण, काम, क्रोध आदि वासना रहित होता है। ऊखल बन्धन लीला के सुनने से भगवान् में भक्ति होती है। यमलार्जुनभञ्जन लीला श्रवण से भगवद्भक्तों से मैत्री होती है। 'च' अक्षर का भाव स्पष्ट

करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि शुकदेवजी ने 'च' अक्षर देकर कहा है कि इस लीला से श्रोता का भगवद्भक्तों के सेवकों में भी सखा भाव होता है। राजा परीक्षित् प्रार्थना पूर्वक कहते हैं कि आप उचित समझो तो यह भगवच्चरित्र जिस प्रकार मनोहर हो, उस प्रकार कहो। इस चरित्र श्रवण से इस प्रकार का फल होगा जो आपकी कृपा होगी तो अधिकारानुसार सुनाने से भगवच्चरित्र मनोहर (आनन्ददायी) होगा। परीक्षित् ने इस प्रकार पांच प्रकार के चरित्र पूछे। शुकदेवजी उनका तृणावर्तवधादि के क्रम से वर्णन करते हैं।

(१) आश्चर्यकारक तृणावर्त-वध चरित्र सुनने से भगवान् के चरित्र श्रवण में जो किसी में भगवच्चरित्र के लिये प्रेम का अभाव होगा तो वह नाश होकर उस चरित्र में प्रीति उत्पन्न होगी।

(२) भगवान् की जृम्भा[1] लीला के श्रवण करने से सांसारिक तृष्णा नाश होती है क्योंकि भगवान् के पास सर्व पदार्थ हैं। अर्थात् भगवान् ही सकल अर्थ रूप हैं ऐसा ज्ञान श्रोता को होता है।

(३) भगवान् के नाम और धूर्तता (माखनचौर्यादि) लीला श्रवण करने से अन्तःकरण, देह एवं इन्द्रियादि शुद्ध होते हैं।

(४) भगवान् की उलूखल[2] बन्धन लीला श्रवण से भक्ति होती है।

(५) भगवान् की यमलार्जुन भंग लीला सुनने से भगवद्भक्तों के साथ सख्य होता है ॥२॥

आभास—एतत्पञ्चविद्यात् पूर्वमपरमेकं कृष्णासक्तिजनकं साधारण्येन वक्तव्यमित्याहाथान्यदपीति।

आभासार्थ—इन पांच प्रश्नों के उत्तर से पहले श्रीकृष्ण का कोई साधारणतया अद्भुत् बाल-चरित्र कहो जिसके श्रवण से कृष्ण में आसक्ति हो यह निम्न श्लोक में पूछते हैं।

श्लोक—**अथान्यदपि कृष्णस्य तोकाचरितमद्भुतम्।**
मानुषं लोकमासाद्य तज्जातिमनुरुन्धतः ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ—प्रारम्भ में (पांच प्रश्नों के उत्तर देने मे पहिले) श्रीकृष्ण का कोई दूसरा अद्भुत् बाल-चरित्र कहो, जो बाल-चरित्र मनुष्य लोक में आकर उन्होंने मनुष्य जाति के अनुकूल किया हो।

१—उबासी लेना। २—ऊखल।

सुबोधिनी—**अथेति** भिन्नप्रक्रमे, आदावेव वक्तव्यं, अनन्तरं शीघ्रमेव वक्तव्यं, **अन्यदपि यथा** बाल्ये **पूतना**-वधः, तथापि बाल्ये यच्चरित्रं, **कृष्णस्येति**, अवतारान्तरबाल्यचरित्रव्युदासः, बाल्ये चरित्रसम्भवार्थं वा भगवतो नाम, **तोकाचरितं** तोकेनाचरितं, **तोक** उत्थानासमर्थः, तदप्यद्भुतमलौकिकं, लोके हेतुकल्पनारहितं, तत्रापि लौकिकभावेन कृतमित्याह **मानुषं लोकमासाद्ये**ति, मनुष्यलोकं भूमिं **मानुषभावं** चासाद्य स्वीकृत्य, **तज्जाति** शिशोर्जातिलीलामनुरुन्धतो जातिलीलामनतिक्रम्य यथा गोपालशिशोः, तादृशं पूतनावधतुल्यमेकं वक्तव्यमिति-प्रार्थना ।। ३ ।।

व्याख्यार्थ—'अथ' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि उन पांच प्रश्नों के उत्तर देने से पहिले अथवा यह मेरा प्रश्न उनसे अलग है इसलिये इसका शीघ्र ही उत्तर देवें । उन पांच प्रश्नों का उत्तर पीछे देवें । 'अन्यत्' शब्द से उन प्रश्नों से इसकी भिन्नता बताते हैं । इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि परीक्षित् ने 'अन्यद्' शब्द से 'पूतनावध' जैसे बाल्य अवस्था में जो अन्य चरित्र किये हैं, वे पूछे हैं । इससे यह जताया कि दूसरे अवतारों के बाल-चरित्र, मैं नहीं पूछता हूँ । बाल अवस्था में अद्भुत् चरित्र करने की सामर्थ्य प्रकट करने के लिये श्लोक में भगवान् का नाम श्रीकृष्ण दिया है । अलौकिक सामर्थ्य प्रकट करते हुए कहते हैं कि वे चरित्र, इसलिये अलौकिक (मनको आकर्षण करने वाले) हैं कि श्रीकृष्ण ने ये चरित्र, बाल आयु में, उस समय कर दिखाये, जब आप उठ भी नहीं सकते थे। (तोकाचरितमद्भुतम्) अलौकिक आश्चर्यकारक इसलिये हैं कि उनके होने के कारण की कल्पना हो नहीं सकती है उसमें भी विशेष आश्चर्य इसलिये होता है कि भगवान् ने मानुष भाव धारण कर, अपनी बाल जाति के समान, क्रीडा करते हुए वे चरित्र किए हैं । पूतनावध जैसा एक अन्य चरित्र कहें यह प्रार्थना है ।। ३ ।।

आभास—शुकस्तादृशामेव शकटभंगलक्षणं चरित्रमाह कदाचिदितिचतुर्दशभिः सर्वेन्द्रियाणामन्तःकरणस्य च प्रीतिजनकं, आदावुत्सवमाह कदाचिदिति ।

आभासार्थ—श्री शुकदेवजी परीक्षित् के प्रश्न के भाव को जान कर, वैसा ही शकट भंग लीला का वर्णन १४ श्लोकों से करते हैं । चौदह श्लोकों में वर्णन इसलिये किया है कि वह लीला दश इन्द्रियों और 'अन्तःकरण चतुष्टय'[1] को आनन्द देने वाली है अथवा दश इन्द्रियों और 'अन्तःकरण चतुष्टय' का भगवान् में प्रेम उत्पन्न कराने वाली है ।

।। श्रीशुक उवाच ।।

श्लोक—**कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम् ।**
वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकैश्चकार सूनोरभिषेचनं सती ।। ४ ।।

१—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ।

श्लोकार्थ—किसी समय, जब भगवान् का जन्म नक्षत्र था, उसी दिन निष्क्रमण[1] संस्कार चौथा महीना होने से किया। तदर्थं किये हुए उत्सव में आई हुई स्त्रियों के मध्य में यशोदा ने बाजे गाजे के साथ स्त्रियों द्वारा गीत गाते हुवें एवं ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन आदि मन्त्रों के उच्चारण होते हुए अपने पुत्र का अभिषेक किया।

सुबोधिनी—**ग्रौत्थानिकं** कर्म निष्क्रमणात्मकं "चतुर्थे मासि निष्क्रम" इति, तस्मिन्नेव दिवसे रोहिणीनक्षत्रं, **ग्रौत्थानिकं कर्म** कृत्वा तत्र **कौतुकाविष्टे** चित्ते जात उत्सवेन तत् कर्म कर्तव्यमिति विचिन्त्य तस्मिन् दिवसे **जन्मर्क्षस्यापि योगे** सति **समवेतानां योषितां** सर्वस्त्रीणां मध्ये तूर्यादिवादित्रैर्नानाविधगीतैः स्त्रीकर्तृकैः पुरुषकर्तृकैश्च **द्विजानां** ब्राह्मणानां **मन्त्रवाचकैः** सह **सूनोः** पुत्रस्या**भिषेचनं** कलशस्थापनपूर्वकं ब्राह्मणैः क्रियमाणं मन्त्रवत्प्रोक्षणरूपं चकार, मङ्गलस्नानादिकं तु पूर्वमेव कृतमस्ति, प्रोक्षणसंस्कारेभ्युदयो भवति, यतः सा **सती** पतिव्रता पत्युस्तथेच्छेति, अन्यत्रोत्सवकारणभावार्थं वा ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—किसी समय, निष्क्रमण† संस्कार‡ कर्म करने का अवसर, चौथे मास में आया, उस दिन भगवान् के जन्म का रोहिणी नक्षत्र भी था। ग्रौत्थानिक कर्म करने से, चित्त में उल्लास एवं ग्रानन्द का ग्राविर्भाव हुग्रा जिससे यह विचार हुग्रा कि ग्राज निष्क्रमण संस्कार एवं जन्म नक्षत्र का योग है इसलिये यह उत्सव धूमधाम से, प्रेम पूर्वक करना चाहिये। इस उत्सव को मनाने के लिये आई हुई स्त्रियों के बीच में, तुरी ग्रादि वाद्य, स्त्री ग्रौर पुरुषों द्वारा गाये हुए गीतों के साथ एवं ब्राह्मणों द्वारा उच्चारण किए हुए मंत्रों के साथ यशोदाजी पुत्र का ग्रभिषेक करने लगीं ग्रर्थात् ब्राह्मणों ने कलश स्थापन कर, जो जल ग्रभिमंत्रित किया था, उससे पुत्र पर प्रोक्षण (सिञ्चन) किया, मंगल स्नान तो पहिले किया ही था। प्रोक्षण संस्कार पुत्र के ग्रभ्युदय (वृद्धि) के लिये किया। श्लोक में यशोदाजी के लिये 'सती' विशेषण दिया है उसका भावार्थ बताते हैं कि वह पतिव्रता थीं ग्रौर क्योंकि नन्दरायजी की इस प्रकार से विधि पूर्वक ग्रौर धूमधाम से उत्सव करने की इच्छा थी इसलिये यशोदा ने यह उत्सव घर में ही किया दूसरे स्थान* पर यह उत्सव नहीं किया ॥ ४ ॥

---

†—श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश में 'निष्क्रमण' संस्कार के स्वरूप को बताते हैं कि उसमें क्या क्या किया जाता है। पहिले बालक को मंगल स्नान कराके इष्ट देवता का पूजन किया जाता है (उद्वातेवा) इत्यादि मन्त्र पढ़कर बालक का शृङ्गार करने में आता है। ग्रनन्तर बाजे गाजे के साथ देवालय, गङ्गा ग्रादि नदी के किनारे पर, सुन्दर उद्यान ग्रथवा बान्धवों के गृह आदि स्थानों में से किसी के स्थान पर ले जाते हैं। बान्धवादि मित्रों द्वारा मिली हुई भेंट लेके फिर घर आकर पुण्याह वाचनादि कर्म करके आरती की जाती है तथा दक्षिणादि देकर उत्सव पूर्ण किया जाता है ॥ ४ ॥

‡—दूसरे स्थान का भाव लेखकार कहते हैं कि सती पतिव्रता थी इसलिये पिता के घर यह उत्सव नहीं किया ॥ ४ ॥

*—दूसरे स्थान का आशय श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि जहाँ नन्दरायजी नहीं थे वहाँ नहीं किया ॥ ४ ॥

१—घर से प्रथम बार बच्चे को बाहिर ले जाने का संस्कार।

आभास—एवं महोत्सवमुक्त्वा बालक विस्मरणार्थ बालकस्य पल्यंके स्थापनमाह।

आभासार्थ—इस प्रकार चौथे श्लोक में महोत्सव का वर्णन कर, अब बालक (श्रीकृष्ण) की विस्मृति के लिये उन्हें पलंगडी पर पौढाने का वर्णन नीचे के श्लोक में किया जाता है।

श्लोक—**नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकं विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितैः।**
अन्नाज्यवासःस्रगभीष्टधेनुभिः सञ्जातनिद्राक्षमशीशयच्छनैः ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ—स्नानादि किये हुए एवं अन्न, घृत, वस्त्र, पुष्पमालाओं से मन चाहे इच्छित पदार्थों तथा गौओं के दान से पूजित ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन किये हुए निद्राशील अपने पुत्र (भगवान्) को नन्दजी की पत्नी (यशोदा) ने धीरे-धीरे पौढ़ाया।

सुबोधिनी—**नन्दस्य पत्नीति, नन्दस्य पत्नी** नन्दकार्यमवश्यं करोति, अन्यथा तदभावे ज्ञातीनां वैमनस्यं स्यात्, अतः **कृतमज्जनादिकं** भगवन्तं **सञ्जातनिद्राक्षं शयनं** कारितवतीतिसम्बन्धः, आदौ स्त्रीणामाकारणं कृत्वा स्नानस्थानमलङ्कृत्य नानाविधगीतैस्तैलेन नानाविधसुगन्धद्रव्यैः स्नानं कारयित्वाभरणानि परिधाप्य कस्तूरीगोरोचनादितिलकं दत्वा धूपादिना चार्द्रतां दूरीकृत्य सर्वाभरणभूषितं विधाय तदनन्तरं **विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं** कृतं रक्षाबन्धनादिकं यस्य तादृशं, तेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो बहु दत्वा सन्तुष्टानामाशिषं गृहीत्वा श्रान्ताभिनयने कृते **सञ्जातनिद्राक्षं** मन्यमाना **शयनं** कारितवती, **अन्नमोदनः, आज्यं** घृतं, **स्रङ्** माला, **वासो** वस्त्राणि, **अभीष्टं** प्रार्थितं, **धेनवश्च,** तैः सर्वैरेव पूजिता ब्राह्मणाः, तेजां ब्राह्मणानां ज्ञानशक्तिसङ्कोचार्थं **सञ्जातनिद्राक्षता, अन्यथाशिषो न प्रयुञ्जीरन्, शनैरिति,** यथा निद्राभङ्गो न भवति तथा हस्तलाघवेन, ब्राह्मणानां प्रीतिश्चतुर्विधा भवति, आदौ साज्यभोजनेन, पश्चाद् वस्त्रैः, उभाभ्यां स्वयं पूर्णा भूत्वैहिके यावदपेक्षितं तत् प्रार्थयन्ति, ततो वैदिककर्मसिद्ध्यर्थं धेनवश्च, एवं चतुर्भिः पूजिताः, लौकिकख्यापनार्थं मालया च, पूजिता अन्तःकरणपूर्वकं स्वस्त्ययनं कुर्वन्ति, तेषां यथा परमार्थसद्दृष्टिस्तिरोहिता भवति तथा **सम्यङ् निद्रा** ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—नन्दजी की पत्नी थी अतः उसको नन्दजी के इच्छित वा यशोवर्द्धक कार्य अवश्य करने थे, यदि वे कार्य न करें तो ज्ञाति वाले अप्रसन्न होंगे। ज्ञाति-बान्धवों के आदरार्थ समय निकालने के लिये यशोदाजी ने मज्जनादिक कराये हुए, निद्राशील, भगवान् को इस तरह धीरे से पौढाया, जैसे उनकी निद्रा का भंग न हो। इस प्रकार से निद्राशील भगवान् को पोढ़ाने से पूर्व जो जो कार्य किय उनका वर्णन करते हैं। पहिले स्त्रियों को गीतादि गाने के लिये बुलाकर, उनका भली प्रकार से आदर सत्कार किया। स्नान स्थान को सजाया, आई हुई स्त्रियां गीत गाने लगीं, गीतों के गाते हुए, यशोदाजी ने तेल फुलेल आदि सुगन्धित द्रव्यों से पुत्र को स्नान कराके, आभूषण पहनाये और कस्तूरी गोरोचनादि से तिलक किया, तथा स्नान से पैदा हुई आर्द्रता धूपादि से मिटाई। पश्चात् सर्व प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित बालक (भगवान्) की ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन आदि से रक्षा-बन्धन आदि क्रिया कराई। कर्म कराने वाले उन ब्राह्मणों को घृत युक्त अन्नादि का भोजन करवाया और उनको वस्त्र दिये, जिससे उन ब्राह्मणों का लौकिक

सिद्ध हुआ, वैदिक कर्म की पूर्णता के लिये, गौ दान किया, ब्राह्मणों की मालाओं द्वारा पूजा की जिससे यश की वृद्धि हुई। ब्राह्मण लोग चार प्रकार से प्रसन्न होते हैं, प्रथम सात्विक भोजन, उसके पश्चात् वस्त्र इन दोनों से स्वयं पूर्ण होकर इच्छित पदार्थ अर्थात् धन के लिये प्रार्थना करते हैं, तत्पश्चात् वैदिक कर्म सिद्धि के लिये गाय के लिये, इन चारों से और माला आदि से पूजा होने पर अन्तकरण से प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं। इस प्रकार चतुर्विध पूजन से ब्राह्मण प्रसन्न हुए। इस प्रकार अलंकृत भगवान् स्वस्तिवाचनादि कर्म पूर्ण होते ही, सोने (नींद लेने) की चेष्टा करने लगे।

आचार्यश्री भगवान् के निद्राशील[१] होने का रहस्य बताते हैं कि भगवान् ने निद्रा चेष्टा से आंखे मूंद कर ब्राह्मणों की ज्ञान-शक्ति हर ली। ज्ञान-शक्ति लुप्त होने से उन्होंने भगवान् को भगवान् न समझा किन्तु यशोदा का पुत्र समझा। जिससे वे भगवान् को आशीर्वाद देने लगे ॥५॥

आभास––एवं कृते प्रसंगात् सर्वेषामेव बहिर्मुखता जातेत्याहौत्थानिकौत्सुक्यमन इति।

आभासार्थ—इस प्रकार करने से अर्थात् आंखों में निद्रा लान से, सब में बहिर्मुखता आ गई। इसका वर्णन इस निम्न श्लोक में किया जाता है।

श्लोक––**औत्थानिकौत्सुक्यमना मनस्विनी समागतान् पूजयती व्रजौकसः।**
नैवाश्रृणोद् वै रुदितं सुतस्य सा रुदन् स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत् ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ––औत्थानिक कर्म (निष्क्रमण–संस्कार) करने में, उत्साह एवं अभिमान युक्त मनवाली यशोदाजी, उत्सव में आए हुए व्रज-वासियों का पूजन कर रही थीं, इसलिये उन्होंने पुत्र का रोना सुना ही नहीं, भगवान् ने स्तनपान की इच्छा से रोते रोते अपने दोनों चरण उछाले (ऊँचे किये) ॥ ६ ॥

सुबोधिनी—ब्राह्मणार्थं **निमीलने** कृते भगवतो ज्ञानशक्तेर्निमीलितत्वाल्लौकिकप्राबल्यं, अथापि प्रपञ्चात् पूर्वाध्यायाभ्यां निरोधस्योक्तत्वान्नात्यन्तं लौकिके यशोदाया बुद्धिः किन्तु भगवत्सम्बन्धिलौकिके, तदाहौत्थानिके कर्मणि शोभार्थं यदौत्सुक्यमुत्सुकता लौकिकाभिनिवेशस्तत्रैव **मनो** यस्या इति, भगवत्सम्बन्धस्य गौणत्वात् प्रवाहस्य बलिष्ठत्वाद् भगवदंशमपि परित्यज्य लौकिकसम्भावनार्थमभिमानवती च जातेत्याह **मनस्विनीति**, एवं बाह्याभ्यन्तरभेदेन तस्या बहिर्मुखत्वं जातं, स्वकार्यमपि कृतवतीत्याह **समागतान् पूजयतीति**,

---

१—**लेखकार**—श्लोक में (संञ्जातनिद्राक्षम्) पद में आये हुए (सम्) उपसर्ग का आशय स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भगवान् ने आंख मीच कर ब्राह्मणों की ज्ञान शक्ति खींचली। जिससे यशोदाजी ने जो पूजा में दिया था वह ग्रहण किया। भगवान् को आशीर्वाद भी दिया। भगवान् आंख मींच कर ज्ञान शक्ति का हरण न करते, तो ब्राह्मण उन्हें भगवान् समझ कर, न पूजा लेते और न आशीर्वाद ही देते।

ये लौकिकव्यवहारेण सम्यगागतास्तान् **पूजयती** (पूजयन्ती), मालाकुङ्कुमोपहारैर्बालाः पुरुषाः स्त्रियश्च सर्वे पूजिता इति पूल्लिङ्गनिर्देशः, ते चेत् सन्तो भवेयुः सर्वथा भगवदीयास्तथापि न दोषः स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **व्रजौकस** इति, व्रज एव तामस ओकः स्थानं येषामिति तामसभूयिष्ठ एव स्थिता न तां पदवीमारोढुमर्हन्ति, भगवांस्तु निरोधार्थमेव समागत इति लौकिकप्रकारेणैव प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकं स्वासक्तिं करिष्यन् रोदनं कृतवान् मदीया अप्येवं बहिर्मुखा जायन्त इति च ज्ञापयितुं, कल्पान्तरे ज्ञानशक्तितिरोभावे तस्मिन् शकटे दैत्यः कश्चिदाविष्टः स नेतुं समागत इति तन्निवृत्त्यर्थं **रोदनं** शकटाक्षेपश्चेत्याहुः, अत एव ब्रह्माण्डपुराणे "शकटासुरखण्डन" इतिभगवन्नाम, अत्र तु शकटमात्रं तद्धर्माभिनिवेशो वा, साधारणधर्माणां परित्यागासम्भवात्, एवं सर्वभावेन बहिर्मुखत्वे भगवता प्रबोध्यमानापि प्रकारं न गृहीतवतीत्याह **नैवाशृणोदिति**, एवकारेण श्रवणसम्भावनापि निवारिता, ननु श्रुत्वैव कार्यव्यग्रोपेक्षां कृतवतीति कथं न कल्प्यते तत्राह **वै** निश्चयेन, अन्यथा चित्तमर्धमप्यत्रागतं भवेत् तदाधिकरोदनेनापि समागच्छेत्, अतस्तन्निषेध एव, **सुतस्य रुदितं** श्रुतं न विलम्बं सम्पादयति, तत्रापि **सा** महता कष्टेन प्राप्तपुत्रा, अश्रवणे वा हेतुः पूर्वोक्तन्यायेन बहिर्मुखेति, तदा भगवान् रोदनमात्रेण कार्यासिद्धिं ज्ञात्वा **रुदन्नेव स्तनार्थी सन् चरणावूर्ध्वमुदक्षिपत्**, यथा बालकाश्चरणावूर्ध्वंघर्षणेन प्रसारयन्ति, वाक्यापेक्षया कृतेः प्रबलत्वात् तथाकरणं, अनेन भगवान् मनसैव निरोधं कथं न कृतवानिति परिहृतं, केवलक्रियायां क्रियाबुद्धिः स्यात्, शकटभङ्गेप्यक्लिष्टकारित्वं न स्यात्, एवं कृते त्वानुषङ्गिकं जातमिति न क्लिष्टं, पूर्वं रोदनं यशोदाया बहिर्मुखत्वज्ञापनायान्यथा मनसैव कथं न कुर्यात् ? अयं च निरोधः स्वार्थः, अन्यथा पञ्चानां परार्थानामग्रे वक्ष्यमाणत्वात् पञ्चपर्वाविद्या तेनैव नाश्यत इति व्यर्थमेतत् स्यात्, तच्च स्वप्रयोजनं स्तनार्थित्वं, स्वार्थमुत्पन्नस्य स्वनियोगावश्यकत्वज्ञापनाय स्तनमेवापेक्षते न तु पानं, तदग्रे वक्ष्यति स्वयमेव "नाहं भक्षितवा" निति मृत्प्रसङ्गे अतः पूतनास्तनपानसमये यावन्तो बालास्तद्भक्षिता अत्र समागतास्तेषामन्नार्थमवश्यं स्तनापेक्षा, दुष्टत्व पूतनासम्बन्धिक्रोधेनैव नाशितं, तान् स्वसमानत्वेन सम्पादयितुं स्वभोग्यगोपिकादर्शनदोषाभावार्थं तानेव तासु समारोपयितुं ज्ञानं चोपदेष्टुं प्रथमं स्वकीयमेव सर्वथा निर्दुष्टं तेभ्यो ददाति, ते च बहवः पीडिता भवन्ति, अतः स्तनेर्थित्वं, भक्त्यैव तेषां निस्तारो जात इति ख्यापयितुं **चरणयोर्व्यापार** उक्तः, अवतारविषयिणी भक्तिरतिपुष्टेति ज्ञापयितुं द्विवचनम् ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने आँखो का निमीलन[1] ब्राह्मणों की ज्ञानशक्ति तिरोहित करने के लिये किया था किन्तु इससे वहाँ स्थित सब की ज्ञान शक्ति भी तिरोहित हो गई, जिससे भगवत्कार्य की तुलना में लौकिक कार्य की प्रबलता हो गई । अतः सब का मन लौकिक कार्य में आसक्त हो गया । यद्यपि पूर्व के दो अध्यायों में की हुई लीलाओं से यशोदा का भगवान् में स्नेह रूप निरोध सिद्ध किया गया है, अतः यशोदा का लौकिक में मन आसक्त नहीं होना चाहिये था फिर भी, जो लौकिक कार्य में यशोदा का मन लगा है उसका कारण यह है कि यह लौकिक कार्य भगवान् से सम्बन्ध वाला है । इसलिये यशोदा की बुद्धि ऐसी हुई, जिससे इस संस्कार के लिये किए जाने वाले लौकिक कार्य करने में यशोदा का मन ऐसी उत्सुकता एवं अभिमान वाला हो गया, जो भगवत्सम्बन्धी कार्य गौण हो गया और लौकिक कार्य मुख्य एवं बलवान हो गये । इससे श्लोक में शुकदेवजी ने यशोदा जी को 'मनस्विनी' विशेषण देकर बताया है कि इस समय

---

१ —बन्द करना ।

यशोदा, लौकिक कार्य करने में अभिमान वाली है, जिससे भगवत्संबन्धी विशेष कार्य सब भूल गई है । केवल आये हुए बाल, स्त्री और पुरुषों का माला चन्दन उपहार आदि से पूजनादि करने में उत्साह पूर्वक भाग ले रही है । इस प्रकार लौकिक कार्य में आसक्त चित्त होने से, यशोदा बाहर और भीतर दोनों प्रकार से बहिर्मुख हुई । यशोदा जिनकी पूजा कर रही थी, यदि वे सन्त अथवा भगवदीय होते, तो भी कुछ दोष नहीं होता; किन्तु यशोदा जिनका पूजन कर रही थी, उनके रहने का स्थान तामस व्रज था, जिससे वे तामस थे, अतः पूजा के योग्य भी नहीं थे । इस प्रकार के कार्य से, यशोदा की बहिर्मुखता एवं लौकिक आसक्ति देख कर, भगवान्, जिनका प्राकट्य निरोध करने के लिये ही हुआ है, उन्होंने लौकिक प्रकार से ही, यशोदा का निरोध करने के लिये रोना प्रारम्भ किया । आचार्यश्री रोने का भावार्थ बताते हुए कहते हैं कि एक तो भगवान् इसलिये रोने लगे कि अहह ! मेरे स्नेही भी इस प्रकार बहिर्मुख हो जाते हैं और दूसरा रोने का कारण यशोदादि की अपने में आसक्ति कराना था । आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान् का नाम (शकटासुर खण्डन) भी किसी कल्प में था क्योंकि उस कल्प[1] में भगवान् ने जब आंखें बन्द कर, ज्ञान शक्ति का तिरोधान किया था, तब वहाँ धरे हुए शकट में, असुर ने प्रवेश किया । वह असुर भगवान् को लेने के लिये आया था। उस असुर का नाश करने से उस कल्प में भगवान् का शकटासुर खण्डन नाम प्रसिद्ध हुआ । यहाँ अब (सारस्वत कल्प में) शकट में असुर का प्रवेश नहीं हुआ, केवल शकट को ही तोड़ा है, उसके तोड़ने से भगवान् ने लौकिक पदार्थों में जो आसुर धर्म थे; उन पदार्थों में यशोदादिकों का जो अभिनिवेश (आसक्ति) हो गया था उस अभिनिवेश का नाश किया । क्योंकि मनुष्यों का जिनमें अभिनिवेश हो जाता है, उन साधारण धर्मों को मनुष्य छोड़ नहीं सकते । इस प्रकार, यशोदा सब तरह से बहिर्मुख होने से, भगवान् द्वारा सचेत कराने पर भी सचेत न हुई और सचेत होने के प्रकार को भी न समझ सकी । अर्थात् भगवान् का रोना जो मेरा लौकिक में अभिनिवेश हुआ है उसके छुड़ाने के लिये है । इसको न समझ सकी इसलिये केवल सुना नहीं, सो नहीं, किन्तु आसक्ति के कारण, यशोदा में श्रवण की सम्भावना भी न थी । इसलिये आचार्यश्री ने (एवं) शब्द दिया है । आचार्यश्री श्लोक में दिये हुए 'वै' अक्षर का भावार्थ बताते हैं कि यशोदा ने रुदन सुनकर, कार्य की व्यग्रता के कारण, रोने पर ध्यान नहीं दिया होगा, ऐसी शंका नहीं करनी । इसलिये शुकदेवजी ने 'वै' शब्द देकर बताया है कि वह लौकिक में इतनी आसक्त हो गई थी कि रोना सुना ही नहीं । यदि रोना सुना होता तो यशोदा का आधा भी चित्त पुत्र की तरफ हो आता, अधिक रोदन से तो चित्त यहाँ अवश्य होता । किन्तु यशोदा ने रुदन सुना ही नहीं । पुत्र का रोना, यदि कैसी भी माता सुने तो पुत्र के पास आने में क्षणमात्र भी विलम्ब न करे । यशोदा ने तो बहुत कष्ट से, वृद्धावस्था में पुत्र पाया है, वह यदि रुदन सुनती तो अवश्य

१—श्रीधरजी के अतिरिक्त अन्य टीकाकार कल्पान्तर की कथा को लेकर ही इस कल्प में भी शकट में असुर प्रवेश एवं उसका नाश मानते हैं ।

आकर पुत्र को ले लेती; इसलिये यह निश्चय से कहा जा सकता है कि यशोदा ने रुदन सुना ही नहीं। कारण कि आसुर भाव वाली वस्तुओं में अभिनिवेश होने से यशोदा बहिर्मुख हो गई थी। भगवान् ने जब देखा कि रोने से भी यशोदा की आसक्ति वहाँ से न छूटी, तब अपने चरणों को जोर से उछालने लगे, कारण कि वाणी[1] की अपेक्षा कर्तव्य प्रबल है। इसलिये भगवान् ने भी वाणी से कार्य की सिद्धि हुई न देख कर, कर्त्तव्य करने के लिये चरणों को उछाला। इससे भगवान् ने मन से ही निरोध क्यों नहीं किया, यह शंका भी मिटा दी। यदि भगवान् रोदन करने के अतिरिक्त केवल पादों को उछाल के शकट भंग करते तो बालक आदि यों समझते कि भगवान् को शकट तोड़ने में बहुत परिश्रम करना पड़ा। रोते रोते माता के आने से जैसे बालक स्वभाव से पैरों को ऊपर उछालते हैं वैसे ही श्रीकृष्ण ने भी रोकर माताओं को बुलाया। वह न आई तब पैरों को उछाला। पैरों के उछालने से शकट भंग का कार्य आनुषंगिक[2] हो गया। इससे गोपादिकों ने समझा कि भगवान् ने शकट भंग के लिये कोई परिश्रम नहीं किया है। पैरों के उछलने से शकट भंग स्वतः हो गया है। भगवान् का रोदन तो यशोदा की बहिर्मुखता जताने के लिये था, नहीं तो, मन से यशोदा का निरोध क्यों नहीं कराते। यशोदाजी का निरोध तो भगवान् ने अपने कार्य सिद्धि के लिये किया है। यदि यह निरोध भगवान् अपने लिये न करते तो दूसरों की पञ्चपर्वा अविद्या को नाश करने के लिये जो लीला भगवान् आगे करेंगे, जिनसे उनका निरोध सिद्ध होगा वे ही यहाँ करते। वे न कर, केवल रोदन वा पैरों को उछालने से शकट भंग किया, इससे जाना जाता है कि यह यशोदा का निरोध भगवान् ने अपने स्वार्थ के लिये ही किया है। इसलिये शुकदेवजी ने कहा है कि (स्तनार्थी) भगवान् स्तन की ही इच्छा वाले थे, न कि दूध के पीने की इच्छा वाले थे। स्तन की इच्छा क्यों की? इसको समझाते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि यशोदा के स्तनों में उत्पन्न हुआ दूध मेरे लिये है अतः उसका विनियोग मुझ में ही होना चाहिये। इसलिये केवल स्तन की इच्छा की। जब भगवान् को दूधपान करना नहीं था तो स्तन की इच्छा क्यों की। इस सन्देह को मिटाने के लिये आचार्यश्री कहते हैं कि जैसे मृत्स्नाभक्षण लीला में प्रत्यक्ष तो यों दीखने में आया कि मृत्तिका भक्षण कृष्ण ने किया है किन्तु कृष्ण के द्वारा मृद्भक्षण अन्तःस्थित बालकों ने किया था वैसे ही यहाँ भी भगवान् को अन्तःस्थित बालकों की भूख मिटाने के लिये स्तन की आवश्यकता हुई। इसलिये स्तन की इच्छा की यह कहा गया है। भगवान् ने उन स्व अन्तः स्थापित गोपबालकों का दुष्टत्व तो पूतना पर क्रोध करने से ही नाश कर दिया था। अब उन गोप बालकों को अपने समान बनाने के लिये, स्वभोग्य गोपिकाओं के दर्शन में प्रतिबन्धक दोषों को मिटाने के लिये उन गोप बालकों को गोपिकाओं में स्थापित करने के योग्य बनाने के लिये और ज्ञानोपदेश देने के लिये पहले अपने लिये उत्पन्न निर्दोष दूध उनको पिलाते हैं। वे गोप बालक

१—कहने से कर बताने में बल विशेष होता है।

२—एक कार्य करते हुए बीच में दूसरा कार्य अपने आप हो जाय उसे आनुषंगिक कहते हैं।

क्षुधा से बहुत पीड़ित थे इसलिये भगवान् स्तनार्थी हुए हैं। भक्ति से ही उनका निस्तार (उद्धार) हुवा, इसको प्रकट करने के लिये ही दो चरणों के उछालने की क्रिया हुई। दो चरणों से लीला तो अवतार दशा में ही हो सकती है। आचार्यश्री कहते हैं कि अवतार विषयिणी भक्ति (अवतार समय की भक्ति) ही अतिपुष्टि (विशेष अनुग्रह वाली) है, इसीलिये मूल में चरण शब्द द्विवचन[1] में दिया है॥ ६ ॥

आभास—एवं कृते यज् जातं तदाहाधःशयानस्येति।

आभासार्थ—भगवान् के चरण उछालने से जो कुछ हुआ उसका वर्णन निम्न श्लोक में किया गया है।

श्लोक—अधःशयानस्य शिशोरथानः प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत।
विध्वस्तनानारसकुप्यभाजनं व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम् ॥७॥

श्लोकार्थ—इसके पश्चात् शकट के नीचे पोढ़े हुए बाल रूप भगवान् के नवीन कोमल आम्रपत्र के समान कोमल एवं लाल चरण के लगने से, हिल कर शकट उलटा हो गया। उसमें धरे हुए अनेक प्रकार के रसों से भरपूर चर्म पात्र टूट गए और पहिया, धुरी एवं जुवाड़ा सब छिन्न-भिन्न हो गए।

सुबोधिनी—अधस्तादवलम्बे शकटस्य पृष्ठभागाधः पल्यङ्के शायितो भगवाञ् छायार्थं, यदि निरोधो नाङ्गीक्रियते तर्हि भवत्कृता छायापि मास्त्विति ज्ञापयितुं शकटाक्षेप इतिज्ञापयत्यधःशयानस्येति, **शिशो**रित्युत्थानासमर्थस्य, तथाबुद्धिः सम्पादितेति नान्यथा करणं, भगवतो भिन्नतया सम्बन्धित्वेन निरूपणं चरणस्यैव माहात्म्यज्ञापनार्थं, **अनः** शकटं, **अल्पकप्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं** सद् **व्यवर्तत** विपरीततया पतितं, तद्गतानां कार्याणां नाशस्त्वग्रे वक्ष्यते, सकार्यस्यानसो भङ्गो जातः, पूतनायां तु भगवत ओष्ठद्वयसम्बन्धो हस्तद्वयसम्बन्धश्च जात इति तदपेक्षयाधिकमाहात्म्यज्ञापनार्थमल्पसम्बन्धो वक्तव्यः, अत एव विचारक्रमेणैतानि चरित्राणि गृहीतानि, तदुक्तं द्वितीयस्कन्धविवरणे, अत्यन्तमल्पावल्पकौ प्रवालापेक्षयापि मृदू अल्पको वा प्रवालो नूतनाम्रपत्रमत्यारक्तं तदपेक्षयापि मृदु भगवच्चरणारविन्दं तथैवारक्तमूर्ध्वरेखायुक्तं च, तादृशाङ्घ्रिभ्यामङ्घ्रिणा वा हतमल्पं ताडितं सच् चलनेप्ययोग्यं विपरीततया पतितं, मारणसमये चरणस्य महत्त्वं जातं भविष्यतीतिशंकाव्युदासाय प्रवालतुल्यतया वर्णितं, मृदुत्वमात्रे दृष्टान्तो मा भवत्वित्याकृतावपि समानमिति वक्तुमल्पकता निरूपिता, तदपेक्षयापि मृदुत्वकथनं शकटादेः प्रत्युत सुखजनकमिति ज्ञापयितुं "पदा शकटोपवृत्त" इतिविचार एकमेव पदं गृहीतमत्र तु **चरणा**वित्युक्तं, समासे सन्दिग्धत्वात् करणैकस्यैव युक्तेत्यङ्घ्रिणा हतमितिसमासः, अतोवस्थासाधनवैपरीत्यं कार्ये निरूपितं, भाराक्रान्तमनो चालयितुं न शक्यमिति ख्यापयितुं विशेषणद्वयमाह

१—अनवतार दशा में भगवान् के चरणादि सर्वत्र अनन्त हैं—लेख

बाह्याभ्यन्तरभेदेन **विध्वस्तेति** विशेषेण ध्वस्तान्यधः पतितानि **नानाविधरसयुक्तानि** घृतमधुगुडदधिनवनीतादियुक्तानि **कुप्यभाजनानि** चर्मणा निर्मितानि रसस्थापनार्थं, कुप्यानि तस्मिन् देशे प्रसिद्धानि, अनेन तेषां स्थापनमपि भगवतो न सम्मतं सर्वनिषेधैर्भगवत एव विद्यमानत्वात्, भाजनपदेन तान्येव व्यवहारपात्राणीति ज्ञापितं, एवं शकटस्थितानां सर्वेषामधःपात उक्तः, न हि भगवदुपरि रसान्तरं स्थातुं शक्नोति, अतो भक्तैरल्पांशेनापि ते सर्वे निराकृताः, भिन्नरसवान् भगवदुपरि स्थितः स्वरूपतोपि नष्ट इत्याह **व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरमिति, व्यत्यस्ते** इतस्ततः पतिते **चक्रे तन्मध्ये** स्थितोक्षोपि **लोहमय** इतस्ततः पतितो यस्य विशेषेण **भिन्नं कूबरमग्रिमभागो** लम्बो यस्य, **व्यत्यस्तचक्राक्षं** च तद् **विभिन्नकूबरं** च, संसारकालचक्र उभयसंग्राहकश्चाहङ्कारो विशेषेणात्यन्तमस्तं गतो भवति, भक्त्येकदेशेनापि क्रियाशक्तेर्महत्त्वात् तथात्वमुचितमेव, **कूबरमुच्चस्थानमप्यस्तीति कूबरं** तद् विशेषेण कालात्मकेन **भिन्नं** भवत्येव, स्वभावत उच्चा अपि भगवद्विरुद्धधर्मा भक्त्यंशेन नश्यन्तीति, अनेन भगवांस्तद्गृहमेव दूरीकृतवानित्युक्तम् ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—अधःशयानस्य––पद का आशय बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि माता यशोदा, अपने पुत्र श्रीकृष्ण को धूप न लगे, इसलिये गाड़े की छाया में पोढ़ा कर चली गई थी। भगवान् माता के इस दुलार को तब अंगीकार करना चाहते थे जब कि माता श्रीकृष्ण में निरोध वाली होती अभी तो यशोदाबहिर्मुख है। इसलिये श्रीकृष्ण ने शकट को तोड़ कर माता को बता दिया कि बहिर्मुख हुई आपकी छाया भी मुझे नहीं चाहिये।

'शिशोः' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि उठने की भी जिसमें शक्ति नहीं हो ऐसे बालक भगवान् तो सर्वकरण समर्थ हैं, उनमें उठने की भी शक्ति नहीं है, यह कहना असंगतसा प्रतीत होता है। इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् तो सर्वकरण समर्थ हैं, उठकर भी शकट को उलटा कर सकते थे; किन्तु भगवान् ने सब की बुद्धि ऐसी बना दी थी, जो सब भगवान् को बालक ही समझते थे। इसलिये भगवान् ने उस बालपने के विरुद्ध उठकर गाड़ा उलटाना आदि कार्य न किया। उस गाड़े को चरण द्वारा उलटा कर अपने से भिन्न एवं केवल सम्बन्ध ही चरणों से बताया। चरण द्वारा शकट को उलटा करने से भगवान् ने अपने चरणों का माहात्म्य प्रकट किया। भगवान् के चरणों के भाव बताते हुए कहते हैं कि शुकदेवजी ने 'अल्पक' शब्द देकर यह कहा है कि भगवान् के चरण, आम्र के नवीन पत्ते तो लाल एवं कोमल होते हैं; किन्तु भगवान् के चरण उन पत्तों से भी कोमल एवं ऊर्ध्व रेखा वाले लाल थे। ऐसे दोनों चरणों से वा एक चरण से, ताड़ित वह भारी शकट, जो हिल भी नहीं सकता था, वह उलटा होकर गिरा इससे यह शंका भी मिटा दी कि मारण समय में चरण महान् हुए होंगे। गाड़े में धरे पदार्थों का नाश तो आगे (श्लोक के उत्तरार्ध में) वर्णन करेंगे। पूतना वध कार्य के माहात्म्य से भी, शकट भञ्जन का माहात्म्य विशेष है; क्योंकि पूतना के वध में पूतना को भगवान् के दो हाथ और दो ओष्ठों का स्पर्श हुआ था और यहाँ एक ही कोमल चरण का स्पर्श हुआ और वह चरण न केवल कोमल था; किन्तु उसकी आकृति भी वैसी छोटी ही थी। चरण कोमल एवं छोटे होने से, शकट को स्पर्श होते समय, किसी प्रकार का क्लेश तो न हुआ, किन्तु सुख ही हुआ। छठे श्लोक में 'चरणों' द्विवचन दिया है जिसका अर्थ दो पाद होते हैं, ७ वें श्लोक में 'अंङ्घ्रिहतं' समास है, जिसका अर्थ 'दो चरणों से' अथवा 'एक चरण'

से दोनों तरह हो सकता है। ६ वें श्लोक में 'पादेन' एक वचन देकर बताया है कि एक पाद से शकट उलटा कर दिया। इन तीनों को ध्यान में रख कर आचार्यश्री निर्णय करते हुए आज्ञा करते हैं कि यद्यपि भगवान् ने दो पैर उछाले थे; किन्तु गाड़े को एक का ही स्पर्श हुआ, इस एक चरण से ही गाड़ा उलट गया। शकट भञ्जन कार्य होने में, भगवान् की अवस्था (आयु) तथा साधन (नवीन आम्र पत्र समान मृदु पाद) दोनों ही विपरीत (कार्य करने में असमर्थ) थे; क्योंकि शकट, भार से ऐसा लदा हुआ था, जो कोई हिला भी न सके। दो विशेषण देकर, शकट के भीतरी और बाहर के भारीपन को सिद्ध किया है। १—गाड़े के भीतर के भाग में धरे हुए अनेक प्रकार के रसों वाले, घृत, मधु, गुड़, दधि एवं नवनीत से भरे हुए चर्म निर्मित पात्र, (जो उस देश में 'कुप्य' नाम से प्रसिद्ध हैं, 'भाजन' पद से जाना जाता है कि उस देश में व्यवहार में आते हैं) भी गाड़े के उलटे होने पर नीचे गिर पड़े। गाड़े में इन रसों से भरे हुए पात्र धरे थे यह कार्य भगवान् को अच्छा न लगा, क्योंकि जब मैं सर्वनिधि आपके पास विद्यमान हूँ तब दूसरे पदार्थों के (जो अनित्य नाशवान हैं उनको) इकट्ठे करने की कौनसी आवश्यकता है ? दूसरे सब से उत्तम नित्य रस जो मैं हूँ उसको तो नीचे धरा है और अनित्य रसों को ऊपर धरा है। इसलिये भगवान् ने शकट स्थित सब रसों का अधःपात करा दिया। आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान् से ऊपर अन्य रस (पदार्थ) ठहर नहीं सकते। (इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि जहाँ भगवान् विराजमान हों, वहाँ ऊपर कोई वस्तु नहीं धरनी चाहिये)। दूसरे विशेषण 'व्यत्यस्त····' का भाव बताते हुए कहते हैं कि शकट का बाहर का भाग तो बिना रस वाला था। और वह भी रसरूप भगवान् के ऊपर स्थित था, इसलिये वह स्वरूप से नष्ट हो गया, उसका एक एक अंग अलग हो गया। जैसे कि एक पहिया एक ओर दूसरा पहिया दूसरी ओर जा पड़े; धुरी टूट गयी; जुआ छिन्न-भिन्न हो गया। आचार्यश्री इस लीला के रहस्य को प्रकट करते हुए आज्ञा करते हैं कि जैसे शकट में दो चक्र थे, वैसे ही संसार के काल रूपी दो चक्र (जन्म-मरण) हैं जिनको अहङ्कार ने धारण कर रक्खा है। इस अहङ्कार का नाश हो तो संसार के चक्र (जन्म-मरण) नष्ट हो जावें। अहङ्कार का नाश भक्ति के एक अंग (श्रवण) से हो जाता है, जैसे यहाँ भक्ति के एक अंग चरण स्पर्श से शकट का नाश हुआ है। क्रिया-शक्ति भगवद्-भक्ति का एक देश भी अहङ्कारादि दोषों से बलवान् है यह उचित ही है। कूबर उच्च है; इसका आशय कहते हैं कि स्वभाव से उच्च होते हुए भी यदि वे भगवद्विरुद्ध धर्मवाले हैं, तो भक्ति के एक अंश से ही नष्ट हो जाते हैं। इससे भगवान् ने वह घर[1] ही दूर अर्थात् नाश कर दिया ॥ ७ ॥

१—इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि 'वह घर ही दूर कर दिया' इसका रहस्य यह है कि भगवान् ने शकट भंजन से अविद्याकृत संसार (अहन्ता ममता रूप) को उत्पन्न करने वाला घर ही दूर कर दिया, अर्थात् संसार ही नष्ट कर दिया।—प्रकाश

आभास——तदा लौकिकनाशात् तन्नाशद्वारा तत्कर्तरि भगवत्यभिनिविष्टा इति वक्तुं प्रथमतस्सर्वेषां तन्नाशचित्तत्वमाह ।

आभासार्थ——लौकिक[1] के नाश होने से सबका ध्यान नाश कर्त्ता भगवान् की ओर गया । परन्तु सबका ध्यान पहले टूटे हुए शकट की ओर गया जिसका वर्णन इस आठवें श्लोक में करते हैं ।

श्लोक——**दृष्ट्वा यशोदाप्रमुखा व्रजस्त्रिय औत्थानिके कर्मणि याः समागताः ।**
नन्दादयश्चाद्भुतदर्शनाकुलाः कथं स्वयं वै शकटं विपर्यगात् ॥ ८॥

श्लोकार्थ——औत्थानिक[2] कर्म के उत्सव में एकत्रित हुई यशोदा तथा प्रमुख व्रज स्त्रियाँ और नन्दादिक गोप इस अद्भुत् (शकट गिर जाने के) कार्य को देख के व्याकुल हुए और कहने लगे कि गाडा आप ही कैसे उलट गया ।

सुबोधिनी—दृष्ट्वेति, दूरे पतितमन एव **दृष्ट्वा** न तु भगवन्तं तत्सम्बन्धं वा । स्त्रीषु **यशोदा** मुख्या पुरुषेषु नन्दः, गोपिकानां ज्ञानं भविष्यतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **व्रजस्त्रिय** इति, तथापि "मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय" इतिन्यायेन गोपिका एव व्रजस्त्रियो भविष्यन्तीत्याशङ्क्याहौत्थानिके **कर्मणि याः समागता** इति, यशोदायाः साधारण्ये प्रवेशान्मुख्या अपि साधारण एवाभिनिविष्टा नन्दादयो-प्यौत्थानिकं कर्मेति कृत्वा गृह एव स्थिताः, अन्यतोपि समागता **अन्ये** चकारेणोक्ताः, स्त्रीणामपेक्षयाद्भुत-**दर्शनेनाकुला** जाताः, किं जातं किं भविष्यतीति शकटपाते सर्वे हेतुं विचारयन्तीत्याह **कथमिति**, स्वयमेम बलीवर्दा-द्याघातव्यतिरेकेणैव **वै** निश्चयेन **स्वयमेव शकटं विपर्य-गात्** विपर्ययं प्राप्तवद् विपरीततया परितश्च भिन्नतया शकलतश्चागाद कथं तावद्दूरे पतितमित्यर्थः ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ——'दृष्ट्वेति'——यशोदा आदि व्रज स्त्रियें और नन्दादि गोपों ने भगवान् को वा भगवान् का शकट के साथ जो सम्बन्ध था, उस ओर ध्यान न देकर, दूर गिरे हुए शकट को ही पहले देखा । स्त्रियों में मुख्य यशोदाजी थीं और गोपों में नन्दजी मुख्य थे । आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि 'व्रजस्त्रियः' शब्द से गोपिकाएँ (प्रकाशकार कहते हैं 'गोपिकाएँ' अर्थात् स्वामिनिएँ)

लेख—श्रीवल्लभलालजी कहते हैं कि १०-२७-१५ 'तोकायित्वारुदन्त्यन्ये' इस श्लोक में लिखा है कि गोपिकाएँ स्वयं शकट भंजन लीला करेंगी इससे उन्होंको इसका ज्ञान होगा । आचार्यश्री के इस कहने का तात्पर्य है कि इस समय यहाँ इस लीला को देखने वाली व्रज स्त्रियाँ हैं न कि गोपिकाएँ हैं ।

प्रकाश—यशोदाजी का साधारण्य (लौकिक) में प्रवेश हुवा तो 'मुख्यों' का भाव बताते हैं कि 'रोहिणी आदि स्त्रिओं' का भी उसमें प्रवेश हुआ । इसलिये नन्दादिक भी औत्थानिक कर्म है, ऐसा जानकर बाहर न जाकर गृह में ही रुके रहे ।

१—गृह; संसार । २—करवट लेने ।

होंगी ऐसा भ्रम किसी को हो, तो उस भ्रम निवारणार्थ श्रीशुकदेवजी ने 'औत्थानिके कर्मणि याः समागताः' पंक्ति देकर इस भ्रम का निवारण किया है। वे व्रज स्त्रियाँ गोपिकाएँ न थीं; किन्तु औत्थानिक कर्मोत्सव में जो भाग लेने के लिये आई थीं, वे स्त्रियाँ 'व्रजस्त्रिय' पद से समझनी। गोपिकाओं को तो इस लीला का ज्ञान होगा। 'च' अक्षर का भाव बताते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि बाहर से भी आए हुए गोप इस अद्भुत् कार्य को देखकर स्त्रियों से भी विशेष व्याकुल हुए। और सब कहने लगे कि अरे क्या हुआ ? क्या होगा ? शकट गिरने पर सब विचार करने लगे कि यह 'कथं' कैसे स्वयं गिरा ? इसमें बली वर्द (बैल) आदि तो शकट में जुटे नहीं थे, जिन्होंने उसे गिराया हो, इसलिये निश्चय से यह शकट उलटा हो, इधर-उधर टुकड़े होकर दूर जा के पड़ा है ॥ ८॥

आभास--भगवत्यत्यन्तमसम्भावना तेनान्योक्तेपि निमित्ते तेषां विश्वासो न जातम् इत्याहद्वाभ्याम् 'अचुरिति'।

आभासार्थ—भगवान् की कृति में असम्भावना समझने वालों को दूसरों के कहने पर भी विश्वास न हुआ। इसका वर्णन निम्न दो श्लोकों से करते हैं।

श्लोक--**ऊचुरव्यवसितमतीन् गोपान् गोपीश्च बालकाः।**
रुदतानेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ--वहाँ स्थित बालकों ने संदेहग्रस्त (शकट कैसे गिरा ? किसने गिराया ?) गोप एवं गोपियों को कहा कि यह शकट इस बालकृष्ण ने ही रोते-रोते अपने एक पैर से गिरा दिया है। इसमें किसी प्रकार के सन्देह करने की आवश्यकता नहीं।

सुबोधिनी—ननु विपरीतभावनायुक्तेभ्यो न वक्तव्यमितिसिद्धान्तात् कथमुक्तवन्त इत्याशङ्क्याह **बालका** इति, ज्ञानवन्तोपि विवेकरहिताः परस्वभावाधिकारादिकं न विचारितवन्तः, तर्हि कथं ज्ञानवत्त्वमित्याशङ्क्य तेषां श्रोतॄणां विपरीतज्ञानं स्वभावदोषश्च नास्तीत्याहाव्य**वसितमतीन् गोपान् गोपीश्चे**ति, न व्यवसिता निश्चयं प्राप्ता मतिर्येषां, उपायान्वेषणपरा एव न तु विपरीततया किञ्चिन्निश्चितवन्तस्तथा सति न वक्तव्याः स्युः, गोपा गोप्य इति स्वभावतो दोषाभावो गोरक्षणधर्मपातिव्रत्यधर्मश्चोक्तः, चकारात् तादृशा एव ब्राह्मणाः, अन्येपि, उपायान्वेषणेपृष्टेनापि वक्तव्यमित्यनेन बालकेन **रुदतैतदनः पादेन क्षिप्तं नास्त्यत्र संशयः**, न हि दृष्टेनुपपन्नं नाम व्याघातात्, दृष्टानुसारिण्येव कल्पना च कर्तव्या, अतः संशयाभाव इति बालाभिप्रायः, रोदनं निमित्तमिति नास्यापि दोषः, कर्तृकरणयोरसम्भावनया नाङ्गीकृतवन्तः ॥ ९ ॥

लेख—श्रीवल्लभलालजी कहते हैं कि १०-२७-१५ 'तोकागित्वारुदन्त्यन्ये' इस श्लोक में लिखा है कि गोपिकाएँ स्वयं शकट भंजन लीला करेंगी इससे उन्होंको इसका ज्ञान होगा। आचार्यश्री के इस कहने का तात्पर्य है कि इस समय यहाँ इस लीला को देखने वाली व्रज स्त्रियाँ है न कि गोपिकाएँ हैं।

प्रकाश—यशोदाजी का साधारण (लौकिक) में प्रवेश हुआ तो 'मुख्यों' का भाव बताते हैं कि 'रोहिणी आदि स्त्रियों' का भी उसमें प्रवेश हुआ इसलिये नन्दादिक भी औत्थानिक कर्म है ऐसा जान कर, बाहर न जाकर, गृह में ही रुक रहे थे।

व्याख्यार्थ—आचार्य श्री 'बालका: 'शब्द का भाव बताते हैं कि भगवान् के लिये जिनके अन्त:करण में विपरीत भावना हो, उनको भगवान् द्वारा की हुई लीला नहीं सुनानी चाहिये यह शास्त्र का सिद्धान्त है। तब क्यों बताई गई। इसलिये श्रीशुकदेवजी ने 'बालका' पद दिया हैं; जिसका आशय कहते हैं कि वे (बालक) ज्ञान वाले थे; किन्तु उनमें विवेक (छानबीन करने की बुद्धि) नहीं थी, इसलिये गोप गोपियों के अधिकार और स्वभाव का विचार न कर सके। जब उन (बालकों) में विवेक नहीं था तो ज्ञान वाले कैसे कहते हो ? इसके उत्तर में आज्ञा करते हैं कि बालकों को यह ज्ञान था कि जिनको हम सुना रहे हैं, उनमें विपरीत ज्ञान का स्वभाव दोष नहीं है, वे केवल इसका (शकट किसने गिराया) निर्णय अब तक नहीं कर सके हैं। अभी तक इसका उपाय (कारण) ढूंढने में ही लगे हुए हैं न कि कुछ भी विपरीत चिन्तन करते हैं। यदि विपरीत चिन्तन करते, तो कहने के योग्य न होते ! ये गोप और गोपियाँ दोनों स्वभाव से निर्दोष हैं। गोपों का धर्म गौ-रक्षा करना है, गोपियों का धर्म पातिव्रत्य पालना है। 'च' अक्षर का आशय कहते हैं कि ब्राह्मण भी वैसे ही निर्दोष एवं धर्मपालक हैं, इस प्रकार दूसरे भी। इससे जाना जाता है कि वे बालक ज्ञानी थे, ज्ञानी होने के कारण ही उन्होंने समझा कि जो कारण ढूंढ रहे हो उसको बिना पूछे भी कहना चाहिये। इसलिये बालकों ने उनको कह दिया कि इस बालक ने रोते हुए एक पैर से यह शकट दूर फेंक दिया। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है क्योंकि हमने यह प्रत्यक्ष देखा है। प्रत्यक्ष में किसी प्रकार का विरोध नहीं करना चाहिये। प्रत्येक कल्पना प्रत्यक्ष के अनुसार अनुसरण करनी चाहिये। इसलिये बालकों की सम्मति है कि इसमें संशय का अभाव है। इसके फेंकने का कार्य बालक ने किया है, तो वह दोषी है। इसके उत्तर में ही बालकों ने कहा है कि इसका भी दोष नहीं है क्योंकि इसके गिरने का निमित्त कारण बालक का रोना ही है। कर्ता (भगवान्) और कारण (पाद) से यह कार्य होने जैसा नहीं है। भगवान् बालक और पैर कोमल, ये दोनों शकट को गिरा नहीं सकते। यह असम्भावना बालकों ने तो अंगीकार न की, किन्तु गोप गोपियों को फिर भी विश्वास न हुआ ॥ ६ ॥

आभास—प्रत्यक्षमेतत् प्रत्यक्षमूलकं च वाक्यं तर्क विरुद्धं नाङ्गीकर्तव्यमिति तदाह न ते श्रद्दधिरे गोपा इति।

आभासार्थ—इस निम्न श्लोक में कहते हैं कि गोपों ने बालकों के वचनों पर विश्वास न किया, क्योंकि प्रत्यक्ष भी तर्क विरुद्ध हो तो नहीं मानना चाहिये। इसलिये शुकदेवजी कहते हैं कि 'न ते श्रद्दधिरे गोपा'।

श्लोक—**न ते श्रद्दधिरे गोपा बालभाषितमप्युत ।**
अप्रमेयं बलं तस्य बालकस्य न ते विदुः ॥ १० ॥

श्लोकार्थ—उन गोपों ने बालकों के कहने पर भी विश्वास नहीं किया कारण कि वे गोप उस बालक (भगवान्) के अप्रमेय बल को नहीं जानते थे।

सुबोधिनी—गोप्यस्तु मध्यस्था जाताः, त इति बहिर्मुखाः, ज्ञानं तु जातं, अत्यन्तासत्यप्यर्थे शब्दाज् ज्ञानोत्पत्तिसम्भावत्, अतो ज्ञातवन्तो न तु श्रद्दधिरे, यतो गोपा अलौकिकज्ञानरहिताः, हेत्वन्तरमप्याह **बालभाषितमप्युतेति**, बाला भ्रमादहष्टमपि वदन्ति, भूतादिना तथा कृते क्षिप्तोपि पादोन्यथासिद्धः करणत्वेन ज्ञात इति, बालास्तु भगवत्परा भगवत्सामर्थ्यं भूताद्यभावं च दृष्टवन्तः, अन्यैस्तु तद्दर्शनाभावात् स्वप्रतीतिसिद्धमेवाङ्गीक्रियत इति, अश्रद्धायां हेतुमाहा**प्रमेयमिति**, **बालकस्य बलं न ते विदुः**, यद्यपि बलं न प्रत्यक्षं तथापि कार्येणानुमीयते, स्वस्मिन् कार्यकरणभावस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, यद्ययं बलिष्ठः स्यात् स्वयमप्यन्तत उत्तिष्ठेत् कार्यान्तिरं वा कुर्याद् रोदनं च कुर्यात्, अतो नैयायिकवदिदानीन्तनमीमांसकवद् वा भ्रान्ता **बलं न विदुरित्यर्थः**, तत्र हेतुर**प्रमेयमिति**, न तेषां दोषो नापि तर्कस्य, किन्तुतस्य **बालकस्य बलमेवाप्रमेयं** प्रमातुमयोग्यम् "अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" इति तु न तेषां बुद्धिः, अलौकिकत्वनिश्चयाभावात् सन्देहस्त्वनेन जातः, जिज्ञासोत्पादिका तु पूतना, वसुदेववाक्यपूतने च सन्देहोत्पादिके, यद्यपि बालका अलौकिकं जानन्तीत्यपि न जानन्ति तथापि मुख्येनैव चरितार्थत्वादेकमेवोक्तम् ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ—गोपों ने बालकों के वचनों पर विश्वास नहीं किया*। श्लोक में दिये हुए 'ते' अक्षर का भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं कि वे गोप, बहिर्मुख (लौकिक में आसक्ति वाले) थे। उनको बालकों के वचनों से यह ज्ञान तो हो गया कि यह शकट इस बालक ने अपने चरण से दूर फेंक दिया है इसलिये इस शकट की यह स्थिति हुई है। झूठी बात का भी शब्द से ज्ञान हो जाता है यह तो सत्य थी। इसको जान तो लिया; किन्तु विश्वास (यह छोटा बालक ऐसे शकट को कैसे फेंक सकेगा इस प्रकार के असम्भावना दोष ग्रस्त होने से) नहीं किया, क्योंकि गोप अलौकिक ज्ञान से हीन थे, अथवा यह जानकर किये तो बालक हैं; बालक भ्रम से, न देखा हुआ भी कह देते हैं; यह शकट, भूत, प्रेत आदि ने गिराया हो, यह न समझ कर बालक के चरण को ही कारण (फेंकने वाला) समझ लिया हो। आचार्यश्री कहते हैं कि इस प्रकार गोपों का सोचना इसलिये है कि वे बालक के स्वरूप को नहीं जानते हैं। बालक तो भगवत्परायण हैं और भगवान् के सामर्थ्य और भूतादिकों के अभाव को देख चुके हैं। दूसरों (बालकों के अतिरिक्त अन्य गोपादिकों) ने ये दोनों ही (भगवान् की सामर्थ्य और भूतादिकों का अभाव) देखे नहीं है। इसलिये जैसी उन्हें प्रतीति हुई है वैसा ही उन्होंने अंगीकार किया है। उनको (गोपादिकों को) अश्रद्धा क्यों हुई ? इसके उत्तर में श्री शुकदेवजी ने कह दिया है कि बालक (कृष्ण) का बल अप्रमेय[1] यद्यपि बल, आँखों से देखा नहीं जाता है तो भी कार्य से उसका अनुमान किया जा सकता है। अपने में कार्य एवं कारण भाव प्रत्यक्ष सिद्ध होते हैं। जो यह बालक इतना बलवान होता तो स्वयं उठ खड़ा हो जावे और दूसरे

* श्रीलालूभट्ट कहते हैं कि गोपों के विश्वास न होने का कारण यह था कि उनमें अभी तक असम्भावना दोष बलिष्ठ था। गोपियां तो मध्यस्थ हो गईं, गोप और बालकों के संवाद को सुनती रहीं अपनी सम्मति कुछ भी नहीं दी—'**योजना**'।

१—जो जीवबुद्धि से न समझा जावे।

कार्य भी करने लगे, रोदन न करे। इस प्रकार तर्क के करने से नैयायिक एवं मीमांसकों के समान वे गोप भी भ्रान्त हो गये जिससे भगवान् के बल को न जान सके; कारण कि भगवान् का बल अप्रमेय[1] है। इसलिये न उन गोपों का दोष है और न तर्क का दोष है; किन्तु उस बालक का बल ही अप्रमेय[1] है। इससे शास्त्र में कहा गया है कि 'अलौकिक भावों का निर्णय तर्कों से नहीं करना चाहिये' इस शास्त्र को समझने जैसी उन गोपों की बुद्धि नहीं थी। यह अलौकिक बालक है उसकी लीला भी अलौकिक है। ऐसा निश्चय न होने से ही गोप संदेहग्रस्त रह गये। पूतना के चरित्र से जिज्ञासा (क्या शकट भी बालक ने गिराया ? ऐसी जानने की इच्छा) तो पैदा हुई और वसुदेवजी के वचन हैं कि गोकुल (व्रज) में उत्पात हो रहे हैं। इन दोनों से दो प्रकार के विचार उत्पन्न हुए और ये लोग बालक को अलौकिक जानते हैं यह भी गोप समझ नहीं सके। तो भी मुख्य से (बालकों के अज्ञान से) कार्य सिद्ध होता है। इसलिये शुकदेवजी ने श्लोक में कहा है कि गोपों ने एक अविश्वास ही किया ॥ १० ॥

आभास—ततोऽत्यन्तमविचार्य लौकिक एव प्रवृत्त इत्याह रुदन्तमित्यादिसप्तभिः।

आभासार्थ—इसके अनन्तर विशेष विचार विमर्श के बिनाही यशोदा लौकिक कार्य में ही प्रवृत्त हुई। इसका वर्णन निम्न सात श्लोकों से करते हैं।

श्लोक—**रुदन्तं सुतमादाय यशोदा ग्रहशङ्किता।**
कृतस्वस्त्ययनं विप्रैः सूक्तैः स्तनमपाययत् ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—यह कन्हैया किसी ग्रह के कारण रो रहा है, इस प्रकार शंकित हृदय वाली यशोदा ने रोते हुए पुत्र को लेकर विप्रों से रक्षार्थ स्वस्तिवाचन, शान्ति सूक्त आदि पढवा कर, बालक के दोष दूर करवाये, पश्चात् उसको स्तन पिलाया।

सुबोधिनी—चतुष्टयमत्र कर्तव्यमुत्पातोयमिति रोदनप्रतीकारो ग्रहकृतोपद्रवस्य बालकानिष्टस्य निवृत्तिः शकटस्थापनं शकटसम्बन्ध्युत्पातपरिहारश्च, वस्तुतस्तु द्वयमेव कर्तव्यं रोदनप्रतीकारः शकटस्थापनं च, तथा सति लौकिकबुद्धिर्दृढा भविष्यतीति तन्निवृत्त्यर्थं भगवदिच्छयोत्पन्नभ्रमस्य वर्णनं भगवच्चरित्रत्वाय, तत्रादौ भगवद्विषयकं द्वयमाह, तेषामज्ञानस्थापनार्थं भग्नेपि शकटे रोदनं, ग्रहसम्भावनायामपि सुतत्वाद् ग्रहणं यशोदेति लौकिकबुद्धिनिपुणेति ग्रहशंकासम्भावना, कश्चिद् बालग्रहादिस्तत्र प्रविष्टो रोदनं कारयतीति-सम्भावना, अतः शीघ्रं स्तनं न दत्तवती किन्त्वभिज्ञैर्ब्राह्मणैः कृतं स्वस्त्ययनं यस्य रक्षाबन्धनाभिमन्त्रादिकं स्वस्त्ययनं सुष्ठूक्तं येषां वचनं प्रमाणमतस्ते रक्षां कृत्वा तद्गतदोषादर्शनात् सुष्ठूक्तवन्तः, ततः स्तनमपाययत् ॥ ११ ॥

१—जो जीवबुद्धी से न समझा जावे।

व्याख्यार्थ—यशोदा लौकिक में प्रवृत्त होकर चतुर्विध कार्य करने का प्रयत्न करने लगी।

(१) यह रोना भी एक प्रकार से उत्पात है इसलिये रोने का प्रतीकार करना (रोदन बंद कराना चाहिये)।

(२) अनिष्ट ग्रह कृत उपद्रव से उत्पन्न बालक के अनिष्ट की निवृत्ति करनी।

(३) शकट का पूर्ववत् स्थापन करना।

(४) शकट सम्बन्धी उत्पातों को हटाना।

वास्तविक रीति से तो दो ही करने चाहियें—

(१) रोदन का प्रतीकार, और

(२) शकट का पूर्ववत् स्थापना।

ये चारों कर्त्तव्य करने से लौकिक[1] बुद्धि दृढ़ होगी। इस लौकिक दृढ़ बुद्धि की निवृत्ति[2] के लिये चरित्र वर्णन करते हुए पहले भगवत्सम्बन्धी (भ्रम से स्वीकृत) दो चरित्रों का वर्णन करते हैं। उनमें अज्ञान स्थापन के लिये (इनको मेरे स्वरूप का अज्ञान ही रहे—जिससे ये समझने लगें कि यह शकट इस बालक के चरण से नहीं फेंका गया है।) शकट टूट जाने के बाद भी रोते रहे। अनिष्ट ग्रह के कारण भी रोना आता है, इसकी सम्भावना से बालक को अपना पुत्र ही समझ, यशोदा ने पुत्र को ले लिया। यशोदा नाम देने का आशय, आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि वह लौकिक बुद्धि में निपुण थी; इसलिये अनिष्ट ग्रह की शंका की सम्भावना थी। कोई अनिष्ट बाल ग्रह आदि का बालक में प्रवेश हुआ है। वह बालग्रह, इसको रुलाता है। ऐसी सम्भावना (कल्पना) है। इस कारण से बालक को शीघ्र स्तन भी नहीं दिया। पहले बाल ग्रहादि से उत्पन्न दोषों को दूर कराने के लिये अभिज्ञ (पूर्ण ज्ञानी) ब्राह्मणों द्वारा रक्षा-बन्धनादि के लिये स्वस्ति-वाचन आदि पढ़वा कर दोषों को निवृत कराया। जब देखा कि अब दोष देखने में नहीं आते हैं तब स्तन पिलाए॥ ११॥

आभास—एवं भगवति द्वयमुक्त्वा शकटे द्वयमाह षड्भिर्भगवद्गुणैरेवानिष्ट-निवृत्तः।

आभासार्थ—ग्यारहवें श्लोकों में भगवत्सम्बन्धी कार्य कहे। अब छः श्लोकों से शकट सम्बन्धी दो कार्य कहेंगे भगवान् के छः गुणों से अनिष्ट निवृत्ति होगी।

१—लौकिक बुद्धि का आशय यह है कि बालक को भगवान् न समझ कर, लौकिक बालक ही हैं ऐसी बुद्धि यशोदाजी की दृढ़ हुई।—प्रकाश

२—इस दृढ़ लौकिक बुद्धि की निवृत्ति के लिये गो० श्रीवल्लभजी इसका आशय बताते हैं कि ग्रहों से उत्पन्न उपद्रव, तथा शकट के कारण पैदा हुए उत्पात की निवृत्ति के लिए भगवदिच्छा से पैदा हुए भ्रम अर्थात् ग्रह द्वारा उत्पन्न अनिष्ट रूप भ्रम का वर्णन इसलिए किया गया है कि वह भगवान् का चरित्र हैं।—लेख

श्लोक—**पूर्ववत् स्थापितं गोपैर्बलिभिः सपरिच्छदम् ।
विप्रा हुत्वार्चयाञ्चक्रुर्दध्यक्षतकुशाम्बुभिः ॥ १२ ॥**

श्लोकार्थ—बलवान् गोपों ने उपकरण सहित शकट को पहले की तरह स्थापित (खडा) किया । ब्राह्मणों ने होम करके दही, अक्षत, कुश और जल से (शकट का) पूजन किया ।

सुबोधिनी—पूर्ववदिति, यथा तस्यानसः संस्थानं पूर्वमासीद् यथा वा कुप्यस्थितिस्तदाह **पूर्ववदेव गोपैः स्थापितमिति**, बलिभिरिति तस्य महत्त्वमुक्तं, **परिच्छदा**-दिसहितं, तस्य परितो भागा एव **परिच्छदाः**, अथवा पूजार्थं **परिच्छदं** वा सम्पादितवन्तः, तादृशं शकटमेव शकटाधिष्ठात्रीं देवतां तत्रावाह्य **विप्रा**स्तदभिज्ञा विशेषेण रिक्तपूरणसमर्थाः, प्रथमतोनिष्टनिवृत्यर्थं सामान्यतो होमं कृत्वाज्येन व्याहृतिभिः सर्वत्र निवृत्ते सामान्यहोमः पश्चात् तच्छकटमर्चयाञ्चक्रुर्दधिमिश्रिता अक्षतास्तस्य परितः स्थापिताः कुङ्कुमाक्षता इव कुशसहितानि प्रोक्षणजलानि च, ब्राह्मणैः क्रियमाणं समन्त्रकमेव भवति ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ—'पूर्ववत्' पद का भावार्थ बताते हैं कि जिस प्रकार यह गाड़ा पहले स्थित था और इसमें रस (भरे हुए) रखने के चर्म पात्र धरे हुए थे वैसे ही गोपों ने शकट को खड़ा कर दिया । साधारण गोपों ने खड़ा नहीं किया; किन्तु बलवान् गोपों ने खड़ा किया क्योंकि वह गाड़ा बड़ा वजनदार था उसको साधारण गोप खड़ा नहीं कर सकते थे । इसलिये शुकदेवजी ने गोपों का विशेषण 'बलिभिः,' श्लोक में दिया है। गाड़े के एक भाग को ही खड़ा नहीं किया था; किन्तु उसके सब अवयव भी उसमें पूर्व की तरह जोड़े गये थे इसलिये वह भारी हो गया था । इसको बताने के लिये श्लोक में 'सपरिच्छदम्' पद श्री शुकदेवजी ने कहा है । आचार्यश्री 'सपरिच्छदम्' पद को दूसरा आशय भी बताते हैं कि 'सपरिच्छदम्' पद से शुकदेवजी का यह भी आशय है कि गोप गोपियाँ पूजा के लिये सर्व सामग्री लाई थीं । ऐसे महान् शकट में उसकी अधिष्ठात्री देवता का विप्रों द्वारा आह्वान किया गया। 'विप्र' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि वे ब्राह्मण जो पूर्ण जानकार हों और त्रुटि की पूर्णता कर सकें । इसलिये इस कार्य के लिये विप्रों को बुलाया गया था । उन विप्रों ने पहले अनिष्ट निवृत्ति के लिये साधारण रीति से होम किया । घृत से व्याहृति पूर्वक होमकर, उससे निवृत्त होने के अनन्तर निम्न प्रकार से उस शकट की पूजा करने लगे । उस शकट के चारों तरफ दधि मिश्रित अक्षत धरे गए और कुंकुम से लाल किये हुए अक्षत एवं कुश सहित प्रोक्षण जल तैयार किए गए। ये सब विधि पूर्वक तैयार कर इनसे ब्राह्मणों ने मन्त्र द्वारा शकट का पूजन किया । ब्राह्मण जो कर्म करते हैं वह मन्त्रों से ही करते हैं ॥ १२ ॥

आभास—एवं सामान्यत उभयोः प्रतीकार उक्तः, यशोदाप्रेरणयैवैतदुभयं जातं । नन्दस्तु विशेषाकारेण द्वयमेकत्र स्थापयित्वा शान्तिं कृतवानित्याह येसूयानृतेतिचतुर्भिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार दोनों (भगवान् में ग्रहादि की शंका और शकट के उत्पात) का उपाय कहा (किया) । यशोदाजी की प्रेरणा से ही ये दो हुए । नन्दजी ने तो दोनों (भगवान् एवं शकट को) एक स्थान पर स्थापित कर शान्ति कराई । इसका 'येऽसूया' आदि ४ श्लोकों में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**येऽसूयानृतदम्भेर्ष्याहिंसामानविवर्जिताः ।**
न तेषां सत्यशीलानामाशिषो विफलाः कृताः ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—असूया, अनृत, दम्भ, ईर्ष्या, हिंसा और अभिमान से रहित जो ब्राह्मण हैं, उन सत्यशील ब्राह्मणों के आशीर्वचन व्यर्थ नहीं होते हैं ।

सुबोधिनी—नन्दस्यादौ ब्राह्मणेषु वैशिष्ट्यबुद्धिस्ततः शकटे समारोप्याभिषेकस्ततः स्वस्तिवाचनादिपूर्वकं होमो दानं च, एवं कृतस्य वैयर्थ्याभावसाधनं च पञ्चमे वक्ष्यति, तत्रादौ ब्राह्मणेषु महत्त्वबुद्धिर्जातेत्याह य इति, ब्राह्मणे चेदलौकिकी बुद्धिस्तद्वाक्याद् भगवत्यप्यग्रे भविष्यतीति सूचितं ब्राह्मणाः स्वभावत उत्तमा अविकृतब्रह्मस्वरूपा दोषषट्केन तु ते प्राकृता भवन्ति, भगवति तु षड् गुणा अधिकाः, निर्दुष्टो ब्राह्मणो धर्मी भगवांश्चैकस्तुल्यो वा, अतो यथा भगवद्विचारितं सत्यमेव भवति तथा ब्राह्मणोक्तमपि सत्यं भवति कृतं तु सर्वेषां पूर्वाविरोधि, तत्र ब्राह्मणेषु षड् दोषास्तत्सामर्थ्यप्रतिबन्धकास्तद्रहितास्तु निर्दुष्टास्तान् दोषान् वर्जनार्थं गणयति, कामक्रोधलोभा दोषा अप्यवस्थाविषयभेदेनैव दोषा भवन्तीति ते न गणिताः, तत्कार्यभूता एव सर्वावस्थासु सर्वविषया ये दोषास्ते दोषा इति षड् गण्यन्ते, **असूया** मुख्यो दोष, अदुष्टे दोषारोपणात्, अयं बाह्यविषयको दोषः **अनृतं** वाचनिको मिथ्याभाषणरूपः, **दम्भः** परस्य स्वोत्कर्षख्यापकचेष्टादिः, 'निमित्ताभावे तु नैमित्तिकाभाव" श्चेत् **दम्भः ईर्ष्या** परगुणानामसहनेन दोषचिन्तनं मानसं, ततो **हिंसा** मारणं, तस्मिन्नपि सम्पन्ने **मानोभिमानः**, एवमेकेनैव त्रिदोषेण प्राणी नष्टो भवति किम्पुनर्द्वयेन ? असूयानृते दम्भहिंसे ईर्ष्यामानौ वाक्कायमनसामेत एव दोषाः, एतद्विवर्जिताश्चेत् **तेषामाशिषो न विफलाः कृता** भवन्ति, विफलकर्तारस्तु निवृत्ता इति, ननु प्रकृतिसम्बन्धो वर्तत इति कायवाङ्मनोदोषनिवृत्तावपि स्वभावदोषस्य विद्यमानत्वात् कथं निर्दुष्टतेत्याशङ्क्याह **सत्यशीलानामिति**, **सत्यमेव शीलं** स्वाभाविको धर्मो येषां, यद् भगवतः सत्यरूपमुक्तं तदेव तेषां स्वभावः सत्यव्रतादिः, एतादृशा ब्राह्मणा ब्रह्मविदः, **तेषामिति** पुनरनुसन्धानं वाक्यसमये दोषाभाववत्त्वज्ञापनार्थम् ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—नन्दजी की ब्राह्मणों में विशिष्ट बुद्धि है उसका वर्णन पहले (१३ वें श्लोक में) करते हैं । उसके पीछे शकट में भगवान् को पधरा कर 'अभिषेक' कराने का १४ वें श्लोक में, 'स्वस्तिवाचनादि' पढ़वा कर होम कराने का, १५ वें श्लोक में और दान देने का वर्णन १६ वें श्लोक में किया गया है । इस प्रकार की कृति विफल नहीं है । इसका कारण १७ वे श्लोक में कहेंगे ।

इनमें से पहले ब्राह्मणों में उत्तमत्व बुद्धि हुई इसका वर्णन करते हैं 'ये' जो ब्राह्मणों में अलौकिक बुद्धि होगी तो उनके वचनों[1] से भगवान् में भी अलौकिक बुद्धि हो सकेगी ऐसा सूचित

१—ब्राह्मणों के वचनों में श्रद्धा होने से—अनुवादक ।

किया*। ब्राह्मण स्वभाव से उत्तम हैं और उनके स्वरूप में भी किसी प्रकार का विकार नहीं है इसलिये वे ब्रह्म स्वरूप हैं किन्तु वे ब्राह्मण, असत्यादि छः दोषों के होने से प्राकृत हो जाते हैं। भगवान् में छः दोष तो नहीं हैं किञ्च विशेष ऐश्वर्यादि छः गुण हैं। दोष रहित ब्राह्मण[1] एवं धर्मी ब्राह्मण एक ही हैं अथवा निर्दोषी ब्राह्मण भगवान् के समान हैं। इस कारण से जैसे भगवान् का विचारा हुआ कार्य, सत्य ही होता है वैसे ही निर्दोषी ब्राह्मण का वचन भी सत्य होता है। कर्म तो, सब का पूर्व से अविरोधी हो, तो सत्य होता है[2]। ब्राह्मणों के बल-शक्ति के प्रतिबन्धक असूयादि छः दोष हैं। यदि वे दोष ब्राह्मणों में न हों तो ब्राह्मण निर्दोष हैं, उनका बल कोई नहीं रोक सकता है। उन दोषों को छुड़ाने के लिये उनकी गणना करते हैं। काम, क्रोध और लोभ ये तीन दोष अवस्था और विषय भेद से दोष कहे जाते हैं। इसलिये इनकी दोषों में गणना नहीं की गई है। उनके कार्य रूप दोष, जो सब अवस्थाओं में और सब विषयों में सदैव रहते हैं, वे दोष हैं। वेदोष छः हैं। इन दोषों में मुख्य दोष—

(१) 'असूया' गुणों में भी दोषों का आरोपण करना है, यह दोष बाह्य विषयक है।

(२) 'अनृत' झूठ बोलना वाचनिक, वाणी का दोष है।

(३) 'दम्भ' दूसरों को अपनी उत्तमता दिखाने के लिये चेष्टा करना निमित्त (कारण) जो न हो, तो 'नैमित्तिक' कार्य नहीं होता है, जैसे कि दूसरों को अपनी उत्तमता दिखानी हो तो उस प्रकार की चेष्टा की जाती है उसे दम्भ कहते हैं।

(४) 'ईर्ष्या' दूसरों के गुणोत्कर्ष का सहन न होने से उसके दोषों को ढूंढना यह मानस दोष है।

(५) 'हिंसा' दूसरों को मारना व सताना 'हिंसा' दोष है। उनके होने पर (दूसरों को मारने व सताने पर) जो गर्व होता है वह

(६) 'मान' या अभिमान दोष है।

इस प्रकार एक ही त्रिदोष (ईर्ष्या, हिंसा और मान) से प्राणी का नाश होता है यदि दो

---

* इससे आचार्यश्री समझाते हैं कि भगवान् के स्वरूप को समझाने वाले ब्राह्मण हैं अतः पहले ब्राह्मणों की अलौकिकता का ज्ञान होगा तो उनके वचनों में श्रद्धा होगी जिससे भगवान् के अलौकिक स्वरूप का ज्ञान भी प्राप्त होगा।—अनुवादक

१—भगवान् एवं ब्राह्मण सत्यरूप होने से एक हैं और ब्राह्मण भगवान् के अंश हैं इसलिये वे समान हैं।—'प्रकाश'

२—इसका आशय श्री प्रभुचरण, 'टिप्पणी' में बताते हैं कि भगवान् तथा ब्राह्मण की कृति सत्य होती है; किन्तु ब्राह्मणों की कृति तब सत्य होती है जब वह कृति (कार्य) उनके वचनानुकूल हों, यदि वचनों से कृति विपरीत है, तो वह कृति सत्य नहीं है। इसलिये केवल वाणी की सत्यता का प्रतिपादन किया है। जैसे यहाँ ग्रहादि शान्ति की क्रिया जो ब्राह्मणों ने की, वह सत्य नहीं थी, कारण कि भगवान् में ग्रहादि का प्रवेश हुआ ही नहीं था।

त्रिदोष (छः ही) साथ में होवें तो प्राणी का क्या होगा ? 'असूया' और 'अनृतं' वाणी के 'दम्भ' और 'हिंसा' काया के और 'ईर्ष्या' और 'मान' मन के दोष हैं । ये दोष यदि ब्राह्मणों में न हों तो ब्राह्मणों के आशीर्वचन कभी भी निष्फल नहीं होते हैं । स्वभाव में दोष की विद्यमानता होने पर निर्दोषता कैसे हो सकेगी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'सत्यशीलानां' ब्राह्मणों का स्वाभाविक धर्म सत्य है । भगवान् का जो सत्य रूप कहा है वही उन ब्राह्मणों का स्वभाव सत्यव्रतादि[1] हैं । ऐसे ब्राह्मण 'ब्रह्मवेत्ता' हैं 'तेषां' का भावार्थ है कि उनमें स्वाभाविक दोषों का वास्तविक अभाव ही है ॥ १३ ॥

आभास—अतः उत्पातेषु सत्स्वपि तेषां वाक्यान्निवृत्ता भविष्यन्तीति ज्ञात्वा बालकं शकटे समारोप्याभिषेकं कारितवानित्याहेतीति ।

आभासार्थ—ऐसे ब्राह्मण हैं, इस कारण से यदि उत्पात होंगे तो भी उनके वचनों से उनकी निवृत्ति हो जायगी । यों समझ कर बालक को शकट में पधराकर[2] अभिषेकादि कराने लगे इसका वर्णन निम्न श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—**इति बालकमानीय सामर्ग्यजुरुपाकृतैः ।**
जलैः पवित्रौषधिभिरभिषिच्य द्विजोत्तमैः ॥ १४ ॥

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्दगोपः समाहितः ।
हुत्वा चाग्निं द्विजातिभ्यः प्रादादन्नं महागुणम् ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ—नन्दजी ने इस प्रकार यशोदाजी से बालक लाकर, सावधान हो उत्तम ब्राह्मणों द्वारा सामवेद, ऋग्वेद और यजुर्वेद के मन्त्रों से सस्कृत किये हुए और पवित्र औषधियों से सम्मिलित जलों से उस (बालक) का अभिषेक कराके एवं स्वस्तिवाचनादि पढवा के अग्नि में होम किया तदन्तर ब्राह्मणों को उत्तम अन्न दिया ॥ १४-१५ ॥

१—ब्राह्मणों में असूयादि दोष स्वाभाविक नहीं हैं; किन्तु वे दोष संसर्ग से आगन्तुक हैं ।—अनुवादक

२—शकट में पधराना आचार्यश्री ने लिखा है मूल में ऐसे शब्द नहीं है । इस शंका का निवारण करते हुए प्रकाशकार गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज कहते हैं कि यदि नन्दरायजी बालक को लेकर अपने पास रखते, गाड़े में न पधराते, तो कर्म करते वक्त सावधान रह नहीं सकते थे इस आशय से आचार्यश्री ने शकट में पधराने के लिये लिखा है ।—'प्रकाश'

सुबोधिनी—स्वयं यशोदाहस्ताद् गृहीत्वा तत्र शकटनिकटे **समानीय** वेदत्रयविद्भिर्ब्राह्मणैः **सामर्ग्यजुस्त्रिविधैरपि मन्त्रैरुपाकृतैरुप** समीप आसमन्तात् **कृतै**र्मन्त्रैरलौकिकत्वेनोत्पादितजलैः **पवित्रा** औषधयो येषु शतावर्यादयस्तादृशैः, **पवित्रैरनुपहतैर्जलैरभिषिच्य** स्नानं कारयित्वा मार्जयित्वा च ।। १४ ।। ततो भगवन्तमलङ्कृत्य **स्वस्तिपुण्याहवाचनादिकं** कारयित्वा स्वयं **नन्दगोप** उपविश्य स्वयमपि **समाहितः** सावधानो भूत्वा ब्राह्मणसन्निधाने होमं कृत्वा ब्राह्मणाग्नावपि होमं कृतवांस्तदाह **द्विजातिभ्यः प्रादादन्नमिति, महागुणं** बहुव्यञ्जनसहित भोजितवानित्यर्थः ।। १५ ।।

व्याख्यार्थ—नन्दरायजी यशोदा के हाथ से (बालक को) ग्रहण कर वहाँ शकट के निकट लाकर तीन वेदों को जानने वाले ब्राह्मणों से तीनों (ऋक्, यजु एवं सामवेद) तीनों वेदों के मन्त्रोच्चारण द्वारा अलौकिकता को प्राप्त जलों से एवं पवित्र शतावरी आदि औषधियों से सम्मिलित किये हुए पवित्र तथा फलदायक जलों से अभिषेक (स्नान) कराके और बालक के अंगों को पोंछ कर आभूषणादि से सुसज्जित किया । अनन्तर नन्दरायजी ने वहाँ सावधानता से बैठकर ब्राह्मणों के सन्निधान में, अग्नि में होम करके (कराके) फिर ब्राह्मणों को अनेक प्रकार के व्यञ्जनों सहित अन्न दिया । इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि नन्दरायजी ने जैसे इस भौतिक अग्नि में होम किया वैसे ही ब्राह्मणाग्नि में भी होम किया अर्थात् ब्राह्मणों को भोजन कराया ।।१५।।

आभास––तदा दक्षिणा सुन्दर्यः गावः दत्ता ।

आभासार्थ—नन्दजी ने स्वस्तिवाचन, होम, ब्राह्मणभोजनादि कर्म कराके तत्पश्चात् ब्राह्मणों को सुन्दर गाएँ दक्षिणा में दीं और ब्राह्मणों ने सफल आशीर्वाद दी। इसका वर्णन निम्न दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक––**गावः सर्वगुणोपेता वासःस्रक्रुक्ममालिनीः ।**
आत्मजाभ्युदयार्थाय प्रादात् ते चान्वयुञ्जत ।। १६ ।।
विप्रा मन्त्रविदो युक्तास्तैर्याः प्रोक्तास्तथाशिषः ।
ता निःफला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम् ।। १७ ।।

श्लोकार्थ––नन्दजी ने सर्व कर्म करने के पश्चात् ब्राह्मणों को सब प्रकार के गुणों वाली (निरोग) सुन्दर दूध वाली एवं पुष्ट शरीर वाली, वस्त्र, पुष्प तथा सुवर्ण मालाओं से विभूषित गौएं अपने पुत्र की अभिवृद्धि के लिये दक्षिणा में दीं । (जिसे पाकर) ब्राह्मणों ने बालक में आशिषों का आयोजन किया । मन्त्रवेत्ता योग्य विप्रों ने आशीर्वाद इस प्रकार से नियुक्त की जैसे वे आशिषें कदापि निष्फल न होंगीं । यह सत्य है ।

सुबोधिनी—सर्वगुणोपेता बहुदोग्ध्यः सुन्दर्यः साध्व्यश्च, गवामलंकारार्थं वासः स्रङ् माला रुक्ममयाः सुवर्णमय्यो मालाश्च सर्वालंकरणयुक्ता गावो दत्ता इत्यर्थं, प्रयोजनमाहात्मजाभ्युदयार्थायेति, आत्मजस्य भगवतोभ्युदयोभिवृद्धिः स एव तस्यार्थः प्रयोजनं, अयमर्थशब्दोर्थान्तरव्युदासार्थः, ते चान्वयुञ्जत, अनु पश्चात् प्राप्त्यनन्तरमाशिशोयुञ्जत योजितवन्तः, न केवलमुक्तवन्तः ॥१६॥ ननु कथमेवं ज्ञायते तत्राह विप्रा इति, प्रथमतो विप्रा विशेषेण पूरका निर्दुष्टास्तदैव तेषां विशेषपूरकत्वं भवति, तत्रापि मन्त्रविद् ऋषयस्तत्रापि युक्ताः सत्कर्मकर्तारः, एवं गुणत्रययुक्तैर्या आशिषः प्रोक्तास्ताः कदाचिदपि निष्फला न भविष्यन्ति, स्फुटं सत्यं, अतस्तैर्योजनं युक्तमेव ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ--तब (नन्दजी ने) बहुत दूधवाली, सुन्दर, साध्वी एवं वस्त्र, पुष्पमालाएँ और सुवर्ण के हारादि आभूषणों से सुसज्जित गौएँ ब्राह्मणों को दक्षिणा में दीं। किसलिये दीं ? वहाँ कहते हैं कि अपने पुत्र की अभिवृद्धि (उन्नति) के लिये दीं। पुत्र की अभिवृद्धि के अतिरिक्त नन्दजी का और कोई प्रयोजन नहीं था। 'अन्वयुञ्जत' पद का भावार्थ आचार्य श्री कहते हैं कि विप्रों ने आशीर्वाद केवल मुख से नहीं कही, किन्तु वे आशिषें बालक में चरितार्थ कीं। बालक में वे आशिषें चरितार्थ हुईं, यह आप कैसे कहते हो ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आशिष देने वाले साधारण ब्राह्मण नहीं थे, किन्तु वे विप्र थे, जिसका भाव है विशेष प्रकार से कार्य को पूर्ण (सफल) करने की शक्ति वाले ब्राह्मण। वे केवल विप्र ही नहीं थे, किन्तु साथ में मन्त्रवेत्ता ऋषि भी थे। इससे भी अन्य विशेषता उनमें यह थी कि वे कर्मकर्ता भी थे। इस प्रकार के तीन गुण युक्त जो आशीर्वचन नियुक्त किये वे कदाचित् भी निष्फल न होंगे यह स्फुट (स्पष्ट सत्य) है। इससे उन्होंने आशिषें नियुक्त कीं, यह शुकदेवजी का कहना योग्य ही है ॥ १७ ॥

आभास—एवमेकं चरित्रं यशोदानन्दयोः भगवत्परतासाधकं निरूप्य पृष्टानां पञ्चानां मध्ये प्रथमस्योत्तरत्वेनोपाख्यानमारभत एकदेत्यष्टादशभि : ।

आभासार्थ—यशोदाजी व नन्दजी की भगवत्परायणता साधक, एक चरित्र का निरूपण कर, अब पूछे हुए पांचों में से एक के उत्तरदानार्थ आख्यान प्रारम्भ करते हैं। 'एकदा' इस श्लोक से लेकर अट्ठारह श्लोकों से वर्णन करेंगे।

श्लोक—**एकदा रोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती ।**
गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत् ॥ १८ ॥
भूमौ निधाय तं गोपी विस्मिता भारपीडिता ।
महापुरुषमादध्यौ जगतामास कर्मसु ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ--यशोदा किसी दिन गोदी में विराजमान पुत्र का लालन करती थी

तो भगवान् अनेक पर्वतों के समान गुरु (भारी) हो गए। उस गुरुत्व को यशोदा सहन न कर सकी।

विस्मय युक्त गोपी (यशोदा) भार से पीड़ित होने के कारण से पुत्र को गोदी से उतार, पृथ्वी पर पधराकर, जगतों के महापुरुष (भगवान्) का ध्यान करने लगी तथा अपने कार्य में संलग्न हो गई।

कारिका—**वाचिकं कायिकं चोक्तं मानसं तूच्यतेधुना ।**
अन्यथाज्ञानतः सर्वं करोतीति भविष्यति ॥ १ ॥
लौकिकेनापि भावेन यावत् कृष्णैकतानता ।
तावन्न तनकृत्यानि न करोति हरिः स्वयम् ॥ २ ॥
वर्षेण तु परावृत्तिर्धर्माणां भवतीति हि ।
अतो वर्षान्तरे कृत्यं तृणावर्तगतं कृतम् ॥ ३ ॥
देहबुद्धिर्भगवति निवृत्ता चेन्निवर्तते ।
तत्पराणां देहमतिः सजातीयाविशेषतः ॥ ४ ॥
अष्टादशविद्यास्वपि भगवतो देहो नास्तीति ज्ञापयितुमेकदैव गुरुत्वं लघुत्वं चोच्यते,
पूतनावधमारभ्य कंसो जानाति गोकुले ।
हरिरस्ति जगद्वन्द्यो मम हन्तेति सर्वथा ॥ ५ ॥
तमानेतुं तृणावर्तं ततः प्रेषितवान् स्वयम् ।
त्रयो ह्यत्यन्तबलिनः सर्वकार्यविचक्षणाः ॥ ६ ॥
तृणावर्तो बकः केशी तत्राप्याद्यो महान् स्मृतः ।
तृणवत् सकलं विश्वमावर्तयति सर्वथा ॥ ७ ॥
तृणावर्तस्ततः प्रोक्तस्तमादौ प्राहिणोत् ततः ॥ ७½ ॥

कारिकार्थ—वाचिक निरोध – पूतना वध के समय भगवान् की गोपुच्छादि से रक्षा की, इस लीला से यशोदा की वाणी का निरोध किया। कायिक निरोध– शकट भङ्ग के समय स्वस्तिवाचनादि क्रिया कराने से नन्द यशोदा का कायिक निरोध किया। अब मानस निरोध कहते हैं—तृणावर्त के वध की लीला से मानस निरोध करेंगे, कारण कि इस लीला में भगवदर्थ जो दुःख होगा, उससे मानसिक वृत्ति

भगवान् में ही निरुद्ध हो जायगी। ये सब लीलाएँ भगवान् ही स्वयं अन्यथा ज्ञान[1] कराके करते हैं।

इसलिये भगवान् ने अन्यथा बुद्धि--अपने स्वरूप का अन्यथा भान कराके यशोदादि द्वारा आपने ये सब लीलाएँ की हैं। भगवान् की ये सब लीलाएँ शास्त्र अथवा लोक में अतीव अद्भुत दीखती हैं क्योंकि एक ही बालक में सब जनों का सहज प्रेम लोक में असम्भव है, अर्थात् हो नहीं सकता है। किन्तु यहाँ इस बालक में जो वह सहज प्रेम हुआ है, सो भगवान् ने ही किया है। अतः इस चरित्र में अत्यद्भुतता प्रकट होती है।

अथवा—यदि मानस निरोध न कहा जाय, तो सबों को यह ज्ञान हो जायगा कि नन्द यशोदादि अपने जीवस्थ (जीव में स्थित) सहज अज्ञान से ही, यह सब करते हैं, ऐसा ज्ञान सब को न हो, इसलिये भगवान् की गुरुत्वरूप, स्वधर्म सूचित करने वाली, इस लीला का वर्णन करते हैं। भगवान् का माता की गोदी में चढ़ बैठने का निमित्त काल नहीं है।

श्रीकृष्ण ने शकट भंग लीला चतुर्थ मास की आयु में की है और तृणावर्त वध लीला दूसरे वर्ष की आयु में की है इतने समय तक आपने लीला बन्द क्यों रखी ? इस शंका के निवारणार्थ यह 'लौकिकेन भावेन' कारिका कही है।[2]

इस कारिका में दूसरे वर्ष में लीला करने का कारण बताते हैं।

एक वर्ष से धर्मों की परावृत्ति[3] (पुनरागमन या फिर लौट आना) होती है ॥ ३ ॥

१—'टिप्पणी'—प्रभुचरण अन्यथा ज्ञान का भावार्थ बताते हैं कि भगवान् ने यशोदादिकों में अपने स्वरूप का सत्य ज्ञान तिरोहित कर, लौकिक बाल स्वरूप का ज्ञान का आविर्भाव किया था, जिससे यशोदादि ने भगवान् की पूतनावध के प्रसंग में, गोपुच्छादि से रक्षा की और शकट भंग के उत्पात समय में, स्वस्तिवाचनादि से शान्ति कराई। यदि ऐसा ज्ञान (अन्यथा ज्ञान) न कराते तो रक्षा, स्वस्तिवाचनादि होते ही नहीं।

२—जब तक श्रीकृष्ण में लौकिक भाव से भी आसक्ति होती हैं तब तक श्रीकृष्ण किसी प्रकार की नवीन लीलाएँ (अपना गुरुत्व धर्मज्ञापन पूर्वक लीला) नहीं करते हैं।—लेख

भगवान् अपने में आसक्ति कराने के लिये ही लीला करते हैं तो जब तक यशोदादि की लौकिक भाव से भी श्रीकृष्ण में आसक्ति थी तब तक अन्य लीला नहीं की।—अनुवादक

३—भगवान् ने लीला द्वारा प्रपञ्च विस्मृति कराई वह कदाचित् स्थिर न हो तो उसको पुनः स्थिर कराया जाय इसलिये दूसरे वर्ष में लीला की। यों तो समग्र वर्ष एक ही काल होने से एक आयु ही है। दूसरे वर्ष में का भाव है कि दूसरी आयु रूप काल में लीला की। यों तो समग्र वर्ष एक ही काल होने से एक आयु ही है दूसरे वर्ष में का भाव है कि दूसरी आयु रूप काल में लीला की। दूसरे स्कन्ध के 'आयुः हरति' श्लोक में कहा गया है कि भगवान् के गुणानुवाद में एक क्षण भी जाय तो उसकी आयु का हरण नहीं होता है। इसलिये एक ही आयु में सिद्ध हुआ धर्म समग्र आयु पर्यन्त उसकी अनुवृत्ति होती रहती है। कारिका में दिये हुए 'हि' अक्षर का यह आशय है ॥ ३ ॥

भगवान् में देह बुद्धि की निवृत्ति के लिये 'गुरुत्व को जताया है।

यदि भगवान् में देह बुद्धि की निवृत्ति हो गई तो भगवत्परायण भक्त जनों की भी देह में आत्म-बुद्धि निवृत्त हो जाएगी। वह बुद्धि भगवान् में देह बुद्धि की निवृत्ति सजातीयता के सम्बन्ध से भक्त की भी देहात्म बुद्धि को नष्ट कर देगी ॥ ४ ॥

भगवान् में निर्दोष बुद्धि हो तो सामान्य रूप से भक्त के भी सर्व दोष निवृत्त हो जाते हैं। देहात्म बुद्धि सजातीय होने से विशेष रूप से देहात्म[1] बुद्धि को नाश करती है।

अठारह विद्याओं में (१—पुराण, २—न्याय, ३—मीमांसा, ४—धर्म शास्त्र, ५—ऋग्वेद, ६—सामवेद, ७—यजुर्वेद, ८—अथर्ववेद, ९ से १४ वेदांग ६, १५ से १८ उपवेद ४ इस प्रकार ये अठारह विद्याएँ हैं।

जब से पूतनावध का ज्ञान कंस को हुआ तब से वह जान गया कि जगद्वन्द्य (जिसको समग्र जगत् वन्दन करता है) मेरे प्राण हरने वाले हरि गोकुल[2] में हैं ॥ ५ ॥

कंस के पास तीन असुर सर्व कार्य में कुशल और अत्यन्त बलशाली थे—उन्हें स्वयं कंस ने कृष्ण को (मथुरा) ले आने के लिये (गोकुल) भेजा ॥ ६ ॥

उन तीनों के नाम एवं उनमें भी प्रथम (विशेष बलवान्) कौन है उसका ज्ञान इस कारिका से कराते हैं।

१—प्रकाशकार गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी के अनुसार, भगवान् के देह नहीं है, इस विषय को समझाने के लिये एक काल में ही गुरुत्व (भारीपन) और लघुत्व (हलकापन) कहा गया है।

योजनाकार प.भ. श्री लालूभट्टजी, भगवान् के (प्राकृत) देह नहीं है । इसमें प्रमाण देते हैं—

उपनिषद्—'आनन्दरूपममृतं बिभर्ति'–भगवान् आनन्दरूप और अमृत रूप से प्रकाशते है।
'सच्चिदानन्द विग्रहं'–भगवान् का विग्रह सत्, चित् आनन्द रूप है।
'कृष्णायाक्लिष्ट कर्मणे' सदानन्द रूप अक्लिष्ट कर्मवाले।

पुराण—'आनन्दमूर्त्तिम्'–आनन्द स्वरूप।

पञ्चरात्र—'आनन्दमात्र कर पाद मुखोदरादि'—सर्व श्रीअङ्ग आनन्द रूप जिसके हैं। इत्यादि प्रमाणों से भगवान् की देह प्राकृत नहीं है।

प्राकृत देह का ही 'देह' शब्द से व्यवहार होता है। देह शब्द 'दिह' धातु से बनने के कारण उसमें उपचयादि षड् भाव विकार नहीं रहते हैं। भगवान् के आनंदमय श्रीअङ्ग में षड्भाव विकार नहीं है। इसलिये उसे 'देही' (देहवाला) नहीं कहा जा सकता है।

२—पूतना नगरों व ग्रामों में घूमती हुई और बालहत्या करती हुई अन्त में गोकुल में आई थी; किन्तु तृणावर्त का गोकुल में सीधे * आने का कारण इस कारिका में बताया है।—**प्रकाश**

२—श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि 'पूतनावधमारभ्य' कारिका से एवं १८ श्लोक की सुबोधिनी में 'गुरुर्जातः' तक जो कहा गया है वह समग्र चरित्र 'आदि' पुराण के, 'वृन्दावन माहात्म्य' के १२ वें अध्याय में स्पष्ट कहा गया है।

---

* कंस को पूतना वध से ज्ञान हो गया था। मेरा हन्ता गोकुल में है। इसलिये तृणावर्त्त को सीधे आने की आज्ञा थी।—**अनुवादक**

१—तृणावर्त्त, २—बक, ३—केशी । ये तीन असुर थे,उनमें भी पहला (तृणावर्त्त) महान् (विशेष बलवान्) था । उसकी विशेषता वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह सर्वथा सकल विश्व को तिनका समझ उसको पानी के भंवर में पड़े हुए तिनके की तरह भ्रमित करता है। इसलिये इसका नाम 'तृणावर्त्त' रखा गया है। इस कारण से ही पहले इसको (कंस ने) भेजा ।। ७३ ।।

सुबोधिनी—भगवान् सर्वज्ञः, तृणावर्तं मथुरातः प्रचलितं ज्ञात्वा गुरुपदार्थं जनयतीति स्वयमेव गुरुर्जातः, तत्र यशोदाया गुरुत्वज्ञानं भवत्विति तस्यास्ततो व्युदासार्थं च तस्या अङ्क उपविष्टः स्तनं पिबन्नेव गुरुर्जातस्तद् भगवतः सहजं गुरुत्वं तदानीमाविर्भूतं. तद् गुरुत्वं यशोदा ज्ञातवतीत्याहैकदेति, कालविशेषस्तत्राज्ञातोनिमित्तश्च, रोहमङ्कमारूढमारुह्योपविष्टं, स्वयमेय **लालयन्ती** कुन्तलानि प्रसारयन्ती मुखचुम्बनादिना भगवतो हासं जनयन्ती जाता, सुते हि तत् कर्तव्यं, **सतीति** तस्यास्तथाभाग्ये हेतुभूतो धर्म उक्तः, लौकिकभावेनैव स्नेहादि करोतीति तन्निवृत्त्यर्थं गुरौ जाते **शिशोर्गरिमाणं वोढुं न सेहे** न शक्ता, **गिरिकूटवद्** गिरिसमूहमिव यथा भूमिरप्येकत्र पर्वतकोटीनां समुदायं न सहते, इयमप्यदितिराधिदैविकरूपापि **न सेह** इति वक्तुं दृष्टान्तः, अन्यथायुक्तो दृष्टान्तो नोक्तः स्यात्, क्रमेण भगवान् गुरुर्जात इति न तस्या भङ्गः ।। १८ ।। अत एव यावच्छक्यं गृहीत्वाशक्ये भूमौ स्थापितवतीत्याह **भूमौ निधायेति**, तं भगवन्तं,भूमौ स्थापने हेतुभूतस्याविवेकस्य विधानमाह गोपीति, यद्यपि महती तथापि गोपभार्या, स्थापनानन्तरं भारं स्मृत्वा **विस्मिता**, ननु पुत्रगुरुत्वं मातुः सुखदं भवतीति कथं विस्मय इति चेत् तत्राह**भारपीडितेति**, भारेण पीडिता, अलौकिकोयं भारः पीडाजनकत्वाद्, अतो **विस्मिता**, अग्रे भीतापि भविष्यतीति क्रमेण माहात्म्यज्ञानात्, तदा किं कर्तव्यमिति विचार्योत्पातशङ्कया **महापुरुषं** पुरुषोत्तमं **दध्यौ** ध्यातवती, सर्वानिष्टनिवृत्त्यर्थं **महापुरुष** एवायमिति वा ध्यातवती **जगतां** ब्रह्माण्डकोटीनामपि मध्ये स्वामिनं, अयं सर्वजगतां **महापुरुष** इति, **सतीतिपदाद्** गुरुत्वेन पुरुषान्तरं ज्ञात्वा व्रतक्षतिभयभीतेव परमपुरुषं सर्वेषामेव भर्तारं ज्ञातवती, आसमन्ताद् **दध्याविति** भवत्ययं न वेति ध्यानं प्रतीत्यर्थं, ततो भगवन्तं ज्ञात्वा तस्य परिचयार्थं स्नानादि**कर्मस्वास**, तत्तत्कार्याणि कर्तुमारब्धवतीत्यर्थः, अन्यथा क्षणवियोगे प्राणा एव गच्छेयुः, समागतस्तु मोहयिष्यतीति न काप्यनुपपत्तिः, लालनफलमानुषङ्गिकं ज्ञानमिति **च**, अज्ञानाद् वा जगतो भर्तारं भगवन्तं ध्यात्वा गृह**कर्मसु** गतेति, उभयोराद्यः साधीयान् ।। १९ ।।

व्याख्यार्थ—भगवान् (श्रीकृष्ण) सर्वज्ञ हैं, इसलिये गोकुल में बैठे बैठे ही जान लिया कि कंस की आज्ञा से मुझे लेने के लिये तृणावर्त्त मथुरा से गोकुल आने के लिये रवाना हो गया है । अब मैं गुरु बन जाऊँ (जिससे वह मुझे अधिक समय एवं दूर तक लेजा न सके) यह विचार कर आप स्वयं गुरुत्व प्रकट करते हुए गुरु (भारी बोझ वाले) बन गए । आचार्यश्री भगवान् के माता यशोदा की गोदी में बैठने का आशय प्रकट करते हुए कहते हैं कि भगवान् की इच्छा हुईकि माता यहाँ से दूसरे स्थान पर जाय, इसलिये गोदी में बैठ स्तन पान करते हुए ही आप गुरु हुए। भगवान् का सहज गुरुत्व अब आविर्भूत (प्रकट) हुआ । यशोदा को भगवान् के गुरुत्व का ज्ञान हुआ; किन्तु किस समय हुआ और किस निमित्त से हुआ है इसको यशोदा जान न सकी इसलिये शुकदेवजी ने 'एकदा' शब्द दिया है जिसका अर्थ है किसी समय । कोई नियत समय शुकदेवजी ने नहीं बताया ।

गोदी में चढ़कर बैठे हुए, अपने लालन को स्वयं यशोदा लाड़ लड़ाने लगी, जैसे कि केशों को सुसज्जित करती, मुख चुम्बन आदि क्रिया से बालक को हँसाती थी । यह लालन क्रिया पुत्र

से ही की जाती है। यशोदाजी को श्री शुकदेवजी ने 'सती' विशेषण दिया है, जिसका भाव आचार्यश्री प्रकट करते हुए कहते हैं कि यशोदा का ऐसा उत्तम भाग्य, जो परब्रह्म, ज्ञानियों के लिये भी अदृश्य व अगम्य है, उसको गोदी में बिठाकर, लाड़ लड़ाकर, हास्यादि का आनन्द प्राप्त कर रही है उसका कारण, यशोदा का सतीत्व धर्म है। मेरे इस अलौकिक स्वरूप में स्नेह तो करती है; किन्तु लौकिक भाव से करती है अर्थात् मुझे लौकिक बालक समझ कर करती है। इसका लौकिक भाव निवृत्त कराने के लिये भी आप गुरु बने। यशोदा भगवान् के गुरुत्व का भार, वैसे सहन न कर सकी, जैसे पृथ्वी कोटि पर्वतों का भार नहीं सहन कर सकती है। यह (यशोदा) अदिति* है और आधिदैविक रूप होते हुए भी भार न सह सकी। इसलिये पृथ्वी का दृष्टान्त दिया है। यदि यों न होता, तो ऐसा अयोग्य दृष्टान्त कभी न देते। भगवान् ने अपने में गुरुत्व धीरे धीरे (क्रमपूर्वक) प्रकट किया इससे यशोदा के किसी भी अंग का भंग न हुआ ॥ १८ ॥

जहाँ तक सहन हो सका वहाँ तक भार को सहन किया, जब सहने से अधिक लगा तब भगवान् को गोदी से उतार कर पृथ्वी पर विराजमान किया। इसका वर्णन इस 'भूमौ निधाय' श्लोक में किया गया है।

भगवान् को पृथ्वी पर विराजमान करने जैसा, अविवेकी कार्य, यशोदा ने क्यों किया ? उसका कारण शुकदेवजी ने 'गोपी' विशेषण देके बताया है। आचार्यश्री कहते हैं कि यद्यपि यशोदा महती (महान् गुणों वाली सयानी) है तो भी शुकदेवजी ने कहा कि गोपभार्या है, अर्थात् गोप जाति अविवेकी होती है, उस जाति की होने से यह भी अविवेक की निधि है इसलिये भगवान् को पृथ्वी पर विराजमान किया। पृथ्वी पर स्थापित करने के पीछे भार के स्मरण से विस्मित (चकित) हुई। यदि पुत्र भारी होता है तो माता को उसके भारीपन से प्रसन्नता होती है। यशोदा चकित क्यों हुई। इस शंका के निवारणार्थ शुकदेवजी ने यशोदा का विशेषण 'भार पीड़िता' कहकर बताया है कि 'भार से पीड़ित' हुई। यह भार लौकिक पुत्र के भार के समान नहीं था; किन्तु अलौकिक भार था, इसलिये यशोदा चकित हो गई कि किस प्रकार का भार है। 'अलौकिक भार से' भयभीत[1] भी होगी। 'अग्रे' पद का भावार्थ कहते हैं, क्रम से माहात्म्यज्ञान होने से विचारने लगी कि क्या करना चाहिये ? विचार में आया कि कोई उत्पात न हो इसलिये सर्व अनिष्ट की निवृत्ति के लिये महापुरुष (पुरुषोत्तम स्वरूप) का ध्यान करने लगी। अथवा यह ही महापुरुष है यों समझ ध्यान करने लगी। करोड़ों ब्रह्माण्डों का भी यही स्वामी है यह सकल जगतों में महापुरुष है। गुरुत्व से अन्य पुरुष समझा, किन्तु पातिव्रत्य व्रत क्षति होने के भय से, भीता के समान भीत हो, इसको हो

---

* योजनाकार लालूभट्टजी यहाँ यशोदा को अदिति कैसे कहा ? इसको समझाते हैं कि (१-५-२१) के अनुसार जैसे आधिदैविक रूप वसुदेवजी ने नन्दजी में पधराया था वैसे ही देवकीजी का आधिदैविक रूप भी यशोदाजी में स्थापित हुआ था अतः यशोदा देवकी रूप होने से 'अदिति' मानी गई है क्योंकि देवकी पूर्व जन्म में 'अदिति' थी।

१—'जृम्भण लीला' (उबासी लेने की लीला) में भयभीत होगी।—लेख

परम पुरुष सबका भर्ता समझने लगी। क्योंकि ऊपर के १८ वें श्लोक में यशोदा को शुकदेवजी ने 'सती' कहा है। यह महापुरुष है या नहीं है इस प्रतीति (जानने) के लिये, सब प्रकार से ध्यान करने लगी। इससे यह भगवान् हैं, यों जानकर उनकी परिचर्या (सेवा) के लिये, स्नानादि कर्मों को करने का प्रारम्भ किया। यदि सेवार्थ भगवत्सम्बन्धी स्नानादि कार्य न करती तो भगवान् से वियोग होता। निरुद्ध का क्षण वियोग भी प्राणों को हरण करने वाला होता है। भगवान् आएँगे, तो यशोदा को फिर मोह हो जाएगा अर्थात् भगवान् के आने पर यशोदा का यह भाव (भगवद्भाव) मिट कर, पुत्र भाव हो जाएगा। आचार्यश्री कहते हैं कि ऐसा होवे तो भी कोई असंगति[1] नहीं है। पुत्र को लाड़ लडाना यह फल और यह ज्ञान तो गौण है। अथवा अज्ञान के कारण जगत् के भर्ता भगवान् का ध्यान कर, घर को चली गई अर्थात् घर के कार्यों में संलग्न हुई। इन दोनों अर्थों में से पहला अर्थ श्रेष्ठ है॥ १६॥

आभास—एवं मातरि निर्गतायां तृणावर्तः समागत इत्याह।

आभासार्थ—वहाँ से माता के चले जाने पर तृणावर्त आया। इसका वर्णन करते हैं।

श्लोक—**दैत्यो नाम्ना तृणावर्तः कंसभृत्यः प्रणोदितः।**
चक्रवातस्वरूपेण जहारासीनमर्भकम्॥ २०॥

श्लोकार्थ—कंस का सेवक, उसी का भेजा हुआ, तृणावर्त नाम वाला दैत्य, वायु के बवंडर स्वरूप से, आके पृथ्वी पर बैठे हुए बालक को उड़ा ले गया।

सुबोधिनी—दैत्य इति जात्यैव क्रूर उक्तो **नाम्नेव तृणावर्त** इतिमाहात्म्यमप्रतीकारे हेतुः, **कंसभृत्य** इत्यवश्यानिष्टकर्तृत्वज्ञापकं, **प्रणोदित** इति तेनैव कंसेन प्रकर्षेण प्रेरितः, चतुर्भिर्धर्मैस्तस्य महत्त्वमुक्तं तन्निराकरणे भगवन्माहात्म्यज्ञापनार्थं, दैत्यत्वेन देवविरोधित्वं नाम्ना महाबलत्वं भृत्यत्वेन स्वधर्मो वचनं ततोप्यावश्यकं, सत्त्वरजस्तमोगुणानां प्रत्येकसमुदायभेदेन विरोधित्वं चोक्तं तं तृणवद् भगवान् निराकरिष्यतीति चतुर्विधपुरुषार्थबाधकत्वेनोक्तस्तादृशः सर्ववञ्चनार्थं कृत्रिमवेषं कृत्वा **जहारे**त्याह **चक्रवातस्वरूपेणे**ति **चक्र**स्वरूपो वातश्चक्रवातः चक्रवाते स्वरूपं **यस्य**, परितश्चक्रवातं कृत्वा वायुरायातीति भ्रममुत्पाद्य तत्सङ्ग एव लघुदेह उपविष्टं भगवन्तं निधिमिव **जहार**, ननु महत्त्वात् कथं जहारेत्याशङ्क्याहार्भकमिति, वेगवशान्महाबल; स्वोपास्यभगवद्बलाद् भगवन्तं **जहार**, सहजबले उत्थातुमेव न शक्नुयात्, अत एव भगवानक्लिष्टकर्मा॥ २०॥

१—प्रभुचरण टिप्पणी में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि भगवान् का गोकुल में प्राकट्य सर्व सुखदानार्थ हुआ है। इसलिये जैसे सबों को सुख की प्राप्ति हो, वैसी ही लीला भगवान् करेंगे। जैसे गोचारण लीला, रात्रि विहार लीला, माता को वात्सल्य रसनादि में, किसी प्रकार भी प्रतिबन्ध न होवे इसलिये भगवान् आकर यशोदा को मोहित करेंगे जो इसमें किसी प्रकार की अयोग्यता नहीं है।

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में तृणावर्त का माहात्म्य चार धर्मों से कहा गया है।

१—दैत्य है—इसलिये जाति से क्रूर धर्म वाला है।

२—नाम से ही तृणावर्त है—बवंडर के समान जगत् को तिनके की तरह घुमा सकता है। ऐसे धर्म वाला है इसलिये अप्रतीकार है।

३—कंस का भृत्य (सेवक) है—इससे अनिष्ट करना भी इसका धर्म है।

४—'प्रणोदितः' कंस का भेजा हुवा है—दुष्ट बुद्धि का भेजा हुआ दुष्ट धर्म वाला ही होगा।

इस प्रकार उसके चार धर्म बताकर, उसका माहात्म्य वर्णन इसलिये किया गया है कि भगवान् इसका नाश करेंगे, तो इसके माहात्म्य का ज्ञान भी देवता को हो जावे। उसकी विशेष स्पष्टता, आचार्यश्री करते हैं। दैत्य है, इससे ज्ञात होता है कि यह देवताओं का विरोधी है। नाम से, उसके विशेष बलिष्ट होने का ज्ञान होता है। कंस का सेवक है, इसलिये वह स्वामी का (भगवान् को लेजाने का) कार्य करना यह अपना धर्म समझता है। कंस ने कहकर भेजा है इसलिये कंस के वचनों का पालन करना इस (तृणावर्त) का उससे भी आवश्यक धर्म है। सत्व, रज एवं तमोगुणादि के प्रत्येक समुदाय के भेद से, इसका (दैत्य तृणावर्त का) विरोधीपन बताया। भगवान् उसका (तृणावर्त का) तिनके के समान निराकरण (दमन) करेंगे, क्योंकि वह (तृणावर्त) चारों प्रकार के पुरुषार्थों का बाध[1] करने वाला है। इस प्रकार का वह तृणावर्त सब को ठगने के लिये कृत्रिम (बनावटी) वेष धारण कर बालक को ले गया। बनावटी रूप धारण करने का प्रकार बताते हैं कि 'चक्रवात स्वरूपेण' इस पद का अर्थ आचार्यश्री तीन प्रकार से करते हैं—

१—गोल स्वरूप वाले वायु के रूप से।

२—चक्कर के समान गोल वायु में छिपे हुए स्वरूप से।

३—बवंडर रूप वायु से।

इस प्रकार पृथक् पृथक् प्रकार के रूपों से भ्रम पैदा कर, उसके साथ आकर पृथ्वी पर स्थित बाल रूप भगवान् निधि को जैसे चोर ले जावे, वैसे उड़ाके ले गया। भगवान् महान् हैं उनको कैसे लेजा सका ? तो कहते हैं कि 'अर्भकं' भगवान् उस बालक रूप में विराजमान थे और वेग के कारण तृणावर्त महाबली था एवं दैत्यों के उपास्य (मायारूप) भगवान् के बल से भगवान् को लेजा सका। तृणावर्त अपने सहज बल से तो भगवान् को उठा भी न सकता था। अथवा यदि भगवान् अपने सहज (स्वाभाविक) बल को प्रकट करते तो भी तृणावर्त भगवान् को उठा नहीं सकता था इसलिये कहा जाता है कि भगवान् अक्लिष्ट कर्मा हैं॥ २॥

१—भक्तों के चारों पुरुषार्थों का निरास करने वाला—'प्रकाश'

आभास––तस्य तृणावर्तस्योपासितमायारूपस्य भगवन्माहात्म्यमाह पञ्चभिः, अविद्यारूपस्तेषामिति ।

आभासार्थ—माया रूप भगवान्[1] के उपासक तृणावर्त का माहात्म्य निम्न पांच श्लोकों में वर्णन करते हैं । क्योंकि माया (अविद्या[2]) पांच प्रकार की है। इस तृणावर्त का यह माहात्म्य मायारूप भगवान् ने किया है । यह तृणावर्त उस पांच प्रकार की माया का रूप है ।

श्लोक––**गोकुलं सर्वमावृण्वन् मुष्णंश्चक्षूंषि रेणुभिः ।**
पूरयन् सुमहाघोरं शब्देन प्रदिशो दिशः ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ––वायु के बबूले से कुल गोकुल को घेरता हुआ रज से सब के नेत्रों की दृष्टि को अपहृत करता हुआ, महाघोर शब्द से दिशाओं और कानों को शब्दायमान करता हुआ (तृणावर्त) उस बालक को उड़ाकर ले गया–श्लोक २० से सम्बन्ध ।

कारिका––**अयोग्यतादर्शने हि हरेश्चादर्शनं ततः ।**
सर्वाज्ञानं ततः स्वस्मिन् यशोदास्नेह एव च ॥ १ ॥
गोपिकानां तथा स्नेहः पञ्चपर्वाणि लौकिकात् ॥

कारिकार्थ––कारिका में २१ वें श्लोक के भाव को प्रकट करते हुए कहते हैं कि भगवान् के दर्शन की अयोग्यता हुई, यह अविद्या का प्रथम पर्व, २२ वें श्लोक से अविद्या का कार्य दूसरा पर्व प्रकट किया, जिससे भगवान् को दर्शन न हुए, २३ वें श्लोक से अविद्या का कार्य तीसरा पर्व प्रकट किया, जिससे सर्व पदार्थों का अदर्शन (अज्ञान) हुआ अर्थात् अपने को भी न देख सके (न जान सके) २४ वें श्लोक से अविद्या का कार्य चौथा पर्व प्रकट किया, जिससे यशोदा का भगवान् में स्नेह हुआ ।

१—अविद्या रूपस्तेषामिति—इस पंक्ति का भावार्थ यों करते हैं कि तृणावर्त का उपास्य मायारूप भगवान् गोकुलवासियों के अविद्या का निरूपक हुआ अर्थात् उस मायारूप भवगान् ने गोकुल में अविद्या कार्य को प्रकट किया—'लेख'

२—जो अपनी उपास्य माया को कार्य द्वारा प्रकाशित करता है वह अविद्यारूप (तृणावर्त) है । वे कार्य उपरोक्त कारिका द्वारा आचार्यश्री निरूपण करते हैं—'योजना'

२५ वें श्लोक से अविद्या का पांचवा पर्व प्रकट किया जिससे गोपियों का भगवान् में स्नेह हुआ। इस प्रकार तृणावर्त ने कार्य द्वारा गोकुल में अविद्या स्थापित की।

अविद्या कार्य तो भगवान् से विमुख कराने वाला है। यहाँ अविद्या कार्य में दिखाया है कि यशोदा और गोपियों का भगवान् में स्नेह हुआ। यह असंगति[1] जचती है।

सुबोधिनी—प्रथमतो ज्ञानं तत्कृतं वक्तव्यं, ज्ञानेंशत्रयं वेद्यांश इन्द्रियांशोन्तःकरणांशश्चेति त्रयाणामपि तत्कृतदोषसम्बन्धमाह, स हि न तूष्णीं जहार किन्तु गोकुलं **सर्वमवृण्वन्नन्धकारेण** वेष्टयन्, तमोगुणकार्यमेतत्, रजोगुणकार्यमाह **मुष्णन् चक्षूंषि रेणुभिरिति**, सर्वेषां दृष्टिः पांसुभिः कृत्वा हृता, देवतात्वात् सा दृष्टिस्तेन च गृहीता स पश्यति ते न पश्यन्तीति, न तु केवलं तिरोहिता, अन्तःकरणे वैयग्र्यं चोत्पादयतीत्याह **पूरयन्निति, सुमहाघोरं** यथा भवति तथा **शब्देन** दश **दिशः** पूरयन् यथा कुसूले धान्यं निर्बन्धेनापि पूर्यत एवं यथा सर्वदिक्षु भयमुत्पद्येत तथा शब्दं पूरितवान्, आधिदैविकादित्रयस्यापि भयमुत्पादयितुं पदत्रयं **सुमहाघोरमिति**, **प्रविश** इति प्रकृष्टा दिशो देवसम्बन्धिन्यः, अनेन देवपक्षपातिनामेव भयं न दैत्यपक्षपातिनामित्युक्तम् ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—प्रथम तृणावर्त ने आते ही जो अज्ञान[2] का विस्तार किया उसका वर्णन करते हैं। ज्ञान में तीन अंश हैं—

१—वेद्यांश, २—इन्द्रियांश, ३—करणांश।

इन तीनों को तृणावर्त कृत दोषों का सम्बन्ध हुआ, उसका वर्णन करते हैं। तृणावर्त भगवान् को चुपचाप नहीं ले गया किन्तु समग्र गोकुल को बगुले के रूप से घेर कर अर्थात् गोकुल में घोर अन्धकार करते हुए बालक को ले गया यह कार्य तमोगुण का है। अब रजोगुण के कार्य का वर्णन करते हैं। रज का अर्थ धूल है। धूल से सबकी दृष्टि हरली। दृष्टि[3] देवता है, उसको तृणावर्त ने लेली। जिससे वह भगवान् को देखकर उड़ा ले गया। तृणावर्त ने दृष्टि लेली, इसलिये वह तो देख सकता था परन्तु वे (गोकुलवासी) देख नहीं सकते थे। केवल दृष्टि तिरोहित नहीं हुई किन्तु जैसे मडोले में आग्रह से धान भरा जाता है वैसे तृणावर्त ने सब दिशाओं एवं कानों को महाघोर शब्द से गर्जना करते हुए भय उत्पन्न करने के साथ गोकुलवासियों के अन्तःकरण में भी व्यग्रता (घबराहट) पैदा कर दी। मूल श्लोक में 'सुमहाघोरं' पद वाक्य में तीन पद 'सु' 'महा'

१—यशोदा और गोपियों का स्नेह अविद्या कार्य इसलिये कहा गया है कि इनका स्नेह लौकिक स्नेह था। लौकिक प्रकार का स्नेह अविद्या से ही होता है। इसलिये किसी प्रकार की असंगति नहीं है—'टिप्पणी'

२—अज्ञान शब्द का भावार्थ लेखकार गो० श्री वल्लभलालजी समझाते हैं कि 'जिससे जाना नहीं जाय' इस प्रकार अर्थ करने से यह तात्पर्य निकलता है कि अज्ञान शब्द का भावार्थ है कि देखने की अयोग्यता, इस अयोग्यता से सब गोकुलवासी भगवान् को देख नहीं सके—'लेख'

३—यदि दृष्टि देवता न होती तो तृणावर्त ले नहीं सकता था। जो दृष्टि न ली होती तो दर्शनाभाव से निराकार 'निरिन्द्रिय भगवान् का हरण नहीं कर सकता था—'लेख'

और घोरं पद हैं। उनके भावार्थ को प्रकट करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि इससे शुकदेवजी का यह आशय है कि आधिदैविकादि तीनों भय उत्पन्न किए। 'प्रदिशः' शब्द का भाव बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि इसमें 'प्र' अक्षर देकर यह बताया कि ये दिशाएँ देवताओं की सम्बन्धिनी हैं, इसलिये इससे देव सम्बन्धियों को ही भय है न कि दैत्यों के पक्ष वालों को भय है ॥ २१ ॥

आभास––ततो भगवद्दर्शनमाह मूहूर्तमितिः।

आभासार्थ––इस निम्न श्लोक में यशोदा को भगवद्दर्शन न हुवा उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक––**मुहूर्तमभवद् गोष्ठं रजसा तमसावृतम्।**
सुतं यशोदा नापश्यत् स्वयं न्यस्तवती यतः ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ––एक मुहूर्त पर्यन्त गोकुल धूलि तथा तमोगुण रूप अन्धकार से घिर रहा था। यशोदा ने जहाँ पुत्र को बिराजमान कराया था वहाँ नहीं देखा।

सुबोधिनी—बहिःस्थितानां गोकुलदर्शनमपि न जातं, बहिर्मुखानां भगवद्दर्शनं कथं भविष्यतीति वदन् दृष्टान्तपूर्वकमाह, मुहूर्तं घटिकाद्वयं, **गोष्ठं** सर्वमेव **गोकुलं रजसा** पांसुना **तमसा** तमोरूपेण रजोजनिततमसा वावृतमासीत्, ततोन्तःस्थितं भगवन्तं **यशोदापि नापश्यत्**, सुतबुद्धिश्च जाता, ननु भगवद्दर्शनं सर्वेषामेव दुर्लभं किमाश्चर्यं **यशोदा** नापश्यदिति तत्राह **स्वयं न्यस्तवती यतः**, यतः स्वयमेव तत्र **न्यस्तवती** स्थापितवती, स्वस्थापितं स्वयं द्रष्टुमुचितमेव तथाप्यदर्शनमाश्चर्यं, **यत** इति सप्तम्यर्थे वा, **स्वयं न्यस्तवतीति** भ्रमाभावः ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि जब, जो मनुष्य गोकुल से बाहर थे उनको भी धूलि और अन्धकार से घिरे हुए गोकुल के दर्शन नहीं हुए, तो जो मनुष्य बहिर्मुख (जिनका मन आदि विषयों में आसक्त है भगवान् से विमुख है) उनको भगवान् के दर्शन कैसे होंगे ? उस समय की गोकुल की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'गोकुल' धूलि से और तमोगुण रूप अन्धकार से घिरा हुआ था, अथवा धूलि से हुए अन्धकार से घिरा हुआ था। इस कारण से यशोदा ने अन्तःस्थित भगवान् को नहीं देखा। भगवान् का दर्शन सब को दुर्लभ है तो यशोदा को न हुआ तो कौनसी आश्चर्य की बात है। इसके उत्तर में श्रीशुकदेवजी ने कहा है कि यशोदा को आश्चर्य इसीलिये हुआ कि मैं स्वयं अपने सुत को विराजमान करके गई हूँ, वह कहाँ गया ? अपने हाथ से रखी हुई वस्तु रखने वाले को दीखनी ही चाहिये। वह यदि दृष्टिगोचर न हो तो आश्चर्य होगा ही। यशोदा ने पुत्र को वहाँ विराजमान कराया था इसलिये भ्रम नहीं था ॥ २२ ॥

आभास—यथा भगवति विदिते सर्वं विदितं भवत्येवं भगवत्यविदिते सर्वमेवा विदितं जातमित्याह नापश्यदिति ।

आभासार्थ—वेद में कहा है कि भगवान् का ज्ञान होने से सब जाना जाता है । वैसे ही भगवान् के अज्ञान से सबका अज्ञान होता है । इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं । श्लोक में दिये 'यतः' पद का अर्थ सप्तमी की तरह किया गया है ।

श्लोक—**नापश्यत् कश्चनात्मानं परं चापि विमोहितः ।**
तृणावर्तसिसृष्टाभिः शर्कराभिरुपद्रुतः ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ—तृणावर्त द्वारा प्रक्षिप्त कंकरो से घबराये हुए और भ्रान्त बनें हुए मनुष्य अपने को अथवा दूसरे को नहीं देख सके ।

सुबोधिनी—कोप्यात्मानं स्वदेहं परं परदेहं च **नापश्यत्, चकाराद्** घटपटादिकं च, शब्दादिनापि प्रतीतिर्न जातेत्याह **विमोहित** इति, **विशेषेण** मोहितः, किञ्चाज्ञानकार्यमपि प्राप्तवानित्याह, **तृणावर्तेन विशेषेण सृष्टाभिः शर्कराभिर्विशेषेणोपद्रुतः** पीडितः, तामसपीडैवाज्ञानकार्यम् ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ—किसी ने भी अपने शरीर और दूसरों के शरीर को नहीं देखा । आचार्यश्री बताते हैं कि 'च' अक्षर देने का श्रीशुकदेवजी का यह भाव है कि केवल शरीरों को नहीं देखा सो नहीं, किन्तु घटपटादि पदार्थों को भी नहीं देखा । शब्द आदि से भी किसी की प्रतीति न हुई, क्योंकि वे तृणावर्त के प्रक्षिप्त कंकरों से पीड़ित एवं भ्रान्त हो गये थे जिससे उनमें अज्ञान का कार्य तामस, पीड़ा हुई थी । इसीलिये वे शरीर और वस्तु मात्र को न देख सके एवं सर्व प्रकार के शब्दादिकों को भी न सुन सके ॥ २३ ॥

आभास—एवमज्ञानं सकार्यं निरूप्य तदपगमार्थं यशोदाया गोपिकानां च भगवति प्रेमातिशयमाह भिन्नवृत्तेन द्वाभ्यां, तत्र गोपिकायां भगवति पुत्रत्वेन स्नेहातिशयामाहेतीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार कार्य सहित अज्ञान के स्वरूप का वर्णन कर, उस (अज्ञान) के निवृत्यर्थं यशोदा तथा गोपिकाओं के भगवान् में अतिशय स्नेह का वर्णन अन्य २४ वें व २५ वें श्लोक से करते हैं ।

यशोदा का भगवान् में पुत्र भावना से अतिशय स्नेह हुआ है उसका वर्णन २४ वें श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—इति खरपवनचक्रपांशुवर्षे सुतपदवीमबलाविलक्ष्य माता ।
अतिकरुणमनुस्मरन्त्यशोचद् भुवि पतितामृतवत्सका यथा गौः ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार तीक्ष्ण स्पर्शयुक्त पवन के बगुले का रूप धारण करने वाले तृणावर्त द्वारा उत्पन्न की हुई धूलि की वर्षा से माता यशोदा को पुत्र के मार्ग का पता नहीं लगा, अत्यन्त दया से पुत्र को स्मरण करती हुई शोकातुर हो गई और मृतवत्सा गौ के समान पृथ्वी पर गिर पड़ी ।

सुबोधिनी—एवं तृणावर्तकृत उपद्रवे जात इत्येतावति सति, **खरः पवनो यस्य चक्रस्य स खरपवनचक्रस्तृणा-**वर्तस्तस्य **पांशुवृष्टिभिः** कृत्वा वर्षासु मार्गानिव **सुतपदवीं** पुत्रमार्गमितस्ततः पर्यटन्त्यप्य**विलक्ष्य** ध्वजवज्राङ्-कुशाम्भोजचिह्नैरपि चिह्नितां भूमिमदृष्ट्वा **माता** सर्वथा स्नेहाधिकरणं क्वचिद् भगवानात्मानं विहाय गत इति भगवतः कृपोत्पादनार्थ**प्रतिकरुणं** यथा भवति तथा-नुस्मरन्त्यशोचदात्मानं शोचितवत्यकृतार्थाहमिति, ततो भगवद्विरहाद् **भुवि पतिता** जाता, क्रियाशक्तिर्लुप्ता, ज्ञानशक्तिरपि लुप्तेति वदन् मूर्छिता जातेति दृष्टान्तेनाह **मृतवत्सका यथा गौरिति,** गौरज्ञानजन्तुस्तत्रापि वत्से गतेतिविवेकाभावान्मूर्छिता भवत्येव, **अमृतवत्सकेति** मृतवत्सका तु मृतमाघ्राय निवृत्तैव भवति, नष्टवत्सैव तथा भवति ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ—ऊपर के श्लोकों में कथित तृणावर्त के उपद्रवों से जो कुछ हुआ उसके अनन्तर क्या हुआ सो इस श्लोक में वर्णन करते हैं । तीक्ष्ण स्पर्शयुक्त पवन के बगुले के रूप (तृणावर्त) को धूलि की वर्षा से गोकुल के मार्ग ऐसे हो गये जैसे वर्षा पड़ने से होते हैं । उस समय किसी वस्तु के चिह्न पृथ्वी पर दृष्टिगोचर नहीं होते थे । इस धूलि वृष्टि से भी मार्ग की इसी प्रकार की दशा हो गई । इसलिये माता यशोदा इधर उधर पुत्र के जाने का मार्ग मिले, तदर्थ पुत्र के पाद चिन्हों को पृथ्वी पर देखने लगी, किन्तु पुत्र का कोई भी वज्र, अंकुश, कमल चिन्ह पृथ्वी पर न देखकर, माता जो स्नेह का अधिकरण (स्नेह का घर, स्नेह के ठहरने का स्थान) है वह विचारने लगी कि क्या कन्हैया (भगवान्) मुझे छोड़कर चला गया ? इस प्रकार जैसे भगवान् को मुझ पर दया उत्पन्न हो, वैसे अत्यन्त करुणा पूर्वक स्मरण करती हुई शोकाकुल हुई । अपने हृदय में शोक करने लगी कि मैं अभागिन हूँ जो मेरा कार्य (पुत्र के चिन्हों की प्राप्ति) न हुआ । इस कारण से भगवान् के लिये विरह बढ़ा, जिससे पृथ्वी पर गिर गई । पृथ्वी पर गिरने से यशोदा की क्रिया (कार्य करने) की शक्ति लोप हो गई । कारण कि गिरते ही मूर्छित हुई । गिरने से क्रिया शक्ति का लोप हुआ और मूर्छा से ज्ञान शक्ति का लोप हुआ । यशोदा के गिरने और मूर्छित होने को दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे मृतवत्सा गौ गिर पड़ती है । गौ अविवेकी पशु है, वह भी बछड़े के जाने पर गिरकर मूर्छित हो जाती है, तो यशोदा का विवेकवती होने से, गिरना स्वाभाविक ही था । आचार्यश्री कहते हैं कि यदि यहाँ 'अमृतवत्सा' पद रखा जाय तो उसका

विशेष स्वारस्य होगा, क्योंकि गौ, मृत बछड़े को चाटते हुए अपने दुःख का शोषण करती है किन्तु जिसका जीवित बछड़ा चला जाय, तो वह गौ अपने दुःख का शोषण नहीं कर सकती । इस प्रकार यशोदा भी पुत्र के न मिलने से दुःखित हुई जिस दुःख का निवारण पुत्र का मिलन हो, तब हो, इसलिये यशोदा की क्रिया-शक्ति तथा ज्ञान-शक्ति दोनों नष्ट हो गई थी ।। २४ ।।

आभास––एवं यशोदायाः परमस्नेहेन मूर्छापर्यन्तमवस्था निरूपिता, गोपिकानामाह रुदितमिति अनुनिशम्येति ।

आभासार्थ––इस प्रकार ऊपर के २४ वें श्लोक में परमस्नेह से मूर्छा पर्यन्त यशोदा की अवस्था का वर्णन करके अब २५ वें श्लोक में गोपिकाओं के स्नेह का वर्णन किया जाता है ।

श्लोक––**रुदितमनुनिशम्य तत्र गोप्यो भृशमनुतप्तधियोश्रुपूर्णमुख्यः ।**
रुरुदुरनुपलभ्य नन्दसूनुं पवन उपारतपांशुवर्षवेगे ।। २५ ।।

श्लोकार्थ––पवन प्रेरित धूलि का वेग जब कम हुआ तब (भी) गोपियां नन्द-नन्दन को न देखकर रोने लगीं । वह परस्पर का रोदन सुनने से गोपीजन अतिशय तप्त बुद्धि वाली हुई जिससे उनके नेत्र आंसुओं की बूंदों से भरपूर हो गये ।

सुबोधिनी—**गोप्य** स्वयमेव ज्ञानसम्पन्ना भगवति नीयमाने रोदनं कुर्वन्त्यः स्वरोदनं शृण्वन्त्योन्यरोदनमपि श्रुतवत्य इत्यनु**निशम्ये**त्युक्तं, **तत्र** भगवद्गृहे, **गोप्यो** भगवदीयाः, **भृशम**त्यर्थ**मनुतप्ता धी**र्यासामस्माभिस्तत्र भगवन्तं गृहीत्वा कथं न स्थितमित्यनुतापयुक्ताः स्वबुद्धिदोषं स्मरन्त्यो **भृशं तप्ता** अश्रुप्रोञ्छनेप्यशक्ता **अश्रुपूर्णमुख्यो** जाताः, अश्रुभिः पूर्णं मुखं यासामिति, स्वयं तत्र गृहे गत्वा **नन्दसूनुमनुपलभ्य** रोदनेपि लौकिकदोषनिवृत्त्यर्थं प्रभुपुत्र**मनुपलभ्य** सर्वाः संहत्य **रुरुदुः**, एवं रोदने क्रियमाणे देवतान्तर्हिता, तस्यामन्तर्हितायां **पवनोप्युपारतः पांशुवर्षस्य वेगो यस्य** तादृशो जातस्तस्मिन् ।। २५ ।।

व्याख्यार्थ—गोपियां स्वयं ज्ञानवान थीं, भगवान् को लेजाने पर रोने लगीं । वे अपना रोना तो सुनती ही थीं साथ ही उन्होंने दूसरी गोपियों का भी रोना सुना । वहाँ भगवान् के गृह में जो गोपियाँ थीं वे भगवदीया थीं । इसलिये अतिशय ताप से तप्त बुद्धि वाली हुईं और कहने लगीं कि यह हमारी बुद्धि का दोष है । यदि हम भगवान् को लेकर अपने पास रखतीं, तो वह जाते नहीं, इस विचार से विशेष ताप तप्त होने लगीं, जिससे नेत्रों के आंसुओं का पौंछना भी न कर सकीं, इससे नेत्र आंसुओं से पूर्ण हो गये (भर गये) । गृह में जब भगवान् को न देखा और जहाँ तहाँ टटोलने पर भी स्वामी के पुत्र को न पाया, तब सब मिल कर, लौकिक दोष निवृत्यर्थ रोने लगीं । इस प्रकार रोने से नेत्र के देवता अन्तर्हित हो गए । देवता के अन्तर्हित होने पर पवन भी शान्त हुआ और उसमें का धूलि वर्षा वाला वेग भी न रहा ।। २५ ।।

आभास--तथा जाते तृणार्तोपि शान्तवेगो जात इत्याह तृणावर्त इति ।

आभासार्थ—वायु के वेग के साथ धूलि वर्षा शान्त हो गई तो उसके साथ तृणावर्त भी शान्त हुआ, उसका वर्णन इस श्लोक 'तृणावर्तः शान्तरयो' में करते हैं ।

श्लोक--**तृणावर्तः शान्तरयो वात्यारूपधरो हरन् ।**
कृष्णं नभोगतो गन्तुं नाशक्नोद् भूरिभारभृत् ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ--जब झक्खड़, आंधी का रूप धारण करने वाले तृणावर्त का वेग शान्त हुआ तब कृष्ण को हरण कर आकाश में गया (हुआ, बहुत,) अर्थात् अपने उठाने की शक्ति से अधिक भार को धारण करने वाला वह (तृणावर्त) आगे नहीं जा सका ।

सुबोधिनी—तृणावर्त इति, प्राप्ते भगवति नयन एव सामर्थ्यस्य व्यापृतत्वात् पूर्वं वात्यायां रूपधरो भूत्वा हरन्नाकाशं गतः कृष्णं हरन् गन्तुं नाशक्नोत्, उर्ध्वगमन एव देवतावशाद् बलं जातं न तिर्यग्गमने, तत्र हेतुर्भूरिभारभृदिति, स्वसामर्थ्यापेक्षयाप्यधिकं भारं बिभ्रत् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—प्रचण्ड वायु रूप धारी तृणावर्त की शक्ति भगवान् को आकाश की तरफ ऊपर ले जाने में ही समाप्त हो गई । ऊपर ले जाने का बल भी तृणावर्त को उसके उपास्य देवता (माया रूप) से प्राप्त हुआ था । तिर्यक (टेढे) जाने की शक्ति उसमें नहीं थी । तृणावर्त जब शान्त हो गया तब उनको (श्रीकृष्ण को) आगे ले जाने की सामर्थ्य तृणावर्त में नहीं हुई क्योंकि तृणावर्त ने पहले ही अपनी शक्ति से अधिक भार उठा लिया था ॥ २६ ॥

आभास--ततोशक्तौयत् कृतवांस्तदाह तमश्मानमिति ।

आभासार्थ--इस प्रकार उस (तृणावर्त) की शक्ति जब कम हो गई, तब भगवान् को ले जाने में असमर्थ हो गया, उसका वर्णन 'तमश्मानं' इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--**तमश्मानं मन्यमान आत्मनो गुरुमत्तया ।**
गले गृहीत उत्सृष्टुं नाशक्नोदद्भुतार्भकम् ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ--तृणावर्त ने उस (बालक) को अपने से भारी बोझ वाला अर्थात् जो

उठाया नहीं जा सकता है ऐसा पत्थर समझा। गले से पकड़ा हुआ तृणावर्त अद्भुत बालक से अपने आपको छुड़ा नहीं सका।

सुबोधिनी—तं भगवन्तं बालकं सूक्ष्मरूपमतिगरिष्ठमश्मानं हीरकं नीलमणिं वा मन्यमानो जातस्तत्र हेतुरात्मनो **गुरुमत्तयेति**, आत्मनोप्यतिबलिष्ठस्यापि **गुरुमत्तयाशक्य**-गौरवेण कृत्वाश्मानं **मन्यमानो** जातः, तत उत्स्रक्ष्यामीति विचार्य भगवता **गले गृहीतस्सन्नुत्स्रष्टुमपि नाशक्नोत्**, ननु हस्तौ मोचयित्वा कथं न त्यक्तवानित्याहाद्भुतार्भक मिति, **अद्भुतोलौकिकः**, त्याजने क्रियमाणे सम्बन्धो भवति, विपरीता हि भगवल्लीला, प्राप्तव्य इत्युक्ते न प्राप्नोति त्यज्यत इत्युक्ते न त्यक्तो भवति ॥ २७ ॥

व्याख्यार्थ—उस छोटे बाल रूप भगवान् को, तृणावर्त बहुत भार वाला हीरक वा नील मणि पत्थर समझने लगा। ऐसा समझने का कारण यह था कि उस (तृणावर्त) ने अपने से भी भारी बोझ वाला उनको देखा और उसकी गुरुमत्ता के गौरव को जानना तृणावर्त की बुद्धि से बाहर था। इसलिये उसको भारी पत्थर समझ उससे अपने को छुड़ाने का विचार करने लगा। किन्तु भगवान् ने उसे गले से पकड़ लिया था, इसलिये वह छुड़ा भी न सका। हाथों को दूर कर क्यों नहीं छुड़ा लिया ? इस शङ्का निवारण के लिये शुकदेवजी ने कहा है कि यह बालक साधारण बालक नहीं है किन्तु अद्भुत (अलौकिक) अर्भक बालक है, इसकी लीला अलौकिक है। इसको जो छोड़ता है उससे यह सम्बन्ध जोड़ता है कारण कि भगवान् की लीला अलौकिक (लोक से विपरीत) है। जैसे कि जो कहता हैं कि भगवान् को मैं अपने साधन से प्राप्त करूँगा, उसको भगवान् प्राप्त नहीं होते हैं एवं जो कहता है कि भगवान् से दूर हो जाऊँगा अर्थात् भगवान् को अपने बल से छोड़ दूँगा तो वह भगवान् से अपने को नहीं छुड़ा सकता है ॥ २७ ॥

आभास—तदा भगवान् यत् कृतवांस्तदाह।

आभासार्थ—इसके (ऊपर के श्लोक में कहे हुए चरित्र के) पश्चात् जो कुछ भगवान् ने किया उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः।**
अव्यक्तरावो न्यपतत् सहबालो व्यसुर्व्रजे ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ—कंठ पकड़ने से चेष्टा रहित, बाहर निकल आये नेत्र वाला, स्पष्टता रहित वाणी वाला तृणावर्त प्राण रहित होकर बालक सहित गोकुल में गिरा।

सुबोधिनी—गलग्रहणेति, उच्चस्थाने बालकस्वभावख्यापक इव गलं गृह्णाति भगवान्, देहेन प्राणैः सह त्यक्तव्यः, तत्प्रियत्वस्यैव देहादौ समारोपणात्, तस्मिन् विद्यमाने भगवान् न त्यक्तो भवति, हस्ते गृहीत्वा त्यजन्निव तदा गलग्रहणेन निश्चेष्टो जात इति, तदा भगवान् दयया त्यक्ष्यतीत्याशङ्क्याह दैत्य इति, अत एवातिनिःपीडनेन निर्गते लोचने यस्य, शब्देनापि भयं जनयिष्यामीति विचार्य ततोपि पीडितोव्यक्तरावो जातः, न व्यक्तो रावः शब्दो यस्य, तदा विवशः सन् हृदयस्थितबालक एव व्रजमध्ये न्यपतत्, न हि गोकुलसर्वस्वं कश्चिदन्यत्र नेतुं शक्तः, नितरामपतदिति सर्वाङ्गे भूमिसम्बन्ध उक्तः ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ—जब तृणावर्त भगवान् को ऊपर ले गया, तब बालक स्वभाव (जब कोई बालक को ऊपर उठाते हैं तो बालक अपने हाथ उसके गले में डाल देता है) को प्रकाशित करने वाले भगवान् ने तृणावर्त के गले को पकड़ लिया । भगवान् ने तृणावर्त को गले से पकड़ लिया, उसका भाव प्रकट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि तृणावर्त को गले में बाहु डालकर पकड़ रखने का आशय यह था कि मेरा जो प्रियत्व धर्म है उसको इसने देह और प्राणों में स्थापित किया है इसलिये जब तक यह प्रियत्व धर्म[1] इनमें (देह-प्राण) में है तब तक मैं छूट नहीं सकता हूँ । भगवान् ने तृणावर्त को जब गले से पकड़ा तब वह चेष्टा रहित हो गया । भगवान् दयालु हैं, उसकी निश्चेष्टता देखकर उसको छोड़ देंगे ? किन्तु छोड़ा नहीं—अपनी दयालुता क्यों प्रकट न की ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि तृणावर्त दैत्य[2] था । दैत्य होने के कारण भगवान् ने उस पर दया तो न की किन्तु उसके गले को विशेष जोर से दबाया जिससे उसकी आँखे बाहर निकल आईं । तृणावर्त ने मन में विचारा कि घोर शब्द से इनको डराऊंगा इस आशय को अन्तर्यामी सर्वज्ञ भगवान् ने समझ लिया अतः उससे भी विशेष दबाने से उस (तृणावर्त) का चिल्लाना भी बन्द हो गया, साफ साफ बोल नहीं सका । तब विवश (प्राणरहित) हो, हृदय-स्थित बालक के साथ गोकुल के बीच में गिर पड़ा । श्रीकृष्ण गोकुल का सर्वस्व (सब कुछ धन) है कोई भी उसको दूसरे स्थान पर नहीं लेजा सकता है । श्लोक में 'न्यपतत्' क्रिया के सन्धि विच्छेद करने से नि+अपतत् होता है इसमें 'नि' उपसर्ग है अपतत् क्रिया है । जिसका भावार्थ बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि 'नि' नितरां (विशेष रीति से) अपतत् (गिरा) अर्थात् इस प्रकार से गिरा जैसे तृणावर्त के शरीर के सकल अङ्गों का पृथ्वी (व्रज भूमि) से सम्बन्ध (स्पर्श) हुआ ॥ २८ ॥

१—योजनाकार लालूभट्ट इसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि मैं (भगवान्) जीवों का प्रिय आत्मा हूँ, मेरे लिये ही देहादि प्रिय लगते हैं इसलिये मुझ में जीव की वास्तविक रति करनी चाहिये, किन्तु अज्ञान से देहादि को आत्मा समझ कर उसे जीव प्रिय समझते हैं, उसमें रति करते है । यदि आत्मरूप प्रिय भगवान् को छोड़ते हो तो जिस देह और प्राणों को आत्म रूप समझते हो, उनको क्यों नहीं छोड़ते हो ? सारांश यह है कि भगवान् का प्रियत्व धर्म आरोपित किया गया है उन देह और प्राणों को भगवान् लेना चाहते हैं तदर्थ तृणावर्त को भगवान् ने गले से पकड़ रखा है—'योजना'

२—दैत्य पर दया करना जीवों के लिये विपत्ति की रक्षा करनी है । दैत्य दूसरों को दुःख देने वाले होते हैं इसलिये उनका नाश करना ही धर्म है—'अनुवादक'

आभास तदा मायायां गतायां पतन् सर्वजनीनो जात इत्याह ।

आभासार्थ—तब माया के (असुरों के देवता मायारूप भगवान् के) चले जाने पर, गिरे हुए तृणावर्त को सबने देखा । इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**तमन्तरिक्षात् पतितं शिलायां विशीर्णसर्वावयवं करालम् ।**
पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धं स्त्रियो रुदन्त्यो ददृशुः समेताः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ रुद्र के बाण से विद्ध (वेधागया—ताडित) त्रिपुरासुर के समान शुष्क, सर्व अवयवों वाला वह विकराल (भयानक) अन्तरिक्ष (आकाश) से शिला पर गिरा । उसको रोती हुई स्त्रियों ने देखा । उसको देखते ही सब इकट्ठी हो गईं ।

सुबोधिनी—**तमन्तरिक्षात् पतित**मिति, **अन्तरिक्षाद्** दूरादाकाशात् निरालम्बाच्छिलायां **पतितं** भगवदासक्ताः **स्त्रियो ददृशु**रितिसम्बन्धः, व्रजमध्ये महान् पाषाणो भवति यत्र स्थितो नन्दः सर्वमेव दोहमनुसन्धत्ते, सा **शिला** ब्रह्मपुत्रीव स्थिता दैत्यघातिनी, अत एव **विशीर्णाः सर्वेवयवा** यस्य, मृतोपि सर्वेषां भयानकः किं पुनर्जीवन्नित्याह **करालमिति, करालः** क्रूरो भगवता मारणीयत्वे हेतुः, **पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धमिति**, सर्वोपद्रवकारीणि पुराणि तैर्लोका अतिपीडिता अतः सर्वदेवप्रार्थनया भगवांस्तं मारितवान् नो चेददृश्य एव भवेत्, न तु गच्छेत्, विकलस्यापि मारणे हेतू **रुद्रशरेण** स्वेनैव **नारायणेन विद्ध**मिति, न हि दुष्टेषु वधक्रियया व्यासं‍गेषु दयोचिता, त्रि**पुरं यथा शरेण विद्ध**मेव परिभ्रमत् पतति तथा **पतितं रुदन्त्यो** रोदनं विस्मृत्याश्चर्याद् **ददृशुः** यथास्थानस्थिता अपि तदा **समेता**श्च जाताः ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ—निरालम्ब (आधार रहित) दूर आकाश से शिला पर गिरे हुए (तृणावर्त को) भगवान् में आसक्त स्त्रियों ने देखा । गोकुल में एक शिला रखी हुई है, जिस पर बैठकर नन्दरायजी गौओं के दोहने आदि कार्य की देख-रेख करते थे । वह शिला ब्रह्म-पुत्री[1] की[2] तरह[3] स्थित थी ।

१—'ब्रह्म पुत्री' शब्द का भाव प्रकाशकार पुरुषोत्तमजी कहते हैं कि राक्षसों को नाश करने वाली सरस्वती रूप ऋक् है । यों भासता है—'**प्रकाश**'

२—'ब्रह्मपुत्री इव' अहिल्या के सदृश अर्थ करते हैं कि जैसे अहिल्या शिला हो कर रही वैसे ही यह शिला है दृष्टान्त का इतना ही तात्पर्य है—'**लेख**'

३—प० भ० श्रीलालू भट्टजी 'ब्रह्मपुत्री' का अर्थ अहिल्या करते हैं और विशेष में कहते हैं कि जैसे भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने शिलारूप अहिल्या का उद्धार किया (मनुष्यों ने उसको पहचाना नहीं था), वैसे ही इस शिला का, श्रीकृष्ण ने उद्धार किया, इसका भी कोई स्वरूप समझना चाहिये. यह केवल शिला नहीं थी किन्तु कोई दैवी जीव थी । शापादि के कारण यमलार्जुन की तरह (उद्धारार्थ) यहाँ स्थित थी । उस दैवी जीव का शिला भाव भगवान् ने छुड़ाया—'**योजना**'

उस शिला के कारण तृणावर्त के सर्व अवयव, निर्बल एवं चूर्ण के समान हो गये। मरने पर भी, सब के लिये भयानक है क्योंकि कराल है, इसलिये कदाचित् मरने का ढोंग किया हो, पुनः जीवित हो जाय। अतः भगवान् ने कराल क्रूर को ऐसे मारा, जिस प्रकार सर्व लोक पीड़ा-कारक, त्रिपुरासुर को सर्व देवताओं की प्रार्थना से भगवान् स्वयं नारायण ने रुद्रशर द्वारा नाश किया था। यदि स्वयं भगवान् उसका नाश न करते तो वह अदृश्य हो जाता (छिप जाता); किन्तु जाता नहीं और उसके द्वारा लोक सदैव पीड़ित होते। विकल होने पर भी मारने का कारण बताते हैं कि मारने के योग्य दुष्टों पर दया करनी अनुचित है। त्रिपुरासुर, जिस प्रकार शर से विद्ध होकर ही परिभ्रमण करता हुआ गिरा वैसे ही यह भी गले के पकड़ने से गिरा। गिरते हुए को रोती हुई स्त्रियों ने जो देखा, तो रोना भूल गईं और तुरन्त सब जहाँ जहाँ थीं, वहाँ वहाँ से आकर इकट्ठी हो, उसको देखने लगी॥ २६॥

आभास—तथा भूतायत् कृतत्रतस्तदाहादायेति।

आभासार्थ—एकत्र स्थित होकर रोदन बंद कर आश्चर्य से देखती हुई गोपीजनों ने जो कुछ किया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**आदाय मात्रे प्रतिहृत्य विस्मिताः कृष्णं च तस्योपरि लम्बमानम्।**
तं स्वस्तिमन्तं पुरुषादनीतं विहायसा मृत्युमुखात् प्रमुक्तम्॥ ३०॥

श्लोकार्थ—राक्षस द्वारा आकाश में पहुँचे हुए, उस राक्षस की छाती पर लिपटे हुए मृत्यु के मुख से मुक्त, सकुशल श्रीकृष्ण को लेकर, माता (यशोदा) को दे, सब गोपियाँ विस्मित हुईं।

सुबोधिनी—तस्योपरि लम्बमानं भगवन्तमादाय **मात्रे प्रतिहृत्य** समर्प्य स्तनपानादिना स्वस्थं ज्ञात्वा **विस्मिता** जाताः परमाश्चर्यं प्राप्तवत्यः, राक्षसस्पर्शे सहजदोषजनकेपि दोषस्पर्शाभावात्, अपहतपाप्मन एवैतत् सम्भवति, अपहतपाप्मत्वनिश्चयाभावाद् विस्मयः, किञ्च विस्मयान्तरेपि हेतुमाहुः **कृष्णं च तस्योपरि लम्बमान**मिति, वायुर्लघुः कृष्णः पूर्वं गुरुरनुभूतो लघुरधस्तात् पतितो विशीर्णो भगवांस्तु तस्योपरिभागे तमस्पृष्ट्वैव पत्रपाषाणाविव पाषाणे पतिते पत्रं **तदुपरि लम्बमानं** शनैः शनैरायाति तद्वद् मध्यत एवादायेतिसम्बन्धः, अत **आदयैव च विस्मिताः, प्रतिहृत्य च विस्मिताः, चकारात्** पतितं दैत्यमपि दृष्ट्वा **विस्मिताः**, भगवन्तमभीतं दृष्ट्वा वा, एवमान्तरालौकिकदोषाभावाद् विस्मयत्रयमुक्तं, बाह्यलौकिकदोषाभावाद् विस्मयत्रयमाह **पुरुषादनीतं विहायसा मृत्युमुखात् प्रमुक्तमिति पुरुषादा राक्षसाः** पुरुषमेवादन्तीति, तेन शरीरोपघातोवयवोपघातो वावश्यम्भावी, प्रमादाद् विगलितस्यापि तथेत्याह **विहायसेति** आकाशमार्गं उच्चैस्त्यक्तोपि खेदं प्राप्नोति, न चानयोरन्यथापि सम्भवो यतो नियतमृत्युरूपावेतौ, तथापि सर्वथा सम्बन्धाभावे कदाचिदुर्वरितोपि भवेत् तदपि नास्तीत्याह **मृत्युमुखात् प्रमुक्तं**, ल्यब्लोपे पञ्चमी, **मृत्युमुखं प्राप्य** स्वेच्छया प्रकर्षेण मृत्युं मारयित्वा स्वयं **मुक्तं** मृत्युर्दैत्ये स्थितो मुखमाकाशो, एवं त्रिविधादपि **मृत्योर्मुक्त** इति लौकिकाश्चर्याणि, एतादृशोपि **स्वस्तिमान्** कल्याणवान्, शोभा हर्षो वा केनाप्यंशेन न न्यून इति॥ ३०॥

व्याख्यार्थ—उस तृणावर्त की छाती पर लिपटे हुए भगवान् को लेकर माता (यशोदा) को दे दिया। माता ने लेकर स्तन पान आदि कराया। यह देख गोपियों ने समझा कि यह बालक (कृष्ण) तो स्वस्थ है। इससे विस्मित हुईं अर्थात् अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गईं। राक्षस का स्पर्श ही स्वाभाविक दोषजनक है, किन्तु इस बालक को तनिक भी दोष का स्पर्श नहीं हुआ था। दोष के स्पर्श का अभाव तो निष्पापों में ही होता है। इस बालक को दोषों ने क्यों नहीं स्पर्श किया ? इससे भी विस्मित हुई, गोपीजनों को अब तक यह ज्ञान नहीं था कि यह बालक निष्पाप है, अतः विस्मय में पड़ गई थीं। श्रीकृष्ण को तृणावर्त के ऊपर (छाती पर) लिपटे देखकर भी, आश्चर्ययुक्त हुई, क्योंकि इनको ज्ञान था कि श्रीकृष्ण गुरु और वायु (तृणावर्त रूप होने) से लघु है। लघु वायु तो नीचे (मरा) पड़ा है और भारी यह बालकृष्ण है। जैसे पत्थर पर गिरे हुए पत्र, पत्थर को स्पर्श नहीं करते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण इस दैत्य पर, अस्पृष्ट ही लिपट रहे थे। आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान् की यह लीला थी कि नीचे आने के समय आप गुरु ऊपर होते हुए भी धीरे-धीरे आते थे, जिससे गोपियों ने कृष्ण को तृणावर्त के पृथ्वी पर गिरने से पहले (मध्य में) ही उठा लिया था। अतः लेकर विस्मित हुई, तथा माता को देकर भी विस्मित हुई। 'च' अक्षर का भाव बताते हुए कहते हैं कि गिरे हुए दैत्य को देखकर भी, विस्मित हुई अथवा भगवान् ऐसे दैत्य के साथ आकाश में गये तो भी डरे नहीं हैं, पूर्ववत् निडर हैं। यह देखकर भी विस्मय को प्राप्त हुई। इस प्रकार आन्तर[1] अलौकिक दोषों के अभाव के कारण तीन प्रकार से गोपियाँ विस्मित हुईं। अब बाह्य[2] लौकिक दोषों के अभाव के कारण भी तीन प्रकार से गोपियाँ विस्मय युक्त हुई। १—राक्षस द्वारा आकाश में लिया जाना भी मृत्यु मुख[3] था, वहाँ से भी मुक्त हो आए। राक्षस का नाम ही 'पुरुषाद' है अर्थात् पुरुषों को भक्षण करने वाला, मृत्यु रूप है जिससे शरीर नाश व अंगो का नाश अवश्यम्भावी[4] है तथा आकाश में ले जाने पर वहाँ से छोड़ने से भी खेद-कार्य[5] होता है। ये दोनों ही मृत्यु रूप अर्थात् मृत्यु के कारण थे और इन दोनों का दूसरे प्रकार से होना (मृत्यु से बच जाना) भी सम्भव नहीं था। यदि पूर्ण सम्बन्ध न हो, तो मृत्यु टल भी जावे, किन्तु यहाँ जो पूर्ण रीति से सम्बन्ध हुआ था। इसको बताने के लिये श्री शुकदेवजी ने कहा कि 'मृत्यु मुखात्-प्रमुक्तं' जिसका अर्थ है, मृत्यु मुख में जाकर निकल आए हैं। मृत्यु तो दैत्य था और मुख आकाश था, भगवान् ने अपनी इच्छा से मृत्यु को मारकर अपने को मुक्त किया। इस प्रकार त्रिविध मृत्यु से मुक्त हुए, ये तीन लौकिक प्रकार के आश्चर्य हैं। ऐसा (मृत्यु मुख प्राप्त हुआ) भी अब स्वस्तिमान् कुशल है। इससे भगवान् की शोभा व हर्ष में न्यूनता न आई।

१—भीतर के, अन्दर के। २—बाहर के। ३—मृत्यु स्थान या मृत्यु का कारण। ४—अवश्य होने वाला। ५—नाश।

आभास——एवं तासामाश्चर्याभिनिवेशमुक्त्वा प्रपञ्चे विस्मृते भगवदासक्त्या परमानन्दं च प्राप्तवत्य इत्याह ।

आभासार्थ—इस प्रकार ऊपर के श्लोकों में गोपियों का आश्चर्यान्वित होना बताया, जिससे उन्हें प्रपञ्च विस्मृत हो गया और भगवान् में आसक्ति होने से वे परमानन्द को प्राप्त हुईं। इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

*श्लोक——**गोप्यश्च गोपाः किल नन्दमुख्या लब्ध्वार्भकं प्रापुरतीव मोदम् ॥ ३१ ॥**

श्लोकार्थ——गोपियां और नन्द प्रमुख सर्व गोप, बालक को पाकर अत्यन्त आनन्दित हुए।

सुबोधिनी—गोप्यश्चेति, गोप्यश्चकारादन्यस्त्रियोपि गोपा अप्यर्भकं लब्ध्वा प्रमोदं प्रापुः, तेषां विस्मयस्यानुक्तत्वात् प्रपञ्चविस्मरणाभावे प्रकृष्टो मोदो न सम्भवतीति युक्त्यभावेपि प्रमाणस्य बलिष्ठत्वाज्जात एवेति किलेत्याह, उपपत्तिं चाह नन्द एव मुख्यो येषामिति, मुख्ये प्रपञ्चविस्मरणस्य सिद्धत्वात् परमानन्द उचितः, तदाहार्भकं बालकं लब्ध्वा, अवस्थापि परमानन्दजनिका, अतीव मोदं परमानन्दं प्रापुः ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ—गोपियां एवं अन्य स्त्रियां भी (आचार्यश्री श्लोक में दिए हुए 'च' अक्षर का आशय बताते हैं कि गोपियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियां भी) आनन्द को प्राप्त हुईं। मूल में केवल 'गोप्यः' अर्थात् 'गोपियां' कहा गया है तथा गोप भी बालक को पाकर अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुए। गोपियों को तो विस्मय हुआ था इसलिये उन्हें आनन्द हुआ। गोप तो विस्मित हुए नहीं, तब इनको प्रपञ्च की विस्मृति हुई नहीं तो फिर उनको परम आनन्द कैसे हुआ ? इसके उत्तर में आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि युक्ति न होने पर भी प्रमाण बलिष्ठ होता है, इसलिये गोपों को भी परमानन्द की प्राप्ति हुई। इसलिये श्लोक में निश्चयवाचक 'किल' शब्द दिया गया है और गोपों के हर्षित होने को हेतु पूर्वक सिद्ध करते हुए कहते हैं कि शुकदेवजी ने श्लोक में गोपों को नन्द प्रमुख कहा है अर्थात् गोपों में नन्दजी मुख्य थे। इसलिये मुख्य नन्दजी के प्रपञ्च की विस्मृति से गोपों की भी प्रपञ्च विस्मृति होना सिद्ध है अतः गोपों को परमानन्द हुआ यह कहना उचित ही है। अवस्था भी परमानन्द को प्रकट करने वाली थी। क्योंकि मृत्यु मुख में प्रविष्ट बालक की

* अन्यत्र छपे हुये कितनेक भागवत के पुस्तकों में यह आधा श्लोक भागवत के ३०वें श्लोक के साथ दिया गया हैं। और निम्न 'समेत्य चैकत्रकृताशिषोमला': आधा श्लोक है ही नहीं। आचार्यश्री 'समेत्य चैकत्र' श्लोक का आधा भाग न मिलने से कहते हैं कि आधा श्लोक न होने से अर्थ स्पष्ट नहीं समझा जाता है।

सकुशल प्राप्ति, परमानन्द को स्वत: उत्पन्न करने वाली है अत: नि:सीम[1] आनन्द को प्राप्त हुए ।। ३१ ।।

श्लोक----**समेत्य चैकत्र कृताशिषोमला: विचारयामासुरुपायमत्र ।। ३२ ।।**

श्लोकार्थ----आशीर्वाद देने वाले दोष रतिह गोपादि यहाँ एक स्थान पर इकट्ठे होकर, उपाय का विचार करने लगे ।

सुबोधिनी—अर्धमात्रमत्र पतितं यत्र सम्बन्धो निरूपितो भवति, सर्वा गोप्यो गोपा यशोदानन्दमुख्या एकत्रोपविश्य विमर्षं कृतवन्तस्तं विमर्ष माहाहो इतिद्वाभ्यां, **समेत्य चैकत्र कृताशिषोमला विचारयामासुरुपायमत्र**, एवमर्थं सखण्डो भवति ।।३२।।

व्याख्यार्थ---इस श्लोक का आधा भाग मिलता नहीं है । इसलिये इस आधे के सम्बन्ध की योजना पूर्ण नहीं हो सकती है । अत: आधे का ही शब्दार्थ दिया जाता है । नन्द यशोदा जिनके आगेवान हैं वैसे गोप तथा गोपियाँ, एक स्थान पर बैठकर विचार करने लगे । उस विचार का वर्णन निम्न दो श्लोकों से किया जाता है ।। ३२ ।।

श्लोक----**अहो बतात्यद्भुतमेष रक्षसा बालो निवृत्तिं गमितोभ्यगात पुन: ।**
हिंस्र: स्वपापेन विहिंसित: खल: साधु: समत्वेन भयाद् विमुच्यते ।। ३३ ।।

श्लोकार्थ----यह बालक राक्षस द्वारा आकाश में गया और वहाँ से सकुशल स्वस्थ दशा में यहाँ पृथ्वी पर वा अपने स्थान में, सकुशल आ गया । अहो ! यह समग्र चरित्र अत्यन्त अद्भुत है, इसमें किसी तर्क से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है ।

सुबोधिनी—भगवतो नयनमारभ्य स्वस्त्यागमनपर्यन्तं यत् किञ्चित् कृत्यं तत् सर्वमहो आश्चर्यं, नात्रोपपत्ति: काचित् सम्भवति, आश्चर्यमपि लोके प्रसिद्धं भवति यथा नटविद्यायां मायायां स्वप्ने च, ततोप्येतदधिकमित्याहात्यद्भुतमिति, मायायां प्रदर्शनमात्रमिति, जातं त्वद्भुतं यत् पुन: क्षणान्तरेन्यथा न भवति, ततोपि यत् कदाचिदपि न जातं क्वचिदपि तदत्यन्तमद्भुतं तत् स्वस्यात्यन्तमनिष्टमिति तत् स्मृत्वा **बतेत्याहु:**, **एष** इत्यक्षताव्याहतत्वं प्रत्यक्षेण प्रदर्शितं, विपरीतहेतु: सुदृढो जात इत्याह **रक्षसा** क्रूरेण **बालोतिसूक्ष्म** इतो

१—असीम या बेहद ।

निर्वृत्तिं गमितो दूरे नीतोऽन्येन नीतः स्वयमागत इत्याश्चर्यं बालत्वात्, तत्रापि रक्षसा, निर्वृत्तिपदेन क्रियानिष्पत्तिरपि सूचिता, एवं सति पुनरागमने कोपपत्तिरितिशङ्कायामाहु- हिंस्र इति, हिंस्रो मारको राक्षसः स्वपापेनैव विहिंसितः, मृत्युस्तत्र तिष्ठत्येवान्यमारणार्थं स तु पापपुरःसरमेव प्रवर्तते, अतः पूर्वं बहूनां वधानां कृतत्वात् स्वाधारे पापमस्ति, अपापे विषये चेत् प्रयुक्तस्तमगृहीत्वा व्याघुट्या- गच्छन् स्वाश्रयमेव गृह्णातीति हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितो भवति, किञ्च मृत्युरत्यन्तं दुष्ट आश्रये न तिष्ठति, अतोपि हेतोस्तं भक्षितवानित्याह खल इति, खलः पिशुनः,न ततो दुष्टोस्ति जगति कश्चित्,विषये पापाभावमाहु साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यत इति, अपहतपाप्मरूपं ब्रह्मैव, तस्यापि बहूनि रूपाणि सन्ति, तत्रापि यत् समं रूपं तत् सर्वदोष- रहितं भवति, "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" इतिवाक्यात्, यः सर्वत्र समदृष्टिः स दोषाभावान्न हन्यते, यस्तु साधुः स समदृष्टिरेव भवति, अतोयं बालकोपि समदृष्टिः साधु- र्भवितुमर्हति, अतः साधुरयं समत्वेन भयादुपस्थिताद् विशेषेण मुच्यते, एतावता कृत्रिमभगवत्त्वं ज्ञातमिति, एवं ज्ञाननिष्ठैर्निर्णयः कृतः ।। ३३ ।।

व्याख्यार्थ--जगत् में आश्चर्य उत्पन्न करने वाले कार्य अन्य भी देखे जाते हैं, जैसे कि नट-विद्या अथवा जादूगर का खेल, माया और स्वप्न में जो देखा जाता है वह सब आश्चर्य है; किन्तु यह आश्चर्य तो उनसे भी विशेष होने से 'अत्यन्त अद्भुत' है । माया में तो केवल दिखावा होता है, जैसा कि जो होता (बनता) है, वह अद्भुत होता है; फिर अन्य प्रकार से न होकर वैसा ही रह जाता है। जो कभी भी न हुआ है, कहीं भी नहीं हुआ है, वह हो जाय तो, इसको उससे भी विशेष अत्यन्त अद्भुत कहा जाता है । वह अत्यन्त अद्भुत कार्य, अपने लिये अति ही अनिष्टकारी है, इसका स्मरण कर कहते हैं 'बत' (खेद है) । यह बालक अपने आपको इस प्रकार बिना आघात और बिना घबराया हुआ प्रत्यक्ष दिखला रहा है, इससे हेतु की विपरीतता दृढ़ होती है । जैसे कि क्रूर स्वभाव राक्षस, तो इस अति सूक्ष्म बालक को बहुत दूर ले गया । दूसरा तो ले गया और यह स्वयं अपने आप ही आ गया यह आश्चर्य है क्योंकि यह बालक है । बालक यों कर नहीं सकता है कि कोई दूसरा दूर ले जावे और वहाँ से आप सकुशल लौट आवे । इसलिये कहा है कि यह आश्चर्य है । फिर ले जाने वाला भी साधारण व्यक्ति नहीं था किन्तु राक्षस था, जिससे बालक की क्रिया भी बंद हो गई थी । ऐसी दशा होने पर भी, स्वतः स्वयं बालक आ गया, इसमें क्या उपपत्ति[1] है । युक्ति बताते हुए शुकदेवजी ने मूल में कहा है कि वह हिंसक[2] था इसलिये उस (हिंसक तृणावर्त) को उसके पापों ने ही नष्ट कर दिया । इसको आचार्यश्री स्पष्ट करके समझाते हैं कि तृणावर्त में 'मृत्यु'[3] तो दूसरों को मारने के लिये रहती ही थी और वह मारने की क्रिया वहाँ करता है, जहाँ पाप होता है । तृणावर्त ने इससे पहले बहुतों के बधरूप अनेक पाप किये ही थे अतः काल के आधार, तृणावर्त में पाप हैं । वह ऐसा पापी,जब निष्पाप में मृत्यु की प्रेरणा करता है, तब मृत्यु उस निष्पाप को न पकड़ किन्तु लौटकर अपने आश्रय को ही पकड़ती है । इसीलिये मूल श्लोक में कहा गया है कि घातक[4] अपने पापों से नष्ट होता है । मृत्यु भी अपना आश्रय, यदि

१—युक्ति, दलील । २—मारने वाला । ३—काल, सर्व भक्षक । ४—हत्यारा ।

अत्यन्त दुष्ट होता है तो उसमें नहीं ठहरती है। इस कारण से भी मृत्यु ने अपने आश्रय (तृणावर्त) का भक्षण किया। अतः शुकदेवजी ने तृणावर्त के लिये 'खलः' विशेषण दिया। 'खल' विशेषण देकर शुकदेवजी ने यह बताया कि जगत् में सब से अधिक दुष्ट खल[1] ही है। खल से विशेष कोई दुष्ट नहीं होता है।

विषय[2] में (तृणावर्त ने मारने के लिये मृत्यु की प्रेरणा की थी) इस प्रकरण में कहते हैं कि जिसको मारने के लिये मृत्यु को भेजा था वह निष्पाप था। उसके लिये शुकदेवजी ने 'साधु' विशेषण दिया है। साधु सब शत्रु मित्र आदि में समदृष्टि वाले होते हैं इससे वह भय से छूट जाता है अर्थात् उसको कोई भयभीत नहीं कर सकता है। निष्पाप तो ब्रह्म ही है। उस (ब्रह्म) के भी बहुत से रूप हैं; उन रूपों में भी जो 'समरूप' है वह सर्व दोष विमुक्त है जैसा कि कहा है कि 'निर्दोषं हि समंब्रह्म' सम ब्रह्म निर्दोष है जो सब में समदृष्टि रखता है। वह निर्दोष होने से किसी से भी नहीं मारा जाता है। जो साधु है वह समदृष्टि वाला ही होता है। अतः यह बालक भी समदृष्टि साधु है इससे यह साधु समान दृष्टि होने से उपस्थित (आए हुए) भय से विशेष रूप से छूट जाता है। वहाँ जो ज्ञान में निष्ठा वाले थे, उन्होंने यह निर्णय किया कि इस बालक में जो भगवत्व दीखता है, वह साधनों से हुआ है न कि अकृत्रिम[3] है ॥ ३३ ॥

आभास—कर्मनिष्ठानां निर्णयमाह।

आभासार्थ—३३वें श्लोक में ज्ञाननिष्ठों का निर्णय बताकर इस ३४वें श्लोक में कर्म-निष्ठा वालों ने जो निर्णय किया उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक—**किं नस्तपश्चीर्णमधोक्षजार्चनं पूर्तेष्टदत्तमुत भूतसौहृदम्।**
यत् सम्परेतः पुनरेव बालको दिष्ट्या स्वबन्धून् प्रणयन्नुपस्थितः ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ—हम लोगों ने तपस्या, भगवत्पूजा, पूर्त,[4] इष्ट,[5] दान[6] और जीवों पर दया ऐसा जो कुछ किया है, उसके प्रभाव से वह बालक मृत्यु-मुख में जाकर भी फिर अपने बान्धवों के नाम को सर्व लोक में अमर यशस्वी करने के लिए आ गया है, तदर्थ बधाई है।

१—नीच निर्दयी। २—प्रसंग। ३—स्वाभाविक, या बेबनावटी।
४—कुआ वापी (बावड़ी) खुदवाना। ५—पञ्चयज्ञ, अग्निहोत्रादि करना।
६—तुलापुरुषादि दानादि।

सुबोधिनी—**किं नस्तपश्चीर्णमिति**, पूर्वजन्मन्यस्माभिः सर्वैरेव किञ्चित् **तपश्चीर्णं** येन तपसैतादृशो बालको निधिरूपोस्माकं स्थाने तिष्ठति, एवं राजसानां सिद्धान्तः, सात्त्विकानामाहाधोक्षजार्चनमिति, न हि तपसालौकिकं प्राप्यते, अयं च बालको लोकोत्तरोतोयं विष्णुप्रसादादेव प्राप्यते, **विष्णुश्च पूजितः प्रसन्नो भवति**, तत्रापि साधारणरूपेण पूजितः साधारणमेव फलं प्रयच्छति, अस्माभिस्त्वलौकिकप्रकारेण पूजितस्तदाहाधोक्षजेति, **अधोक्षजं** ज्ञानं यस्मात् शास्त्रदृष्ट्या शोधितैरर्चनं नेन्द्रियबलकार्यं, **तामसानां** निर्णयमाह **पूर्तेष्टदत्तमिति**, **पूर्तं** खातादि, **इष्टं** यागादि, **दत्तं** तुलापुरुषदानादि, लौकिकप्रकारा एते, अतिबहिर्मुखानामेष निर्णयः, **अन्तर्मुखानामाहोत भूतसौहृदमिति**, सर्वेषु **भूतेषु** भगवानस्तीति तेषु दानमानादिभिः **सौहृदं** कर्तव्यं तत् केवलं ज्ञानमार्गे प्रविशति तद्व्यावृत्त्यर्थमुतेत्युक्तं भूतसौहृदमपि पूर्वोक्तेन सह लोकवत् सर्वाण्येव कर्माणि कुर्वन् लोकसौहृदमपि करोति तस्येदं फलमित्यन्तर्मुखानां कर्मिणां सिद्धान्तः, एवं कल्पमायां हेतुमाह यदिति, कर्मिणां लौकिकत्वादमङ्गलवचनं लोकोक्त्या न निन्दितं, **पुनरेव** पूर्ववत्, **बालकोपि दिष्ट्या** स्वभाग्येनापि स्वगृहे **स्वबन्धून्** स्वस्य पित्रादीन् प्रकर्षेण **नयन्** सर्वलोकप्रसिद्धान् कुर्वन् **उपस्थित** इति **यत्** । ३४ ।।

व्याख्यार्थ—पहले, कर्म में निष्ठावाले राजसों का निर्णय बताते हैं । राजस कर्मी कहते हैं कि हम लोगों ने पूर्व जन्म में कुछ तपस्या की है । जिससे इस प्रकार का निधि-रूप बालक हमारे घर में रहता है । अब सात्विक कर्मनिष्ठों के विचार प्रकट करते हैं । सात्विक कहते हैं कि हमने अधोक्षज भगवान् का पूजन किया है जिससे यह अलौकिक बालक मिला है । ऐसा अलौकिक बालक तपस्या से नहीं मिलता है; किन्तु जब भगवान् प्रसन्न होकर कृपा करते हैं, तब प्राप्त होता है । विष्णु, पूजित होने पर प्रसन्न होते हैं । उसमें भी साधारण रूप से पूजित हुआ साधारण फल देता है । हम लोगों ने तो अलौकिक प्रकार से पूजन किया है । इसलिये शुकदेवजी ने मूल श्लोक में 'अधोक्षजार्चनं' पद दिया है । जो इन्द्रियों के ज्ञान से नहीं जाना जाता है । उस अलौकिक परमात्मा का हम लोगों ने अर्चन किया है । शास्त्र-दृष्टि पवित्र होने पर, अलौकिक हुई इन्द्रियों से जो पूजन होता है, वह पूजन है । भगवान् का पूजन लौकिक इन्द्रियों के बल से होता है । वहाँ इन्द्रियों के बल का कार्य नहीं अर्थात् इन्द्रिय बल वहाँ काम नहीं देता है ।

अब तामसी कर्मनिष्ठों के निर्णय को कहते हैं कि तामसी कर्मनिष्ठ दो प्रकार के हैं—एक बहिर्मुख (जो भगवत्पूजन वा भगवान् हैं, इन दो बातों को नहीं मानते हैं)। दूसरे अन्तर्मुख (जो प्रतिमा पूजन आदि नहीं मानते हैं, केवल पूर्त[1], इष्ट,[2] दान[3], करना मानते हैं) हैं । किन्तु सर्वभूत स्थित भगवान् को समझ कर भूतों पर दया करते हैं उनकी सेवा करते हैं । पूर्त[1] इष्ट[2] दान[3] ये लौकिक प्रकार हैं जो अत्यन्त बहिर्मुख हैं उनका यह निर्णय है । अब अन्तर्मुखों का निर्णय कहते हैं कि सकल प्राणिमात्र से सौहार्द करना, कारण कि सब भूतों में भगवान् हैं इसलिये दान मानादि से, उनसे सौहार्द प्रकट करना अर्थात् भूतमात्र पर दया करनी । वह (भूतदयादि) तो ज्ञान मार्गियों के सिद्धान्त में प्रवेश न हो, इसलिये श्लोक में 'उत' दिया है जिसका अर्थ है 'या तो' अर्थात् यह

१—कुआ वापी (बावड़ी) खुदवाना । २—पञ्चयज्ञ, अग्नि होत्रादि करना । ३—तुलापुरुषादि दानादि ।

कथन विकल्प से कहा है। अर्थात् कर्म-मार्गी, लोक के समान पूर्त[1] इष्ट[2] दानादि[3] सर्व कर्मों के साथ यह भूत सौहृद किये हैं उनका यह फल है।

इस प्रकार की कल्पना में हेतु (कारण) कहते हैं कि कर्मी (कर्म के सिद्धान्त मानने वाले) लौकिक होते हैं इसलिये अमंगल वचन (भगवान् के लिये कहे हुए असभ्य वचन) लोकोक्ति होने से लोक में निन्दित नहीं माने जाते हैं फिर भी पूर्व के समान, स्वभाग्य[4] से बालक अपने घर में पिता आदि अपने बान्धवों को सर्वलोक में प्रसिद्ध[5] करता हुआ आकर उपस्थित हुआ। यह भी बधाई है ॥ ३४ ॥

आभास—एवं सर्वेषां निर्णय उक्तः नन्दस्तूत्पातसम्भवे हेत्वन्तरं ज्ञातवान् नान्य इति विशेषमाह दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ज्ञाननिष्ठ तथा सात्विक, राजस और तामस (बहिर्मुख एवं अन्तर्मुख) कर्मनिष्ठों का निर्णय कहकर अब नन्दरायजी ने उत्पातों का कारण जिस अन्य प्रकार से* समझा था वह दूसरों ने नहीं जाना था, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**दृष्ट्वाद्भुतानि बहुशो नन्दगोपो बृहद्वने ।**
वसुदेववचो भूयो मानयामास विस्मितः ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ—बृहद्वन में नन्दगोप अनेक अद्भुत कर्म देख कर वसुदेवजी के वाक्यों की सत्यता मानने लगे एवं विस्मय में पड़ गये।

सुबोधिनी—बहुशोऽद्भुतानि दृष्ट्वा वसुदेववचो मानयामासेतिसम्बन्धः, पूतनाशकटतृणावर्तास्त्रयः प्रसिद्धाः, अन्येप्येवंविधाः शतशः, सर्वाण्येवाद्भुतानि रसान्तरविस्मारकाणि, नन्दगोप इति सम्पूर्णं नाम ज्ञानक्रियासमन्वितमनाश्चर्ये हेतुः परमैश्वर्यपरिज्ञानात, बृहद्वन एवं तज्जायत इति भूयो वसुदेववचो मानयामास, स हि ज्ञान एव महत्त्वं मन्यते न तु क्रियायां, भाव्यर्थस्यैव तादृशत्वात, किमाश्चर्यं यद्यत्यलौकिकं स्यात् पूर्व कैरपि न ज्ञायते ज्योतिःशास्त्रादौ न प्रसिद्धमिति तस्य ज्ञानमेव स्मृत्वा विस्मितश्च जातः ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ—अनेक अद्भुत घटनाएँ देखकर नन्दजी वसुदेवजी के वाक्य सत्य मानने लगे। इन अद्भुत कार्य करने वालों में, पूतना, शकट और तृणावर्त तीन मुख्य एवं प्रसिद्ध थे। दूसरे भी इस प्रकार के सैकड़ों थे। इन अद्भुत कार्यों से जो रस प्रकट हुआ, उसने अन्य रसों को भुला

* कंस की प्रेरणा से ये उत्पात होते हैं—लेख।

१—कुआ वापी (बावड़ी) खुदवाना। २—पञ्चयज्ञ, अग्नि होत्रादि करना। ३—तुलापुरुषादि दानादि। ४—अपने भाग्य। ५—यशस्वी।

दिया था। शुकदेवजी ने नन्दरायजी का 'नन्दगोप' नाम देकर यह भाव बताये हैं कि नन्दरायजी में ज्ञान एवं क्रिया दोनों शक्तियां हैं। ज्ञान शक्ति होने से भगवान् के परमैश्वर्य का ज्ञान था इसलिये नन्दरायजी को आश्चर्य न हुआ। यह सर्व बृहद्वन में ही होता है, इससे वसुदेवजी के वाक्यों को फिर सत्य प्रमाण रूप मानने लगे। नन्दरायजी ज्ञान को ही महत्व देते थे, न कि क्रिया को। भविष्य में होने वाले कार्य भी (जैसे वसुदेवजी ने कहे थे) वैसे होंगे इसमें क्या आश्चर्य है, क्योंकि वसुदेवजी का ज्ञान अलौकिक था। वसुदेवजी के कहने से पूर्व किसी को ज्ञान न था। ज्योतिः शास्त्र में भी प्रसिद्ध नहीं है। यों वसुदेवजी का ज्ञान अलौकिक है इसको स्मरण करते हुए विस्मित हुए ॥ ३५ ॥

कारिका––भक्तिर्ज्ञानं तथा पूर्णं विस्मयश्च ततः परम्।
जातो लौकिकभावस्य दृढत्वादिति रूप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ––भक्ति, ज्ञान, पूर्ण ज्ञान और उसके बाद लौकिक भाव दृढ़ होने से विस्मय हुआ। इसका वर्णन क्रम पूर्वक चार श्लोकों में करते हैं—जैसे कि ३६ वें श्लोक में भक्ति का, ३७ वें श्लोक में ज्ञान का ३८ वें श्लोक में पूर्णज्ञान का और ३९ वें श्लोक में विस्मय का वर्णन है।

आभास----एवमेकमुपाख्यानं पञ्चानां मध्ये निरूपितं, द्वितीयमाहैकदेतिचतुर्भिः।

आभासार्थ––पांचों में से इस प्रकार एक उपाख्यान कहा अब ३६, ३७, ३८, ३९ इन चार श्लोकों से दूसरा उपाख्यान कहते हैं।

श्लोक––**एकदार्भकमादाय स्वांकमारोप्य भामिनी।**
प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ––एक दिन स्नेह से भरपूर यशोदा बालक को ले अपनी गोदी में बिठा कर, दूध टपकने वाले स्तन से दूध पिलाने लगी।

सुबोधिनी—आदौ स्वतन्त्रा पूतना निवर्तिता ततः परतन्त्रोपि शकटस्ततः सर्वमारकः, हेत्वन्तरं च न प्रदर्शितं, तथाप्यसम्भावनाया दृढत्वान्न दृढा भगवत्यासक्तिर्भविष्यतीत्यसम्भावनानिवृत्त्यर्थं स्वस्मिन् भगवत्येव तादृशं रूपं प्रदर्शितवान् स्वधर्मनिष्ठधर्मपरिज्ञाने भक्तिरेव हेतुरिति प्रथमतो भक्तिमाह, एकदा गृहकार्यादिवैयग्र्याभावदशायां भगवदेकप्रवणचित्तदशायां वा, अर्भकं बालकं कलवाक्यं वर्षाधिकं, आदाय क्रीडन्तं बलात् स्वयं गृहीत्वा, स्वस्याङ्केसमारोप्यसर्वोत्तममासनं दत्वा भामिनी परमसौभाग्यवती, सर्वाभरणभूषितं च विधाय, भामिनी भामयुक्ता च, तेन भगिन्या अपि सौभाग्यं द्योतितं, एवं परम्परासौभाग्यवती स्वतः

कर्मवशाच्चोत्तमा, प्रकर्षेण स्नुतं स्नेहवशान्निर्गतं स्नेहेन च परिप्लुतान्तर्बहिर्व्याप्ता जातस्नेहकार्या च स्तनं पाययामास, 'प्रयतात्म' त्वं भामिनीपदेनोक्तं, प्रशब्देन 'भक्त्युपहृत'त्वमुक्तं, स्नेहपरिप्लवाद् भक्तयादानमुक्तं, अन्त:स्थितबालानामल्पतृप्तत्वात् स्वतोपानं, अपेक्षाया अपि विद्यमानत्वादन्यप्रेरणया पानं, अत एव भगवतो न सर्वपानं अधिकपाने बालानामुपद्रवो भवतीति प्रयोजककर्तृ व्यापारनिवृत्त्यर्थं भक्तिप्रवणां कृत्वा स्वधर्मं दर्शितवान् "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इतिन्यायेन भक्तयुद्गतत–द्धर्मं गृहीत्वा कृपया फलरूपं स्वधर्मज्ञानं सम्पादयति ।। ३६ ।।

व्याख्यार्थ—पहले स्वतन्त्र पूतना का वध किया, तदनंतर परतन्त्र भी उस शकट को तोड़ डाला, उसके बाद सर्व नाशक तृणावर्त का नाश किया। इन तीनों के नाश करने में कोई दूसरा कारण नहीं दिखाया है। इतनी अद्भुत लीलाओं को देखकर भी जो असम्भावना दोष नष्ट नहीं होगा, तब तक भगवान् में दृढ़ आसक्ति नहीं होगी। अतः असम्भावना दोष का निवारण करने के लिये भगवान् ने अपने में ही ऐसे रूप दिखाने की लीला की, जिससे उस दोष का नाश हो जाए। अपने धर्म अर्थात् भगवद्धर्म का ज्ञान भक्ति से ही होता है। इसलिये पहले इस श्लोक में भक्ति का वर्णन करते हैं। एक दिन यशोदा जब गृह-कार्य से निवृत्त हो गई थी और उसका भगवान् में ही चित्त लगा हुआ था तब मीठी बोली बोलने वाले एक वर्ष से कुछ अधिक उमर वाले खेलते हुए बालकृष्ण को उसने बल से स्वयं पकड़ के अपनी कोमल गोदी में जो सर्वोत्तम आसन था बिठा लिया। श्लोक में यशोदा नाम न देकर, 'भामिनी' कहा है, उसका भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं कि यशोदा परम सौभाग्यवाली थी इसलिये शुकदेवजी ने उसके परम सौभाग्य को प्रकट करने के लिये इस शब्द का प्रयोग किया है। वह स्त्री, परम सौभाग्यवती कहलाती है, जिसकी सब बातें पति माने। नन्दरायजी यशोदा की सब बातें मानते थे अत: यशोदा को परम सौभाग्यवती कहा गया है। वह सब प्रकार के आभूषण पहने हुए थी और बहनोई वाली थी जिससे उसके बहिन होने का सौभाग्य भी दिखाया गया है। इस प्रकार परम्परा से (सब प्रकार से) भाग्यवती थी और कर्मों से भी उत्तम थी। स्नेह के कारण विशेष प्रकार से दूध टपकने लगा। इससे यशोदा प्रेम परिप्लुत[1] हो गई। स्नेह का कार्य पूर्ण होने से अर्थात् स्तन से दूध स्रवित होने से स्तन पिलाने लगी। 'भामिनी' पद देने का यह भी आशय है कि यशोदा में प्रयतात्मत्व[2] भी था अर्थात् यशोदा संयम वाली थी 'प्र' शब्द से 'भक्तिमती' कहा। स्नेह परिप्लुत होने से भक्ति से भगवान् को स्तन दिया। यद्यपि भगवान् के अन्त:स्थित बालक पूर्ण तृप्त न हुए थे एवं भगवान् स्वत: पान करते न थे। बालकों को तृप्त कराने के लिये दूध की अपेक्षा भी थी तथापि अन्य की प्रेरणा से पान किया अत: भगवान् ने सब दूध का पान नहीं किया क्योंकि अधिक पान करने से अन्त:स्थित बालकों को कष्ट होता। प्रयोजककर्ता यशोदा ने जो व्यापार[3] प्रारम्भ किया था, उससे यशोदा की निवृत्ति

१—भरपूर। २—संयमवाली, जितेन्द्रिय। ३—स्तनपान कराना।

कराने के लिये और उसे भक्ति में मग्न करने के लिये* भगवान् ने स्वधर्म [1] दिखाया। गीता में कहे हुए इस न्याय से कि जो जैसे मेरी शरण में आते हैं वा मुझे भजते हैं मैं भी उनसे वैसे ही प्रकार से वर्तता हूँ। भक्ति से प्रकट, यशोदा के धर्म [2] को ग्रहण कर, आप भी यशोदा की कृपा से फलरूप स्वधर्म [2] (स्व स्वरूप) का ज्ञान प्राप्त कराते हैं। अर्थात् असंभावना दोष निवृत्यर्थ एवं अपने में दृढ़ आसक्ति कराने के लिये अपने भगवत्व धर्म 'मैं भगवान् हूँ और मुझ में सब कुछ करने की सामर्थ्य है। इसलिये मैं जो लीलाएँ करता हूँ उसमें विस्मय या संशय नहीं करना चाहिये' का ज्ञान यशोदा माता को प्राप्त कराते हैं ।। ३६ ।।

आभास—अतो दानाभिनिवेशं परित्यज्य कौतुकाभिनिविष्टा भगवद्धर्मपरा प्रदर्शितं धर्म दृष्टवतीत्याह प्रीतप्रायस्येति ।

आभासार्थ—स्तन-पानरूप दान का आग्रह छोड़, कौतुकाविष्ट (आश्चर्य में पड़ी हुई) यशोदा भगवान् के धर्म परायण हो, जो भगवान् ने जृम्भा [3] लेते हुए अपना धर्म प्रकट किया, उसको देखने लगी जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम् ।**
मुखं लालयती राजन् जृम्भतो ददृशेत्विदम् ।। ३७ ।।

श्लोकार्थ—थोड़ासा स्तन पान किये हुए उस (बालकृष्ण) के सुन्दर हास्य वाले मुख को यशोदा प्यार से लडाती थी, हे राजन्! उस समय जो बालक ने जम्भाई ली तो यशोदा ने उसके मुख में यह जगत्, जो निम्न श्लोक में स्पष्ट करेंगे, देखा।

सुबोधिनी—सर्वात्मना भगवता न पीतमेव, आपाततः पीतं, तथाकरणे हेतुर्जननीति, जननबुद्धिः स्वेनैवोत्पादितेतिभगवच्चरित्रं, **सा** पूर्वोक्तभक्तियुक्ता, कार्यार्थ भक्तेः पुनरनुसन्धानं कार्यदशायां सद्भावज्ञापनाय, **तस्येति** निरोधार्थमागतस्य, **रुचिरं** स्मितं यस्य मुखस्य, मोहसहितं स्नेहं जनयतीति परमसौन्दर्यं भावयन्ती तादृशं **मुखं लालयन्ती** जाता, **राजन्निति**सम्बोधनं राजलीलायामस्यानुभवः सिद्ध इत्यग्रे वक्ष्यमाणस्यापूर्वत्वात् सावधानतया स्थातव्यमितिज्ञापनार्थं, अग्निवायू ज्ञानक्रियारूपे ते यशोदायां योजयितुं **जृम्भा** भगवतः, अन्यथा द्रष्टुं सा न शक्नुयात्, भिन्नं जगत् मायिकं वा तत्र दृष्टवतीतिपक्षं व्यावर्तयितुं तुशब्दः, **इदं जगज्जृम्भतो** भगवतोर्यान्मुखद्वारा भगवति **ददृशे**, इदं ब्रह्माण्डमात्रस्यैव प्रदर्शनं, अग्रे सम्यगधिकारे सिद्धे सर्वस्यापि प्रदर्शनं वक्ष्यति ।। ३७ ।।

* लालूभट्टजी कहते हैं कि भक्ति परायण का भाव है कि यशोदा को शुद्ध पुष्टि भक्तिरूप मुखारविन्द के दर्शन में तत्पर किया।

१—अपना धर्म। २—दूध या भक्ति ३—उबासी।

व्याख्यार्थ--भगवान् ने पूर्णतया स्तन-पान नहीं किया, किन्तु थोड़ासा पिया, क्योंकि जननी है। यशोदा में जो यह भाव था कि इसको मैंने ही उत्पन्न किया है, इसलिये यह मेरा पुत्र है, इसलिये स्तन-पान से इसको तृप्त करूं। यशोदा में यह भाव, भगवान् ने ही पैदा किया था इसलिये यह भी भगवच्चरित्र है। यशोदा में माता का भाव है। यशोदा के इस मातृ-भाव को स्थिर करने के लिये, थोड़ा सा स्तन पान किया था, नहीं तो, भगवान तो न खाते हैं और न पीते हैं एवं अन्तःस्थित बालकों को भी भूख नहीं थी, अतः केवल माता की प्रसन्नता के लिये थोड़ासा स्तन पान किया। वह यशोदा पूर्व श्लोक में कही गयी भक्ति वाली थी। कार्य के लिये, कार्य दशा में, सद्भावना दिखाने के अर्थ, फिर अनुसन्धान[1] किया गया है। पुनः कार्य दशा में भक्ति का अनुसन्धान किस लिये किया जा रहा हैं। वहाँ कहते हैं कि उसके लिये (जो निरोध करने के लिये ही प्रकट हुआ है) निरोधार्थ प्रकटित का मुख मधुर मनोहर मुसकान वाला है और वह मुसकान मोह सहित, स्नेह पैदा करने वाली थी। जिससे यशोदा उस मुख में परम सौन्दर्य का अनुभव करती हुई, उसको लड़ाने[2] लगी। यहाँ परीक्षित को 'राजन्' संबोधन इसलिये किया है कि आप सावधान हो जाओ क्योंकि यद्यपि राजलीला में इसका (मुख के लाड लड़ाने का) अनुभव हुआ ही है। आगे जो कहा जाएगा, वह अपूर्व[3] होगा। भगवान् को अपने मुख में, यशोदा को 'जगत्' दिखाना था, इसे देखने के योग्य, यशोदा तब हो, जब उसमें ज्ञान और क्रिया शक्ति विद्यमान हो। इसलिये भगवान् ने पहले जंभाई ली, जिससे भगवान् के मुख में से, उत्पन्न उष्णता रूप अग्नि एवं वायु का प्रवेश भगवान् ने यशोदा में कराया। भगवान् की उष्णता, अग्नि प्रकाश रूप होने से, ज्ञान शक्ति थी एवं वायु क्रिया रूप थी। इन दोनों ज्ञान एवं क्रिया रूप शक्ति का, यशोदा में प्रवेश होने से, वह भगवान् के मुखारविन्द में जगत् (जिसका वर्णन निम्न श्लोक में होगा) देख सकी। यदि भगवान्, इस प्रकार जंभाई ले, ज्ञान और क्रिया शक्ति यशोदा में प्रविष्ट न करते तो यशोदा मुख में जगत् नहीं देख सकती थी। श्लोक में दिये हुए 'तु' शब्द क्यों दिया है। उसका स्वारस्य[4] प्रकट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि शुकदेवजी ने 'तु' शब्द इसलिये दिया है कि किसी को यह भ्रम नहीं करना चाहिये कि यशोदा ने भगवान् के मुख में जो 'जगत्' देखा वह मायिक[5] अथवा दूसरा (भगवान् के बनाये हुए इस प्रत्यक्ष जगत् से कोई दूसरा) जगत् था। यह सामने दीखता हुआ जगत्, जम्भाई लेने वाले भगवान् से उसके मुख द्वारा भगवान् में देखा। इस समय तो केवल ब्रह्माण्ड का प्रदर्शन कराया क्योंकि यशोदा का अभी इतना ही अधिकार था। जब पूर्ण अधिकारिणी होगी तब सबके दर्शन का वर्णन करेंगे॥ ३७॥

१—चिन्तन। २—प्यार करने। ३—नवीन, नया।
४—भाव या आशय। ५—माया से बनाया हुवा, बनावटी।

आभास—"द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दा" दित्यधिकरणे प्रपञ्चाधारत्वे ब्रह्मत्वं सिद्धं तदचिन्त्यानन्तशक्तिमति सर्वं सम्भविष्यतीत्याश्चर्य विहाय भगवत्परं चित्तं भवति, तत्र दृष्टं भ्रमव्यावृत्त्यर्थं गणयति खमिति ।

आभासार्थ—'द्युम्बाद्यायतनं स्व शब्दात्' इस ब्रह्मसूत्र से जगत् का आधार ब्रह्म है अतः जगत् भी ब्रह्मातिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है । ब्रह्म अचिन्त्य शक्तिमान है । वह सब कुछ हो सकता है एवं कर सकता है । इसलिये भगवत्लीला में कोई आश्चर्य नहीं । यों समझ भगवत्परायण चित्त वाली होकर, यशोदा ने जो कुछ देखा वह भ्रम नहीं था, इससे एक-एक वस्तु का नाम लेकर इस श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च ।**
द्वीपान्नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि ॥ ३८ ॥

श्लोकार्थ—आकाश, स्वर्ग, पृथ्वी, तारामण्डल, दिशा, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि,[3] वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वत इनकी पुत्रियाँ (नदियाँ) वन, स्थावर[4] जङ्गम[5] सब प्रकार के जीव देखे ।

सुबोधिनी—आदौ खमाकाशं विस्तीर्णं, ततो **रोदसी** द्यावापृथिव्यौ तत् तु तदाधारं, तथा **ज्योतिरनीकं** ज्योतिश्चक्रं द्यावापृथिव्याधारं, दश दिशस्तत एव विभक्ताः, **सूर्येन्दुवह्नयस्त्रिविधं** ज्योतिः, **श्वसनो** वायुः, **अम्बुधयः** समुद्राः, भूम्याकाशावुक्तावेव, एवं पञ्च भूतान्युक्तानि, भूमिभेदा द्वीपादयोलौकिकज्ञानार्थं सप्त **द्वीपाः**, **नगाः** पर्वतास्तद्व्यावर्तकास्तदवान्तरज्ञानहेतवः, तद्दुहितरो नद्यः, **वनानि** तदवान्तरभेदा अल्पीयांसोपि, ततोपि सूक्ष्मा दृष्टा इत्याह **भूतानीति**, **यानि** प्रसिद्धान्यपि यथा कल्पवृक्षा यथा वा नारदादयो ब्रह्मादयो वा, आधाराधेयभावस्तु तस्या न प्रतीतोकस्माज्जृम्भानन्तरमेव सर्वं दृष्टम् ।। ३८ ।।

व्याख्यार्थ—पहले विपुल[4] आकाश देखा । इसके अनन्तर, स्वर्ग और पृथ्वी देखी । वह आकाश तो स्वर्ग एवं पृथ्वी का आधार* है इस प्रकार स्वर्ग और पृथ्वी, तारामण्डल के आधार हैं । तारामण्डल के कारण दिशाएँ दश हुई हैं । सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि ये तीन प्रकार के प्रकाश हैं । वायु, समुद्र (जल) पृथ्वी आकाश ऊपर कहे हुए ही हैं इस प्रकार पांच भूत बताए । द्वीपादि[5]

---

* गो० श्री पुरषोत्तमजी कहते हैं कि आकाश, स्वर्ग पृथ्वी का आधार इसलिये कहा गया है कि जो आकाश में अवकाश खोखलापन (पोल, खाली स्थान) है अतः इस पोल में स्वर्ग पृथ्वी रह सकते हैं, नहीं तो कहाँ रहते थे जिससे आकाश, स्वर्ग एवं पृथ्वी का आधार है ।—'प्रकाश'

१—अग्नि । २—जड़ । ३—चेतन । ४—फैला हुआ । ५—टापू इत्यादि ।

भूमि के ही भाग हैं। अलौकिकता जताने के लिये सात द्वीप कहे हैं। द्वीपों की सीमा करने वाले तथा उनके भीतरी पदार्थों का ज्ञान कराने वाले 'पर्वत' और उनकी पुत्रियां (नदियां), बनों और पवतों के कारण छोटे-छोटे बन ही बन देखे और उससे भी छोटे-छोटे पदार्थ देखे। उनका वर्णन करते हुए कहते हैं कि भूतमात्र देखे और जो प्रसिद्ध पदार्थादि थे वे भी देखे जैसे कल्पवृक्ष, नारदादि तथा ब्रह्मादि देखे। यशोदा को इस समग्र दृश्य जगत् के आधाराधेय की प्रतीति तो न हुई, अचानक भगवान् की जम्भाई के अनन्तर देखे ॥ ३८ ॥

आभास----अग्नीषोमात्मकत्वाच्च जगतोद्यापि तस्यास्तथाधिकारो न जात इत्यधिकारार्थं प्रदर्श्य पुनर्नेत्रनिमीलने तत् तिरोहितं कृत्वा विस्मयाविष्टेव भगवता कृतेत्याह सा वीक्ष्येति।

आभासार्थ—जगत्, अग्नि एवं वायु रूप हैं। इस स्वरूप को समझने और देखने की अब तक यशोदा पूर्ण अधिकारिणी नहीं हुई है। भगवान् ने उस (यशोदा) को अधिकारिणी बनाने के लिये क्षणमात्र जगत् दिखाया। जगत् देखकर यशोदा ने ज्यों नेत्र बन्द किये, तो भगवान् ने जगत् को तिरोहित कर डाला, जिससे यशोदा विस्मित हो गई। इस प्रकार भगवान् ने यशोदा को विस्मित किया* इसका वर्णन निम्न ३९ वें श्लोक में करते हैं।

श्लोक----**सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन् सञ्जातवेपथुः ।**
सम्मील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत् सुविस्मिता ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ––हे राजन् ! मृग के बच्चे के समान नेत्र वाली, यशोदा ने अचानक विश्व को देख, कम्पायमान हो, आँखें बन्द कर लीं एवं यशोदा आश्चर्य मग्न हो गई।

सुबोधिनी— **विश्वं** तथा पूर्वं श्रुतमिदानीं दृष्टं **सहसा** गमनादिकारणव्यतिरेकेणैव, न जानाति भगवता द्वयं सम्पादितमिति, "तस्माज्जञ्जृम्भमानादग्नीषोमौ निरक्रामता" मितिश्रुते; तिरोभावप्रस्तावात् सिद्धवत्कारेणोक्तं, **सहसे**त्यकस्मात्, तस्मिन् दृष्टे सम्यग् **जातो वेपथुः** कम्पो यस्यास्ततः समीचीनमेव विश्वमधिकाराभावाद् भयानकं जातं, ततो, **नेत्रे सम्मील्य** तत्र स्वभावो हेतुर्बलिष्ठ इति दृष्टान्तमिवाह **मृगशाववदक्षिणी** यस्याः, मृग एव भीरुस्ततोपि शावो बालकः, सौन्दर्यं चाक्ष्णोर्निरूपितं भगवद्दर्शनयोग्यत्वाय, ततोन्तःकरणे विस्मय एवोत्पन्न इत्याह **सुविस्मितासी**दिति, सुतरां **विस्मितासी**त्, पूर्वं कार्यदर्शनापेक्षयापि कारणे दृष्टेधिको विस्मयो जात इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

---

* प्रभुचरण यशोदा को विस्मित कराने का आशय बताते हैं कि यद्यपि यशोदा का भाव पुत्र के कारण लौकिक था, फिर भी वह भगवान् में होने से अलौकिक ही था। उस अलौकिक भाव को दृढ़ करने के लिए, भगवान् को, यशोदा को अपने अलौकिकत्व धर्म दिखाने हैं—परन्तु एक साथ दिखाने से यशोदा स्नेह के कारण डर जावे, वा उसके प्राण भी चले जांय, इसलिये धीरे-धीरे धर्म दिखाते हैं; जिससे यशोदा में धैर्य रहे। अब धैर्याभाव ही अनधिकार है, धैर्य आने से अधिकार होगा।

व्याख्यार्थ—यशोदा ने विश्व है, यह केवल कानों से सुना था। आँखों से देखा नहीं था, वह विश्व जो सुना था, उस (विश्व) को आँखों से अब देखा। कैसे देखा? विश्व के सब स्थलों पर जाकर विश्व देखा वा अन्य प्रकार से देखा, इस शङ्का निवारण के लिये आचार्यश्री ने कहा है कि बिना गमन आदि क्रिया करने के (जाने फिरने आदि क्रिया करने के) वहाँ बैठे ही बैठे भगवान् के मुखारविन्द में समग्र विश्व देख लिया। किन्तु यशोदा यह न समझ सकी कि ये दोनों कार्य[1] भगवान् ने किये हैं। क्योंकि यशोदा (इस) अलौकिक (कार्य) को पूरी तरह समझने के योग्य नहीं हुई थी। भगवती श्रुति ने कहा है कि 'तस्माज्जञ्जृभ्यमानादग्नीषोमौ निरक्रामताम्' जम्भाई[2] खाते हुए अग्नि और सोम वृत्र के मुख से निकले[3]। इस विषय का स्पष्टीकरण विश्व को तिरोहित करने से भी यह बताया कि जगत् सिद्ध ही था। अचानक विश्व को देखने से यशोदा कम्पित हो गई। यद्यपि विश्व सुन्दर सत्य रूप था, तो भी अधिकार के अभाव के कारण यशोदा भयभीत होकर काँपने लगी। भय के कारण आँखें बन्द कर लीं। इतनी यशोदा क्यों भयभीत हुई, जबकि जो विश्व देखा, उसमें भयानक पदार्थ कोई नहीं था। वहाँ कहते हैं कि स्वभाव सब से बलवान कारण है। यशोदा स्वभाव से डरपोक थी। उसकी सिद्धि करते हुए शुकदेवजी कहते हैं कि यशोदा के नेत्र मृग के बच्चे के समान थे अर्थात् जैसे मृग डरपोक होते हैं उनके बच्चे पिता से भी अधिक डरपोक होते हैं; वैसे ही यशोदा के नेत्रों से ज्ञात होता है कि यशोदा मृग के बच्चों के समान डरपोक स्वभाव वाली थी इसलिये वह डरकर काँपने लगी। आचार्यश्री (यशोदा की आँखें हरिण के बच्चे के समान थीं) शुकदेवजी के इस प्रकार नेत्रों की उपमा का दूसरा आशय कहते हैं कि इससे शुकदेवजी यह बताना चाहते हैं कि यशोदा के नेत्र भगवान् के दर्शन के योग्य हैं। उसके पश्चात् अन्तःकरण में अधिक विस्मय उत्पन्न हुआ। पहले कार्य (भगवान् को भारी) देखने से फिर कारण (भगवान् का भारीपन) तथा उनके भीतर विश्व का होना देखने से अधिक विस्मित हुई।

कारिका—**पूतनासुपयःपाता बालःदुखनिवारकः।**
प्रपञ्चस्मृतिहन्ता च गोकुले राजते हरिः॥ १॥
स्वासक्त्यर्थं शकटभित् तृणावर्तविनाशकः।
सामर्थ्यज्ञापनार्थाय विश्वाधारः प्रसीदतु॥ २॥ ३९॥

१—विश्व दर्शन, २—जम्भाई ये दो कार्य—'प्रकाश'

२—अग्नि का और सोम (वायु) का प्रादुर्भाव ये दोनों कार्य—'लेख'

३—इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि श्रुति में, जो जम्भाई लेते हुए वृत्र के मुख से 'अग्नि (प्राण वायु) और सोम (अपान वायु) निकले थे। ऐसा कहा है कि वे वृत्र की शक्ति से नहीं, किन्तु वृत्र में विराजमान भगवान् की शक्ति से उत्पन्न हुए थे। वहाँ तो स्वयं भगवान् ने जम्भाई ली, जिससे 'अग्नि-सोमात्मक' विश्व प्रकट हुआ है—'लेख'

कारिकार्थ----पूतना के प्राणरूप दूध, पान करने वाले बालकों का दुःख मिटाने वाले प्रपञ्च की स्मृति को मिटाने वाले हरि, गोकुल में शोभा देते (विराजते) हैं ॥१॥

अपने में आसक्ति कराने के लिये शकट का भङ्ग करने वाले और अपनी सामर्थ्य जताने के लिये तृणावर्त का नाश करने वाले विश्व के आधार श्रीकृष्ण प्रसन्न हो ॥२॥

इति श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध की सुबोधिनी टीका श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचित, के 'तामम' प्रकरण के 'प्रमाण' अवान्तर प्रकरण के 'यश-निरुपक' तृतीय अध्याय (स्कन्धानुसार सप्तम अध्याय) का हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण ।

[इस 'यश' निरूपक अध्याय में भगवान् श्रीबालकृष्ण की वर्णित लीलाओं का भक्तशिरोमणि श्री सूरदासजी तथा श्री परमानन्दजी द्वारा गायन किए हुए पद भगवद्रसिक पाठकों के प्रमोदार्थ लीलाओं का अवगाहन करने के लिए नीचे दिये जाते हैं ।]

❀ अथकरवट एवं शकट भञ्जन ❀

राग रामकली

करवट लई प्रथम नंद नंदन । ताको महरि महोत्सव मानत भवन लिपायो चंदन ॥ १ ॥
बोली सकल घोष की नारी तिनको कियो वंदन । मंगल गीत गवावत हरखत हसत कछु मुख मंदन ॥ २ ॥
यह विधि भई घड़ी द्वै चारिक तब कुंवर उठि जागे । भूलि गई संभ्रममें सुतको कछु एक रोवन लागे ॥ ३ ॥
दई लात गिरि गयो शकट घसि तब ही सबे उठि दोरे । विस्मय भये विलोकत नैनन भूले से कछु बोरे ॥ ४ ॥
लिये उठाय कुंवर व्रज रानी रहसि कंठ लपटाई । प्रेम विवस सब आपुन सँभारत परमानंद बलि जाई ॥ ५ ॥

राग सुहा

अति विपरीत तृणावर्त आयो ।
बात चक्र मिस व्रज उपर ह्वे नंद पोरी के भितर धायो ॥ १ ॥
पोढे श्याम अकेले आंगन लेत उड्यो आकाश चढायो ।
अंधाधुंध भयो सब गोकुल जो जहाँ रह्यो सो तहाँ छिपायो ॥ २ ॥
जसुमति आइ धाइ जो देखे श्याम श्याम कहो शोर लगायो ।
धावहु नंद गुहार लगो किन तेरो सुत अंधबाइ उडायो ॥ ३ ॥
इहो अंतर आकासतें आवत परवत सम कही सबही बतायो ।
मार्यो असुर शिलासों पटक्यों आपु चढे ता उपर भायो ॥ ४ ॥
दोरे नंद जसोदा दोरी तुरत लेत हो कंठ लगायो ।
सूरदास यह कही जसोदा ना जांनों विधि नहि कहा भायो ॥ ५ ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित – सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस-प्रकरण

प्रमाण अवान्तर प्रकरण

चतुर्थ अध्याय

दशमस्कन्धानुसार : अष्टमोऽध्याय

कारिका—**येनैव तु चरित्रेण सत्त्वं शुध्यति सर्वथा ।**
सर्वस्य मूलं यद्यस्मात् तदष्टम उदीर्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—अन्तःकरण शोधक, सब साधनों से उत्तम (मूल) साधन, भगवान् के चरित्र हैं। अतः जिन चरित्रों से अन्तःकरण शुद्ध होता है, वे चरित्र इस अध्याय में कहे जाते हैं।

व्याख्या—यद्यपि अगले कहे गए चरित्रों से अविद्या का नाश और भगवदासक्ति हुई है, तो भी, जब तक अन्तःकरण पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं हुआ है एवं अन्तःकरण में स्वल्प भी अविद्या का लेश रह गया हो, तो निरोध पूर्ण एवं परिपक्व नहीं होता है। इसलिए इस अध्याय में वे चरित्र वर्णित होंगे जिन से अन्तःकरण पूर्ण शुद्ध हो और अविद्या कार्य का रहा हुआ लेश भी नष्ट हो जाय ॥ १ ॥

कारिका—**नामान्यग्रे शोधकानि ततो रूपाण्यनेकशः ।**
ज्ञानं भक्तिश्च भाग्यं च पञ्चार्थाः सर्वशोधकाः ॥ २ ॥

कारिकार्थ--अन्तःकरण को शुद्ध करने वाले पांच पदार्थ हैं--१-भगवान् के नाम, २-तदनन्तर अनेक प्रकार के भगवान् के रूप, ३-ज्ञान, ४-भक्ति और ५-भाग्य ।*

कारिका—**संस्कृतान्येव नामानि शोधकानीति संस्कृतिः ।**
स्वेच्छालीलाविशिष्टं हि रूपमानन्दभावतः ॥ ३ ॥

कारिकार्थ--नामकरण संस्कार इसलिये किया जा रहा है कि नामों का जब संस्कार होता है, तब वे नाम शुद्धि करते हैं । भगवान् अपनी इच्छा से (न कि अन्य देवादिकों की इच्छा से, भूमिभारहरणादि कार्य के लिये जो रूप प्रकट करते हैं; क्यों

---

*व्याख्या—देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और आत्मा इनकी पुष्टि करने से अविद्या के कार्य का नाश हो जाता है । इनके (देहादि के) शोधक पांच पदार्थ कहे गए हैं । १—नाम—नाम स्मरण से (१०–७–२ के प्रमाणानुसार) अन्तःकरण शुद्ध होता है, २—भगवान् के स्वरूप दर्शनादि से, इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं, शुद्ध हुई इन्द्रियाँ भगवत्स्वरूप एवं भगवल्लीलाओं में आसक्त हो जाती हैं, ३—ज्ञान—देहाध्यास[1] को नाश कर, देह को शुद्ध करता है और स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराता है, ४—भक्ति—देह, प्राण और इन्द्रियों से प्रेम एवं आसक्ति को हटाकर वह प्रेम तथा आसक्ति भगवान् में कराती है, ५—भाग्य—पूर्व जन्म में किये हुए कर्म सब के मूल हैं अतः यदि पूर्व जन्म में सुकर्म किये गये हैं तो भाग्य श्रेष्ठ होने से आत्मा शुद्ध होती है, जिससे उसकी शुभ विचार एवं शुभ कार्य (भगवत्सेवा स्मरणादि) में रुचि होती है । यद्यपि पूर्व-जन्म कृत कर्म से भाग्य बनता हैं तो भी वह भाग्य फलीभूत तब होता है, जब इस जन्म में गुरु की कृपा हो । गुरु की कृपा बिना ईश्वर की कृपा भी नहीं होती है—'प्रकाश'

इस अध्याय में १ श्लोक से २१ श्लोक तक नाम प्रकरण है, २२ श्लोक से ३१ श्लोक तक भगवान् के रूपों का वर्णन है । भगवान् के नाम ग्रहण से जिनके हृदय शुद्ध होते हैं, उनको ही भगवत्दर्शन से हृदय शुद्धि का लाभ होता है । ३२ श्लोक से ४२ श्लोक तक 'मृत्स्ना भक्षण' लीला का वर्णन हैं, जिससे ज्ञान प्राप्ति होती है । इस ज्ञान प्राप्ति से अन्तःकरण शुद्ध होता है । ४३ श्लोक से ४५ श्लोक तक भक्ति का वर्णन है, ४६ से ५२ तक नन्दजी के भाग्य का निरूपण किया गया है । इस प्रकार इस अध्याय में पाँच उपप्रकरण किये गए हैं । आध्यात्मिक रीति से भगवान् के नाम, रूप, ज्ञान, भक्ति तथा भाग्य ये पांच अन्तःकरण शोधक हैं ॥ २ ॥—'योजना'

१—देह को ही अपना स्वरूप समझना ।

कि वह रूप अंश कला वा व्यूहों का है) जो लीला करते हैं उस लीलार्थ जिस रूप को प्रकट करते हैं वह पूर्णानन्दरूप होनें से, शुद्धि करने वाला होता है ।†

कारिका––**अन्येच्छया कृतान्यत्र चरित्राणि ततोन्यथा ।**
ज्ञानं प्रत्यक्षतो दृष्टं माहात्म्यज्ञानपूर्वकम् ।। ४ ।।

कारिकार्थ––अन्य की इच्छा से किये हुए चरित्रों से इस अध्याय में किये हुए चरित्र अन्य प्रकार के हैं। भगवान् के माहात्म्य ज्ञान से, भगवत्स्वरूप का ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है ।‡

कारिका––**स्नेहश्चालौकिके तद्वद् हेतुश्च महतां कृपा ।**
पूर्वस्मिन् हृदये सिद्धे स्वत एवाग्रिमं भवेत् ।। ५ ।।

कारिकार्थ––भगवत्स्नेह भी उसी प्रकार, अन्तःकरण शोधक है। अन्तःकरण शोधक नाम, रूप, ज्ञान और भक्ति की प्राप्ति में महत्पुरुषों की कृपा का कारण है। चारों में से पहले (नाम) की हृदय में सिद्धि होने से, दूसरों की सिद्धि आप ही हो जाएगी ।$

---

†**व्याख्या**—अन्तःकरण की शुद्धि का कार्य मर्यादा मार्गीय है, इसलिये मर्यादा मार्ग में पुरोहित द्वारा उपदिष्ट संस्कृत (संस्कार किये हुए) नाम ही शोध कहलाते हैं ।* और जब तक अन्तःकरण पूर्ण शुद्ध न हुआ हो तब तक भगवान् के रास सम्बन्धी लीलाओं वाले रूप की भावना नहीं करनी चाहिये, अन्तःकरण शोधक वह रूप है, जो अपनी इच्छा से की हुई लीला में प्रकट होता है, वह ही आनन्दमय होने से शोधक है ।। ३ ।।—**टिप्पणी**

‡**व्याख्या**—भगवान् आनन्द स्वरूप हैं, इसलिये भक्तों को भगवान् के सम्बन्ध से आनन्द ही प्राप्त होता है, इसलिये इस अध्याय में कहीं भी भक्तों को कुछ भी दुःख की प्राप्ति नहीं हुई है, क्यों कि, भगवान् जब स्वतन्त्र अपनी इच्छा से लीला करते हैं, तब भगवान् का रूप भक्तों को आनन्द देने वाला आनन्द रूप ही है; किन्तु जहाँ अन्य की इच्छा से (अधीन होकर) लीला करते हैं, उस समय भक्तों को कुछ दुःख भी होता है। इसलिये इस अध्याय में वर्णित चरित्र दूसरे प्रकार के हैं ।। ४ ।।—'**टिप्पणी**'

$**व्याख्या**—महापुरुषों की कृपा परम्परा से शुद्धिकर्त्री है। इसलिये महापुरुषों की कृपा भी ५वीं शोधक पदार्थ है। लेखकार ने यह आशय कारिका में दिये हुए (च) शब्द से बताया है। पहले नाम के श्रवण कीर्तनादि से भगवत्स्वरूप के दर्शन हो जाते हैं, स्वरूप दर्शन से माहात्म्य ज्ञान का प्रकाश हृदय में होता है, ज्ञान प्रकाश से भक्ति सिद्ध होती है ।—'**लेख**'

---

* प्रभुचरण के कहने का स्वारस्य यह है कि पुष्टि मार्ग में भगवन्नामों के संस्कार की आवश्यकता नहीं है पुष्टि मार्ग में भगवन्नाम सहज संशोधक है ।—अनुवादक

कारिका—**तत्राङ्गं द्वितयं प्रोक्तं गुरुर्दुःसङ्गवर्जनम् ॥ ५½ ॥**

कारिकार्थ—उसमें दो अङ्ग कहे हैं १—गुरु और २—दुःसंग त्याग ।

व्याख्यार्थ—नामकरण संस्कार उत्सव जो किया गया उसके दो अंग हैं (थे) । १—पुरोहित गुरु गर्गाचार्यजी, जिन्होंने आकर संस्कार कराया और दूसरा दुःसंग त्याग अर्थात् संस्कार निर्विघ्न और शुद्धि पूर्वक सम्पूर्ण होकर आनन्ददायी हो, इसलिये दुष्टों (नास्तिक एवं शत्रु आदि) से छिपा के संस्कार करना चाहिये । जैसे गर्गाचार्यजी ने भगवान् का नामकरण संस्कार दुष्टबुद्धि कंस से छिपा कर किया था ॥ ५½ ॥

आभास—निरोधे भगवदासक्तिसिद्धयर्थमन्तःकरणशुद्धयर्थं च भगवतो नामकरणोत्सवमाह गर्ग इत्येकविंशत्या ।

आभासार्थ—निरोध में (दशम स्कन्ध में) भगवदासक्ति के सिद्धचर्थ और अन्तःकरण की शुद्धि के लिये २१ श्लोकों से भगवान् के नामकरणोत्सव का वर्णन करते हैं ।

श्रीशुकउवाच

श्लोक—**गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां सुमहातपाः ।**
व्रजं जगाम नन्दस्य वसुदेवप्रचोदितः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! महातपस्वी और यदुवंशियों के पुरोहित गर्गाचार्यजी वसुदेवजो की प्रेरणा से नन्दजी के व्रज में गए ।

सुबोधिनी—चिरकालोत्पन्नोसंस्कृत एव तिष्ठत्विति स्वतो नामकरणं चिरकालातिक्रमश्च तथैवभगवत्प्रेरणात् कालस्य निमित्तत्वाभावान्न कोपि दोषस्तज् ज्ञात्वा वसुदेवः स्वपुरोहितं प्रेषयामास क्षत्रियाणां पुरोधसैव संस्काराः क्रियन्त इति वसुदेवश्चात्मानमाधिदैविकवसुदेवं नन्दे स्थापितवान्, तेन बलभद्रभगवतोरविशेषेण पुत्रत्वज्ञानादिकं न दोषाय, भयनिवृत्त्यर्थं बोधनं चापेक्षितं प्रसङ्गात्, अन्यथा प्राकृतानामलौकिकबुद्धिरपि बाधिकातो नामकरणहेतुभूतो **गर्गः** समागत इत्याह **गर्ग** इति, राजन्निति सम्बोधनं गुप्तचर्या राजपरिज्ञातेति ज्ञापनार्थं, **यदूनां पुरोहितो** वंशस्यैव स्वत एव हितकारी, तेनान्तःकरणशुद्धिरुक्ता, महानुभावत्वमाह **सुमहातपा** इति, सुमहत् तपो यस्य सः, अकस्मात् कार्यसिद्धि मुहूर्तं ज्ञात्वा **नन्दस्य व्रजं जगाम**, अन्यत्र स्थितः शुको वदति, पितुराज्ञाव्यतिरेकेण पुत्रसंस्कारो न कर्तव्य इति तदर्थमाह **वसुदेवेन प्रकर्षेण चोदितः** प्रेरितः ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् की प्रेरणा से नन्दजी को यही विचार हुवा कि मुझे वृद्धावस्था में पुत्र हुआ है, इसलिये इसका संस्कार (नामकरण) न किया जाए । बिना नामकरण के ही रहे ।

यों विचार कर नन्दरायजी ने बालक का नामकरण नहीं किया। बालक के नामकरण संस्कार का काल, अतिक्रमण[१] हो गया। वसुदेवजी ने जब यह जाना कि नन्दरायजी ने बालक का नामकरण संस्कार अब तक नहीं किया है, तब अपने पुरोहित गर्गाचार्यजी को, बालक के नाम संस्कार करने के लिये गोकुल में भेजा। यद्यपि संस्कार का काल बीत गया था, तो भी वसुदेवजी ने समझा कि भगवान् के नामकरण संस्कार में, काल निमित्त नहीं है, इसलिये काल बीत जाने पर भी संस्कार करने में कोई दोष नहीं है। वसुदेवजी ने स्वयं न जाकर गर्गजी को इसलिये भेजा कि क्षत्रियों का संस्कार पुरोहित ही करते हैं। नन्दरायजी वसुदेवजी के पुत्रों (बलराम और कृष्ण) को अपने पुत्र समझते थे यों समझ वह सर्व संस्कारादि कार्य पितृरूप से करावें तो उसमें नन्दरायजी को कोई दोष न लगे, इसलिये वसुदेवजी ने अपना आधिदैविक* स्वरूप नन्दरायजी में स्थापित कर दिया। भय की निवृत्ति के लिये भी प्रसंगवश बोध[२] कराना अपेक्षित[३] था। कंस को यह ज्ञान था कि मेरा हन्ता[४] गोकुल में है। मैंने (वसुदेव ने) कपट किया है कि बालक को गोकुल पहुँचा दिया है। इससे उत्पन्न भय को मिटाने के लिये गर्ग को नाम संस्कार करने के लिये भेजा। अर्थात् वहाँ नन्दरायजी के घर में 'नाम' करण संस्कार होगा तो कंस उस बालक को मेरा पुत्र नहीं समझेगा। इस प्रकार भयों की निवृत्ति हो जायगी और नंदरायजी जो गाँव के रहने वाले हैं उनको भी यह ज्ञान हो जाएगा कि मेरा पुत्र है। यदि नन्दजी उनको पुत्र न समझे और अलौकिक बालक समझे तो वह बुद्धि सुख (हर्ष) को बाधक करने वाली हो जाती अर्थात् दुःख देती। अतः भय निवृत्ति एवं पुत्रत्व बुद्धि स्थिर कराने के लिये वसुदेवजी ने अपना आधिदैविक स्वरूप नन्दजी में स्थापित किया एवं गर्गाचार्यजी को भेजा। श्लोक में 'राजन्' कहने का भाव यह है कि राजाओं के सर्व कार्य गुप्त होते हैं, इसलिये यह संस्कार भी गुप्त रीति से किया। गर्गाचार्यजी यदुओं के समग्र वंश के पुरोहित हैं, अतः बिना कहे हुए वे यदुवंश का हित करने वाले हैं। इससे गर्गाचार्यजी के अन्तःकरण की शुद्धि भी कही गई है। गर्गजी की महानुभावता बताने के लिये कहा है कि गर्गजी महान् तपस्वी हैं। अचानक सुन्दर श्रेष्ठ मुहूर्त समझ कर नन्दजी के व्रज में गए। 'गए' ऐसा क्यों कहा। व्रज में आए ऐसा कहना था। इस शंका परिहार[५] के लिये कहते हैं कि शुकदेवजी गोकुल से अन्यत्र बैठे कह रहे थे इसलिये 'गए' कहा। पुत्र का कोई भी संस्कार पिता की आज्ञा बिना नहीं होता है इसलिये श्लोक में कहा है कि गर्गाचार्यजी वसुदेवजी की प्रेरणा से आए थे यही पिता की आज्ञा थी ॥१॥

आभास--आगतस्य पुरस्कारमाह तंदृष्ट्वेति।

आभासार्थ—इस श्लोक में गर्गाचार्यजी के स्वागत सत्कार का वर्णन करते हैं।

---

* वसुदेवजी का आधिदैविक स्वरूप 'निगम' रूप है—'प्रकाश'

१—बीत गया। २—ज्ञान। ३--आवश्यक। ४—मारनेवाला। ५—दूर करने।

श्लोक——तां दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः ।
आनर्चाधोक्षजधिया प्रणिपातपुरःसरम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ——उन (गर्गाचार्यजी) को देख कर अति प्रसन्न नन्दरायजी ने खड़े होकर, हाथ जोड़े और उनकी इन्द्रियातीत ब्रह्म की बुद्धि से (भगवान् समझ) साष्टांग दण्डवत् करते हुए पूजा की ।

सुबोधिनी—आकाङ्क्षितपदार्थदर्शनात् **परमप्रीतिः**, **प्रत्युत्थानं** धर्मनिष्ठताज्ञापनार्थं, **कृताञ्जलिर्**विनीतस्तेनान्तःकरणशुद्धिरुक्ता, अतिथिरयमित्यत्र भगवत्पूजां कृतवानित्याहानर्चेति, अतिथिबुद्धयादि पूज्येत हरिबुद्धयाप्यतिथि "आतिथ्येन तु विप्राग्र्य" इतिवाक्यात्, तदाहाधोक्षजधियेति, चतुर्भुजं भगवन्तं ज्ञात्वानचर्चां कृतवान्, तत्रापि भक्तिमार्गानुसारेणेत्याह **प्रणिपातपुरःसरमिति**, **प्रणिपातो**पराधदूरीकरणं, तद् दासस्यैव नित्यसेवकस्य सम्भवति नान्यस्य ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—मन में जिस वस्तु की चाह होती है, उसकी प्राप्ति पर अत्यन्त हर्ष होता है । गर्गाचार्यजी जैसे महान् तपस्वी के दर्शन होने से नन्दरायजी अत्यन्त प्रसन्न हुए । देखते ही उठकर खड़े हो गए, जिससे नन्दरायजी ने अपनी धर्म-निष्ठता बताई । 'हाथ जोड़े' इससे नम्रता बताई, जिससे नन्दरायजी का अन्तःकरण शुद्ध है यह भी जाना गया । यह अतिथि है इसलिये इनको भगवान् के समान समझ इनका पूजन किया । घर में आए हुए का अतिथि बुद्धि से एवं भगवद्-बुद्धि से पूजा करनी चाहिये । उत्तम विप्र की पूजा आतिथ्य से यह भी वाक्य है । किन्तु नन्दरायजी ने तो गर्गाचार्यजी का पूजन भगवान् समझ कर किया । 'अधोक्षज' शब्द का भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं कि गर्गाचार्यजो को चतुर्भुज स्वरूप समझ पूजा । वह पूजा भक्तिमार्गानुसार की, पहले साष्टांग दण्डवत् की, जिससे सब अपराध दूर हो गए । नित्य सेवा करने वाले शरणागत दास के ही अपराध दूर (क्षमा) हो जाते हैं न कि दूसरों के अर्थात् जो सेवक नहीं है, उनके अपराध क्षमा नहीं होते हैं ॥ २ ॥

आभास——एतदेवपुरःसरमग्रे यथाभवति तथा प्रार्थनां वक्तुं किञ्चिदुक्तवानित्याह सूपविष्टमिति ।

आभासार्थ—यह अतिथि सत्कार जिस प्रकार आगे शेष रीति से पूर्ण हो वैसे नन्दजी ने प्रार्थना करने के लिये कुछ कहा जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक——**सूपविष्टं कृतातिथ्यं गिरा सूनृतया मुनिम् ।**
नन्दयित्वाब्रवीद् ब्रह्मन् पूर्णस्य करवाम किम् ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ—अतिथि सत्कार के अनन्तर, मार्ग की थकावट दूर होने से, सुख पूर्वक बैठे हुए, मुनि से अभिनन्दन पूर्वक मधुर वाणी से कहा कि हे ब्रह्मन् ! आप परिपूर्ण हो, आपके लिये हम क्या करें ?

सुबोधिनी—सुष्टु गमनक्लेशाभावेन वैयग्र्यं परित्यज्योपविष्टं, स्वकृत्यमाह **कृतमातिथ्यं** यस्मै यस्मिन्निति वा, अतिथेर्हितं भोजनान्तं कर्म तद् गृहस्थकर्तव्यं, भक्तिमार्गानुसारेण पूजितत्वादस्मिन् स्नेहेधिके जाते गद्गदया वाण्याब्रवीत्, येन स सर्वमेव सामर्थ्यं विनियुञ्ज्यात्, कापटचाभावायाह **मुनिमिति**, स हि सर्वज्ञस्तदैव सर्वं जानाति. अन्यत्र भगवद्बुद्धचा स्तोत्रं क्रियमाणमारोपितविषयं भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाह **सूनृतयेति** स्तोत्रेण, **नन्दयित्वा** सन्तुष्टं ज्ञात्वाब्रवीत्, **ब्रह्मन्निति**सम्बोधनं ब्राह्मणस्य तत्परमोत्कर्षख्यापनं, अयं **ब्रह्म**शब्दः परब्रह्मवाचक इति ख्यापयितुं **पूर्णस्य करवाम किमित्याह**, "बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाद् ब्रह्म" दश दिक्षु किर्मीरितमिह तादृशस्यान्यैः कर्तव्य उपकारे देशाभावात् कृत्रिमस्य हीनत्वात् तत्रापि सदृशस्याज्ञानात् **किं करवाम** ? देहेन्द्रियान्तःकरणानां न्यूनत्वात् तत्रोपकारः कर्तुं शक्यते, ब्रह्मभूततदध्यासनिवृत्तेस्तत्र कृतं न प्रयोजनाय भवतीति ।। ३ ।।

व्याख्यार्थ—मथुरा से गोकुल जाने के क्लेश[1] मिट जाने पर अन्तःकरण की व्यग्रता[2] भी नष्ट हुई । तब आतिथ्य सत्कार किये हुए अर्थात् गृहस्थ का कर्तव्य—घर में आए हुए अतिथि की स्नानादि भोजन पर्यन्त सकल परिचर्या की गई थी । गर्गाचार्यजी को स्वस्थ होकर आनन्दपूर्वक विराजमान देख, नन्दजी के भक्तिमार्गानुसार पूजन करने से गर्गाचार्यजी में विशेष प्रेम बढ़ गया था; अतः नन्दरायजी गद्गद् वाणी से (प्रेम भरित वाणी एक साथ नहीं निकलती है, रुक-रुक कर कही जाती है, वह वाणी अस्पष्ट होती है) कहने लगे । जिससे (नन्दरायजी प्रार्थना में जो शब्द कहेंगे, उसको सुनकर) गर्गाचार्यजी अवश्य अपनी सामर्थ्य इस नामकरण संस्कार में लगाएँगे अर्थात् यह नामकरण संस्कार पूर्ण विधि से कराएँगे । अन्यों के समान कपट कर अधूरा संस्कार न कराएँगे क्योंकि 'मुनि हैं' मुनियों में कपट नहीं होता है । मुनि होने से वे सर्वज्ञ हैं तब ही सब जानते हैं । यदि ये (गर्ग) सर्वज्ञ (भगवद्रूप मुनि) न हों तो, भगवद्बुद्धि से किया हुआ स्तोत्र आरोपित विषय[3] समान होगा । वह आरोपित विषय नहीं है इसलिये सच्ची और प्रिय वाणी से गर्गाचार्यजी संतुष्ट हुए हैं । नन्दरायजी ऐसा समझ कर गर्गाचार्यजी को 'ब्रह्मन्' कहते हैं । यह 'ब्रह्मन्' शब्द ब्राह्मण का परमोत्कर्ष प्रथित करता है । इतना ही नहीं ;किन्तु यह 'ब्रह्मन्' शब्द परब्रह्मवाचक भी है । इससे यह जताया कि गर्गाचार्यजी साधारण मनुष्य वा केवल उत्कृष्ट ब्राह्मण नहीं है; किन्तु ब्रह्मरूप हैं । इसलिये नन्दरायजी ने कहा है कि जो दशों दिशाओं में व्याप्त हैं और सब से बड़ा एवं सबों का पोषक है उसके लिये मैं क्या कर सकता हूँ ? ऐसे का उपकार दूसरा करे तो किसी प्रकार की सम्भावना नहीं है अर्थात् ब्रह्म की किसी प्रकार की अपेक्षा[4] नहीं ।

१—थकावट । २—उदासी । ३—एक वस्तु में दूसरी वस्तु की कल्पना करना । ४—आवश्यकता ।

अपेक्षा तो वहाँ होती है जहाँ न्यूनता[1] हो, यह तो पूर्ण हैं, तो उनका उपकार दूसरा क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं यदि कुछ कृत्रिम नाममात्र भी किया जाय तो वह हीन है । तथा उस (ब्रह्मरूप मुनि) को क्या चाहिये ? उसका भी ज्ञान नहीं है तो क्या करें । यदि जब ब्रह्म स्वरूप का उपकार नहीं कर सकते हो तो देह इन्द्रिय और अन्तःकरण न्यून हैं । उनको अपेक्षा[2] भी रहती है, उनका उपकार करो । ऐसी कोई शंका करे तो उसका निवारण करते हुए कहते हैं कि गर्गाचार्यजी ब्रह्मभूत हैं अतः उनकी देहादिकों के अध्यास की निवृति हो गई है; अतः देहादिकों में किया हुआ उपकार भी निष्प्रयोजन होगा ।। ३ ।।

आभास----एतावतास्माभिः कोप्युपकारः कर्तुं न शक्यत इत्युक्तं, त्वया त्वनुक्तमेव क्रियत इत्याह ।

आभासार्थ--ऊपर के श्लोक में नन्दजी ने गर्गजी के स्वरूप का वर्णन करते हुए कह दिया कि हम तो आपका कुछ भी उपकार कर नहीं सकते । इस श्लोक में नन्दरायजी कहेंगे कि आप तो बिना याचना के सबों का उपकार करते हो ।

श्लोक----**महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम् ।**
निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित् ।। ४ ।।

श्लोकार्थ----हे भगवान् ! महात्माओं का विचरना, दीन चित्त वाले गृहस्थियों के कल्याण के लिये ही होता है, स्वार्थ के लिये कभी भी वे विचरण नहीं करते हैं ।

सुबोधिनी—महद्विचलनमिति, महान्तः स्वतः कार्याभावान्न कुत्रापि गच्छन्ति तादृशाश्चेद् गच्छन्ति परोपकारार्थमेव गच्छन्तीति ज्ञातव्यं, विशेषेण चलनं ग्रामान्तरगमनं न तु स्नानाद्यर्थं, तत्र परार्थे विचार्यमाणे, यस्यैव गृहे गच्छन्ति तस्यैव कार्यं साधयन्तीति निश्चीयते, अन्यथा गृहासक्तचित्तानां वृद्धानां तत्रापि परम दुःखेन पीडितानां दीनचेतसां गृहे न गच्छेयुस्तेषां च मुख्यं प्रयोजनं तद्दुःखनिवृत्तिस्ततः परमानन्दावाप्तिरिति, अतो निःश्रेयसायैव गमनं, तादृशफलदाने सामर्थ्यं भगवन्निति, यद्यपि ते न प्रार्थयन्ति तथापि गमनमेव तथा कल्पते, अन्यथा एतत्फलानुद्देशे क्वचिदपि देशे गमनं न कल्पते ।। ४ ।।

व्याख्यार्थ—महापुरुषों का जगत् में कोई भी कार्य नहीं रहता है, जिसके लिये वे विचरण करें, इसलिये वे कहीं भी नहीं जाते हैं । यदि ऐसे महापुरुष कहीं जाते हैं तो परोपकार करने के लिये ही जाते हैं । श्लोक में 'चलनं' शब्द न देकर उसके साथ 'वि' भी दिया है । उसका आशय आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि स्नानादि के लिये नदी पर जाना तो होता है; किन्तु महात्मा लोग

१—कमी । २—आवश्यकता ।

ग्रामान्तर नहीं जाते हैं, वे बाहर दूसरे ग्राम में जाते हैं तो परोपकार के लिये जाते हैं अतः 'वि' उपसर्ग (अक्षर) 'चलनं' के साथ जोड़ा है। बाहर जाते हैं तो वहाँ भी जिनके हित की इच्छा से जाते हैं उनके ही घर में पधारते हैं, पधार कर उनके कार्य सिद्ध करते हैं। यह निश्चय से समझा जाता है। यदि उनके हित करने की इच्छा न हो, तो गृहासक्त चित्त वाले वृद्ध एवं जो अत्यन्त दुःख से पीड़ित दीन चित्तवाले हैं उनके घर में जावे ही क्यों ? अर्थात् न जावें। वहाँ जाने का मुख्य प्रयोजन उनके दुःख को निवृत्ति करना ही है। उससे परमानन्द की प्राप्ति होती है, इसलिये महात्माओं का गृहस्थी के घर जाना उनके निःश्रेयस[1] ही है। ऐसे फल देने की आप में (गर्गजी में) शक्ति है इसको प्रकट करने के लिये, गर्गजी को 'भगवान्' कहा है। यद्यपि वे गृहस्थ, महात्माओं को अपने हितार्थ, प्रार्थना नहीं करते हैं तो भी महात्माओं के स्वतः जाने से यह बात जानी जाती है कि ये हित के लिये पधारते हैं ; क्योंकि उनको तो कोई अपना स्वार्थ है ही नहीं। स्वार्थ बिना कोई भी कहीं नहीं जाता है। महात्माओं का 'परोपकार' करना ही स्वार्थ है; अतः वे विदेश पधारकर दीन गृहस्थों का बिना प्रार्थना हित करते हैं। इस परोपकार रूप फल के उद्देश्य के अतिरिक्त महात्माओं के कहीं भी जाने की कल्पना[2] नहीं कर सकते हैं ॥ ४ ॥

आभास----एवं ब्रह्मवित्त्वेन परोपकारैककार्यत्वेन च स्तुत्वा सर्वज्ञतामुपपाद्य तत्सार्वज्ञ्यं यथान्येषामब्रह्मविदामपि भवति तथोपायं कृतवानिति स्तौति ।

आभासार्थ—आप (गर्गाचार्यजी) ब्रह्मवित् होने से सर्वज्ञ एवं परोपकारी हैं। इस प्रकार की स्तुति कर अब इस श्लोक में यह बताते हैं कि यह सर्वज्ञता जो कि ब्रह्मवेत्ताओं का लक्षण है, वह सर्वज्ञता गुण, अन्य ब्राह्मणों में चाहे वे ब्रह्मवेत्ता न भी हों तो भी उनमें भी रहे जिससे ब्राह्मण ज्ञाति, पूजनीय एवं लोकहित कर्त्री हो। इसलिये आपने (गर्गाचार्यजी ने) वैसा उपाय भी किया है। नन्दजी उस प्रकार की स्तुति इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक--**ज्योतिषामयनं साक्षात् यत् तज् ज्ञानमतीन्द्रियम् ।**
प्रणीतं भवता येन पुमान् वेद परावरम् ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ--जो ज्योतिः शास्त्र, इन्द्रियों के अगोचर ज्ञान[3] का साधन है। उस शास्त्र के आप रचयिता हो। जिस (शास्त्र) से मनुष्य तीनों कालों में जो हो रहा है, उसको पूरी तरह जान सकता है।

१—दुःख से छुड़ाने, आनन्द देने और मोक्ष प्राप्ति कराने के लिये।
२—अनुमान। ३—जिस वस्तु का इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता है स वस्तु के ज्ञान।

सुबोधिनी—ज्योतिषामयनमिति, अनेनान्यस्यापि तत्तत्पदार्थरहितस्यापि तत्तत्पदार्थकरणसामर्थ्यं द्योतितं ग्रहादिबलाहितस्यापि तद्बलजनकत्वं, **ज्योतिषां सूर्यादीनामयनं** स्थानमिदमित्थतया यस्मिन् क्षणे यो ग्रहो यत्र वर्तते तस्य ज्ञानं यस्मात् तज् **ज्योतिषामयनं** ज्योतिः शास्त्रं, अलूक्समासः, **ज्योतिषां** सम्बन्धि **वायनं** ज्ञानं यस्मात्, तत्रापि सामान्यतो ग्रन्थकर्तारः सुगमाः परोपजीवकाः, त्वं तु ब्रह्मसूर्यवत् **साक्षात्कर्ता,** तत्रापि **यत्** प्रसिद्धं सर्ववाद्यप्रतिपन्नं तादृशमेव तत् त्वदुक्तं तच्छास्त्रं केवलं **ज्ञानमेव** ब्रह्मस्वरूपं "यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवतीति," तच्च ज्ञानरूपं शास्त्रमतीन्द्रियमिन्द्रियागोचरमन्यस्य बुद्धिगम्यमपि न भवति ।गुरूपदेशव्यतिरेकेणैतादृशं शास्त्रं भवता **प्रणीतं येन** शास्त्रेण कृत्वा **पुमान्** परावरं **वेद,** भूतभविष्यद् **वेद परं,** स्वापेक्षया पुरुषोत्तमपर्यन्तं, अवरं परमाणुपर्यन्तम् ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—नन्दरायजी कहते हैं कि हे आचार्य ! आप उनके समान शास्त्र 'रचयिता' नहीं हैं, जो दूसरों के बनाये शास्त्रों के सहारे से शास्त्र रचकर 'रचयिता' कहलाते हैं। आप तो साक्षात् ब्रह्मा और सूर्य के समान साक्षात् ज्योतिष शास्त्र के स्वयं रचयिता हैं। जिस शास्त्र से यह ज्ञान हो जाता है कि यह ग्रह इस समय इस स्थान पर है। जिन (ब्राह्मणों) में इस प्रकार कहने का बल नहीं है (जो स्वतः नहीं बता सकते हैं कि यह ग्रह इस स्थान पर है) उनमें भी आपके रचे हुए शास्त्र के पढ़ने से वह बल अर्थात् ज्ञान शक्ति आ जाती है।

आपका रचा हुआ ज्योतिष शास्त्र, सर्ववादी सम्मत है। कोई भी वादी इस शास्त्र की न्यूनता नहीं बता सकता है। वह आपका रचा हुआ शास्त्र केवल ज्ञान स्वरूप होने से ब्रह्मरूप है। अतः 'यस्मिन् विदिते सर्व मिदं विदितं भवतिं' इस श्रुति के अनुसार जिसके ज्ञान होने पर सबका ज्ञान हो जाता है, वह ब्रह्म है। तो इस शास्त्र के ज्ञान होने पर भी सबका ज्ञान होता है, इसलिये आपका बनाया हुआ शास्त्र ब्रह्मरूप है। अतः यह शास्त्र गुरूपदेश के बिना अपने इन्द्रियजन्य बुद्धि से समझ में नहीं आता है। आचार्यश्री श्लोक में कहे हुए 'परावर' शब्द का दूसरा भावार्थ प्रकट करते हुए कहते हैं कि इस शास्त्र से मनुष्य 'पर' अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान् तक का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और 'अवर' से छोटे में छोटे परमाणु तक सूक्ष्म पदार्थों को जान सकता है ॥ ५ ॥

आभास—अतः सर्वज्ञो भवान् ब्राह्मणोत्तमोत्तमः, अतः पुत्रयोः संस्कारान् कर्तुमर्हसीत्याह त्वं हीति ।

आभासार्थ—नन्दरायजी इस प्रकार गर्गाचार्यजी की स्वरूप एवं गुणों द्वारा स्तुति कर पुत्रों के नामकरण संस्कार कराने के लिये इस श्लोक में प्रार्थना करते हैं।

हे आचार्य ! आप सर्वज्ञ ब्राह्मणोत्तमों से भी उत्तम हैं, अतः दोनों पुत्रों के संस्कार कराने के योग्य हैं इसलिये कृपा कर संस्कार कराइए।

श्लोक—**त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः संस्कारान् कर्तुमर्हसि ।**
बालयोरनयोर्नृणां जन्मना ब्राह्मणो गुरुः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ––आप ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ हो इसलिये इन दोनों बालकों के संस्कार कराने के योग्य हो । ब्राह्मण जन्म से ही मनुष्यों के गुरु हैं ।

सुबोधिनी—ब्रह्मविदेव ब्राह्मणः स हि सर्वज्ञः, त्वं तु ब्रह्मविदामपि श्रेष्ठोन्यस्यापि ज्ञानोत्पादने यत्नकरणात्, अतो बालयोरनयोः संस्कारान् कर्तुमर्हसि यथैकं नामकरणं तथान्यान्यपि कर्माणि विद्याभाग्य–फलकानि संस्कारत्वेनाप्युक्तानि जातेष्ट्यादीन्यैन्द्रब्राहस्पत्यादीनि चान्यानि च प्रसिद्धानि, लोके साम्प्रतं लुप्तानि, उभावप्येतावसंस्कृतौ, ननु गुरुणा पुरोहितेन कर्तव्यं न तु येनकेनचिदिति चेत् तत्राह **जन्मना ब्राह्मणो गुरुरिति**, उत्पत्तिमात्रेण सर्वोपि **ब्राह्मणो गुरुर्भवति**, अतो भवानपि गुरुरित्यवश्यं कर्तव्यम् ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ––ब्रह्मवेत्ता ही ब्राह्मण हैं और वह निश्चय से सर्वज्ञ होता है, आप तो अन्यों को भी ज्ञानी बनाने में प्रयत्नशील होने से, ब्रह्मवेत्ताओं में परमोत्तम हो । इस कारण इन दोनों बालकों के संस्कार करने के लिये आप योग्य हो । जिस प्रकार शास्त्रों में नामकरण, एक संस्कार है वैसे ही दूसरे भी कर्म (संस्कार) विद्या एवं भाग्य फल प्रद संस्कार रूप से कहे गये हैं । जैसे जातेष्टि* आदि और 'ऐन्द्राबार्हस्पत्यादि' कर्म और अन्य भी प्रसिद्ध हैं; किन्तु वे अब लोक में लुप्त हो गये हैं अर्थात् नहीं होते हैं । ये दोनों बालक असंस्कृत हैं, अर्थात् इनके अब तक संस्कार नहीं हुए हैं । नन्दजी के मन में विचार आया कि गर्गजी यों न कह दें कि संस्कार तो पुरोहित से कराना चाहिये, मैं आपका पुरोहित नहीं । इसके उत्तर में नन्दजी ने कहा कि मनुष्यों का प्रत्येक ब्राह्मण जन्म से ही गुरु (पुरोहित) है अतः आप गुरु होने से संस्कार कर्म करो ।

आभास––तत्र गर्गो गुप्ततयैतत् कर्तव्यमिति साक्षात् तथोक्ते ग्रामीणत्वान्न मंस्यत इति वैदिके कर्मण्यसुराणां ज्ञानमयुक्तमिति "यद्वेदमुच्चैर्यज्ञेन चराम तन्नोसुराः पाप्मानुविदन्त्युपांशूपसदाचराम तथा नोसुराः पाप्मा नानुवेत्स्यन्ती" तिश्रुतेः, तथापि यावल्लौकिकभयं नोच्येत तावन्न निवर्तत इतिभयमुत्पादयति त्रिभिर्यदूनामिति ।

आभासार्थ—गर्गाचार्य की इच्छा थी कि संस्कार गुप्त होना चाहिए क्योंकि श्रुति में कहा है कि वैदिक कर्म का ज्ञान असुरों को नहीं होना चाहिए; किन्तु नन्दरायजी ग्रामीण है, यों कहने से मानेंगे नहीं, इसलिये उनको लौकिक भय बताना चाहिए । लौकिक भय बताये बिना वे (नन्दरायजी) संस्कार गुप्त करने की बात मानेंगे नहीं । निम्न श्लोकों से भय बताते हैं ।

---

* गो० गुरुषोत्तमजी कहते हैं कि पुत्र जन्म समय द्वादश कपाल वाले वैश्वानर को आहुति देना 'श्रुति' में लिखा है । इसको जातेष्टि यज्ञ कहते हैं इसके करने से पवित्रता होती है ।—'प्रकाश'

॥ गर्ग उवाच ॥

श्लोक—यदूनामहमाचार्यः ख्यातश्च भुवि सर्वतः ।
सुतं मया संस्कृतं ते मन्यते देवकीसुतम् ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ—गर्गजी कहते है कि मैं यादवों का आचार्य हूँ, यह बात सर्वत्र पृथ्वी पर फैली हुई है। यदि मैं तुम्हारे पुत्र (पुत्रों) का संस्कार करूंगा तो कंस तुम्हारे पुत्र को देवकी का पुत्र समझेगा।

सुबोधिनी—सर्वज्ञानां वचनं सर्वतोमुखं भवति सर्वं स्पष्टं वदन्ति च न वदन्ति च, उच्यमानमप्यनुक्तमिव भवति, "द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीय" इतिन्यायेनोच्चैः क्रियमाणे द्रव्यविरोधो भवति, विरोधे कारणं कंसः, तस्यापि देवकीपुत्रः, मया कृतः संस्कारो देवकीपुत्रत्वं ख्यापयतीत्याहाहं सर्वेषामेव **यदूनां** यदुवंशोद्भवानामा**चार्य** संस्कारकर्ता नान्येषां, तत्रापि **भुवि सर्वतः ख्यातो** मदीयाः सर्व एव धर्माः सर्वेषां प्रसिद्धा भवन्ति, अतोत्रागमनमपि प्रसिद्धमेव, ततः किम् ? अत आह **ते सुतं मया संस्कृतं** कंसो देवकीसुतमेव **मन्यते**, निर्धारितोयमर्थः ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—सर्वज्ञ जो कुछ कहते हैं, वह बहुत आशयों वाला होता है, सब स्पष्ट कहते हैं और न भी कहते, कहा हुआ भी, न कहे जैसा भासता है। 'द्रव्य संस्कार विरोधे द्रव्यं बलीय' (द्रव्य और संस्कार में जहाँ विरोध हो, वहाँ संस्कार से द्रव्य बलवान् समझना चाहिये। इस न्याय के अनुसार खुला संस्कार करने से द्रव्य (पुत्र) का विरोध होता है। द्रव्य (पुत्र) के विरोध में कारण कंस है। कंस के विरोधी होने में कारण देवकी पुत्र है अर्थात् यदि मैं संस्कारकर्ता होकर प्रत्यक्ष (खुला) संस्कार करूंगा तो कंस इस तुम्हारे पुत्र को निश्चय से देवकी का पुत्र समझेगा क्योंकि मैं यादवों का कुल पुरोहित हूँ यह सर्वत्र प्रख्यात है। कंस भी इस बात से अनभिज्ञ नहीं है और मैं मथुरा से यहाँ आया हुआ हूँ, यह बात भी छिपी हुई नहीं है। इससे इस तुम्हारे पुत्र को देवकी का पुत्र मानेगा यह निर्णय निश्चित समझो ॥ ७ ॥

श्लोक—कंसः पापमतिः सख्यं तव चानकदुन्दुभेः ।
देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितुमर्हति ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ—कंस पाप बुद्धि वाला है आपकी और वसुदेवजी की परस्पर मित्रता है और देवकी का आठवां गर्भ स्त्री हो नहीं सकता।

सुबोधिनी—यादवान्यस्य मया संस्कारो न क्रियत इति मन्यतां को दोष इति चेत् तत्राह **कंसः पापमति**रिति, स हि मारकोतो देवकीपुत्रत्वज्ञानमनिष्टजनकं, नन्वत्र देवकीपुत्रस्य कः प्रसङ्गः ? तत्राह **सख्यं तव चानकदुन्दुभे**रित, अतः सखिगृहेष्टमः पुत्रः स्थापितोयमिति मन्यते, चकारोर्थविशेषख्यापकः, सोपि दुष्टस्तव च सख्यमित्युभयोः सम्बन्धित्वज्ञापनाय षष्ठ्यौ, ननु देवकीगर्भः स्त्रीरूपस्तेन दृष्ट एव कथं सन्देह इति चेत् तत्राह **देवक्या अष्टमो गर्भः** स्वमारकत्वेन श्रुतः **स्त्री** भवितुं नार्हति ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ—गर्गाचार्यजी ने फिर समझाते हुए नन्दरायजी को कहा कि मैं यादवों के अतिरिक्त किसी दूसरे का संस्कार नहीं करता हूँ। यदि आप कहो कि इसमें (दूसरों के संस्कार करने में) क्या दोष है ? इसके उत्तर में गर्गजी कहते हैं कि मेरे संस्कार कराने से पापमति कंस समझ जाएगा कि नन्दराय का कन्हैया वसुदेव का पुत्र है। यों समझना अनिष्टकारक[1] है क्योंकि वह (कंस) मारक[2] है। मेरे संस्कार कराने से यह अनिष्टकारक दोष है। यदि आप (नन्दरायजी) कहो कि देवकी के पुत्र का क्या सम्बन्ध है ? इसका समाधान करने के लिये गर्गाचार्यजी ने कहा है कि आपकी और वसुदेवजी की आपस में मित्रता है, यह ज्ञान कंस को है जिससे वह कंस समझेगा कि वसुदेवजी ने अपना आठवां बालक नन्दजी के घर स्थापित किया है। श्लोक में दिये हुए 'च' अक्षर का आशय बताते हैं कि यह 'च' अक्षर विशेष अर्थ* प्रकट करने वाले हैं। श्लोक में आपके और वसुदेवजी के परस्पर (गाढ) सम्बन्ध बताने के लिये दोनों के पर्यायवाची शब्द सम्बन्ध बताने वाली षष्ठी विभक्ति में दिया है। यदि नन्दजी यों कह दें कि कंस ने देवकी का आठवां गर्भ प्रत्यक्ष कन्या देखा, फिर उसको यह संशय कैसे होगा कि आठवां गर्भ वसुदेवजी नन्दजी के यहाँ स्थापित कर आए हैं। गर्गाचार्यजी इस शंका का भी समाधान करते हुए कहते हैं कि कंस ने अकाशवाणी द्वारा सुना था कि देवकी का आठवां गर्भ तेरे मारने वाला होगा और देवी रूप कन्या ने तो यह कह दिया था कि तेरा नाशक प्रकट हो गया है एवं नारदजी ने भी बता दिया है इत्यादि। यह सब सुन लिया है कि देवकी के आठवें गर्भ से मेरी मृत्यु होगी। इसलिये कंस को यह निश्चय है कि देवकी का आठवाँ बालक, वास्तविक कन्या नहीं हुआ होगा ॥ ८ ॥

श्लोक—इति सञ्चिन्तयञ् छ्रुत्वा देवकीदारिकावचः ।
यदि हन्ता गताशङ्कस्तर्हि तन्नोनयो भवेत् ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ—कंस इस बात का विचार करते हुए, यदि देवकी की कन्या के सुने वचन भी स्मरण करेगा तो उसको निश्चय होगा कि यह बालक ही आठवां गर्भ है यों समझ कर इसका घातक बनेगा तो अपनी हानि होगी।

सुबोधिनी—कथमियं स्त्रीति सञ्चिन्तयन् कंसो मारयेदितिसम्बन्धः; शङ्कायां कारणान्तरमप्यस्तीत्याह श्रुत्वा देवकीदारिकावच इति, देवक्या दारिका बालिका तस्या वचः "किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृ" दिति, अतोस्या आकाशवाण्याश्चार्थे विचार्यमाणे देवक्याः पुत्रो रात्रावत्रानीय वसुदेवेन स्थापितस्तव च कन्या तत्र नीतेति फलति तदापीति-सम्भावनायामागताशङ्कः सन् हन्ता हनिष्यति, तथा सति नोस्माकं महाननयः स्यात्, अतस्तव पुत्रस्य संस्कारो मया प्रसिद्धतया न कर्तव्य इति फलितम् ॥ ९ ॥

* प्रकाशकार विशेष अर्थ का भावार्थ बताते हुए कहते हैं कि रोहिणी के पुत्र की उत्पत्ति ।

१—हानिकारक । २—मारने वाला ।

व्याख्यार्थ—जब कंस को ज्ञात होगा कि गर्गजी ने इस बालक का संस्कार किया है तब कंस बिचारेगा कि आठवाँ गर्भ स्त्री कैसे ? यह विचार निःशङ्क हो, इसको आठवां गर्भ समझ कर मारेगा, यह सम्बन्ध है । कंस को देवकी के आठवें गर्भ से कन्या होने में, देवकी की कन्या के वचन सुनने से शंका है ही, जो कन्या ने हस्त से निकल कर आकाश में जा के कहा था कि 'हे मन्द ! मेरे मारने से तुझे क्या लाभ होगा ? तेरा नाश करने वाला तो प्रकट हो चुका है।' अतः इस कन्या के वचन एवं आकाशवाणी के वचनों का तात्पर्य एक ही है। ऐसा समझ कंस इस निर्णय पर पहुँचेगा कि वास्तव में देवकी के पुत्र ही हुवा था, जिसे वसुदेव ने रात्रि में ही नन्द के घर पहुँचा दिया है और उसकी कन्या यहाँ ले आंया है । यह निश्चय कर निशंक हो, इसको यदि मार डालेगा तो अपने से भारी अन्याय होगा, अर्थात् अपनी महती हानि होगी । इस प्रकार गर्गाचार्यजी ने जो तीन श्लोकों में नन्दरायजी को समझाया, उसका फलितार्थ (परिणाम) यह है कि गर्गजी ने स्पष्ट कहा कि मैं इस तुम्हारे पुत्र का संस्कार गुप्त करना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

आभास—नन्दस्तस्य प्रतीकारमाहालक्षित इति ।

आभासार्थ—इस निम्न (नीचे के) श्लोक में नन्दरायजी उसका उपाय बताते हैं।

॥ श्रीनन्दउवाच ॥

श्लोक—**अलक्षितोस्मिन् रहसि मामकैरपि गोव्रजम् ।**
कुरु द्विजातिसंस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ॥ १० ॥

श्लोकार्थ—नन्दरायजी ने कहा कि इस गो व्रज में मेरे सम्बन्धियों से भी गुप्त रह कर, एकान्त में स्वस्तिवाचनादि करके इस द्वि जाति के संस्कार करो ।

कारिका—**ज्ञापितं च हरेस्तत्त्वं स्नेहाधिक्यान्न बुध्यते ।**
अतो निरोधः कर्तव्यः शास्त्रं तत्राप्रयोजकम् ॥ १ ॥

कारिकार्थ—हरि का तत्त्व बताया गया, किन्तु अधिक स्नेह से समझ में नहीं आया । इसलिये निरोध करना चाहिये। यहाँ शास्त्र निरर्थक है ।

व्याख्या—इस कारिका में आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि गर्गाचार्यजी से "मैं यादवों का पुरोहित हूँ, संस्कार करने के लिये आया हूँ क्योंकि यह 'तुम्हारा पुत्र' वास्तविक में वसुदेव का पुत्र है, यदि आपका होता तो संस्कार के लिये मुझे वसुदेवजी नहीं भेजते।" इतना सुनने पर भी नन्दरायजी को यह ज्ञान नहीं हुआ कि यह मेरा पुत्र नहीं है किन्तु वसुदेवजी का है । ज्ञान न आने

का कारण बताते हैं कि नन्दरायजी का इसमें अत्यन्त स्नेह (मोह) था इसलिये गर्गाचार्यजी का कहा हुआ शास्त्र (ज्ञान) निरर्थक हुआ । नन्दरायजी का निरोध करना चाहिये ।

सुबोधिनी—अस्मिन् गोष्ठे गुप्तस्थाने मामकैरप्यलक्षितोनुमानेनाप्यज्ञातः सन् द्विजातिसंस्कारं कुरु, अनेनेयं वार्ताप्येकान्त एव कृतेति ज्ञायते, गवां व्रजे न कश्चिदभिज्ञो नागरिकवद्, गवां बुद्ध्या तुल्या एव सम्भवन्ति, मामकानां स्वरूपं मया ज्ञायत इति तेषामज्ञानं साधनीयं, एतेनान्ये व्याख्याताः, द्विजातीनां मन्त्रवत्संस्कारो भवति, अन्येषाममन्त्रकं, अतो मन्त्रप्राधान्येनैव कर्तव्यं नोत्सवप्राधान्येन तदाह द्विजातिसंस्कारमिति, मङ्गलमावश्यकमिति विचार्य मङ्गलमपि वैदिकमेव कर्तव्यमित्याह स्वस्तिवाचनपूर्वकमिति, स्वस्तिवाचनं पुण्याहवाचनं, पुण्याहःस्वस्त्यृद्धयस्त्रिस्त्रिरुक्ताः स्वस्तिवाचनं तत् सर्वकर्मस्वावश्यकम् ।। १० ।।

व्याख्यार्थ—नन्दरायजी ने गर्गाचार्यजी को कह दिया कि आप इस गोष्ठ[1] में इस प्रकार गुप्त रीति से संस्कार करो जो मेरे सम्बन्धी देख तो न सकें; किन्तु अनुमान भी उनको ज्ञात न हो । नन्दरायजी के इन वाक्यों से जाना जाता है कि गर्गजी और नन्दजी ने इस प्रकार संस्कार एकान्त में ही करने का निश्चय किया था । गौओं के व्रज में नागरिकों के समान कोई मनुष्य चतुर नहीं होता है, बैलों के सदृश बुद्धि वाले ही होते हैं । मेरे सम्बन्धियों का स्वरूप मैं जानता हूँ इसलिये इनके अज्ञान का लाभ उठाइये । इससे (अपने सम्बन्धियों से छिपकर संस्कार करने के लिये कहने से) दूसरों से भी गुप्त होकर संस्कार करने का कह दिया । द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों) के संस्कार वेद मन्त्रों से होते हैं । अन्यों (शूद्रादिकों) के संस्कार बिना मन्त्रों से होते हैं । इस कारण से आप जो यह संस्कार करा रहे हो, वह मन्त्र प्रधान कराना न कि उत्सव प्रधान कराना, क्योंकि यह संस्कार द्विजाति संस्कार हैं । मङ्गल आवश्यक है यह विचार कर वह भी कराना; किन्तु वह मंगल वैदिक हो सो कराना यह बताने के लिये नन्दरायजी स्पष्ट कहते हैं कि स्वस्तिवाचनपूर्वक संस्कार कराना । आज का दिन व आज के दिन का किया हुआ यह संस्कार मंगल रूप, पुण्य रूप एवं ऋद्धि (समृद्धि) रूप हो । इसलिये स्वस्तिवाचन, पुण्याहवाचन ऋद्धि वाचन की तीन तीन आवृत्ति की जाती है । स्वस्तिवाचन सर्व शुभ कर्मों (संस्कारों) में आवश्यक कर्त्तव्य है ।। १० ।।

आभास--एवमुक्ते स्वाभिलषितं सिद्धमिति कृतवानित्याहैवं ।

आभासार्थ—इस प्रकार नन्दजी के कहने से गर्गाचार्यजी का मनोरथ (संस्कार गुप्त किया जाय) सिद्ध हुआ, तब गर्गाचार्यजी ने संस्कार किया, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी निम्न श्लोक में करते हैं ।

१—गुप्त स्थान ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—**एवं सम्प्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत् ।**
चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयोः ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार नन्दरायजी द्वारा प्रार्थना किये हुए गर्गाचार्यजी ने अपनी इच्छानुकूल एकान्त में गुप्त रीति से रह कर, दोनों बालकों का नामकरण संस्कार किया जिसके करने की इच्छा से आप (गर्गजी) आये थे ।

सुबोधिनी—स प्रार्थित इति, ज्ञातेपि लोके प्रतीकारं करिष्यामीति तस्याभिप्राय इति ज्ञापयितुं **विप्र** इति शीघ्रं च तस्य कर्तव्यमिति पुरोहितत्वात् **स्वस्य चिकीर्षितमेव तत्** नामकरणं कर्म प्रसिद्धमिति वा सर्वत्र, गूढः स्वयमपि गुप्तः सन् देशान्तरेण यावत् तत्र तिष्ठति, रहस्येकान्ते, उभयोरपि नामकरणमुभयोरनुगुणमुहूर्ते, **बालयो**रिति केशाभिप्रायो वा ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—श्री नन्दरायजी को गुप्त संस्कार करने की प्रार्थना होते ही गर्गाचार्यजी ने जो यादवों के पुरोहित थे, जिनकी गुप्त नामकरण संस्कार करने की इच्छा थी, शीघ्र ही संस्कार कर्म प्रारम्भ कर दिया । कुछ समय ठहर कर विचार भी नहीं किया, क्योंकि ब्राह्मण पाछिल मति वाले और उतावले होते हैं । इसलिये श्री शुकदेवजी ने गर्गजी को 'विप्र'‡ कहा । उतावल से कार्य करने से लोक में यदि प्रसिद्धि हो जायगी तो मैं उसका प्रतीकार[1] करूंगा । शीघ्रता करने में उनका यह आशय था कि अपना अभीष्ट नामकरण संस्कार, सर्वत्र प्रसिद्ध है तो भी छिपा कर किया । छिपाने के लिये संस्कार कराने का स्थान गुप्त रखा । सामग्री आदि भी गुप्त रीति से मंगवाई । इतना ही नहीं किन्तु जब तक आप वहाँ ठहरे तब तक अपना भी वेश बदल दिया था । दोनों बालकों* का संस्कार उनके योग्य शुभ मुहूर्त में किया गया ॥ ११ ॥

आभास—ज्येष्ठानुक्रमेण नामकरणं कुर्वन्नादौ ज्येष्ठस्य नामत्रयमाहार्यमिति साधन ।

आभासार्थ—ज्येष्ठ के क्रमानुसार नामकरण करते हुए पहले ज्येष्ठ[2] पुत्र के तीन नाम डेढ श्लोक से कहते हैं ।

---

‡ लेखकार गो० वल्लभलालजी 'विप्र' शब्द का भाव बताते हैं कि 'पाछिल मतिवाले' को 'विप्र' कहा है।

* बालक शब्द इसलिये दिया है कि उनके मस्तकों पर बड़े बड़े बाल थे । प्रकाशकार श्रीपुरुषोत्तमजी बालक शब्द कहने का आशय बताते हैं कि केशान्त संस्कार तक 'बालक' कहा जाता है इन दोनों का केशान्त (मुण्डन) संस्कार नहीं हुवा था । इसलिये इनको बालक कहा गया है ।

१—विरोध या निवारण । २—बड़े ।

॥ गर्ग उवाच ॥

श्लोक----अयं वै रोहिणीपुत्रो रमयन् सुहृदो गुणैः ।
आख्यास्यते राम इति बलाधिक्याद् बलं विदुः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—यह निश्चय रोहिणी का पुत्र गुणों से सुहृदों[1] को रमण कराने के कारण (आनन्द देने के हेतु) 'राम' नाम से पुकारा जायगा, विशेष बलिष्ठ होने से इसे 'बल' नाम से जानेंगें।

सुबोधिनी—वस्तुतो ब्रह्मण्यव्यवहार्ये स्वरूपतो नामाभावात् सङ्केताभावाद् गुणयोगादेव नामानि भवन्ति, उभावत्र पुत्रौ वसुदेवस्य, तत्रैको मातृनाम्नापरः पितृनाम्ना, प्रथमं गुप्ततया मातृनाम्ना नामाहायं वै निश्चयेन रोहिणीपुत्रोतो रौहिणेय इत्युक्तो भवति, रोहिण्यामाविर्भूतस्यावेश इति च, वै निश्चयेनेति यशोदायाः पुत्रत्वे सन्देह इति ज्ञापितं, यदि भगवान् प्राकृतः केनाप्यंशेन भवेत् तदा याशोदेयो दैवकेय इतिनाम भवेद् यथा रौहिणेय इति, तस्मादयमेव वै निश्चयेन रोहिणीपुत्रः, किञ्च योनिकृतसम्बन्धाध्यासोप्यस्य दृढ इत्याह रमयन् सुहृदोः गुणैरिति, सुहृदोः सर्वानेव सम्बन्धिनो गुणैः स्वसामर्थ्यैः पालनपोषणप्रीणनादिभि रमयन् लोके राम इत्याख्यास्यते, गुणैः सुस्वभावादि. भिर्वा, अयं च बलिष्ठो भविष्यति तथा ग्रहदर्शनादित्यन्यबुद्धिः, अतो बलाधिक्याद् बलरूपमेवैनं विदुः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—जगत् में जो मनुष्यादिकों के नाम रखे जाते हैं वे एक प्रकार के संकेत[2] हैं उन संकेतों से वे व्यक्ति पहचाने जाते हैं इसलिये उनके नाम स्वरूपानुसारी व्यवहारिक होते हैं। किन्तु ब्रह्म तो अव्यवहार्य[3] है अतः भगवान् में स्वरूप से नाम का अभाव है एवं सांकेतिक नाम न बनने से गुणों के योग से अर्थात् गुणानुकूल ही उनके नाम* होते हैं। यहाँ दोनों ही (श्रीकृष्ण व

---

* श्री प्रभुचरण टिप्पणी में आज्ञा करते हैं कि मनुष्यों के नाम जन्मते ही रखे जाते हैं, उस अवस्था में बालक के गुणों का ज्ञान न होने से नाम केवल सांकेतिक होते हैं अर्थात् जिस चिन्ह से वे पहचाने जावें। किन्तु भगवान् के नाम इस प्रकार से नहीं होते हैं भगवान् के नाम तो उनके प्राकट्य गुणानुसारी ही होते हैं। १६ वें श्लोक की श्री सुबोधिनीजी में आचार्यश्री कहेंगे कि जैसे 'रूप' भगवान् से पृथक् नहीं है; किन्तु भगवत्स्वरूप ही है, इसी प्रकार 'नाम' भी भगवान् से पृथक् नहीं है। नामी और नाम एक ही है अतः भगवान् के नाम रूप दोनों नित्य एवं सत्य हैं। जिस प्रकार भगवान् की 'देह' को लौकिक पुरुष अपनी दोष दृष्टि से प्राकृत देह समझते हैं वैसे ही नाम को भी 'वर्ण वा अक्षर' मात्र समझते हैं, वास्तव में तो वे भगवान् के नाम अलौकिक और नित्य हैं तात्पर्य यह है कि 'नाम और रूप' भी ब्रह्म ही है।

१—मित्रों २—चिन्ह। ३—व्यवहार में न आनेवाला।

बलराम) पुत्र वसुदेव के हैं। उनमें एक (बलराम) माता के नाम से और दूसरा (श्रीकृष्ण‡) पिता के नाम से प्रख्यात है। इस प्रकार यदि कहीं कहीं श्रीकृष्णचन्द्र को 'देवकीसुत' कहा है तो उसका आशय यह है, समास विच्छेद करने से वे दोनों पद पृथक हो जाते हैं इसी प्रकार यह श्रीकृष्ण एवं देवकी दोनों अलग हैं अतः इनका ऐक्य नहीं है।

अब पहले ज्येष्ठ पुत्र के तीन नाम कहते हैं। पहला नाम बताते हुए कहते हैं कि निश्चय से रोहिणी का पुत्र है इसलिये इसको सब 'रौहिणेय' कहेंगे। यह नाम माता के नाम से कहने का आशय यह है कि यदि 'वासुदेव' नाम कहें तो कंस को ज्ञात हो जाय तो उपद्रव हो, इस भय से पिता के नाम को गुप्त रखा। दूसरा आशय प्रकट करते हुए कहते हैं कि रोहिणी में आविर्भूत स्वरूप का यह आवेश होने से 'रौहिणेय' है। यहाँ निश्चय कहने से भगवान् (श्रीकृष्ण) के यशोदा पुत्र होने में सन्देह है यह बताया है। जो भगवान् श्रीकृष्ण किसी भी अंश से प्राकृत होते तो उनके नाम 'याशोदेय' (यशोदा से उत्पन्न पुत्र) वा दैवकेय (देवकी से उत्पन्न पुत्र) होते जैसे 'रौहिणेय' हुआ है, वैसे यहाँ नहीं है।† इससे निश्चय है कि यह ज्येष्ठ पुत्र ही 'रोहिणी पुत्र* हैं और इन्हीं का योनिकृत (माता के) सम्बन्ध का अध्यास दृढ़ था, यह बताते हुए कहते हैं कि इस दृढ़ अध्यास के कारण सब सुहृदों (सम्बन्धियों) को अपने गुणों से अर्थात् स्वसामर्थ्यों से पालन-पोषण, प्रीणना (प्रसन्न करने) से आनन्दित करते हुए अर्थात् रमण कराते हुए लोक में 'राम' कहलाएँगे, अथवा 'गुणैः' का दूसरा आशय कहते हैं कि अपने सुंदर स्वभावादि से रमण कराने से 'राम' कहलाएँगे और यह बलिष्ठ होगा। बल अधिक होने से इनको 'बल' (शक्ति) का रूप यह है यों कहकर 'बलदेव' कहेंगे। दूसरों की यह सम्मति है कि इसके ग्रह ऐसे हैं इसलिये इनमें विशेष बल होगा जिससे ये 'बल' नाम से प्रख्यात होंगे ॥ १२ ॥

आभास—भगवदाज्ञया मायाकृतमपि कर्मास्मिँल्लोके प्रसिद्धं भवत्विति "गर्भ-संकर्षणात् संकर्षण" इति।

---

‡ **लेखकार**—गो० श्रीवल्लभलालजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण पिता के नाम से प्रख्यात है जैसा कि श्रीकृष्ण को "शौरि" कहा गया है न कि माता के नाम से, 'दैवकेय' कहीं भी नहीं कहा गया है। बलराम को तो शौरि न कहकर 'रौहिणेय' कहा गया है इसलिये वह माता के नाम से प्रसिद्ध है यदि कहीं कहीं बलराम को शौरि कहा है तो उसका आशय यह है कि बलराम में वासुदेव का आवेश है।

† भगवान् अजन्मा है इससे यशोदा या देवकी का पुत्र नहीं है किन्तु अंश (प्रद्युम्नांश) से ही पुत्र हुआ है।

* **लेखकार**—गो० श्रीवल्लभलालजी कहते हैं कि 'वै' अर्थात् निश्चय से यह रौहिणेय हैं। निश्चय से कहने का तात्पर्य यह है कि यह देवकी के गर्भ में रहा था तो भी यह दैवकेय (देवकी का पुत्र) नहीं कहा जाएगा कारण कि रोहिणी में वसुदेव का आवेश हुआ था इसलिये रोहिणी का पुत्र कहा जाएगा।

आभासार्थ—भगवदाज्ञा से जो कर्म (देवकी के गर्भ से गर्भ को खेंच कर, रोहिणी के गर्भ में पधराना) माया ने किया। वह कर्म लोक में स्मरण रहे इसलिये इस लोक में इस प्रकार के नाम का प्रकाशन करते हैं।

श्लोक—**यदूनामपृथग्भावात् सङ्कर्षणमुशन्त्युत ॥ १३ ॥**

श्लोकार्थ----इसमें यदुओं से पृथकता के भाव न होने से इसको संकर्षण भी कहते हैं।

सुबोधिनी—भगवद्वचनाद् देवगुह्यत्वात् तल् लोके न वक्तव्यमिति प्रकारान्तरेण सङ्कर्षणव्युत्पत्तिमाह **यदूनामिति**, **यदूनां** मध्येस्य न पृथग्भावोस्ति सर्वत्रात्मबुद्धिरेव, अत एव भगवता मातृद्वयमस्य सम्पादितं भिन्नमातृसुतेषु वैराभावज्ञापनार्थं, अतो भगवत्कृतं संवदतीति नात्यन्तं दोषोपि, **यदूनां** वास्मिन् **पृथग्भावो** नास्तीति सम्यक् सर्वेषामाकर्षणमाकरणं यस्मिन्निति **सङ्कर्षण-मुशन्ति** वदन्ति, **उतापि**, अनेन सङ्कर्षणपदादर्थान्तरं मुख्यमस्तीति ज्ञापितम् ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ--यद्यपि, भगवान् के वाक्यों से 'गर्भ संकर्षण' (गर्भ खेंचने) से इसका नाम संकर्षण है। ये भगवान् के वचन, देव गुह्य होने से लोक में नहीं कहने चाहिये। अतः श्लोक में दूसरे प्रकार से इसका भावार्थ कहते हैं। इसका यदुओं में पृथक्पने का भाव नहीं है, किन्तु सर्वत्र आत्मभाव (अपनेपन के भाव) हैं। इसलिये भगवान् ने इसकी दो माताएँ बनाई हैं। जिससे इसका सब में प्रेम हो और भिन्न माताओं के पुत्रों में बैर का अभाव जताने के लिये भी दो माताएँ की हैं। अतः गर्गजी जो भगवान् ने किया है उसका वर्णन करते हैं, जिससे कोई दोष भी नहीं है, अथवा यदुओं की बुद्धि भी इसमें पृथक्ता की नहीं थी। 'संकर्षण' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं कि 'सम्यक् सर्वेषां आकर्षणं आकारणं यस्मिन् इति संकर्षणं' जिसका अर्थ होता है कि जिसमें सबों के आकर्षण (अपनी तरफ मन को खींचने) की शक्ति है, उसको सङ्कर्षण कहते हैं। श्लोक में 'उत' अपि का भाव आचार्यश्री बताते हैं कि इसलिये सङ्कर्षण पद का दूसरा अर्थ मुख्य है। अर्थात् व्युत्पत्ति से किया हुआ अर्थ गौण है और श्रीकृष्ण का कहा हुआ अर्थ मुख्य है। सारांश कि गर्भ के कर्षण (खींचने) से ही यह 'संकर्षण' नाम पड़ा है ॥१३॥

आभास--चतुर्मूर्तेर्भगवतश्चत्वारि नामानि वक्तव्यानि तत्र द्वयमाह द्वयं तु गुप्ततयानेकभेदभिन्नं वक्ष्यति चतुष्टयस्य च द्वये प्रवेशश्च, तत्रादौ कृष्णोयमिति नाम वक्तव्यं, तत्र भगवन्नाम कथमस्येतिशंकां वारयन् वर्णपरत्वेन सत्यं वदन्नाहासन्निति।

आभासार्थ—चतुर्मूर्त्ति (व्यूह चार हैं) भगवान् के चार नाम कहने चाहिये। उनमें से दो नाम कहते हैं—दो नाम अनेक भेद पूर्वक गुप्त रीति से कहेंगे। चारों नामों का दो नामों में अन्त-

र्भाव है।* प्रारम्भ में यह 'कृष्ण' है यों नाम कहना चाहिये।† इस बालक का नाम भगवन्नाम कैसे ? इस शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि यह नाम वर्ण (रंग) परत्व है, सत्य है। यह निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक----**आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोनुयुगं तनूः ।**
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ।। १४ ।।

श्लोकार्थ----प्रत्येक युग में आकृति प्रकट करते हुए इसके शुक्ल, रक्त और पीत ये तीन वर्ण हुवे। अब इसका कृष्ण वर्ण हुवा है।

सुबोधिनी—अयमनुयुगं तनूगृह्णाति, अन्यथा युगमेव न स्यात्, भगवान् जगच्चेतिद्वयं युगशब्देनोच्यते, तत्रैकश्चेन्नाविर्भवेदेकमेव स्यान् न तु युगलं, धात्वर्थोपयोगो द्वयोरेव, अतो भगवतावश्यमनुयुगमवतारः कर्तव्यस्तत्र युगधर्मख्यापनार्थं रूपं च तथा कर्तव्यं, अन्यथा लोकानां प्रतीतिर्न स्यात्, तदाह **शुक्लो रक्तस्थता पीत इति त्रयो वर्णा अस्यासन्**, अग्रे च कलिर्भविष्यति तत **इदानीं कृष्णतां गतः** कृष्णवर्णं प्राप्तवानित्यर्थः, एनं कृष्णत्वं न प्राप्तवत् किन्त्वयमेव कृष्णत्वं प्राप्तः सर्वगतत्वात् सर्वसमन्वयाच्च, अनेन परब्रह्मतोक्तैव "कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृत्तिवाचकः तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत" इतिनिर्वचनात्, यद्यपि सदैव कृष्णस्तथापि प्राकृतसत्त्वस्याप्यनाश्रयेषु स्वस्वरूपात्मकसत्त्वप्रकटनात् तादृशेष्वपि स्वरूपानन्ददानादिदानीमेव कृष्णत्वं प्रकटितवानित्यर्थः, एतद्गोपनाय शब्दच्छलेन वर्णक्रममुक्तवान्, तेनायं संकर्षणरूपोप्युक्तः कालानुगुणत्वात्, पुरुषोत्तमरूपोप्युक्तः सर्वसमन्वयात् ।। १४ ।।

व्याख्यार्थ—यह (बालक) प्रत्येक युग में देह ग्रहण करता है। यदि देह धारण न करे तो 'युग' बने ही नहीं क्योंकि युग शब्द का अर्थ है 'दो'। जगत् एक है तो उस एक को तो युग कह नहीं सकते अतः जब कोई अन्य प्रकट होगा, तब वह दूसरा होगा। तब जगत् एवं भगवान् दो होंगे ऐसा होने पर ही युग होता है। 'युग' शब्द 'युज्' धातु से बना है उसका अर्थ है 'जोड़ा'। यदि भगवान् समयानुसार अवतार न लें तो 'युग' शब्द के अर्थ की व्यर्थता हो जाय, अतः भगवान् प्रत्येक युग में अवश्य अवतार लेकर 'युग' शब्द को सार्थक करते हैं। उस समय में युगधर्म प्रसिद्ध करने के लिये वैसा ही रूप धारण करना चाहिये नहीं तो लोकों को प्रतीति न हो सके। उसकी प्रतीति कराने के लिये ही उनके शुक्ल, रक्त और पीत तीन वर्ण हुए थे। आगे कलियुग होगा इसलिये अब उन्होंने कृष्ण वर्ण धारण किया है। इनको काले रंग ने वा कलि ने प्राप्त नहीं किया

* बलदेव में वासुदेव और सङ्कर्षण व्यूह है एवं श्रीकृष्ण में चारों व्यूह प्रविष्ठ हैं।—लेख
चारों का दो में अन्तर भाव हैं।—प्रकाश

† कृष्ण ब्रह्म है, ऐसा कहना चाहिये।—प्रकाश

है; किन्तु वे स्वयं काले हुए हैं। इन रंगों के रूपों को प्रकट करते हुए भगवान् ने अपनी सर्वव्यापकता एवं सब कुछ मुझ में है, यह प्रमाणित किया है, जिससे इनकी परब्रह्मता कही गई है। उपनिषद् भी इनकी इस नाम से ही परब्रह्मता कहते हैं जैसे कि "कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निवृत्तिवाचकः तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" अर्थात् 'कृष्' शब्द सत्तावाचक है और 'ण' आनन्दवाचक है इन दोनों 'कृष्' और 'ण' को मिलाने से 'कृष्ण' बनता है। जिसका भावार्थ हुआ जिस स्वरूप में आनन्द की सत्ता सदा स्थित है वह स्वरूप 'कृष्ण' है। यद्यपि सदैव कृष्ण (आनन्द स्वरूप) है तो भी जिन जीवों में प्राकृत सत्त्व भी नहीं है ऐसे* जीवों में भी अपना स्वरूपात्मक सत्त्व प्रकट करने से और स्वरूपानन्द दान देने से अब ही अपना 'कृष्णत्व' (आनन्दत्व-आनन्दपन) प्रकट किया है। इस गुप्त रहस्य को न बताने के लिये शब्द 'च्छल' से वर्णक्रम गर्गजी ने कहा है (अथवा भगवान् ने गर्गजी से यों कहलाया है) इससे यह (श्रीकृष्ण) काल के अनुरूप गुणवाले होने के कारण संकर्षण रूप भी कहे गए हैं तथा सबसे कृष्ण का समन्वय है इससे इनको पुरुषोत्तम रूप भी कहा है ॥ १४ ॥

आभास—नामान्तरमाह प्रागयमिति ।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में दूसरा नाम कहते हैं।

श्लोक—**प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज् जातस्तवात्मजः ।**
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ—पहले किसी स्थल में (किसी समय) यह तुम्हारा श्रीमान् पुत्र वसुदेव के यहाँ उत्पन्न हुवा था जिससे ज्ञानी लोग इसको 'वासुदेव' कहते हैं।

सुबोधिनी—क्वचिद् देशविशेषे प्राक् त्वद्गृहागमनात् पूर्वमेव वसुदेवस्य पुत्रो जातो वसुदेवस्येति तवेति च सामानाधिकरण्यादाधियैबिकस्य वसुदेवस्य तवात्मजो जात इत्युक्तं भवति, अनेन प्रद्युम्नताप्युक्ता, वसुदेवे शुद्धसत्त्व आविर्भावादनिरुद्धता च, वस्तुतस्त्वयं त्वात्मजः क्वचिद् वसुदेवस्य जात इति तस्य बुद्धिः, वासुदेवत्वे हेतुः श्रीमानिति, लक्ष्मीपतिरयमित्यर्थः, इमं गूढाभिप्रायमभिज्ञा एतज्ज्ञातारोभितोस्य स्वरूपं ये जानन्ति "यावान् यश्चास्मि यादृश" इति, अत एव सम्यक्त्वेन प्रकर्षेण च चक्षते ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ—किसी देश विशेष में, आपके घर आने से पहले ही वसुदेव के यहाँ पुत्ररूप से यह प्रकट हुआ। इस प्रकार कहने से समझा जायगा कि यह नन्दरायजी के गृह में केवल आया है उसका वास्तविक रीति से, नन्दरायजी से प्राकट्य नहीं हुआ अर्थात् यह नन्दजी का पुत्र नहीं है

---

* ऐसे अर्थात् तामस—'प्रकाश'

किन्तु वसुदेवजी का पुत्र है। इस शंका को निवारण करने के लिये श्लोक में कहे हुए 'वसुदेवस्य' और 'तव' दोनों शब्दों का सामान्याधिकरण करते हुए दोनों का एक ही रूप दिखाते हैं अर्थात् यह जो गर्गजी ने वसुदेवजी के वहाँ कृष्ण का प्राकट्य कहा है वह नन्दजी ही है क्योंकि आधिदैविक वसुदेवजी तो नन्दजी× है आधिदैविक कृष्ण स्वरूप का प्राकट्य आधिदैविक वसुदेवजी (अर्थात् नन्दजी) के यहाँ ही हुआ है इससे यह भी जता दिया कि पुत्रत्व के कारण प्रद्युम्न रूप से प्राकट्य भी यहाँ हुआ है। वसुदेवजी में शुद्ध सत्व के आविर्भाव से इसमें अनिरुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ। श्री नन्दरायजी की बुद्धि में इस प्रकार आया कि गर्गाचार्यजी ने कहा है कि सचमुच यह (कृष्ण) तुम्हारा पुत्र है। वसुदेवजी के यहाँ तो क्वचित् (कभी) हुवा था। 'वासुदेव' यह है इसका कारण बताते हैं कि यह लक्ष्मीपति* है।

इस गूढाभिसन्धि (गुप्त तात्पर्य) को वे कहते हैं जो इसके स्वरूप को जो है जितना है और जैसा है इस प्रकार जानते हैं ॥ १५ ॥

आभास--एवं नामद्वयमुक्त्वा गुणयोगादयमनन्तनामेति सर्वशास्त्रेषु तानि नामानि स्वत एव ज्ञातव्यानीत्यतिदिशति बहूनीति।

आभासार्थ—इस प्रकार श्रीकृष्ण के दो नाम कहे अब इस श्लोक में कहते हैं कि गुणों के योग से इनके अनन्त नाम हैं। उनका सर्व शास्त्रों में वर्णन है वहाँ से आप ही स्वयं जान लें।

श्लोक—**बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।**
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ--आपके पुत्र के गुणों तथा कर्मों के अनुसार बहुत नाम हैं उन्हें मैं जानता हूँ अन्य मनुष्य नहीं जानते।

सुबोधिनी—**बहून्यसङ्ख्यातानि नामानि रूपाणि च**, अन्यथा क्रियायां निवृत्तायां तन्नाम न स्यात् पाचक-पाठकवत्, रूपं चेत् तादृशं भवति तदा क्वचिद् गुणयोगात् प्रवृत्तरूपे नामावश्यकत्वाद गवादिवत् सर्वदा भगवति चकारान्नामरूपयोः क्रियायाश्च नित्यत्वं प्रतिपादयति सन्तीति, तेन भगवान् **गोवर्धनमुद्धरन् सर्वदा वर्तत** इति गोवर्धनोद्धरणधीरः क्रियानामभ्यां सहितो गोवर्द्धनोद्ध-रणरूपः सर्वदा वर्ततेद्यापि **प्रतिकृत्यनुभवो भक्तानामतो-**

× कृष्णोपनिषद् में नन्द को परमानन्द कहा है वहाँ आधिदैविक वसुदेव समझना—**'प्रकाश'**

* देवताओं की देवी लक्ष्मी वह जिसकी है वह वसुदेव वासुदेव है यह सत्य अर्थ इसलिये कहा है कि नन्दजी का कृष्ण में विशेष स्नेह होवे—**'प्रकाश'**

नन्तान्येव रूपाणि नामानि चास्यैव कृष्णस्य भगवतः, तदाह सुतस्य त इति, अन्यथा तस्य भ्रमो भवेत्, वसुदेवस्य विद्यमानत्वान् न वाक्यं बाधितार्थं, स्तुत्यर्थमननुरूपाण्यपि कदाचिद् भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह गुणकर्मानुरूपाणीति, गुणानामौदार्यादीनां कर्मणां कालीयदमनादीनां चालौकिकानां, नामान्यप्यलौकिकानि भवन्तीती गुणकर्मानुरूपाणि तानि रूपाणि नामानि चालौकिकत्वेनाहमेव वेद नो जनाः, व्यवहरन्त्युच्चारयन्ति च तथापि विचाराभावान्न जानन्ति, यतो जना जननादिभावधर्मयुक्ताः क्लिष्टा इत्यर्थः, विचारस्तु क्रियायामनित्यतायां रूपे वा कालादिपरिणामेन प्रतिक्षणमन्यभावे तत्सम्बन्धेन प्राप्तं नामान्यदान्यस्मिन् वा सम्बन्धरहितत्वाद् वाचकमेव न भवेत्, ततो निरर्थकानि नामानि न फलन्ति, नाप्यन्तःकरणं शोधयन्ति, अतः स्वरूपाज्ञानेन केवलमुच्चारितानि रूपसम्बन्धाभावात् स्वतोप्यलौकिकत्वाज्ञानादग्न्युच्चारणे दाहाभाववद् भगवन्नामोच्चारणेपि न प्रपञ्चनिवृत्तिः, नामानि च वर्णात्मकत्वेनैव ज्ञातानि पुरुषं जगच्च नामयन्त्युच्चारयितुरग्रे वश्यतया स्थापयन्तीति नामानि रूपवन् नामरूपस्यापि भगवतो रूपाणि, यथा भगवद्रूपं प्राकृततुल्यं प्रतीयते ग्राहकदोषादेवं नामान्यपि लौकिकानां ग्राहकदोषादेव लौकिकवर्णयुक्तानीव प्रतीयन्ते, वस्तुतस्त्वखण्डान्येव तथा ज्ञानपूर्वकं शुद्धभावेन वस्तुतत्त्वे ज्ञात एव तद्बुद्धचयोच्चारितानि, न तु लोकसिद्धानुवादकरूपाणि, नामानि सर्वपुरुषार्थानि फलन्ति नान्यथेतिसिद्धान्तोतो लोकन्यायेनोच्चारयितरि फलाभावे दोषसंबंधे वा न काप्यनुपपत्तिः, एतस्यैव तारतम्येन चित्तशुद्ध्यतिशयो नाम्ना भवति, अन्यथा त्वावृत्तं स्वाधिदैविकसहितमेवेति कदाचित् फलति यद्याधिदैविकोद्बोधपर्यन्तमावर्तेत, कालादीनां तु नाममाहात्म्यज्ञानादुच्चारयितुः परित्यागः, अनुगुणत्वात् सारूप्येण साधकमिति लौकिकस्यापि प्रवर्तनापरत्वेन मोक्षदातृत्वमित्यजामिलोपाख्यानस्यापि न वैयर्थ्यं, अन्यथा तत एव वैकुण्ठे गमनं स्यात्, अत उपायपरत्वमेव लौकिकस्य, तस्मात् सुष्ठूक्तं तान्यहं वेद नो जना इति, अनेनानन्तान्येव नामान्युक्तान्युपास्यरूपाणि चान्तःकरणशोधकानि, तदवस्थां भगवद्रूपस्य स्मृत्वा तन्नाम ग्राह्यमिति, अन्यथा नामप्रसंगे रूपकथनं व्यर्थं स्यात् ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण के नाम और रूप अगणित एवं नित्य हैं, जो यों न होवे तो पाचक तथा पाठक के समान क्रिया समाप्त होते ही नाम भी न रहे । जो वैसा रूप दूसरे प्रकार का क्रिया बंद होते हुए भी रहने वाला (क्रिया आदि के अनुकूल) होता है, तब क्वचित्[1] गुणों के योग होने पर, उस प्रकार के भगवत् रूप का प्रादुर्भाव होते ही उसका नाम भी अवश्य होगा । जैसे गौ आदि के गुणानुसारी रूप होते हुए नाम भी सर्वदा होते ही हैं । आचार्यश्री कहते हैं कि शुकदेवजी ने श्लोक में 'च' अक्षर और 'सन्ति' सत्तावाचक क्रिया देकर भगवान् के 'नाम' 'रूप' और 'क्रिया' का नित्यत्व स्पष्ट प्रतिपादन किया है । जिससे भगवान् गोवर्द्धन को धारण करते हुए सर्वदा विराजते हैं इसलिये आप (भगवान्) को गोवर्द्धनोद्धरण धीर क्रिया और नाम दोनों सहित गोवर्द्धनोद्धरण सर्वदा है । इसलिये अभी तक भी भक्तों को उस स्वरूप के दर्शन का अनुभवानन्द होता ही है अतः इस भगवान् कृष्ण के अनन्त नाम और रूप हैं । श्री नन्दरायजी में आधिदैविक वसुदेव स्वरूप होते हुए भी इस अर्थ का बोध नहीं होता है अर्थात् यह अर्थ असत्य नहीं हो सकता है और स्तुति के लिये गुण एवं कर्म के बिना भी, कल्पित नाम और रूप कहे जाते हैं । इन दोनों शंकाओं के मिटाने के लिये कहते हैं कि इस (श्रीकृष्ण) के जो नाम और रूप हैं वे गुण और

१—कभी भी ।

कर्मानुकूल ही हैं । जैसे कि अलौकिक औदार्यादि[1] गुण और कालीयदमन आदि अलौकिक कर्मों के कारण नाम भी अलौकिक हैं । इन गुण, कर्म और नामों की अलौकिकता को मैं जानता हूँ, सामान्य लोग नहीं जानते हैं । यद्यपि जनसमूह इन नामों का उच्चारण करते हैं, व्यवहार में लाते हैं तो भी उनमें इनकी अलौकिकता के समझने की विचार शक्ति का अभाव है इसलिये नहीं जान सकते । हैं । क्योंकि 'जनाः' शब्द देकर श्री शुकदेवजी ने बताया है कि जन्म आदि भाव एवं धर्म वाले हैं इसलिये आचार्यश्री कहते हैं कि 'विलष्ट' हैं अर्थात् दुःखी है । जो दुःखी होते हैं उनमें अलौकिक वस्तु के विचार करने की शक्ति नहीं होती है । विचार के स्वरूप का वर्णन करते हैं कि जो क्रियाएँ अनित्य होती हैं और जो रूप कालादि के आधीन होते हैं वे प्रतिक्षण बदलते रहते हैं ऐसी क्रियाएँ अनित्य एवं कालाधीन रूपों से जिन नामों का सम्बन्ध होता है, वे नाम निश्चित सत्य से सम्बन्ध रहित होने से निरर्थक[2] होते हैं । जिनका कोई अर्थ[3] नहीं । ऐसे नाम अन्तःकरण को भी शुद्ध नहीं कर सकते हैं किन्तु भगवान् के स्वरूप कालाधीन नहीं हैं और उनकी क्रियाएँ नित्य हैं अतः उनके नाम भी नित्य एवं सत्य है । यदि विचार पूर्वक भगवान् के नाम रूप एवं कर्म (क्रिया) स्वरूप को सत्य एवं नित्य समझ कर, जो मनुष्य नाम लेता है, उसको फल मिलता है; किन्तु जो यों न समझ कर, स्वरूप के सम्बन्ध बिना नामों को लौकिक अक्षरमात्र जानकर उनका केवल उच्चारण करते हैं, उनका इस प्रकार के नाम उच्चारण से प्रपञ्च[4] नष्ट नहीं होता है जैसे अग्नि कहने से कोई जलता नहीं है । नाम* रूप —भगवान् के रूप के समान नाम भी रूप हैं । जैसे दर्शक की दोष दृष्टि से दर्शकों को भगवदाकार प्राकृत तुल्य दीखते हैं वैसे ही कहने वाले की दूषित बुद्धि से, उनको भगवन्नाम भी लौकिक वर्ण युक्त प्रतीत होते हैं । निर्दोष बुद्धि से विचारा जाय तो भगवन्नाम वास्तविक अखण्ड[6] है । इस प्रकार ज्ञान पूर्वक शुद्ध भाव से वस्तुतत्व (नाम, रूप वस्तु का तत्व) समझ, उस बुद्धि से नाम का उच्चारण किया जाए तो सर्व पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं । दूसरे प्रकार से (लौकिक प्रकार से) उच्चारण करने से कोई फल नहीं होता अथवा दोष भी होता

---

*प्रकाशकार गो० श्री पुरुषोत्तमजी भगवान् से सम्बन्धित नाम में, इतनी शक्ति कैसे आई, इसको समझाते हुए कहते हैं कि एक तो शास्त्रों में अ, क, म आदि अक्षरों को शब्दब्रह्मरूप कहा है । इस प्रकार शास्त्रीय सिद्धान्त से स्पष्ट होता है कि भगवान् से सम्बन्धित नाम के अक्षर ब्रह्मरूप हैं । इसलिये ब्रह्म के रूप में जो शक्ति सामर्थ्य हैं, वह नाम में भी सामर्थ्य हैं; क्योंकि नाम भी उसके ही रूप हैं अतः ऐसे भगवान् के नाम—पुरुष तथा जगत् को नमाते हैं अर्थात् पुरुष और जगत् नामोच्चारण करने वाले के अधीन हो जाते हैं । जिस प्रकार वृष आदि पशुओं के नथुने[5] से, वे डालने वाले के चलाने से चलते हैं अर्थात् उनके आधीन रहते हैं । वैसे ही भगवान् भी नाम रूप रज्जु से नाथे हुए है । नामोच्चारण से, नामोच्चारण करने वाले के निकट, स्वतः बिना विलम्ब पधारते हैं ।

१—उदारता आदि । २—निष्फल, व्यर्थ । ३—फल । ४—संसार ।
५—नाक में रस्सी आदि डालने से । ६—नित्य, सत्यरूप ।

है। इसके सिद्ध करने में उपपत्ति[1] भी है। इस (नाम) के ही भेद* से नाम लेते लेते चित्त की अतिशय शुद्धि होती है। जो नहीं, तो जब तक आधिदैविक स्वरूप का उद्बोध हो, तब तक बार बार नाम लेता ही रहे, डिगे नहीं तो किसी समय में फलीभूत हो जाता है। काल को भगवान् के नाम का माहात्म्य ज्ञान है, इसलिये काल, नामोच्चारण करने वाले को पकड़ता नहीं, छोड़ देता है। भगवान् के नामके समान किसी का नाम हो वह नाम भी, सारूप्य† (उन्हीं अक्षरों से बन जाने) के कारण फलदाता हो जाता है। वह नाम भगवान् में प्रवृत्ति कराने से मोक्ष देता है, इसलिये अजामिल का चरित्र भी व्यर्थ[2] नहीं है। यदि लौकिक मनुष्य के कृष्णादि नाम भी लेने वाले को भगवान् के नाम की तरह फल दाता होते, तो अजामिल को उसी समय सीधा वैकुण्ठ मिल जाता; किन्तु यों हुआ नहीं अतः लौकिक नाम एक प्रकार के उपाय रूप हैं। इस कारण से गर्गाचार्यजी ने प्रशस्त[3] कहा है कि उन (नामों) को मैं जानता हूँ, मनुष्य नहीं जानते हैं। इससे गर्गाचार्यजी ने यह समझाया है कि भगवान् (श्रीकृष्ण) के उपास्य रूप और अन्तःकरण शोधक अनन्त नाम हैं। भगवान् के जो जो नाम लिये जायँ, वे नाम भगवान् की जिस अवस्था (लीला) के हों उस लीला एवं स्वरूप का ध्यान धरते हुए नाम लेना चाहिये। इसलिये नामकरण प्रसंग में रूप वर्णन किया गया है। यदि नाम स्मरण के समय रूप के ध्यान की आवश्यकता न होती तो यहाँ व्यर्थ रूप वर्णन न किया जाता॥ १६॥

आभास--ज्योतिःशास्त्राभिज्ञत्वाद् रूपनामज्ञानार्थं भगवतो गुणकर्माण्याह चतुर्भिस्तत्रादौ द्वयेन कर्माण्याहैष व इति।

---

* नाम के स्वरूप का ज्ञान एवं भक्ति आदि के स्वरूप का ज्ञान इत्यादि भेद वा तारतम्य।—प्रकाश

† लौकिक मनुष्य का नाम भगनान् के नाम सदृश 'कृष्ण गोपाल' आदि हो तथापि उन नामों में भगवान् के सदानन्दादि धर्म नहीं होते हैं। इसलिये वे लौकिक शब्द हैं, उन के लेने से, किसी किसी का मोक्ष जो हुआ है वह भगवान् के नाम सारूप्य के कारण हुआ है; किन्तु वे उपाख्यान, नाम माहात्म्य प्रकट करने के लिये हुए हैं। उनका तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य भगवान् का नाम नहीं लेते हैं, उनकी नाम लेने में प्रवृत्ति हो।—टिप्पणी

गुरु की कृपा से जिसको लौकिक नाम और भगवान् के नाम के तारतम्य का ज्ञान हो जाता है, वह मनुष्य स्वरूपज्ञान सम्बन्धित भगवान् का नाम लेता है, उसको शीघ्र ही फल मिलता है। जिसको ज्ञान नहीं, यों ही नाम लेता है, वह निरन्तर दृढ़ता से लेता रहेगा, तो आधिदैविक का उद्भव (प्रबोध) होकर, आधिदैविक फल की प्राप्ति होगी। यदि आधिदैविक उद्बोध न हुवा और नाम लेने वाले की मृत्यु हो गई, तो यम के दूत उनसे दूर भाग जाते हैं अर्थात् वह नरक में नहीं जाता है, उसको भगवान् स्वेच्छा से फल देते हैं।—प्रकाश

१—हेतु पूर्वक युक्ति। २—असत्य। ३—बहुत अच्छा।

आभासार्थ—गर्गाचार्यजी ज्योतिः शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता हैं, इसलिये भविष्य में मनुष्यों को भगवान् के रूप और नाम ज्ञानार्थ, निम्न चार श्लोकों में उनका वर्णन करते हैं । पहले दो श्लोकों में भगवान् के कर्मों का वर्णन करते हैं ।

श्लोक---**एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः ।**
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ----यह (श्रीकृष्ण) आपका कल्याण करते हुए गोप और गोकुल को आनन्ददाता होंगे इससे आप सब सर्व प्रकारों के संकटों से तर जाओगे ।

सुबोधिनी — एष भगवान् परिदृश्यमानो **वो** युष्मान् श्रेय **आधास्यद्** धृतवान् पोषितवान् वा, पूतनासुपयःपानादिकं यद् भगवता कृतं तद् भवतां श्रेयोनिमित्तं, अविद्या हि पञ्चपर्वा सा नाशिता शकटः संसारात्मको भञ्जितोविद्याकार्यरूपो मोहात्मकश्च तृणावर्तो मारितः, एवं त्रिदोषदूरीकरणेन ज्ञानोत्पादनेन चासमन्ताच्छ्रेयोधास्यत्, स्वयं सर्वपुरुषार्थरूपोपि दोषवशाद् ग्रहीतुमन्यैर्न शक्यत इति दोषदूरीकरणद्वारा श्रेयोधारकत्वं, किञ्च न केवलं सकृद् दत्तवान् किन्तु धृत्वैव तिष्ठति, अतोग्रेपि दास्यति यावता च भवद्भिः परमश्रेयो गृहीतो (गृहीतं) भविष्यति तावत् करिष्यतीत्याकारः, भूते लृङ्, तेन सिद्धं भवतां श्रेय इत्युक्तं, अनेन भवद्रक्षार्थं बहूनि कर्माणि करिष्यतीती कर्माण्युक्तानि, एवं दोषाभावार्थं करिष्यमाणानि कृतानि कर्माणि चोक्त्वा परमानन्ददायकान्यपि कर्माणि करिष्यतीत्याह **गोपगोकुलनन्दन** इति, गोपान् गोकुलं च नन्दयतीति, गोपशब्देन गोप्योपि गृहीताः गोकुल शब्देन तत्सम्बन्धिनश्च यावन्तस्तदुपजीवकाः, उभयविधानप्यानन्दयिष्यतीतिक्रीडा तत्प्रतिघातवधश्चोक्तः, ननु त्वया कंसो ज्ञात्वा मारयिष्यतीति भयं जनितं तत्र का गतिरिति चेत् तत्राहानेनेति, **अनेन** भगवता **सर्वाण्येव दुर्गाणि** सङ्कटस्थानानि कंसोपद्रवरूपाणि सर्वाणि **यूयमञ्जसा**नायासेन **सर्व** एव **तरिष्यथ**, अतः कंसादिभयमपि न कर्तव्यं, इदं तु वसुदेवस्यास्माकं चोपद्रवो भविष्यतीत्युक्तं न तु भवतामितिभाव ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ—यह भगवान् जो सामने दर्शन दे रहे हैं, वह आपके श्रेय[1] का धारण और पोषण करने वाले हैं । जैसा कि इन्होंने पूतना के प्राणरूपी दूध का पान आपके हित के लिये किया है । पञ्चपर्वा अविद्या का नाश किया, संसारात्मक शकट तोड़ा, अविद्या कार्य रूप और मोहात्मक तृणावर्त का वध किया । इस प्रकार तीन प्रकार के दोषों का नाश करन से एवं ज्ञानोत्पादन करने से चारों तरफ श्रेय किया । स्वयं भगवान् सर्व पुरुषार्थ[2] रूप हैं तो भी जीव दोष वश होने से उनको ग्रहण[3] नहीं कर सकते हैं । भगवान् कृपा कर दोष दूर करण द्वारा श्रेय धारण कराते हैं न केवल सकृत्[4] श्रेय दान कर देते हैं; किन्तु उस श्रेय को धारण करते हुए स्थित रहते हैं । श्लोक में धास्यत् के आगे 'आ' उपसर्ग दिया है उसका आशय, आचार्यश्री प्रकट

१--भला, हित । २—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । ३—समझ । ४—एक बार ।

करते हैं कि अतः आगे भी शुभ देंगे (करेंगे) जब तक आप उस (श्रेय) को ग्रहण करते रहोगे, तब तक देते रहेंगे। इससे यह बताया कि आप (नन्दादि) का श्रेय सिद्ध हो गया है। अब आपके रक्षार्थ, भगवान् अनेक कर्म करेंगे। इस प्रकार कर्म कहे जिन कर्मों से दोषों का अभाव होगा। उन कर्मों का वर्णन कर अब कहते हैं कि न केवल दोष दूरीकरण कर्म कर शान्ति करेंगे, किन्तु आगे परमानन्द-प्रद कर्म भी करेंगे। इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि गोपों को और गोकुल को आनन्द देंगे। यहाँ गोप शब्द से गोपियों को भी समझना चाहिये। 'गोकुल' शब्द कहने से उससे सम्बन्ध रखने वाले और उससे आजीविका चलाने वाले भी आगए ऐसा समझना। दोनों प्रकार वालों को आनन्दित करेंगे। यह भगवान् की क्रीड़ा कही और क्रीड़ा में विघ्नकर्ताओं का वध करना भी कहा। नन्दजी के मन में यह भय नहीं रहे कि आप (गर्गजी) ने कहा था कि कंस को ज्ञात होगा तो वह इसको मारेगा। इस नन्द के भय को मिटाने के लिये कहते हैं कि इस बालक के द्वारा तुम सर्व प्रकार के संकटों से, जो जो कंस द्वारा उपद्रव होंगे, वा अन्यों से होंगे, उन सब को बिना आयास[1] सब तर जाओगे। अतः कंसादिकों का भय नहीं करना चाहिये। मैंने जो पहले कहा था कि कंस को ज्ञात होगा तो हानि होगी वा उपद्रव होगा। मेरे उस कहने का तात्पर्य यह था कि वह हानि वा उपद्रव का भय मुझे (गर्गजी को) और वसुदेवजी को होने को कहा था न कि आपको। इसलिये आप किसी प्रकार के भय की शंका न करें॥ १७॥

आभास----एवं सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वकंसर्वपुरुषार्थसिद्धिरस्माद् भवतामित्युक्तं, अतोऽस्य चिन्ता नास्तीत्युक्तमेव, मोक्षोप्यस्माद् भविष्यतीति वक्तुं तदर्थमिन्द्रियजयमपि वक्तुं पूर्वोक्तेपि प्रमाणमाह पुरानेनेति।

आभासार्थ—इस (कृष्ण) से ही आपके सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति तथा सर्व पुरुषार्थों की सिद्धि होगी अतः इस विषय की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। ऐसा कहकर अब इस श्लोक में कहते हैं कि मोक्ष भी इससे ही होगा तथा मोक्ष के लिये इन्द्रियों को जीतने की जो आवश्यकता है उसकी पूर्ति भी आपकी ये ही करेंगे। पूर्वोक्त का प्रमाण भी इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक----**पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः।**
अराजकेरक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः॥ १८॥

श्लोकार्थ----जब कोई राजा न था, तब चोरों से पीडित एवं किसी से भी अरक्षित साधुओं की, इस तुम्हारे पुत्र ने रक्षा और वृद्धि की जिससे वें दस्युओं को जीत सके।

१—कष्ट या यत्न।

सुबोधिनी—हे **व्रजपते, अनेन** भगवता कृत्वा दस्युपीडिता अपि **साधवः समेधिताः** सन्तो **दस्यून् जिग्युः** क्षुद्रोपद्रवोपि चोरवत् कंसादिभिः कर्तुं न शक्यो यतोस्य स्वभावकृतिरेव तादृशी, **व्रजपत** इतिसम्बोधनं सर्वस्यापि **व्रजस्य** यथासुखं विहरणयुक्तस्य सर्वतः कुशलं भविष्यतीति ज्ञापयति, तेन यत्र क्वापि स्थातव्यं न चिन्तेतिभावः, **पुरे**तिवचनात् सदातनोयं न तु त्वद्गृहेधुनावतीर्ण इति ज्ञापितं, **अनेने**ति न तस्यावतारः किन्त्वयमेव सम्बोधनं तु ज्ञानाभावज्ञापकं, **दस्यवो** रावणादयः 'त्रसद्दस्यु'पदे तथा निर्वचनस्योक्तत्वात् "यस्यामिमे षण् नरदेवदस्यव" इति भवाटव्यामिन्द्रियाणि चोक्तानि कंसोपि तृणावर्तादिप्रेषणाद् दस्युः नन्वनेन दस्यवो मारिता इत्यत्र कि प्रमाणम् ? तत्राह **साधव** इति. यद्यन्तःकरणस्थितचोरान् बहिःस्थितांश्च न मारयेत् तदा **साधव** एव न भवेयुः, विशेषाकारेणापि मारयतीत्याह **दस्युपीडिता** इति, दस्युभिरुपहृतधनाः, पुनः **समेधिता**स्तथैव कृतास्ततोप्यधिकाश्च, ततो **जिग्युः** स्वयमेव तान् जितवन्तः, अतो भवन्तोप्यनेन **समेधिताः** स्वयमेव **दस्यून्** जेष्यन्ति, एवं भगवतस्त्रिविधानि कर्माणि निरूपितानि सर्वदोषनाशकानि सर्वसुखजनकानि सर्वसामर्थ्यजनकानीति, ननु कथं साधूनां दुष्टोपद्रवः पूर्वं राज्ञां विद्यमानत्वात् तत्राहा**राजक** इति, न विद्यन्ते राजानो यस्मिन् देशे, परशुरामेण सर्वे हताः कालेन च विवेकादयोत एवारक्ष्यमाणा रक्षकापेक्षामपि न कृतवन्तः अतः कंसापेक्षां परित्यज्य स्वतन्त्रतया राजवत् स्थातव्यमित्युपदेशोप्युक्त ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—हे व्रज के स्वामी ! चोरों से पीड़ित[1] भी, साधुओं ने इस तुम्हारे पुत्र भगवान् से सब प्रकार से वृद्धि को पाकर, बलिष्ठ हो, उन चोरों को जीता। इससे आप निश्चयपूर्वक निश्चिन्त रहो और समझो कि चोरों के समान कंसादिक थोड़ासा भी उपद्रव नहीं कर सकेंगे क्योंकि इस (श्रीकृष्ण) की स्वभाव कृति[2] ही वैसी है। श्लोक में श्री शुकदेवजी ने नन्दरायजी को 'व्रजपते' कहा है उसका भाव स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि इस नाम देने का तात्पर्य यह है कि न केवल आपका कुशल करेगा, किन्तु जिसमें यह विहार करेगा और जिसके आप (नन्दराय) पति हो उस समग्र व्रज का इससे कुशल होगा। इससे आप समग्र व्रज मण्डल में कहीं भी अपना निवास स्थान बनाओ, किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है, यह भाव है। श्लोक में 'पुरा' शब्द का भाव आचार्यश्री बताते हैं कि आप (नन्दराय) यों न समझना कि यह मेरे यहाँ प्रकट हुआ है, इसलिये यह केवल अब है, नहीं, यह तो 'सदातन' सदैव है। श्लोक में दिये 'अनेन' शब्द का भाव स्पष्ट करते हैं कि यों न जानना कि यह बालक उसका (अंशकलादि) अवतार है; किन्तु यह वही है अर्थात् जिसने दस्यु पीड़ित साधुओं को सब प्रकार से बलिष्ठ बनाकर उनसे दस्युओं को पराजित करवाया था वह यही है। 'व्रजपते' यह सम्बोधन (८वीं) विभक्ति देने का आशय आचार्यश्री बताते हैं कि (नन्दरायजी को) यह अंश कलादि अवतार नहीं है किन्तु पूर्वकाल में साधुओं से दस्युओं को पराजित करने वाला यही था इस प्रकार का ज्ञान न था। इसको बताने के लिये संबोधन देकर नन्दरायजी को प्रबुद्ध किया। दस्यु कौन थे कि रावणादि नृपति दस्यु थे। जैसा कि भागवत के पञ्चम स्कन्ध के १३ वें अध्याय के द्वितीय श्लोक में कहा है कि यह छः नरदेव (राजा) दस्यु हैं। इस प्रकार ये बाहर के दस्यु और संसार रूपी वन में इन्द्रियाँ भीतरी दस्यु[3] हैं एवं तृणावर्त

१—दुःखी। २—स्वभाव सिद्ध कर्म। ३—लुटेरे।

आदि दैत्यों को भेजने वाला कंस भी दस्यु है । इसने दस्युओं को मारा इसमें प्रमाण क्या है ? इसके उत्तर में श्लोक में कहा है कि 'साधवः' पृथ्वी पर अब तक साधुजन हैं। यदि अन्तःकरण में स्थित इन्द्रियादि चोरों को एवं बाहर स्थित नरदेव दस्युओं (नृपति रूप) का नाश न किया होता तो पृथ्वी पर 'साधु' ही न होते । विशेष कारण से भी मारा है । जैसा कि दस्युओं ने साधुओं का सब प्रकार से धन लूट लिया, वे निर्धन निर्बल हो गए तब साधुओं को आगे से भी विशेष सुखी और समृद्धिकर, बलिष्ठ बनाया जिससे वे साधु स्वयं उन दस्युओं से जीत गये । अतः आप भी इसके द्वारा सुखी एवं समृद्धिशाली तथा बलवान् हो, स्वयं ही दस्युओं को जीतोगे । इस प्रकार भगवान् के १–सर्व दोष नाशक, २–सर्व सुख जनक एवं ३–सर्व सामर्थ्यजनक—तीन प्रकार के कर्म कहे । राजाओं के होते हुए दुष्टों ने साधुओं को दुःखित कैसे किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उस समय में 'अराजक' देश था । जैसे कि एक तो परशुरामजी ने राजाओं को समाप्त कर दिया और दूसरा काल के प्रभाव से राजाओं के विवेक आदि का नाश हो गया, जिससे राजा भी नाममात्र के थे; वास्तव में वे दस्यु ही थे । वे (साधु) अरक्षित थे, भगवत्कृपा होने के कारण साधुओं ने रक्षा करने वालों की अपेक्षा[1] भी न की । इससे यह उपदेश दिया कि आप भी कंस की अपेक्षा न कर स्वतन्त्र राजा के समान रहो ॥ १८ ॥

आभास----एवं कर्माण्युक्त्वा गुणानाह य एतस्मिन्निति ।

आभासार्थ--इस प्रकार कर्मों का वर्णन कर अब गुणों का वर्णन करते हैं ।

श्लोक---य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः ।
नारयोभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ----जिस प्रकार विष्णु भगवान् के पक्ष वालों का, असुर पराभव[2] नहीं कर सकते हैं वैसे ही जो मनुष्य (श्रीकृष्ण) से प्रेम करते हैं उनका उनके शत्रु पराभव[2] नहीं कर सकते ।

सुबोधिनी—गुणास्त्वनुभावरूपाः क्रिया नापेक्षन्ते, ये **महाभागा एतस्मिन्** भगवति **प्रीतिं** स्नेहं **कुर्वन्ति** तानरयो **नाभिभवन्ति**, स्वत एव तर्हि सर्व एव कथं प्रीतिं न कुर्वन्तीत्याशङ्क्य भगवत्प्रीतौ स्वरूपयोग्यता सहकारियोग्यता चापेक्ष्यत इत्याह **मानवा** मनोर्जाताः सद्धर्मरूपा धर्मार्थं एवोत्पन्ना इति स्वरूपयोग्यानां "मन्वन्तराणि सद्धर्म" इतिवाक्यात्, **महाभागा** इति "जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत" इतिवाक्यात् परमभाग्येनैव प्रीतिर्जायते प्रीतिमिति सर्वदैकविधप्रीतिकरण-

१—परवाह । २—हरा ।

र्थमेकवचनं पटवद् वृद्ध्यर्थं वा खण्डश:करणाभावार्थं वा हेतुस्तूक्त एव, य इतिप्रसिद्धतया तेषां निर्देश:, भवन्तस्त इति प्रतिनिर्देशार्थ:, एतान् परिदृश्यमानान् गोकुलस्थान्, नन्वन्तर्यामिप्रेरणेनैव ते न बाधन्ते, अवश्यं चैतद् वक्तव्यं, भक्तिस्त्वन्तर्यामिप्रेरणार्था ततो नानेन प्रकारेण भगवद्गुणा उक्ता भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **विष्णुपक्षानिवासुरा** इति, **विष्णु: पक्षे** पक्षपाते येषां विष्णुरेषां रक्षक इति येषु ज्ञानमत: स्वकृतिवैयर्थ्यशङ्कयासुरा न बाधन्ते, अन्तर्यामी तेषां नान्यथाप्रेरक आसुराणामासुरभावेनैव प्रेरणनियमात्, अतो विशेषाकारेणैव पालयिष्यतीति सर्वजनीनत्वात्, अम्बरीषादिचरित्रे तथा प्रसिद्धे:, अस्य प्रीतेरेषोनुभाव:, गुणास्त एव ये सानुभावा: परम्परयाप्यनुभावं सम्पादयन्ति, अनेन साक्षाद्गुणा अनन्ता एव वक्तुमशक्या इति सूचितम् ।। १६ ।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के गुण तो स्वयं सामर्थ्य वाले हैं उनको क्रिया[1] की कोई अपेक्षा[2] नहीं है। इसलिये जो भाग्यशाली मनुष्य इन भगवान् से प्रेम करते हैं उनको शत्रु तिरस्कृत[3] नहीं कर सकते हैं। यदि भगवद्गुणों का ऐसा प्रभाव है तो सब मनुष्य स्वत:[4] क्यों नहीं भगवान् से प्रेम करते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि गुण सामर्थ्य वाले हैं तो भी स्वरूप योग्यता और सहकारी योग्यता की अपेक्षा रखते हैं। इसलिये शुकदेवजी ने 'जना:' न कहकर 'मानवा:' कहा है। मनु से सद्धर्म रूप धर्म पालन के लिये ही वे लोग उत्पन्न हुए हैं। इससे इनमें 'मन्वन्तर सद्धर्म' है, इस प्रकार भागवत के २–१–४ के अनुसार स्वरूप योग्यता है। ये लोग भगवान् से प्रीति करने वाले, महाभाग्यवाले हैं, जैसा कि (पाण्डव गीता में) कहा है। सहस्र वर्ष तपस्या, ध्यान तथा समाधि से जिनके पाप नष्ट हो गए हैं। उन मनुष्यों का भगवान् कृष्ण से प्रेम होता है। इससे जाना जाता है कि परम भाग्य से ही भगवान् में प्रेम उत्पन्न होता है। 'प्रीति' शब्द एक वचन देने का आशय आचार्यश्री बताते हैं कि सदैव एक जैसा प्रेम करना चाहिये और वस्त्र के समान बढ़ाते जाना चाहिये। अथवा वस्त्र के समान कहने से यह समझाते हैं कि एक देशीय प्रेम नहीं करना चाहिये। 'जो' मनुष्य शब्द से प्रेम करने वाले हैं वे प्रसिद्ध हैं। वे कौन है ? तो आचार्यश्री कहते हैं कि वे आप हो। 'इनके' कहने से यह बताया कि ये जो गोकुलस्थ दीख रहे हैं, उनको वे (शत्रु) अन्तर्यामी की प्रेरणा से बाधा नहीं करते हैं यह अवश्य ही कहना चाहिये। भक्ति जो की जाती है वहा शत्रुओं के अन्तर्यामियों की प्रेरणा के लिये ही है। यह जो भगवान् के गुणों के वर्णन का प्रकार कहा, इससे भगवान् के गुण स्पष्ट समझ में नहीं आते हैं। भगवद्गुणों का प्रभाव स्पष्ट समझ में आवे, इसलिये दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि 'विष्णुपक्षानिवासुरा:।' जैसे असुर जब जानते हैं कि विष्णु भगवान् इन सुरों के पक्षपाती अर्थात् इनका पक्ष लेकर इनकी रक्षा करते हैं तब वे असुर अपनी कृति[5] व्यर्थ जायगी, यों समझ उनको पीड़ा नहीं देते हैं। उनका (असुरों) का अन्तर्यामी दूसरे प्रकार से प्रेरक नहीं बनता है। असुरों को आसुर भाव से ही प्रेरणा देने का नियम है। अत: विशेष प्रकार से (अपने मनके अभिप्रायानुसार) ही अर्थात् विशेष प्रकार से ही भगवान् अपने भक्तों का पालन करेंगे। यह सर्व जन प्रसिद्ध है। अम्बरीषादि भक्तों के चरित्र में यह प्रसिद्ध है कि

१—सामर्थ्य उत्पन्न करने वाले कर्म। २—आवश्यकता। ३—अपमानित। ४—अपने आप ही।
५—किया हुआ प्रयास (कोशिश)।

भगवान् अपने भक्तों के पक्षपाती एवं रक्षक हैं। इस श्रीकृष्ण भगवान् की प्रीति का यह ही प्रभाव है। गुण वे ही हैं जो प्रभाव वाले हों, परम्परा से ही प्रभाव× को सम्पादित करते हैं। इससे यह समझना चाहिये कि भगवान् के साक्षाद् गुण अनन्त[1] हैं इसलिये उनका वर्णन हो नहीं सकता है। यह सूचित किया ॥ १९ ॥

आभास—एवं गुणे प्रदर्शनमात्रमुक्त्वा विशेषाकारेण वदन्नुपसंहारमिषेण रक्षामुपदिशति तस्मादिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार गुणों को प्रदर्शनमात्र कह कर अब विशेष रीति से कहते हुए उपसंहार[2] के मिष से रक्षा का उपदेश देते हैं।

श्लोक—**तस्मान् नन्दात्मजोयं ते नारायणसमो गुणैः ।**
श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः ॥ २० ॥

श्लोकार्थ—इससे हे नन्दजी ! आपका यह पुत्र गुणों से तथा श्री कीर्ति और प्रभाव से नारायण के समान है। आप सावधानता से इसका पालन करो।

सुबोधिनी—यस्मादयं महानुभावः पूर्वोक्तकर्मालौकिकस्तस्मात्, हे नन्द सर्वानन्दकारिन्, त्वन्नामसार्थकत्वाय चैनं पालयेतिभाव;, **अयं ते कुमारो गुणैः** कृत्वा **नारायणसमो** नारायणस्य समः, त्रिविधोपि नारायणोक्षरं पुरुषोत्तर्न्यामो च, **गुणैरेव** कृत्वा **तत्समः**, कर्माणि त्वधिकानि, **अनुभावश्च**, नराजातानीतिपक्षे यावन्तो जीवगणाः सृष्ट्यावुत्पन्नास्ते सर्वे भगवद्गुणाख्यापकास्तावद्गुणप्रसिद्ध्यै तावद्रूपो जात इति, द्वितीयपुरुषस्यतुविशेषेण स्वसम्बन्धयोग्यजीवराशिपरिग्रहात् स्वतुल्यतामापादयितुं स्वभावनिवर्तकाः सानुभावा गुणा उक्ताः, तृतीयपुरुषे त्वन्तर्यामिणि जीववश्य इव तदधीनत्वेन तस्य सर्वकार्यप्रेरक इति भक्तिजनका असाधारणा गुणा उक्ताः, त्रिविधा अपि भगवति कृष्णे सन्तीति **गुणैः** कृत्वा **नारायणसमानः**, धर्मान्तरैरपि नारायणसमतामाह **श्रिया कीर्त्यानुभावेनेति**, ब्रह्माण्डमध्ये **नारायणत्रयं** यो वैकुण्ठे लक्ष्मीसहितो यः सूर्यमण्डले सर्ववेदसहितो यो भूमौ सर्वब्राह्मणेषु यज्ञनारायणस्तत्सदृशोपि, यथा सर्वजगज्जनन्या अक्षरानन्दरूपाया सर्वशोभानिधानरूपाया य एतत्त्रयकर्ता,लक्ष्म्या जगज्जनकत्वं तस्या अपि परमानन्दः सर्वशोभारूपाया अपि शोभा, यथा व्यापिवैकुण्ठस्थो भगवान् लक्ष्म्या एतावत् करोति एवं कृष्णोपि करोति, यथा सवितृमण्डलस्थः कीर्ति स्थापयति सर्वलोकेषु "न ह्यस्मिन्नुदिते दिनकरे सकलं कमलायते भुवन" मितिवाक्यात् कीर्तिः सूर्ये प्रतिष्ठिता यतः सर्वेषां स्वत एव शीताज्ञानादिसर्वदुःखनिवृत्तिः सर्वसुखं च भवत्येवं कृष्णकीर्तिरपि, यतः प्रभृत्युदितस्ततः प्रभृति सूर्यवदेव भागवतादिषु प्रकाशते यथा यज्ञा आधिदैविकाः सर्वेषां सर्वकार्यकर्तारो दूरादेव महात्म्यज्ञापकास्तथा महानुभावो

× लेखकार कहते हैं कि असुर प्रेम का नाश नहीं कर सकते हैं यह प्रेम का प्रभाव है एव प्रेम करने वाले का नाश नहीं कर सकते हैं यह परम्परा से प्रेम के प्रभाव का द्योतक है—'लेख'

१—जिनका अन्त न हो, बेशुमार। २—समाप्ति।

भगवान्, एवं षड्भिर्नारायणैस्तुल्यो भगवान् कृष्णो गुणैः षड्गुणैः, **श्रिया कीर्त्यानुभावेन च** तस्यैव विवरणं, एवं भगवद्गुणानुक्त्वा चकारेण "सत्यं शौच" मित्यादि-प्रथमस्कन्धोक्तगुणानपि सङ्गृह्य परमनिधानत्वेनोपपाद्य सावधानान्तःकरणो भूत्वा प्रपञ्चविस्मरणेन **गोपायस्वे**-त्युपदिशति **गोपायस्व समाहित** इति, एतावता सर्वथा-वेक्षा कर्तव्या न क्वापि गन्तव्यं न नेय इत्युक्तम् ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—यह बालक (श्रीकृष्ण) महान् प्रभावशाली है इसके पहले कहे हुए कर्म भी, अलौकिक हैं। इससे हे नन्द ! (सबको आनन्द देने वाले) आप अपने नामकी सार्थकता करने के लिये इसका लालन-पालन करो। अर्थात् जब आप इसका पालन करते हुए इसको भी आनन्द दोगे। तब आपका नन्द (आनंद देने वाला) यह नाम सार्थक होगा।

यह तुम्हारा कुमार, गुणों से नारायण के समान है। नारायण के अक्षर, पुरुष और अन्तर्यामी ये तीन रूप हैं। इन तीनों रूपों में जो गुण हैं वे गुण इसमें भी हैं इसलिये यह उस (नारायण) के समान है किन्तु कर्म और प्रभाव से तो उस (नारायण) से यह विशेष (बढ़कर) है।

१—अक्षर रूप नारायण—नारायण के इस (अक्षर) रूप से जितने जीवगण सृष्टि में उत्पन्न हुए हैं, वे सब भगवान् के गुणों को प्रकट करने वाले हैं। उन गुणों को प्रसिद्ध करने के लिये भगवान् ने वैसा रूप धारण किया है।

२—पुरुष रूप नारायण—इस स्वरूप से अपने से सम्बन्ध करने योग्य जीवों को ग्रहण करते हैं, इसलिये उसके (पुरुष रूप के) गुण ऐसे प्रभाव वाले हैं जो जीवों के स्वभाव का परिवर्तन कर (दोषों को मिटा कर) अपने तुल्य बना लेते हैं।

३—अन्तर्यामी रूप नारायण—इस स्वरूप से जीवाधीनवत्[1] होकर जीव को सर्व कार्यों की प्रेरणा करते हैं, जिससे जीव भगवद्भक्ति आदि में प्रवृत्त होते हैं। इससे भक्तिजनक, असाधारण गुण कहे हैं। उपरोक्त तीनों स्वरूपों के सर्वगुण श्रीकृष्ण में है। इसलिये श्रीकृष्ण में नारायण के समान गुण भी हैं। नारायण के समान उपरोक्त धर्मों के अतिरिक्त श्री कीर्ति और प्रभाव गुण भी श्रीकृष्ण में है। नारायण के उपरोक्त तीन स्वरूपों के अतिरिक्त, ब्रह्माण्ड के भीतर अन्य तीन रूप हैं।

१—जो वैकुण्ठ में लक्ष्मी सहित विराजते हैं अर्थात् वैकुण्ठवासी लक्ष्मीनारायण हैं।

२—जो सूर्य मण्डल में सर्व वेदों के साथ विराजते हैं अर्थात् सर्वान्धकार निवारक सूर्यनारायण हैं।

३—पृथिवी पर सब ब्राह्मणों में सकल हितकारी यज्ञनारायण हैं।

इस प्रकार ये तीन रूप ब्रह्माण्ड में नारायण के हैं। इन तीन स्वरूपों के गुणों के समान गुण श्रीकृष्ण में हैं।

१—जीव के आधीन जैसा होकर।

वैकुण्ठवासी नारायण—लक्ष्मीजी को, जगज्जननी,[1] अक्षरानन्द रूप[2] एवं सर्व सौन्दर्य से भी विशेष सौन्दर्य धारण करने वाली बनाते हैं। जैसे वैकुण्ठवासी नारायण लक्ष्मी में ये गुण प्रकट करते हैं, वैसे ही कृष्ण भी हैं।

सूर्यमण्डलस्थ नारायण--यदि यह सूर्यनारायण उदय (प्रकट) न हो तो जगत् से शीत अन्धकार आदि अज्ञान का नाश न होता उनके उदय से जगत् प्रकाशित होता है सर्व कार्य सिद्ध होते हैं। इसलिये उस (सूर्यनारायण) की कीर्ति जगत् में फैली हुई है वैसे ही जिस दिन से श्रीकृष्णचन्द्र का प्राकट्य हुआ है उसी दिन से आपकी कीर्ति (भक्तों में) भागवतादि में प्रकाशित हो रही है।

यज्ञनारायण—जैसे यज्ञनारायण आधिदैविक रूप से सर्व जनता का कल्याण करने से अपना माहात्म्य जनाते हैं वैसे ही महाप्रभावशाली यह भगवान् श्रीकृष्ण भी सर्वोद्धार करने से अपना माहात्म्य प्रकट कर रहे हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण में नारायण के छः स्वरूपों के षड् गुण भी हैं अतः ये उन (नारायण) के समान कहे जाते हैं।

नारायण स्वरूप के गुण भी, इस (श्रीकृष्ण) में हैं इसलिये श्रीकृष्ण की उस (नारायण) के साथ जो समानता दिखलाई गई है उसका स्पष्टीकरण श्री प्रभुचरण ने 'टिप्पणी' में एवं गो०श्री पुरुषोत्तमजी ने 'प्रकाश' में किया है जिसका सारांश पद टिप्पणी में नीचे दिया है।

टिप्पणी—नारायण के तीन स्वरूप अक्षर, पुरुष और अन्तर्यामी हैं जिनका भाव आचार्यश्री ने तृतीय स्कन्ध की सुबोधिनीजी के १९ अ० के ३८ वें श्लोक में यों बताया है कि (१) अक्षर स्वरूप—जो स्वरूप[3] नर से उत्पन्न तत्वों में रहता है। (२) पुरुष स्वरूप—जो स्वरूप जल में रहता है। (३) अन्तर्यामी—जो स्वरूप मनुष्यमात्र में रहता है।

१—नारायण के प्रथम अक्षर स्वरूप से उत्पन्न जीवों से ये जीव, जो गुणों की प्रसिद्धि करने वाले हैं भिन्न प्रकार के हैं अर्थात् वे लीला सृष्टि के जीव हैं। इसलिये उन में भगवान् ने दस रस सम्बन्धी सर्व भाव, स्थापन किये हैं। उन भावों के पोषण के लिये भगवान् भी, अपने में स्थित गुणों को प्रकट करते है, जिससे वे लीला सृष्टि के जीव, भगवद्गुण प्रकाशक होते हैं। पर इससे यों न समझना चाहिये कि लीला सृष्टि के जीवों में कोई जीव वैसा (गुण प्रकाश करने वाला) होगा, क्यों कि वास्तव में भगवान् ही लीला सृष्टि में, जीव रूप से प्रकट हुए हैं अतः लीला सृष्टि के सकल जीव समान गुण प्रकाशक हैं। इससे यह समझाया कि प्राकृत सृष्टि को इस रस की प्राप्ति नहीं होती है।

२—पुरुष ब्रह्माण्ड विग्रह अक्षर-जैसे जीवों के दोष मिटाकर उनको ग्रहण करते हैं वैसे ही श्रीकृष्ण व्रजसुन्दरियों में अधिक रस उत्पन्न करते हैं जिससे वे पुरुष के समान धर्म प्रकट कर, लीलाएँ करती हैं।

३—अन्तर्यामी—इस स्वरुप से जैसे नारायण जीवाधीन होकर लीला करते हैं वैसे ही श्रीकृष्ण भी गोपीजनों के अधीन होते हैं और वैसी ही लीलाएं करते और कराते हैं।

१—जगत् उत्पन्न कर्ता। २—जिसका आनन्द,नाश नहीं हो। ३—यह ब्रह्माण्ड विग्रह 'अक्षर' स्वरूप है—**प्रकाश**

इस प्रकार भगवान् के गुणों का वर्णन कर 'च' अक्षर देकर यह बताया है कि सत्य और शौचादि गुण जो प्रथम स्कन्ध में कहे हैं वे भी इस (श्रीकृष्ण स्वरूप) में हैं जिससे यह गुणनिधि है। अतः अन्तःकरण को पूरी तरह सावधान करते हुए इसकी पालना करो। अन्य समग्र प्रपञ्च को भूल जाओ 'समाहितः' शब्द का भाव प्रकट करते हैं कि इसका अवेक्षण पूरी सावधानी से करना अर्थात् इसको अकेला न छोड़ना और न इसको कहीं भी ले जाना। इस प्रकार पूरे ध्यान से इसकी पालना करनी ॥ २० ॥

आभास—एतावदुक्त्वा गते यज्जातं तदाहेतीति।

आभासार्थ—श्रीगर्गाचार्यजी इतना कह कर चले गये उसके अनंतर जो कुछ हुआ उनका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

॥ श्रीशुकउवाच ॥

श्लोक—इत्यात्मानं समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते।
नन्दः प्रमुदितो मेन आत्मानं पूर्णमाशिषाम् ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार नन्दजी को अच्छी तरह उपदेश देकर गर्गाचार्यजी के घर जाने पर नन्दजी अत्यंत प्रसन्न हुए और अपने को आशीर्वादों से पूर्ण समझने लगे।

सुबोधिनी—आत्मानं नन्द भगवन्तं वा सम्यगादिश्योपदिश्य, गर्गे स्वगृहं मथुरां गते नन्दस्तद्वाक्यात् प्रमुदितः सन्नाशिषामाशीर्भिः पूर्णमात्मानं मेन इतिसम्बन्धः, स्वस्यायोग्यत्वेन महतो ज्ञानान्न भीतो जातो नाप्ययं पुत्रो न भवतीति ज्ञात्वा दुःखितो जातो येनकेनापि प्रकारेण प्राप्तत्वाद् गर्गोक्तं प्रमाणमिति ज्ञापयितु कृष्णो भगवानात्मेति नन्दश्च कृतार्थ इतित्रयं ज्ञापयितुमात्मपदं, सम्यगुपदेशो नास्मिन् शङ्का कर्तव्या नाप्यन्यस्माद् भयं सम्यग् रक्षणीयश्चत्यादेश आज्ञा, अन्यथा गर्गोऽपि क्रुध्येदिति, एतावदुपदेशं कृत्वा नामकरणं च गर्गे गच्छति यदि कंसो मध्ये व्यसनं कुर्यात् तदापि चित्तस्वास्थ्यं न भवतीति गर्गे स्वगृहं गत इत्युक्तं, चकाराद् बालकयोः स्वस्मिन्नप्यन्येषु वा तत्र स्थितेष्वत्यन्तरङ्गेषु स्वगृहं गतेषु गोकुलेपि गर्गकर्मणोः प्राकट्याभावार्थं, तदा नन्दः सार्थकनामा भविष्यामीति प्रकर्षेण मुदितः प्राप्तमहानिधिः, आशिषां सर्वकामितपदार्थानामन्येषां च पूरणार्थं पूर्णपरमातिशयकाष्ठां प्राप्तं मेने, स्वमनस्येव तथा ज्ञातवान् ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—गर्गाचार्यजी के नन्दजी (अथवा भगवान्) को अच्छी तरह उपदेश देकर, घर (मथुरा) जाने पर नन्दरायजी गर्गाचार्यजी के कहे हुए वचनों से अत्यन्त प्रसन्न होते हुए अपने को आशिषों से पूर्ण समझने लगे, अर्थात् नन्दरायजी को निश्चय हो गया कि गर्गाचार्यजी ने जो

कुछ कहा है वह सत्य है अब मेरे सर्व कार्य निर्विघ्न सिद्ध होंगे। कोई भी संकट आएगा तो स्वतः टल जाएगा।

यद्यपि नन्दरायजी भगवान् के स्वरूप ज्ञान के योग्य नहीं थे, तो भी गर्गाचार्यजी के वचनों से भगवत्स्वरूप (यह बालक पूर्णब्रह्म है) इस प्रकार स्वरूप के ज्ञान होने पर भी भयभीत न हुए और यह भगवान् मेरे पुत्र नहीं हैं इसका भी नन्दजी को दुःख नहीं हुआ। श्लोक में दिये हुए, 'आत्मा' शब्द का भाव बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि 'आत्मा' शब्द देकर श्री शुकदेवजी ने यह समझाया कि यह आपका बालक कृष्ण, भगवान् एवं आत्मरूप है, ऐसा बालक आपका पुत्र हुआ है। इससे नन्दजी आप भी कृतार्थ हैं। नन्दरायजी समझने लगे कि जैसे कैसे भी पुत्र प्राप्त वो हुआ है, अतः गर्गाचार्यजी के वचनों को प्रमाण मानने लगे।

गर्गाचार्यजी ने जो सुन्दर सत्य उपदेश दिया है, उसमें किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये, दूसरे से भय भी नहीं है। इसकी रक्षा अच्छे प्रकार से करनी, यह उपदेश आज्ञा है। यदि इस आज्ञा का पालन न किया जाएगा तो गर्गजी तो कोप करेंगे ही परन्तु भगवान् भी कुपित होंगे।

गर्गाचार्यजी अपने घर (मथुरा) पहुँच गए। इस प्रकार कहने का शुकदेवजी का आशय यह था कि गर्गाचार्यजी नामकरण संस्कार कराके एवं उपदेश देकर रवाना हुए हैं। मार्ग में कंस द्वारा, किसी प्रकार का संकट गर्गजी को न हुआ, वह सुखपूर्वक घर पहुंच गए। इससे नन्दरायजी को इसकी चिन्ता भी न करनी पड़ी। श्लोक में दिये हुए 'च' (और) अक्षर का आशय प्रकट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि नन्दरायजी के मन में यह चिन्ता थी कि गर्गाचार्यजी (वसुदेवजी के पुरोहित) का यहाँ आना और बालकों का नामकरण संस्कार कराना, इन दोनों का पता कहीं गोकुल में लग तो नहीं गया ? किन्तु गर्गजी के जाने पर, जब दोनों बालक (राम कृष्ण) नन्द एवं अन्य गोपादि जो जो अन्तरंग संस्कार के समय उपस्थित थे, वे सब कुशलपूर्वक (राह में किसी ने भी कुछ न कहा और न पूछा) घर पहुँच गए। तब नन्दरायजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और मन में समझने लगे कि आज मेरा नाम (सबको आनन्द देने वाला) सार्थक एवं सफल हुआ। क्योंकि गर्गजी के आने और नामकरण संस्कार कराने का कहीं भी एवं किसी को भी पता न पड़ा है। यदि पता पड़ता तो कंस अवश्य उपद्रव करता, जिससे जनता दुःखी होती। ऐसा न हुआ, इससे मेरा नाम अब पूर्ण सार्थक हुआ। कारण कि मुझे 'महानिधि' प्राप्त हुई है। सर्व इच्छित पदार्थों एवं दूसरों के वाञ्छित कामनाओं की पूर्ति करने के लिये मैं समर्थ हुआ हूँ, जिससे उच्च स्थिति को पहुँचा हुआ हूँ। यों अपने मन में समझ अत्यन्त मुदित (प्रसन्न) हुए॥ २१॥

आभास---एवं नामचरित्रमुपपाद्य रूपचरित्रं वक्तुं भगवद्गतिः कालरूपेति तस्मिन्नेवाधिदैविके गच्छति सति भगवद्गतिरित्याह कालेनेतिदशभिः, दशधा भगवद्रूपमत्र वक्ष्यतेवान्तरानन्तभेदयुक्तं।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के नामों का चरित्र वर्णन कर अब रूप-चरित्र वर्णन करने के लिए कहते हैं कि भगवान् की गति* (शरीर का व्यापार, इधर-उधर चलना) कालरूप है। उसी ही आधिदैविक काल के जाते हुए भगवान् की गति होने लगी। उस गति का वर्णन दश श्लोकों से करते हैं। भगवान् का अवान्तर अनन्त प्रकार के रूपों सहित दश प्रकार से रूप वर्णन करते हैं।

श्लोक----**कालेन व्रजता तात गोकुले रामकेशवौ ।**
जानुभ्यां सहपाणिभ्यां रिङ्गमाणौ विजह्रतुः ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—कुछ काल व्यतीत होने पर राम और केशव गोकुल में घुटनों से और हाथों से रेंगने की क्रीड़ा करने लगे।

कारिका---**गतौ गतिविशेषे च भूमौ रूपद्वयं हरेः ।**
यशोदायां तथा रूपमुपविष्टं त्रिधा मतम् ॥ १ ॥

कारिकार्थ—साधारण गति और विशेष गति के कारण भगवान् के दो रूप पृथ्वी पर हैं। वैसे यशोदा की गोदी में विराजमान भगवान् का तीसरा रूप समझा जाता है।

व्याख्या—२२ वें श्लोक में भगवान् की गति (रिंगणादि गति) का वर्णन है। २३ वें श्लोक में गति के प्रकारों का वर्णन है और २४ वें श्लोक में यशोदा की गोदी में विराजमान रूप का वर्णन है। इन तीनों श्लोकों का सारांश इस कारिका में आचार्यश्री ने प्रकट किया है कि भगवान् दो रूपों से भूमि पर बिराजे हैं और एक रूप से माता की गोदी में बिराजे हैं। इस प्रकार तीनों श्लोकों में बैठे हुए तीनों रूपों का स्पष्टीकरण कारिका में किया गया है।

कारिका---**अन्याश्रितं स्वतश्चैव कथञ्चित् सर्वथा तथा ।**
उत्थितं तु त्रिधा रूपं युक्तं त्रिविधलीलया ॥ २ ॥

***प्रकाश**—'योऽयंकालः तस्यतेऽव्यक्तबन्धोश्चेष्टामाहुः' यह प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि भगवान् की 'गति' (चेष्टा) कालरूप है।

टिप्पणी—आच्छादन प्रकटन न्यायानुसार होने से बन्द करना (लीला छिपाना) और खोलना (लीला प्रकट दिखाना)। इस न्यायानुसार भगवान् की लीला नित्य है। जिस जिस काल में भगवान् लीला का प्राकट्य करते हैं वही काल उस समय प्रकट हो जाता है। अर्थात् यह रिङ्गणादि लीला पहले जिस काल में की गई थी, उस ही काल का यह उत्तर दलकाल, अब प्रकट हुआ है। अतः भगवान् की गति (रिङ्गणादि लीला) काल रूप होने से कालवत् नित्य है।

कारिकार्थ---१--दूसरों के आश्रित, २--कुछ स्वतः (अपने आप पर) आश्रित, ३--सब तरह से अपने ऊपर आश्रित हो, इन तीन प्रकार की खड़े होकर लीला करने से भगवान् के तीन प्रकार के खड़े रूप हुए।

व्याख्या--भगवान् ने खड़े होने की लीलाएँ तीन प्रकार से की हैं—

(१) पराधीन होकर, जैसे बछड़ों की पूँछों को पकड़ कर खड़े होते थे। अथवा कभी माता के अथवा दूसरे किसी के हाथ की अंगुलियों को पकड़ कर खड़े होकर चलना सीखते थे। इस प्रकार की लीला २५ वें श्लोक में वर्णित है।

(२) इस लीला में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं थी। यद्यपि दूसरों के आश्रय बिना स्वयं लीला करते थे तो भी पूर्ण स्वतन्त्र न थे क्योंकि माता यशोदा कभी कभी खेलने से रोक देती थी। इस प्रकार की लीला का वर्णन २६ वें श्लोक में किया गया है।

(३) ये लीलाएँ भगवान् ने पूर्ण स्वतन्त्रता से की हैं। न किसी का आश्रय लिया और न किसी ने रुकावट डाली। इस प्रकार की पूर्ण स्वतन्त्र लीलाओं का वर्णन २७ वें श्लोक में किया गया है।

तीन प्रकार की लीलाओं के करने से इस कारिका में भगवान् के खड़े रूप भी तीन प्रकार से बताये गए हैं।

कारिका---बालकैर्मुग्धलीलाद्या धार्ष्ट्यधौर्त्यसमन्विते।
निर्गुणावस्थरूपे च ज्ञापिते तु ततः परम्॥ ३॥

कारिकार्थ---पहला, बालकों के साथ की हुई मुग्ध (सबको मोहित करने वाली) बाल लीला वाला (तामस-सात्विक लीला का) रूप, दूसरा धृष्टता (ढिठाई से की हुई) लीला वाला (राजस तामस लीला का) रूप, तीसरा धूर्तता (चालबाजी) से की हुई लीला वाला (तामस-तामस लीला का) रूप, इस प्रकार लीलाओं द्वारा त्रिविध रूप दिखा कर उसके पश्चात् निर्गुण अवस्था के रूप का प्रदर्शन किया है।

व्याख्या—भगवान् की लीलाएं भक्तों के निरोधार्थ है अतः जैसा जैसा भक्त हो, भगवान् भी वैसे वैसे ही बनकर उस प्रकार की लीलाएं कर, उन (भक्तों) का निरोध करते हैं। भक्त सात्विकादि भेद से भिन्न-भिन्न हैं अतः लीलाएं भी भिन्न प्रकार की भगवान् ने तदर्थ की हैं। जैसे कि बालकों का निरोध करने के लिये 'मुग्ध लीला' तामस-सात्विक रूप से की है, क्योंकि बालक सात्विक एवं तामस थे। इस तरह धृष्टता लीला, राजस-तामस भक्तों के निरोधार्थ होने से आपने भी राजस-तामस रूप से यह ढिठाई वाली लीला की है। तथा तामस-तामस भक्तों के निरोधार्थ

धूर्ततापूर्ण लीलाएं कर, अपना वैसे ही तामस-तामस रूप का प्रदर्शन कराया है। इन लीलाओं से जब सब प्रकार के भक्तों का निरोध हो गया तब अपने निर्गुण स्वरूप का उनके हृदय में प्राकटच किया, जिससे वे कृतकृत्य हो गए।

२२, २३ व २४ वें श्लोकों में भगवान् की सात्विक लीला का, २५, २६ व २७ वें श्लोकों में भगवान् की राजस लीला का वर्णन किया गया है। २८ वें श्लोक में 'मुग्ध लीला' सात्विक मिश्रित तामसी लीला है। (दूसरे २८ वें श्लोक में गोपियों की उक्ति हैं उसमें रूप वर्णन नहीं है) २९ वें श्लोक में 'धृष्टता-लीला' राजस मिश्रित तामसी लीला है। ३० वें श्लोक में 'धौर्त्य लीला' तामस-तामसी लीला है। इस प्रकार सगुण लीलाएँ भगवान् ने नव प्रकार से की हैं जिनका वर्णन २२ वें श्लोक में निर्गुण रूप का वर्णन किया गया है। इस प्रकार श्री शुकदेवजी ने रूप प्रकरण में, दश प्रकार के रूपों का वर्णन दश श्लोकों में किया है।

कारिका---**सात्विकादिविभेदेन तत्तद्धृदयगामिनि ।**
तांस्तांस्तु क्रमशो भावान् दूरीकृत्यान्तिमे स्थिरा ॥ ४ ॥

कारिकार्थ---सात्विकादि गुणों से पृथक् पृथक् भावों वाले जीवों के हृदयों में भगवान् उसी प्रकार के रूप से प्रवेश कर, क्रमशः उनके सात्विकादि भावों को दूर करते हैं, जिससे अन्त में उनकी भगवान् के निर्गुण रूप में स्थिर स्थिति हो जाती है।

व्याख्या—इस कारिका में समग्र प्रकरण का तात्पर्य[1] कहा गया है कि भगवान् ने व्रजस्थों[2] के सात्विकादि भावों को लीलाओं द्वारा सगुण रूप से क्रमशः दूर कर, अन्त में निर्गुण स्वरूप में हृदय की स्थिति स्थिर कराई ॥ ४ ॥

कारिका---**यशोदार्थमियं लीला प्रसंगादन्यगामिनी ।**
सदैव ता गृहे व्यग्रास्तदैवं दशधा हरिः ॥ ५ ॥

कारिकार्थ----भगवान् ने यह लीला, यशोदा माता के लिये ही की है; किन्तु प्रसंग से दूसरों को भी इसका लाभ मिला है। जब ही वे व्रजभक्त घर के कार्य में संलग्न होते हैं तब भगवान् (लीलाओं द्वारा) दश रूप धारण करते हैं।

व्याख्या---इस कारिका में यह बताया है कि यद्यपि भगवान् ने नाम लीला द्वारा, यशोदा आदि व्रज भक्तों का निरोध किया था; किन्तु पूर्ण निरोध भाव से वे घर के कार्य में इतने लीन

१—सारांश । २—व्रज बासियों ।

हो जाते थे, जो भगवान् को उस समय भूल जाते थे। अत: भगवान् ने रूप लीला द्वारा उनका चित्त उस कार्य से हटाकर अपने में आसक्त कराने के लिये, दश प्रकार के रूप धारण किये हैं।। ५ ।।

सुबोधिनी—तत्रादावुपविष्टस्य हरेरल्पचलनात्मिकां गतिलीलामाह **कालेनेति**, स्वतो व्रजता **कालेन** कृत्वाल्पेनैव गोकुले तत्रापि यशोदाया अङ्गणे **रामकेशवावु**-भावपि नामकरणेन भगवदावेशाद् भगवन्तौ योगिध्येयो ब्रह्मादिवन्द्यश्च **रामकेशवौ**, मत्वर्थीयो वप्रत्ययश्चात्र सौन्दर्यार्थं परिगृह्यते, वस्तुतस्तु लौकिक एव **केशवशब्द**-स्तद्धितान्त:, न तु भगवद्वाचक:, **केशयोर्वं** सुखं यस्मादित्यर्थे प्रत्ययापेक्षाभावात्, उभयोर्न्यूनाधिकभावेपि वयसि स्थितयो: समाना गति:, भगवत्सन्निधाने नामद्वारा सम्बन्धानन्तरमेव भगवत्त्वमत उभौ **जानुभ्यां सहपाणिभ्यां रिंगमाणौ** जातौ शनैस्तदान्योन्यं **विजह्रतुर्विहारं** कृतवन्तौ क्रीडां कृतवन्तावित्यर्थ: ।

व्याख्यार्थ—उन लीलाओं में से पहले रिंगण रूप गति[1] लीला का वर्णन करते हैं। अपने आप ही जाते हुए काल† के साथ स्वल्पकाल[2] में ही गोकुल के भीतर, यशोदा के आंगण में राम और केशव दोनों भाई नामकरण संस्कार से, भगवदावेश आने से, भगवद्रूप हुए। राम योगियों के ध्येय स्वरूप हैं और केशव ब्रह्मादि के वन्दनीय हैं। दोनों भगवद्रूप होते हुए भी लीला के कारण इनका भेद है। 'केशव' शब्द में जो 'व' प्रत्यय है वह सुन्दरता प्रकट करने के लिये है। वास्तव में यहाँ केशव* शब्द लौकिक तद्धितान्त शब्द है न कि भगवद्वाचक है।

यद्यपि बलरामजी आयु से बड़े हैं और श्रीकृष्ण छोटे हैं तो भी रिंगणलीला की गति दोनों की समान[3] है, दोनों की आयु में तारतम्य होते हुए भी रिंगण गति में समानता क्यों? इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि नामकरण संस्कार के समय भगवान् उपस्थित थे। उनके सान्निध्य में नाम द्वारा सम्बन्ध होने से बलरामजी में भगवत्व प्रकट हुआ अर्थात् बलरामजी के स्वरूप में भगवान् का आवेश हुवा, जिससे उनकी (बलरामजी की) गति भी भगवान् की ही गति होने से दोनों में समानता थी। अत: दोनों हस्तों सहित घुटनों से धीरे-धीरे रिंगण करते हुए विहार करने लगे अर्थात् परस्पर खेलने लगे।

कारिका—**जानुभ्यां गमनं विष्णोर्दैत्यानां मर्दनाय हि ।**
बलिर्दैत्यपतिर्भूत्वा न निवारयति स्वत: ।। १ ।।

---

† लेखकार गो० श्रीवल्लभलालजी कहते है कि साधारण काल सूर्य की गति अनुसार जाता है, किन्तु यह काल वह नहीं है यह तो भगवद्रूप होने से भगवदिच्छा को जान उस प्रकार लीलानुसार जाता है।

* प्रभुचरण टिप्पणी में कहते हैं कि 'केशव' शब्द का अर्थ श्री सुबोधिनीजी में आचार्यश्री ने भगवान् भी किया है। वहाँ प्रत्यय रूप से नहीं हैं, किन्तु इस लीला में आचार्यश्री के मन्तव्यानुसार शुकदेवजी ने केशव शब्द भगवद्वाचक नहीं दिया है। यहाँ रिंगणलीला के समय केशों की सुन्दरता से श्रीकृष्ण की विशेष शोभा प्रकट होती है अत: 'केशव' बालों की सुन्दरता वाला केशव शब्द लौकिक भाव से दिया है।

१—चाल। २—छोटी अवस्था। ३—एक जैसी।

कारिकार्थ—भगवान् का घुटनों से गमन (रींगना) दैत्यों के मर्दन[1] के लिये था। बलि नें दैत्यपति होते हुए भी अपने आप उसका निवारण नहीं किया।

व्याख्या—इस कारिका से आचार्यश्री स्पष्ट करते हैं कि श्रीकृष्ण ही मूलस्वरूप हैं, जिससे इस स्वरूप में व्यूह एवं पुरुष स्वरूप भी अन्तर्हित है। अतः श्रीकृष्ण, रिंगणलीला में घुटनों से चलकर जो दैत्यों का मर्दन करते हैं, वह मर्दन कार्य संकर्षण व्यूह का है; किन्तु संकर्षण व्यूह भी आपके स्वरूप में स्थित है और व्यूह आपकी ही स्वरूपात्मक क्रिया शक्तियाँ हैं। अतः आपने (श्रीकृष्ण ने) मर्दन कार्य किया, इस प्रकार कहने में कोई दोष नहीं है। किन्तु यह कार्य तो संकर्षण द्वारा ही किया गया है। एवं 'विश्वमूर्ति पुरुष के दो घुटने सुतल हैं' इस वाक्यानुसार श्रीकृष्ण घुटनों से रिंगण कर दैत्यों का मर्दन करते हैं, वे घुटने सुतल इसीलिये समझे जाते हैं। जो विश्वरूप पुरुष भी इस (श्रीकृष्ण) स्वरूप में है अन्यथा श्रीकृष्ण स्वरूप तो आधिदैविक आनन्दमय ही है, उस स्वरूप की लीलाएं तो आनन्दमय ही है।

आध्यात्मिक पक्ष से व्यूह लीला—पुरुष लीला भगवान् की ही लीला कही जाती है। आधिदैविक पक्ष से भगवान् की रिंगण लीला जिन घुटनों से की है वे घुटने भी आधिदैविक आनन्दमय हैं न कि सुतलरूप हैं। भगवान् अपने भक्तों को बाल-लीला आदि लीलाएं आधिदैविक आनन्दमय स्वरूप से दिखाते हैं॥ १॥

सुबोधिनी—उपविष्टयोर्नम्रीभूतयोर्गमनं पादाधीनमेवेति **जानुभ्यामेव गमनमुच्यते, पाण्योस्तु सहभावः,** तत्र प्रतिष्ठाभावात्, सम्पूर्णेनापि शरीरेण रिङ्गमाणाविति **जानुभ्यां सह रिङ्गमाणाविति सहपदप्रयोगः,** अनेन मध्येऽल्पचलनेपि भूमौ शयानावेव भवतः पुनरुत्थाने च तथा, एवं रूपाणि भगवतः सहस्राणि ध्येयानि हसद्रूपाणि क्षणमुपविष्टानि क्षणं प्रचलितानि च॥ २२॥

व्याख्यार्थ—बैठे हुए फिर नम्र होकर चलने लगे तो वह चलना पैरों के अधीन ही है, इसलिये घुटनों से ही चलना कहा गया है। हाथों का तो केवल साथ ही है, उनका पूर्ण आश्रय नहीं है। सम्पूर्ण शरीर से भी रींगते थे, घुटनों से भी रींगते थे, पृथ्वी पर सो जाते फिर उठकर घुटनों से रींगते थे। इस प्रकार भगवान् की अनेक लीलाओं से अनेक रूप हैं। उनका ध्यान करना चाहिये। कभी चलते-चलते हंसने लगते हैं, कभी पृथ्वी पर लेट जाते हैं फिर कुछ चलते हैं, इत्यादि रूप एवं लीलाओं का अनुसन्धान करना चाहिये॥ २२॥

आभास—इयं प्रथमगतिरुत्तरश्लोकोक्तगतिपर्यन्तमनुसन्धेयोत्तरोत्तरपुष्टा, उत्तरस्यादिना पूर्वावसानस्य न्यायसिद्धत्वात्, द्वितीयमाह तावङ्घ्रीति।

आभासार्थ—पूर्व (२२ वें) श्लोक में कहीं हुई भगवान् की गति (रिंगण) लीला का उत्तर (२३ वें) श्लोक में कही जानेवाली गति लीला पर्यन्त (तक) अनुसन्धान करते रहना चाहिये।

१—कुचलना।

क्योंकि यों करने से यह गति लीला धीरे-धीरे पुष्ट[1] होती जायगी। यह न्याय सिद्ध है कि जहाँ से उत्तर (पीछे) का आदि होता है वहाँ पूर्व (पहले) का अन्त होता है। अब दूसरी गति लीला का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु ।**
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः ॥२३॥

श्लोकार्थ—ये दोनों भाई जिस समय व्रज के कीचों में घोष[2] प्रतिघोष[3] चरण युगलों को खींचकर सर्पवत् रींगते थे, उस समय उनके पैरों की पैंजनी और कटि की किंकिणीयों के नाद से हर्षयुक्त मन वाले होते थे और जाते हुए लोगों को देख दो चार कदम उनके पीछे जाकर लौट आते। फिर मुग्ध[4] और डरे हुए के समान माताओं के पास आ जाते थे।

सुबोधिनी—गतिविलासा अत्र निरूप्यन्ते, प्रथमतोलसवलितगति,: **तावुभावपि**, एको भगवानिति न वैलक्षण्यं, जानुभ्यामेव गच्छन्तौ मध्येमध्ये जानुपीडामिव भावयन्तौ, **अङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य** पादाग्रमधोमुखं कृत्वा जानुपर्यन्तं भूमिष्ठं विधाय शनैराकृष्य पश्चाच्छीघ्रं **सरीसृपन्तौ** द्रुतं गच्छन्तौ भवतः, तथा गमने हेतुमाह **घोषप्रघोषरुचिरमिति**, घोषः शब्दः प्रकृष्टो घोषस्ताभ्यां **रुचिरं** यथा भवति तथा प्रथमं गच्छन्तौ नूपुरक्षुद्रघण्टिकादीनां वादनमाकर्णयन्ताविव शब्दे दत्तकर्णौ शब्दगतिं विचारयन्तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य शनैश्चलितौ, स शब्दः किं स्वाभरणादेव जायतेऽन्यस्मादिति वेति विचारयितुं गतेः शैघ्र्यं कुरुतः, तदा **प्रघोषो** भवति, तस्यापि विचारार्थं पुनः स्थितौ भवतः, तदा **प्रघोषेण रुचिरं** यथा भवति तथा **सरीसृपन्तौ** भवतः, पुनरेवं **घोषप्रघोषाभ्यां** बहुधा गतितरतमभावं प्राप्तौ **व्रजकर्दमेषु** गतौ भूमिदेहसम्बन्धकृतशब्दवैलक्षण्यग्रहणाय, तत्रापि चेच्छब्द आभरणानामेव नान्यस्येति **तन्नादहृष्टमनसौ** जातौ, अस्मद्वत्या तदनुगामी शब्दोपि रुचिरो भवतीत्येव बहुधावृत्तिर्मनःपरितोषार्था, अनेन भगवान् चरित्रं कृत्वा तत्प्रतिपादकं च वाक्यं विधायोभयोर्योग्यतायां सन्माननं वक्तुः श्रोतुश्च करोतीति लक्ष्यते, एवं तयोरेव परस्परं गतिलीलामुक्त्वान्यानुरोधेनापि गतिलीलामाहानुसृत्य **लोकमिति**, यं कश्चित् स्त्रियं पुरुषं वा गच्छन्तमनुगच्छन्तौ गन्तव्यमेवेति कथमन्यथायं गच्छेदिति कियद्दूरं गमनानन्तरं तस्मिन् परिवृत्य दृष्टं दूरं गते वा **मुग्धप्रभीतवत् स्वमातुरन्ति** समीप **उपेयतुरितिसम्बन्धः**, गमने ज्ञानद्वयं, अस्मदीयाः केचन गच्छन्तीत्यतोस्माभिरपि गन्तव्यं गन्तव्यमेव वा, तथा सत्येकाकिना न गन्तव्यमिति तस्मिन् दूरं गते पश्चात् पुरस्ताच्चासहायमात्मानं मत्वा भीतौ **भवतः**, व्याघुटच प्रदर्शने तु नायं मदीय इति मुख एव परिचयात् धर्मान्तरे तथा बुद्ध्यभावात् **मुग्धवत्** परावृत्तिर्भवति, **मुग्धश्चासौ प्रभीतश्चे**ति प्रकर्षभये मुग्धभावोपि हेतुः, अन्यथा भये कारणाभावात् "तस्मादेकाकी बिभेती" ति भयमात्रकारणत्वेपि प्रकर्षभये नान्यो हेतुः, गमनागमनलीला शीघ्रं सिद्धैव तथापि मुग्धभीतभावौ गमनागमनयोः क्रमेण सौन्दर्यसू-

---

१—चित्त में स्थिर। २—शब्द। ३—प्रति शब्द। ४—भोले।

चक्रौ, उभयत्र वा, तथैकाकिना नात्र स्थातव्यमिति गमनं, बालकयोः परिचयो मातर्येवावशिष्ट इति वदति, ज्ञात्वापि तथानुकरणेन पुनर्गमनागमने, तत्र हास्यादिना बहवः प्रकारा भावुकानां मनोहरा भवन्ति, लोकमित्या- लोकवन्तमुज्ज्वलवस्त्रादियुक्तं, मात्रोरन्तीत्यनेनैव सामीप्ये सिद्धे पुनरुपेतिग्रहणं कदाचिदागत्योपर्येव पततः कदाचिन्मध्ये कदाचिद्दूरविप्रकर्षेणेतिप्रकारभेदज्ञापकम् ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में भगवान् की गति के विलासों (सुन्दर एवं आनन्द देने वाली चलन (रमण) क्रियाओं) का वर्णन करते हैं। प्रथम अलस[1] और वलित[2] गति से चलन क्रिया हुई। इस गति में दो होते हुए भी विलक्षणता न होने का कारण यह है कि दोनों रूप एक ही भगवान् के हैं। दोनों स्वरूप घुटनों से चलते हुए बीच-बीच में घुटनों में दर्द होने का भाव प्रकट करने के लिये ठहर जाते और दोनों चरणों को खींच कर उनके अग्र[3] भाग को नीचे कर घुटनों तक पृथ्वी पर रख देते अनन्तर फिर धीरे-धीरे उनको खींच कर सहसा[4] शीघ्रता से सर्प की चाल से चलने लगते हैं। इस प्रकार द्रुत गति से जाने का कारण बताते हुए कहते हैं कि पहले जब चलने लगे तब पादों में पहने हुए नूपुरों के और कमर की क्षुद्र घण्टिकादिकों की धीमी आवाज कानों में पड़ी तो धीमे-धीमे चलकर विचारने लगे कि यह ध्वनि हमारे अपने आभूषणों की है अथवा अन्य किसी की है। इसका निश्चय करने के लिये द्रुत गति से चलने लगे। तब जोर से ध्वनि सुनने में आने लगी। तो फिर उस ध्वनि का विचार करने के लिये ठहर गये। उस समय वह ध्वनि जैसे सुन्दर हो उसी प्रकार रेंगने लगे। फिर इस प्रकार घोष और प्रघोषों से भगवान् की गति विशेष एवं विशेषतम प्रकार के भावों वाली हुई अर्थात् व्रज की कर्दमों[5] में जाकर अनेक प्रकार की गति से रमण करने लगे जिनके द्वारा भूमि और देह के सम्बन्ध से हुए शब्दों की विलक्षणता जानने लगे। उस समय भी ध्वनि आभरणों की है न कि दूसरे किसी की है। यह निश्चय समझ उस ध्वनि से दोनों भाई प्रसन्न मन वाले होते हुए कहने लगे कि हमारी गति से वह ध्वनि भी जो हमारी गति की अनुगामी[6] है सुन्दर होती है। इस प्रकार गति एवं ध्वनि से अपने मनको प्रसन्न करने के लिये दोनों भ्राताओं के चित्त की अनेक प्रकार की वृत्तियाँ होने लगी। इस प्रकार उन दोनों भ्राताओं की परस्पर गति लीलाओं को कह कर अब दूसरों के अनुरोध[7] से भी जो लीलाएं की उनका वर्णन करते हैं। जिस किसी पुरुष को वा स्त्री को जाते हुए देखते थे तो मन में यह इच्छा करते थे कि ये जा रहे हैं हम क्यों न जावें। इस इच्छा की पूर्ति के लिये उनके पीछे-पीछे आप भी उसी प्रकार की गति करते हुए जाते थे। थोड़ी दूर जाने पर पीछे देखते थे, देखने पर ज्ञात होता था कि हम इतने दूर अकेले चले आये हैं तो क्या करते कि आगे जाना बन्द कर मुग्ध[8] बालक और डरे हुए बालक की तरह डरते हुए शीघ्रता से माताओं के पास लौट आते थे।

१—पादों को खैंचकर चलने को 'अलस' गति कहते हैं।
२—शीघ्रता से चलने को वलित गति कहते हैं। ३—आगे का। ४—एक दम।
५—कीचड़ों। ६—पीछे चलने वाली। ७—अभिलाषा। ८—भोले।

दोनों भाईयों को जाने वालों के पीछे जाने के लिये दो विचार स्फुरित हुए। एक विचार यह आया कि जाने वालों में कोई कोई हमारे परिचित हैं तो हम भी इनके पीछे-पीछे जावें अथवा हमको भी जाना चाहिये, दूसरा विचार यह करने लगे कि अकेले तो नहीं जाना चाहिये। इस प्रकार विचार कर जाने वालों में हमारे भी हैं, यों समझ कर उनके पीछे-पीछे जाने लगे, किन्तु कुछ आगे जाने पर ज्ञात हुआ कि इनमें तो हमारा परिचित कोई नहीं है, हम अकेले हैं हमारी यहाँ सहायता करने वाला तो कोई नहीं है। इस प्रकार के विचार आते ही डरने लगे तब जाने वालों के मुखों से पहचान करने लगे कि इनमें कोई हमारा है या नहीं। दूसरे प्रकार से पहचान करने की, भोलेपन के कारण बुद्धि नहीं थी, अतः मुख द्वारा ही पहचानने लगें। जब देखा कि इनमें अपना कोई नहीं है, तो विशेष भयभीत होने लगे क्योंकि बालक मुग्ध (भोले) होते हैं। भोले अधिक डरते हैं। नहीं तो इसके अतिरिक्त डर का कोई कारण नहीं था। 'अकेला डरता है' अकेले होने से भय तो हुआ किन्तु विशेष भय का कारण भोलापन था। गमनागमनलीला[1] तो शीघ्र सिद्ध हुई किन्तु उस लीला में सुन्दरता तो एक-एक में वा दोनों में मुग्ध भाव एवं भीत भाव से ही आई थी। यहाँ अब अकेले रहना नहीं चाहिये, यों विचार कर वहाँ से गमन किया[2]। लौट आने में यद्यपि भय भी कारण है। तो भी सौन्दर्य प्रदर्शन विशेष भोलेपन के भाव से ही होता है। बालक भोले ही होते हैं और उनको विशेष परिचय माता का ही होता है, इसलिये माता के पास आने के लिये ही वहाँ से लौट आए।

ऊपर कहे हुए सर्व विषयों को जान कर भी लोकों का अनुकरण[3] करते हुए उनके पीछे गए और फिर लौट आए। इस प्रकार की जो लीला मुग्ध भाव एवं भीत भाव प्रदर्शित करने के लिये की है, इससे यों न समझना चाहिये कि भगवद्रूप श्रीकृष्ण एवं बलराम भोले थे व डरे हुए थे, किन्तु भक्तों को लीला को आनन्द देने के लिये उन्होंने ऐसे भाव प्रदर्शित किये थे। 'लोक' शब्द का अर्थ साधारणतया 'मनुष्य' होता है; किन्तु आचार्यश्री ने यहाँ 'लोक' शब्द का विशेष भाव बताते हुए अर्थ किया है कि जिनके स्वच्छ वस्त्र थे और तेज वाले मनुष्य थे, इस कारण से ही उनके पीछे मुग्ध भाव से गए और भीत भाव से लौट आए। श्लोक में 'अन्ति' शब्द का अर्थ निकट है तो शुकदेवजी ने 'उप' शब्द, जिसका अर्थ भी 'निकट ही है' क्यों दिया? उनके आशय को प्रकट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि माता के पास आए तो सही, परन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार की लीला करते हुए माताओं से मिले। जैसे कि कभी माताओं के ऊपर गिरते थे फिर उठकर बीच में (गोदी में) बैठते तो कभी फिर दूर खड़े होते पुनः हँसते हँसते माता से आकर मिलते। इस प्रकार नाना प्रकारों से लीलाएं करते हुए भावुक भक्तों को आनन्द प्रदान करते थे ॥ २३ ॥

१—जाने और लौट आनेवाली लीला। २—लौट आए। ३—देखादेखी करना, पीछे चलना।

आभास—एवं नानाविधगमनागमनाभ्यामुपविष्टलीला स्वतन्त्रतया बहुधा वर्णिता, मात्रा सह नानाविधक्रियाभिः सहितस्योपविष्टस्य लीलामाह तन्मातराविति ।

आभासार्थ—इस प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक, अनेक प्रकार की गमनागमन लीलाएं बैठे हुए रूपों से कीं, उनका वर्णन कर, अब इस निम्न श्लोक में माता के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाओं से उपविष्ट होते हुए जो जो लीलाएं की हैं, उनका वर्णन करते हैं ।

**श्लोक—तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्तुवन्त्यौ पंकाङ्गरागरुचिरावुपगूह्य दोर्भ्याम् ।
दत्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम् ।।२४।।**

श्लोकार्थ—उनकी माताएँ अपने पुत्रों की उत्कण्ठा से[1] स्तुतियाँ करने लगीं और कीच रूप अङ्ग राग से सुन्दर, उन दोनों को अपनी दोनों भुजाओं से आलिङ्गन करती हुई स्तन्यपान कराने लगीं । स्तन्य पान करते समय उनकी भोली मुस्कान और छोटे छोटे दाँतों वाले मुखारविन्द को देख कर अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुईं ।

सुबोधिनी— **यशोदारोहिण्यौ निजसुतौ स्वं स्वं सुतं घृणयौत्कण्ठ्यस्नेहेनस्तुवन्त्यौ पङ्क** एव योयमंगरागस्तेन **रुचिरौ दोर्भ्यामुपगूह्यालिङ्ग्य स्तनं दत्वा पिबतोश्च मुखं निरीक्ष्य प्रकर्षेण मोदं ययुरि**तिसम्बन्धः, नृत्यन्ताविव समागच्छन्तौ धृत्वा वा नृत्यं कुर्वन्तौ मातृप्रेरणया वान्यप्रार्थनया वा नृत्यन्तं पश्यन्तौ वा, स्तोत्रे पञ्चधा नृत्यं हेतुः, लीलाभावाश्चासङ्ख्याताः, रोषभावाश्च त्रिविधाः स्तोत्रविषयाः, तत्र स्तोत्रं द्वेधा सम्भवति परमार्थतो लोकतश्च, लोकतो घृणा, घृणयास्तुवन्त्याविति पदच्छेदे परमार्थतः स्तोत्रं, घृणयोपलक्षिते वा मातरौ, भगवद्व्यतिरिक्ते सर्वत्र घृणा सञ्जातेति, 'सघृण' इत्यादौ 'घृणा' स्नेहदयाप्युच्यते, भगवत्कर्तृकोपगूहनदशा भिन्ना ताभ्यामुपगूढयोरन्या, अत्रापि बहवो भेदाः सम्भवन्ति, स्तनपानदशा तु स्वतन्त्रा, आलिङ्गितयोर्वा भयाभावात् स्तनपानं, निरीक्षणलीलापि बहुविधा, सर्वत्र **प्रमोदः** फलमुभयोर्मातृत्वमन्यथा शकितं भविष्यतीति बुद्धिदार्ढ्यार्थं निरूपितं, भगवतोपि मातरि वैलक्षण्यभावाजननार्थं **निजसुतावि**त्युक्तं, भगवत्सम्बन्धेपि सर्वपुरुषार्थानां भगवद्रूपेण भिन्नतया वा ज्ञानाभावाय घृणा निरूपिता, भौमाः सर्व एवावयवास्सुगन्धा भवन्ति, विजातीयैश्चोपहता अन्यथा भवन्त्यलौकिकं तेजश्चेद् भवति तदोत्तमता भवति, तत उच्यन्ते कस्तूरीकुङ्कुमचन्दनादिष्वंगरागपदानि, वस्तुतस्तु मृदवयवा एव गन्धतेजोभ्यां सहितास्तथा व्यपदिश्यन्ते, भगवत्सम्बन्धाद् दोषनिवृत्तिपूर्वकगुणाधानमुचितमेव, अतः पंकस्यांगरागत्वं, पङ्कपदप्रयोगाच्चैवं ज्ञायते, अंगसम्बन्धानन्तरमेवांगरागत्वमिति, **रुचिरावि**ति परमार्थापेक्षयाधिक्यं सूचयति, स्वेनैव ह्यंगरागत्वं सम्पादितं स्वतेजसानुभावेन वा पुनस्तेनैव रुचिरत्वमंगरागस्य माहात्म्यख्यापनाय, ततोप्यधिकतेजस आविर्भावः प्रत्यक्षतः पङ्कदर्शनयुक्तयोरपि पङ्कांगरागरुचिरत्वं निस्सन्दिग्धं भावितमिति **दोर्भ्यामुपगूहन**मुक्तं, निर्दुष्टभाव एव भगवत्युचित इति न तु दोषत्वमगीकृत्य, अविहितभावख्यापनार्थं **दत्वा स्तन**मित्युक्तं, अन्यथा मुक्तिलीलायां प्रवेशः स्यात्, गमनागम-

---

१—चाह–अभिलाषा ।

नाम्यां बालका: क्षुधिता इति प्रकर्षेण पानं, नन्वेवं स्त्रीणां बाललीला कथं भवद्भिरवगता योगे ध्याने वा कैवल्यस्यैव भाव्यत्वाद् गमनं तु नास्त्यवर्णितत्वादित्याशङ्कयाह स्मेति, सर्वलोकप्रसिद्धैषा लीला, अतो नालौकिकप्रकारो ज्ञाने वक्तव्यः, मुखमित्येकवचनमेकस्यावेशितत्वेन प्रकटमेकमेव मुखमिति ज्ञापयितुं, तदग्रे विस्तरेण वक्ष्यते, ननु मुखस्य भक्तिरूपत्वात् तत्र सम्यङ्निरीक्षणे जाते कथं लौकिकभावः सिध्येदित्याशंकयाह मुग्धस्मिताल्पदशनमिति, स्मितस्य दन्तानां च मायास्नेहरूपत्वान्मोहकत्वं मुग्धं सुन्दरं स्मितमल्पता स्वासक्तिजनकता च निरूपिता, मोहकं स्वन्यत्रैवासक्तिं जनयति, अल्पदशनानि च, तथा क्षीरकणसहिता दन्तपंक्तिरुक्ता, अतो लौकिकालौकिकभावयोर्मिश्रणात् **प्रकृष्टो मोदः** ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ—उनकी माताएं (यशोदा और रोहिणी) कीचरूप अंगराग से सुन्दर अपने अपने पुत्र को उत्कण्ठा* से स्तुति करने लगी और दोनों भुजाओं से आलिंगन कर उनके मुखों में स्तन दिये दूध पीते हुए, उनके मुख को देख कर, अत्यन्त हर्ष को प्राप्त हुईं ॥ २४ ॥

अब माता के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार की जो लीलाएं कीं उनका वर्णन करते हैं—

(१) माता के पास इस प्रकार आने लगे जैसे कोई नाचते हुए आते हों।

(२) अथवा कभी कुछ हाथ में लेकर मानो नृत्य करते हुए आ रहे हों।

(३) अथवा माताओं की प्रेरणा से नाच करते हों।

(४) अथवा दूसरों की प्रेरणा से नृत्य कर दिखाते थे।

(५) वा कोई नाचते हैं उनको देख रहे हैं।

माताएं जो स्तुति, कीर्तन करती थीं उसका कारण ये विविध प्रकार की नित्य लीलाएं थीं। और इन लीलाओं में असङ्ख्य[1] भाव थे एवं रोष भाव तीन प्रकार के थे।

स्तोत्र[2] दो प्रकार के होते हैं—एक लौकिक रीति के दूसरे परमार्थ[3] रीति के। माताएं जो स्तोत्र करती थीं वे लौकिक रीति के नहीं थे, क्योंकि श्लोक में दिये हुए 'घृणा' शब्द का सामान्य लौकिक अर्थ, 'नफरत या निन्दा' भी होता है। अतः आचार्यश्री कहते हैं कि श्लोक में 'घृणयास्तुवन्त्यौ' इसके पदच्छेद करने से 'घृणया अस्तुवन्त्यौ होगा, जिसका अर्थ होता है निन्दा वा नफरत से स्तुति नहीं करती थी। जिसका सारांश यह है कि माताएं अलौकिक रीति से स्तुति करती थी। इस प्रकार अर्थ करने से घृणा शब्द का लौकिक अर्थ लेते हुए भी माताओं की, की हुई स्तुतियाँ अलौकिक सिद्ध हो जाती हैं। माताएं स्तुति लौकिक करती थीं वा अलौकिक करती थीं। इस शंका का मूल कारण है 'स्तुवन्त्यौ' शब्द से 'घृणा' शब्द का जोड़ना। आचार्यश्री को यह शंका ही न रहे, इसलिये इसका दूसरा ढंग बताते हैं कि 'घृणया' पद का अन्वय मातरौ से करलो जिसका अर्थ होता है कि दोनों भाइयों ने माताओं को दयापूर्ण देख, पहचान लिया कि ये हमारी माताएं हैं। क्योंकि ये दयायुक्त हैं। माताओं का उस समय भगवान् की सुन्दरता से जो

---

* चाह—अभिलाषा। १— अनन्त। २—स्तुति। ३—अलौकिक।

उन दोनों में प्रेम उत्पन्न हुआ था, जिससे दूसरों को भगवान् से न्यून समझने लगीं। उन (दूसरों) की न्यूनता देख माताओं में उन (दूसरों) के प्रति दया उत्पन्न हुई, जिससे आचार्यश्री कहते हैं कि माताएं दयायुक्त हुई थीं।

भगवान् स्वयं, जब माता का आलिंगन कर मिले, उस समय के आनन्द की दशा, एक प्रकार की थी और जब माताएं अपने पुत्रों का आलिंगन कर मिलीं, उस समय के आनन्द की दशा दूसरे प्रकार की थी। इस मिलन के भी अनेक भेद होते हैं, अर्थात् भगवान् और माताएं परस्पर विविध प्रकार से मिले थे जिससे उन्होंने विविध आनन्द रस का पान किया था। स्तनपान की दशा अन्य प्रकार की थी, स्वतन्त्र थी अथवा माताओं से आलिंगित हों, उनकी गोदी में बैठकर स्तनपान कर रहे थे, उस समय सर्व प्रकार से अपने को निर्भय समझते थे। इसलिये प्रेम से दूध पीने का आनन्द ले रहे थे और माताओं को दे रहे थे एवं भगवान् माताओं का निरीक्षण कर माता के सुख का अनुभव जता रहे थे और माताएं पुत्रों की चेष्टाओं का निरीक्षण, वात्सल्य रस का खूब पान कर रही थीं। इस प्रकार की लीलाओं से माताओं एवं बालकों को अत्यन्त हर्ष हुआ। अत्यन्त हर्ष से यह निश्चय हुआ कि माताओं की यह बुद्धि दृढ़ थी कि ये दोनों हमारे ही पुत्र हैं। इस प्रकार भगवान् की भी माताओं में भेद बुद्धि नहीं हुई थी। वे भी उनको अपनी माता ही समझते थे। इसलिये श्लोक में 'निजसुतौ' पद दिया है। दोनों अपने पुत्र हैं।

इन लीलाओं के होते ही माताओं का भगवान् से सम्बन्ध हो गया तो भी उन (माताओं) को यह ज्ञान नहीं हुआ कि ये सर्व पुरुषार्थ, भगवद्रूप हैं अथवा भगवान् से भिन्न हैं। अतः घृणा का निरूपण किया है अर्थात् माताओं ने अन्य पदार्थों को न्यून समझ कर उन पर दया की।

पृथ्वी से उत्पन्न सर्व पदार्थ, अथवा भूमि के सर्व अवयव गन्ध वाले होते हैं। विजातीय[1] पदार्थों से उपहृत होने पर अन्यथा (दूसरे प्रकार के अर्थात् गन्धहीन) होते हैं। यदि अलौकिक तेज हो तो उनमें उत्तमता आ जाती है। उस कुङ्कुम् चन्दनादिकों को 'अंगराग' नाम दिया गया है। वास्तव में कस्तूरी आदि तो मिट्टी के ही अवयव[2] हैं, परन्तु गन्ध और तेज के कारण कस्तूरी आदि नाम से व्यवहृत होते हैं। भगवान् से सम्बन्ध होने पर दोषों की निवृत्ति और गुणों का प्राकट्य होना उचित ही है। अतः कीच को अंगराग कहा गया है। पहले तो कीच थी; किन्तु भगवान् के श्री अङ्ग से सम्बन्ध होने से उस कीच के दोष निवृत्त हो गए उसमें गुण प्रकट हुए। जिससे शुकदेवजी ने श्लोक में 'पङ्कागराग' पद देकर कीच को भगवत्संसर्ग सत्र से अंगराग कहा है।

श्लोक में दिये हुए 'सुन्दर' शब्द का भाव बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि उत्तम पदार्थों से भी इस (कीच) की विशेष सुन्दरता प्रकट करने के लिये सुन्दर' पद शुकदेवजी ने दिया है। यद्यपि मिट्टी में इतनी सुन्दरता नहीं थी, किन्तु भगवान् ने स्वयं स्वतः ही अपने तेज

१—जो पृथ्वी से उत्पन्न नहीं हुआ हो। २—भाग।

और प्रभाव से उसमें सुन्दरता प्रकट कर अंगराग की महत्ता प्रकट की। उससे भी अधिक तेज का प्रत्यक्ष आविर्भाव[1] हुआ, जब वह भगवान् के श्रीअंग में लपेटी हुई देखी गई। जिससे भगवान् के श्रीअंग की सुन्दरता निःसंदेह निखरने लगी। इस सुन्दरता से ही माताओं ने दो भुजाओं से श्रीअंग का आलिंगन कर सुन्दरता के अनुभव का रसास्वाद लिया।

भगवान् में सदैव निर्दोष भाव करना चाहिये, कभी भी भगवान् में किसी प्रकार भी दोष न देखना चाहिये। माताओं ने पुत्रों के अंग में लगी हुई मिट्टी से सौन्दर्य की झांकी की। अतः उसी दशा में पुत्रों को आलिंगन कर गोदी में ले स्तन दिया। यदि माताएं लौकिक भावयुक्त होकर स्तनपान न कराती तो अलौकिक भाव प्रकट होते ही मुक्त हो जातीं। माताओं ने समझा कि बालकों ने आने जाने की इतनी दौड़-धूप की है, इससे यह भूखे होंगे, अतः इनको अच्छी तरह से स्तन्य पान कराना चाहिये।

'श्लोक' में शुकदेवजी ने 'स्म' क्यों कहा इसका आशय आचार्यश्री स्पष्ट करते हैं कि किसी को यह शङ्का होवे कि शुकदेवजी ने जो स्त्रियों के बाल-भाव की सर्व क्रियाओं का वर्णन किया है वह कैसे किया ? शुकदेवजी स्वयं विरक्त थे। इसलिये उनको इस लौकिक विषय का ज्ञान नहीं था। तो क्या शुकदेवजी ने योग में वा ध्यान में वह लीला देखी ? योग और ध्यान में तो मोक्ष के आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं दीखता है। आना-जाना भी मोक्ष में नहीं, तो फिर शुकदेवजी ने इसका वर्णन कैसे किया ? ऐसी शंकाओं के निवारण के लिये शुकदेवजी ने 'स्म' शब्द देकर बताया कि ये लीलाएँ सर्व लोक-प्रसिद्ध हैं, कारण कि नित्य हैं। इसलिये उन लीलाओं को जानने के लिये योगध्यानादि अलौकिक प्रकारों की आवश्यकता नहीं है। श्लोक में 'मुखं' एक वचन क्यों कहा ? उसका आशय आचार्यश्री बताते हैं कि दोनों ही रूप एक ही भगवान् के थे, इसलिये 'मुखं' शब्द एक वचन देकर दोनों का एकत्व प्रतिपादन किया है। बलरामजी में भी भगवान् का ही आवेश था। यह एकत्व आगे विस्तार से कहा जाएगा।

मुख भक्ति रूप है, उसके निरीक्षण से लौकिक भाव क्यों हुआ ? उसको समझाते हुए कहते हैं कि मुख में जो हास्य एवं दूध कणों जैसे सुन्दर छोटे-छोटे दांत थे, वे माया एवं स्नेह रूप होने से मोहक थे। सुन्दर स्मित[2] अपने में आसक्ति कराती है और उनका गुण मोहक दूसरे में आसक्ति कराता है। इसलिये उनसे (मन्द मन्द मुस्कान तथा दूध वाले दाँतों से) दोनों भाव[3] प्रकट होने से अत्यन्त मोद प्रकट हुआ अर्थात् माताएँ इनसे अत्यन्त आनन्द में मग्न हुई ॥ २४ ॥

१—प्राकट्य। २—मन्द हास्य = मुस्कान। ३—लौकिक तथा अलौकिक।

आभास—एवं लीलात्रयं फलान्तं निरुपितं; स्वतःस्थितयोर्लीला आह यर्ह्यङ्ग-नेतित्रिभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार ऊपर के श्लोकों में तीन लीलाएं (मुग्ध,[1] धार्ष्टच[2] और धूर्तता[3] युक्त लीलाएं) फल सहित वर्णन की गई हैं । जिनसे तीन प्रकार के सात्विक, राजस और तामस प्रकृति वालों के दोष दूर कर, अन्त में फलरूप निर्गुण स्वरूप हृदय में स्थित किया । अब जो लीलाएँ की हैं वे अपने आप ही स्थित हो, उनका वर्णन तीन श्लोकों से करते हैं ।

श्लोक—**यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीलावन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः ।**
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जगृहुर्हसन्त्यः ॥२५॥

श्लोकार्थ—जब स्त्रियों के देखने योग्य कुमार लीलावाले, वे दोनों भाई हुए, तब, जब कभी व्रज में वे दोनों भाई, गौओं के पुत्रों (बछड़ों) की पूंछों को पकड़ कर खेलते थे, उस समय वे बछड़े दोनों भाईयों को घसीट (खींच) कर इधर-उधर ले जाते थे, इस लीला को देखती हुई उन अबला व्रजांगनाओं ने अपना अपना काम छोड़ दिया और उसमें लीन होकर हँसती हुई उनको पकड़ने लगीं ।

सुबोधिनी—अत्र सर्वा एव स्त्रियोधिकारिण्यः, अन्यासां सामान्यतो निरोधाभावे तत्संगदोषेण जनन्यो-र्निरोध उच्यमानो न भवेत्, राजसभावास्तु कोटिशो भवन्ति तान् सर्वानेव संग्रहीतुं **यर्ह्यंगनादर्शनीयकुमार-लीलावित्युक्तं**, **अंगनास्तु** तरुण्यस्तासां **दर्शनीया कुमार-लीला ययोः**, तास्त्रिविधा भवन्ति **कौतुकाविष्टा** रसाविष्टाः कामाविष्टाश्चेति, **यदैव तौ** तासां **दर्शनीयलीलौ** तदैवातिमुग्धत्वख्यापानार्थं वत्सपुच्छावलम्बनेन स्थितौ भवतः, लौकिकाभिनिवेशभयाच्छुकेन न विशेषत उक्तः, **कुमारोत्र** द्विवार्षिकः, **कुत्सितो मारो** यस्मादिति कन्दर्प-कोटिलावण्याधिकसुन्दर उक्तस्तद्वतोत्कृष्टभावा अप्यस्मिन् निरूपिताः, **अंगनानां दर्शनीयभावनार्थं** जातानुभावानां वा निर्भयेन दर्शनार्थं **यर्हीति**, तृणावर्तवधपर्यन्तमन्यदा वा यावदयं भावो न जात इति तावन्निरन्तरदर्शनं न जातमिति ज्ञापितं, दृष्टिस्पर्शसम्बन्धैस्त्रिविधाः सुखदा उक्ताः एतादृशावंगनादर्शनीयकुमारलीलौ, **अन्तर्व्रज** इति, **व्रजमध्ये** सर्वासामेव दर्शनयोग्यस्थाने, **तदबला** व्रजबाला अन्यत्र गमनयोग्यतारहिताः, **वत्सैरितस्ततोनु-कृष्यमाणौ जगृहुरितिसम्बन्धः**, **वत्सा** गोपुत्राः, भगवाँ-ल्लीलार्थं कर्माङ्गदेवताभावं तदवलम्बनं वा करोति, ते तु मूढा इतस्ततः प्राकृते वैकृते च संयोजयन्ति यथा गर्दभपादच्छेदनं कृत्वा "विष्णवे शिपिविष्टाय जुहोती" "त्यतिरिक्तस्य शान्त्या" इतिफलार्थं, एतेपि **वत्सा** भगवता प्रकर्षेण **गृहीतं पुच्छं** येषां द्वयोरेकस्य वा प्रकर्षेण ग्रहणान्न तेषां धावनं, प्रदर्शनार्थमेव यतो मुग्धभावः, अतो न स्खलनमत्र, उभाविति भगवान् स्वत आवेशतश्च क्रीडतीति वक्तुं, **अनुकर्षणं** शनैः शनैः कर्षणं, भगवानपि वत्समाकर्षति वत्सतर्यश्च भगवन्तं, अतो वत्सस्यापि नेष्टगतिः, अत **इतस्तत** आकर्षणं **वत्सैरिति**बहुवचनं धृतस्य पलायनेपि पुनरन्यग्रहणार्थं, एवं पराधीनभगवद्गतिं

१—सात्विक । २—राजस । ३—तामस ।

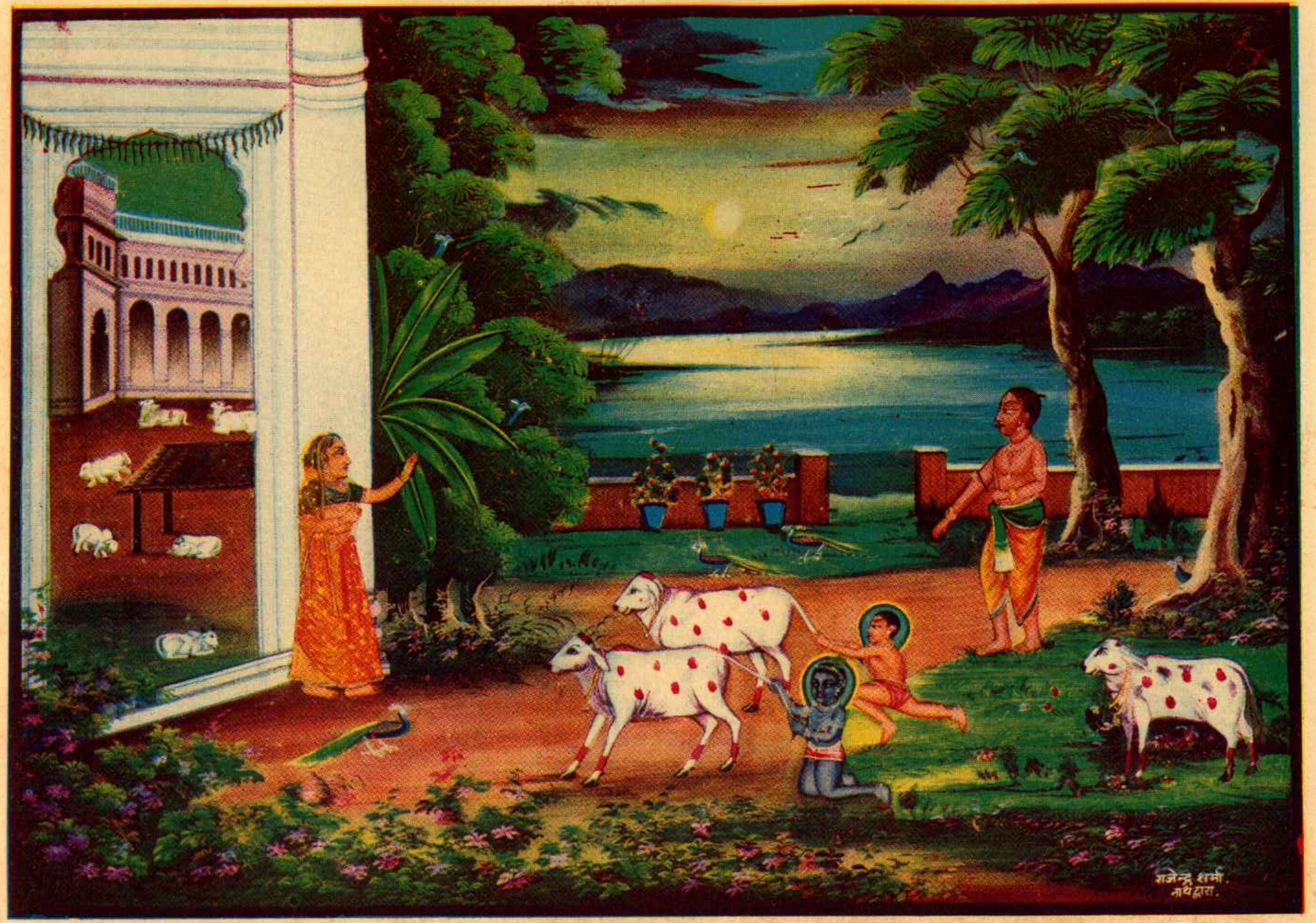

श्री कृष्ण कीबाल लीला

दृष्ट्वा प्रेक्षन्त्य एव स्थिताः, **अत्रैव तात्पर्ययुक्ता उपनिषद इव स्थिताः**, नत्वन्याधीनत्वेनान्यथा ज्ञातव्यः, एवं कर्मभ्यस्त्याजयित्वा स्वार्थं ग्रहणमाश्रमपरित्यागव्यतिरेकेण न सम्भवतीति गृहं बिडालादिभिरप्युपद्रुतं परित्यज्य तदवेक्षामकृत्वा जगृहुः, **हसन्त्य** इति, अस्मत्परिग्रहे नैवमितस्तत आकर्षणं भवति न वा स्खलनसम्भावना, **प्रेक्षन्त्यो** ज्ञानपरा **उज्झितगृहा** विरक्ता **हसन्त्यः** फलार्थिन्यस्त्रिविधानां ग्रहणार्थमुक्तं, ग्रहणानन्तरं विनियोगस्तु पूर्वमेव कथितः, सम्भूयग्रहणपक्षे स्वतोपि सर्वतो नयनं सम्भवति, **उज्झितगृहा** इतिवचनादन्यत्रापि नयनं, **हसन्त्य** इत्यपि तथा, किं बहुना सर्वप्रकारेण **जगृहुः**, सर्वासामेव यथा ग्रहणं भवति तथा भगवान्, **गोपुच्छधारणलीलेयं** पराधीना निरूपिता ।। २५ ।।

व्याख्यार्थ—इस लीला में सब स्त्रियाँ अधिकारिणियाँ‡ हैं । यशोदा और रोहिणी से इतर स्त्रियों का सामान्य रीति से निरोध न होने से उनके संग दोष से, माताओं के निरोध का वर्णन नहीं कहा । राजस* भाव तो करोड़ों होते हैं । उन सब राजस भावों का, स्त्रियों के देखने योग्य कुमार लीला वाले स्वरूपों में, समावेश किया गया है । उन लीलाओं के करने वाले, स्वरूपों के दर्शन से 'अंगना' तरुण स्त्रियों में रसों का उद्दीपन[1] होता है । भगवान् की कुमार लीलाएँ तीन प्रकार की हैं—

१—कौतुकाविष्टा—आश्चर्य उत्पन्न करने वाली ।

२—रसाविष्टा—रस, आनन्द उत्पन्न करने वाली ।

३—कामाविष्टा—पुनः पुनः दर्शन की इच्छा उत्पन्न करने वाली हैं ।

इस प्रकार अधिकारानुसार इन त्रिविध लीलाओं के रस-पान करने वाली तरुणियाँ भी तीन प्रकार की थीं । जब भगवान् उन तरुणियों को लीला के दर्शन कराने योग्य हुए तब ही अपनी अति मुग्धता[2] प्रकट करने के लिये बछड़ों की पूंछों को पकड़ के उठकर खड़े हो जाते थे । आचार्यश्री कहते हैं कि इस लीला का विशेष वर्णन श्री शुकदेवजी ने लौकिकाभिनिवेश के भय से नहीं किया है । यों तो कुमार अवस्था पाँच वर्ष तक है, किन्तु इस लीला के करते समय भगवान् दो बर्ष के थे, आचार्यश्री की यह सम्मति है, कारण कि ढाई वर्ष की आयु में आप वृन्दावन पधारे हैं । इस प्रकार आचार्यश्री 'कुमार' शब्द से आयु का निर्णय कर 'कुमार' शब्द का दूसरा भाव भी बताते हैं । आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि शुकदेवजी ने 'कुमार' शब्द देकर यह बताया है कि लोक में प्रसिद्ध है कि सौन्दर्य की अवधि कामदेव है । इसलिये किसी पुरुष के रूप का सौन्दर्य बताया जाता है तो कहा जाता है कि भगवान् ने अपने सौन्दर्य से 'काम' को भी कम कर दिया है इसलिये

‡ प्रकाशकार कहते हैं कि जो निरोध की अधिकारिणियां थीं ।

* प्रकाशकार 'राजस' भाव का आशय समझाते हुए कहते हैं कि जो भाव रसों का उद्दीपन कराते हैं वे भाव राजस भाव हैं ।

१—प्राकट्य । २—भोलापन या बचपन ।

इसका अर्थ है 'कुत्सितो मारो यस्मात्' जिससे भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप से 'काम' का स्वरूप भी हीन है। इसलिये भगवान् को कोटिकन्दर्प लावण्य से भी सुन्दर कहा जाता है। काम के सौन्दर्य के सर्वोत्तम भाव भी इस (श्रीकृष्ण) में निरूपण किये गए हैं। अर्थात् कामदेव में जो सौन्दर्य की उत्कृष्टता है, वह तो भगवान् में है ही, किन्तु उससे भी भगवान् में सुन्दरता का विशेष भण्डार है। लोक में कहे हुए (र्यहि) शब्द का भाव आचार्यश्री बताते हैं कि भगवान् जब तक यशोदाजी की गोद में रमण करते थे और स्वयं उठकर बाहर खेलने नहीं आते थे, तब तक अंगनाओं[1] को भगवान् के दर्शन, अन्तराय बिना नहीं होते थे। तृणावर्त-वध और उसके पश्चात् भी, जब तक वह भाव प्रकट न हुआ, तब तक निरन्तर भगवान् के दर्शन नहीं होते थे। भगवान् जब कुमार लीला करने लगे, तब दोनों प्रकार की अंगनाओं, जिनको अधिकार था और जिनको अब कुमार अवस्था की लीला देखकर भाव उत्पन्न हुआ था, उनको बिना अन्तराय के निरन्तर भगवान् के दर्शन होने लगे। इस प्रकार की स्त्रियों के देखने योग्य कुमार लीलाएं, दृष्टि, स्पर्श और सम्बन्ध से त्रिविध थीं; एवं सुख देने वाली थीं। ये लीलाएँ भगवान् ने किस स्थान पर कीं? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् ने विचारा कि मुझ में निष्ठा वाली व्रज बालाएँ निर्बल हैं, इसलिये दूसरे स्थान पर जाने के योग्य नहीं हैं अतः मैं ऐसे स्थान पर ये लीलाएँ करूँ, जहाँ से सब देख सकें। वह स्थान व्रज ही है। इसलिये 'व्रज के मध्य में' ये लीलाएँ भगवान् ने की हैं। भगवान् जब मुग्ध भाव बनाने के लिये बछड़ों की पूंछों को पकड़ कर खड़े होते थे, तब वे बछड़े मूढ़ होने से भगवान् एवं उनके साथी बलरामादिकों को भी घसीट कर ले जाते थे। यह देख कर अंगनाएं उनको पकड़ती थीं। आचार्यश्री बछड़ों की पूंछों को पकड़ने का भाव बताते हैं कि भगवान् कर्मनिष्ठों को, कर्म फल देने के लिये, कर्म के अंगरूप देवता बन जाते हैं, वा उसका आश्रय करते हैं। किन्तु कर्म, जड़ (मूढ) होते हैं वे समझते हैं कि हमको यह फल देवता देता है इसलिये वे भगवान् से साक्षात् सम्बन्ध जोड़ नहीं सकते हैं। अर्थात् भगवान् की सेवा नहीं करते हैं एवं वे कर्मजड़ यह नहीं समझते कि हमको फल देने के लिये भगवान् लीला से कर्मांग देव बने हैं। यों न समझने के कारण वे उस ही स्थिति में रहते हैं, आगे नहीं बढ़ सकते हैं। जैसे बछड़ों को भगवान् ने पकड़ा (स्वीकार कर वरण किया) अपने श्रीअंग के स्पर्श से आनन्द दिया, परन्तु मूढ़ होने से वे इस भाव को न समझ, भगवान् को प्राकृत जान, उनसे अपने आपको छुड़ाने के लिये भागने लगे, वे कर्मजड़ अस्थिर[2] मति[3] मूढ़ ऐसे हैं, जो यहाँ वहाँ भटकते हैं तथा नित्य कर्म और काम्य कर्म में उसका सम्बन्ध कराते हैं। दूसरों को शांति हो, इस फल की प्राप्ति के लिये, गर्दभ के पाद (कुछ भाग) का छेदन कर होम करते हैं। मूढ़ होने से भगवान् की लीला का रहस्य गोवत्सों की तरह नहीं समझते हैं। भगवान् ने बछड़ों की पूंछों को अच्छी तरह से पकड़ा, जिससे वे दौड़ नहीं सकते थे, किन्तु भगवान् को तो लीला मात्र करनी थी जिससे इस

१—तरुण स्त्रियों, व्रज भक्तों। २—चञ्चल। ३—बुद्धि।

प्रकार का प्रदर्शन कर भक्तों को अपने मुग्ध भाव या आनन्द दान किया। इस प्रकार से बछड़ों के घसीटने पर भी, भगवान् स्खलित[1] न हुए। यह क्रीड़ा भगवान् ने दो रूपों से, मूल रूप स्वयं श्रीकृष्ण से और बलराम में आविष्ट स्वरूप से की है। बछड़े भगवान् को, अथवा भगवान् बछड़ों को धीरे-धीरे आकर्षण[2] करते थे इसलिये दोनों की इच्छा के अनुसार कार्य (लेजाने का कार्य) नहीं होता था अतः इधर-उधर परस्पर खींचते रहते थे। श्लोक में 'वत्सैः' बहुवचन दिया हुआ है उसका आशय बताते हैं कि एक को पकड़ते समय यदि वह भाग जाता तो दूसरे को पकड़ते, यों कितने ही भाग जाते कितने ही पकड़े जाते थे, इसलिये बहुवचन दिया है। इस लीला में इस प्रकार से भगवान् की पराधीन गति को देखती हुई अंगनाएँ स्थिर स्थित हो गईं। जैसे भगवान् के स्वरूप एवं लीलाओं के रहस्य को जान कर उपनिषद् उनमें ही स्थित (मग्न) हैं वैसे ये तरुणियाँ लीला के रस को पान कर, आनन्दित हो, स्थिर हो गई। भगवान् अन्याधीन (बछड़ों के आश्रित) हैं इसलिये वह प्राकृत है, ऐसा भाव उनके मन में न आया, वे तो इसको भगवान् ही समझ रही थीं उनको यह रहस्य ज्ञात हो गया कि यह हमारे प्रिय की मुग्ध लीला है।

इस प्रकार लीला के रहस्य को समझने से अन्तःकरण शुद्ध हो गया। तब कर्मनिष्ठा को अन्तःकरण से निकाल दिया। अपने आनन्द प्राप्ति के लिये भगवान् को हम तब ग्रहण (वश) कर सकेंगी जब आश्रम (गृहस्थ) का त्याग करेंगी इस निश्चय से बिडालादि से, व्याकुल भी घर को छोड़, उसकी परवाह न कर भगवान् को ही पकड़ा, अर्थात् भगवान् में आसक्त हो गईं। श्लोक में दिये हुए 'प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जगृहुर्हसन्त्यः।' इन तीनों का भाव प्रकट करते हैं कि हमने भगवान् को पकड़ लिया अब बछड़ों के समान स्खलन न होगा। इस कारण से भगवान् की इस मुग्धलीला को ज्ञानवाली देखती रहीं। इस प्रकार वे तीन प्रकार की स्त्रियाँ थीं जिन्होंने भगवान् को ग्रहण किया था। भगवान् को ग्रहण करने के पश्चात् जो भगवान् में विनियोग करना है वह तो इन्होंने पहले ही कर दिया था।

हम सब मिलकर भगवान् को पकड़ें तब भगवान् आप कहीं भी ले जावें, घर छोड़ दिया। इससे घर के अभाव में भगवान् दूसरे स्थान पर लेजा सकते हैं। हँसने का भी यही भाव है कि भगवान् फलदानार्थ कहीं भी चलें। विशेष कहने से क्या उन्होंने सर्व प्रकार से भगवान् को अपना लिया अब जिस प्रकार सब का अंगीकार हो, वैसे भगवान् करें, अर्थात् अंगनाओं के इच्छाधीन हो, लीला करें। गो पुच्छ धारण लीला पराधीन लीला का यही भाव वर्णन किया गया है ॥ २५ ॥

आभास—स्वतो गतिलीलामनेकविधामाह शृंगीति।

आभासार्थ—इस श्लोक में भगवान् की उन अनेक प्रकार की गति (पैरों से चलने की) लीलाओं का वर्णन करते हैं जो लीलाएँ भगवान् ने स्वच्छन्द होकर की हैं।

१—गिरे नहीं। २—खेंचते।

श्लोक——शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम् ।
गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ शेकात आपतुरलं मनसोनवस्थाम् ।। २६ ।।

श्लोकार्थ——जब सींग वाले, अग्नि, दाढों वाले, तलवार, जल, पक्षी और कांटों से करते हुए खेलों 'में' तन्मय[1], अति चञ्चल अपने पुत्रों को माताएँ रोक न सकीं और अपने घर के काम भी न कर सकीं, तब दोनों माताओं के मन की अनवस्था हो गई ।। २६ ।।

सुबोधिनी——गोपिकास्तु स्वत्वभावदोषरहिताः, अलौकिकभावेनापि वशीकृताः, विचाराभावाद रसेनापि तारुण्याद् कौतुकेनाप्यन्यार्थं च निरूपिताः शीघ्रमेव विस्मृतप्रपञ्चा भगवदासक्ता निरूपिताः, यशोदारोहिण्यौ तु तद्विपरीते इति तयोस्तदुभयसम्पादनार्थं षड्गुणैः स्वेन च सप्तधा लीलां कृतवान् ।। २६ ।।

व्याख्यार्थ—गोपिकाएं निर्दोष थीं, क्योंकि उनको भगवान् में संसार सम्बन्धी लौकिक भाव नहीं था । वे अलौकिक भाव से वशीकृत थीं । भगवान् भक्तों में सूक्ष्म रूप से विश्वास उत्पन्न करते हैं जिससे उन भक्तों के विघ्न दूर होते ही भगवान् स्वकीय इष्ट रूप का उनमें आविर्भाव करते हैं इसको इष्ट वा अलौकिक भाव कहा जाता है । घर त्याग से उनको कोई विचार (सांसारिक विचार) न रहा, इसलिये रस से भी वश हुई थीं, तारुण्य के कारण,कौतुक से भी वश हुई थीं । हंसती हुई गोपियाँ अन्य फल (काम की इच्छा) से भी वश हुई थीं । इस प्रकार वे त्रिविध गोपियाँ भगवदासक्त होने से शीघ्र ही प्रपञ्च को भूल गईं अर्थात् उनका तो निरोध हो गया, किन्तु माताओं का निरोध न हुआ, कारण कि माताओं में अब तक ये हमारे पुत्र हैं यह स्वत्व भाव (लौकिक भाव) था और उनकी गृह-कार्य में भी आसक्ति थी । अतः माताओं का निरोध करने के लिये (स्वत्त्वभाव एवं गृह कार्यासक्ति मिटाने के लिये) छः गुणों से एवं अपने स्वरूप से सात प्रकार की लीला करने लगे ।। २६ ।।

कारिका—इष्टस्य दुष्टसम्बन्धे शिष्टः पुष्टिं विमुञ्चति ।
नान्यथेति हरिः प्रीतः सत्यः क्रूरगतो भवेत् ।। १ ।।

कारिकार्थ——इष्ट का दुष्ट के साथ सम्बन्ध होता है, तब शिष्ट अपने पोषण को त्यागता है । यदि ऐसा नहीं हो (पोषणादि गृह-कार्य त्याग न हो) तो सत्य रूप हरि क्रूर के पास न जावे । किन्तु यहाँ शिष्ट ने अपना पोषण त्याग दिया हैं अतः

१—लीन ।

सत्य रूप हरि प्रसन्न होकर क्रूर के पास गए। क्योंकि भगवान् को शिष्ट का निरोध† करना था ।। १ ।।

व्याख्या—इस कारिका में आचार्यश्री ने यह समझाया है कि भगवान् ने यह कुमार लीला करते हुए दुष्ट (सींग वाले अग्नि आदि) का संग इसलिये किया है कि माताओं की जो अब तक गृह-कार्य में आसक्ति है और मुझ में लौकिक भाव है वे दोनों ही छूट कर मुझ में इनका निरोध हो। अतः जब भगवान् ने दुष्ट संग किया, तो माताएँ गृह-कार्य छोड़कर भगवान् के पास गई जिससे गृहासक्ति छूटने लगी और भगवान् के अलौकिकत्व का ज्ञान भी होने लगा। इष्ट का अर्थ है अपने को जो प्रिय हो, तो यहाँ माताओं को प्रिय भगवान् हैं अतः इष्ट से भगवान् समझना चाहिये। शिष्ट का अर्थ है इष्ट (भगवान्) के अतिरिक्त जो शेष हो, वे माताएं हैं अर्थात् शिष्ट से यहाँ माताएं समझनी चाहियें। इसलिये इष्ट (भगवान्) का दुष्टों (सींग वाले, अग्नि आदि) से सम्बन्ध होते ही शिष्ट (माताओं) ने पोषणादि (गृह-कार्य) छोड़ दिया है ।। १ ।।

कारिका—**शृङ्गिणो दंष्ट्रिणश्चैव पक्षिणश्च विघातकाः ।**
चेतनास्त्रिविधा एव ततोन्ये तु चतुर्विधा ।। २ ।।

कारिकार्थ—सींगवाले, दाढ़ों वाले और पक्षी–ये तीन प्रकार के चेतन प्राणी विघातक (मारने वाले) होते हैं, और चार प्रकार के अचेतन विघातक होते हैं ।। २ ।।

कारिका—**कृत्रिमाः सहजास्तेपि खड्गाग्निजलकण्टकाः ।। २½ ।।**

कारिकार्थ—वे अचेतन, खड्ग (तलवार) अग्नि, जल और कांटे भी कृत्रिम और सहज होने से दो प्रकार के हैं।

व्याख्या—२ व २½ कारिका में कहा गया है कि मारने वाले प्राणी चेतन और अचेतन दो प्रकार के हैं उनमें चेतन तीन प्रकार के हैं और अचेतन चार प्रकार के हैं। तीन प्रकार के चेतन सींग वाले, दाढ़ वाले और पक्षी हैं और चार प्रकार के अचेतनों में दो कृत्रिम[1] अग्नि और खड्ग और दो सहज[2] कांटे तथा जल हैं ।। २ २½ ।।

---

† लेखकार कहते हैं कि भगवान् भक्तों के निरोध करने के लिये अपने स्वरूप की मर्यादा भी छोड़ देते है। अतः दुष्टों से भी संग किया है।

१—बनावटी, जो बनाए जाते हैं। २—प्राकृतिक, कुदरती।

सुबोधिनी—शृङ्गिणो गावः अग्निर्धूमार्थं स्वेदार्थं वा कृतः, दंष्ट्रिणो मर्कटाः, असिः खड्गादिसाधनानि, जलं कूपगर्तादिस्थितं, कलशादिस्थितं वा पातनात्, द्विजाः पक्षिणः शुकादयः कण्टकानि छित्त्वा स्थापितानि परितो वेष्टनरूपाणि, तेभ्यो निवारणं वचनान्न भवति, आज्ञाकारित्वेपि चाञ्चल्यात्, वस्तुतस्त्वाज्ञां दातुमपि न प्रेरयति, उपद्रवज्ञाने निर्बन्धेन निवारणं, तत् तु कर्तुमयुक्तमित्याह क्रीडापराविति: क्रीडैव परोत्कृष्टा नियामिका ययोर्बालकयोः तर्हि क्रीडासाधनानि सम्यक्स्थले कृत्वा देयानीति चेत् तत्राहातिचलाविति, अत्यन्तं चलौ, तर्ह्यन्यः कश्चित् तदवेक्षकः स्थाप्य इति चेत् तत्राह स्वसुताविति, स्वेनैव सुताविति तदर्थं क्लेशसहनात् स्नेहाधिक्याच्च नान्यविनियोगं कुरुतः, क्रिययैव च निषेधः कर्तव्यस्ततस्तत आदाय सम्यक् स्थाने स्थापनीयौ, तथा प्रतिक्षणं क्रियमाणे गृहकार्ये तयोरपि भोजनस्नानादिनिमित्तकार्यं न सिध्येत् तदाह गृह्याणि कर्तुमपीति, गृहेवश्यकर्तव्यानि गृह्याणि, लौकिकनिष्ठता भगवन्निष्ठता च परस्परं विरुद्धा, आसक्तिस्तुल्या मध्यलीलैवेति, पञ्चमलीलां तु वक्ष्यति, तदर्थं सर्वपरित्यागं. उभयोस्तुल्यत्वख्यापनायापिशब्दः, यदा न शेकाते तदा मनसोनवस्था माप्तुर्वैयग्र्यं चिन्तां च प्राप्तवत्यौ, तयोर्जनन्याविति ताभ्यां सह क्रिया निषिध्यत इति ज्ञापितं, क्षणमपि मनसो नैकत्र स्थैर्यं तयोर्जातमित्यर्थः ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ—सींगवाले प्राणी गौएं, धूएँ के लिये अथवा पसीना[1] लाने के लिये जलाई हुई अग्नि[2], दाढ़ वाले प्राणी वानर, असि, (तलवार आदि प्राण हरण करने के साधन), कूप और खड्डे में पड़ा हुआ और कलश से गिराया हुआ जल, शुकादि पक्षी, काण्टों से बनाई हुई बाड़, इन सातों से रमण करने में रत भगवान् को रोकना, केवल वचन से नहीं होगा, आज्ञा दी जाय, तो भी वे रुकेंगे नहीं क्योंकि वे चञ्चल हैं। वास्तविक में तो मन आज्ञा देने की प्रेरणा ही नहीं करता है अथवा सर्व प्रेरक भगवान् मनको आज्ञा देने के लिये प्रेरित नहीं करते हैं। इसलिये आज्ञा देने में वे असमर्थ हुईं जिससे आज्ञा देने का विचार ही न हुआ। कारण कि भगवान् ने माताओं को गृह कार्य से विरक्त कराके अपने में आसक्त कराने के लिये ही ये लीलाएं की हैं।

जब इस प्रकार की उपद्रव वाली क्रीड़ाओं के करने का माताओं को ज्ञान हुआ तो माताओं को आग्रह वा प्रार्थना से उनको रोकने चाहिए था। इस प्रकार रोकना भी योग्य नहीं था, कारण कि क्रीड़ा में भगवान् आसक्त थे। जब खिलाड़ी खेल में लीन होते हैं तब उन पर क्रीड़ा का ही नियामकत्व रहता है। क्रीड़ा के अतिरिक्त दूसरों की प्रार्थना आदि सुनते ही नहीं। अतः माताओं ने प्रार्थना वा क्रीड़ा छोड़ने का आग्रह करना योग्य न समझा। अच्छा यदि उनको क्रीड़ा करना ही श्रेष्ठ कार्य जँचता है, तो अन्य प्रकार के क्रीड़ा के साधन एकत्रित कर, अच्छे स्थान पर लाकर उन्हें देने थे। यों करने से भी कार्य सिद्धि अशक्य थी क्योंकि वे अत्यन्त चंचल थे अर्थात् एक स्थान पर वे एक प्रकार का खेल खेलें वैसे नहीं हैं। भला, तो उनकी

१—दूध के बर्तनों की गन्ध निकालने के लिये अग्नि से तपाते हुए उन बर्तनों में पसीना आने से दूध की गन्ध निकल जाएगी।—'प्रकाश'

२—अग्नि के धूम (धूँए) से मच्छरों का उपद्रव टल जाएगा, गौएँ प्रसन्न रहेंगी और दूध गरम करने के लिए भी अग्नि की आवश्यकता होती है।—'लेख'

देख रेख के लिये कोई निरीक्षक[1] रखना था। इस पर कहते हैं कि 'स्व सुतौ' ये बालक अपने उत्पन्न किए हुए हैं। इनके सब प्रकार के क्लेश हमने सहन किए हैं, इनमें हमारा स्नेह विशेष है। इसलिये जैसा निरीक्षण हम करेंगी, वैसा दूसरा नहीं करेगा। इसलिये दूसरा निरीक्षक भी नहीं रक्खा जा सकता है।

भगवान् को इन उपद्रवकारी पदार्थों से होती हुई लीलाओं से रोकने के लिये, इस प्रकार की क्रिया करो, जैसा कि वहाँ से उनको स्वयं लाकर, अच्छे स्थान पर स्थापित करो वहाँ खेलते रहें। इस पर कहते हैं कि सदा यों करने से उनको घर के आवश्यक कर्तव्य, भोजन स्नानादि, भी सिद्ध न हो सकेंगे। क्योंकि लोक में निष्ठा[2] और भगवान् में निष्ठा[2] परस्पर विरुद्ध हैं। माताओं की दोनों में, लोक में एवं भगवान् में (घर के काम करने में और भगवान् की रक्षा करने में) समान आसक्ति थी कारण कि अब तक पूरा निरोध सिद्ध नहीं हुआ है। इसलिए इस लीला को मध्य लीला कहते हैं, पाँचवी लीला तो कहेंगे, उसके लिये सर्व परित्याग है। दोनों में समान निष्ठा के लिये श्लोक में अपि 'भी' शब्द दिया है। माताएँ बालकों की इस प्रकार की लीलाओं से, घर के काम पूरा नहीं कर सकती थीं, तब व्यग्रता को प्राप्त होती थीं और बालकों को साथ में भी नहीं रख सकती थीं। भगवान् स्वेच्छानुकूल, काल में सर्व कार्य करते हैं। इस प्रकार माताओं का मन एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता था ॥ २६ ॥

आभास—एवं मात्रोर्निरोधार्थं बहुविधां लीलामुक्त्वा स्वतन्त्रतया स्थितस्य भूमेर्मर्दनक्लेशनिवृत्त्यर्थं पद्भ्यां संवाहयन्ताविव गतिविलासं कृतवन्तावित्याह कालेनाल्पेनेति।

आभासार्थ—इस प्रकार माताओं के निरोध के लिए अनेक प्रकार की लीलाएँ कहकर, अब भूमि मर्दन क्लेश को मिटाने के लिए, स्वतन्त्र भगवान् ने जिस भांति चरणों से गति विलास कर, भूमि को चांपते हुए उसका क्लेश काटा, यह वर्णन करते हैं।

श्लोक—**कालेनाल्पेन राजर्षे राम कृष्णश्च गोव्रजे।**
अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा ॥ २७ ॥

१—देख रेख करने वाला।

२—श्रद्धा।

श्लोकार्थ—हे राजर्षे ! थोड़े ही समय में राम[1] और श्रीकृष्ण[1] गोकुल में, घुटना घिसे बिना, अनायास ही पैरों से फिरने लगे ।। २७ ।।

सुबोधिनी—-यदर्थं तत् कर्त्तव्यं तत् प्रयोजनमल्पमित्यल्पेनैव कालेन **गोव्रजे पद्भिर्विचक्रमतु**:, अञ्जसानायासेनैव नान्यावलम्बनापेक्षा, **कालो** गत्यात्मक इतिक्रीडायामिवात्रापि **करण**ता, **अल्पस्य** कालस्य कोमलत्वात्, कोमलचरणस्पर्शे भूमेः खेदो गच्छतीत्यल्पत्वमुक्तं **राजर्ष** इत्युभयधर्मवत्त्वेन सम्बोधनमग्रिमचरित्रश्रवणाधिकारबोधकं निरोधानुसन्धानार्थं च, **रामः कृष्णश्चे**तिनामग्रहणं रत्युत्पादनसामर्थ्यजननायान्तःस्थितरूपेण बहिः परमानन्द विषय रूपेण च भूपेः सुखदानार्थं, स्वतन्त्रतयोभयोस्तथात्वाय भिन्नतया निरूपणं, चकारस्तूभयसमुच्चयार्थः, विषयस्यान्तर्नयने मनसो बहिरानयने च विनियोगात्, **गवां व्रज** इति खुराघातक्लेशः स्पष्टतया तत्र निरूपितः, जान्वाघर्षणेनैव दैत्य वधेग्रिमकार्यं व्यर्थं स्यादिति **पद्भिरि**ति, अनेकधा पादस्थापनैर्विशेषेण **चक्रमतु**, "छन्दसि लुङ्लङ्लिट" इतिस्मृतेः, भगवत्क्रियाया नातीतत्वं सर्वथा ज्ञातव्यम् ।। २७ ।।

व्याख्यार्थ—जिस प्रयोजनार्थ यह लीला करनी है, वह प्रयोजन अल्प ही है । अतः अल्प[1] ही समय में गोकुल में अन्य की अपेक्षा[2] बिना, अनायास ही पैरों से फिरने लगे । जैसे काल, क्रीड़ा में करण[3] था, वैसे ही यहाँ चलने में भी करण है । क्योंकि काल गति रूप है । अल्पकाल कोमल होता है । अतः चरण कोमल थे । कोमल चरणों के स्पर्श से भूमि का खेद मिटेगा । शुकदेवजी ने परीक्षित को राजर्षे कहा है । जिसका आशय आचार्य श्री कहते हैं कि परीक्षित, आगे आने वाले चरित्रों के श्रवण का अधिकारी है और निरोधलीला के अनुसन्धान का भी अधिकारी है । शुकदेवजी ने श्लोक में भगवान् एक वचन वाला नाम न देकर राम और कृष्ण पृथक्-पृथक् नाम दिए हैं । उसका आशय (भाव) यह है कि शुकदेवजी ने 'राम' नाम से यह बताया है कि जब भगवान् का, योगीजन ध्यान करते हैं, तब भगवान् उनके बाहिर के लौकिक विषय का त्याग कराके, भीतर, अलौकिक रमण कराते हुए उनको आनन्द देते हैं, और भीतर के मन को बाहर लाते हैं, इसलिए भगवान् को 'राम' कहते हैं । इस आशय को बताने के लिए 'राम' नाम पृथक् दिया है । क्योंकि उस स्वरूप से यहाँ यह लीला भी हुई है । जैसा कि अन्तः स्थित रूप से रति के उत्पादन की सामर्थ्य एवं मन आदि को बाहर निकाल कर, परमानन्द रूप आनन्ददान-सामर्थ्य भी प्रकट की है । ये दोनों ही लीलाएं भूमि के सुखदानार्थ की हैं । स्वतन्त्रता से भगवान् दोनों स्वरूपों से, यों लीला करते हैं । इसलिए पृथक्-पृथक् नाम दिए हैं श्लोक में (च) देकर यह भी बताया है कि दोनों ही एक हैं । विषयों को भीतर ले जाने में और मन को

१— लेखकार कहते हैं कि मूल में राम और कृष्ण पृथक् २ नाम दिए हैं इसलिये भगवान् से दोनों ही स्वरूप समझने ।

१— थोड़े । २—परवाह या आसरा । ३—साधन ।

बाहर‡ लाने में दोनों का विनियोग होता है।

दैत्यों द्वारा भूमि को क्लेश होता था, उसको मिटाने के लिए पहले भगवान् ने घुटनों से चल के दैत्यों के नाश की लीला की। किंतु अब जो दैत्य-नाश शेष है, उनका नाश करने के लिए आप पादों से चलकर शेष कार्य सम्पूर्ण कर भूमि के मर्दन-क्लेश को मिटाते हैं। यहाँ घुटनों से न चलने का कारण बताया गया है कि यह लीला गोकुल में करनी है। पहले घुटनों से चलने की लीला भी गोकुल में की है। किन्तु गोकुल में भूमि पर गौओं के खुरों के पड़ने के कारण उसके समतल न होने से घुटनों में कष्ट होने से भगवान् अब पैरों से चलकर, यह कार्य पूर्ण करते हैं, भगवान् अनेक प्रकार से पाद विन्यास[1] करते फिरते थे। यहाँ मूल में 'विचक्रमतुः' क्रिया भूतकाल की दी है। आचार्य श्री कहते हैं कि भगवान् की लीला नित्य होने से, उसका समाप्त हो जाना कभी भी नहीं समझना चाहिये। काव्यों में किसी भी काल की क्रिया हो, तो भी उसका अर्थ, किसी भी काल में लिया जाता है, अर्थात् काव्यों में काल का प्रतिबन्ध नहीं है। यहां तो नित्य स्वरूप भगवान् की नित्य लीला में काल का कोई प्रतिबन्ध हो ही नहीं सकता है ॥ २७ ॥

आभास—एवं राजसो 'लीलां' कृत्वा 'लीलान्तरं' कृतवानित्याह ततस्त्विवतित्रिभिः।

आभासार्थ—इस प्रकार राजसी लीला§ का वर्णन कर अन्य लीलाओं का वर्णन तीन श्लोकों से करते हैं।

श्लोक—**ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः।**
सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीड़े जनयन् मुदम् ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ—इसके अनन्तर तो राम सहित भगवान् कृष्ण, व्रज स्त्रियों को आनन्दित करते हुए वयस्य[2] व्रज बालकों के साथ क्रीड़ा करने लगे ॥ २८ ॥

---

‡ बाहर शब्द का तात्पर्य योजनाकार बताते हैं कि श्रीकृष्ण स्वरूप परमानन्द रूप होने से अपने सौन्दर्य से दर्शकों के मनको बाहर लाते हैं अर्थात् अपने स्वरूप में लीन कर देते हैं।

§ प्रकाशकार, राजसी लीला 'पाद विन्यास' लीला को कहते हैं।

१—पैरों को धरते थे।

२—समान उमर वाले।

सुबोधिनी—राजसतामसी तामसराजसीं च स्वतो वक्तुमनुचितां मत्वान्यमुखेन निरूपयितुं मध्ये वाक्यान्तरं ततश्चतुर्भिर्निरूपितं भवति, एवं भूमिक्लेशनिवृत्त्यनन्तर-मक्लिष्टभूमौ स्वांशैर्बालकैः सह महाराजलीलां कृतवानित्याह **ततस्त्विति**, तु शब्दः पूर्वलीलाव्यावृत्त्यर्थः, नातः परं परतन्त्रलीला, स्वातन्त्र्ये सामर्थ्यार्थमाह **भगवानिति**, आवेशिनः स्वातन्त्र्ये दौर्बल्यात् **कृष्ण** एवोक्तो **रामस्तु** सहभावेन, एकेन कालेन भगवत्सेवकेन ते गृहीता इति तैः सह क्रीडेति ज्ञापयितुं **वयस्यैरि**त्युक्तं, समानं वयो येषां ते वयस्या, देशोऽप्येक इत्याह **व्रजबालकैरि**ति, क्रीडायां **बाला** मुख्याः, रामस्तु स्वान्तर्निविशतीति **सहराम** इत्युक्तं, अत्र लीलायां साक्षान्निरोधो व्रजस्त्रीणामेव, तासामेव तथात्वात्, ज्ञानद्वारा यशोदायास्तत्र सर्वथागृहीतपरित्या-जनार्थं लीलां कुर्वन्नादौ लौकिकप्रकारेण तासामनुरागं जनितवानित्याह **व्रजस्त्रीणां मुदं जनयन्निति**, व्रजसम्बं-धान्निरोध आवश्यकः, ययैव क्रीडया यथा कृतया तासां सन्तोषो भवति, न तु स्वसामर्थ्येन, अन्यथा प्रयोजनत्वेन करणे तन्निर्देशो न स्यात्, निरोधजनकत्वं स्वस्यैवेति स्वधर्मत्वेन निर्दिष्टं, कार्यसाधनत्वेन **बालकानामुपयोगो** रामस्य रक्षकत्वेन, स्वतः सन्तोषजननं, राजलीलायां च स्वयं राजा मन्त्री रामः सेवका बालका इति यावत्यो गोप्यो यादृग्भावापन्नास्तत्तदनुगुणां लीलामनन्तामेव भगवान् कृतवानित्यर्थः ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ—शुकदेवजी ने राजस-तामसी और तामस-तामसी लीलाओं को अपने मुख से कहना उचित न समझ कर दूसरों (गोपियों) के मुख से कहलाने के लिए मध्य में वाक्यान्तर (दूसरे प्रकार का विशेष वाक्य) श्लोक २८ में कहा है। × इसलिए चार श्लोकों से ये लीलाएँ निरूपित समझनी चाहियें।

इस प्रकार भूमि के दुःख के निवारणानन्तर[1] सुखदायक समतल भूमि पर, अपने अंश रूप बालकों के साथ महाराज ने लीला की। इसका वर्णन 'ततस्तु' इस श्लोक में करते हैं। श्लोक में 'तु' (तो) शब्द देकर यह बताया है कि पूर्व लीला हो गई अब दूसरी लीला प्रारम्भ होती है। अब जो लीलाएं कृष्ण करेंगे, वे स्वतन्त्रता से ही करेंगे। इसलिये श्लोक में कृष्ण का विशेषण 'भगवान्' देकर स्वतन्त्रता से लीला करने की सामर्थ्य बताई है। बलराम में स्वतन्त्र सामर्थ्य दुर्बल[2] है। अतः श्लोक में राम के लिये विशेषण 'भगवान्' शब्द नहीं दिया। राम में कृष्ण का आवेश है। इसलिये सहभाव दिखाने के लिये 'सहरामः'[3] कहा। काल, भगवान् का सेवक है इसलिये भगवान् के साथ क्रीड़ा करने वाले बालकों को काल ने समवयस्क बताया है अतः 'वयस्यैः' समान वय वालों से शब्द दिया है। जैसे आयु समान थी वैसे देश भी एक है। इसको बताने के लिये केवल 'बालकैः' न कहकर शुकदेवजी ने श्लोक में 'व्रज बालकैः'[4] कहा है। इन भगवान् कृष्ण की क्रीड़ाओं में वयस्य व्रज बालक मुख्य

× रूप प्रकरण, दश श्लोकों का आचार्यश्री ने कहा है। इसलिये निर्भयराम भट्टजी ने 'कृष्णस्य गोप्यो' २८ अ' श्लोक की गणना दश श्लोकों में नहीं की है। यह श्लोक आगे कही जाने वाली लीलाओं का केवल प्रसिद्धि बोधक है।

१—मिटाने के बाद। २—कम। ३—राम के साथ। ४—व्रज के बालकों से।

हैं। बलरामजी की गणना तो भगवान् के साथ हो जाती है, इसलिये 'सहरामः' कहा है। इस लीला करने का मुख्य तात्पर्य[1] व्रज स्त्रियों का साक्षात निरोध करना है। (वे गोपिकाएँ निरोध योग्य हैं। यशोदा सर्वथा प्रपञ्च में मग्न है। उसका प्रपञ्च छुडाकर निरोध करना है।) वह ज्ञान द्वारा होगा। इसलिये उस प्रकार की लीला करनी होगी। अब पहले गोपियों का अपने में लौकिक प्रकार से अनुराग उत्पन्न कराया। इसको 'व्रज स्त्रियों में आनन्द उत्पन्न करते हुए ऐसा कहा कि ये स्त्रियाँ (गोपिकाएं) व्रज की हैं। अतः व्रज के सम्बन्ध से इनका निरोध करना आवश्यक है। जिस भी क्रीड़ा से, वा जिस प्रकार से की हुई क्रीड़ा से उनका सन्तोष[2] होवे उस प्रकार से ही लीलाएं कर इनका निरोध करना है। इसलिये भगवान् ने इसी प्रकार की लीलाएं की हैं न कि अपने-अपने सामर्थ्य से इनका निरोध किया है। यदि इस प्रकार की लीलाएं, अन्य प्रयोजन के लिये, भगवान् करते, तो शुकदेवजी, व्रज-स्त्रियों को आनन्द देने के लिये भगवान् खेलने लगे, इस प्रकार के शब्द नहीं कहते। निरोध करने वाला धर्म भगवान् का ही है, इसलिये श्री शुकदेवजी ने श्लोक में 'मुदं जनयत्' 'आनन्द उत्पन्न करता हुआ' यह भगवान् का विशेषण दिया है। अतः निरोध करने में प्रधानत्व भगवान् का ही है न कि गोपीजनों का है। इस निरोध रूप कार्य में साधन के रूप में बालकों का उपयोग हुआ है और बलरामजी से रक्षक का काम लिया गया है, स्वयं भगवान् भक्तों में सन्तोष[2] उत्पन्न करते हैं। राजलीला में भगवान् ने राजा का, राम ने मन्त्री का और बालकों ने सेवक के स्वांग किये थे। जितनी गोपियाँ थीं और जिस-जिस भाव वाली थीं उनके अनुरूप[3] उस-उस प्रकार के भावों को पूर्ण करने के लिये भगवान् ने अनेक प्रकार से अनेक लीलाएं की हैं ॥ २८ ॥

आभास—यास्तु सर्वथा प्राकृतस्वभावा लौकिकवाक्यपरिनिष्ठिता वा तासां प्रपञ्चविस्मरणं साधारणसात्त्विकलीलया न भवतीति यत्रैव ता आसक्तास्तदेव कार्यं नाशयंस्तन्निरोधं कृतवान्, तच्चेत् सह्यं स्यात् सर्वथा निरोधो न सिध्येदिति तत्कार्यमसह्यमानमिति ज्ञापयंस्तथाविधा गोप्य उपालम्भं कृतवत्य इत्याह कृष्णस्येति।

आभासार्थ—किन्तु जो गोपियाँ सर्व प्रकार से प्राकृत स्वभाव† वाली थीं और लौकिक वाक्यों में (सास आदि के वाक्यों में पति-सेवा और बाल-पालन में) श्रद्धावाली थीं, उन गोपियों की प्रपञ्च विस्मृति, साधारण सात्त्विक लीला से न होगी, अतः भगवान् ने उन गोपियों के दूध, दही, मक्खन आदि जिन पदार्थों के सम्हालने के कार्य में उनकी आसक्ति थी उन कार्यों को नाश

---

† लेखकार प्राकृत स्वभाव का भाव बताते हैं कि जिन गोपियों का स्वभाव भगवान् के कार्य के अनुकूल नहीं था वे प्राकृत गोपियाँ हैं।

१—आशय। २—प्रसन्नता। ३—अनुसार।

कर, उनका निरोध किया। वे गोपियाँ अपने कार्यनाश को, यदि सह सकतीं, तो सर्व प्रकार से उनकी निरोध सिद्धि नहीं होती। किन्तु वह कार्य-नाश उनको असह्य था, इसको जताने के लिये उस प्रकार (लौकिक आसक्ति और प्राकृतत्व का नाश कार्य) की गोपियाँ श्रीकृष्ण को उपालम्भ[1] देने लगीं। यह वर्णन इस श्लोक में है।

श्लोक—**कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमारचापलम्।**
श्रृण्वन्त्याः किल तन्मातुरिति रोचुः समागताः ॥ २८-अ ॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के कुमार अवस्था की चञ्चलता को देख कर, मिलकर आई हुई गोपियाँ उनकी माताओं को सुना सुना कर स्पष्ट रीति से कहने लगी।

सुबोधिनी—स्वतन्त्रकर्तृत्वं भगवत एवेति न बाला नापि राम उक्तः किन्तु **कृष्ण** एवोक्तः, **रुचिरं** मनोहरं भवत्येव, निरोधस्तु सिद्धः, तथापि न स्वतोस्माकं तथा-मन इति स्वदोषपरिहारार्थं यशोदायै निवेदयन्ति, ननु सर्वतःपूर्णा भगवत्कृपया प्राप्तसम्पदः कथमेवमुपालम्भं कृतवत्य इत्याह **गोप्य** इति, गोपभार्यात्वादेवं, न भगवति दोषदृष्ट्या, तथावचने निरोधो न सिध्येदित्याशङ्क्याह **कौमारचापल**मिति, **कौमार**वयस एव **चापलं** चपलता, वयस एवायं दोषो न तु भगवत इति तासां बुद्धिः, सम्यगागता लोकन्यायेन **समागता** न तूपालम्भनार्थमेव, **तन्मातु**र्यशोदायाः **श्रृण्वन्त्याः** सत्याः **प्रोचुः**, एतादृशं वचनमयुक्तमपि सर्वलोकप्रसिद्धत्वादुच्यत इति स्वस्य दोषाभावख्यापनायाह **किले**ति ॥ २८-अ ॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में बालकों का अथवा राम का नाम न कहकर केवल श्रीकृष्ण का नाम गोपियों ने इसलिये लिया है कि वास्तविक स्वतन्त्रकर्ता श्रीकृष्ण ही हैं, वे तो सहायक मात्र हैं। भगवान् की यह कुमार लीला की चपलता बहुत सुन्दर है। इससे निरोध सिद्ध तो हुआ किन्तु हमारा मन इस प्रकार (कार्य नाश कराके) निरोध सिद्ध कराने का नहीं था। अपने दोष को छिपाने के लिये यशोदाजी को यों कहने लगीं। आचार्यश्री श्लोक में दिये हुए 'गोप्यः' शब्द का भाव बताते हैं कि भगवान् की कृपा से सर्व प्रकार की सर्व सम्पदाएँ प्राप्त होने पर भी यशोदाजी को भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रकार की लीला का उपालम्भ देती हुई कृष्ण की निन्दा करने लगीं; क्योंकि गोपों की स्त्रियाँ थीं। गोपियों ने भगवान् की यह निन्दा दोष दृष्टि से नहीं की थी, यदि दोष-दृष्टि से की होती तो निरोध सिद्ध ही न होता। दोष दृष्टि से नहीं को तो किसलिये की ? इस पर कहते हैं कि गोपियों ने माता को कृष्ण का दोष नहीं है, यह बताने के लिये ही कहा है कि यह दोष, इस कुमार अवस्था का हैं। ऐसी बुद्धि, गोपियों की थीं 'समागताः' पद का भी यही

१—उलाहना

भाव है कि उपालम्भ देने के लिये नहीं आई थीं, किन्तु लोक न्याय से सभी मिलकर यशोदाजी के पास आई थीं। माता के सुनते हुए ये भी आ गई तो इस प्रकार के वचन अयोग्य थे, तो भी लोक में प्रसिद्ध होने से कहे गए हैं। शुकदेवजी ने इस कारण ही 'किल' शब्द कहा है कि अपने में (गोपियों में) दोषों का अभाव है यह सबों को ज्ञात हो जाय ॥ २८-अ ॥

॥ श्रीगोप्य ऊचुः ॥

श्लोक—वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसञ्जातहासः
स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधि पयः कल्पितैस्तेययोगैः।
मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नात्ति भाण्डं भिनत्ति
द्रव्यालाभे सगृहकुपितो यात्यनुक्रोश्य तोकान् ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ—किसी भी समय जब गायें दोहने का समय नहीं होता है, तब भी यह (कन्हैया) बछड़ों को छोड़ देता है। जो हम क्रोधयुक्त होकर कुछ कहती हैं तो हँसने लगता है। चोरी के उपायों से चुराया हुआ स्वादिष्ट दूध-दधि खाता है, खाते हुए वानरों को बाँट देता है। यदि किसी समय कोई भी वस्तु न मिले तो घर वालों पर क्रोध कर, छोटे बच्चों को रुला के भाग जाता है।

सुबोधिनी—भगवतो निरोधलीलां तत्तद्दोषदूरीकरणार्थं कृतां तदभिनिवेशेन तावत् कृतस्वदोषरहिता भगवद्गुणान् गणयन्ति षड्विधाञ्ज जीवस्य दोषरूपान् भगवतो गुणान्, ईश्वरो हि हीनं कर्म न करोति, वत्समोचन "मनीश्वरं कर्मे" ति केचित् सर्वमोक्षदाता भगवानक्षयनिधिकर्ता यावद्दिनं क्षुधितान् वत्सान् मातृसमागमेपि दुःखिता मा भवन्त्विति मर्यादासमयोल्लङ्घनं कृत्वा वत्सान् मुञ्चति, क्वचिदिति, यत्र वत्सविमोक आतुरः पूर्वबन्धनमशक्यं, आक्रोशे कृते भगवानमानी मानदस्तासां दुर्बुद्धिं ज्ञात्वा सञ्जातहासो भवति, मायोत्तरोत्तरं मोहिका प्रवृद्धा भवति, एवं बहिःस्थितानामान्तरं दुखं क्षुत्कृतं मोहकृतं च नाशयति, मोहोपि सम्यङ् मोहो जायते भगवद्विषयको येनकेनाप्युपायेन सर्वोपि मनोव्यापारो भगवद्विषयक इतिलक्षणः, एवमुभयविधान् कृतार्थीकृत्य स्वकीयेषु स्वयं भोक्तव्यमिति स्वान्तःस्थितबालकानन्नादिना संवर्धयितु वीर्यविरुद्धमिव चौर्येण भुङ्क्त इत्याहुः स्तेयमिति, यस्तु हरति स चोरः, हरिर्हि भगवान् स्मरणेनैव सर्वं हरति, स्तेयेन प्राप्तं स्तेयं पक्वान्नाद्योदनव्यञ्जनात्मकं सूपादि पायसान्तं, तत्रापि यत् स्वादु भवति रस्यं, गोपिकागृहे स्वयमुपविश्य बालकानुपवेश्य तामन्यत्रैव प्रेषयित्वा यद्यत् स्वादिष्ठं खण्डलड्डुकादिकं च भुंक्ते, अथ तृप्त्यनन्तरमन्नसमाप्त्यनन्तरं वा, दधि पयः प्रथमं दधि पश्चात् पयः, पयःपानान्तं शनैर्भोजनं करोतीत्यर्थः, चौर्ये भगवता उपाया बहव एव कल्पिताः, दूरे शिक्ये स्थालीं पूर्णजलां स्थापयित्वाधश्च्छेते तदापि नालेन जलं पीत्वा स्थालीमुत्तार्य वंशद्वारा समारुह्य नयति, एवमनेकप्रकारा अपरिज्ञाने, परिज्ञानेपि नवनीतभाण्डे भाण्डमग्रे स्थापयित्वा सावधानस्थितायामपि दुग्धादिना पूर्णमुखस्तदक्ष्णोः फूत्कारं कृत्वाक्षिनिमीलने नयति क्षणादहृष्टश्च भवति, न सोस्त्युपायो येन भगवतः सकाशाद् रक्षितुं शक्यते, इतोपि भगवतोवाङ्मनोगोचरा उपायास्ते सर्वे भगवतैव

कल्पिताः न तु चोरशास्त्रे सिद्धाः, "बालकैः सह भुङ्क्त" इत्येके, वस्तुतस्त्वन्तःस्थितबालकप्रीत्यर्थमेव तथा करोति, स्वयं भोक्ष्यन् बालकेषु तृप्तेषु मर्कान् विभजति, मर्का मर्कटाः, मर्केभ्यो विभजतीत्यर्थः, ते हि पूर्वं रामावतार-भक्तास्तेष्वपि तृप्तेषु स्वयमध्यात्मा स्वीकृतभावो भुंक्ते, जगदात्मा सोपि चेन्नात्ति योत्ता "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स" इतिश्रुतेः, स प्रसिद्धः, तदेकं भगवद्रूपं भोक्तृ, स त्वत्यन्तमेव शुद्धांन् भुंक्ते, यत् पुनर्मोक्षसम्बन्धि न भवति दैत्याविष्टत्वात् स चेन्नात्ति न भक्षयति तदा भाण्डं भिनत्ति दैत्यानां सम्बन्ध्यन्यैर्न भक्षणीयमिति, द्रव्याणामभावे त्वलाभे वान्यत्र स्थापिते सगृहकुपितो भवति, सगृहे गृहसहिते गृहस्थे कुपितो भवति, अयुक्तकरणात्, गृहो हि धर्मार्थमेव भवति, धर्माभावे गृहवैयर्थ्यात्, धर्मश्च द्रव्यैर्भवति, द्रव्यसाधकाश्च पुरुषाः, ईश्वरस्य कोपभयाद दिनान्तरे समृद्धि करोत्येव, अथवा गृहस्थं बहिर्मारयेत् ताडयेद् वा, एवमलौकिकः क्रोधः, लौकिकमाह यात्यनु-क्रोश्य तोकानिति, तोकान् बालकान् स्तनन्धयान्, त्वद-पेक्षयाप्यन्तःस्थिता बालकास्तेषु क्षुधितेषु तदीयेन भवता स्थातुमयुक्तं भवतीत्यनुक्रोश्य रोदनं वा कारयित्वा मयि विमुखे रुद्रः प्रवेक्ष्यतीति ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ—जो दोष गोपियों में थे उनको दूर करने के लिये भगवान् ने जो निरोध लीला की उस निरोध लीला में चित्त की सम्पूर्ण आसक्ति होने से, अपने किए हुए दोषों* का मिट जाना गोपियाँ जान गई थीं, अतः भगवान् की कार्य लीलाओं को गुण रूप समझती (गिनती) हैं। ये दोष भगवान् के हास्य में, चित्त के प्रवण[1] से मिट गए और गोपियों को भगवान् के स्वरूप का ज्ञान हो गया। अतः भगवान् के षड् गुणों$ का वर्णन करती हैं। भगवान् के लिये तो ये छः कार्य गुण रूप हैं; किन्तु जीवों के लिये छः कार्य दोष रूप हैं। क्योंकि भगवान् हीन कर्म (दोष रूप कर्म) नहीं करते हैं। कितनेक कहते हैं कि बछड़ों को छोड़ देना ईश्वरीय कर्म‡ नहीं है। भगवान् सर्व प्रकार के दुःखों से जीवों को छुड़ाने वाले हैं और अक्षयनिधि[2] देने वाले हैं। अतः सारे दिनके भूखे बछड़ों को देख माता के मिलने पर भी दुःखी (भूखे) न रहें, यह विचार कर उनको ऐसे स्थान पर छोड़ दिया, जहाँ से भरपूर पेट भरने से पहले कोई बाँध के न ला सके। भगवान् ने जब इस प्रकार से (विचार कर) असमय में बछड़ों को कहीं भी छोड़ दिया, तब गोपियाँ

---

* **प्रकाशकार**—वस्तुओं के लोभ को दोष कहते हैं।

लेखकार—भगवान् नहीं है ऐसी बुद्धि को दोष कहते हैं।

$ **लेखकार**—वे षड्गुण ये बताते हैं—(१) बछड़ों को छोड़ देना, (२) चुराई हुई वस्तु का भोजन, (३) खाद्य पदार्थ वानरों को बांटना, (४) बर्तनों को तोड़ना, (५) क्रोधित होना, (६) छोटे बच्चों को रुलाना।

‡ गो० श्रीवल्लभजी लेख में इसको समझाने के लिये कहते हैं कि ईश्वर के विरुद्ध धर्माश्रयी होने से लीलार्थ वे सर्व प्रकार के (हीन, मध्यम, उत्तम) कार्य करते हैं तो भी ईश्वर की ईश्वरता नष्ट नहीं होती है, वे तो सर्व अवस्था में ईश्वर ही हैं।

१—पिरो देने से।

२—अखूट सम्पदा।

अप्रसन्न होकर भगवान् पर क्रोधित हो उपालम्भ देने लगीं। स्वयं निरभिमान और अन्यों को मान देने वाले भगवान् गोपियों की दुर्बुद्धि (यह ईश्वर नहीं है ऐसी बुद्धि) देख, उसका नाश करने के लिये मुस्कान से उनको मोहित (अपने में आसक्त) तथा अपने स्वरूप का ज्ञान कराने लगे। भगवान् का हास्य मोहित करने वाली माया है। वह उत्तरोत्तर बढ़ती गई, जिससे भगवान् बाहर (घर से बाहर वा गौओं के गोष्ठ में) खड़े हुओं (वत्स और गोपीजनों) का दुःख (बछड़ों का क्षुधा से, उत्पन्न दुःख और गोपीजनों का अज्ञान रूप मोह से उद्भूत दुःख) नाश करते हैं। भगवान् के हास्य से विशुद्ध मोह पैदा होता है जो मोह भगवत्सम्बन्धी होने से जिस किसी भी उपाय से मनका सारा व्यापार भगवत्स्वरूप वा भगवल्लीला परक हो जाता है। इसी भाँति दोनों तरह के भक्तों को कृतार्थ करके, अपने भक्तों को, अपने को ही भोजन कराना चाहिये। इससे अपने भीतर स्थित (जो पूतना के प्राणों को खींचते हुए अपने में स्थित किए थे) बालकों को अन्नादि से पोषण करने के लिये मानों वीर्य के विरुद्ध हो–वैसे भगवान् चोरी से भोजन करते हैं। इसलिये श्लोक में 'स्तेयं' शब्द कहा है। जो हरण करता है। वह चोर है। निश्चय से कहा जाता है कि स्मरण करने से ही भगवान् सब कुछ हरण कर लेते हैं इसलिये 'हरि' (चोर) हैं। चोरी से प्राप्त वस्तु को 'स्तेय,' चुराई हुई कहते हैं। पकाया हुआ अन्नादि, ओदन, व्यञ्जन[1] आदि खीर की सामग्री तक सर्व पदार्थ उनसे भी जो रसीले और स्वादिष्ट थे, वे स्वयं गोपियों के घर में बैठकर और बालकों को भी बिठाकर गोपीजन को दूसरे स्थान पर भेज के जो जो स्वादिष्ट लड्डू और मोदक आदि थे वे खाने लगे। तृप्त होने पर वा भोज्य पदार्थों की समाप्ति होने पर, दधि उसके अनन्तर दूध आदि पान शनैः शनैः करने लगे। भगवान् ने चोरी करने के बहुत उपाय काम में लाए थे। यदि कोई गोपी, भगवान् ले न जाय, इसलिये ऊँचे छींके पर जल से भरी थाली रख अन्य सामान भी धरके उसके नीचे आप सो जातो तो भगवान् उसकी चतुराई को व्यर्थ करने के लिये नवीन उपाय निकालते थे। जैसे कि नाल (नली) से, जल-पान कर, वंश (बांस) से चढ़कर, छींके से थाली को नीचे उतार कर उसको ले जाते हैं। इस प्रकार चोरी के अनेक नये नये उपाय आप निकालते थे। कुछ तो गोपियों के परोक्ष[2] में और कुछ प्रत्यक्ष[3] में करते थे। जब प्रत्यक्ष (वहाँ) होती, तो ये चतुर चौर शिरोमणि जब देखते कि यह गोपी बड़ी सावधानी से नवनीत[4] के भाण्ड[5] एक साथ रखकर स्वयं उनके आगे खड़ी है तो आप अपने मुख में दूध भरकर धीरे-धीरे उस गोपी के पास आकर फूत्कार करते हुए उसकी आँखों में वह दूध डाल देते। जिससे उसकी आँखे बन्द हो जातीं और आप झट मक्खन के भाण्डों को लेकर ऐसे भाग जाते जैसे आंखें खोलने पर गोपी देख न सके। गोपियों के पास कोई ऐसा उपाय न बचा, जिससे वे अपने पदार्थों को भगवान् से छिपा कर सुरक्षित रख सकें।

१—शाक, भाजी इत्यादि सलोने (नमकीन) पदार्थ। २—पीठ पीछे, गैर हाजरी में।
३—सामने, उनके वहाँ होते हुए। ४—मक्खन। ५—बर्तन।

इससे भी विशेष उपाय जो वाणी और मन से भी कोई नहीं समझ सके, वैसे उपाय भगवान् ने इस लीला में किए हैं, वे उपाय भगवान् के ही निकाले हुए थे। चौर्य-शास्त्र में भी वे उपाय नहीं कहे गए हैं। कोई कहते हैं कि बालकों के साथ भगवान् भी आरोगते हैं। वास्तविक रूप में तो अन्त:स्थित बालकों के प्रीत्यर्थ वैसे करते हैं। देखने में तो आप भोजन कर रहे हैं; किन्तु भगवान् को उस भोजन से अन्त:स्थित बालक तृप्त करते थे, जब बालक उस भोजन से तृप्त हो जाते थे, तब बंदरों को बांटते हैं। क्योंकि वे पूर्वकाल में रामावतार के भक्त थे, उनकी तृप्ति के पश्चात् अध्यात्म भाव (सबकी आत्मा मैं हूँ, ऐसा भाव) स्वीकृत करने के कारण, आप भोजन करते हैं। यदि जगत् की आत्मा वह भी भोजन करे तो इस श्रुति (जिसके ब्रह्म और क्षत्र दोनों ही ओदन[1] हैं। मृत्यु जिसका व्यञ्जन है वह कौन है और कहां है? इसको कौन पहचान सके ?) अनुसार वह (स्वरूप) प्रसिद्ध है। उस (अध्यास) स्वरूप से ही आप अत्यन्त शुद्ध (आसुरावेश रहित भोज्य) भोजन आरोगते हैं। श्लोक में दिये हुए 'भाण्डं भिनत्ति' बर्तनों को तोड़ते हैं इस पद का भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं कि जब भगवान् देखते हैं कि अब शेष पदार्थ भोजन योग्य नहीं है; क्योंकि इस भोजन में आसुरावेश है तब भोजन न स्वयं करते हैं न अन्यों को कराते हैं और बर्तनों को तोड़ देते हैं। इससे यह भी शिक्षा देते हैं कि आसुर भोज्य को कोई भी न खावे। भगवान् को तो भक्तों का किसी भी प्रकार से 'निरोध' होए तदर्थ विविध प्रकार की लीलाएं करनी थीं। इसलिये जब आप देखते थे कि कोई पदार्थ नहीं मिलता है, नित्य निश्चित् स्थान पर न रखकर, अन्य स्थान पर छिपा के रख दिये हैं तब घर वालों पर क्रुद्ध होते हैं क्योंकि उन्होंने (घरवालों ने) यह कार्य (भोजन का अभाव व छिपा के रखना) अयोग्य किया है। अयोग्य कैसे किया है इसको आचार्यश्री समझाते हैं कि गृहस्थ का गृह, धर्म करने के लिये है। गृह-में सदैव भोज्य रखा हो, कोई भी बिना भोजन किए भूखा न जाय। यदि गृहस्थ यों नहीं करता है तो वह घर व्यर्थ है (रहने योग्य नहीं है)। धर्म-कार्य, द्रव्य-साध्य (द्रव्य से सिद्ध) होता है द्रव्य लाने वाले पुरुष होते हैं। भगवान् ने कोप लीला इसलिए की कि भगवान् के कोप से डरकर दूसरे दिन पदार्थ लाकर घर में रखेंगे अथवा गृहस्थ को इस अयोग्यता के कारण बाहर मारे व ताड़ना कर दे, इस प्रकार अलौकिक प्रकार बताते हैं। भगवान् क्रोध करके छोटे-छोटे बच्चों को रुला के जाते हैं। छोटे बालक वे हैं जो अभी माता के दूध का ही भोजन करते हैं। उनसे भी छोटे वे थे जो भगवान् में स्थित थे जहाँ उनकी भूख नहीं मिटती है वैसे स्थान पर ठहरना भगवान् ने योग्य न समझा। इसलिये क्रुद्ध होकर बच्चों को रुदन कराया था। मेरे जाने पर रुद्र प्रवेश करेगा यों कह कर चले गए ॥ २९ ॥

१—भोजन।

आभास—एवं भगवतः षड् गुणा निरूपिताः, चौर्ये क्रियाप्रकारमुक्त्वा ज्ञान प्रकारमाह हस्ताग्राह्य इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के छः गुणों* का तथा चौर्य लीला की क्रिया के प्रकार का उपरोक्त श्लोक में वर्णन कर, अब भगवान् की पूर्ण विद्या का निरूपण किया जाता है ।

श्लोक—हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यै
श्छिद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु तद्वित् ।
ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपं
काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ताः ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ—जो हाथ नहीं पहुँचे तो चौकी, ऊखल आदि धर कर चोरी की युक्ति लगाते हैं । बर्तन छींकों में रखे हों, तो उनमें रखी हुई वस्तुओं को अपने अन्तर्यामीपने के ज्ञान से पहचान कर, उनमें छेद करते हैं । यदि अंधियारे घर में धरा हो तो अपने अंग में पहने हुए अनेक प्रकार की मणियों से वा अपने अंग के प्रकाश से उन पदार्थों को प्रकाशित करते हैं । यह सर्व लीला कार्य भगवान् उस समय करते हैं जब गोपियाँ अपने कार्य में व्यग्र चित्तवाली होती हैं ।

सुबोधिनी—पञ्चविध ज्ञानं सप्रकारं निःप्रकारं च काले वस्तुनि निःसाधनमल्पासाध्येत्यन्तासाध्ये चान्धकारस्थापित आलोकापेक्षायां सप्रकारं ज्ञानं, अनेन पूर्णा विद्या निरूपिता भवति, लौकिकबुद्ध्या तु सर्व ज्ञानं परोपद्रवायेति तदीयांशानां ज्ञाने तज्ज्ञानमपि भवतीति वस्तुतस्तूपकार एव, यत्र भगवतः कुसूलादौ वस्तु हस्तेनाग्राह्यं भवति तत्र पीठ उलूखलमधोमुखं प्रतिष्ठाप्य तदुपरि बालकं वा निवेश्य गृहवंशान् वा धृत्वा वस्तु गृह्णाति रिक्तभाण्डेषु तु न प्रयत्नं करोति, तत्र हेतुरन्तर्निहितवयुन इति, अन्तर्भाण्डे मध्ये निहितं

---

*श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश में इन छः गुणों का विश्लेषण इस प्रकार करते हैं कि—

(१) वत्सों को छोड़ देना (मोक्ष देना)—यह ऐश्वर्य गुण है ।
(२) गोपियों को मोहित करना—यह 'श्री' गुण है ।
(३) मक्खन को विविध प्रकार से चुराने का कार्य—यह वीर्य गुण है ।
(४) बन्दरों को देकर उनका (राम भक्तों का) हित करना—यह 'वैराग्य' गुण है ।
(५) बर्तनों को तोड़ना (यह कार्य सबों का हितकारी है)—यह 'यश' गुण है ।
(६) कोप करना आदि कार्य से 'ज्ञान' गुण दिखाया, इसलिये कहा है कि रुद्र का प्रवेश करूंगा ।

वयुनं ज्ञानं यस्य, शिक्यभाण्डेषु दुग्धदियुक्तेष्वन्तः कुन्तादिना छिद्रं करोति, अधस्ताच्च भाण्डान्तरं स्थापयति, दध्यादौ तु न करोति, शर्करादौ तु पातयति, घनीभूते दध्यादौ च, तत् सर्वं वेत्ति तद्वित्, ध्वान्तागारे तु धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थतः प्रदीपभूतं रचयति यदिदानीमप्रकाशमानमपि तदानीमन्धकारगृहे सूर्यवत् प्रकाशते मणींश्च प्रकाशयति, अर्था एव वा प्रदीपा भवन्ति, स्वांगमेव वार्थार्थप्रदीपा यस्य न त्वन्यस्मिन्नागते, एतदपि सर्वं काले, यदा गोप्यो न जानन्त्येव दूरे वा गता भवन्ति, किञ्च यर्हि गृहकृत्येषु पाकादिषु मन्दस्नानादौ बालकतर्पणे वात्यावश्यके सुष्ठु व्यग्रं चित्तं यासां मथनादिसमये वा कालविलम्बे वा घृतमेव नोत्पद्येत ॥ ३० ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् की पूर्ण विद्या बताने के लिये कहते हैं कि पाँच प्रकार के ज्ञान हैं जिनका भगवान् को पूर्ण ज्ञान है । पंचविध‡ ज्ञान बताते हैं—

(१) सप्रकारक (चौकी ऊखल आदि साधन वाला) ।

(२) निःप्रकारक (बिना साधन)—१. काल का ज्ञान, २. वस्तु का ज्ञान ।

(३) स्वल्प असाध्य ज्ञान ।

(४) अत्यन्त असाध्य ज्ञान ।

(५) अन्धकार में रखे हुए पदार्थ के प्रकाश का अपेक्षित ज्ञान ।

लौकिक बुद्धि से जो ज्ञान होता है वह अन्यों को उपद्रवकारी होता है । उस ज्ञान के अंशों* (विषयों) के ज्ञान से उसका भी ज्ञान हो जाता है, जिससे वास्तव में उपकार ही होता है । भगवान् जब देखते हैं कि इन्होंने अपनी वस्तु कोठे में रखी है, जहाँ से मैं हाथ से नहीं ले सकता हूँ, तब चौकी पर ऊखल उल्टा धरके, उस पर चढ़कर, वस्तु ले लेते थे; यदि तब भी नहीं पहुँच सकते तो उस पर किसी बालक को बिठा कर उस पर चढ़कर वस्तु ले लेते अथवा घर में

---

‡ योजनाकार लालूभट्टजी पाँच प्रकार के ज्ञान बताते हैं कि—

(१) चोरी के समय का ज्ञान—(किस समय चोरी करनी चाहिये) ।

(२) वस्तु का ज्ञान—(कौनसी वस्तु कहाँ है, गृह में कोई नहीं है) ।

(३) सरल असाध्य—(श्रम से साध्य) ।

(४) अत्यन्त असाध्य ज्ञान ।

(५) अन्धकार में रखी हुई वस्तु को ग्रहण करने के साधनों का ज्ञान ।

प्रकाश में श्री पुरुषोत्तमजी इसका आशय कहते हैं कि हृदय में विशेष अन्धकार होता है तो वहाँ ज्ञान रूप दीपक की आवश्यकता होती है । इससे जहाँ अंधकार है वहाँ भगवान् साधन सहित ज्ञान का उपयोग करते हैं ।

* श्री प्रभुचरण टिप्पणी में इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि ज्ञान तो स्वयं अंश (विभाग) रहित है । इससे उस (ज्ञान) के विषय को ही अंश कहते हैं । अतः घर में रखे हुए ऊखल आदि पदार्थ ज्ञान के अंश अर्थात् विषय हैं । ये पदार्थ घर में होते हैं इसलिये इनका ज्ञान सदैव रहता ही है । इस कारण से उनसे सम्बन्धित भगवान् का भी ज्ञान प्राप्त होता है । अतः यह उपकार ही हैं ।

रखे हुए बांसों को लेकर उनसे वस्तु निकाल लेते थे। आपको सब प्रकार का ज्ञान था। इसलिये समझते थे कि इन बर्तनों में कुछ नहीं है तो उनसे वस्तु लेने के लिये व्यर्थ प्रयत्न नहीं करते थे। जहाँ समझते थे कि इन छींकों में रखे हुए इन भाण्डों में दूध आदि रसवाले पदार्थ हैं तो उनमें छेद कर नीचे कोई बर्तन रख देते थे। जो ऐसे रसवाले पदार्थ न होते दधि आदि पदार्थ, जो छिद्र से बह नहीं सकते थे वहाँ छेद न करते थे। इसी प्रकार शक्करादि से भरे हुए बर्तनों में छेद नहीं करते थे। इन पदार्थों को तो गिरा देते थे, वा ले लेते थे। यह सब उपाय जानने के कारण शुकदेवजी आपको 'तद्वित्' कहते हैं।

जब भगवान् जानते थे कि पदार्थ अन्धकारवाले स्थान में पड़े हुए हैं, तब आप उन पदार्थों को प्रकाश में लाने के लिये अनेक मणियों से विभूषित अपने श्रीअंग को वास्तविक दीपक बनाते हैं। जो पदार्थ इस समय दृष्टिगोचर नहीं होते थे वे भी अन्धकारयुक्त-गृह में ही भगवान् के भीतर पधारने पर (न कि दूसरे के आने से) सूर्य के समान प्रकाशित होने लगे और मणियाँ भी प्रकाशित होने लगीं। अथवा भगवान् के प्रताप से पदार्थ, ऐसे प्रकाशित हुए मानो दीपक जल रहे हैं। यह सर्व लीला भगवान् समय जान कर किया करते थे। इसलिये श्लोक में कहा है कि 'काले' समय पर इसके भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि जिस समय गोपियाँ दूर कहीं गई हों, अथवा भोजन बनाने आदि गृह-कार्य में लगी हुई हों, कभी अभ्यंग वा स्नानादि में रुकी हुई हों अथवा बालकों के रमण में वा अन्य अत्यावश्यक कार्य में फँसे हुए चित्त वाली हो, ऐसे समय को देख कर आप अपना कार्य साधते थे। जिससे आपके पधारने का उन्हें ज्ञान न हो सके। कभी तो जब वे दधि-मन्थन कार्य में व्यस्त होती थीं, उस समय आ जाते। जानते थे कि अब ये यह कार्य छोड़कर आयेगी नहीं, आयेंगी तो उनका मक्खन पिघल जाएगा और वह निकलेगा नहीं। ऐसे समयज्ञ[1] होने से समय पहचान कर कार्य करते थे॥ ३०॥

आभास—एवं ज्ञानप्रकारमुक्त्वा पर्यवसानमाहुरेवंधार्ष्ट्यानीति।

आभासार्थ—इस भाँति ज्ञान का प्रकार कहकर अब इस श्लोक में उसका परिणाम क्या हुआ वह कहते हैं।

श्लोक—**एवं धार्ष्ट्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ**
स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथास्ते।
इत्थं स्त्रीभिः सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभिः
व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत्॥ ३१॥

१—समय को जानने वाले।

श्लोकार्थ--हे कमनीयकान्ते ! सुन तो सही, आपका यह लाला कैसे उद्धताई[1] के कार्य कर रहा है, लीपे-पोते स्थान एवं सुन्दर पात्रों में, जहाँ वास्तु देवता स्थापित हैं, वहाँ मूत्रादि कर देता है और अनेक रूपों को धारण कर चोरी करके भी, साधुओं के समान खड़ा रहता है। यह उपालम्भ देते समय स्त्रियाँ भगवान् के भयभीत नेत्र वाले मुखारविन्द के रस का पान कर रही थीं। उनके द्वारा की हुई, सुत का उलाहना सुनकर, यशोदाजी ने पुत्र को उपालम्भ मात्र देने की भी इच्छा नहीं की; किन्तु बहुत हँसने लगी।

सुबोधिनी—हे **उशति** कमनीये, **धार्ष्टचानि** वस्त्रविमोचनादीनि **कुरुते**, उशति कमनीये भाण्डादौ च **मेहनादीनि कुरुते**, **वास्तौ** यत्र वास्तुदेवता पूजिता भवति, किञ्च **स्तेयोपायैर्भ्रमजनकैर्विरचिता कृतिराकृतिर्यस्य** पतिवत् पुत्रवद् भ्रातृवच्च तिष्ठति तत्र कार्यार्थिमेतादृशोपि **सुप्रतीक:** साधुवदास्ते, धार्ष्टचादिकरणं पुरीषादिकरणं चौर्यकरणं रूपान्तरकरणं साधुवत् स्थितिश्चेतिपञ्चधारूपसङ्ग्रह:, देहवदिन्द्रियवत् प्राणवदन्त:करणवदात्मवच्चेतिपञ्चधाज्ञानस्य पञ्चविशेषभूतानि रूपाणि, एवं क्रियारूपान् ज्ञानरूपानाकृतिरूपान् निरूप्योपसंहरतीत्थमिति, एवम्प्रकारेण **स्त्रीभिर्व्याख्यातार्थापि प्रहसितमुखी** सत्यु**पालब्धुं नैच्छत्**, उपालम्भे द्वयं कार्यं स्त्रीणां मनोरञ्जनं बालकस्य भयजननं च, तदुभयं प्रथमत एव जातं, भयसहितं नयनं यस्य **सभयनयनो** भगवान् तस्य **श्रीयुक्तं मुखं** तदालोकिनीभि:, एवमुपालम्भनकर्त्र्योपि भगवन्मुखनिरीक्षिका एव, ज्ञानशक्तेरेव भयं न तु क्रियाशक्तेस्तदाह **सभयं नयनं** यस्येति, श्रीसंयुक्तं मुखं, आक्रोशवतीनां दृष्टिर्भगवद्विषयिणी मा भवत्विति श्रिया मूर्तिमत्यैव मध्ये व्याप्तं, अत: **सभयनयनं** यथा भवति तथा **श्रीमुखस्यालोकिनीभि:**, एवं **व्याख्यातोर्थ:** स्वगृहव्यापाररूपो यस्यां, तथा सति लोकदृष्टचा भगवतो धौर्त्यं स्मृत्वोभयोर्भयनयने दृष्ट्वा **भगवान्** स्त्रियश्च भीता भगवान् मत्त: स्त्रियो भगवतो मत्तश्चेत्यनेकरसाभिनिविष्टा **प्रकर्षेण हसितमुखी भगवन्तमुपालब्धुं नैच्छत्**, नामलीलया वसुदेव: कृतार्थ एव जात:, इयं तु लौकिकन्यायेन प्राप्तमनोरथा लौकिकभावदार्ढ्यादेव दोषान् न गृहीतवती न तु माहात्म्यज्ञानात् ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ—हे मनोहर नारी ! यह (कन्हैया) शरीर से वस्त्र त्याग कर नग्न हो, निर्बल की तरह ढिठाई के कार्य करता है, जिस सुन्दर स्वच्छ पात्र में, वास्तु देवता का पूजन हम करती हैं उसमें मूत्रादि करता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी चोरी के अनेक उपाय करता है। जैसे कि किसी वस्तु दूध, दधि आदि की चोरी करने के लिये किसी भी गोपी के पति का रूप, कभी किसी के पुत्र का रूप, कभी किसी के भाई का रूप धारण कर चौर्य कार्य पूर्ण करता है। फिर अपने अन्य कार्य सिद्धचर्थ साधुवत् मुग्ध बालक के समान आके पास में बैठ जाता है।

भगवान् ने (१) ढिठाई के कार्य।

(२) मूत्रादि करने के कार्य।

१—ढिठाई।

(३) चौर्य-कार्य ।

(४) दूसरों का रूप धारण करने का कार्य, और

(५) सत्पुरुष का कार्य ।

इस प्रकार की पांच प्रकार की क्रिया करते हुए पांच प्रकार के रूप धारण किये थे । ये पाँच रूप भगवान् ने धारण किये, उसका कारण एवं किस प्रकार धारण किये, उसको समझाते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि अज्ञान (अविद्या) की देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और आत्मा—ये पांच विषय रूप आकृतियां हैं। इनको शुद्ध करने के लिये भगवान् ने धार्ष्टचादि पांच लीलाओं को करते हुए देहादिवत् पांच रूप धारण किये हैं । (जैसे श्रुति कहती है कि 'प्राणन्नेव प्राणो भवति' अर्थ—प्राण लेते हुए प्राण उत्पन्न होते हैं ।) तात्पर्य यह है कि एक कार्य करने से दूसरे कार्य की उत्पत्ति होती है । तदनुसार भगवान् ढिठाई के कार्य करते देहवत्, मूत्रादि कार्य करते इन्द्रियवत्, चौर्य्य भोजन करते प्राणवत् (प्राण-भोजनकर्ता है) अन्य रूप धारण करते अन्तःकरणवत् (अन्तःकरण की अनेक वृत्तियां हैं) साधुवत् रूप धारण करते हुए आत्मवत् होते हैं । यों लीला करते हुए देहादिकों की शुद्धि कर उनकी अपने में आसक्ति कराते हैं ।

इस प्रकार क्रिया, ज्ञान एवं आकृति रूपों का वर्णन कर शेष आधे श्लोक में इस विषय का उपसंहार करते हैं कि इस प्रकार स्त्रियों (गोपीजनों) ने यशोदाजी के आगे कन्हैया के कार्यों का वर्णन किया। वे सुनकर यशोदा मैया मुस्कराती रही; किन्तु उसने कृष्ण को कुछ भी उपालम्भ देना न चाहा । यदि कृष्ण की मैया, उपालम्भ देती तो दो कार्य होते—एक जो स्त्रियां उलाहना देने आई थीं वे प्रसन्न होतीं और दूसरे बालक को भय होता । आगे के लिये डरता, जिससे पुनः ऐसे निर्लज्जता के कार्य नहीं करता, किन्तु यशोदा ने उपालम्भ न दिया तो भी उससे पहले ही ये दो कार्य स्वतः हो गए । स्त्रियों का माता के पास आकर अपने किए हुए कामों की कहानी कहते हुए देख एवं समझ कर भगवान् डर गए कि न जाने माता क्या दंड देगी ? इससे सभय नेत्र वाले मधुसूदन के श्रीयुक्त मुखारविन्द के मकरन्द को पान करती हुईं गोपियां उनमें आसक्त एवं आनन्दित हो रही थीं । भगवान् का मुखकमल तो श्री शोभायुक्त हो प्रफुल्लित हो रहा था । किन्तु नेत्र भयभीत थे । कारण कि भय, ज्ञान शक्ति को होता है न कि क्रिया शक्ति को । इसलिये नेत्र ज्ञान शक्तिवान् होने से भयभीत थे । उलाहना देनेवालियों की दृष्टि को भगवत्स्वरूप का पूर्ण ज्ञान न हो जाय, इसलिये बीच में मूर्त्तिमती श्री स्थित थी । जिससे गोपियों को भगवत्स्वरूप का केवल आनन्द मिला; किन्तु स्वरूप ज्ञान न हुआ जिससे वे लोकदृष्टि से भगवान् की धार्ष्टचादि लीलाओं का स्मरण कर भय संयुक्त हुईं । माता यशोदा भगवान् एवं गोपियां दोनों को भयभीत देखकर, समझ गई कि कन्हैया को मुझ से डर हुआ है और गोपियों को भगवान् से डर हुआ है कि यदि उपालम्भ के कारण यशोदा भगवान् पर खीजेंगी तो भगवान् हमसे रुष्ट हो जायेंगे तो हमारा नित्य का आनन्द चला जायगा । यह सब विचारती हुई अनेक रसों में मग्न, मैया ने हास्य संयुक्तमुखी

हो पुत्र को कुछ भी उपालम्भ देने की इच्छा नहीं की। इस नाम लीला से वसुदेव कृतार्थ हो गए। यहाँ वसुदेव नाम नन्दवाचक है क्योंकि अष्ट वसुओं में श्रेष्ठ देव, वह वसुदेव है, यों अर्थ कर यहाँ नन्द का नाम वसुदेव दिया है। नन्द पूर्व जन्म में द्रोण नामक वसु था। माता यशोदा ने तो भगवान् के माहात्म्य ज्ञान के कारण श्रीकृष्ण के दोषों पर ध्यान नहीं दिया था किन्तु यशोदा का लौकिक भाव दृढ़ था लौकिक न्यायवत् यशोदा के मनोरथ—कब मेरे नटखट नन्हासा लाला होयगा, जो अज्ञ बालवत् मेरे व्रज में खेलेगा—पूर्ण हुए थे। इसलिये पुत्रवात्सल्य के कारण पुत्र को उपालम्भ देने की इच्छा नहीं की। सुबोधिनी में दिये हुए 'तु' (तो) शब्द का आशय[1] यह है कि नन्दजी को गर्गजी के वचनों पर विश्वास था इसलिये श्रीकृष्ण के माहात्म्य का उनको ज्ञान था, इसलिये वह लीलाओं को सुनकर कृतार्थ हो गए और समझ गए कि भगवान् ने लीलाएँ भक्त-हितार्थ ही की हैं। किन्तु यशोदा को माहात्म्य ज्ञान न होने और लौकिक भाव दृढ़ होने से नन्दजी के समान कृतार्थता न हुई केवल लौकिक भाव दृढ़ हुआ॥ ३१॥

आभास—अक्लिष्टकर्मा भगवांश्च यावन्नात्यन्तासक्त्या वैयग्रयं न प्राप्नोति तावन्न वदति नापि प्रदर्शयति, अनेन च प्रकरणेन तस्याः स्वविषयकोध्यासो निवर्तितः, यतो वाच्यतासहनं जातं, भगवद्विषयकगाढाध्यासेन सोप्युद्गतः स्वसमानविषयकविरोधनैव निवर्तिष्यत इति तदर्थं प्रकरणान्तरमारभते ज्ञानरूपमन्तःकरणशोधकमेकदेत्येकादश-भिर्मनसो ह्येकादश वृत्तयस्तासां निवृत्यर्थमेकादशधा ज्ञानं वक्तव्यं।

आभासार्थ—जब तक अत्यन्त आसक्ति नहीं होती है, तब तक भगवान् न किसी बात का उत्तर देते हैं और न अपना स्वरूप दिखाते हैं। इस रूप प्रकरण से यशोदा को 'यह मेरा पुत्र है' इस प्रकार का जो अध्यास था, उससे यशोदा में यह भाव (अध्यास) उत्पन्न हुआ कि मैं इस (कृष्ण) की माता हूँ। इसलिये यशोदा ने उपालम्भ सहन किया, किन्तु पुत्र को कुछ भी न कहा। इस प्रकार यशोदा का पुत्र में अध्यास[2] तो बढ़ता गया किन्तु यशोदा माता होने के कारण प्रेम के विरुद्ध भगवान् को शिक्षा देगी तो प्रेम में न्यूनता आने से वह अध्यास भी दूर होगा। मनकी एकादश वृत्तियों के दोष दूर करने से अन्तःकरण की शुद्धि होगी। अतः ११ प्रकार से ज्ञानोपदेश करणार्थ ११ श्लोकों से ज्ञानरूप दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

कारिका—**दोषनिवृत्तये यत्नो वाक्यं वाक्यं च तस्य नुत्।**
तत्साधिका कृतिर्विष्णोर्ज्ञानं पूर्वनिवारकम्॥ १॥

१—भाव। २—प्रेम, मोह।

ज्ञानस्योत्कर्षसिद्ध्यर्थं विषयाणां च वर्णनम् ।
ततो भयं तन्निवृत्तौ पूर्वपक्षस्य युक्तयः ॥ २ ॥
सिद्धान्तेन प्रतिष्ठानं भीतायाः शरणागति ॥ २½ ॥

कारिकार्थ—(१) बालकों के अज्ञान से भगवान् में समझा गया मृत्स्नाभक्षण दोष ।
(२) उस दोष को दूर करने के लिये किया गया यत्न ।
(३) यशोदा के वाक्य ।
(४) यशोदा को उत्तर कि मैंने मिट्टी नही खाई, ऐसे भगवान् के वाक्य ।
(५) भगवान् ने अपने उत्तर को सत्य सिद्ध करने के लिये अपने मुखारविन्द में जगत् के दिखाने का किया हुआ कार्य ।
(६) भगवान् में प्रथम उत्पन्न दोष (भगवान् ने मिट्टी खाई है) के ज्ञान को मिटाने वाला (झूठा प्रमाणित करने वाला) ज्ञान ।
(७) ज्ञान के उत्कर्ष सिद्धि के लिये इन विषयों का वर्णन ।
(८) विषयों और उत्पन्न भय का वर्णन ।
(९) भय की निवृत्ति के लिये पूर्व पक्ष की युक्तियाँ ।
(१०) सिद्धान्त से निश्चय ।
(११) भयभीत यशोदा का भगवच्छरणागतिः ।

इस प्रकार ३२ वें श्लोक से ४२ वें श्लोक तक ११ श्लोकों में ज्ञान प्रकरण का निरूपण किया गया है जिनका सारांश आचार्यश्री ने कारिकाओं में समझाया है ।

आभास—भगवत्यध्यासस्य दृढत्वाद् भिन्नविषयको दोषो न बाधक इति समानाश्रयविषयकं दोषं बाला अनिरुद्धा आहुरित्याह ।

आभासार्थ—भगवान् में यशोदा का दृढ़ अध्यास होने से, यदि भगवान् किसी अन्य का दोष करते (जैसे वत्सों को छोड़ना, नवनीत उड़ाना आदि) तो यशोदा को उनका विचार भी न होता था । किन्तु जब भगवान् ने स्वयं मिट्टी खाने का अपराध किया जो अनिरुद्ध बालकों ने आकर कहा, उसको सुनकर चिन्तित होगी । बालकों ने जो कहा उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः ।
कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन् ॥ ३२ ॥**

श्लोकार्थ—किसी दिन रामादि गोप बालकों ने खेलते हुए देखा कि श्रीकृष्ण ने मिट्टी खाई। यह समाचार सब ने मिलकर आकर माता यशोदाजी को कहा।

सुबोधिनी—एकदा यदा भगवत्प्रवणमेव चित्तं स्थितं, **आक्रीडमाना** आसमन्तात् क्रीडां कुर्वाणाः, समानभावेन सर्वेषु क्रीडा रसजनिका भवति, अतो भगवति साम्ये स्फुरिते विवेकिनां स्वस्मिन् दोषदर्शनवद् भगवत्यपि दोषं दृष्टवन्तः, त इति ये स्त्रीणां सुखार्थे नीतास्तेषां स्त्रीसङ्गान्निरोधस्याकृतत्वाद् भगवति दोषदृष्टिर्युक्तेति, तत्तत् कार्यं प्रदर्शयितुं **रामाद्या** इत्युक्तं, स हि रमयति एव सर्वा स्त्रियोतो दोषदृष्टिः, **गोपबालका** इति, **गोपा** अनिरुद्धाः, गोभिः सह सङ्गात् तत्तुल्यज्ञानास्तेषां **बालका** इति स्वरूपतोपि दोषसम्भवहेतुः, स्वसम्बन्धिस्तनादिपानेन पुष्टान् स्वचरणसम्बन्धिक्षिरसालोडितमृत्स्नां बालकेभ्योन्तःस्थितेभ्यो ददद् बहिर्मुखैर्दध्यादिभक्षणवन्मृद्भक्षणमपि कल्पितं ततस्तदनिष्टं मत्वा बालाः प्रोचुः **कृष्णो मृदं भक्षितवानिति**, पञ्चवर्षपर्यन्तं मात्रा शिक्षणीय इति **मात्रे न्यवेदयन्**, सम्भावितं तदिति ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ—किसी दिन जब यशोदा का चित्त भगवान् में एक तान हो गया, एवं गोप बालकों का आपस में समान भाव जागृत हुआ, छोटे-बड़े का ध्यान न रहा, तब चारों तरफ अथवा सब प्रकार से क्रीड़ा करते हुए गोप बालक आनन्द मग्न हो गए। समान भाव होने पर ही क्रीडकों[1] को क्रीड़ा में रस उत्पन्न होता है। इस प्रकार खेलते हुए और रस लेते हुए भगवान् में समानता की स्फूर्ति बढ़ती गई, जिससे बालक समझने लगे कि जैसे हम हैं वैसे ही यह कृष्ण भी है। हम यदि मिट्टी खावें तो वह खाना दोष है। क्योंकि उससे उदर में रोगादि उपद्रव होंगे यों समझने से उन्होंने श्रीकृष्ण को जब चुपके-चुपके मिट्टी खाते देखा तो उनमें भी, अपनी जैसी दोष बुद्धि करने लगे। जिन गोप बालकों को, स्त्रियों के सुखार्थ, प्रथम ले जाकर वहाँ उन बालकों के साथ, व्रज-स्त्रियों को आनन्द दान करणार्थ क्रिया की थी उन बालकों का निरोध नहीं किया था (जिससे उनकी प्रपञ्च विस्मृति होकर भगवान् में भगवत्स्वरूप ज्ञानपूर्वक आसक्ति नहीं हुई थी) अतः भगवान् में दोष दृष्टि होना स्वभाविक था। वह (प्रथम की हुई क्रीडा का) कार्य दिखाने के (समझाने के) लिये वे रामादि कहे। 'राम' शब्द का तात्पर्य बताते हैं कि वह (राम) सर्व स्त्रियों को रमण कराता है अतः रस रीति अनुसार, रमण कर्ता को ताम्बूल खाना रुचता है न कि मिट्टी खाना। राम को भगवान् में स्नेह था, जिससे भगवान् का मिट्टी खाना उसको अच्छा न लगा। इस कारण से राम की भी भगवदर्थ दोष दृष्टि हुई थी। गोप बालकों में तो भगवान् में दोष दृष्टि होने के अन्य दो कारण थे। एक कारण यह था कि बालकों का निरोध नहीं हुआ था। दूसरा कारण यह था कि गोप बालक थे, गोपों का सदैव गौ आदि पशुओं के साथ सहवास होता है। अतः उनकी बुद्धि भी पशुओं के समान स्तब्ध दोषवती हो जाती है। इसलिये उनमें स्वरूप से भी दोष दृष्टि का सम्भव था। भगवान् ने जैसे गौओं का एवं माता का स्तन्य चूंसकर

१—खिलाड़ियों।

अन्तःस्थ बालकों को पुष्ट किया था, वैसे ही अपने चरण सम्बन्धी, भक्ति-रस संयुक्त मृत्तिका को खिलाकर, भक्ति-रस संल्पुत करने की इच्छा से मृत्तिका भक्षण की थी। इस आशय को न समझ, बहिर्मुख यों समझने लगे कि भगवान् ने दधि भक्षणवत् मृत्तिका का भी भक्षण किया है। इस कल्पना से मृत्तिका[1] भक्षण अनिष्टकारक जान, बालक कहने लगे कि 'कृष्ण' ने मृत्तिका[1] भक्षण किया। समानता में मित्रता होती है, मित्रों में स्नेह होता है। स्नेही, स्नेही के अनिष्ट को सहन नहीं कर सकते हैं अतः कृष्ण को इस कार्य को दुबारा न करने के लिये शिक्षा दिलानी चाहिये। रामादि सब ने इस प्रकार का विचार कर माता यशोदा के पास आकर कृष्ण के मिट्टी खाने के समाचार सुनाए, क्योंकि पाँच वर्ष तक माता पुत्र को शिक्षा देती है ॥ ३२ ॥

आभास––तेन देहापकारं ज्ञात्वा दोषनिवृत्त्यर्थं यत्नं कृतवतीत्याह सा गृहीत्वेति।

आभासार्थ—'श्रीकृष्ण ने मृत्तिका भक्षण किया' ये गोप बालकों के वचन सुन यशोदा को कृष्ण ने मृत्तिका भक्षण किया होगा, ऐसी सम्भावना प्रतीत होने लगी। इससे देह का अपकार होगा, यों समझ दोष निवृत्ति के लिये यशोदा यत्न करने लगी, इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक––**सा गृहीत्वा करे पुत्रमुपालभ्य हितैषिणी।**
यशोदा भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्षमभाषत ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ----पुत्र की हितेच्छु, वह माता यशोदा, सुत का कर पकड़ के उपालम्भ देती हुई, भय से घबड़ाये हुए लाल नेत्रों वाले श्रीकृष्ण को कहने लगी।

सुबोधिनी—एकस्मिन् **करे पुत्रं** गृहीत्वाभाषतेति-सम्बन्धः, सेति निरोधमध्यस्थिता, भगवति क्रियाशक्तिरेव लौकिकी तस्या दृढेति **करे** गृहीत्वेति तावानेवांशस्तया **गृहीत** इति, भगवांस्तु पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते, येन पापेन मातापितरौ पुरुषशब्दवाच्यमुपलक्षणात् स्त्रीशब्दवाच्यं च शरीरमस्थिपुरीषादिव्यास सर्वरोगादिगृहं तामिस्रादिसर्वनरकेभ्योधिकं प्राप्तवन्तौ स्वयं तत्र सन्ततौ प्रविष्टस्तत् कार्यं स्वयं करिष्यंस्तद्दोषमङ्गीकृत्य तौ तस्माद् देहसम्बन्धात् त्रायत इति **पुत्रो** भवति, तादृशमुपालभ्योपालम्भनं कृत्वालभनमिव क्रूरं वाक्यमुक्त्वा परमनिधानरूपः पुत्रः कुशली भवत्विति हितमेवान्वेषमाणा **यशोदा** परमभागवती ज्ञानेप्यधिकारिणी मारणे कृतेन्तःस्थिताः क्लिष्टा भविष्यन्ति ततो महापुरुषद्रोहान्नास्याः कदापि ज्ञानं भविष्यतीतिभयेन **सम्भ्रान्तं प्रेक्षणं** यस्याक्षस्य, प्रदर्शयिष्यमाणं ज्ञानमेव स्वाधिकरणस्याग्रे भविष्यमाणस्य विरोधिगुणप्रादुर्भावाद् गमनप्रतिबन्धशङ्कया सम्यग् भ्रान्तं प्रेक्षणं गमनरूपं यस्य तथाविधं भवति, भगवत्प्रेरणया गन्तव्यमेव

१—मिट्टी

विरोधी च गुणो बलिष्ठो बाधां मा करोत्विति तादृशं भगवन्तं कायिकव्यापारेण योजयित्वा भागवत्प्रेरिता- भाषत वाक्यमेवोक्तवती, तद्वाक्यं च भगवता परि-हर्तव्यं क्रिया चेदशक्या भवेद् भक्तद्रोहात् ।। ३३ ।।

व्याख्यार्थ—जिस यशोदा का अब तक पूर्ण निरोध सिद्ध नहीं हुआ है ; निरोध सिद्ध होता रहता है, अर्थात् जो मध्यम निरोध में स्थिति वाली है, ऐसी यशोदा ने, भगवान् के एक ही हाथ को पकड़ लिया, हाथ को क्यों पकड़ा ? इसका भाव बताते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि भगवान् में यशोदा की अब तक केवल लौकिकी क्रिया शक्ति ही दृढ़ हुई थी, इसलिये क्रिया करने वाले कर्मेन्द्रिय 'कर' को ही पकड़ सकी । भगवान् तो इस समय यशोदा के, स्व-इच्छा से, भाव रूप पुत्र हुए थे, अतः भगवान् को तो पुत्र-धर्म पालनार्थ माता को 'पुं' नाम नरक से बचाने के लिए लीला करनी थी । यदि 'पुं' नाम नरक से माता को न निकाले तो पुत्रत्व की निरर्थकता हो जाय । यहाँ 'पुं' नाम नरक में 'पुं' पुरुषवाचक है सो केवल पुरुष के लिए नहीं है; किन्तु स्त्री वाची भी है अतः पिता और माता दोनों को नरक से बचावे वह पुत्र है । यहाँ पुत्र माता पिता को कौनसे नरक से बचाता है ? आचार्यश्री उसका भी स्पष्टीकरण करते हैं, कि तामिस्रादि अनेक नरक हैं किन्तु उनसे विशेष मूल नरक यह अस्थि पुरीष आदि से रचित शरीर है । क्योंकि इस शरीर के होने के कारण, जीव पापादि कर्म करने से, तामिस्रादि नरकों को भोगते हैं । यदि यह शरीर ही न हो, तो जीव पापादिक कर्म करे ही नहीं । अतः इस शरीर की जड़ ही काटी जाए तो माता-पिता सदैव नरक से मुक्ति पाकर आनन्द मग्न रहें । अतः पुत्र स्वयं माता पिता में प्रविष्ठ हो, उनका ही रूप बनकर उनके दोषों (अस्थि चर्म आदि से बनी हुई देह) को ग्रहण कर, उन दोनों (माता-पिता) को उस देह सम्बन्ध से छुड़ाता है; इसलिए उसको पुत्र कहा जाता है । ऐसे (नरक से छुड़ाने वाले) पुत्र को उपालम्भ[1] जैसे केवल क्रूर[2] वचन माता-पिता कैसे कहें । मेरा सर्वस्व यह पुत्र है, अतः सर्व प्रकार से, सदैव आरोग्यवान् रहे । इस प्रकार हित की कामना वाली परम भाग्यवती यशोदा माता, ज्ञान की भी अधिकारिणी है । तदर्थ उसकी बुद्धि भगवान् ने ऐसी उत्पन्न कर दी, जिससे उस (यशोदा) को यह विचार हुआ कि कृष्ण को ताड़ना न करूं । भगवान् की ऐसी इच्छा क्यों हुई ? भगवान् ने विचारा कि यदि यशोदा मुझे ताड़ना करेगी तो अन्तःस्थित बालकों को कष्ट होगा और माता को महापुरुष द्रोह का दोष लगेगा तो माता को कदापि ज्ञान प्राप्ति न होगी ।

भगवान् ने इस इच्छा से कि मुझे मारे नहीं, जो मारेगी तो महापुरुषों के द्रोह वाली होगी और मैं उस (माता) के पास जा न सकूंगा । यह कुछ भी न हो, इसलिए आपने अपनी दृष्टि को भयभीत हो । सम्भ्रान्त इस प्रकार की कि जिसको देख, माता को पुत्र स्नेह से दयाभाव उत्पन्न

१—उलाहने । २—कठोर ।

हुआ, जिससे मारने का विचार ही माता के मन में उदय न हुआ। भगवत्प्रेरणा से केवल कायिक व्यापार किया। कर से कर पकड़ के वाणी से कहने लगी। जो कुछ माता ने वचन कहे, उनका परिहार भगवान् करेंगे। यदि यशोदा भगवान् को ताड़ना करती तो, भक्त-द्रोह से उसका उपाय हो नहीं सकता था ॥ ३३ ॥

॥ यशोदोवाच ॥

श्लोक—**कस्मान् मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः।**
वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेग्रजोप्ययम् ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ—हे असंयमी अन्तःकरण वाले! तुमने एकान्त में जाकर मृत्तिका भक्षण क्यों किया? तेरे ये मित्र एवं तुम्हारा बड़ा भाई भी कहता है कि इसने मृद्[1] भक्षण किया।

सुबोधिनी—यशोदाया वाक्यमाह **कस्मादिति**, इच्छया भक्षितमिति चेत् सेच्छापकारिणीति तन्निवारणमुचितं तदकरणादुपालभ्य एवेतिसम्बोधनेनाहादान्तात्मन्निति, न दान्त आत्मान्तःकरणं यस्य, अन्तःस्थितबालापरिज्ञानादाह **भवान् भक्षितवानिति**, रह एकान्ते, निष्कास्य बालकान् भक्ति ग्राहयितुं देवगुह्यत्वादेकान्त एव कृतवान्, तद् बालाबाहिःस्थिता अस्मद्वञ्चनार्थमेकान्ते भक्षितवानित्याहुः, प्रमाणमाह **वदन्ति तावका** इति, त्वदीयास्त्वनृतं न वदन्तीति, हि **युक्तश्चायमर्थः**, तेपि हितकारिण इति, अन्यथाकल्पने नाद्यापि समर्था इति वयो निर्दिशति **कुमारा** इति, तेषां जीवत्वात् कल्पकत्वाभावेपि भ्रमः सम्भवति यथादृष्टं च वचनमतोपि न परमार्थदृष्टिरिति चेत् तत्राह **तेग्रजोप्ययमिति**, **अग्रे** जातत्वात् काचिद् बुद्धिरुत्कृष्टा, **वदतीत्यत्र** प्रमाणमाहायमिति, प्रत्यक्षमेव वदतीति नात्रासम्भावना ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ—यशोदा ने कहा कि यदि तूं कहे, कि मेरी इच्छा हुई कि मैं मृत्तिका[1] का रस लूं, तो वैसी हानिकारक इच्छा को रोकना योग्य था। ऐसा तुमने नहीं किया। इसलिए समझा जाता है कि तूं असंयमी है; मन तेरे वश में नहीं है। अतः तू उपालम्भ के योग्य है। यशोदा ने कृष्ण को इसलिये यह कहा कि तूने मृत्तिका का भक्षण किया है क्योंकि यशोदा को यह ज्ञान नहीं था कि कृष्ण के अन्तःस्थित बालक हैं; तदर्थ भगवान् ने मृत्तिका खाई है। आचार्यश्री श्लोक में दिये गये 'रहः' शब्द से एकान्त में मृद् भक्षण के भाव को स्पष्ट कर बताते हैं कि श्रीकृष्ण ने एकान्त में इसलिये मृद्[1] भक्षण कार्य किया, जो अन्तःस्थ बालकों को बाहर प्रकट कर अपने चरणारविन्द रससिक्त मृत्तिका द्वारा उनको भक्ति-रस का दान करना था। यह रसदान एकान्त

१—मिट्टी

में करना योग्य था। गोपकुमार इस भाव को न समझने के कारण वे माताजी को कहने लगे कि कन्हैया ने हमको ठगने के लिए, (जैसे हमको पता न लगे कि कन्हैया ने मृद्भक्षण किया है), इस प्रकार छिप कर मृद् भक्षण किया है। यशोदा कहती है कि तूने बराबर मिट्टी खाई है क्योंकि कहने वाले दूसरे नहीं हैं, तेरे ही हैं; इसलिए वे तेरे हितकारी ही हैं, वे कभी झूठ नहीं बोलेंगे। झूठ बोलने का कार्य आज तक इन्होंने नहीं किया है। ऐसी सामर्थ्य इन में नहीं है। क्योंकि अब तक इनकी 'कुमार' अवस्था है। यदि कृष्ण कह दे कि वे जीव हैं तो कुमार अवस्था के कारण इनको झूठी बात बनानी नहीं आती है। भ्रम तो हो सकता है। भ्रम से उन्होंने ऐसा कहा है, इस पर माता उत्तर देती है कि वे कुमार हैं। उनको भ्रम हुआ ऐसा समझ भी लें, किन्तु तुम्हारे बड़े भाई दाऊजी को तो भ्रम नहीं हुआ होगा। वह बड़ा है। इसलिये उसमें बुद्धि अधिक है वह भी तुम्हारे सामने कह रहा है कि कृष्ण ने मृत्तिका खाई है। इससे अधिक तुझे क्या प्रमाण चाहिये। इसलिये तेरे मृत्तिका खाने में किसी प्रकार की असम्भावना देखने में नहीं आती है ॥ ३४ ॥

कारिका—**भगवद्व्यतिरिक्तानामन्यधर्मः प्रवर्तते ।**
यदा यत्र हरिः स्वामी नाविष्टः सोन्यथा वदेत् ॥१॥

कारिकार्थ—कृष्ण ने मृद् भक्षण किया है, ऐसा बलरामजी ने क्यों कहा ? वे तो जानते थे कि कृष्ण ने अन्तःस्थ बालकों को इस लीला द्वारा भक्ति रसपान कराया है। इस शंका का निवारण आचार्यश्री इस कारिका से करते हैं। जिस समय भक्ति से विरुद्ध धर्म किसी में भी देखने में आवे, तो समझना चाहिये कि ये अब भगवान से पृथक् है। इस समय बलराम में भी भगवत्स्वरूप का आवेश नहीं है इस कारण से इस लीला के भाव को उनके भी न समझने के कारण कहने लगे कि कृष्ण ने मिट्टी खाई है। इन (बलरामजी) का यह कहना दोष बुद्धि से नहीं था, किन्तु स्नेह के कारण था।

आभास—भगवांस्तु तद्वाक्यं विषयबाधान्न प्रमाणमाप्तानां भ्रान्तत्वादित्याह नाहमिति।

आभासार्थ—आप्त (सत्यवक्ता) भी कभी भ्रान्त हो जाते हैं, अतः भगवान् बलरामजी के वाक्यों को भी विषय का बाधक समझ, प्रमाण रूप नहीं मानते हैं। और अपनी सत्यता को निम्न श्लोक से प्रमाणित करने के लिये कहते हैं कि प्रत्यक्ष मेरा मुख देखलो।

॥ श्रीकृष्ण उवाच ॥

श्लोक—नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः ।
यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम् ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ—हे अम्ब ! मैंने मृद् भक्षण नहीं किया है ये सब झूठ बोल रहे हैं । जो वे सत्य वाक्य कहते हैं तो मेरा मुख सामने प्रत्यक्ष देख लो ।

सुबोधिनी—हे अम्बेतिसम्बोधनमप्रतारणाय, अनेन तस्यां महती कृपा प्रदर्शिता, अहं तु **न भक्षितवान्**, बालकैर्भक्षितमितिभावः, एवंसम्बोधनेन स्ववाक्यप्रामाण्यमुक्त्वा विरोधवाक्यमाह सर्व इति, एते बालकाः सरामा गोप्यश्च ये केचिन्मया यत्किञ्चिद् भक्षितं यदाकदापीत्याहुस्ते **सर्व एव मिथ्याभिशंसिनो** मिथ्यानृतमेवाभिशंसन्ति, "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीती" तिश्रुतिविरोधात्, "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं" "मत्ता "चराचरग्रहणाद्" "भुङ्क्ते विश्वभुगि" त्यादिवाक्यान्याधिदैविकरूपधर्मप्रतिपादकानि, अतः पुराणपुरुषपराणि न भवन्तीति ये केचिद् भगवन्तं भोक्तारं मन्यन्त उपदिशन्ति च ते **सर्वे मिथ्याभिशंसिनः**, नैवेद्यं च तुष्टिदं भवति निवेदनमात्रेण, आरण्यानां भक्षणं त्वन्तःस्थितभक्तानां शुद्धान्नसम्बन्धेन कृतार्थत्वायातः पत्रं पुष्प" मितिवाक्यं न विरुध्यते, नन्वत्र किं युक्तं किं भगवान् भक्षयति न वेति ? भक्षयतीत्येव बहुवाक्यसंवादात् प्रत्यक्षतो दर्शनाद् "भुङ्क्त" इत्यादिवाक्यानां यथाश्रुतार्थत्वसिद्धे "रनश्नन्नन्य" इतिवाक्यं जीवभोगजननार्थं समागतोऽन्तर्यामी जीवभोग्यं जीवभोग्यप्रकारेण न भुङ्क्त इत्येतावन्मात्रपरं तस्मात् प्रत्यक्षसंवादाद् भक्षणमेव सत्यमिति चेत् तत्राह **यदि सत्यगिर** इति, लोके वाक्यं संवादि प्रमाणं, तदर्थमत्र संवादो नास्तीत्यनूद्य दूषयति, **तर्हि समक्षं** प्रत्यक्षं स्वचक्षुषा वाक्यसंवादार्थं मुखमध्यं **पश्य**, यदि भक्षितं भविष्यति तदंशास्तद्गन्धश्च भविष्यति, सर्वं भक्षितमितिशङ्कायां च कालान्तरभक्षणस्यापि निवारणार्थं च भक्षणप्रयोजनं मुखेऽस्ति न वेति तदपि द्रष्टव्यमितिभावः ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण ने यशोदाजी को 'अम्ब'[1] सम्बोधन इसलिये दिया कि तूं मेरी माता है, इसलिये तुझ से वञ्चना[2] नहीं करूँगा । यह सम्बोधन देकर यशोदा पर महती* कृपा की है । मैंने तो नहीं खाई है । इस कहने का कृष्ण का भाव यह है कि वास्तव में मेरे अन्तःस्थित बालकों ने खाई है । इस प्रकार अपने पक्ष को प्रमाणित किया । अब श्लोक के दूसरे पाद में विरोधियों के कथन का असत्यपन सिद्ध करते हैं । राम सहित ये बालक एवं गोपियाँ जो कहती हैं कि मैंने खायी

* आचार्यश्री के यशोदा पर महती कृपा लिखने का यह आशय है कि श्रीकृष्ण यशोदा को माता कह कर बताना चाहते हैं कि मैं ईश्वर हूँ, मेरी कोई भी नारी माता नहीं बन सकती है न कोई पुरुष पिता हो सकता है क्यों कि मैं अजन्मा और अनादि हूँ । ऐसा होते हुए भी तुझे मैंने माता की पदवी दी है यह महती कृपा की है—**अनुवादक** ।

१—माता । २—ठगाई की या झूठी बात ।

है न केवल मृत्तिका, किन्तु दूध, दही और मक्खन आदि जब कभी कुछ भी खाया है, वह सब इनका कहना झूठ है। इनका यह कहना कि कृष्ण ने मृत्तिका खाई है किन्तु मैं कहता हूँ कि मैंने नहीं खाई है तो भी यदि झूठा हूँ तो इनका ऐसा कहना श्रुति विरोधी है क्योंकि श्रुति तो स्पष्ट कहती है कि ('अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' श्रुतिः) ब्रह्म स्वयं खाता नहीं है किन्तु खाने वालों को देखता रहता है। इस कहने से कृष्ण ने अपना ब्रह्मत्व बताते हुए कह दिया कि जैसे जीव रूप खाता है ईश्वर रूप देखता है वैसे ही यहाँ मैं साक्षीरूप से देख रहा हूँ खाने वाले अन्तःस्थित भक्त बालक हैं।

यदि वे कहें कि उपरोक्त श्रुति 'ब्रह्म नहीं खाता है' यों कहती है किन्तु अन्य श्रुतियाँ 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं' 'अत्ता चराचरग्रहणात्' भुङ्क्ते विश्वभुक् आदि तो ब्रह्म को भोक्ता कहती हैं। अतः यदि तू ब्रह्म है तो भी तूने मिट्टी तो खाई है क्योंकि हमने प्रत्यक्ष देखा है। ऐसा बालक कह दे तो आचार्यश्री उपरोक्त श्रुतियों का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ये ब्रह्म को भोक्ता कहने वाली श्रुतियाँ आधिदैविक रूप के धर्मों को प्रतिपादन करने वाली हैं। जिनका तात्पर्य है कि देवरूपों से यज्ञ में यज्ञीय हव्यादि पदार्थों को जो भक्षण करते हैं, उस भक्षण को प्रतिपादन करती हैं। शेष ये श्रुतियाँ, पुराण पुरुष (जो पुराण-पुरुष अक्षर भी मैं हूँ) के लिये भोक्तृत्व का प्रतिपादन नहीं करती हैं। अतः जो कोई भगवान् (कृष्ण) को भोक्ता समझते हैं वा इसी प्रकार का उपदेश देते हैं, वे सब मिथ्यावादी हैं। भगवान् के आगे तो निवेदन किया जाता है, वह नैवेद्य भगवत्प्रसन्नतार्थ ही है। यदि निवेदन केवल तोषणार्थ है ? तो 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' श्रीमद्भगवद् गीता के श्लोक में भगवान् ने कहा है कि "मैं अशन करता हूँ" इसका विरोध होगा। आचार्यश्री समझाते हैं कि इस श्लोक का भी विरोध न होगा क्योंकि 'पत्रं पुष्पं' श्लोकानुसार ही अरण्योत्पन्न पत्र पुष्प फलादि शुद्ध पदार्थों से अन्तःस्थित भक्तों का सम्बन्ध कराकर उनको कृतार्थ करने के लिये है।

भगवान् भोजन करते हैं वा नहीं। इन दोनों में से कौनसा सत्य सिद्धान्त है ?

पूर्व पक्ष—भगवान् भोजन करते हैं यह सिद्धान्त सत्य है क्योंकि इस सिद्धान्त के लिये बहुत स्पष्ट प्रमाण है और प्रत्यक्ष भी देखने में आता है कि भगवान् आरोगते हैं। जैसे कि 'अत्ता चराचर ग्रहणात्' अर्थ चर और अचर के भोक्ता हैं, 'भुंक्ते विश्वभुग्' अर्थ विश्व भोक्ता भोजन करते हैं इत्यादि। 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इस श्रुति का आशय हैं कि जीव जो भोजन करता है और जिस प्रकार करता है उस प्रकार जीव भोगोत्पत्त्यर्थ आए हुए अन्तर्यामी भगवान् भोजन सिद्धान्त नहीं करते हैं। केवल इस आशय को समझाने के लिये यह 'अनश्नत्' श्रुति है। अतः अनेक श्रुतियों के आधार और प्रत्यक्ष प्रमाण से यही सिद्धान्त सत्य है कि 'भगवान् भक्षण करते हैं।

सिद्धांत—आचार्यचरण इस पूर्व पक्ष का निरास करते हुए कहते हैं कि यदि कुमारों का कहना सत्य हो, तो उसको युक्तिपूर्वक वाक्य का आधार होना चाहिये। वह आधार कुमारों के कहने में नहीं है। इसलिये उनका कहना दोषयुक्त होने से असत्य है। सत्य परीक्षार्थ आप प्रत्यक्ष अपने नेत्रों से

मेरे खुले हुए के मुख के अन्दर देख लो। यदि मैंने मिट्टी खाई होगी तो उसके कण वा उसकी गन्ध मुख में होगी। यदि मैंने कणमात्र भी इसी प्रकार खा लिये हों, जैसे उनकी गन्ध भी मुख से न आवे तो उस पर आचार्यश्री विशेष आज्ञा कहते हैं कि कृष्ण तो फिर कहते हैं कि केवल अबकी खाई हुई मिट्टी की शङ्का को न मिटाओ, किन्तु आगे जो कुछ मक्खन, दही खाया उस शङ्का को मिटा लो। हे माता! मेरे मुख में यह भी देखलो कि भक्षण के प्रयोजन वाली वस्तु जिसके लिये भोजन किया जाता है (भोजन रस लेने के लिये किया जाता है रस लेनेवाली इन्द्रिय जिह्वा है) वह मेरे मुख में है ही नहीं अच्छी तरह देख लो। मैंने मिट्टी क्या? कभी भी कुछ भी नहीं खाया है अतः मैं वास्तविक अभोक्ता हूँ। जैसे मेरे मुख में रस-ग्राहिका जिह्वा नहीं है, वैसे ही मुझे क्षुधा भी नहीं लगती है, जिसके मिटाने के लिये भोजन करूँ। क्षुधा जीव का धर्म है। मैं जीव नहीं हूँ, इसलिये मुझे न क्षुधा लगती है न मैं भोजन करता हूँ। इस प्रकार कृष्ण के कहने पर माता को शङ्का हुई कि हम प्रत्यक्ष देखती हैं कि कृष्ण खाता है और यह कहता है कि 'मैं नहीं खाता हूँ' इस प्रकार की माता की शंका को जानकर ही कृष्ण ने फिर कहा कि क्षुधावाले भोजन अपने लिये करते हैं। जिस भोजन से वे अपनी क्षुधा मिटाते हैं; किन्तु मुझे क्षुधा नहीं है, जिसको मिटाने के लिये मैं भोजन करूं। मैं तो भोजन भक्तों के मनोरथ पूर्त्यर्थ[1] करता हूं, जैसे उनको मेरे अधरामृत की प्राप्ति हो, जिससे वे कृतार्थ हो जावें। इसलिये मैं भोजन करते हुए भी अभोक्ता हूँ। तात्पर्य यह है कि ज्ञान-मार्ग की रीति से ब्रह्म, भोजन न करने के कारण अभोक्ता है। किन्तु पुष्टिमार्गरीत्यनुसार भोजन करते हुए भी भगवान् अभोक्ता है। यही ज्ञानमार्ग से भक्तिमार्ग की विशेषता है जो इस लीला द्वारा भगवान् ने बताई है॥ ३५॥

आभास----लौकिका युक्तिपुरःसरं पदार्थं गृह्णन्तीति यशोदा तद्वाक्यमङ्गीकृत्य तत्रापेक्षितं प्रार्थयित्वा द्रष्टुमुद्युक्ता ततो भगवान् प्रदर्शितवानित्याह यद्येवमिति।

आभासार्थ—लौकिक मनुष्य, युक्ति सिद्ध सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। यशोदा ने भी कृष्ण के युक्ति-युक्त वाक्य सुनकर, उनको मान लिया और समझने लगी कि यदि यों है तो प्रत्यक्ष कराने के लिये मुख का उद्घाटन[2] अपेक्षित[3] है। इसलिये भगवान् को कहने लगी कि 'मुख' खोल। भगवान् ने मुखारविन्द को विकसित[4] किया एवं यशोदा मैया देखने को उद्यत[5] हुई, भगवान् अपने मुखारविन्द को दिखाने लगे।

श्लोक----**यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान् हरिः।**
व्यादत्ताव्याहतैश्वर्यः क्रीडामनुजबालकः॥ ३६॥

१—पूर्ण करने के लिये। २—खुलवाना। ३—आवश्यक, जरूरी। ४—खोला। ५—तैयार।

श्लोकार्थ----यशोदाजी ने कृष्ण को कहा कि जो यों है तो अपना मुख खोल। माता के वचन सुन, पूर्ण ऐश्वर्य वाले क्रीड़ा के लिये मनुष्य बालरूपधारी भगवान् हरि ने अपना मुख खोल दिया।

सुबोधिनी—यदिप्रत्यक्षसंवादि तद्वाक्यं नान्येषां तदा **व्यादेहि** मुखव्यादानं कर्तव्यं, एवमुक्तो **व्यादत्त** इति-सम्बन्धः, **स** इति, **स** यतो निरोधार्थमेवागतः, **अन्यथा** लौकिकपरमार्थयोर्भिन्नविषयत्वाल्लौकिके परमार्थप्रदर्शनमयुक्तं स्यात्, निरोधसामर्थ्यं **भगवा**निति, करणावश्यकत्वे हेतुर्**हरि**रिति, अन्यथा प्राणिनः कृतार्था न भविष्यन्तीति, विशेषेणादत्त **मुखं** प्रसारितवान्, ननु प्राकृतस्वीकारात् स्वधर्माणां तिरोभावसम्भवात् कथं सर्वसंवादो भविष्यतीत्याशङ्क्याहा**व्याहतैश्वर्य** इति, न केनापि प्रकारेण व्याहतमैश्वर्यं यस्य, ननु तर्हि कथं प्राकृतस्वीकारः ? तत्राह **क्रीडार्थमेव मनुजबालको** न तु प्रदर्शनार्थमपि, अतः क्रियाशक्तावेव लौकिक्यां तिरोभावः, तदपि विशेषप्रयोजनाभावे, अन्यदा तु क्रियाशक्तेरपि प्राकट्यं, ज्ञानशक्तिस्त्वतिरोहितैव सर्वदा, अतः प्रदर्शितवानित्यर्थः ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ—हे कृष्ण ! यदि तुम्हें वह वाक्य (कृष्ण ने मिट्टी खाई) प्रत्यक्ष प्रमाण से ही असत्य सिद्ध करना है और दूसरों के कहने से उसकी सत्यता नहीं माननी है तो मुख को खोलो। इस प्रकार माता के कहने पर मुरारि ने अपना मुखारविन्द विकसित कर दिया। श्लोक में 'स' शब्द देकर यह बताया है कि निरोध करने के लिये प्रकट हुआ है। यदि निरोधार्थ आप प्रकट न हुए होते तो लौकिक विषय और परमार्थ विषय भिन्न होते हुए भी लौकिक में परमार्थ दर्शन न कराते। यहाँ मिट्टी खाने की वार्ता सत्य है वा असत्य है, इसको सिद्ध करने के लिये मुख दिखाना लौकिक कार्य है। उसमें कृष्ण ने माता को सारा विश्व दिखाने का जो अलौकिक कार्य किया उसका आशय था, यशोदा का निरोध करना। इसलिये शुकदेवजी ने 'स' शब्द से यह जता दिया कि उसने (निरोधार्थ आए हुए ने) मुख खोला। उसमें निरोध करने की सामर्थ्य है इसलिये शुकदेवजी ने उसको 'भगवान्' कहा है अर्थात् उसमें षडैश्वर्यादि गुण प्रकट थे। न केवल षड्गुण वाले हैं किन्तु वह हरि, दोषों को हरण करने वाले भी हैं। इन शब्दों से यह सिद्ध किया है कि पाप हर्ता, प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक निरोधकर्ता वह है। मान लिया जाय कि वह (कृष्ण) ऐसे ही हैं, किन्तु अब तो आपने प्राकृतपना स्वीकार किया है, इसलिये स्व-ऐश्वर्यादि धर्मों का तो तिरोभाव आप में होगा ही इस शंका के निवारण के लिये श्लोक में शुकदेवजी ने 'अव्याहतैश्वर्यः पद दिया है जिसका अर्थ है कि किसी प्रकार का भी आपका ऐश्वर्य इस समय भी कम नहीं हुआ है; वही आपका सम्पूर्ण ऐश्वर्य विद्यमान है। तब प्राकृत बालक रूप का स्वीकार किस लिये किया है ? इस शंका को मिटाने के लिये शुकदेवजी ने 'क्रीड़ा मनुज बालकः' कहा है। दिखाने के लिये प्राकृतवत् बालरूप धारण नहीं किया है, किन्तु इस स्वरूप से क्रीड़ा करने की इच्छा थी, इसलिये यह रूप स्वीकार किया है। भगवान् में ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति सदैव रहती है किन्तु जब लोकवत् लीला करनी होती है, तब समय पर कभी-कभी केवल क्रिया-शक्ति तिरोहित कर, लीला

करते हैं। नहीं तो ज्ञान-शक्ति की तरह क्रिया-शक्ति भी प्रकट रहती है। ज्ञान-शक्ति तो सर्वदा प्रकट रहती है अतः कृष्ण ने अपने मुख में विश्वरूप का दर्शन कराया ॥ ३६ ॥

आभास----सापि भगवता प्रेरिता भगवदिच्छया प्राप्तज्ञानशक्तिस्तन्मध्यस्थितं जगद् दृष्टवतीत्याह सा तत्रेति ।

आभासार्थ—जिस (यशोदा) का निरोध हो रहा है (पूर्ण निरोध अब तक नहीं हुआ है, इसलिये निरोध के मध्य में स्थित है) जिसको भगवदिच्छा से ज्ञान-शक्ति प्राप्त हुई है वैसी माता यशोदाजी भगवान् की प्रेरणा से भगवान् के मुख के मध्य में स्थित जगत् को देखने लगी। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**सा तत्र दृदृशे विश्वं जगत् स्थास्णु चरिष्णु च ।**
साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम् ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ----उस (यशोदा) ने मुख में विश्व स्थावर तथा जंगम जगत्, वायु, अग्नि, चन्द्र, तारों, पर्वत, द्वीप और समुद्रों समेत पृथ्वी के गोले को देखा।

सुबोधिनी—सा निरोधमध्यस्थिता **तत्र** मुखविवरे **विश्वं ददृशे,** आपाततो दर्शनं व्यावर्तयितुं विशेषाकारेण दृष्टं निर्दिशति **जगदितिद्वाभ्यां, विश्वमिति** समुदायेन भगवद्रूपमाधिदैविकं वा, **जगदन्यल्लौकिकं विश्व**रूपं प्रतिकृतिरूपमित्यौपनिषदा आधिदैविकमिति ब्रह्मविदः कार्यकारणरूपमित्युभयोः समाधानमिति विचारकाः, जगति भेदानाह **स्थास्णु चरिष्णु** चेति, स्थावरं **जङ्गमं च,** चकारात् तद्धर्मा सर्व एव, **साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलमित्यधः** खण्डः, उपरिखण्डं वक्ष्यत्यग्रिमश्लोके, अयमपि भेदस्तया ज्ञात इति, **अद्रयो** मेर्वादयो **द्वीपा** जम्बवादयोऽब्धयो लवणादय एतैः सहितं **भूगोलं, सवाय्वग्नीन्दुतारकमिति** भूगोलस्यैव विशेषणं, **वायु**स्तत्रोपलभ्यत एव, **अग्निश्च इन्दुः** प्रथमाहुतिफलरूपः, "सोमोराजा भवती" तिश्रुतेः, यद्वा यज्ञियं रूपं भूमिष्ठं तत्र वर्तत इति "यदस्यां यज्ञियमासीत् तदमुष्यामदधा" दितिश्रुतेः, **तारका** अपि भूमिष्ठा भोगार्थं तत्र गच्छन्तीति पुनारायान्ति चेति तारका अपि भूमिष्ठा एव श्येना इव ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ—निरोध के मध्य में स्थित, उस (यशोदा) ने मुखरूप बिल में विश्व का दर्शन किया। श्लोक में 'विश्व' और 'जगत्' दो शब्द देने का भाव आचार्यश्री स्पष्ट समझाते हैं कि यशोदा ने केवल ऊपर-ऊपर से विश्व को नहीं देख लिया किन्तु विशेष प्रकार से ज्ञानपूर्वक समग्र पदार्थों को देखा। इसलिये श्लोक में 'विश्व' और 'जगत्' दो शब्द दिये हैं। 'विश्व' शब्द से यह बताया है कि यह समग्र विश्व भगवद्रूप है और वह भगवान् का आधिदैविक स्वरूप है। अर्थात् यशोदा ने प्रथम भगवान् के आधिदैविक स्वरूप जगत् का दर्शन किया पश्चात् लौकिक, अन्य जगद्रूप, जो रूप भगवान् का प्रतिकृति रूप है, उसको देखा। जगत्रूप के वर्णन करने वाले तीन प्रकार के हैं—

(१) **औपनिषदाः**--उपनिषदों को जानने वाले जगत् को भगवान् का प्रतिकृति रूप मानते हैं ।

(२) **'ब्रह्मविदः'**—ब्रह्मवादी जगत् को भगवान् का आधिदैविक स्वरूप समझते हैं ।

(३) **'विचारकाः'**--विचारशील तत्त्व विचारक आचार्यचरण जगत् को 'कार्य कारण' रूप मानकर दोनों (औपनिषद और ब्रह्मविदों) का समाधान (एकता) करते हैं । (जगत् कार्य है, ब्रह्म उसका कारण है । कार्य कारण एक ही वस्तु होने से जगत् एवं ब्रह्म में भेद वा द्वैत नहीं है। अतः जगत् प्रतिकृति होते हुए भी ब्रह्मरूप है । लौकिक प्रतिकृति के समान जगत् ब्रह्म की प्रतिकृति नहीं है ।)

जगत् के भिन्न-भिन्न रूप भेदों को कहते हैं—(१) स्थावर (जड़), (२) जंगम (चेतन) श्लोक में दिये 'च' अक्षर से उनके सब प्रकार ,के धर्म भी कहे हैं। इस श्लोक में नीचे के खण्ड[1] पर्वत, द्वीप, समुद्र रूप भूगोल का वर्णन है । ऊपर के भाग का वर्णन आगे के श्लोक में करेंगे । जगत् का यह भीतरी भेद जान लिया। जैसे कि मेरू आदि पर्वत, जम्बू आदि द्वीप और लवणादि समुद्रों के साथ भूगोल का ज्ञान प्राप्त किया । न केवल इतना ही ज्ञान सम्पादन किया, किन्तु इससे विशेष वायु, अग्नि, चन्द्र और तारकों का भी ज्ञान पा लिया क्योंकि वे भी भूगोल के ही अंग हैं । वायु और अग्नि तो भूगोल पर प्राप्त होते ही हैं और चन्द्रमा यज्ञ में दी हुई पहली आहुति का रूप है । अतः श्रुति में कहा गया है कि 'सोमोऽस्माकं राजा' चन्द्रमा हमारा राजा[2] है अथवा यज्ञीयंरूपं (यज्ञ सम्बन्धीं रूप जो भूमि पर) था, वह अब उसमें (चन्द्रमा में) कलङ्क (कालास के) रूप से बिराजता है । तारे भी पृथ्वी पर स्थितिवाले हैं किन्तु भोग के लिये वहाँ (ऊपर के भाग में) जाते हैं, भोगों का भोग लेकर बाज, पक्षियों की तरह पृथ्वी पर आ जाते हैं । इसलिये ये सब भूमिष्ठ ही हैं ।। ३७ ।।

आभास—उपरितनं दलमाह ज्योतिश्चक्रमिति ।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में ऊपर के भाग में ज्योतिश्चक्र है जिसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक--**ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्वान् वियदेव च ।**
वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणस्त्रयः ।। ३८ ।।

१—भाग । २—रजंन करने वाला ।

श्लोकार्थ––ज्योतिश्चक्र, जल, तेज, वायु और आकाश, वैकारिक, इन्द्रियां, मन, मात्राऐं और तीन गुण, ये ऊपर के भाग में यशोदा ने देखे ।

सुबोधिनी—जलं मध्यस्थितं "सलिलं वा इदमन्तरासी" दिति वृष्टिर्वियद्गङ्गा च, **तेज** इति सूर्यादिध्रुवान्तानां किरणाः, विद्युदादयो वा, **नभस्वान्** वायुरुपरितनः, **वियदाकाशो वैकारिकाणि** सात्त्विकानि सर्वविकारसाध्यानि वेन्द्रियाधिष्ठातृरूपाणीन्द्रियाणि ब्रह्माण्डाद् बहिः स्थितानि, ब्रह्माण्डमपि गृहे घटवत् प्रतीयते, **इन्द्रियाणि** च ततो बहिः पदार्थान्तरवत्, सर्वदर्शनसामर्थ्यं भगवता दत्तमित्युक्तमेव, **इन्द्रियाणि** राजसानि **मनश्च** सात्त्विकं **मात्रास्तामसास्तेषां** निधानभूता **गुणाश्च त्रय इति, अहङ्कारगुणाः प्रकृतिगुणाः** मायागुणाश्च ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ—ऊपर के भाग में आकाश और भूमि के मध्य भाग में 'जल' है । यह जल वृष्टि और आकाशगंगा के नाम से प्रथित[1] है । सूर्य से लेकर ध्रुव तक के किरणों को अथवा विद्युत[2] आदि को तेज कहते हैं । ऊपर के भाग वाले वायु को 'नभस्वान्' कहते हैं । वियत्[3] वैकारिक अर्थात् सात्विक, सर्व प्रकार के विकारों से साध्य[4] सकल इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं और ब्रह्माण्ड से बाहर स्थित इन्द्रियाँ । इतना महान् ब्रह्माण्ड भी मुख में यों देखने में आया जैसे गृह में रखा हुआ घड़ा देखने में आवे । इन्द्रियाँ तो उससे बाहर किसी दूसरे पदार्थ के समान दृष्टिगोचर होती थीं । इतना सारा ब्रह्माण्ड नीचे, ऊपर एवं बीच के भाग में स्थित सकल पदार्थों को यशोदा पूर्ण रीति से ज्ञान पूर्वक देख सकी । क्योंकि सर्व पदार्थ देख सकने की शक्ति प्रथम ही परमात्मा ने यशोदा को देदी थी । इन्द्रियाँ राजस, मन सात्त्विक, मात्राएँ तामस हैं, इनके अहंकार प्रकृति और माया के गुण आश्रयी भूत हैं । इनको भी यशोदाजी ने देखा ॥ ३८ ॥

आभास––एवं दृष्टमनूद्य तद्दर्शनेन तस्या अपूर्वत्वाद् भयं जातमित्याहैतदिति ।

आभासार्थ—यशोदा ने जो कुछ देखा उसका वर्णन कर, अब निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं कि ऐसे विचित्र दर्शन यशोदा ने कभी नहीं किए थे । इससे उसे भय हुआ कि यह क्या ?

श्लोक––**एतद् विचित्रं सहजीवकालस्वभावकर्माशयलिंगभेदम् ।**
सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम् ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ—पुत्र के शरीर एवं खोले हुए मुखारविन्द में, जीव, काल, स्वभाव, कर्म, आशय, और लिङ्गों के भेद सहित इस विचित्र[5] जगत् को एवं समग्र व्रज तथा

१—प्रसिद्ध । २—बिजली । ३—आकाश । ४—प्राप्त करने योग्य । ५—अनोखे, अजीब ।

अपने को भी देखकर यशोदा को शङ्का हुई कि यह मैं क्या देख रही हूँ ! (इससे वह डरगई) ।

सुबोधिनी—विचित्रमिति, युक्त्यापि न निर्णेतुं शक्यं, करणान्यपि दृष्टवतीति तान्यनुवदति, **जीवकाल-स्वभावकर्माशयलिङ्गानां** भेदस्तत्सहितं जगत्, **जीवा-**स्त्रिविधा देवमानुषदानवाः, **कालोपि** तथा भूतभविष्य-द्वर्तमानरूपः, **स्वभावः** प्रकृतिधर्मो भगवद्रूप इति निबन्धे विवृतं **कर्म** च, **आशयो** हृदयकोशो यस्मिन्नाशेरते जीवाः, **लिंगं** लिङ्गशरीरं स्थूलकोशात्मकं, **लिंगभेदा** वा स्त्रीपुन्नपुंसकाः, एतत् सर्वं स्थानविशेषस्यापरिज्ञानात् **सूनो-**स्तनौ वीक्ष्येत्युक्तं, विदारितमास्यं यस्मिन्नन्तर्बहिः सर्वत्रैव जगद् व्याप्तमिति **वदंस्तनौ विदारितास्य** इति-पदद्वयं,, स्वप्नभ्रमव्युदासार्थं **व्रजमपि** दृष्टवती, माया-व्युदासायात्मानं, आत्मना सहितं व्रजमितिविशिष्टकथनं सर्वभ्रमव्युदासाय, एवमभ्रमेण सर्वं दृष्ट्वा **शङ्का-मवाप** ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ—यशोदा यह देखकर इसलिए डर गई कि यह (जगत्) ऐसा विचित्र है कि जिसका युक्ति से भी निर्णय नहीं किया जा सकता है। न केवल जगत् को देखा, किन्तु उसके करण[1] भी देखे। उन करणों के नाम कहते हैं, कि १—जीव, २—काल, ३—स्वभाव, ४—कर्म, ५—आशय, ६—लिङ्ग भेद—ये जो छः कारण बताये हैं उनका आचार्यश्री स्पष्टीकरण करते हैं कि १—जीव–देव, मनुष्य और दानव भेद से तीन प्रकार के हैं। २—काल–भूत, वर्तमान और भविष्य भेद से तीन प्रकार के हैं। ३—स्वभाव, यह प्रकृति का भगवद्रूप धर्म है। ४—कर्म, इसका विवरण[2] 'निबन्ध' ग्रंथ में किया गया है। ५—आशय, जिस हृदय कोश में जीवों का निवास है। ६—लिङ्ग–स्थूल शरीर जिसमें बीज रूप से स्थित है वह सूक्ष्म शरीर। अथवा जंगम् शरीरों के स्त्री, पुरुष और नपुंसक भेद (चिन्ह)। यशोदा को पहले इन सब स्थानों का पूर्ण रीति से ज्ञान नहीं था। इसलिये श्लोक में कहा है कि अब यह सब पुत्र के शरीर में, उस (यशोदा) ने देखा। श्लोक में 'तनौ' (शरीर में) विदारितास्ये (खोले हुए मुखारविन्द में) ये दो पद शुकदेवजी ने दिये हैं। उनका भाव आचार्यश्री बताते हैं कि यशोदा ने यह सब केवल मुख के भीतर ही नहीं देखा किन्तु बाहर (कृष्ण के शरीर में) भी देखा। श्लोक में शुकदेवजी ने कहा है कि 'यशोदा ने अपने को भी देखा'। उसका भाव आचार्यश्री बताते हैं कि भगवान् ने अपने मुख और शरीर में व्रज और माता का स्वरूप, यशोदा मैया को दिखा कर यह ज्ञान दिया कि यह जो तू देख रही है, वह सत्य है, स्वप्न नहीं है, और न माया है। इस प्रकार यशोदा का सर्व भ्रम निवारण तो हुआ, किन्तु शंका हुई कि इतने छोटे बालक में इतना विश्व कैसे है, इस कारण भयवती हो गई ॥ ३६ ॥

आभास—अस्याः शंकाया व्युदासार्थं लौकिक प्रकारेण पक्षानाशंक्य परिहर-तिकि स्वप्न इति ।

१—जिन साधनों (पदार्थों) से वह बना हुआ है वे। २—व्याख्यान।

आभासार्थ—इस प्रकार देखने में और उसको सत्य समझ, भययुक्ता होने से यशोदा के मन में लौकिक प्रकार की अनेक शंकाएं होने लगीं। उन अनुमानित शंकाओं का परिहार[1] कर सत्य सिद्धान्त का निम्न श्लोक में प्रतिपादन करते हैं।

श्लोक---**किं स्वप्नमेतदुत देवमाया किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः ।**
अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ--क्या ? यह स्वप्न है ? वा देवता की माया है ? अथवा मेरी बुद्धि का मोह है ? कि वा इस मेरे बालक (पुत्र) का ही कोई स्वाभाविक आत्मयोग है।

सुबोधिनी—अन्यदा प्रतीतं यत् कदाचित् प्रतीयते तत् त्रिधा भवति स्वप्नेऽपि कदाचिदलौकिकं प्रतीयते तस्य स्थानस्य सन्ध्यत्वाच्छीघ्रगमनात् "कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वाच्च" प्रकृते तद्वैलक्षण्यान्नायं स्वप्नो भवितुमर्हति पूर्वापरानुसन्धानाच्च, अतः पक्षान्तरमाहोत देवमायेति, मायामात्रं नात्यन्तमोहकं देवानां तु माया मनुष्यव्यामोहिका भवति मोहवशाच्चातिरिक्तभानमपि सम्भवतीत्याशङ्क्य सा भगवति न सम्भवति भगवत्प्रयत्नानन्तरभावित्वादस्य भगवत्कृतापि माया न भवति तथा सति स्थिरता न स्यान् मम च तत्र दर्शनं न स्यादुभयोश्चादर्शनं, तर्हि दर्शनमेव भ्रान्तमितिपक्षं स्वीकरोति किं वा मदीयो बत बुद्धिमोह इति, बुद्धिमोहोप्येतादृशः कदापि न जात इति विशेषमाह मदीय इति, अन्यैर्न दृश्यत एव, तथा सति ते वदेयुः, न हि दृष्टेनुपपन्नं नामेतिन्यायात्, मदीय एवायं बुद्धिमोहः, एवं सति स्वस्य महत्त्वाद् बतेतिहर्षः, यद्येवं स्याद् बालकान्तरे स्थलान्तरेप्येवमुपलभ्येत, अस्मिन्नेव बालक उपलभ्यत इति न पूर्वोक्तपक्षाः किन्त्वस्यैव कश्चनानुभाव इत्याहाथो इति पूर्वपक्षव्युदासार्थं, अमुष्येत्यग्रेऽपि परिदृश्यते सूक्ष्मस्तस्मिंश्च जगद् विशालं, ममार्भकस्येति, पूर्वं भावदार्ढ्यं, अन्यथा निरोधो न स्यान्मुक्तिश्च स्यादिति, कोयं तव बालकस्य गुण इति चेत् तत्राह यः कश्चनेति, भिन्नतयेदमित्थतया वा ज्ञातुं न शक्यते, इदानीमेव देवतान्तरसम्बन्धाज्जातं भविष्यतीत्याशङ्क्याहौत्पत्तिक इति, स्वाभाविकोय "मुत्पत्तिशिष्टः" पूर्वमप्यनुभूतत्वात् पूतनादीनां मारणाच्च, केवलं प्रदर्शकत्वे पूतनादीनां वधो न स्यात्, अत आत्मयोगः, आत्मन एव भगवतो योगरूपेयं विभूतिरित्यर्थः ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ--इस श्लोक में जो लौकिक प्रकार से अनुमानित शंकाएं की हैं उनके चार पक्ष कहे हैं:--१–स्वप्न, २–देवमाया, ३–अपनी बुद्धि का मोह और ४–बालक का आत्मयोग। इनमें से पहले कहे हुए तीन पक्षों का निराकरण कर चौथा पक्ष सत्य सिद्ध किया गया है।

१—पक्ष–स्वप्न, जो दृश्य कभी-कभी दृष्टिगोचर होकर तीन प्रकार का हो वह स्वप्न है, १. प्रकार-कुछ अलौकिक देखने में आवे, २. प्रकार–वह सन्ध्य[2] हो एवं शीघ्र नष्ट हो जाय, ३. प्रकार–वह पूर्ण रीति से सम्पूर्ण देखने में न आवे। जिसमें ये तीन नमूने हों वह स्वप्न होता है। यह जो दृश्य है वह उसके समान नहीं है इसमें पूर्वापर[3] का अनुसन्धान रहता है। अतः यह स्वप्न तो नहीं है।

१—निवारण। २—जो पहले भी न हो पीछे भी न हो। ३--आगे पीछे का।

२–पक्ष–देवमाया, माया मात्र मोह नहीं कराती है, किन्तु देवमाया तो मनुष्यों को विशेष मोह कराती है। मोह के वश होने से, अन्य पदार्थों का भान होना भी सम्भव है। यह देवमाया इतनी शक्तिमती है तो भी भगवान् पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता है। यह दृश्य (विश्व रूप का दर्शन) यह भगवान् के प्रयत्न से हुआ है, न कि देवमाया से, यह देखने में आया है। अतः यह देवमाया भी नहीं है। कदाचित् यह भगवान् की माया हो, भगवान् ने अपनी माया से दिखाया हो, तो वह भी जँचता नहीं। क्योंकि माया से जो मायिक पदार्थ देखने में आते हैं वे माया दृश्य बन्द होने पर देखने में नहीं आते हैं। यहाँ तो वैसा नहीं है और माया से जो पदार्थ देखे जाते हैं, वे बहुत समय तक नहीं रहते हैं। यहाँ तो जो कुछ देखा गया है, वह सब, अब भी विद्यमान है जैसे कि मैं और श्रीकृष्ण आदि। अतः श्रीकृष्ण की माया भी नहीं है।

३–मेरी बुद्धि का मोह–जो स्वप्न नहीं, देवमाया वा भगवान् की माया भी नहीं, तो जो देखा गया है, वह भ्रम होगा। बुद्धि के मोह से, हुआ होगा। यदि बुद्धि का मोह है, तो मुझे ही देखने में आता है, दूसरों को क्यों नहीं आता है। दूसरों को भी देखने में आता हो, तो वे भी मेरे समान कहने लगें। दूसरे नहीं कहते हैं। फिर विचार कर कहती है कि जो वस्तु प्रत्यक्ष, पूर्ण रीति से देखी जाती है, उसमें अनुपपन्न कुछ नहीं होता है। इस न्यायानुसार मेरी बुद्धि का ही मोह है। यदि यों है, तो मैं भाग्यवती हूँ। इसलिए यशोदा की प्रसन्नता प्रकट करने के लिये शुकदेवजी ने श्लोक में 'बत' हर्षवाचक पद दिया है।

४–अर्भकस्य आत्मयोग–इस प्रकार तीनों पक्षों का निराकरण किया गया। अब चौथे पक्ष के समर्थन में कहती है कि यदि मेरी ही बुद्धि का व्यामोह हो, तो दूसरे बालकों में वा दूसरे स्थलों पर भी, इस प्रकार का दृश्य मुझे देखने में आवे, अतः मेरी बुद्धि का व्यामोह भी नहीं है। किन्तु यह सब मेरे इस बालक का ही कोई प्रभाव ऐश्वर्य है। यह प्रभाव सूक्ष्म रीति से पूर्व भी देखा है। अब विशाल जगद् रूप में देखा है। मेरा बालक कहकर अपने पुत्रभाव की दृढ़ता बताई। यदि पुत्र भाव अब तक दृढ़ न होता, तो यशोदा मुक्त हो जाती, वह न हुई उसका कारण यह है कि यशोदा में अब तक लौकिक पुत्र भाव कृष्ण में है। अतः वह निरोध योग्य है।

आचार्यश्री श्लोक में कहे हुए 'यः कश्चन' पदों का भाव स्पष्ट करते हैं। तेरे बालक का यह गुण कौनसा है? इस पर कहा गया है कि जो, कोई, है अर्थात् जिसकी व्याख्या कर नहीं सकते हैं कि 'वह है' वा इस प्रकार का है। यों भी न समझना कि अब किसी देवतान्तर के सम्बन्ध से इसका इतना प्रभाव हुआ है। इसका यह ऐश्वर्यादि प्रभाव तो स्वाभाविक जन्म से ही इसमें है। इसके प्रभाव का अनुभव इस जगत् के दिखाने के पश्चात् ही नहीं हुआ है किन्तु हम व्रजवासियों को पहले भी हो गया है जैसा कि इसने पहले पूतना-वध आदि से अपने प्रभाव दिखाये हैं। यदि केवल मायावी के समान प्रदर्शक, जगत् दिखानेवाला होता तो यह पूतना आदि का वध नहीं कर सकता था। अतः यह इसकी अपनी ही आत्मयोग रूप विभूति[1] है ॥ ४० ॥

१—ऐश्वर्य।

आभास—एवं भगवद्विभूतिरूपमेतदिति ज्ञात्वा यत् कर्त्तव्यं तत् कृतवतीत्याहाथो इति ।

आभासार्थ—जब यशोदाजी को यह निश्चय हो गया कि यह 'विश्वरूप दर्शन' स्वप्न, देवमाया, भगवत्माया वा मेरी बुद्धि का मोह नहीं है; किन्तु यह इस बालक का अपना ही विभूति योग है तब तो उसको जो करना योग्य था, वह कृत्य करने लगी । उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**अथो यथावन्न वितर्कगोचरं चेतोमनःकर्मवचोभिरञ्जसा ।**
यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम् ।। ४१ ।।

श्लोकार्थ—यह विश्वरूप (भगवान्) चित्त, मन, कर्म और वाणी से पूरी तरह तर्क में नहीं आ सकता है और जिसकी कल्पना करनी भी अशक्य है, वैसा यह (विश्व) जिसमें आश्रित है जिससे यह प्रतीत हो रहा है उसके चरण कमल में मैं प्रणत[1] हूँ ।

सुबोधिनी—अथो दर्शनानन्तरं यस्माद भगवतः सकाशादेतत् **प्रतीयते** यत् **सुदुर्विभाव्यं**, अतः सोलौकिको भवतीति **तत्पदं** प्रणतास्मीतिसम्बन्धः, एतद्दर्शनस्यालौकिकत्वं वक्तुं लौकिकबुद्ध्यविषयत्वमाह **चेतोमनःकर्मवचोभिः, यथावद् वितर्कगोचरं न** भवतीति, **चित्तं** योगादिभावितं **मनःकर्मवयांसि** लौकिकानि, अलौकिकबुद्ध्यापि नैतावत् कल्पयितुं शक्यत इदमित्थमिति, अतीन्द्रियाणामपि दृष्टत्वान्मनसो बहिरस्वातन्त्र्याल्लौकिकप्रवणत्वाच्च कायिकमत्राहृष्टं गृहीतमदृष्टवशादप्येतन्निर्णयो वक्तुं न शक्यतेलौकिकत्वात्, परस्परव्याघाताच्च न वचसा, आपाततःकल्पनायामपि **यथावद् वितर्कगोचरं न** भवति, तथैव मायिकमित्यादिपक्षकल्पनायामप्य**ञ्जसा** सामस्त्येन नोपाद्यते, न हि स्वस्यापि तत्र पूर्वापरानुसन्धानसहितस्य प्रतीतिः सम्भवति, तथैव पदार्थानां विचारेपि स्थैर्यं च, अवस्थादेशकालाश्च, किञ्च तत्, सर्वप्रदर्शकः स्वमाहात्म्यार्थं स्वभिन्ने स्थाने प्रदर्शयति स्वस्मिंश्च पदार्थानां भाररूपत्वान्न स्थापयेत्, स्वावस्थादेशकालानां भ्रमासम्भवात्, **येन च** चक्षुषा **प्रतीयते** तच्चक्षुरपि नास्मदीयं, अन्यथा विद्यमानानां ज्योतिश्चक्रस्थपदार्थानामन्यदापि दर्शनं स्यात्, अतः सामर्थ्यं दत्वा स्वत एव स्वस्मिन् विद्यमानं जगत् स्वमाहात्म्यज्ञापनार्थं प्रदर्शितवान्, अतो ज्ञातमाहात्म्या तत्पदं **प्रणतास्मि** "नमो नम" इत्येतावत सदुपशिक्षितमितिशास्त्रार्थत्वात् ।। ४१ ।।

व्याख्यार्थ—विश्वदर्शन करने के पश्चात् जो (विश्वरूप) कल्पना करने से समझ में नहीं आता है और जो केवल भगवान् के सामीप्य से कहीं प्रतीयमान हो रहा है । इससे निश्चयपूर्वक समझा जाता है कि वह (विश्वरूप) अलौकिक है । एवं भगवान् की योग्य विभूति से दृश्य हो रहा है । ऐसे (अलौकिक दृश्य दिखाने की शक्तिवाले एवं स्वयं भी अलौकिक) भगवान् के चरण

१—शरणागत हूँ, नमन करती हूँ ।

कमल में मैं प्रणाम करती हूँ। 'विश्वरूप' की अलौकिकता प्रतिपादन करने के लिये तर्क देते हैं कि लौकिक बुद्धि से उसका ज्ञान नहीं हो सकता है। चित्त, मन, कर्म और वाणी द्वारा पूर्ण रीति से समग्र प्रकार से जैसा कुछ है वैसा दृष्टि गोचर नहीं होता है। योग के प्रभाव से उत्तेजित चित्त भी इसको समझ (देख) नहीं सकता है तो लौकिक मन, कर्म और वचन इसको कैसे जान सकेंगे? अलौकिक बुद्धि से भी यह ऐसा है वा वैसा है। इस प्रकार की कल्पना उसकी नहीं हो सकती है, क्योंकि इस विश्व में अलौकिक पदार्थ भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिसको योगादि से उत्कृष्ट[1] चित्त भी जान नहीं सकता है और मन भीतर तो स्वतन्त्र है किन्तु बाहर परतन्त्र है। कारण कि बाहर होते ही लौकिक विषयों में आसक्त होने से उनके आधीन हो जाता हैं; जिससे वह मन भी इस विश्व की कल्पना नहीं कर सकता है। 'कर्म' शब्द के प्रतिनिधित्व में यहाँ कायिक शब्द दिया है। जिसका आशय यह है कि कर्म काया से किया जाता है तो काया ही कर्म का कारण है। उस (काया) से कर्म करने पर जो फल होता है, उस फल शेष को, अदृष्ट,[2] प्रारब्ध[3] कहते हैं। उस अदृष्ट से भी इस विश्व के स्वरूप का निर्णय वा ज्ञान कहा नहीं जा सकता है। क्योंकि 'विश्व' अलौकिक है। वाणी से भी 'विश्व' का वर्णन नहीं हो सकता है क्योंकि वाणी द्वारा कहने से उसमें 'विरोध' देखने में आता है। जैसे कि एक ही विश्व को 'मुख' में और 'मुख' से बाहर कहने पर वाणी का परस्पर विरोध देखने में आता है। काम मात्र चलाने के लिये कल्पनाएँ करने से भी पूर्ण रीति से ध्यान गोचर नहीं होता है। इसी प्रकार मायिकादि पक्षों की कल्पना से भी पूर्णतया समझ में नहीं आता है। मायिक पक्ष में तो अपना भी पूर्वापर[4] सोचने का ज्ञान नहीं रहता है तथा पदार्थों के विचार करते समय उनमें स्थिरता नहीं रहती है एवं अवस्था देश और काल का भी पता नहीं पड़ता है।

जो अपना माहात्म्य प्रकट करने के लिये सर्व विश्व को दिखाता है वह तो अपने से भिन्न स्थान पर दिखाता है। इतने भार को अपने में नहीं रखता है क्योंकि देखने वालों को उसकी अवस्था, देश और काल देखकर भ्रम न हो जाय, इसलिये वह (प्रदर्शक) अपने में इतने सब पदार्थ नहीं रख सकता है।

यशोदा सब विचार कर अन्त में निर्णय करती है कि जिस नेत्र से यह (विश्वरूप) देख रही हूँ वह नेत्र भी मेरे नहीं हैं। क्योंकि यदि नेत्र मेरे होते तो ज्योतिष्चक्र में स्थित पदार्थ जो अब मैंने देखे हैं वे मैं पहले भी देखती? पहले तो कभी भी देखे नहीं। अतः मुझे (मेरे नेत्रों में) सामर्थ्य देकर आपने ही अपने में विद्यमान विश्वरूप का दर्शन अपने माहात्म्य ज्ञान कराने के लिये कराया है। इस लीला से मुझे इस बालक के माहात्म्य का पूर्ण ज्ञान हो गया है। अतः इसके चरणों में प्रणाम करती हूँ। प्रणाम करना ही सच्चा उपदेश एवं शिक्षा है। यही शास्त्रों का तत्त्व है॥ ४१॥

१—उत्तम, बढ़िया। २—जो देखा न जाय। ३—भाग्य। ४—आगे पीछे।

आभास—प्रणताया: प्रार्थनामाहाहमिति ।

आभासार्थ—यशोदा ने भगवान् को प्रणाम करने के अनन्तर जो प्रार्थना की उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**अहं ममासौ पतिरेष मे सुतो व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती ।**
गोप्यश्च गोपाः सहगोधनाश्च मे यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः ।। ४२ ।।

श्लोकार्थ—यह मैं हूँ, यह मेरा पति है, यह मेरा बेटा है, व्रजेश्वर (नन्द) के धन की रक्षा करने वाली पतिव्रता मैं हूँ, गोपियां, गोप और गोधन ये सब मेरेहैं । इस प्रकार जिसकी माया से मेरी ऐसी कुबुद्धि हुई है, वह मेरी गति हो ।

सुबोधिनी—सर्वापि दुर्बुद्धिर्भगवत्प्रणताया गच्छतीति दुर्बुद्धीर्गणयति, आदावहं यशोदेति **ममासौ** नन्दः **पतिरित्येष** भगवान् विश्वाधारो **मे सुत** इत्यहं पुनर्व्रजे**श्वरस्याखिलवित्तपा सती** पतिव्रता चेति, नन्दस्य व्रजेश्वरत्वं तत्स्त्रीत्वं च स्वस्य ततस्तस्य धनसम्बन्धस्तद्रक्षकत्वं च स्वस्य तदपि सामस्त्येनोभयत्र, तत्रापि पातिव्रत्यं भगवानपि परपुरुष इति तदभजनं च, अतः "स्त्रीणां पतिरेव विष्णु" रिति च, एता **गोप्यो** गोपभार्याः स्त्रियोस्मदीयाश्चेति, चकारात् तद्बालकास्तत्सम्बन्धाश्च तथा **गोपा सहगोधनाः** स्वपरिकरसहिता गोष्ठसहिताश्चैते सर्वे **मे यन्माययेत्थं कुमतिरहं स मे गतिरस्तु**, अहमिति चतुर्विधोध्यासो जातिलिङ्गकुलदेहभेदेन, **ममेति**शतप्रकाराः पतिपुत्रधनगोपगोपीगवां षड्विधानामनेकप्रकारत्वात् इत्थमहं **कुबुद्धिर्यन्मायया म** आत्मनो जीवरूपस्य ब्रह्मरूपस्य वा कुत्सिता चासौ **मतिश्च**, तदीया माया हि तेनैव निवर्त्या, बुद्धिप्रकाराः सर्वे मायाया एवेति **न** तैः स्वकार्यसिद्धिः, मायातिरिक्तस्त्वहमेव मायामोहविषयत्वात् पृथक्तया पुनर्म इतिवचनं मायासम्बन्धव्युदासार्थं सम्बद्धस्यैव गतित्वाभावाय, **गतिरत्र** प्राप्यस्वरूपं फलं, एवमुपालम्भार्थं प्रवृत्ता शरणं गता जाता ।। ४२ ।।

व्याख्यार्थ—जो भगवान् को प्रणाम करता है उसकी दुर्बुद्धि नष्ट हो जाती है । (यशोदा) ने भगवान् का माहात्म्य देखा, जिससे उसको कृष्ण के स्वरूप का ज्ञान हो गया । ज्ञान उत्पन्न होते ही यशोदा ने प्रणाम किया । प्रणाम करने से यशोदा को अपनी दुर्बुद्धि के दोषों की स्फूर्ति हुई । उनकी गणना करती हुई प्रार्थना करती है कि वह मेरी गति हो ।

यशोदा दुर्बुद्धि की गणना करती है । जीव में अहन्ता और ममता ही दुर्बुद्धि है । पहले अहन्ता होती है पीछे ममता उद्भव[1] होने लगती है अतः यशोदा पहले अहन्ता रूप दुर्बुद्धि को कहती है कि पहली मेरी दुर्बुद्धि यह है कि मैं अपने को आत्मरूप भगवदंश न समझ कर, यह समझती हूँ कि 'मैं यशोदा हूँ' । इस प्रकार अपना अहंभाव प्रकट कर अब ममतास्पद पदार्थों को बताती है कि यह नन्द मेरा पति है, विश्व का आधार भगवान् मेरा पुत्र है और मैं व्रजराज

१—पैदा होना, प्रकट होना ।

नन्दराय की सारी सम्पत्ति की रक्षा करने वाली सती (पतिव्रता) हूँ। इस वाक्य में तीन बात बताई है—(१) नन्द (मेरा पति) व्रज का राजा है (२) मैं उसकी स्त्री (रानी) हूँ इसलिये उसके धनकी रक्षिका सम्पूर्ण रीति से मैं हूँ और मुझ में विशेष गुण यह है, कि पूर्ण पतिव्रता हूँ इसलिये मेरे लिये भगवान् भी पर पुरुष होने से अभजनीय है, क्योंकि शास्त्रों में कहा है कि 'स्त्रीणां पतिरेव विष्णुः' स्त्रियों का पति ही विष्णु है। ये गोप भार्याएँ, गोप और उनके बालक एवं गौधन आदि जो हैं वे सब हमारे हैं। इस प्रकार की कुमति जिसकी माया से मुझे हुई है वह मेरी गति हो, अर्थात् मेरा आसरा हो।

यशोदा ने पहले 'अहं' मैं कहने से चार प्रकार का 'जाति, लिंग, कुल और देह' भेद से अपना अहङ्कार रूप अध्यास प्रकट किया। पीछे 'मम' (मेरे) सैकड़ों प्रकार से ममता प्रकट की। पति, पुत्र, धन, गोप, गोपी, गौ आदि इन छः के भी उत्तम, अधम धर्मों से अनेक प्रकार हैं। ऐसी अहन्ता, ममता रूप कुबुद्धिवाली मैं जिस माया से अपनी आत्मा के (जीव वा ब्रह्मरूप) रूप को भूल गई हूँ। उस माया को वह (भगवान्) ही निवृत्त कर सकते हैं। यदि कोई कहे कि अपनी बुद्धि से माया को निवृत्त करो, बुद्धि के भी अनेक प्रकार हैं। उसके उत्तर में यशोदा कहती है कि बुद्धि के जितने भी प्रकार हैं वे स्वयं माया के ही खेल हैं। इनसे माया मिटाई नहीं जा सकती है। इस प्रकार बुद्धि बल से मेरी बुद्धि की निवृत्ति नहीं होगी।

श्लोक के उत्तरार्ध (दूसरे अर्ध) में 'मे' शब्द दो स्थानों पर है। एक का सम्बन्ध कुमति के साथ है दूसरे का 'गति' शब्द से है। दोनों के आशय को आचार्यश्री बताते हैं कि जो 'मे' शब्द कुमति से सम्बन्ध रखता है, उसका भाव है कि माया भिन्न है, मैं (जीव) भिन्न हूँ, इसलिये माया के मोह का विषय 'मैं' बनती हूँ अर्थात् मायाधीन होने से संसारासक्त हो जाती हूँ। दूसरे 'मे' का सम्बन्ध गति पद से है। उसका तात्पर्य है कि जिस जीव का माया से सम्बन्ध नहीं है वह जीव ही 'गति' पा सकता है अर्थात् फल प्राप्त कर सकता है। यशोदा की नमन करने से दुर्बुद्धि गई इसलिये माया का सम्बन्ध ढीला हुआ जिससे फल के लिये प्रार्थना करने लगी। इस प्रकार जो यशोदा आई तो थी भगवान् को उपालम्भ देने के लिये परन्तु ले ली भगवान् की शरण ॥ ४२ ॥

आभास—एवं ज्ञाने जाते भक्तिसुखं न प्राप्स्यतीति भक्त्यानन्दस्य ब्रह्मानन्दापेक्षया महत्त्वाद् भक्तार्थं दैव्या मायया मोहितवानित्याहेत्थमितित्रिभिः।

आभासार्थ—श्रीकृष्ण ने जब देख लिया कि यशोदा को मेरे ईश्वर एवं रूप का ज्ञान हो गया है, इससे अब यह भक्ति (वात्सल्य स्नेह का आनन्द) का रस न ले सकेगी। ब्रह्मानन्द से भक्ति

में विशेष आनन्द है । तब भगवान् ने भक्तहितार्थ उसमें अपनी वैष्णवी माया से ज्ञान को तिरोहित कर, भक्ति उत्पन्न करने के लिए मोह (स्नेह) उत्पन्न किया । भगवान् ने मोह (स्नेह) उत्पन्न कर, यह बताया कि यशोदा अब भक्त है माता नहीं । अब भक्ति प्रकरण प्रारम्भ होता है, जिसका वर्णन तीन श्लोकों से करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक––इत्थं विदिततत्त्वाया गोपिकायाः स ईश्वरः ।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां प्रजास्नेहमयीं विभुः ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ––इस प्रकार सर्व समर्थ उस ईश्वर ने जब देखा कि इसको मेरे स्वरूप का ज्ञान हो गया है, तब उसने प्रजावात्सल्य उत्पन्न करने वाली, आधिदैविक माया फैलादी ।

सुबोधिनी—एवं पूर्वोक्तप्रकारेण **विदितं तत्त्वं** यथा तत्त्वज्ञानानन्तरं तस्या मातृत्वाभावाद् **गोपिकाया** इत्युक्तं, ननु भगवान् ज्ञानं कुतो न नाशितवान् तत्राह **स इति**, स निरोधकर्ता, ननु नाशनीये ज्ञाने किमर्थमुत्पादितवान् वा किमर्थं नाशितवानित्युभयाभिप्रायो ज्ञातव्य इति चेत् तत्राहेश्वर इति, स हि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थोऽन्यथा च करोति, अतो नात्रोपपत्तिरन्वेष्टव्या, वैष्णवीमाधिदैविकीं स्नेहसम्बन्धिनीं निरोधोपयोगिनीं विशेषेणातनोद्, विहितस्नेहभावव्युदासार्थमाह **प्रजास्नेहमयीमिति**, यावदात्मीयतया परमस्नेहे रस उत्पद्यते न तावदीश्वर-भावेन भयज्ञानस्य स्नेहप्रतिबन्धकत्वादत्र च लौकिकत्वेपि प्रजारूपेण स्नेह उचितो नान्यथेत्यनन्तविधासु मायासु **प्रजास्नेहमयीमेव व्यतनोत्**, ननु विरोधिज्ञानस्य जातत्वात् कथं प्रजाबुद्धिर्भगवति भविष्यतीत्याशङ्क्याह **विभुरिति**, स हि सर्वसमर्थः, एकस्मिन्नेव वस्तुनि कोटिधाबुद्ध्युत्पा-दनसमर्थः, अन्यथा पूर्वविरुद्धधर्मा उत्तरत्र न भवेयु॥४३।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार यशोदा ने जब तत्त्व जान लिया और वह भगवान् के शरण में आ गई, तब वह माता यशोदा नहीं रही । इसलिये श्लोक में न यशोदा का नाम दिया है और न माता ही कहा है किन्तु 'गोपिका' कहा गया है । भगवान् ने यशोदा पर अपनी निरोधोपयोगिनी प्रजास्नेहीमयी वैष्णवी माया फैलाई, जिससे उसका ईश्वरीय ज्ञान जाता रहा और उसमें यह पूर्ववत्[1] श्रीकृष्ण में पुत्र स्नेह उत्पन्न हो गया । भगवान् ने यशोदा को जो तत्त्व ज्ञान हुआ था उसे नष्ट क्यों किया ? इस शंङ्का के निवृत्यर्थ[2] श्लोक में 'स' (वह) शब्द दिया है । जिसका तात्पर्य है कि भगवान् निरोधकर्त्ता हैं, अर्थात् निरोध करने के लिये प्रकट हुए हैं, यदि ज्ञान का तिरोभाव न करें, तो यशोदा का निरोध सिद्ध न होता । अच्छा, यदि ज्ञान होता तो निरोध सिद्ध नहीं होता, तो पहले ज्ञान उत्पन्न ही क्यों किया ? ज्ञान देकर पुनः खेंच लेना, यह क्या ?

१—पहले की तरह । २—दूर करने के लिये ।

इन दोनों का रहस्य जताने के लिए श्लोक में कृष्ण को 'ईश्वरः' कहा है, वह करने के लिए न करने के लिए और अन्यथा करने के लिए समर्थ है। तात्पर्य यह है कि चाहे जैसे वे कर सकते हैं, अतः इस विषय के लिये किसी प्रकार के उपपत्ति[1] की खोज नहीं करनी चाहिये।

यह माया, शास्त्र मर्यादा के बन्धन में बद्ध[2] स्नेह उत्पन्न करने वाली नहीं है। इसे बताने के लिये टीका में 'प्रजास्नेहमयी' पद दिया हैं। स्वत्व होने से जो विशेष निर्बन्ध स्नेह उत्पन्न होता है और उस स्नेह से, जो रस प्राप्त होता है वह रस 'ईश्वर' जानकर प्रेम करने से नहीं होता। कारण कि ईश्वर भाव के समय तो भय और ज्ञान रहते हैं वे दोनों ही उस निर्बाध[3] आनन्द के प्रतिबन्धक[4] हैं। लौकिक प्रेम में भी, जो प्रजा रूप स्नेह है, वही उत्कृष्ट[5] रस प्रद है। इसलिए भगवान् ने अपनी अनन्त प्रकार की स्नेह उत्पन्न करने वाली मायाओं के रहते हुए भी केवल 'प्रजास्नेहमयी' माया ही फैलाई।

अब यशोदा को, कृष्ण में जब ईश्वरत्व बुद्धि हो गई है, तब 'यह मेरा पुत्र है' ऐसी विपरीत बुद्धि कैसे होगी ? एक ही पदार्थ में भिन्न भिन्न बुद्धि किसी की भी नहीं हो सकती है। इस शंका को मिटाने के लिये 'श्लोक' में कृष्ण का नाम 'विभुः' दिया है जिसका अर्थ है कि वह सर्वकरण समर्थ है अर्थात् एक ही वस्तु में कोटि-कोटि प्रकार की बुद्धि उत्पन्न कर सकता है, जिससे द्रष्टा एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न प्रकार से देख सकता है। ऐसी अनेक सामर्थ्य वाले भगवान् न होवें तो किसी भी वस्तु में पहले कहे वा देखे हुए धर्म बदल कर दूसरे देखने में न आवे। यह सर्व भगवान् की अनन्त सामर्थ्य हैं जैसे कि घट पहले जब कच्चा होता है तब वह श्याम दीखता है, पक जाने पर लाल दिखाई देता है ॥ ४३ ॥

कारिका—प्रक्षिप्ता जालवन् माया तया ज्ञानं विनाशितम्।
प्रमाणानां बलं दग्ध्वा मोहयामास गोपिकाम् ॥ १ ॥

कारिकार्थ—इस कारिका में आचार्यश्री ने प्रथम पाद में ४३ वें श्लोक में कहे हुए माया फैलाने के भाव बताए हैं कि भगवान् ने जाल की तरह माया फैलाई है। द्वितीय पाद में ४४ वें श्लोक में कहे हुए ज्ञान-नाश का आशय कहा है कि भगवान् की माया फैलने से यशोदा की स्मृति नष्ट हो गई। श्लोक के उत्तरार्द्ध में ४५ वें श्लोक में कहे हुए अर्थ का तात्पर्य बताया है कि जिस हरि के वेद आदि शास्त्र गुण-गान करते हैं उसको यशोदा ने अपना पुत्र समझकर उस में स्नेह कर लिया है।

१—कारण सहित निर्णय। २—बंधा हुआ। ३—बाधा रहित।
४—रुकावट डालने वाले। ५—बहुत अच्छा या बढिया।

आभास—मायामोह ज्ञानं नष्टमित्याह सद्य इति ।

आभासार्थ—भगवान् की माया से उत्पन्न मोह के कारण यशोदा का ज्ञान जाता रहा और कृष्ण में पुत्र-भाव युक्त हृदयवती हो गई । यह वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपी सारोप्यारोहमात्मजम् ।**
प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयासीद् यथा पुरा ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ—भगवान की दैवी माया फैलते ही उसी क्षण में गोपी (यशोदा) उत्पन्न हुए, उस तत्त्व ज्ञान को भूल गई और पुत्र को गोद में पधराकर, अत्यन्त बढ़े हुए गहन स्नेह युक्त हृदय वाली पहले के समान पुत्र भाव वाली हुई ।

सुबोधिनी—तदानीमेव **नष्टा स्मृतिर्यस्याः**, अत्र भगवन्मतमनुभवस्मरणयोर्मध्ये न संस्कारोनुभवः स्मृतिमेव जनयति, यथेन्द्रियसंयोग उत्तरोत्तरमनुभवोद्बोधकस्तथा स्मृतिरपि केनचिद् बोध्यते नाश्यते च, निरन्तरनाशोत्पत्ती अप्रामाणिके वेदविरुद्धे, विवेकेन ज्ञानोद्बोधनमाशङ्क्याह **गोपीति**, तत्रापि **सारोहम**ङ्कस्थानं भगवन्तमारोप्य **प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदया** सति पूर्ववदेवासीत्, बहिर्व्यापारोपि ज्ञानसाध्य आरोपणात् पूर्ववत् कृतः स्नेहोप्यान्तरः, ज्ञानानन्तरमान्तरः स्नेहोन्यथा भविष्यतीत्याशङ्क्य **प्रवृद्धस्नेहेन कलिलं हृदयमित्युक्तं**, **न हि विहितस्नेहे हृदये कलिलता भवति, कलिलमत्र पङ्किलमिव मोहसहितः** स्नेहस्तादृशमेव हृदयं जातमिति कालान्तरेपि न कलिलनिवृत्तिः, पूर्वावस्थापरित्यागे मायया भक्तत्वमेव स्यान् न तु निरोध इति **यथा पुरे**त्युक्तम् ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ—उसी समय में यशोदा उस ज्ञान को भूल गई । जिस समय, हम पदार्थों को देखते हैं, उस समय हमारे मस्तिष्क में उनके संस्कार उत्पन्न होते हैं । जब हम पदार्थों का देखना बन्द करते हैं, तब वे उत्पन्न संस्कार मस्तिष्क में ही स्थिर हो जाते हैं । वे संस्कार किसी समय उद्भूत[1] होते हैं । उन उद्भूत संस्कारों को स्मृति[2] कहते हैं । वह स्मृति कुछ काल के पश्चात् नष्ट हो जाती है । इस प्रकार अनुभव से उत्पन्न संस्कारों द्वारा हुई स्मृति का थोड़े समय में नष्ट होना तो बन सकता है; किन्तु पदार्थों का देखना बन्द हुआ, साथ में स्मृति भी नष्ट हुई, यह युक्तियुक्त नहीं है ? आचार्यश्री इस शङ्का का निवारण भगवान् के मतानुसार करते हैं कि अनुभव (पदार्थों के देखने) और स्मृति (देखे हुए पदार्थों के स्मरण) के मध्य में किसी प्रकार के मस्तिष्क में संस्कार उत्पन्न नहीं होते हैं । अनुभव ही स्मृति को उत्पन्न करता है । जिस प्रकार पदार्थ और इन्द्रियों का संयोग उत्तरोत्तर अनुभव का उद्बोधक[3] है वैसे ही स्मृति भी किससे

१—प्रकट । २—स्मरण शक्ति, याददास्ती । ३—प्रकट करने वाला ।

उत्पन्न होती है और किससे नष्ट होती है। वेद विरुद्ध मत वालों का यह सिद्धान्त है कि पदार्थों के निरन्तर, नाश और उत्पत्ति होते रहते हैं, वह प्रामाणिक नहीं है। यशोदा की माया से स्मृति नष्ट हुई, तो तत्त्व ज्ञान स्वतः नष्ट हुआ, किन्तु यशोदा को विवेक से फिर तत्व ज्ञान जाग्रत हो गया हो, तो इस शंका के मिटाने के लिये ही शुकदेवजी ने यशोदा का जाति स्वभाव प्रकट करने के लिये उसको 'गोपी' (गोप की स्त्री) कहा है। गोप, पशु-पालक होने से विवेकहीन होते हैं, उनकी स्त्रियां भी वैसे ही होने से यशोदा को पुनः तत्त्वज्ञान जागृत नहीं हुआ, एक तो इस कारण से उसके हृदय में तत्त्वज्ञान जागृत नहीं हुआ, फिर दूसरा कारण यह भी था कि यशोदा ने पुत्र भाव से कृष्ण को गोद में पधराया, जिससे उसका हृदय बढे हुए गहन स्नेह से ऐसा भर गया जो उस हृदय में विवेक आदि को आने का स्थान ही नहीं था क्योंकि वह पहले की तरह लौकिक स्नेह संयुक्त हो गई थी।

भगवान् को गोद में लेकर भी बाहर का कार्य जो ज्ञान साध्य (समझ से सिद्ध होता है) है, वह पहले की तरह सावधानता से करने लगी। क्योंकि स्नेह तो आन्तरिक (भीतरी) था। अर्थात् दिखावटी (दूसरों को दिखाने के लिए) नहीं था, वह स्नेह प्रकट न हो, इसलिए बाहर का कार्य लौकिक ज्ञान पूर्वक करती थी। ज्ञान होने के कारण आन्तरिक स्नेह बदल जाएगा ? (मिट जायगा वा कम हो जाएगा) इस शङ्का के मिटाने के लिए ही कहा गया है कि यशोदा का हृदय कीचड़ के समान मोह सहित, स्नेह से ऐसा भर गया था जो उस हृदय से बहुत समय के पीछे भी वह गहन चिकना स्नेह रसायन निकल नहीं सकता; कैसे भी मिट नहीं सकता है। ऐसा गहन पङ्किल स्नेह मर्यादा भक्ति में नहीं होता है।

यदि पूर्ववत् जो कृष्ण में अविहित[1] स्नेह था उसे यशोदा छोड़ देती तो माया से उसमें भक्ति तो आ जाती और वह साधारण भक्त हो जाती, किन्तु भगवान् यशोदा का जो निरोध कराना चाहते हैं वह निरोध न होता, इसलिए 'यथा-पुरो' जैसे आगे लौकिक प्रेम था वैसा ही किया ऐसा श्लोक में लिखा है ॥ ४४ ॥

आभास--अतःपरं प्रमाणान्तरेणापि न स्मृत्युद्बोध इत्याह त्रय्येति।

आभासार्थ—भगवान् की वैष्णवी माया से जो यशोदा के विश्व रूप दर्शन की स्मृति का नाश हुआ वह स्मृति दूसरे प्रमाणों से भी फिर उत्पन्न नहीं हुई। उसका इस श्लोक में प्रतिपादन करते हैं।

श्लोक--**त्रय्या चोपनिषद्भिश्च साङ्ख्ययोगैश्च सात्त्वतैः।**
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम् ॥ ४५ ॥

१--लौकिक जैसा।

श्लोकार्थ––तीनों वेद, उपनिषद्, साङ्ख्य, योग और सात्वत[1] शास्त्र, जिसके माहात्म्य का गान करते हैं उस हरि को वह अपना पुत्र मानने लगी।

सुबोधिनी––त्रयी वेदत्रयी, तत्र क्रियाशक्तेः प्रतिपादितत्वाद् भगवन्माहात्म्यप्रतिपादकत्वं, उपनिषत्स्वपि ब्रह्मप्रतिपादनाद् भगवज्ज्ञानशक्तिप्रतिपादनं, साङ्ख्येपि नित्यानित्यवस्तुविवेको भगवत्सम्बन्धतद्राहित्यभेदेनैव, योगेपि निश्चिन्ततया भगवच्चिन्तनं, चकारात् पशुपतिमतेपि भगवन्माहात्म्यनिरूपणमेव, तथा सात्त्वतैर्वैष्णवतन्त्रैरपि, वेदस्य द्विरूपत्वात्, षड्दर्शनैरप्युपगीयमानमाहात्म्यो भगवांस्तादृशं तावन्ति प्रमाणानि श्रुत्वापि हरिमात्मजमेव सामान्यत, अतो भक्तौ प्रतिष्ठिताविहितायां पुत्रभावेन ॥ ४५ ॥

व्याख्यार्थ—तीन वेद (यजुर्वेद, ऋग्वेद और सामवेद) भगवान् की क्रिया शक्ति का प्रतिपादन करते हुए भगवान् के माहात्म्य को समझाते हैं। उपनिषदों में ब्रह्मस्वरूप के प्रतिपादन से ज्ञान शक्ति को बताया गया है। साङ्ख्य शास्त्र में, नित्य पदार्थ और अनित्य पदार्थों के विवेक का वर्णन है। किन्तु साङ्ख्य शास्त्र के दो भेद हैं, १—ईश्वर को मानने वाले, २—ईश्वर को न मानने वाले। योग शास्त्र भी निश्चिन्त बनकर भगवान् के चिन्तन का उपदेश देता है। श्लोक में 'च' अक्षर से आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि 'च' अक्षर से यह आशय है कि 'पशुपति मत' में भी भगवान् के माहात्म्य का निरूपण ही है, वैसे वैष्णव तन्त्रों (नारद पञ्च रात्र आदि) से भी भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान वर्णित हुआ है। वेद के 'मन्त्र' और 'ब्राह्मण' दो भाग हैं और नित्य एवं काम्य दो प्रकार के कर्मों का प्रतिपादन करने से भी वेद के दो भाग कहे जाते हैं। षड्दर्शन शास्त्रों में भी भगवान् के माहात्म्य का वर्णन है। भगवान् ऐसे माहात्म्य वाले हैं। इस प्रकार के इतने प्रमाण सुनकर भी यशोदा को पुनः स्मृति न हुई और भगवान् को अपना पुत्र ही मानने लगी, अतः पुत्र भाव के कारण उसकी भक्ति केवल शुद्ध स्नेहमयी लौकिक मानी गई है न कि शास्त्रविहित भक्ति मानी गई ॥ ४५ ॥

आभास––एतस्या एतावात्त्वं कथं न त्वन्यासामितिशङ्कां परिहरन् महापुरुषकृपामाह सप्तभिः।

आभासार्थ—यशोदा को इतना उत्तम फल किस कर्म से हुआ ? अन्य गोपियों को ऐसा उत्कृष्ट फल क्यों नहीं मिला है ? इस प्रकार की शंका मिटाते हुए कहते हैं कि यशोदाजी पर महापुरुषों की कृपा हुई है। इसका वर्णन निम्न सात श्लोकों में करते हैं।

॥ राजोवाच ॥

श्लोक----**नन्दः किमकरोद् ब्रह्मञ्छ्रेय एवम्महोदयम्।**
यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ॥ ४६ ॥

१—वैष्णव तंत्र।

श्लोकार्थ--इस श्लोक में राजा परीक्षित ने श्रीशुकदेवजी से दो प्रश्न किये। हे ब्रह्मन् ! (१) श्री नन्दजी ने ऐसा कौनसा उत्कृष्ट कर्म किया जिससे इस प्रकार का महाफल उनको मिला, और (२) महाभाग्यवती यशोदा ने वैसा कौनसा श्रेष्ठ साधन किया जिससे उसका स्तनपान हरि ने किया।

सुबोधिनी—नन्दः किमकरोदितिप्रश्नौ द्वयेन कर्मव्युदासस्य वक्तव्यत्वात्, ब्रह्मन्निति सम्बोधनं ज्ञानार्थं, नामप्रकरणे नन्दस्यैव प्रथमतो निरोधकथनात्, **किं श्रेयो** धर्मरूपं, लोकवेदयोरप्रसिद्धत्वात् प्रश्नः, प्रसिद्धार्थमेवाहैवम्महोदयमिति, एवम्महानुदयोऽभ्युदयो भगवान् पुत्र इति यस्य श्रेयसः भिन्नतया यशोदाया अपि निरूपणाद् भिन्नतया प्रश्नो यशोदा चेति, नन्दापेक्षयापि निरन्तरसम्बन्धान्महाभागा, किञ्च यस्याः स्तनं सर्वदुःखहर्तापि पपौ, सा हि जानाति क्षुन्निवृत्त्यर्थं भगवान् पिबतीति, अतो "हरेरपि" सा "हरि" रित्युक्तं भवति, बालकतोषपक्षेपि तदीयस्तन्येनैव तथाकरणादुत्कर्षः ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ--राजा परीक्षित ने शुकदेवजी से दो श्लोकों में प्रश्न किए हैं और शुकदेवजी ने पाँच श्लोकों में उत्तर दिया है। उसका आशय (भाव) प्रकट करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि वह उत्तर पाँच श्लोकों में इसलिये है कि कर्म पाँच प्रकार के हैं—

१--अग्निहोत्र, २—दर्श पौर्णमास, ३—चातुर्मास्य, ४—पशु और ५—सोम।

इन पाँचों प्रकार के कर्मों का यह फल नहीं है। यह महापुरुष की कृपा का फल है। शुकदेवजी को ब्रह्मन् ! संबोधन देकर परीक्षित ने यह बताया कि आप ब्रह्मरूप होने से सब कुछ जानते हैं अतः इसका भी आपको अवश्य ज्ञान होगा। पहले नन्द विषयक प्रश्न इसलिये किया गया है कि नन्दजी का नाम प्रकरण में पहले ही निरोध कहा गया है (हो गया है)। नन्दजी ने कौनसा धर्मरूप 'श्रेय'[1] कर्म किया है। मैं इसलिये पूछता हूँ कि लोक और वेद में नन्दजी के उस धर्म की प्रसिद्धि नहीं है। कर्म तो प्रसिद्ध नहीं है। किन्तु इतना महान् अभ्युदय (भगवान्) पुत्र हुए हैं। इससे अनुमान होता है कि नन्दजी ने कोई उत्कृष्ट कर्म अवश्य किया होगा। उसको मैं जानना चाहता हूँ। यशोदा का भी निरूपण होने से उसके लिये पृथक् प्रश्न किया है। और यशोदा ने कौनसा 'श्रेय' साधन किया ? विशेष में यशोदा को 'महाभागा' (बड़ भागिन) कहकर यह बताया है कि यशोदा का नन्द से भी अधिक निरन्तर सम्बन्ध रहता है एवं नन्द से अन्य विशेषता यशोदा की यह है कि भगवान् जो स्वयं सर्व दु;ख हर्ता होने से 'हरि' कहलाते हैं उनका क्षुधारूप दुःख मिटाकर 'हरि' की भी यशोदा 'हरि' बनी है। भगवान् को तो क्षुधा लगती ही नहीं है। भगवान् ने यशोदा का स्तनपान बालकों के सन्तोषार्थ किया। यदि यह पक्ष लिया जाय, तो भी यशोदा का उत्कर्ष हुआ क्योंकि भगवान् ने यशोदा के स्तन पान कर बालकों का सन्तोष किया। (भूख मिटाई) ॥ ४६ ॥

१—श्रेष्ठ।

आभास—ननु प्रसिद्धमेव तत्सुकृतं यथा वसुदेवेन कृतमिति चेत् तत्राह पितराविति ।

आभासार्थ—जिस प्रकार वसुदेवजी के किए हुए सुकृत प्रसिद्ध हैं वैसे ही उनके भी प्रसिद्ध हैं । यदि यों है तो भी निम्न श्लोक में वसुदेव और नन्द विषयक आनन्द का भेद बताकर नन्द के श्रेय का प्रश्न उपस्थित करते हैं ।

श्लोक—**पितरौ नान्वविन्येतां कृष्णोदारार्भके हितम् ।**
गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकस्य मलापहम् ॥ ४७ ॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के उदार बाल चरित्र, लोक के मलों को, नष्ट करन वाले हैं, जिनको कविलोग आज भी गाते रहते हैं। उदार बाल-चरित्रों का आनन्द, माता-पिता को पश्चात् भी न मिला।

सुबोधिनी—यद्यपि पितरौ जातौ तथापि तादृश आनन्दो नानुभूतो यादृश एताभ्यामनुभूतस्तदाह **नान्वविन्देतामिति**, एतदनन्तरमपि **नाविन्देतां**, अग्रेन्यथैव करणात्, **अयं महानानन्द** इति, ज्ञापयति **कृष्णोदारार्भके हितमिति, कृष्णस्यार्भके हितं** बालचेष्टितं, अनधिकारिणोपि **सर्वपुरुषार्थदानादुदारं** साधनफलं हीनं तत्रापि लौकिकं साध्यफलादप्यधिकः परमानन्दः स चेत् साध्यस्वर्गादिसाधनं तदा पशुपुत्रादिजन्यमलौकिकं सुखं लोकिक **च** तादृशमेव, तत्र साधनोत्कर्षे साध्योत्कर्षो दृष्टो लोके यथोत्तमैः सूत्रैरुत्तमः पटो यथोत्तमशर्करया भक्ष्यमिति, यत्र परमानन्द एव प्रथमकक्षा तेन साध्यं लौकिकं लौकिकवत्ततोप्यधिकं ततोप्यलौकिकं दिव्यपुत्रपश्वादिरूपं ततोपि स्वर्गादिस्तदिदमुक्तं **कृष्णः** परमानन्दः स **चार्भकस्तस्य** च लीला साप्युदारेति साक्षाल्लीला परमदुर्लभेति किं वक्तव्यम् ? यतः शब्दतोपि श्रुता परमानन्दं जनयतीत्याह **गायन्त** इति, **अद्यापि** व्यासादयः शब्दरसभिज्ञा निर्दुष्टशब्दार्थवक्तारो रसवद्वक्तारो वा तेन रसेन मत्ता गायन्ति, **अद्यापीति** कालविलम्बेपि तद्रसानुवृत्तिः सूचिता, किञ्च **यच्** चरित्रं **लोकस्य मलं** दूरीकरोति, अतो दोषनिवर्तकं गुणाधायकं च श्रुतमपि भवति तत्र साक्षात्तादृशभोक्तृणां किं भाग्यं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ४७ ॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि वसुदेव और देवकी पिता एवं माता बने, किन्तु जैसा कृष्ण चरित्रों के आनन्द का अनुभव, नन्द और यशोदा ने किया वैसा आनन्द वसुदेव को प्राप्त न हुआ । इसके अनन्तर (मथुरा में जाने पर) भी उस आनन्द को माता-पिता (वसुदेव, देवकी) न पा सके, कारण कि यहाँ भगवान् ने व्रज के समान रस-प्रद एवं उदार लीलाएँ नहीं की थीं । अन्य प्रकार की ही लीलाएँ की हैं । व्रज का यह आनन्द महान् आनन्द है । उसको बताने के लिये मूल श्लोक में 'कृष्णोदारार्भके हितम्' वाक्य दिया है । श्रीकृष्ण के बालचरित्र जितने उदार हैं उतने अन्य चरित्र उदार नहीं हैं । अतः उनमें जो महान् आनन्द है वह और उन बाल-चरित्रों में उदारता भी सकल चरित्रों से विशिष्ट है क्योंकि उस उदारता से अनधिकारियों को भी, सर्व पुरुषार्थों का दान प्राप्त हुआ है । वेद प्रोक्त साधन रूप कर्मों से लौकिक फल मिलता है वह हीन फल है । साधनों से जो फल मिलता है

उस फल से उत्तम फल 'परमानन्द' (कृष्ण) है। जैसे कि लोक में—(१) धर्म–कर्मरूप है, (२) अर्थ–पशु आदि रूप है, (३) काम–स्वर्गरूप है और (४) मोक्ष–ब्रह्मभाव रूप है। परमानन्द इस अन्तिम ब्रह्मभाव रूप मोक्ष से भी उत्तम है। जब वह ब्रह्मभाव रूप, मोक्ष से भी उत्कृष्ट परमानन्द रूप (कृष्ण) साध्य[1] स्वर्गादिकों का स्वयं साधन बन जाता है, तब पशु-पुत्रादि से उत्पन्न अलौकिक और लौकिक सुख भी परमानन्द रूप ही हो जाता है। क्योंकि जैसा साधन वैसा फल होता है। यदि साधन उत्तम है, तो फल उत्तम होगा ही। जैसे उत्तम सूत से उत्तम वस्त्र बनते हैं एवं श्रेष्ठ शक्कर से श्रेष्ठ मिष्टान्न बनता है। उस परमानन्द रूप साधन से प्राप्त लौकिक फल भी कर्मादि साधनों से मिले हुए लौकिक फल से अधिक होता है। क्योंकि परमानन्द साधन से प्राप्त लौकिक फल में आनन्द ही आनन्द रहता है। उसमें सांसारिक विषयों की गन्ध भी नहीं रहती है। जब परमानन्द साधन से प्राप्त लौकिक फल ही ऐसा होता है तो उससे मिलने वाले अलौकिक दिव्य पुत्र, पशु आदि उससे अधिक, स्वर्गादि फल में कितना रस का अनुभव होता होगा, वह अकथनीय ही है। भक्ति मार्ग में परमानन्द रूप कृष्ण स्वयं साधन रूप कर्म होने से धर्म है। उसका बालरूप ही 'अर्थ' है एवं उसकी लीला अर्थात् लीला में उपयोगी गौ पुत्र आदि सामग्री ही 'काम' है और कृष्ण के भजनानन्द का अनुभव ही मोक्ष है। कृष्ण जो स्वयं परमानन्द है और वह ही अर्भक बालरूप हुए हैं। एवं उसकी लीला वह भी उदार है। जब यही दुर्लभ है तो साक्षात् लीला के रस भरित व्याख्या का परम दुर्लभ होने में क्या कहना है ?

यह चरित्र केवल शब्द से सुनने पर भी आनन्द देता है। इसलिये अभी तक भी शब्द, रस को पूर्ण रीति से समझने वाले, दोष रहित शब्द के अर्थ के वक्ता व्यासादिक उस रस में मत्त होकर गान करते रहते हैं। इतना काल बीत जाने पर भी वही रस उन लीलाओं के गान करने से प्राप्त हो रहा है और जो चरित्र लोक के मल को दूर करता है, जो चरित्र सुनते ही दोष निवृत्त करने वाला और गुण देने वाला है जबकि उसके सुनने वाले भाग्यशाली हैं तो साक्षात् उस लीला रस के भोग करने वालों के भाग्य की क्या श्लाघा[2] कही जा सकती है ॥ ४७ ॥

कारिका—**अत्र महापुरुषकृपैव कारणमिति ।**
वक्तुमुपाख्यानमारभते द्रोण इतिपञ्चभिः ॥

कारिकार्थ—नन्द यशोदा के ऐसे महोदय होने का कारण, महत्पुरुषों की कृपा है। उसका वर्णन निम्नोक्त पाँच श्लोकों से उपाख्यान द्वारा करते हैं।

१—फलरूप। २—प्रशंसा या तारीफ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—**द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया भार्यया सह ।**
करिष्यमाण आदेशं ब्रह्मणस्तमुवाच ह ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ—धरा नाम वाली, अपनी पत्नी के साथ, ब्रह्मा की आज्ञा का पालन करने वाला, वसु, श्रेष्ठ द्रोण, उसको (ब्रह्मा को) कहने लगा ।

कारिका—**प्रार्थना प्रश्नदाने च भक्तिरागमनं हरेः ॥ १/२ ॥**

कारिकार्थ—आचार्यश्री ने इस कारिका में, सातों श्लोको में जो कहा गया है उसका संक्षिप्त में सार बताया है ।

४६ वें ४७ वें श्लोकों में प्रश्न किया गया है, ४८ वें ४६ वें श्लोक में प्रार्थना की गई है, ५० वें श्लोक में वरदान वर्णन है, ५१ वें श्लोक में भक्ति, ५२ वें में हरि के आगमन का वर्णन है। इस प्रकार इस प्रकरण में सात श्लोक हैं ।

सुबोधिनी—पूर्वकल्पेष्टवसुषु द्रोणो नाम कश्चिद्, यद्यप्यस्मिन् कल्पे न तस्य भार्या धरा तथापि कल्पान्तरे तथेति न विरोधः, तस्मिन् कल्पे वस्वादयो ब्रह्मण एव जाता इति सृष्ट्यर्थमाज्ञापितो भार्यया सह सृष्टिलक्षणमादेशं करिष्यमाणस्तं ब्रह्माणमुवाच, हेत्याश्चर्यं क सृष्टिकर्तृत्वं क भक्तिरिति ॥ ४८ ॥

व्याख्यार्थ—पूर्वकाल में, आठ वसुओं में, एक कोई द्रोण नाम का वसु भी था, जिसकी पत्नी धरा नाम की थी । यद्यपि इस कल्प में उसकी पत्नी धरा नाम वाली न थी तो भी किसी अगले कल्प में धरा नाम वाली पत्नी इसकी हुई थी । इसलिये कोई विरोध नहीं है । उस कल्प में आठ वसु ब्रह्मा से पैदा हुए थे । उनको ब्रह्मा ने सृष्टि करने की आज्ञा दी थी । इस आज्ञानुसार द्रोण, स्त्री सहित सृष्टि करने के आदेश का पालन करने वाला था । उस समय ब्रह्मा को प्रार्थना करने लगा, द्रोण ने ब्रह्मा को जो प्रार्थना की उसका वर्णन नीचे के श्लोक में है, जिसमें द्रोण ने भक्ति मांगी हैं । इसलिये श्लोक में 'ह' अक्षर दिया है जिसका भाव बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि 'ह' देकर शुकदेवजी ने आश्चर्य प्रकट किया है कि द्रोण को आदेश सृष्टि करने का ब्रह्मा ने दिया और वह उस आज्ञा के पालनार्थ तैय्यार हो गया तो भी ब्रह्मा से भगवान् की भक्ति की याचना अचम्भे की बात है । कहाँ सृष्टि का कर्तापन और कहाँ भक्ति की याचना करना ॥ ४८ ॥

आभास—प्रार्थनामेवाह जातयोरिति ।

निम्न श्लोक में द्रोण ने ब्रह्मा से प्रार्थना की उसका वर्णन करते हैं ।

॥ द्रोण उवाच ॥

श्लोक----जातयोर्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ ।
भक्तिः स्यात् परमा लोके ययाञ्जो दुर्गतिं तरेत् ॥ ४९ ॥

श्लोकार्थ--भूमि पर जन्मे हुए, हम दोनों की विश्व के ईश्वर, सब से उत्कृष्ट देव हरि में, परम-भक्ति होवे, जिससे हम जीव सरलतापूर्वक लोक में पाई हुई, इस दुर्गति से पार पहुँच जाँय ।

सुबोधिनी—**भुवि जातयोर्नावावयोर्हरौ भक्तिः स्यात्**, प्रार्थनायां लिङ् शास्त्रतः साधनैश्च जायमाना ज्ञानकर्मणो-रल्पत्वाज् जीवेषु न परमा भवति, वरप्रसादाल् लौकि-कानामुत्कर्ष इव भविष्यतीति **परमा** प्रार्थ्यते, **लोको**पकारं दृष्ट्वा यत्र क्वचिद् भक्तिर्भवति यथा धातरि तन्न पुरुषार्थ-रूपं, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **महादेव** इति, यतः परमधिको **देवो** नास्ति यस्तु देवेषु परमां काष्ठां प्राप्तः स महादेवः, स्वयं वसुः, ब्रह्मा च देवेषु श्रेष्ठस्ततोपि महान् **महादेवो** **भवन् पुरुषोत्तम एव भवति**, स्वतउत्कर्ष उक्तः, कार्य-तोप्युत्कर्षमाह **विश्वेश्वरे हरा**विति, सर्वस्यापि सर्वफल-दातरि सर्वस्यापि सर्वदुःखनिवारके, ततः किं स्यात् ? अत आह **ययाञ्जो दुर्गतिं तरे**दिति, देहसम्बन्धो **दुर्गतिः**, अनायासेन **तरणं** भक्त्यैव, अन्यकृतत्वान्नौकारूढवद् ब्रह्मा पुनः साधनोपदेशयोरसमर्थः ॥ ४९ ॥

व्याख्यार्थ—द्रोण ब्रह्मा से प्रार्थना करता है कि धरणी पर जन्म धारण किये हुए, हम दोनों की हरि में भक्ति होवे* । साधारण भक्ति की याचना न कर 'परमा' उत्तम भक्ति की याचना की । शास्त्र से प्राप्त ज्ञान, अल्प होता है तो उससे प्राप्त भक्ति भी परा[1] नहीं होती है । इस प्रकार कर्म भी अल्प हैं, उस कर्मरूप साधन से जो भक्ति मिलती है वह परा भक्ति नहीं है । जो भक्ति महापुरुषों के वरदान से, अथवा प्रसाद (कृपा) से प्राप्त होती है, वही भक्ति 'परमा' है । जब महापुरुषों के वरदान वा कृपा से लौकिक पदार्थ भी उत्कृष्ट ही होते हैं तो अवश्य ही भक्ति का भी उत्कर्ष होगा । अतः द्रोण ने ब्रह्मा से 'परमा' भक्ति के लिये प्रार्थना की है ।

लोक में देखा जाता है कि किसी भी देवता की भक्ति से भक्त का उपकार होता ही है । इसलिये किसी भी देव में भक्ति हो जाती है (मनुष्य करते ही हैं) जैसे ब्रह्मा में वह भक्ति पुरुषार्थ रूप नहीं है । द्रोण के मन में यह हुआ कि केवल परमा-भक्ति मांगने से कदाचित् प्रसन्न हुआ ब्रह्मा, किसी देवता की भक्ति प्राप्ति का वरदान दे देवे, तो मेरी मनः कामना निष्फल हो जाएगी । अतः स्पष्ट शब्दों से उस देव की परमा-भक्ति का वरदान मांग लूं जिससे हम संसार से पार हो जाँय । यह विचार कर ही द्रोण ने सब से उत्कृष्ट देव की परमा-भक्ति मांगते हुए कहा कि

* यहाँ जो 'स्यात्' पद दिया गया है वह व्याकरणानुसार 'अस्' धातु का विधि (लिङ्) लकार है यह व्याकरण नियमानुसार प्रार्थना के लिये दिया जाता है ।

१—उत्तम, ऊँची बड़ी ।

'महादेव' जिस देव से पर अर्थात् श्रेष्ठ देव कोई नहीं है । जो देवों में परम पदधारी है वही 'महादेव' है । द्रोण स्वयं 'वसु' है और ब्रह्मा देवों में श्रेष्ठ हैं । उससे भी महान् जो महादेव है वह भगवान् पुरुषोत्तम ही है । यह महादेव का उत्कर्ष[1] स्वतः[2] है । अब भगवान् पुरुषोत्तम स्वरूप महादेव का कार्य से उत्कर्ष बताने के लिये 'विश्वेश्वरे' और 'हरौ' दो नाम दिये हैं । 'विश्वेश्वर' नाम से बताया है कि वह विश्वमात्र का ईश्वर होने से सब को सब प्रकार के फल देते हैं और 'हरि' नाम से यह प्रकट किया है कि सब के सर्व प्रकार के दुःख हरण करने वाले हैं । इस प्रकार दो नामों से कार्य द्वारा भगवान् का उत्कर्ष सिद्ध किया गया है । इस कार्य के उत्कर्ष बताने से हम क्या समझें ? उस पर कहते हैं कि ऐसे स्वरूप और कार्य से उत्कर्ष वाले की ही पराभक्ति से मनुष्य शीघ्र सरलता से इस दुर्गति से छूटकर परमानन्द को प्राप्त करते हैं । आचार्यश्री 'दुर्गति' शब्द को समझाते हैं कि जीव का देह से सम्बन्ध ही जीव की दुर्गति है । कारण कि देह से सम्बन्ध होने से ही देहाध्यास होता है जिससे स्वरूप विस्मृति होती है और स्वरूप विस्मृति से अन्य अध्यास एवं अहन्ता ममतात्मक संसार उत्पन्न होता है । जिस कारण से जीव जन्म-मरण के चक्कर काटता रहता है । अतः देह सम्बन्ध ही दुर्गति है । इस दुर्गति से तरने का अनायास[3] मार्ग 'भक्ति' ही है । भक्ति मार्ग, अनायास मार्ग कैसे है ? इसको आचार्यश्री दृष्टान्त देकर समझाते हैं । जैसे कोई मनुष्य नौका में यदि बैठ जाय तो उसको पार पहुँचने के लिये कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता है क्योंकि नौका को चलाने वाला नाविक नौका को पार ले जाने का परिश्रम स्वयं करता है । उसी प्रकार जो भगवान् की भक्तिरूप नाव में बैठ जाता है, उसको फिर अन्य कुछ भी नहीं करना पड़ता । उसका खेवट, स्वयं हरि उसको पार पहुँचाता है । द्रोण की प्रार्थना सुनकर ब्रह्मा के निम्न श्लोक में 'तथाऽस्तु' (वैसा ही हो) इतने ही वचनों का उल्लेख है । इस पर आचार्यश्री कहते हैं कि ब्रह्मा भक्ति के साधन बताने और उपदेश देने में असमर्थ थे, इसलिये ब्रह्मा ने केवल 'तथाऽस्तु' कहा जिसका आशय है कि आप जो भगवान् में 'परमाभक्ति' चाहते हो वह 'भगवत्कृपा' से आपको प्राप्त हो ॥ ४६ ॥

श्लोक—**अस्त्वित्युक्तः स एवेह व्रजे द्रोणो महायशाः ।**
जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा सा धराभवत् ॥ ५० ॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मा ने विशेष न कहकर केवल 'अस्तु' इतना ही कहा, वह ही महायशस्वी द्रोण व्रज में उत्पन्न हुआ और नन्द नाम से प्रख्यात हुआ तथा वह धरा यशोदा हुई ।

१—बड़ाई । २—आप ही आप । ३—सहज, बिना परिश्रम ।

सुबोधिनी—ब्रह्मवाक्यं न मृषा भवतीति भगवत्प्रसादादस्त्वित्येवाह, ततः स्वे स्वर्ग एव सृष्टिमुत्पादितवांस्ततोधिकारे समाप्ते प्रलये च जाते ब्रह्मलोके स्थितो भाविभगवदवतारं ज्ञात्वा ब्रह्मणा प्रेरितः स एव द्रोण इह व्रजे नन्द इत्याख्यातो जज्ञे, पूर्वनामाग्रे न प्रकाशनीयमिति भगवानानन्दोयं नन्द इति फलग्रहणार्थं व्याप्तिं परित्यज्य शिष्टांशेन प्रसिद्धः, नन्वस्य वरः कथं न क्षीणः सृष्टेरपि गतत्वादित्याशङ्क्याह महायशा इति, महद् यशो यस्य, यावद्यशस्तावन्न क्षीयत इति, यशोदापि सैवाभवत्, अन्यथा व्यभिचारे धर्मक्षयाद् भक्तिर्न भवेत् ॥ ५० ॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्मा के वचन झूठे नहीं होते हैं। इस पर विश्वास कर, द्रोण अपने स्वर्ग लोक में, सृष्टि उत्पादन कार्य करने लगा। जब द्रोण के अधिकार की समाप्ति हुई और प्रलय हुई, तब द्रोण ब्रह्म लोक में रहने लगा। वहाँ द्रोण ने जाना कि भगवान् भूमि पर प्रकट होंगे। यह जानकर उस द्रोण ने ब्रह्मा की प्रेरणा से व्रज में जन्म लिया और नन्द नाम से प्रसिद्ध हुआ। क्योंकि पहले कल्प का नाम इस कल्प में प्रकाशित नहीं करना चाहिये। इसलिए द्रोण का नाम विशिष्ट प्रकार से प्रकट नहीं किया गया। भगवान् का नाम आनन्द है जिसमें 'आ' और 'नन्द' दो पद हैं। 'आ' का अर्थ है चारों तरफ और नन्द' का अर्थ है हर्ष कराने वाला; अर्थात् जो चारों तरफ प्रत्येक पदार्थ को हर्षित कराने वाला है वह 'आनन्द' (भगवान्) है। उस आनन्द नाम से 'आ' अक्षर का त्याग कर शेष अंश 'नन्द' से द्रोण व्रज में प्रसिद्ध हुआ है। शेष अंश 'नन्द' के ग्रहण का आशय यह है कि फल (आनन्द) ही ग्रहण करना है।

उस कल्प की सृष्टि नष्ट हुई तो भी द्रोण को मिला हुआ वर, क्यों नष्ट न हुआ ? इसके उत्तर में श्लोक में द्रोण को 'महायशा' कहा गया है। द्रोण का यश स्वल्प नहीं है किन्तु महत् है। इसलिये जब तक यश है तब तक वर भी रहेगा। न केवल द्रोण नन्द हुआ है, किन्तु 'द्रोण' की वही स्त्री, धरा भी आकर 'यशोदा' बनी है। यदि धरा, यशोदा न बनती और कोई अन्य स्त्री यशोदा होती, तो उसके साथ संसर्ग करने से, द्रोण (नन्द) के कर्म (धर्म) क्षय[1] हो जाने से, भक्ति की प्राप्ति न होती ॥ ५० ॥

आभास----ततो जातयोरेव भक्तिर्जातेत्याह तत् इति।

आभासार्थ—द्रोण और धरा ने व्रज में नंद और यशोदा के रूप में जन्म लिया और किसी भी साधन (कर्म) किए बिना उनकी श्रीकृष्ण में भक्ति होगई। जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक----**ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने ।**
दम्पत्योर्नितरामासीद् गोपगोपीषु भारत ॥ ५१ ॥

१—नाश।

श्लोकार्थ—हे भारत ! ब्रह्मा के वर मिलने के कारण एवं उनके प्रसाद से नन्द यशोदा की पुत्र-रूप से स्वीकृत किए गए जनार्दन भगवान् में अतिशय भक्ति हुई । गोप गोपियों की भी भगवान् में अतिशय भक्ति हुई । गोप गोपियों की भगवान् में भक्ति तो हुई किन्तु नन्द यशोदा जैसी नहीं हुई ।

सुबोधिनी—भगवति भक्तिर्जाता भजनसहित-प्रेमात्मिका, ननु साधनव्यतिरेकेण कथं जातेत्याशङ्क्य प्रकारमाह **पुत्रीभूत** इति, अपुत्र एव पुत्रत्वं ज्ञापितवानिति **पुत्रीभूतः**, जायत एव पुत्रे स्नेहो भक्तिश्च, ननु भगवान् किमित्यवतीर्णः ? तत्राह **जनार्दन** इति, जनामुत्पादिकामविद्यामर्दयतीति, अतो मोक्षदानार्थमागतः, प्रसङ्गादिदमपि कृतवान् न तु प्रासङ्गिकमुत्पादयितुमर्हति सर्वार्थं च तथा जातोतो **दम्पत्योः** स्वधर्मनिष्ठयोर्नितरां भक्तिरासीत्, गोपगोपीषु सत्सु तन्मध्ये वा सत्सङ्गव्यतिरेकेणापि, भारतेतिसम्बोधनं सर्वेष्वेव वंशीयेषु सत्सु यथा भरत एवालौकिको जात इति ज्ञापयितुम् ।। ५१ ।।

व्याख्यार्थ—नन्द यशोदा की श्रीकृष्ण में भजन सहित प्रेम लक्षणा भक्ति जन्म लेते ही हो गई । भजन दो प्रकार से होता है, १—देवभाव से और २—पुत्र भाव से । देव भाव से भजन करने में 'सेवा' मुख्य है और पुत्र भाव से भजन करने में प्रेम मुख्य है क्योंकि शास्त्र में पुत्र की सेवा करने के लिये नहीं कहा गया है, पुत्र से तो प्रेम करना है । अतः पुत्र-भाव में सेवा गौण है और प्रेम मुख्य है । अतः आचार्यश्री ने नन्द यशोदा को भजन सहित प्रेम लक्षणा भक्ति हुई, ऐसे कहा है । नन्द यशोदा ने कोई साधन नहीं किया, फिर भी ऐसी प्रेम लक्षणा भक्ति हो गई; उसका क्या कारण है ? इसके उत्तर में श्री शुकदेवजी ने श्लोक में 'पुत्री भूते' शब्द दिया है जिसका भाव आचार्यश्री बताते हैं कि भगवान् किसी के पुत्र हो नहीं सकते हैं, क्योंकि पुत्र के होने में, मुख्य कारण माता-पिता के रजो-वीर्य संयोग से गर्भाधान[1] होना है; इस प्रकार जो उत्पन्न होता है वह पुत्र कहा जाता है । भगवान् का प्राकटच तो इस प्रकार से नहीं हुआ है, अतः भगवान् पुत्र नहीं, किन्तु नन्द यशोदा के मन में ऐसा भाव उत्पन्न कर दिया कि मैं आपका पुत्र हूँ, जिससे वे उसको पुत्र समझने लगे । यह तो स्वभाव सिद्ध है कि पुत्र में उसके जन्मते ही स्नेह और भक्ति स्वतः ही हो जाती है ।

भगवान् ने किस लिए अवतार लिया ? इसके उत्तर में शुकदेवजी ने भगवान् का 'जनार्दन' नाम दिया है जिसका भाव आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि जो अविद्या संसार (आवागमन) कराती है; उसको भगवान् नष्ट करने वाले हैं इसलिये वह जनार्दन कहलाते हैं । अतः अविद्या का नाश कर मोक्षदानार्थ ही आपने अवतार लिया है । प्रसंग से भक्तिदान कार्य भी आपने किए हैं । किन्तु प्रासङ्गिक कार्य भगवान् के प्राकटच में कारण नहीं हो सकते हैं । भगवान् सबों को मोक्ष देने के लिये प्रकट हुए हैं । यहाँ भक्ति-मार्ग में मोक्ष शब्द का भावार्थ भजनानन्द

१—गर्भ स्थिति ।

है; जो ब्रह्मानन्द से विशेष अगणित आनन्द है। नन्द और यशोदा गोप एवं गोपियों के मध्य में रहते थे। जिन गोप गोपियों का निरोध नहीं हुआ था उनका संग था एवं किसी प्रकार का अन्य सत्संग भी नहीं था। तो भी सर्वधर्मनिष्ठ[1] होने से, भगवान् में अतिशय भक्ति हो गई। परीक्षित को शुकदेवजी ने 'भारत'! सम्बोधन देकर यह जताया है कि जैसे कुल में बहुतसों के उत्पन्न होते हुए भी 'भरत' ही एक 'अलौकिक' हुआ है, वैसे ही अनेक गोप-गोपिकाओं के होते हुए भी नन्द यशोदा को ही भगवान् में पुत्र-भाव से प्रेम लक्षणा अतिशय भक्ति उत्पन्न हुई ॥ ५१ ॥

आभास—नन्वेतज्जातं भगवद्वाक्याच् चेत् तदा निरोधो भगवत्क्रियमाणो न भविष्यतीत्याशङ्क्याह कृष्ण इति।

आभासार्थ—यदि नन्द यशोदा की भगवान् में भक्ति ब्रह्मा के वाक्य से हुई थी, तो भी भगवान् जिस निरोध को करना चाहते हैं वह सिद्ध नहीं होगा। इस शंका के मिटाने के लिये निम्न श्लोक कहा गया है।

श्लोक—**कृष्णो ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्तुं व्रजे विभुः।**
सहरामो वसंश्चक्रे तेषां प्रीतिं स्वलीलया ॥ ५२ ॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मा के वाक्य को सत्य करने के लिये, विभु, श्रीकृष्ण ने बलरामजी के साथ व्रज में निवास कर, अपनी लीला से उनके हृदयों में, अपने लिये प्रेम उत्पन्न किया।

सुबोधिनी—भगवान् हि सर्वमेव योजयितुं शक्नोति, अतो **ब्रह्मण आदेशं** वरं सत्यं कर्तुं **व्रजे** समागत्य बलभद्रसहितो **वसंस्तत्र**न्यानां **तेषां** सर्वेषामेव **स्वलीलया प्रीतिं चक्रे**, स्वस्याधिकारी ब्रह्मेति तद्वाक्यं सत्यं कर्तव्यं, यद्यन्यत्र साधनवति देशे तमुत्पादयेद् वरे सन्देहोपि भवेत् तदर्थं **व्रजे** समागतः, नन्वयुक्ते देशे कथमागत इति चेत् तत्राह विभुरिति, स हि सर्वसमर्थः, सर्वत्रैव स्थित्वा सर्वं कर्तुं शक्नोति, बलभद्रो वेदात्मा, साक्ष्यर्थं सह गृहीतः तेषा **प्रीति**जननेन स्वेच्छास्थित्यधिको व्यापारोत आह **वसंश्चक्र** इति, ब्रह्मवाक्यापेक्षयाधिकं च कृतवानित्याह **तेषा**मितिः येष्वेतौ स्थितौ तेषामपि **स्वलीलया प्रीतिं** कुर्वन्, **लीलये**ति मनोरञ्जिका क्रियोक्ता ॥ ५२ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् सब के कार्य को पूर्ण रीति से सिद्ध करने की सामर्थ्यवाले हैं। अतः ब्रह्मा के दिये हुए वर को सत्य करने के लिये, व्रज में पधार कर बलभद्रजी के साथ निवास कर, व्रज में रहने वाले सब का ही अपनी लीला से अपने में प्रेम उत्पन्न किया। ब्रह्मा का वाक्य भगवान्

१—अपने धर्म में स्थित।

ने इसलिये सत्य किया कि वह भगवान् का अधिकारी है। अधिकारी का वाक्य सत्य करना ही चाहिये। दूसरे किसी साधन वाले देश में वर सत्य करवाते। तो वर फलीभूत होने में संशय रह जाता था कि ब्रह्मा के वरदान से भगवान् में भक्ति हुई कि किसी अन्य साधन से हुई। ऐसा संशय किसी को भी न हो एतदर्थं भगवान् ने व्रज में ही पधार कर ब्रह्मा का वर सत्य किया।

भगवान् ने इस अयोग्य देश में कैसे अवतार धारण किया ? आचार्यश्री (व्रज को अयोग्य देश केवल इसीलिये कहते हैं कि वहाँ रहने वाले साधनहीन एवं अशिक्षित[1] गोपादि रहते हैं)। इस शङ्का के मिटाने के लिये ही श्लोक में भगवान् का 'विभुः' नाम दिया है जिसका भावार्थ, आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि वह सर्व करण के लिये समर्थ हैं। सर्व प्रकार के स्थान पर स्थित होकर भी चाहे वह कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि अयोग्य स्थान को योग्य बना सकते हैं; एवं अयोग्यों को भी योग्य करने में आपको श्रम नहीं होता है। भगवान् अयोग्य स्थान में रहते हुए साधन रहित (अयोग्य) जीवों के अधीन होकर लीला करते हैं, जो श्रुति से विरुद्ध समझी जाती है किन्तु वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से विचारा जाय तो वह आपकी लीला श्रुति विरुद्ध नहीं है, इसलिये आपने साक्षी के लिये अपने साथ वेदात्म श्रीबलदेवजी को लिया है कि देखो ! मैं जो लीला करता हूँ वह लीला 'यमेवैष वृणुते तेनैवलभ्यः' जिसका वरण परमात्मा स्वयं निज इच्छा से करते हैं उसको ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। अतः मैं (परमात्मा) हूँ, किसी का भी वरण, निज इच्छा से करने में विभु होने से समर्थ हूँ। अतः मेरी यह लीला शास्त्र सम्मत है। इसका साक्षी, वेदात्मा बलरामजी है। श्लोक में 'वसन् चक्रे' कहा है इसका भाव आचार्यश्री बताते हैं कि व्रजवासियों का प्रेम अपने में कराने के लिये भगवान् को वहाँ रहने के अतिरिक्त अन्य कोई परिश्रम नहीं करना पड़ा। ब्रह्मा ने जो वरदान दिया था उससे भी आपने यह विशेष किया है कि जिन गोप, गोपी आदि व्रजवासियों के मध्य में नन्द यशोदा का निवास था उन्होंकी प्रीति भी लीला द्वारा अपने में करवाई। लीला शब्द का तात्पर्य है कि सब का मनोरंजन करते हुए अपने में प्रेम कराना। व्रज में भगवान् रहे और उन्होंने लीला की। इन दोनों का प्रयोजन भिन्न-भिन्न था। व्रज में रहने का प्रयोजन था व्रजवासियों का अपने में प्रेम उत्पन्न करना और लीला करने का तात्पर्य था स्वरूपानन्द का अनुभव कराना ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंध (पूर्वार्ध) के आठवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के 'तामस' प्रकरण, 'प्रमाण' अवान्तर प्रकरण के 'श्री' निरूपक, चौथा अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण।

१—अनपढ़।

इस अध्याय में वर्णित श्री बालकृष्ण की लीलाओं का गो० श्री हरिरायमहाप्रभु एवं भक्तशिरोमणि अष्टसखा द्वारा गाए हुए पद भगवद्रसिक पाठकों के प्रमोदार्थ लीलाओं के अवगाहन हेतु नीचे दिये हैं—

रामकृष्ण नामकरण

राग—रामकली

नन्द-गृह आए गर्ग मुनि ज्ञानी ।
रामकृष्ण के नाम करन हित यदुकुल के सनमानी ॥ १ ॥
गज मोतिन के चौक पुराए, नामकरन विधि ठानी ।
मंगल गीत गवावत यशुमति, बोलत अमृत बानी ॥ २ ॥
प्रथमहिं सुनो बड़े ढोटा के, नाम राम, बलदेव ।
हलधर और नाम संकर्षण, कोउ न जाने भेव ॥ ३ ॥
अब ये नाम तुम्हारे सुत के, सुनो चित्त दे नन्द ।
कृष्ण, नाम नारायण, केशव, हैं हरि परमानन्द ॥ ४ ॥
पद्मनाभ माधव मधुसूदन, वासुदेव भगवान् ।
और अनन्त नाम इनके हैं, कहो कहाँ ले आन ॥ ५ ॥

बाल–लीला विनोद

राग—केदारा

सुमरो नन्दराज कुमार ।
नन्द आंगन करत रींगन, वदन विथुरे बार ॥ १ ॥
चरन नूपुरू किंकनी कटि, कंठ कठुला हार ।
करन पोहुँची उरसि बधना, तिलक सोहे लीलार ॥ २ ॥
सुनत फिरकें चकृत चित, निज किंकनी झनकार ।
ठठकि टेरत करत निश्चे, हँसत परम उदार ॥ ३ ॥
पंक लेपन अंग कीने, नचत नेन सुढार ।
कर बड़ाई गोद जननी, लेत मोद अपार ॥ ४ ॥
गहत बछरा पूंछ ऐंचत, रूप जीत्यो मार ।
देख परवश हँसत गोपी, मुग्ध तजत अपार ॥ ५ ॥
क्रूर के ढिंग जात खेलन, फिरत जननि लार ।
काज बिसरत सरे गृह के, विग्रता के भार ॥ ६ ॥
बालकन संग राज लीला, करत ब्रज गृह द्वार ।
देत आनन्द युवती जनको, पठई गृह-गृह चार ॥ ७ ॥

करत चोरी भवन प्रति धसि, लेत गोरस सार ।
बैठ जेंमत निडर पतिलों, परोसि राखे थार ॥ ८ ॥
देत माखन बन चरन को, बाँटि-बाँटि अपार ।
खनत चोहटी निपट बालक, भजत देकर तार ॥ ९ ॥
माय के ढिंग लसत सूधे, साधु मन खरारि ।
गोपी देन उराहनो सब जुरि, आवे द्वे दस चारि ॥ १० ॥
सुमर कृति संकेत गोपी, हँसत झूठी रार ।
वार डारों निरख शोभा, रसिक बारंबार ॥ ११ ॥

राग—धनाश्री

देखो दधि[1] सुत में दधि[2] जात,
एक अचम्भो सुनिए सजनी, रिपु[3] में रिपु[4] जु समात ॥ १ ॥
ता पर कीर[5] कीर पर पङ्कज,[6] पङ्कज के द्वे पात ।
सुन्दर वदन विलोक श्याम को, चिते नन्द मुस्कात ॥ २ ॥
अति अचरज भयो पशुपाले,[8] फूले अंग न मात ।
ऐसो ध्यान धरे जो हरि को, तिनहीं सूर बलजात ॥ ३ ॥

माखन चोरी

राग—आसावरी

आनि पाये हो हरि ! नीके ।
चोरि चोरि माखन सब खायो, गीधि[9] रहे दिन प्रति इहि छींकें ॥ १ ॥
रोक्यो भवन द्वार व्रज सुन्दरि, नूपुर मून्दि अचानक हींकें ।
'अब कैसे जईयतु बल अपने, भाजन[10] फोरि दूध दधि पीके ॥ २ ॥
कुंभनदास प्रभु भले परे फग,[11] देहुं न जान भावते जीकें ।
भरि गंडूष[12] छींटि नैननि में, गिरिधर भाजि चलै दै कीके ॥ ३ ॥

१—चन्द्रमा (चन्द्रमुख) । २—दही । ३—चन्द्र (मुख) । ४—कमल (हस्त)
५—सुर (सुवे की चोंच जैसी नासिका) । ६—कमल (नेत्र) । ७—पत्ते (नेत्र की पलकें)
८—नन्दजी । ९—लपक रहे हो । १०—बरतन ।
११—फंसे हो । १२—कुल्ला, (मुंह में दही) ।

उराहना

राग—आसावरी

आय क्यों न देखो रानीजू अपने सुत के करम ।
भाजन भवन न रह्यो, कह्यो, हँस दियो, को जाने याके मनको मरम ॥ १ ॥
दूध दही की हानि करन काहू की न कानि, ऐसे गाँवन में रहबे का कहा धरम ॥ २ ॥
नन्ददास मैया ढिग साधु से बन बैठे, ऐसे चोरन को कहा सरम ॥ ३ ॥

उराहना—२

राग—धनाश्री

यशोदा ! चंचल तेरो पूत ।
आनंद्यौ ब्रज भीतर डोलै, करत अटपटो सूत ॥ १ ॥
दह्यौ दूध घृत लैं आगें करि, जहाँ तहाँ धरो दुराई ।
अंधियारे घर कोउ न जानें, तहां पहिले ही जाई ॥ २ ॥
गोरस के सब भाजन फोरे, माखन खायो चुराई ।
लरिकन के कर कान मरोरे, तहाँ ते चले रुवाई ॥ ३ ॥
बाँटि देत बनचरन्ह[1] कौतुकी, करै विनोद बिचारि ।
परमानन्द प्रभु गोपीवल्लभ, भावै मदन मुरारि ॥ ४ ॥

मृत्तिका भक्षण

राग—रामकली

मो देतख यशुमति तव ढोटा, अर ही माटी खाई ।
यह सुनके उठके रिसधाई, बांह पकर ले आई ॥ १ ॥
एक कर सों मुख गहि[2] के गाढे, एक कर लीनी सांठी[3] ।
मारति हों तोहे अबहि कन्हैया, बेगि न उगलो माटी ॥ २ ॥
ब्रज लरिका सब तेरे आगें, झूंठी कहत बनाई ।
मेरे कहे नहीं तूं मानत, दिखरावहुँ मुख बाई[4] ॥ ३ ॥
अखिल ब्रह्मांड खण्ड की महिमा, दिखरायो मुख माहीं ।
सिंधु सुमेर नदी बन परवत्, चकृत भई मन माहीं ॥ ४ ॥
करते सांठि[3] गिरत नहिं जान्यो, भुजा छांडि अकुलानी ।
सूर कहे यशुमति मुख मून्दहु, बलि गई सारंग पानी[5] ॥ ५ ॥

१—बन्दर ।　२—पकड़ कर ।　३—छड़ी ।　४—खोलकर ।　५—बालकृष्ण ।

।। श्री कृष्णायनमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभायनमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनमः ।।

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित – सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस-प्रकरण

प्रमाण अवान्तर प्रकरण

पंचम अध्याय

दशमस्कन्धानुसार : नवमोऽध्याय

कारिका––**शास्त्रार्थतो यथा भक्तिर्हरौ भवति निश्चला ।**
तदर्थं नवमे प्राह चरित्रं परमाद्भुतम् ।। १ ।।

कारिकार्थ----जिस प्रकार शास्त्रार्थ से हरि में दृढ़ भक्ति होवे तदर्थ (उसके लिये) इस नवम अध्याय में भगवान् का परम-अद्भुत चरित्र वर्णन करते हैं ।

व्याख्या—परीक्षित राजा ने दशमस्कन्ध के ७वें अध्याय के २रे श्लोक में शुकदेवजी से प्रश्न किया है कि भगवत्कथाश्रवण में प्रेम का अभाव और संसार के तृष्णादि सर्व दोष जिन चरित्रों के श्रवण से जीव के मिट जावें तथा अन्तःकरण शीघ्र शुद्ध होकर, भगवान् में दृढ़ भक्ति होवें वे कौन से चरित्र हैं ? वे मुझे सुनाओ । उस प्रश्न के उत्तर का इस नवमाध्याय में वर्णन किया गया है । यह बताने के लिए आचार्यश्री ने इस प्रथम कारिका में 'तदर्थ' (उसके लिये अर्थात् उस प्रश्न के उत्तर के लिए पद दिया है) । आचार्यश्री ने इस कारिका से यह भी समझाया

है कि नवमाध्याय में जो भगवान् के परम अद्भुत चरित्र वर्णन किए हैं, उनसे चरित्र सुनने वालों को, शास्त्रार्थ क्या है ? यह समझ में आ जाएगा, कि शास्त्र का अर्थ भगवान् है और शास्त्रों में भगवान् के स्वरूप का वर्णन है, यह ज्ञान होने से जीव की भगवान् में स्थिर दृढ़ भक्ति होगी ॥ १ ॥

कारिका---**स्वरूपं च कृपालुत्वं हरेर्ज्ञातव्यमञ्जसा ।**
अतो दयासुसंमिश्रं ज्ञानमत्र निरूप्यते ॥ २ ॥

कारिकार्थ----भगवान् का स्वरूप और कृपालुपन पूर्णतया जानना चाहिये । इसका ज्ञान हो जावे, इसलिये नवम अध्याय में दया से पूर्णतया मिश्रित, ज्ञान का वर्णन किया जाता है ।

व्याख्या—राजा परीक्षित को ईशानुकथापर्यन्त भगवान् की सात लीलाओं के श्रवण से पूर्ण माहात्म्य का ज्ञान हो गया था, तो भी पुनः भक्ति सम्बन्धी स्कंध १०, अ० ७, श्लोक २ में प्रश्न किया है। जिसका तात्पर्य यह है कि राजा को स्पष्टतया जानने की इच्छा थी कि भगवान् भक्तों के शीघ्र दुःखहर्ता है वा नहीं एवं सब के ऊपर प्रसन्न होते हैं वा नहीं । इस प्रकार यशोदा ने मुखारविन्द में जगत् देखा, तो उसके मन में भगवान् के स्वरूप एवं दयालुता जानने की इच्छा उत्पन्न हुई । इन दोनों (राजा एवं यशोदा) की इच्छा पूर्ण करने के लिये भगवान् ने जो चरित्र किए हैं उनका वर्णन इस नवमाध्याय में हुआ है जिससे भगवान् के स्वरूप एवं दयालुपन का ज्ञान हो जाता है अतः यह नवम अध्याय 'ज्ञान' का अध्याय है ॥ २ ॥

कारिका----**निरोधो यदि भक्तानां स्वस्मिन् स्वस्य च तेषु च ।**
तदोभयसुसम्बन्धाद् दृढो भवति नान्यथा ॥ ३ ॥

कारिकार्थ---जब भक्तों का भगवान् में और भगवान् का भक्तों में निरोध हो जावे, तब दोनों का परस्पर सुन्दर श्रेष्ठ सम्बन्ध हो जाने से 'निरोध' दृढ़ हो जाता है, यदि इस प्रकार का निरोध नहीं है तो निरोध 'दृढ़' न होगा ।

व्याख्या—कारिका में कहा गया है कि निरोध तब दृढ़ होता है, जब भगवान का भक्तों में और भक्तों का भगवान में निरोध होगा । इससे यह शङ्का होती है कि 'निरोध' होने पर, प्रपञ्च की विस्मृति होती है । भक्तों की तो प्रपञ्च की विस्मृति हो सकती है क्योंकि वे अल्पज्ञ जीव हैं, किन्तु भगवान् जो सर्वज्ञ एवं पूर्णज्ञानी हैं उसकी प्रपञ्च-विस्मृति हो नहीं सकती है अतः भगवान् का भक्तों में 'निरोध' कैसे होगा ? इस शंका का समाधान यह है कि भगवान् 'विरुद्ध

धर्माश्रयी' हैं अर्थात भगवान् में परस्पर विरुद्ध धर्म रहते हैं जैसे अणुभी है, महान् भी है, इत्यादि से समझना चाहिए कि भगवान् लीलार्थ सर्वज्ञ होते हुए भी अज्ञवत्[1] क्रिया करते हैं। सर्वचतुर-शिरोमणि होते हुए भी माता के सम्मुख मुग्धवत्[2] विराजते हैं। वैसे प्रपञ्च का पूर्ण ज्ञान होते हुए भी भक्त निरोध दृढ़ करणार्थ आप भी भक्त में निरुद्ध हो जाते हैं और प्रपञ्च विस्मृति का नाट्य करते हैं ॥ ३ ॥

कारिका----**ज्ञानवैराग्यरूपैर्हि स्वाधीनो भगवान् भवेत् ।**
अतोध्यायत्रये लीला जीवाधीना निरूप्यते ॥ ४ ॥

कारिकार्थ--भगवान् ज्ञान, वैराग्य और स्वरूप से भक्तों के आधीन होते हैं। इस कारण तीन अध्यायों में जीवों के आधीन होकर भगवान् ने लीलाएँ की हैं।

व्याख्या—यहाँ 'ज्ञान' शब्द मर्यादा शुद्धाद्वैतज्ञान के भाव बताने के लिये नहीं दिया है; किन्तु भगवान् को केवल अपने निज-अन्तरंग भक्त का जो ज्ञान होता है कि यह मेरा है, उस ज्ञान के लिये दिया है, यह 'स्नेहीभक्त' का ज्ञान सर्वत्र स्वतन्त्र भगवान् को भक्त के वश करता है। इस ज्ञान से भगवान् पुष्टिमार्गीय[3] को अपना सम्बन्धी समझते हैं, स्व-सम्बन्ध के कारण भक्तों की इच्छित कामनाओं को पूर्ण करते हैं जैसे यशोदा मैया को माता समझते हैं। जिससे इस अध्याय में दामोदर लीला कर, अपनी भक्तवश्यता और कृपालुपन बताया है एवं माता का मनोरथपूर्ण किया। 'वैराग्य' विषयों की तृष्णा को मिटाने को 'वैराग्य' कहते हैं; किन्तु यहाँ आचार्यश्री ने 'वैराग्य' पद उस अर्थ में न देकर इस आशय से दिया है कि भगवान् का भक्तों के बिना किसी में भी राग (प्रेम) नहीं है अतः भगवान् का भक्तों में राग होने से भक्तों के वश होते हैं और भक्तों के कैसे भी वचन हों तो भी आप उनको सत्य करते हैं जैसे नारदजी भगवान् के भक्त हैं, उनके दिए हुए वचन को सत्य करने के लिये 'यमलार्जुन' का उद्धार किया।

'स्वरूप' भगवान् के अनेक रूपों में से एक 'लीला पुरुषोत्तम' स्वरूप ही है जिसका अन्यों में वैराग्य है केवल भक्तों में 'राग' है। जिस राग के कारण स्वरूप से भी भक्तों के वश हो जाते हैं।

इस प्रकार नवमाध्याय में ज्ञान, दशम में वैराग्य और एकादश में 'स्वरूप' द्वारा जो भक्तपारवश्य होना दिखाया है उन लीलाओं का वर्णन इन तीन अध्यायों में पृथक् पृथक् किया गया है ॥ ४ ॥

१—अनजान की तरह। २—भोले-भाले।

३—पुष्टिमार्गीय वह है जो भगवान्, को ही अपना शरण्य, स्नेही, सम्बन्धी सब कुछ समझता है और सन्त्यज्य सर्व विषयात्—जिसने गोपीजनों के समान सब विषयों को छोड़ दिया है।

कारिका----**अतिपौरुषमेतद्धि जीवानामिति निश्चितम् ।**
द्वादशाङ्गमतिक्रम्य षड्भिर्वश्यो भवेद् गुणैः ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—यह निश्चय से समझना चाहिये कि जो भगवान् स्वतन्त्र हैं उनको भी वश कर लेना यह जीवों का विशेष पौरुष (पराक्रम) है। भगवान् बारह अंगों का अतिक्रमण कर, अपने छः गुणों से वश हो जाते हैं।

व्याख्या—इस कारिका में आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि पुरुषोत्तम नव* प्रकार की सगुण भक्ति एवं दसवीं गुणातीत-भक्ति से तथा वेद के दो काण्ड-पूर्व काण्ड (कर्म) एवं उत्तर काण्ड (ज्ञान) से भी आधीन नहीं होते हैं, बारहों (दश प्रकार की भक्ति कर्म और ज्ञान) का अतिक्रमण करते हैं। अर्थात् इस मर्यादा का उल्लंघन करते हैं केवल गुणों से (अपनी इच्छा से) वश होते हैं॥ ५॥

कारिका—**पञ्चपर्वामविद्यां हि लोकानामपि नाशयेत् ।**
अतः पञ्चभिरुक्तो हि विचारो भगवद्गतः ॥ ६ ॥

कारिकार्थ—भगवान् लोकों की पञ्चपर्वा अविद्या का नाश करते हैं। इस कारण से भगवत्सम्बन्धी विचार पाँच श्लोकों से कहे गए हैं।

व्याख्या—इस कारिका में जो पञ्चपर्वा अविद्या कही गई है, वह स्वरूप विस्मृति एवं देहाध्यास आदि अविद्या नहीं समझनी। यहाँ तो भगवान् रस-स्वरूप (लीला पुरुषोत्तम) पुष्टि (स्नेहात्मक प्रेमलक्षणा) भक्ति के हैं, जो बिना अन्य साधनों से वश में होते हैं। यह लोकों की अविद्या है, इस प्रकार की अविद्या का नाश भगवान् ने इस लीला द्वारा किया है। जिसका वर्णन इस अध्याय के १९ से २३ श्लोक में किया गया है।

तत्र प्रथमं यशोदाया अतिपौरुषं कार्यं सिद्धमिति वक्तु क्रियया भगवत्प्राप्तिमाहै-कदेतिदशभिः, भक्तिर्हि दशविधा गुणातीतया भगवान् प्राप्यते नवविधसहितस्नेहेन वा, ततो द्वाभ्यां वशीकरणोद्यमः काण्डद्वयसमावेशार्थस्ततो वशीकरणं षड्भिः पचंभिरविद्याबाधनमिति ।

---

* १–तामस सात्त्विक, २–तामस राजस, ३–तामस तामस ४–राजस सात्त्विक, ५–राजस-राजस, ६–राजस-तामस, ७–सात्त्विक सात्त्विक, ८–सात्त्विक राजस, ९–सात्त्विक तामस।

नवम अध्याय में २३ श्लोक हैं, उनका विभाग बताते हैं। प्रथम यशोदा का विशेष पौरुष (क्रिया से भगवत्प्राप्ति) का तथा भक्ति दश प्रकार की है। नव प्रकार की साधन-भक्ति, एक गुणतीत भक्ति। गुणातीत भक्ति से भगवान् की प्राप्ति होती है। अथवा नव प्रकार की भक्ति युक्त स्नेह से भगवान् की प्राप्ति होती है। इसका वर्णन दस श्लोकों में किया गया है। दो श्लोकों से भगवान् को पकड़ने के उद्यम का वर्णन है क्योंकि कर्म एवं ज्ञान के दो काण्डों का उसमें समावेश है। छः श्लोकों से वशीकरण की लीला बताई गई है और पांच श्लोकों से अविद्या का बोध किया गया है। इस प्रकार श्लोकों का विषयपरत्वे विभाग बताया गया है ॥ ६ ॥

कारिका--**निवारितापि संसारे मोहिता सङ्गता पुनः ।**
गुणगाने स कालोभूच् छ्रमो द्वाभ्यां ततोभवत् ॥ १ ॥

कारिकार्थ—भगवान् ने प्रथम यशोदा को ज्ञान देकर, उसकी माया से उत्पन्न संसारासक्ति नष्ट की और अपने ब्रह्मत्व का ज्ञान कराया, फिर अपनी दैवी माया द्वारा वह ब्रह्मपने का (यह मेरा पुत्र नहीं किन्तु ब्रह्म है इस प्रकार का) ज्ञान खेंच लिया, जिससे यशोदा फिर मोह को प्राप्त होकर संसार के कार्य करने लगी। कार्य करने के समय भगवद् गुण गान करती थी। पीछे यशोदा के श्रम का दो श्लोकों में वर्णन है।

व्याख्या—भगवान् ने दैवी माया से ज्ञान खेंच लिया अर्थात् कृष्ण में जो यशोदा की ब्रह्म बुद्धि उत्पन्न हुई थी, उसको मिटाकर अपने में स्नेह की वृद्धि करा दी, जिससे यशोदा का पुनः भगवान् में पुत्र-भाव उत्पन्न हो गया। ज्ञान मिटने से, जो गृह-कार्य दधिमन्थनादि करने लगी थी, उसको छोड़ भगवान् को फिर गोद में लेकर स्तन्य पान कराने लगी। स्तन्य पान कराते हुए जब स्नेह स्निग्ध यशोदाजी के नेत्र, भगवान् के अलौकिक मुखारविन्द में आसक्त थे तब भगवान् ने अपने माया रूप स्मित हास्य द्वारा यशोदा में पुनः संसारासक्ति उत्पन्न कर दी। अतः यशोदा को चूल्हे पर धरे हुए दूध का स्मरण आ गया कि दूध में उफान आया तो दूध बह जाएगा बस भगवान् को भी नीचे विराजमान कर चली गई ॥ १ ॥

कारिका--**अतः क्रतो निषेधो हि भक्तिसारं हरिः पपौ ।**
ततो रिक्ता पूर्वबुद्धया सङ्गतान्यच् चकार ह ॥ २ ॥

कारिकार्थ--अतः (इस कारण से) यशोदा को निषेध कर, हरि ने भक्तिरस का पान किया, इससे यशोदा की पहली बुद्धि (गुणगानवाली) चली जाने से संसारासक्त हो दूसरा गृह कार्य करने लगी।

व्याख्या—दधिमन्थन के समय यशोदा भगवद् गुणगान करती थी। भगवान् ने दधि की मथनी पकड़ कर बिलोना बन्द करा दिया। जिससे यशोदा का गुणगान करना भी बन्द हो गया। यह कार्य भगवान् ने योग्य नहीं किया। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि भगवान् भक्त के दुःख को सहन नहीं कर सकते हैं। भगवान् ने देखा की मेरी एक तरफ माता और उससे विशेष मेरी भक्त यह दधिमन्थन करते करते श्रमित हो गई है, जिससे मुख पर पसीने की बूंदे चमक रही हैं। इस यशोदा के श्रम (दुःख) को भगवान् सहन नहीं कर सके। इसलिए दधि की मथानी पकड़ कर बिलोना बन्द करा दिया और भगवान् को माता से भक्ति के सार का आस्वादन लेने की भी इच्छा थी, इससे भी बिलोना बन्द करवाया। मथानी पकड़ने से यशोदा माता ने समझ लिया कि मेरे कन्हैया को भूख लगी होगी। झट गोद में लेकर स्तन्य पान कराने लगी। पुत्र स्नेह के कारण, माता के स्तनों में जो दूध आता है वह नाम का तो दूध है वास्तव में वह माता के भक्ति (स्नेह) का सार है। भगवान् ने अपनी इच्छानुसार उस माता के भक्ति-सार का प्रेम से खूब पान किया और भगवान् के स्मित हास्य रूप माया से मोहित होने के कारण यशोदा का सर्व स्नेह जाता रहा। जिससे फिर घर के अन्य कार्य करने लगी॥ २॥

कारिका—**एवं निरुद्धा चेद् भ्रान्ता कोपयुक्तो हरिर्भवेत्।**
धौर्त्यं दृष्ट्वा लोकदृष्ट्या प्रीता तस्मान्न पश्यति॥ ३॥

कारिकार्थ—जिसका निरोध हुआ है, वह भी यदि भ्रान्त हो (भूल जाय), तो भगवान् को कोप आना चाहिए। लोक की दृष्टि से, भगवान् की धूर्तता देखकर, यशोदा प्रसन्न हुई, इससे उसने भगवान् को देखानहीं।

व्याख्या—भगवान् को विचार हुआ कि माता का मैंने निरोध सिद्ध करा दिया है तो भी वह भ्रान्त हो गई है? मुझे छोड़ कर दूध उतारने गई है। समझती है कि यह दूध कन्हैया के काम का है; यह नष्ट न हो जाय, इसलिये उसकी रक्षा के लिये चली गई। मुझे तो दूध की आवश्यकता नहीं है। यह केवल यशोदा का भ्रम है, भगवान् ने यशोदा का इस प्रकार का भ्रम जान तो लिया, जिससे उसके ऊपर क्रोध आया किन्तु किया नहीं।

जैसे लोक में पुत्र की चपलता देख कर लौकिक मनुष्य प्रसन्न होते हैं, वैसे ही यशोदा भी भगवान् की धूर्तता[1] देखकर प्रसन्न हुई, जिससे मन में कहने लगी कि मेरा कन्हैया भी अब चतुर हो गया है॥ ३॥

१—चतुराई या चालाकी से काम करने के उपाय।

कारिका—**जिज्ञासायां ततो दृष्ट्वा प्राप्त्यर्थं यत्नमाचरत् ।**
विरुद्धांस्तान् हरिर्ज्ञात्वा तपसे निर्गतस्ततः ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—उसके पीछे जिज्ञासा (भगवान् कहाँ है, इसको जानने की इच्छा) होते ही, भगवान् ने दर्शन दे दिये, देखकर उसको पकड़ने का यत्न करने लगी । उस (यशोदा) के यत्न (लकड़ी लेना आदि) को विरुद्ध (व्यर्थ अर्थात् इससे मैं इसके पकड़ में न आऊँगा) समझ, भगवान् यशोदा को तपस्या (अपनी प्राप्ति का यत्न) कराने के लिए वहाँ से भाग गए ।

व्याख्या—इस कारिका में आचार्यश्री ने यह बताया है कि जब यशोदा दूध को सम्भाल कर लौटी, तो उसने कन्हैया को वहाँ नहीं देखा, तब उसको जानने की इच्छा का यशोदा के मन में प्रादुर्भाव हुआ अतः उसको पकड़ने के लिए एवं शिक्षा देने के लिए हाथ में लकड़ी लेकर यत्न प्रारम्भ किया । भगवान् ने उस समय दर्शन तो दिये, परन्तु माता के निकट न आए । कारण कि भगवान् ने समझा कि माता का अन्तःकरण दोष से भरा हुआ है, तब उसको भ्रम हुआ है । यह दोष निवृत्त कराना चाहिये । दोष निवृत्ति का साधन तप है । जब दोष, पूर्ण निवृत्त होगा तब मेरी प्राप्ति होगी । भगवान् को प्राप्त करने के लिए किए हुए जिस कर्म में, शरीरादि को कष्ट हो, वह तपस्या है। उस तप को भगवान् का 'वीर्य' गुण (धर्म) कहा जाता है । इस प्रकार की तपस्या से मेरी प्राप्ति होती है । अतः माता को तप कराना चाहिए, बस यह विचार कर, माता को आते देख, दौड़ कर भागने लगे । यशोदा, भगवान् को पकड़ने के लिए पीछे शीघ्रता से दौड़ी, परन्तु पकड़ न सकी। दौड़ते दौड़ते यशोदा माता बहुत श्रमित[1] हुई । इस तप करने में ज्यों-ज्यों शनैः शनैः[2] दोष निवृत होते गए, त्यों-त्यों यशोदा अपने यत्न को त्यागने लगी, जैसे ली हुई लकड़ी छोड़ दी फिर दौड़ने लगी । इस प्रकार भगवान् ने यशोदा को अपने को प्राप्त कराने के लिये तपस्या कराई ॥ ४ ॥

कारिका—**पूर्णे तपसि तत्प्राप्तिरेवं दशभिरुच्यते ।**
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च हरिप्रियम् ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—जब यशोदा ने इस प्रकार की तपस्या पूर्ण की, तब यशोदा को भगवान् की प्राप्ति हुई । यह चरित्र दश श्लोकों में कहा है। ऋषि लोक (ग) परोक्षवादी हैं, हरि को भी परोक्षप्रिय है ।

१—थक गई । २—धीरे धीरे ।

कारिका—**आसक्ति चेत् स्वतः कुर्याज् जीवः कृष्णः पलायते ।**
तदा दृढो निरोधः स्यान् नान्यथेत्येष निर्णयः ॥ ६ ॥

कारिकार्थ—जब श्रीकृष्ण सान्निध्य[1] में न हों उस समय यदि जीव अपने आप श्रीकृष्ण में आसक्ति करे तब निरोध दृढ़ होता है दूसरे प्रकार से नहीं होता है ।

व्याख्या—जिसमें अपना प्रेम होता है वह यदि दूर हो तो दिन रात उसकी स्मृति होती रहती है और अन्य कार्य फीके लगते हैं मन में यह रट लगी रहती है कि वह कब मिलेगा इस प्रकार से जब उस प्रिय में आसक्ति बढ़ती जाती है तब दृढ़ निरोध की सिद्धि होती है इसलिये ही भगवान् ने पलायन[2] लीला कर यशोदा का निरोध दृढ़ किया है ॥ ६ ॥

आभास—पूर्वाध्याय आधिदैविकमोहस्य प्रतिपादितत्वात् तत्कार्यमाहैकदेति ।

आभासार्थ—इससे पूर्वाध्याय (८) में भगवान् ने यशोदा में जो आधिदैविक मोह उत्पन्न किया उस मोह के कार्य का वर्णन इस प्रथम श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी ।**
कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—किसी दिन जब नन्द की गृहिणी[3] यशोदा ने देखा कि सब गृह-दासियाँ अन्य कार्यों में लगी हुई हैं तब वह स्वयं दधिमन्थन करने लगी ।

सुबोधिनी—यदा भगवदिच्छया सर्वा एव गृहदास्यः क्षेत्रादिसंस्कारार्थं तत्प्रसङ्गाल्लतादिगृहनिर्माणार्थं वा गतास्तदा **यशोदा स्वयं दधि निर्ममन्थेतिसम्बन्धः** दास्यश्चतुर्विधाः प्रभुभ्यो देया गोष्ठक्षेत्रविचारिकाश्चान्या **यशोदासख्यो नन्दभोग्या गृहकार्यकर्त्र्यश्च, तत्र गृहदासीषु कर्मान्तरनियुक्तासु** सत्सु प्रकरणाद् भगवदभ्युदयार्थमेव कर्मान्तरमिति लक्ष्यते, स्वतःकरणे हेतुनन्दहिगेनीति, गेहिन्याः कर्मैतदावश्यकम् ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ—जब भगवान् की इच्छा से गृह की सब दासियाँ खेतों का संस्कार[4] करने के लिये एवं खेतों में लतादिकों का गृह बनाने के लिये गईं तब यशोदा आप ही दही का बिलोना करने लगी । यशोदा के घर में दासियां चार प्रकार की थीं—

(१) गौशाला और क्षेत्र की स्वच्छता रखने का कार्य करने वाली एवं प्रभु (कृष्ण) के कार्य करने वाली ।

(२) यशोदा की सखियाँ ।

१—निकट । २—दोड़ने । ३—पत्नी । ४—सुधारने ।

(३) नन्द की दासियाँ।

(४) घर का काम करने वाली, इन चार में से जो घर के काम करने वाली थीं वे घर के काम करने लगीं।

समझा जाता है कि वे दूसरे घर के काम भी भगवान् के अभ्युदय के लिये ही थे। दधि का बिलोना यशोदा आप ही क्यों करने लगी। इसलिये शुकदेवजी ने श्लोक में यशोदा को 'नन्दगेहिनी' कहा है जिसका भावार्थ है कि गेहिनी (घरवाली) का दधि बिलोना यह आवश्यक कर्तव्य है ॥ १ ॥

आभास—एवं संसारव्यापृतिरपि भगवदीयानां भगवद्गुणगानार्थमेव जातेत्याह।

आभासार्थ—भगवद् भक्तों की संसारासक्ति भी भगवद् गुणगान के लिये ही होती है। उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च।**
दधिनिर्मथने काले स्मरन्ती तान्यगायत ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—यहाँ जो जो गीत एवं भगवान के बाल-चरित्र प्रसिद्ध थे उनको स्मरण करती हुई यशोदा माता दही बिलोने के समय गाती थी।

सुबोधिनी—**यानियानीति** उपनिबन्धनं स्वेनैव कर्तुं शक्यते स्त्रीणामद्यापि तथासामर्थ्याद, **यानि** प्रसिद्धानि भगवच्चरित्राणि पूर्वमिह गोकुले वा शास्त्रतो लोकतश्च तन्मध्ये **यानीह** प्रसिद्धानि, वीप्सया सर्वाण्येव अनेन गानमेव मुख्यं न तु दधिमन्थनमिति ज्ञापितं, अन्यथा शीघ्रं दधिमन्थने सर्वाणि **गीतानि** गातुं न शक्यानि स्युः, तस्य **बालचरितानि** स्वदृष्टानि **च**काराद् गोपिकादिभिरप्युक्तानि, तस्य भगवतो बालचरितानि येषु तानि वा गीतानि चकारादन्यानि च, **दध्नो** नितरां **मथनं** यस्मिन् काले, भगवतो गुणगानस्य स एव कालः, यस्मिन् काले क्रियाशक्तेराधिदैविकस्यापीन्द्रियं मथितं भवति, तदाह **दध्नो** नितरां **मथनं** यस्मिन् **काल** इति ननु कथं तस्यैव कालस्य गाने हेतुत्वमिति चेत् तत्राह **स्मरन्तीति**, तानि **गीतानि स्मरन्ती**, तस्मिन्नेव काले गीतानां स्मरणं भवतीति ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—स्त्रियाँ सुने हुए चरित्र को छन्दोंबद्ध कर गीत रूप में लाने की शक्तिशाली होती हैं। आज तक भी उनमें यह शक्ति विद्यमान हैं। जो भगवत् चरित्र यहाँ (संसार में) वा गोकुल में शास्त्र से अथवा लोक से (शास्त्र में लिखे हुए वा लोक की आख्यायिकाओं द्वारा मालूम हुए) प्रसिद्ध थे, अत्यन्त इच्छा होने से सब ही चरित्र यशोदा ने गीतरूप में गाए थे, जिनको वह उस समय गा रही थी। इससे समझना चाहिये कि यशोदा का मुख्य कार्य, भगवद्गुणगाना ही था और 'दधिमन्थन' गौण कार्य था। यदि दधिमन्थन मुख्य होता तो दधिमन्थन के समय में, यशोदा सब

गीत नहीं गा सकती थी। श्रीकृष्ण के बाल-चरित्र जो यशोदा ने प्रत्यक्ष देखे थे और जो गोपिका आदि व्रजवासियों से सुने थे, वे सब गीत। 'च' शब्द श्लोकों में जो दिया गया है, उसका आशय आचार्यश्री बताते हैं कि इसके अतिरिक्त दूसरे भी भगवत्-चरित्र सम्बन्धी गीत थे, वे सब यशोदा गाती थी। जो समय दधि के बिलोने का था, वही समय भगवद्गुणगान का भी है। इसका भाव यह है कि क्रिया शक्ति (काम करने की, किसी वस्तु को उठाने वा चलाने की शक्ति) भुजाओं (भुजाओं के कहने से हस्त भी उसके साथ समझने) में रहती है। उनका (भुजाओं का) आधि-दैविकरूप इन्द्र है 'इन्द्रियं वैदधि' इस श्रुति के अनुसार, दही इन्द्र की इन्द्रिय है। अतः दही के मंथन से इन्द्र की इन्द्रिय का भी मन्थन होता है। इसलिए आधिदैविक इन्द्रिय के मंथन होने के समय में गीतों का स्मरण होता है जिससे यशोदा दधिमन्थन समय (प्रातःकाल*) में गीतों को गाती थी ॥ २ ॥

आभास—एवं गानपरतया मथने क्रियमाणे गानस्यामृतरूपत्वाद् दधिमथनं भवतीति गानस्य गौणभावं सम्पाद्य भगवद्भजनौपयिकं देहमपि पीडयित्वा भगवदुपभोग्यं रसमपि निरुध्य तद्देवतामपि निवार्य भौतिकीं क्रियां श्रमजनिकां भक्तिमपि पीडयन्तीं मुक्तानामपि क्षोभजनिकां क्रियां कृतवतीत्याह।

आभासार्थ—इस निम्न श्लोक तीन में श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि यशोदा ने जो दधिमन्थन समय में गुणगान प्रारम्भ किया था, वह गान अमृतरूप था, जिससे दधिमन्थन पूर्ण रीति से नहीं हो सकता था, इससे यशोदा गान को, गौण समझ कर दधिमन्थन की भौतिक एवं श्रम देनेवाली क्रिया विशेष प्रकार से करने लगी। उस क्रिया से भगवान् के भजन में उपयोगी[1] देह को भी कष्ट हुआ, भगवान् के उपभोग[2] में आने वाले रस भी रुक गए और रस उत्पन्न करने वाले देवता भी हट गए स्नेहरूप भक्ति को भी पीड़ा हुई, मुक्तों को भी क्षोभ हुआ।

श्लोक---**क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं**
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रूः।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ ॥ ३ ॥

---

*भगवत्स्मरण के लिये प्रातःकाल शास्त्रसिद्ध और लोकसिद्ध एवं अनुभवसिद्ध हैं, अब भी सर्वत्र सब लोग इस काल में ही स्मरणादि करते है—अनुवादक

१—काम में आने वाली। २—भोजन में।

श्लोकार्थ--सुन्दर भौं वाली यशोदाजी ने पुष्ट नितम्बों पर पहने हुए रेशमी वस्त्र को सूत्र (कटिमेखला) से बाँध लिया था, पुत्र स्नेह से जिसके स्तनों से दूध टपक रहा था और वे स्तन भी काँप रहे थे । रज्जु खींचने के परिश्रम से भुजाओं में पहने हुए कङ्कण और कानों में पहने हुए कुण्डल चलायमान हो रहे थे । मुख कमल पर पसीना आ रहा था और गुंथी हुई चोटी में से मालती के पुष्प निकल-निकल के गिर रहे थे, ऐसी वह यशोदा दधिमन्थन करती थी ।

सुबोधिनी—**क्षौमं वास** इति, **क्षौमं** पट्टवस्त्रं तदतिपिच्छिलं भवतीति तद्दाढर्यार्थं **सूत्रेण** दोरकेण नद्धं क्रियते, उत्थिता सती मथनं करोति मथनावेशाद् वस्त्रस्याप्यननुसन्धानमिव वक्तुं स्थूले **कटितटे बिभ्रतीत्युक्तं**, कटिस्थौल्यात् मध्ये कृशभावेन बद्धं **वासः** परं न पतति, अयुक्तकरणं वा ज्ञापयितुं वस्त्रादिसौन्दर्यं वर्ण्यते, **तट**पदेन चास्या गतिरूपत्वं नद्या इव प्रदर्शितं, अनेनावश्यकशरीरापेक्षापि मथनार्थं परित्यक्तेति सूचितं पुत्रस्नेहेन सहजधर्मेणाधिक्यात् प्रेरितं दुग्धं बहिरिपि निःसरन् न विचारवतीत्याह **पुत्रस्नेहेति**, दुग्धं यद्यपि स्रवति तथापि **पुत्रस्नेह एव स्रुतो** यत्र तादृशं **कुचयुगं बिभ्रती** स्नेहे वृथा गच्छति सति तदभिमानिनी देवता भीता सती **कुचयुगमपि** कम्पयति, तादृशमपि **बिभ्रती**, अनेनाधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकापेक्षामपि त्यक्तवतीत्युक्तं भवति, **चकारा**दन्तर्यामिप्रेरणामपि, नन्वेवमतिक्रमे भगवता रक्षकत्वेन स्थापितौ दण्डधरौ मृत्युयमौ कथं न तां दण्डितवन्तावित्याह **सुभ्रूरिति**, शोभने भ्रुवौ यस्याः, "भ्रुवौ यम" इतिवाक्याद् भाव्यर्थमङ्गीकृत्य पर्यवसानाच्छोभनभ्रूत्वं, **रज्जोर्नेत्रस्याकर्षेण** यः **श्रमस्तत्सहितं भुजद्वयं** तावत्पर्यन्तं **चलन्ति कङ्कणानि** ययोरेतादृशौ हस्तौ **बिभ्रती**, अनेन भक्तिमार्गः कर्ममार्गश्च तद्देवास्तन्नियमाश्च सर्वे क्लिष्टा इत्युक्तं, **कुण्डले** साङ्ख्ययोगं द्वयमपि क्लिष्टं, सर्वत्र **बिभर्तीति**सम्बन्धः, **चकारा**च्छिरश्च जातकम्पमित्यनुवर्तते, एतदर्थमेव पृथङ् निर्देशः, अन्यथा स्रुतसकम्पकुचयुगमित्येव वदेत्, **वक्त्र**मपि **स्विन्नं**, परमक्षोभात् स्वेदयुक्तं, निर्गतसारा भक्तिरप्युच्यते, **कबरे** केशपाशे सिद्धस्थानेषु **विगलन्ती मालती यस्यां**, **कबरात्** केशपाशात् सिद्धस्थानाद् **विगलन्ती मालती** यस्यामिति वा, मा लक्ष्मीरलं यस्मिंस्तादृशं जगदतिक्रम्य वर्तत इति **मालती** ब्रह्मविद्या सापि गच्छति, एवं प्रपञ्चासक्ता **निर्ममन्थ**, आकृतिमात्रवर्णनायां वैयर्थ्यं शुकवाक्यविरोधश्च भवेत् ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ—पट्ट वस्त्र खिसकने वाले होते हैं। पुनः पुनः अपने स्थान से सरक जाते हैं। यशोदा ने पट्ट वस्त्र पहिने थे । वे खिसक जाते थे । इसलिए यशोदा ने उस वस्त्र को जो शरीर से खिसक जाता था, सूत्र[1] से बांध दिया था । यशोदा उठकर (खड़ी होकर) मन्थन करने लगी । जिससे मथने में इस प्रकार आवेशवाली हो गई थी जो यशोदा को वस्त्र का भी भान[2] न रहा, इसको बताने के लिए श्लोक में कहा है कि यशोदा के नितम्ब स्थूल थे, इसलिए कृश[3] कटि पर बांधा हुआ वस्त्र गिरता नहीं था। शुकदेवजी ने वस्त्र की सुन्दरता का वर्णन इसलिए किया है कि यशोदा के पास अनेक दासियाँ हैं, उनमें से किसी को बुलाकर मन्थन का कार्य कराती, वैसा न कर, स्वयं करती है, वह योग्य नहीं है । श्लोक में 'तट' शब्द का भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं

१—कटि मेखला, कर्धनी या कन्दोरा । २—सुध । ३—पतली ।

कि जैसे तटों के मध्य में नदी का जल चंचल[1] है वैसे यशोदा भी चंचल है। जिससे यशोदा को यह ध्यान नहीं आया कि मैं दधिमन्थन इस प्रकार करूं जैसे मेरा सौन्दर्य दृष्टिगोचर न हो। ऐसा विचार न कर, दधिमन्थन करते हुए शरीर की भी अपेक्षा[2] न की। यशोदा दधिमन्थन में इतनी लीन हो गई कि माता के सहज धर्म, स्नेह के कारण, जो दूध स्तनों में विशेष आने से बाहिर बहने लगा, उसका भी उसने विचार न किया। स्तनों से जो दूध टपक कर बहने लगा, वह दूध नहीं था किन्तु माता का स्नेह था। इस स्नेह के व्यर्थ नष्ट होने से उनके अभिमानी देवता ने डरकर, दोनों स्तनों को कम्पित किया। स्तनों के अभिमानी देवता कहने का आशय कञ्चुकी[3] से है। वह स्तनों को नियम में रखती है, किन्तु जब स्नेह बढ़ने से स्तनों में दूध विशेष हो जाता है, तब वे फूलते हैं और दूध टपकने लगता है। जिससे वह चोली, भय से ढ़ीली पड़ गई तो स्तन कम्पित होने लगे। इस भाव को बताने के लिए श्लोक में (पुत्र स्नेह–स्नुतकुचयुगं जातकम्पं) कहा है। कम्पित स्तनों को धारण करती हुई अर्थात् उनकी अपेक्षा[2] न कर दधिमन्थन करती रही। इसका रहस्य आचार्यश्री बताते हैं कि यशोदा ने इस प्रकार मन्थन करने से आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक की भी अपेक्षा नहीं की। श्लोक में दिये हुए 'च' (और) शब्द का भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं कि 'अन्तर्यामी की प्रेरणा' की भी अपेक्षा[4] कर दी।

जब यशोदा ने इस प्रकार किसी की भी अपेक्षा[5] न कर स्वच्छन्द कार्य करने लगी, तब भगवान् ने रक्षार्थ, जो मृत्यु और यम को दण्ड के लिये स्थापित किया है, उन्होंने दण्ड क्यों नहीं दिया? इसका उत्तर श्लोक में 'सुभ्रूः' पद से यशोदा के गुण को बता कर दिया है। यशोदा की दो 'भौं' मृत्यु और यम रूप है 'भौंओं' के सिकुड़ने से दर्शकों को क्लेश होता है। यदि 'भौंओं' का संकोचन कर 'भौं' द्वारा सुन्दर दिखावट हो तो क्लेश का अभाव हो जाता है। अतः दण्डधरों ने देखा कि यशोदाजी के सुष्टु प्रकार से चलायमान सुन्दर 'भौंओं' के दर्शन मात्र से, सब के क्लेश कट गये हैं, तो हम किसलिये दण्ड देवें और 'भौंओं' सुशोभित नहीं रहीं इससे यह भी आशय निकलता है कि यशोदा को भी दधिमन्थन से क्लेश नहीं हुआ था।

नेत के खेंचने से, उत्पन्न श्रम से भुजाओं में पहने हुए कङ्कण हस्त[6] पर्यन्त[7] आ जाते थे। जिससे यों समझा जाता था कि यशोदा ने कङ्कण हाथ में पहने हैं। वैसे (कङ्कण वाले) हस्तों को धारण करनेवाली यशोदा हुई। इससे भक्ति-मार्ग और कर्म-मार्ग एवं उनके देवता तथा नियम भी क्लेशयुक्त हुए इसका तात्पर्य यह है कि नेत को खेंचने वाली दो भुजाएँ हैं उनमें से दक्षिण भुजा भक्ति-मार्ग और वाम भुजा, कर्म मार्ग है। इस दधि मन्थन में दो क्रियाएँ हैं एक भगवान् से सम्बन्ध रखने वाली और दूसरी गृहस्थाश्रम से सम्बन्ध रखले वाली हैं। भगवान् से सम्बन्ध

१—चलता ही रहना। २—परवाह। ३—चोली। ४—अनादर, त्याग। ५—परवाह। ६—हाथ। ७—तक।

रखने वाली क्रिया मुख्य होने से दक्षिण भुजा (मुक्ति मार्ग) से की जाती है अर्थात् भगवत्सम्बन्धी कार्य, मुक्ति मार्ग से सिद्ध होता है। गृहस्थाश्रम से सम्बन्ध रखने वाली क्रिया, गौण होने से वाम भुजा (कर्म मार्ग) से की जाती है, अर्थात् गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कार्य कर्म मार्ग से सिद्ध करते हैं। दक्षिण भुजा में पहने हुए कङ्कण, भक्ति मार्ग के नियम हैं। वाम भुजा में पहने हुए कङ्कण कर्म मार्ग के नियम हैं। इन कङ्कणों को पहनने का भाव यह है कि भक्ति मार्ग पर चलने वालों को भक्ति मार्ग के नियम धारण करने हैं और कर्म मार्ग के पथिकों को कर्म मार्ग के नियमों का अनुगामी होना आवश्यक है। यशोदा ने कानों में जो कुण्डल धारण किए थे, वे साङ्ख्य और योग के रूप थें। दोनों क्लेशयुक्त हुए थे, यशोदा ने जो भी आभूषण जहाँ भी धारण किए थे, वे क्लेश वाले हो गए थे। श्लोक में आए हुए दूसरे 'च' अक्षर का आशय कहते हैं कि सिर भी कम्पायमान हो रहा था 'जातकम्पम्' शब्द पृथक देने का यही भाव है कि सब क्लेशयुक्त बताने थे। यदि सबों को क्लेशयुक्त नहीं बताना होता, तो 'जातकम्पम्' पद पृथक नहीं देकर 'स्त्रुतसकम्पकुचपगं' एक ही पद कर देते थे। मस्तक सत्य लोक का आधिदैविक रूप है, इसलिए उनके उपर जो केश हैं, वे ज्ञानी और मुक्त जीवों के रूप हैं। अत: मस्तिष्क के कम्पित होने से वे ज्ञानी और भक्त भी क्लेशयुक्त थे। यशोदाजी का मुख भी क्लेशयुक्त होने से पसीने से भर गया था, इससे यह बताया कि यशोदा के इस प्रकार के मुख से यह सिद्ध हुआ कि यशोदा से भक्ति का सार अलग हो गया है। यशोदा ने अपनी चोटी में जो मालती के पुष्प गूंथे थे। उनका भाव आचार्यश्री बताते हैं कि केशपाश (चोटी) वाला स्थान सिद्धों का स्थान हैं। उस स्थान पर लगे हुए मालती के पुष्प, ब्रह्मविद्या के रूप थे, वे भी संसारासक्ति के कारण धीरे-धीरे गिरने लगे (ब्रह्म विद्या जाने लगी)। इतना सब होते हुए भी, संसारासक्त यशोदा मन्थन कर रही थी। श्लोक में जो वर्णन किया गया है वह यदि केवल यशोदा की आकृतिका (वस्त्रों से सुन्दर हुई आकृतिका) वर्णन होता तो चौथे श्लोक में जो शुकदेवजी कहेंगे, उसका विरोध होता। द्वितीय श्लोक में यशोदा मन्थन करती हुई भगवद् गुणगान कर रही थी। तब किसी को भी क्लेश न हुआ और तीसरे श्लोक में केवल यशोदा के स्वरूप एवं आकृति का वर्णन है। इस प्रकार का अर्थ न कर 'मन्थन कार्य' को अयोग्य एवं सब को क्लेश हुआ, यह आशय आचार्यश्री ने जो बताया है, उसका कारण यह है कि चौथे श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं कि भगवान् ने दधि बिलोने की क्रिया करने से, माता को रोक दिया, बिलोना करने नहीं दिया इससे यह भाव तीसरे श्लोक का स्पष्ट होता है कि तीन श्लोक में कहे हुए बिलोने से सब को कष्ट हुआ और मुख्य भगवद् गुण-गान गौण हो गया, जिससे भगवान् ने माता को इस दधि मन्थन से रोका। इस रहस्य को आचार्यश्री ने ही समझा, इसलिए आचार्यश्री ने तीन श्लोक का भावार्थ इस प्रकार समझाया है कि भगवान् की लीला में जो भी रहते हैं वे भक्त अलौकिक हो जाते हैं, अर्थात् वे भी भगवद्रूप हो जाते हैं। यशोदा भगवान् की लीला में स्थित हैं, अतः जैसे भगवान् के मस्तिष्क में ज्ञानी और मुक्त निवास करते हैं वैसे हो यशोदा के सिर में भी केश रूप में ज्ञानी और मुक्त निवास कर रहे हैं॥ ३॥

आभास--पूर्ववद् भगवान् बालकानामर्थे स्तन्यकाम सञ्छ्रमं वारितवानित्याहतामिति ।

आभासार्थ—पूतना-वध कर जिन बालकों को अपने भीतर स्थापित किए थे, उनको स्तन्य पान कराने के लिए पहले की तरह भगवान् ने स्तन्य की चाहना करते हुए माता यशोदा को श्रम कार्य से रोका । इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः ।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—दही बिलोती हुई माता के पास स्तन्य-पान करने की इच्छा से आकर प्रीति बढ़ाते हुए भगवान् ने मथानी को पकड़ माता को बिलोना करने से रोक लिया ।

सुबोधिनी—आसाद्य निकटे गत्वा नैकटयदर्शनाभ्यां क्रियाज्ञानाभ्यामुभयविधनिरोधसिद्धिः, मथ्नंतीमिति दध्नो विकृतत्वं स्वस्यापि प्रयासः, जननीमिति निरोधावश्यकत्वं, तथाबुद्धिस्तेनैव कृतेति, हरिरिति सामान्यतोपि सर्वदुःखहर्ता साम्प्रतं कर्तुं रत्यन्तान्याभिनेवेशात् करणप्रतिबन्धमेव कृतवानित्याह गृहीत्वा दधिमन्थानमिति, मन्थानं दण्डं हस्तेन धृत्वा प्रीतिमावहन् न्यषेधन्मथननिषेधं कृतवान्, निषेधेपकारापकरणाय प्रीतिमावहन्निति, यथा तस्याः स्वस्मिन् प्रीतिर्भवति तथा कुर्वन् ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने माता यशोदा को दोनों प्रकार (क्रिया और ज्ञान) से निरोध सिद्धि कराने के लिये उनके निकट जाकर दर्शन दिये । निकट जाने की क्रिया से यशोदा का क्रिया रूप निरोध सिद्ध हुआ । जिससे भगवान् को स्तन्य पान कराने लगी और दर्शन से ज्ञानरूप निरोध की सिद्धि हुई, जिससे भगवान् में आसक्ति हुई । आसक्ति होने से भगवान् के मुखारविन्द के दर्शन में मग्न हो गई । (इनका वर्णन ५ वें श्लोक में होगा) । यशोदा उस समय दधिमन्थन कर रही थी । भगवान् ने सोचा कि दधि-मन्थन से एक तो दधि में विकार होगा और यशोदा को भी श्रम हो रहा है । यदि मैं मथानी को पकड़ कर रोकूँगा, तो मुझे मी परिश्रम होगा, किन्तु यशोदा के हृदय में मैंने अपने लिये पुत्रभाव उत्पन्न किया है जिससे वह मुझे पुत्र समझती है । इसलिये वह मेरी माता हैं । जबकि मैं हरि हूँ, सब का दुःख मिटाता हूँ तो माता का दुःख तो मुझे अवश्य नष्ट करना चाहिये । इसलिये माता की संसारासक्ति छुड़ाकर निरोध कराना आवश्यक है । इस प्रकार का विचार कर श्रीकृष्ण ने दधि-बिलोने का जो साधन (मथानी) था । उसको पकड़ लिया इस प्रकार से पकड़ा कि जिस क्रिया को देखकर माता कुपित न होकर प्रसन्न होने लगी । जिससे माता की भगवान् में प्रीति बढ़ने लगी ।

कारिका—**सर्वाङ्ग चालयन् हस्तौ पादौ चैव विचालयन् ।**
मुखाब्जं मधुरारावं बिभ्रत् कृष्णः समागतः ॥१॥४॥

कारिकार्थ—सब अङ्गों को चलाता (हिलाता) हुआ और हाथ तथा पैरों को विशेष हिलाता हुआ, मीठे अस्पष्ट[1] आवाज वाले मुख कमल को धारण करता हुआ श्रीकृष्ण आ गया ।

व्याख्या—भगवान् कृष्ण को दधि-मन्थन से रोकने के लिये, माता की मथानी को पकड़ना था । कृष्ण ने सोचा कि यों करने से माता कुपित होंगी । इसलिये मैं माता के निकट इस प्रकार जाऊँ, जैसे मथानी पकड़ने की मेरी उद्धताई, माता भूल जाय, मेरी चतुराई चपलता देख कर प्रसन्न हो जाय । जिससे मुझ में विशेष प्रेम करने लगे । आचार्यश्री ने कारिका में श्रीकृष्ण की उस धौर्त्यपूर्ण[2] चतुराई तथा चञ्चलता का वर्णन किया है । श्रीकृष्ण माता के पास जाते समय नर्तक[3] के समान, अपने सर्व अंगों को सामान्य प्रकार से हिलाने की चेष्टा करने लगे एवं ज्यों-ज्यों माता के पास पहुँचे, त्यों-त्यों हाथ और पैरों को विशेष प्रकार से हिलाने की क्रिया करते थे । जिससे माता को यह इंगित[4] करते थे कि मैं थक गया हूँ मुझे झट उठाकर गोद में ले ले और मुखकमल से तोतले मीठे वचनों से माता को मोहित करते हुए आकर माता के पास पहुँचे ॥१॥४॥

आभास—भगवता प्रीतीर्जनितेति भगवदर्थं प्रपञ्चासक्तिं परित्यज्य स्तनं पायितवतीत्याह तमंकमिति ।

आभासार्थ—भगवान् ने माता के हृदय में अपने लिये ऐसा प्रेम उत्पन्न किया कि जिससे माता प्रपञ्चा-सक्ति का त्याग कर, कृष्ण को स्तन्य-पान कराने लगी । निम्न श्लोक में इसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**तमङ्कमारूढमपाययत् स्तनं स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम् ।**
अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययावुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते ॥५॥

श्लोकार्थ—गोद में चढ़े हुए उस (श्रीकृष्ण) को यशोदा स्नेह (दूध) वाले स्तन से बहते हुए दूध को पिलाने लगी । उस वक्त भगवान् के मुस्कराहट वाले मुखारविन्द को यशोदा देख रही थी । इतने में चूल्हे पर चढ़े हुए दूध में उफान आता देखकर वह भगवान् को अतृप्त ही छोड़कर वेग से वहाँ चली गई ।

१—तोतले । २—छल कपट । ३—नाचने वाले । ४—संकेत या इशारा ।

सुबोधिनी—स्वयमेवाङ्कमारूढमीषदुत्थितं स्तनमपाययत्, यथा सा विमुच्य न गच्छति तदर्थमङ्कमारूढो दैत्यानाक्रमयितुं च, स्नेहस्नुतमिति नास्याः स्तनपानजनितोपि क्लेशः यद्यपि मोहितायाः, प्रपञ्चासक्तिर्महती गृहे च बहु कार्यं दास्यश्च न सन्ति तथापि मन्दहासयुक्तं मुखं पश्यन्त्यपाययत्, इदानीं स्थित्यर्थं मोहनं पूर्वमोहनस्य सङ्कोचश्च, एवं निर्बन्धेन स्थापितापि दोषवशात् त्यक्त्वा निर्गतेत्याहातृप्तमुत्सृज्येति, न तृप्ता यस्मिन् प्रतिबन्धं कुर्वाणमप्युत्सृज्योर्ध्वं त्यक्त्वा जवेनातिवेगेन सा पूर्वोक्ता प्रबलप्रपञ्चा ययौ, उद्देश्यपर्यन्तं गतवती, गमने लौकिकमावश्यकं कार्यमाहोत्सिच्यमाने पयसीति, अधिश्रितेग्नौ स्थापिते पयस्युत्सिच्यमाने विष्यन्दमाने सति विष्यन्दनं द्रव्यनाशकं दोषजनकं च, तुशब्दः प्रक्रमान्तरमाह, भगवदनुरोधेन यथा मन्थानं परित्यज्य भगवदनुरोधं कृतवती मथनाविरोधेनैवं भगवदनुरोधेन दुग्धोत्तारणं न कृतवती किन्तु भगवदनुरोधं परित्यज्यैव कृतवतीति ।। ५ ।।

व्याख्यार्थ—भगवान् माता का प्रेम बढ़ाते हुए स्वयं (आप) ही गोद में चढ़ बैठे। जिससे माता के स्तनों में स्नेह (दूध) आ गया। दूध से माता के स्तन ऊँचे हो गये जो, उसने कन्हैया के मुखारविन्द में दे दिये। भगवान् उनको चूसने लगे। भगवान् स्वयं गोद में क्यों चढ़े? पृथ्वी पर बैठकर ही स्तन चूसते। इसका आशय बताते हैं कि यद्यपि कृष्ण ने माता में ऐसा प्रेम उत्पन्न किया था, जो माता आते हुए कृष्ण को उठाकर गोद में बिठाने वाली थी परन्तु कन्हैया स्वयं गोद में इसलिये बैठ गया कि आपको भूमि पर स्थित दैत्यों का दमन करना था और माता की गोद आधिदैविक भूमि है। इससे यह जताया कि जीव जब अपने हृदय को आधिदैविक बनाता है तब उस हृदय में स्वयं आकर विराजमान होता हूँ। जब बच्चा माता के स्तन्य से दूध चूसता है, तब माता को कुछ क्लेश होता है; परन्तु यशोदा को वह क्लेश भी न हुआ कारण कि प्रेम से स्तनों में आया हुआ स्तन्य[1] स्वतः बह रहा था, इससे न माता को क्लेश हुआ और न कन्हैया को दूध खेंचने के लिये परिश्रम करना पड़ा। यद्यपि मोहग्रस्त यशोदा की प्रपञ्च में विशेष आसक्ति थी घर में कार्य भी बहुत थे घर की दासियाँ वहाँ पर नहीं थीं जो वे कार्यों को निपटा लें, ऐसा होते हुए भी यशोदा जो भगवान् को स्तन्य-पान करा रही थी, उसका कारण यह था कि यशोदा भगवान् की मोहिनी मन्द मुस्कान से, मुखारविन्द के दर्शन में मग्न हो गई थी। भगवान् ने इसलिये मंद हास्य किया था कि यशोदा यहाँ स्थित रहकर मुझे स्तन्य-पान करावे। इस समय जो मोह उत्पन्न कराया, उससे आठ वें अध्याय में कराया हुआ मोह, संकोच को प्राप्त हुआ (सिकुड़ गया)। यद्यपि भगवान् ने हास्य द्वारा यशोदा को रोक तो रक्खा, किन्तु मोह का स्वरूप ही दोषरूप है; अतः मोहरूप (संसारासक्तिरूप) दोष प्रबल होने से प्रबल-संसारासक्त वह यशोदा, भगवान् के अन्तःस्थित बालक स्तन्यपान से तृप्त भी नहीं हुए थे, तो भी भगवान् को गोद से, नीचे पटक कर वहाँ शीघ्र चली जाने का कारण लौकिक आवश्यक कार्य था, वह बताते हैं कि दूध आग वाले चूल्हे पर धरा था, उसमें आग के कारण से विशेष उफान आजाएगा, तो दूध डुलता हुआ बह जाएगा, जिससे

१—स्तन से निकला हुआ दूध।

द्रव्य नाश होगा, अथवा लौकिक दोष (जलने से स्वाद-रहित हो जाएगा)। इस कारण से जहाँ दूध चूल्हे पर धरा था, वहाँ जल्दी पहुँच गई। श्लोक में दिये हुए 'तु' शब्द का आचार्यश्री भाव बताते हैं कि यशोदा ने जैसे पहले भगवान् के विचारानुसार दधि का बिलोना छोड़, भगवान् के प्रसन्नतार्थ उनको स्तन्य-पान कराया था, उस प्रकार यहाँ यशोदा ने नहीं किया, यहाँ तो उससे विपरीत किया, अर्थात् भगवान् की इच्छा तो थी कि मुझे दूध चुसाती रहे, इसका अनुसरण[1] न कर स्वयं (भगवान् की इच्छा के विपरीत) दूध उतारने चली गई। इस भाव को स्पष्ट करने के लिये श्लोक में शुकदेवजी ने 'तु' शब्द दिया है ॥ ५ ॥

श्लोक--स जातकोपः स्फुरितारुणाधरं सन्दश्य दद्भिर्दधिमण्डभाजनम्।
भित्त्वा मृषाश्रुर्दृषदश्मना रहो जघास हैयंगवमन्तरंगतः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ---भगवान् को इससे क्रोध हुआ, लाल होंठ फरकने लगे, झूठे आंसू आ गए और दाँतों से होंठ डसकर, पत्थर से मट्ठे की मथनी फोड़ डाली। घर के अन्दर जाकर एकान्त में मक्खन खाने लगे।

सुबोधिनी—ततो बालकानामतृप्तत्वाद् भगवान् **जातकोपो** जातः, यतः स बालकरक्षकः, बालकरक्षाप्रतिघाते भक्तिमार्गविशेन वैषम्यादकस्मादेव क्रोधो जातः, स्थित एव निमित्तवशादुद्गतः, ततः कोपो यशोदां मारयिष्यतीति लोभं तद्गतं भाण्डं च स्फोटितवानित्याहाधरं **दद्भिस्सन्दश्य दृषदश्मना दधिमण्डभाजनं भित्त्वेति,** अधरस्य दंशे हेतुः **स्फुरितारुणेति,** स्फुरितोऽरुणवर्णश्च जात इति लोभाद् भगवत्परित्यागे लोभस्यैवापराधो भवति तदा लोभ आधिदैविको यशोदां मारयितुमाध्यात्मिकं वा स्वयं विज्ञापनार्थमागतः, तदा स्फुरणं जातं, तत् त्रयं निवारणीयं, रजोगुणश्च प्रादुर्भूतो जातस्त्रयमुत्पादयितुं भिन्नं तदुभयमपि निवारयितुमोष्ठदंशः, दन्ता स्नेहकला यशोदानिष्ठाः, तैस्तेषां निवारणं कृतं, अनुकरणं तु स्पष्टमेव, दधिमण्डस्तक्रं, तदाधारभूतं भाण्डं नवनीतं तु भिन्नं जातमस्ति, ततो दृषदश्मना दृषत्सम्बन्धिकुट्टनपाषाणेन भित्त्वा दैत्याविष्टेव सा निर्गता तेषां दैत्यानामाधिदैविकानां यज्ञायुधेनैव जनितशब्देन निवारणं कर्तव्यं, तत्र महति शब्दे क्रियमाणे भाण्डमेव भिन्नं, एवमुपकारं कृत्वा **मृषाश्रुर्जातः,** दधिभाण्डभङ्गेपि दोषसम्भवात्, **यद्यपि स्वतः कृतभङ्गे दोषो नास्ति** रुद्रः समागत इति लोके ज्ञापयितुमश्रूण्यवर्तयत्, अन्यथा भाण्डदेवताया भङ्गो न स्यात्, अश्रूणां कार्यं च रजतादि नैमित्तिकं च तदुभयाभावान् मृषाश्रुत्वं, यशोदाया नाशशङ्कया वा, तथापि रक्षकः स्वयमित्यश्रूणां मृषात्वमेव, वस्तुतस्तु भाण्डे दैत्य आविष्टः, तद्वधार्थमेव तत् कृतवान्, ततस्तस्याः श्रमः सार्थको भवत्विति **हैयङ्गवं रह** एकान्ते बालकार्थं **जघास,** जहारेति वा, स्वस्यापि भक्षणं प्राप्स्यतीत्यन्तरङ्गतो भेदं प्राप्तवान्, ततः प्रभृति ते भिन्नाः कृताः, गृहमध्ये गतः, तत्राप्येकान्त आधिदैविकदैत्यानामगम्यस्थाने बालकार्थमेव जघास भक्षितवान् ॥ ६ ॥

१—पालन।

व्याख्यार्थ—भगवान् ने अन्त:स्थित बालकों को तृप्त करने के लिये स्तनपान किया था, वे बालक तृप्त हुए ही नहीं, तो यशोदा दूध में उफान आते देखकर उसको उतारने के लिये भगवान् को पृथ्वी पर पधरा कर त्वरा[१] से वहाँ चली गई। बालकों के अतृप्त होने से भगवान् कुपित हुए कारण कि वे बालकों के रक्षक हैं। यशोदा के जाने से बालकों की रक्षा में विघ्न हुआ, जिससे विषमता प्रतीत होने लगी। उस समय भक्ति-मार्ग के आवेश से (भक्ति-मार्ग में शरण्य की रक्षा करना भगवान् का प्रथम कर्त्तव्य है और इस मार्ग में भगवान् भक्त के पक्षपाती ही बनते हैं) भगवान् में अकस्मात्[२] क्रोध उद्भूत[३] हो गया, भीतर स्थित* क्रोध ही निमित्तवश† बाहर प्रकट हुआ यह क्रोध यशोदा को मारेगा। यशोदा को मारना भगवान् को अभीष्ट नहीं था कारण कि भगवान् ने समझा था कि यह दोष[६] यशोदा का नहीं है किन्तु लोभ का है, अत: लोभ का ही नाश करना चाहिये। वह लोभ दधि भाण्ड में स्थित था, इसलिये भगवान् ने उसको पत्थर से फोड डाला। उस समय स्वयं आधिदैविक[७] लोभ, यशोदा को मारने के लिए आध्यात्मिक लोभ के नाशकरणार्थ, भगवान् को प्रार्थना करने के लिये आ गया। जिससे भगवान् के अधर (लोभात्मक ओठ) में स्फुरण हुआ भगवान् ने उसको दाँतों से डस लिया उससे वह लालवर्ण हो गया। भगवान् को आधिदैविक लोभ की यह प्रार्थना स्वीकृत नहीं थीं, अर्थात् यशोदा के अपराध के लिये उसे मारना और आध्यात्मिक लोभ को मूलत: नाश करने की इच्छा भी नहीं थी क्योंकि यों करने से आगे कीजाने वाली लीलाएँ हो न सकेंगी। इसलिये इन तीनों का निवारण करना था और उस समय रजोगुण भी उत्पन्न हुआ जिसने दूसरे तीन कार्य पैदा किये (१–यशोदा दोष रहित हैं, २–उसका (यशोदा का) लोभ अपने लिये नहीं है किन्तु भगवत्सम्बन्धी है, ३–भगवान् के उपयोग में आने वाले दूध की रक्षा करने के लिये वह गई) इन तीनों का भी रोकना था। इन दोनों कार्यों को रोकने के लिये ही आपने अधर को डसा था। भगवान् के दाँत यशोदानिष्ठ स्नेह की कलाएँ हैं उनसे (यशोदानिष्ठ स्नेहकलारूप दाँतों से) उन दोनों (आधिदैविक लोभ के कार्य एवं रजोगुण के कार्य) का निवारण किया। अनुकरण$ स्पष्ट हैं। तक्र[८] का बर्त्तन जिसमें विलोई

---

* भगवान् के धर्म भगवान् के सदृश नित्य हैं अत: उनका नाश कभी भी नहीं होता हैं वे सदैव भगवान् में तिरोहित[४] रहते हैं।

† निमित्तवश उनका आविर्भाव[५] होता है जैसे यहाँ अकस्मात् क्रोध का आविर्भाव हुआ है।

$ भगवान् के दाँत, यशोदा पर जो भगवान् का स्नेह है, उसकी कलाएँ हैं यशोदा पर स्नेह के कारण भगवान् ने आधिदैविक लोभ से स्फुरित, रजोगुण से लाल अधर को दांतों से दबा कर उन दोनों के कार्यों का निवारण किया।

१—जल्दी, शीघ्रता। २—अचानक। ३—पैदा। ४—छिपे। ५—प्राकट्य।

६—भगवान् को छोड़ जाना, यशोदा का चला जाना निमित्तथा—'लेख'

७—अन्त: स्थित बालकों के लिए स्तनपान करने का लोभ आधिदैविक लोभ है—'लेख'

उफन ने वाले दूध की रक्षा का, यशोदा का लोभ आध्यात्मिक लोभ है—'लेख' ८—छाछ।

हुई छाछ थी और मक्खन पृथक हो गया था, उसको पीसने की सिल से फोड़ डाला, जिससे जैसे मनुष्य से आविष्ट दैत्य निकल जाता है वैसे ही तक्र बह गई। आधिदैविक दैत्यों को, यज्ञ के§ आयुध से उत्पन्न शब्द से ही निकालना चाहिये। पीसने की सिल से भाण्ड के फोड़ने से महान् शब्द हुआ, जिससे प्रविष्ट दैत्य भाग गया। इस प्रकार यशोदा पर उपकार कर बाहरी देखाव करते हुए, भगवान् झूठे आँसू बहाने लगे; कारण कि दधि-भाण्ड के टूट जाने पर भी दोष का सम्भव होता है। यदि स्वयं भाण्ड को तोड़ा जाय तो दोष नहीं, तो भी रुद्र आ गया, यह लोकों को जताने के लिये आँखों में आसुओं को लाये नहीं तो (रुद्र वा क्रोध न आया होता तो) भाण्ड के देवता का भंग नहीं होता अर्थात् भगवान् तक्र के भाण्ड को फोड़ते नहीं। आँसू झूठे थे, इसकी पुष्टि[1] के लिये कहते हैं कि श्रुति में कहा है कि भगवान् के आंसुओं से रजत[2] और सुवर्ण[3] होते हैं ये दोनों अब न हुए। इससे जाना जाता है कि ये आंसू झूठे थे और दूसरे किसी निमित्त से आंसू होते हैं तो यहाँ वह भी नहीं था तथा यशोदा के नाश की शंका से आँसू आये हों तो भी आँसू न आने चाहियें क्योंकि सर्व रक्षक विभु आप ही हैं तो उसका भय भी कारण न था। इसलिये यह निश्चित है कि आँसू झूठे (दिखावटी) ही थे। वास्तविक तो बात यह है कि तक्र भाण्ड में दैत्य आविष्ट था, उसको मारने के लिये ही भगवान् ने बर्तन को खण्डित किया।

इस प्रकार लीला करने के पश्चात् भगवान् ने सोचा कि यशोदा माता ने श्रम कर नवनीत निकाला है उसका श्रम सफल हो तदर्थ आपने (भगवान् ने) एकान्त में आकर बालकों को तृप्त करने के लिये मक्खन खाने लगे, अथवा बालकों के लिये मक्खन भीतर ले गए, भीतर ले जाऊँगा तो मुझे भी मक्खन[4] खाने के लिये मिलेगा। इससे यह समझा जाता है कि भगवान् ने बालकों से भेद किया, जिससे यह प्रकट है कि उस समय से बालकों को अपने से अलग किया, मध्य में[5] गए वहाँ भी एकान्त स्थान में आधिदैविक दैत्य यहाँ न आ सकेंगे,[6] यों निश्चय कर बालकों के लिये खाने लगे। ६ ॥

---

§ यशोदा पुत्र का त्याग कर, दूध की रक्षार्थ जाने का, वास्तविक कारण दूध, स्नेहरूप कला में आविष्ट दैत्य ही था। उस आधिदैविक दैत्य को भगवान् ने यज्ञ के आयुध (पीसने की सिल–यज्ञ के दस आयुधों में यह भी आयुध है) से भगाया। भाण्ड के फोड़ने के शब्द सुनने से दैत्य भाग गया और यशोदाजी को पुत्र स्मरण हुआ। सुबोधिनी में 'इव' शब्द देकर यह बताया है कि यशोदा में दैत्य आविष्ट हो नहीं सकता है, वैसी दिखने में आती थी। —'टिप्पणी'

१—समर्थन। २—चाँदी। ३—सोना।

४—भक्ति से जो कुछ भगवान् को धरा जाता है वह भगवान् खाते हैं, आगे होने वाली लीला में भगवान् भक्षण करेंगे—'प्रकाश'

५—गुणगान करती हुई यशोदा ने जो मक्खन निकाला उसको भगवान् ग्रहण करे यह योग्य ही है। भगवान् ने बालकों को पृथक कर यह बताया कि मैं भी भक्षण करता हूँ। —'लेख'

६—माता क्रोध न करे इसलिए एकान्त स्थल (जहाँ माता देखे नहीं) में जाकर मक्खन भक्षण किया—टिप्पणी

आभास--ततो यज्जातं तदाह ।

आभासार्थ—उसके पश्चात् जो हुआ वह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक--**उत्तार्य गोपी सुश्रृतं पयः पुनः प्रविश्य सन्दृश्य च दध्यमत्रकम् ।**
विलोक्य भग्नं स्वसुतस्य कर्म तज् जहास तं चापि न तत्र पश्यती ॥ ७॥

श्लोकार्थ--यशोदा दूध को उतार कर फिर उसको अच्छी तरह औटाने लगी, उसको (औटाये हुए को) उतार के लौटकर मन्थन मंदिर में आई, वहाँ मट्ठे की मथनी फूटी देखकर समझ गई कि यह मेरे बेटे का काम है और उसको वहाँ न देख हँसने लगी ।

सुबोधिनी—उत्तार्येति, पयस्तु सुश्रृतं सम्यक् पक्व तदुत्तार्य भूमौ स्थापयित्वा पुनः सुश्रृतमिति प्रथममुत्सेक उत्तार्य पुनरधिश्रित्य ततः श्रृते पुनरुत्तारितवतीत्यर्थः, प्रविश्य मथनस्थानं, अनेनाङ्गणे पयोधिश्रितमिति ज्ञायते बहिर्गृहे मन्थनं तद्गृहं प्रविश्य सन्दृश्य च दध्यमत्रकं भग्नममत्रकं भाण्डं सम्यग् दृष्ट्वा कर्तृकरणकर्मणां याथार्थ्यं, चकारात् नवनीताभावं च दधिमण्डप्रवाहं च, ततस्तत्कर्म स्वसुतस्येति च सन्दृश्य सम्यग् ज्ञात्वा लौकिकाविष्टचित्ता दैत्यानां निवारणाज् जहास हास्यं कृतवती न तु क्रोधं, भगवांश्चेत् तत्रैव तिष्ठेन् न किञ्चित् कुर्यात् तदा स्वस्यैवापराध इत्युत्तपरित्यागात् तूष्णीमेव तिष्ठेत् ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—श्लोक के 'पुनः' शब्द के गूढ़ आशय को प्रकट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि यशोदा ने प्रथम तो दूध में एक ही उफान आया था तो उसको उतार कर पृथ्वी पर धरा, फिर दूध को चूल्हे पर धरकर खूब औटा के उतारा । मन्थन स्थान में प्रविष्ट हुई (इससे समझा जाता है कि दूध को औटाने के लिये आंगण में रखा था और मन्थन घर के भीतर करती थी), वहाँ उसने टूटा हुआ छाछ का बरतन देखा । श्लोक के 'च' शब्द का आशय आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि मक्खन का अभाव और तक्र का बह जाना भी देखा तथा यह भी जान लिया कि यह कर्म मेरे पुत्र का है । जिससे यशोदा को कर्त्ता, कर्म और करण का पूर्ण ज्ञान हो गया, इस प्रकार के ज्ञान से यशोदा लौकिक आवेश वाली हो गई । भगवान् ने दैत्यावेश को दूर कर[1] दिया था इससे यशोदा ने क्रोध न किया किन्तु हँसने लगी ॥ ७ ॥

१—तक्र में दैत्यावेश था, भगवान् ने दैत्य को हटाने के लिए तक्र पात्र को तोड़ डाला, जिससे तक्र बह गई, दैत्य हट गया । दैत्य के हट जाने से यशोदा के हृदय से वात्सल्य रस प्रकट हुआ । जिससे उसके हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि मेरा लाला इतनी सामर्थ्य वाला हुआ है, इससे प्रसन्नचित्त होकर हँसने लगी, क्रोध न किया ।

आभास—भगवांस्तु रूढं तस्या लौकिकज्ञानं दूरीकर्तुं दृढमिति ज्ञापयितुं वा तस्यास्तामसभावोत्पत्त्यर्थं ततो गतः, तत्र च गत्वा पूर्वमपि दैत्यावेशेन यत् सम्पादितं हैयङ्गवादिकं तदपि शिक्ये स्थितं कामं यथेच्छं मर्कटाय प्रयच्छति मर्कटोपि दंष्ट्रित्वात् क्रूरजन्तुर्हैयङ्गवमप्यनुपयुक्तं शिक्यं च निर्ऋतिपाशः स्वयं चोलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितो भवति, उलूखलं विपरीतं कृत्वा तत्र स्थितः, तेषां दोषनिवृत्त्यर्थं यज्ञपुरुषो भूत्वा "सुपर्णचयन" इव स्थितः, अग्नेर्नाभिरूपत्वादुलूखलस्य तदुपरि स्थितः सन्न "तिरिक्तमतिरिक्ताय प्रयच्छति रिक्तस्य शान्त्यै"।

आभासार्थ—भगवान् चले जाने से वहाँ देखने में नहीं आए। इसका भावार्थ बताते हैं कि यदि भगवान् बिराजे (ठहरे) होते तो यशोदा हँसती नहीं, क्योंकि वह समझती थी कि मैं भगवान् की तृप्ति होने से पहले ही उनको छोड़ गई हूँ, इसलिये वह अपने को दोषी समझ चुप्पी साध लेती। भगवान् तो उसके (यशोदा के) गाढ़ लौकिक ज्ञान को मिटाने के लिये अथवा यह जानने के लिये कि यशोदा को वह ज्ञान दृढ़ है या नहीं तथा उसमें तामस भाव उत्पन्न करने के लिये वहाँ से घर के भीतर चले गए थे। वहाँ दैत्य के आवेशवाली तक्र में से यशोदा ने पहले जो मक्खन निकाल कर छींके में धरा था, उसको ऊखल पर चढ़कर, निकालते हुए बंदरों को खिला रहे थे, क्योंकि वह मक्खन दैत्यावेश वाला था अतः भगवान् के भोज्य न था, इस कारण वानरों को दे रहे थे वे भी दान्त वाले क्रूर प्राणी थे। छींके पर रक्खा था वह भी मृत्यु का पाश¶ है। भगवान् ऊखल को उलटा कर उसके दोष नाश करने के लिये, उस पर यज्ञपुरुष होके अग्नि स्थापित करने वाले के समान खड़े थे। ऊखल अग्नि की नाभि* है जैसे अग्नि की नाभि में यज्ञपुरुष स्थित है वैसे यहाँ आप यज्ञपुरुष रूप होकर स्थित हुए थे। शेष रहे हुए की शान्ति के लिये बचा हुआ मक्खन अन्यों को देते हैं।

आभास—ततो यशोदान्तः प्रविश्य तथाभूतं पुत्रं दृष्टवतीत्याहोलूखलाङ्घ्रेरिति।

आभासार्थ—उस समय यशोदा ने आकर इस प्रकार की लीला करते हुए पुत्र को देखा इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं मर्काय कामं ददतं शिचिस्थितम्।**
हैयङ्गव चौर्यविशङ्कितेक्षणं निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागमच्छनै ॥ ८ ॥

¶ श्रुति में छींके को यम का पाश कहा है—प्रकाशकार श्री—पुरुषोत्तमजी वह श्रुति लिखते हैं—'शिक्य मुपदधाति नैर्ऋतो वैपाशः ॥ ७ ॥

* 'उलूखलमुपदधाति एषावा अग्नेर्नाभिः इति श्रुतेः 'प्रकाश'

श्लोकार्थ---उलटे ऊखल पर खड़े छींके में धरे मक्खन को लेकर, बंदर को यथेच्छ दे रहे थे और चोरी करने से चकित (शंका शील-भय युक्त) नेत्र वाले पुत्र को देखकर धीरे-धीरे उसके पीछे से आई ॥ ८ ॥

सुबोधिनी—पूर्वं तत्र भगवद्दर्शने मर्कटोपि न दृष्टस्तेन शङ्कापि, अतोन्वेषणमपि कर्तव्यं, अन्वेषणे पुनश्चित्तं भगवत्परं जातमिति भगवन्तं दृष्टवती दोषाणामप्रयोजकत्वज्ञापनायोलूखलं विपरीतं कृतं तदा सुपर्ण एव विपरीतः कृतो भवति, अतः सर्वदोषनाशकाग्नेरपि यत्र वैपरीत्यं तत्र दोषाणां किं वक्तव्यमिति ज्ञापितं, काममिति यथेच्छं सन्देहाभावाद् देयमेव तत्, ह्यं गोः सम्बन्धि हैयङ्गवं पूर्वकालगोसम्बन्धि नवनीतं, चौर्ये जाते विशङ्किते ईक्षणे यस्य, भगवता चौर्यं कृतमस्ति तस्याश्चौर्यदोषनिवारणाय सर्वपतिरपि तथाभावोत्पादनाल्लोकानुसारेण नवनीतहरणं चौर्यमित्युच्यते, तत्र दोषदृष्टौ तस्या ज्ञानं कालेन नाश्यत इति विशेषाकारेण वा शङ्कितमीक्षणं यस्य तथा भवति, चौर्यविशङ्कितायां वेक्षणं यस्य, उभयथापि तस्या ज्ञाननाशशङ्का, तादृशं स्वयं निरीक्ष्य सुतं पश्चात् पृष्ठ भागे पृष्ठं च पश्यन्ती पापदृष्टिः शनैरागमत्, ईषन्मात्रमागतवती, न हि पापदृष्टिः शीघ्रमागन्तुमर्हति ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ—यशोदा ने प्रथम भगवान् को जैसे नहीं देखा, वैसे बंदर भी नहीं देखे, इससे उसके (यशोदा के) मन में संशय भी होने लगा अतः भगवान् को ढूंढना चाहिए। इस विचार के आने से फिर चित्त भगवत्परायण हुआ। चित्त भगवत्परायण होते ही भगवान् के दर्शन हो गये। दर्शन में यशोदा के दोष प्रतिबन्धक नहीं हुए। दोष विफल हो गए इनकी विफलता बताने के लिये ही भगवान् ने ऊखल को उलटा किया था, जिसका भावार्थ यह है कि जहाँ सर्व दोषदाहक अग्नि ही उलटी होने के कारण जहाँ कुछ भी करने में समर्थ नहीं वहाँ दोष क्या कर सकते हैं। 'कामम्' शब्द का भाव बताते हुए कहते हैं कि अपनी इच्छानुकूल दे रहे थे क्योंकि भगवान् को उनको देने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं था कि कोई मुझे रोकेगा, कारण कि मैं सर्व (सब पदार्थों का) पति (स्वामी) हूँ। यह मक्खन आगे का इकट्ठा किया हुआ है ताजा नवनीत नहीं है यद्यपि भगवान् सर्व-पति होने से चोर नहीं हैं तो भी लौकिक दृष्टि में यह कार्य चोरी मानी जाएगी अतः आप ऐसा नाटच करने लगे इसको मूलकार 'चौर्य विशङ्कितेक्षणं' पद से दिखाते हैं कि चोरी के कार्य करने से भगवान् अपनी आंखें शङ्काशील (शङ्का व भय वाली) दिखाने लगे, इस लौकिक दोष दृष्टि का कारण बाल्यकाल है। अतः इस दोष दृष्टि का निवारण भी काल ही करेगा। तात्पर्य यह है कि यशोदा अब भगवान् को बालक ही समझने के कारण अज्ञ[1] समझती है। अज्ञता में ऐसे (चोरी के) कार्य होते हैं जिस समय यशोदा उसके (भगवान् के) स्वरूप को समझेगी तब उस समय यह दोष दृष्टि स्वयं नष्ट हो जायेगी। आचार्यश्री विशेष भाव बताते हैं कि 'चौर्यविशङ्कितेक्षणं' के दो अर्थ हैं एक चोरी करने से भय-युक्त नेत्र वाले भगवान् हो गए हैं और दूसरा यह है कि जिसके मन में मेरे लिए 'मैं चोर हूँ' उसको भगवान् देख रहे हैं इन

१—ना समझ।

*प्रकार से कोई भी अर्थ लेने पर यशोदा का सत्य ज्ञान नाश होकर उसमें दोष-दृष्टि उत्पन्न हो गई है। पुत्र को चोर समझ और स्वयं ने (चोरी करते) देखकर भगवान् के पीछे धीरे-धीरे आने लगी। इसका भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं कि यशोदा दोष-दृष्टि के कारण पापयुक्त हो गई थी। अतः भगवान् के सामने न आसकी, पापी भगवान् के न सामने आ सकते हैं और न शीघ्र भगवान्-के पास पहुँच सकते हैं ॥ ८ ॥

आभास---ततस्तां दृष्ट्वायोग्या स्प्रष्टुमिति ततो निर्गतवानित्याह तामात्तयष्टि-तिमि।

आभासार्थ—भगवान् ने जान लिया कि यशोदा आ रही है, किन्तु यह अब (पाप-दृष्टि होने से) मेरा स्पर्श, करने योग्य नहीं है यों विचार कर वहाँ से चले गये इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक---**तामत्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वरस्ततोवरुह्यापससार भीतवत्।**
गोप्यन्वधावन् न यमाप योगिनां क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ---उसके हाथ में लकड़ी देखकर वेग पूर्वक उस पर से (ऊखल से) उतर के डरपोक के समान भगवान् वहाँ से भाग गए। तब गोपी (यशोदा) योगियों की तपस्या से प्रेरित (शुद्ध) मन जिसके पास पहुँच नहीं सकता है, उसको पकड़ने के लिये उसके पीछे दौड़ी ॥ ९ ॥

सुबोधिनी—यष्टिरत्र गोवत्सनिवारिका, तस्या भगवत्यपि वत्सबुद्धिर्जाता, आत्ता गृहीता यष्टिर्यया, दर्शनादेव न पलायितवान् किन्तु तस्या अन्तर्गतं बाह्यं च भावं प्रकर्षेण सम्यग् दृष्ट्वा नैकटयमपि नार्हतीति ज्ञात्वा तद्दोषपरिहारार्थं त्वरासहितस्ततोवरुह्यापससार प्रतिमुखतयैव पलायनं कृतवान् तस्या दोषेण स्वस्मिन् स्थितबालकानामपि दोषो भविष्यतीति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह भीतवत्, यथा भीतस्तदपकारं स्वस्मिन् जानाति तथा भगवानपि तद्दोषं स्वस्मिन्, विचारितवान् अनेनैव न भीत इति ज्ञापितं, सापि गोपी, अतोन्वधावत्, अनु पश्चाद् धावनं कृतवती, तस्या अविवेकं प्रकटयितुं शुको भगवन्तं विशिनष्टि यं भगवन्तं योगिनां सिद्धयोगानां निवृत्तदोषं मनस्तत्रापि तपसेरितं प्रेरितं धर्मेण संस्कृतमपि प्रवेष्टुं नाप न प्राप्तवत्, अत इयमप्यर्थादेव न प्राप्तवती-त्यर्थः ॥ ९ ॥

---

* यदि यशोदा यों समझती है कि भगवान् ने सत्य चोरी की है तो भी यशोदा को अज्ञान है, क्योंकि यशोदा, भगवान् ने चोरी किसलिए की है इसको न जान सकी। यदि यशोदा को भगवान् के चोरी करने की शंका है तो भी यशोदा को अज्ञान है क्योंकि उसको अब यह ज्ञान निश्चित नहीं हुआ है कि यह भगवान् है। अतः दोनों प्रकार के अज्ञान होने से दोष-दृष्टि उत्पन्न हुई।

व्याख्यार्थ--यशोदा ने भगवान् को बछड़े जैसा समझ कर गौओं के बछड़ों को अपने वश में करने वाली लकड़ी हाथ में ली। ऐसी यशोदा को देखकर उसके बाहर और भीतर के भावों को अच्छी तरह जान गए कि यह दोषयुक्त होने से निकट भी आने योग्य नहीं है इसलिये भाग गए न कि लकड़ी के भय से भागे थे, भाग जाने का‡ दूसरा कारण यह भी था कि माता है। इसके दोष अवश्य दूर करने चाहिये। भगवान् त्वरा से ऊखल से उतर कर इसी प्रकार भागे जैसे पापिष्ठ-यशोदा भगवान् का मुखारविन्द भी नहीं देख सकी और न भगवान् ने उसका मुख देखा, क्योंकि भगवान् ने सोचा कि यशोदा के* दोषों से अन्तःस्थ (अन्दर स्थापित किए हुए) बालकों को भी दोष (दुःख) होगा। डरपोकों के समान इस दृष्टान्त का भाव बताते हैं कि जिस प्रकार डरने वाला समझता है कि यह (डराने वाला) मेरा अनिष्ट करेगा, उसी प्रकार भगवान् ने उसका (यशोदा का) भीतर का दोष समझा था, जिससे आप डरे नहीं थे, केवल डरने जैसा नाट्य किया था यह समझाया है। वह यशोदा भी गोपी है (अल्पबुद्धि वाली है क्योंकि गांव में रहनेवाली है) इस कारण से (अल्पबुद्धि होने से) भगवान् के पीछे दौड़ी। शुकदेवजी उसका अविवेक[1] बताने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि जो भगवान् को पहुँचने के लिये 'योग' सिद्ध कर योगी बने हैं और जिनका मन दोष-रहित होने से शुद्ध हो गया है तथा तपस्या से प्रेरित, धर्म से संस्कृत (पवित्र) भी हो गया है, उन योगियों का मन भी भगवान् को नहीं पा सकता है तो यशोदा कैसे पा सकेगी अतः उसके पीछे पकड़ने के लिये दौड़ना अविवेक ही है ॥ ९ ॥

आभास—एवं भगवति दोषदर्शने भगवदीयोपि भगवन्तं न प्राप्नोतीत्युक्तं, तादृशेपि भगवान् कृपां करोतीति भगवत्कृपया भगवन्तं स्पृष्टवतीत्याहान्वञ्चमानेति।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में यह बताते हैं कि भगवदीय भी यदि भगवान् में दोष दृष्टि करते हैं अर्थात् दोष देखते हैं तो वे भी भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। किन्तु (भक्तवत्सल) भगवान् उन पर भी कृपा करते हैं जिससे वे भगवान् को पा सकते हैं (जैसे यहाँ दोष-दृष्टि वाली यशोदा पर कृपा की है जिससे उसने भगवान् को स्पर्श कर लिया)।

श्लोक—**अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चलच्छ्रोणीभराक्रान्तगतिः सुमध्यमा।**
जवेन विस्रंसितकेशबन्धनच्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत् ॥ १० ॥

---

‡ यदि भगवान् भाग न जाते तो, यशोदा इससे भी विशेष दोष करती, अर्थात् भगवान को पिटती—'लेख'
* यदि यशोदा भगवान् को पीटती तो अन्तःस्थ बालक दुःखी होते।

१--विचारहीनता।

श्लोकार्थ—सुन्दर कटिवाली माता पीछे जाते हुए मोटे तथा चञ्चल नितम्ब के भार के कारण रुक जाती थी, वेग के कारण शिथिल चोटी से गिरे हुए पुष्पों के पीछे जाने वाली उसने भगवान् को पकड़ लिया ।

सुबोधिनी—प्रतिकूलोपि भगवदर्थ श्रमः सार्थकः, श्रोणी अन्वञ्चमाना श्रोण्योराकर्षणं कुर्वन्ती रथाकर्षणे बलीवर्दवद् भाराक्रान्तगतिर्जाता भरेण भारेणाक्रान्ता गतिर्यस्याः, दुष्टा गतिर्भारेणैवाक्रान्ता, ततो बुद्धिरपि दोषादेर्निवृत्ता गमनार्थमेव प्रवृत्ता, तदाह सुमध्यमेति, जननीतिवचनात् सदुग्धयोः स्तनयोरपि भारः, सूचितः, जननीत्वाच्च न वर्णितः, वस्तुतस्त्वजननी, जननी न काचिदप्येवं करोति, सुमध्यमेत्यनेन मध्ये भक्ता बहिर्व्यामोहिता, परं दुष्टभावाद् भारेण गत्याक्रमणमुक्त्वा शोभनमध्यभावं वदंस्तस्या दोषाभावं गुणं चोक्तवान्, अभिमानाभावार्थं चाह जवेनेति, वेगेन विशेषेण स्रंसितानि केशबन्धाच्च्युतानि प्रसूनानि तेषामनु पश्चाद् गतिर्यस्याः, पुष्पाण्यपि सङ्गे चलन्ति, प्रकृष्टा सूना येषां तानि प्रसूनानि, उत्तारणमात्रेणैव ते नश्यन्तीति देवाद्यर्थं च तेषां सूना, तान्यपि बद्ध्वा स्थापितवती, तानि च पुनः केशबन्धाद् विगलितानि, उत्पत्तिप्रलयौ तदधिष्ठात्र्यौ देवते च तत्रैव सम्बद्धे तद्रूपाणां च बन्धनं यत्र ततस्तु मुक्ता न पुनर्जन्मभाजः, ततो मोक्षश्च भगवदर्थक्रियया, अतः केशानामपि बन्धविमोचकस्तत एव विस्रंसितः केशबन्धस्ततश्च्युतानि प्रसूनानि, एतस्या दोषाभावो गुणो मुक्तानुगतिश्चेतिधर्मत्रयेण भगवन्तं परामृषत् परितो धृतवती, आलिङ्गितवतीत्यर्थः, तस्या दोषभावं दृष्ट्वा भगवान् रोदिति तस्या विवेकभ्रंशलक्षणमपराधं च कृतवान्, यशोदाबुद्ध्या तु भाण्डभेदनमपराधः, अत्यन्तमोढ्यदोषनिवृत्त्यर्थं च ज्ञानशक्तेर्धर्षणमपि करोति, ज्ञानशक्तिस्तु भगवत्कृत्यैव सोज्ज्वला भवति "यथायथात्मा परिमृज्यत" इतिवाक्यात्, यशोदाया निरोधः सर्वथा व्यर्थो मा भवत्विति स्वकार्यं तद्भावं च दृष्ट्वा भयेन विह्वले ईक्षणे यस्य, सोपाधिकं निरुपाधिकं च ज्ञानं तस्या गमिष्यत इति विह्वलता ।। १० ।।

व्याख्यार्थ—भगवत्प्राप्ति के लिये किया हुआ प्रतिकूल[1] परिश्रम भी सफल होता है (उससे भी भगवान् मिल जातेहैं) । जैसे बैल रथ को खेंचते हुए विशेष भार के कारण रुक जाते हैं, वैसे ही यशोदा अपने भारी नितम्बों को खींचती थी, किन्तु उनके भार से अटकने से धीरे-धीरे चलती थी । दुष्ट गति भार के कारण रुक गई इससे‡ बुद्धि के दोष भी निवृत्त हो गए भगवान् के पीछे चलने लगी । श्लोक के 'सुमध्यमा' (सुन्दर कटिवाली) शब्द से यह (चलने का) भाव बताया । श्लोक के 'जननी' शब्द का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दूध वाले स्तन थे उनका

‡ नितम्बों के भार से यशोदा का रुक जाना भी तपस्या हुई, जिससे दोष निवृत्त हुए और यशोदा पुनः भगवान् के पीछे चलने लगी—'प्रकाश'

पुत्र तो 'वासुदेव' है यदि ऐसा भाव पुरुषोत्तम में होता तो गोपियों के समान इसका भी निरुपधि स्नेह होता वह नहीं है—'लेख'

१—विरुद्ध ।

भार भी था, किन्तु माता थी इसलिये उनका वर्णन नहीं किया है। वास्तविक[1] तो माता* नहीं थी क्योंकि यदि वास्तविक माता होती तो यों न करती। कोई भी माता इस प्रकार (पुत्र को मारने का कार्य) नही करती है। 'सुमध्यमा' शब्द का दूसरा भी भाव बताते हैं कि यशोदा का मध्य (अन्तःकरण) सुन्दर (शुद्ध) था, इसलिये वह अन्दर भक्त थी केवल बाहिर से मोहित थी। शुकदेवजी ने नितम्बों के भार से रुकना यह दुःख भाव बताकर जो साथ में 'सुमध्यमा' विशेषण बता दिया वह इसलिये कि यशोदा में दोषों का अभाव है और गुणों का सद्भाव है, (क्योंकि उसका अन्तःकरण भक्तिमान् है) यशोदा निरभिमान है इसको बताने के लिये कहा है कि जैसे उसकी चोटी से जल्दी जल्दी पुष्प गिरते थे, वैसे ही वह भी उनके पीछे चल रही थी इस प्रकार यशोदा के साथ फूल भी चल रहे थे। पुष्पों के लिये श्लोक में सूना शब्द है उसका भावार्थ बताते हैं कि पेड़ से उतारते ही उनका नाश होता है किन्तु वह नाश देवों के अर्थ होता है ऐसे (जो पुष्प देवों के लिये अपना नाश कराते हैं) पुष्पों को उसने (यशोदा ने) अपने केशों में बान्ध रक्खा है। वे उनमें से गिर रहे हैं। आचार्यश्री के इस कहने का भीतरी-भाव स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यशोदा ने अपने केशों में उत्पत्ति और प्रलय के देवताओं को बाँधा था, उनसे छूटने पर (अलग होते ही) वे मुक्त हो गए फिर उनका जन्म नहीं होगा। उनके मोक्ष का कारण बताते हैं कि भगवदर्थ क्रिया से मोक्ष होता है तो यहाँ यशोदा जो क्रिया कर रही थी वह भगवदर्थ ही थी। अतः उनका मोक्ष हो गया। इस प्रकार यशोदा ने तीन धर्म सम्पादन किए—(१) दोषाभाव, (२) गुणप्राप्ति और (३) मुक्ति के पीछे चलना जिनसे वह भगवान् को प्राप्त कर सकी अर्थात् भगवान् को आलिंगन किया।

यशोदा की बुद्धि के अनुसार भगवान् ने तक्र-भाण्ड के तोड़ने से उसका (यशोदा का) विवेक नाशरूप अपराध किया है, जिससे भगवान् उसके सामने रोने लगे किन्तु भगवान् उसके (यशोदा के) इस अत्यन्त मूर्खता रूप दोष को मिटाने के लिये अपनी ज्ञान-शक्ति का घर्षण करने लगे। (अपनी आँखों को मसलने × लगे) कारण कि ज्ञान-शक्ति 'यथायथात्मापरिमृज्यते' (जैसे जसे आत्मा को शुद्ध किया जाता है)। इस वाक्यानुसार भगवान् की अपनी कृति† से ही उज्जवल होती है। यशोदा में दोषभाव देखने से भगवान् को भय हुआ कि मेरा कार्य (निरोध) सर्वथा

* पुरुषोत्तम अजन्मा है अतः यशोदा माता नहीं है—'प्रकाश'

× भगवान् की ज्ञान-शक्ति भगवान् के नेत्रों में रहती है।

† भगवान् स्वयं जब कृपा कर अपनी ज्ञान-शक्ति से जीव के दोषों को नाश करते हैं तब ही जीव निर्दोष ज्ञानवान् हो भगवद्भक्ति का पात्र बनता है और भगवान् के रस स्वरूप लीलाओं का रस-पान कर सकता है—अनुवादक।

१—सचमुच।

यशोदा से चला न जाय, इस भय से भगवान् के नेत्रों में विह्वलता (भय की घबराहट) दीखने में आई यशोदा का दोनों प्रकार का ज्ञान (सौपाधिक और निरुपाधिक) चला न जाय इससे विह्वलता हुई थी ॥ १० ॥

आभास---एवं परमकृपालुं गृहीत्वा यत् कृतवती तदाह कृत्तागसमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार परमदयानिधि को पकड़ने के बाद जो कुछ उसने किया उसका वर्णन नीचे के श्लोक से करते हैं ।

श्लोक---**कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी कषन्तमञ्जनमषिणी स्वपाणिना ।**
उद्वीक्षमाणा भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत् ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ---अञ्जन से भरी हुई आँखों को हाथों से मसलने वाले, भय से विह्वल नेत्र वाले, अपराध करने वाले और रोते हुए भगवान् का हाथ पकड़ कर, घूर कर देखती हुई, यशोदा उन्हें डराने के लिए धमकाने लगी ।

सुबोधिनी—**कृत आगोपराधो** येन, कोयमपराध इत्याकांक्षायामाह तमिति व्यामोहकं, यशोदाबुद्धौ तु भाण्डभेत्तारं, यद्यपि स्वयमीश्वरो न कोप्यपराधो भवति तथाप्येषा व्यामोहिका लीला, तामत्यन्तं व्यामोहितवान् यथाग्र उत्तरलीलासु प्रतिबन्धिका न भवति, अन्यथात्यन्तमासक्त्याग्रिमकार्ये प्रतिबन्धिकैव स्यात् "तच्चासुराणां मोहाय सतामपि च कुत्रचित्" "सा मां विमोहयति भीरपि यद् बिभेती" तिवाक्यात् निदानाज्ञानाच्च मोहः, लोकदृष्ट्या मारयिष्यतीति प्रकर्षेण रोदनं, इदमपि द्वितीयं व्यामोहकं, **अक्षिणी कषन्तमिति** बालभावदार्ढ्यकरणं, पूर्वं कृतमोहस्य दार्ढ्यार्थमञ्जनं शोभार्थं तयैव कृतमञ्जनसाधनीभूतमषीयुक्ते अक्षिणी, स्वपाणिनेति, पर्यायेणैकेनैव पाणिना भगवदीयक्रिययैव भक्तिरूपया नयनमुज्ज्वलं न भवतीति कषन्तमिति, तत्रत्या कण्डूरपि नाशिता, तेन रजोगुणोपि शामितो मारणसाधनीभूतः, अत एव तिष्ठन्नपि भगवांस्तादृशचेष्टया स्थितस्तां न दृष्टवान्, सैव पुनस्तमुद्वीक्षणमाणोर्ध्वं विलोकयन्ती न तु पादौ, तथा सति भक्तिर्वा भवेत, भगवांस्तु परितः स्थिता गोपीः पश्यति तासामपि दोषारोपाभावार्थं भयं, अन्तःस्थितोप्ययं भावो मोहनार्थमेव प्रकटितः, एवं त्रिभिर्धर्मैः सा मोहिता नातः परमुत्थास्यति, अत एवाग्रेस्याः कापि स्नेहकला न निरूपिता, "शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षी" दिति तु गुणानां माहात्म्यं "जनन्युपहृतं प्राश्य" "तत्कथाश्रवणोत्सुके" त्यादि तु रोहिणीसहभावात् तस्या अपि भावोस्यां सङ्क्रान्त उक्तः, नन्दस्यैव मुख्यत्वात्, एतादृशी भगवतः सर्वाङ्गसम्बन्धं परित्यज्य हस्ते गृहीत्वा **भिषयन्ती** भीषयन्त्यवागुरत्, आगूरणसङ्कल्पं कृतवती यथा पामरा अनिष्टागूरणानि कुर्वन्ति, अनेन तस्या अनृतवादित्वमपि निरूपितम् ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—श्लोक के 'तं' शब्द का भाव बताते हैं कि कृष्ण व्यामोहरूप अपराध करने वाले थे । यशोदा की दृष्टि में भाण्ड तोड़ने से भी अपराधकर्ता थे । दोनों प्रकार से अपराधी हैं । आप ईश्वर हैं, इसलिए आप कोई अपराध नहीं करते हैं तो भी आपकी यह लीला 'व्यामोहिका लीला'

है अतः आपने यशोदा को अत्यन्त मोहवाली बना दी, जैसे आगे की जाने वाली लीला में (वह यशोदा) प्रतिबन्धक न हो। जो भगवान् व्यामोह लीला न करें तो अत्यन्त आसक्ति के कारण, वह लीलाओं में प्रतिबन्धक ही बनती थी।

कारिका—**तच्चासुराणां मोहाय सतामपि च कुत्रचित्।**

कारिकार्थ—भगवान् रुदन[1] असुरों के लिए करते हैं किन्तु कभी सत्पुरुषों के लिए भी करते हैं।

व्याख्यार्थ—'सा मां विमोहयनि भीरपियदबिभेति' १-८-३० जिससे यम भी डरता है उनकी यह दशा मुझे मोहित करती है। इस वाक्य से और भगवान् इस प्रकार की लीलाएँ क्यों करते हैं इस कारण के अज्ञान से मोह होता है। भगवान लोक दृष्टि से जताते हैं कि यह मुझे पीटेगी इसलिए खूब जोर से रोने लगे, यह रोना भी मोह कराने वाला है। आंखों के मसलने का तात्पर्य यह है कि पहले बाल-भाव में किए हुए मोह की यशोदा की बाल-भाव से दृढ़ता हो। उसने ही आंखों में कज्जल शोभा के लिए डाला था, जिससे आंखें कज्जल वाली हो गई थीं उन आंखों को क्रमशः एक ही हस्त से मसलते थे। एक ही हाथ से मसलने का भाव बताते हैं कि भगवदीय की भक्तिरूप क्रिया से ही नेत्र उज्ज्वल होते हैं। मसलने का दूसरा भाव यह है कि मसलने से भगवान् ने नाशकर्ता रजोगुण को भी शान्त किया, साथ में नेत्रों की खाज भी मिटा दी। भगवान् वहाँ थे तो भी इन नेत्रों के मसलने के कारण यशोदा को देखा नहीं, वह उनके ऊपर के भाग को देख रही थी। चरणारविन्दों को नहीं। यदि चरणारविन्द में दृष्टि हो तो भक्ति उत्पन्न हो जाय। भगवान् चारों तरफ स्थित अन्य गोपियों को देख रहे थे, जिससे मन में आई कि ये भी मुझमें दोषों का आरोप भी करें, इसलिये भय प्रकट कर रहे थे। यह अन्तःस्थित भाव मोहनार्थ ही प्रकट किया। इस प्रकार तीन[2] धर्मों से मोहित[3] वह (यशोदा) इसके अनन्तर मोह से अपने को छुड़ा[4] न सकेगी। इसलिये ही आगे के चरित्र में इस (यशोदा) के स्नेह की किसी भी कला[5] का वर्णन नहीं है 'श्रृणमन्तयश्रूण्यवास्राक्षीत' १०-४३-२८ ('सुनती हुई आंसूओं को

१— जिससे मोह उत्पन्न हो वैसी लीला करनी—(रोदन से यशोदा को मोह कराया)। —'प्रकाश'

२—१-रुदन, २-आंखों को मसलना, ३-यशोदा को न देखना।—'प्रकाश'

३—यह मेरा पुत्र ही है इस प्रकार के दृढ़ भाव वाली।—'प्रकाश'

४—मोह के कारण यह भगवान् है इस प्रकार का ज्ञान होगा नहीं, अथवा घर के कार्यों में अत्यन्त आसक्त होने से, पुत्र पर पूर्ववत् विशेष प्रेम नहीं करेगी।—'प्रकाश'

५—उपाधि रहित स्नेह की कला के किसी भी अंश का आगे वर्णन नहीं है।—'लेख'

बहाया') इसमें तो भगवान् के गुणों का माहात्म्य है न कि यशोदा के स्नेह की कला वर्णित हैं। 'जनन्युयहृतंप्राश्य' १०-१२-४६ (माता का लाया हुआ [भोज्य] आरोग के) 'तत्कथा-श्रवणोत्सुके' १०-११-३४ (उसकी कथा के श्रवणार्थ उत्सुक) ऐसे स्थलों पर रोहिणी के साथ होने से उसका भाव भी इसमें (यशोदा में) आ गया यह बताया है। नन्दरायजी की ही मुख्यता हैं। इस प्रकार की यशोदा भगवान् के सर्वाङ्ग सम्बन्ध त्याग कर, हाथ से पकड़ कर डराती हुई धमकाने लगी, किस प्रकार धमकाने लगी। इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे पामर मनुष्य अनिष्ट आगूरण[1] करते हैं वैसे यह (यशोदा) भी इस प्रकार के आगूरण के सङ्कल्प (विचार) करने लगी इससे यह असत्यवादिनी है इसका भी निरूपण (वर्णन) हो गया ॥ ११ ॥

आभास—ततः किं कृतवतीत्याकाङ्क्षायामाहत्यक्त्वा यष्टिमिति।

आभासार्थ—तदनन्तर यशोदा ने क्या किया ? इस आकांक्षा (अभिलाषा) की पूर्ति के लिए निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक—**त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला ।**
इयेष किल तं बद्धुं दाम्नातद्वीर्यकोविदा ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—पुत्र पर प्रेम करने वाली, भगवान् के वीर्य[2] को न जानने वाली यशोदा ने अपने पुत्र को भयभीत समझकर लकड़ी फेंक दी और उनको रज्जु से बांधने की इच्छा की।

सुबोधिनी—अनेन पूर्वं यष्टिरानीतेतिलक्ष्यते तेन मनोदुष्टा, मनःसङ्कल्पं च त्यक्तवती, तेन मनोदोषस्य गतत्वाच् चिकित्स्यत्रिदोषा जातेति निरूपयति, **यष्टिं त्यक्त्वा सुतं भीतं विज्ञाय** भगवद्धर्मानपि ज्ञात्वा**अर्भकवत्सला** जाता, तथापि तस्या न सर्वात्मना दोषनिवृत्तिरित्याहेयेषेति, निरूपकस्यापि दोषो भवतीति शुको भीतः सन्नाह किलेती, प्रसिद्धिरेषा नास्माभिस्तदा दृष्टं नापि भवितं कदाचिदपि, **दाम्ना बद्धुमियेषे**त्यन्तःकरणशरीरपरिकरदोषा निरूपिताः, नन्वसाध्ये कथं प्रवृत्ता? लोकेनिष्टेपि प्रवर्तमाना असाध्ये न प्रवर्तन्त इति तत्राह**तद्वीर्यकोविदे**ति, तस्य भगवतो वीर्यं न जानातीति, पूतनातृणावर्तादयो मारिताः कोस्या मारणे प्रयास इति ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ—यशोदा ने लकड़ी छोड़ दी इससे जाना जाता है कि भगवान् को मारने के लिये पहले लकड़ी ले आई थी, अब उसको छोड़ दिया। लकड़ी ले आने से ऐसा प्रतीत होता है

१—'मारने का उद्यम प्रकाशकारा: 'मारूँगा' इस प्रकार के अनिष्ट शब्द कहते'।—'लेख'

२—पराक्रम, शक्ति।

कि उसका मन दोष-पूर्ण था, जिससे वह मनोदुष्टा थी, इससे उसके मन में भगवान् को मारने का सङ्कल्प उदय हुआ था। लकड़ी छोड़ देने से ज्ञात होता है, कि उसने उस मनः संकल्प को छोड़ दिया है क्योंकि मनोदोष मिट गया है। अन्य तीन दोष जो मिटाने जैसे हैं वे हैं—

१–लकड़ी का छोड़ना,
२–भगवान् के धर्म भय आदि को जानना, और
३–पुत्र में प्रेम वाली हो जाना।

तो भी उसके सब प्रकार के दोषों की निवृत्ति न हुई। इसको प्रमाणित करने के लिए शुकदेवजी डरते हुए कहते हैं कि उसने भगवान् को रज्जु से बाँधने की इच्छा की। यह लीला प्रसिद्ध है। शुकदेवजी ने 'किल' प्रसिद्ध है यह शब्द कहकर अपना भयभीतपना दिखाया है कि यह मैंने आँखों से नहीं देखा और न उसका विचार भी किया है, केवल प्रसिद्ध होने से मैंने कहा है कि उसने रज्जु से बान्धने की इच्छा की है। बान्धने की इच्छा से उसके (यशोदा के) अन्तःकरण, शरीर और परीकर के दोषों को प्रकट किया है।

जब जगत् में मनुष्य अनिष्ट[1] करने में तो मस्त होते हैं किन्तु जो असाध्य[2] है ऐसे कार्यों में प्रवृत्त नहीं होते हैं, तब यशोदा असाध्य कार्य में कैसे प्रवृत हुई? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'अतद्वीर्यकोविदा' कहा है (उस भगवान् के वीर्य को वह नहीं जानती है)। यदि भगवान् के वीर्य[3] को जानती होती कि पूतना, तृणावर्त आदि को इसने मारा है तो मुझे मारने में इसे (भगवान् को) कौनसा प्रयास[4] करना पड़ेगा? इस प्रकार के अज्ञान से ही उसने भगवान् को बांधने की इच्छा की ॥ १२ ॥

आभास——शुकोपि तां दूषयन्निव बन्धाभावे परमार्थतो युक्तिप्रदर्शयति न चान्तरिति।

आभासार्थ—शुकदेवजी भी उसे (यशोदा को) दूषित जैसी करते हैं और सत्ययुक्ति देकर बताते हैं कि भगवान् यशोदा के बन्धन में क्यों नहीं आए? वह वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक——**न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।**
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ——जिसके अन्तर बाहिर, आगे वा पीछे कुछ भी नहीं है जो जगत् के भीतर, बाहिर, आगे तथा पीछे हैं और जो जगतरूप है।

१—बुराई, बुरा। २—अशक्य, न हो सकने जैसा। ३—पराक्रम, शक्ति। ४—प्रयत्न।

सुबोधिनी—भगवति बन्धाभावो द्वेधापि भवति, भगवत्स्वरूपविचारेण बन्धनसाधनस्वरूपविचारेण च, तत्रादौ स्वरूपं विचारयति, बन्धनं हि कार्यद्वयं सम्पादयति बहिर्निरोधमन्तस्तापं च,तत् तस्यैव भवति यस्यान्तर्बहिर्भावो भवति, भगवांस्तु पूर्णः सर्वं व्याप्य तिष्ठतीति न कस्मादपि भगवानन्तर्भवति, निरवयवत्वाच्च न कोपि तस्य परिच्छेदकः, चकारादन्तःशब्दव्यवहार्यं आकाशोतः सशब्दोपि भगवति न प्रवर्तत इत्युक्तं, अन्तर्यामिब्राह्मणे सर्वान्तरो भगवानुक्तो न तु भगवतोन्तरं क्वचित्, सर्वान्तरः केनान्तर्भावमापद्येत ? आधारत्वे तु नान्तरभावना, रूपादिषु तथोपलब्धेः, न हि फलस्यान्तः स्वरूपं तिष्ठति बीजवत्, तथा सत्यदृश्यः स्यात्, अतो न केनाप्यंशेन भगवतोन्तरमस्ति, नापि बहिः, व्यापकत्वात्, बहिःस्थित एवाकाशोन्तस्तिष्ठतीति नाकाशाद बहिरस्ति किञ्चित्, अनेनान्तःकरणे खेदो बहिरावरणं वा नास्तीत्युक्तं, किञ्च बन्धनं हि वेष्टनात्मकं तद् दिग्विभागे सति भवति, निरवयवस्यानिरूप्यस्य स्वत एव भासमानस्य ज्ञातृज्ञेयभावतिरोधायकस्य केनाप्यंशेन पूर्वभावोपरभावो वा न सम्भवति, अनेनैव दक्षिणोत्तरभावा अपि परिहृताः, सर्वत्र स्थितः पूर्वापरभावमेव मन्यते, अतः स्वरूपकृता वा दिक्कृता वान्तरादिधर्मा भगवति न सन्तीति न बन्धसम्भावना, साधनस्वरूपविचारेणापि न भवतीत्याह **पूर्वापरमिति**, रज्ज्वादीनां **पूर्वभागे परभागे** च'यमेव वर्तते, तत्र यशोदैव प्रमाणं, भगवति सर्वं दृष्टवती यतः, सर्वस्यापि भगवान् बहिरपि भवति व्यापकत्वात्, अन्तरपि भवति सर्वान्तरत्वात् चकारात् स्वरूपमपि, किञ्च **जगतो य** एतावान्, यतो जायते गच्छति चेति **जगत्**,यदि भगवानेतावन्न स्यात् कथं जगद् भवेत ? पूर्वभावाभावे न भवेत् परभावाभावे न गच्छेत्, जगतश्चेद् भगवान् बहिर्न भवेद् जगति गच्छती गच्छेद्,यदि सर्वान्तरो न भवेज् जगदितिविशिष्टं सर्वप्रतीतिसिद्धं न भवेत्, अन्तःस्थितभगवद्धर्मैरेव जगतो विवक्षितधर्मवत्त्वात्, किञ्च **यो जगत्**, न हि स्वात्मना स्वयं बद्धो भवति, तथा सति बन्धकानां वैयर्थ्यापत्तेः, किञ्च जगन्मयोयं सर्वमेव जगद् व्याप्य तिष्ठति, एतदाज्ञयैव जगत् कार्यं करोति, ततः कथमयं स्वबन्धने जगत् प्रेरयेत् ? अतो न केनापि प्रकारेण भगवतो बन्धनमस्तीति निश्चिन्ता भक्ताः ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—यशोदा स्वयं भगवान् को क्यों न बान्ध सकी, शुकदेवजी उसके प्रथम दो कारण बताते हैं—१. भगवान् का स्वरूप क्या है ? इसके विचार करने से और यशोदा जिस (पदार्थ) से भगवान् को बान्धना चाहती है उसका स्वरूप क्या है —२. इन दो में से प्रथम भगवान् के स्वरूप का विचार किया जाता है । बन्धन दो काम करता है—१. बाहिर जाने से रोकना और भीतर दुःख उत्पन्न करना । रुकावट और भीतर दुःख उसको होगा, जिसमें अन्तर और बाहिर के भाव होंगे । भगवान् तो पूर्ण हैं सब में व्याप्त होकर रहते हैं । इससे वे किसी के भी भीतर आ नहीं सकते हैं और निरवयव* (अवयव रहित होने से कोई भी उनका परिच्छेदक [सीमा बान्धने वाला]) नहीं बन सकता है । श्लोक में 'च' अक्षर का आशय बताते हैं कि 'अन्तर' शब्द से 'आकाश' व्यवहार में आता है वह 'अन्तर शब्द भगवान् में प्रवृत नहीं होता

* ब्रह्मसूत्र २-३-१ में आकाश को अवयव वाला कहा गया है इसलिये घट उसकी सीमा कर सकता है । यदि आकाश निरवयव हो तो भी घट पदार्थ आकाश से पृथक् अन्य हैं इसलिये वह आकाश की सीमा कर सकता है अतः 'घटाकाश' बन सकता है किन्तु भगवान् से तो कोई पदार्थ पृथक् वा अन्य नहीं है अतः वे किसी प्रकार भी सीमा में आ नहीं सकते ।—'प्रकाश'

है क्योंकि अन्तर्यामी 'ब्राह्मण'[१] में कहा गया है कि भगवान् सबके भीतर बिराजते हैं भगवान् के अन्दर तो कोई नहीं है । जो सबके अन्दर है उसके अन्दर कोई भी नहीं रह सकता है और उससे कोई पृथक् पदार्थ है, ऐसा भी कहीं नहीं कहा गया है । किसी पदार्थ का कोई वस्तु आधार हो, तो उससे वह वस्तु उसके भीतर (समा गई) है ऐसा सिद्ध नहीं होता है क्योंकि रूपादिकों[२] में इसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि (ज्ञान) होती है । जैसे फल के अन्दर बीज है उसी प्रकार आप (भगवान् का स्वरूप) किसी भी पदार्थ में भीतर नहीं है वैसे होते तो अदृश्य हो जाते । अतः भगवान् व्यापक होने से अन्तर, बाहिर के भेद से रहित हैं । बाहिर रहा हुआ भी व्यापक आकाश जिससे बाहिर कोई भी नहीं हैं वह आकाश भगवान् के भीतर स्थित है । इससे यह समझाया कि भगवान् के अन्तःकरण में खेद नहीं है और न किसी प्रकार की रुकावट है ।

बन्धन का कार्य घेरा डालना है वह वहाँ हो सकता है जहाँ दिशाओं का विभाग हो । यहाँ तो जिसको बन्धन में लाये जाने का प्रयत्न किया जाता है वह तो निरवयव अतिरूप्य स्वयं प्रकाशमान, ज्ञाता और ज्ञेयभाव का तिरोधान करने वाले हैं उनका पूर्व और अपर भाव हो नहीं सकता है, इससे उसके लिये दक्षिण और उत्तर (दिशा भाग) भाव भी नहीं होते हैं । क्योंकि आप सर्वत्र स्थित है अतः आपके लिये पूर्व और अपर (सर्वत्र) ही है । अतः स्वरूप से अथवा दिशाओं से होनेवाले अन्तर आदि धर्म भगवान् में नहीं हैं इसलिये भगवान् बन्धन में आएगा यह सम्भावना ही नहीं है[3] ।

जब जिससे भगवान् को बान्धने का प्रयत्न किया जाता है, उस वस्तु के स्वरूप का वर्णन श्लोक के उत्तरार्ध में करते हैं--बन्धन के साधन रज्जु के पूर्व भाग और पर भाग में अर्थात् आदि और अन्त में ये (भगवान्) ही हैं, इसमें प्रमाणभूत (साक्षी) यशोदा स्वयं है, क्योंकि उसने सर्व वस्तुमात्र, भगवान् में देखे हैं । तथा सर्वत्र व्यापक होने से भगवान् सर्व के बाहिर भी हैं एवं सर्वान्तर होने से अन्दर भी हैं । आचार्यश्री 'च' अक्षर का आशय प्रकट करते हैं कि इस (च) के कहने से शुकदेवजी ने यह बताया कि सर्व वस्तु स्वरूप भी भगवान् ही हैं और भगवान् जगत् के आगे-पीछे, अन्दर-बाहिर हैं और स्वरूप हैं । इस कारण से ही इस दृश्य को 'जगत्' कहा जाता

१—अन्दर, बाहिरपना आकाशाधीन होने से अन्तर शब्द से 'आकाश' कहा जा सकता है किन्तु भगवान् के लिए अन्दर शब्द नहीं कहा जा सकता है ।--'लेख'

२—रूप वर्ण (रंग) को कहा जाता है । रंग किसी पर चढ़ाया जाय तो वह पदार्थ उस (रंग) का आधार होता है किन्तु रंग उसमें भीतर नहीं चला जाता है बाहिर ही देखने में आता है जैसे लाल पीले आदि वस्त्र ।--'अनुवादक'

३—यहाँ तक भगवान् का स्वरूप कैसा है इसका विचार किया गया अर्थात् भगवान् का ऐसा स्वरूप है क्या जो बन्धन में आ सके ? निर्णय किया गया है कि भगवान् का स्वरूप ऐसा नहीं है जो बन्धन में आ सके ।

है जिसका अर्थ है 'जायते' (जन्मता) है। इसलिये 'ज' और 'गच्छति' चलता ही जाता है इसलिये 'गत्' है—तात्पर्य यह है कि जो जन्मता है और चलता ही रहता है उसको जगत् कहते हैं। यदि भगवान् इतना न होते तो 'जगत्' उत्पन्न कैसे होता ? जो भगवान् जगत् से आदि में, प्रथम न होते तो जगत्[1] की उत्पत्ति हो नहीं सकती थी और जो अन्त में न होवे तो जगत् का लय किस में होवे ? अर्थात् लय हो नहीं सकता था इस प्रकार भगवान् यदि जगत् के बाहिर न होते और केवल जगत् में ही होते तो जगत् के लय होते ही भगवान् भी लय हो जाते, किन्तु वैसा होता नहीं है क्योंकि आप सर्वान्तर हैं सर्वान्तर होने से ही 'जगत्' की इस नाम से प्रसिद्धि हो नहीं सकती थी तथा जगत् सबके प्रतीति में नहीं आता। अब तो सर्व जगत् को प्रत्यक्ष देख रहे हैं भगवान् के धर्म ही जगत् में स्थित हैं, जिससे जगत् में वे धर्म दृष्टिगोचर होते हैं। इसके अतिरिक्त फिर आप ही जगत् हैं इसलिये आप बन्धन में आ नहीं सकते हैं कारण कि कोई भी अपने आप से अपने आप को बान्ध नहीं सकता है, ऐसा होने से, बन्धन करने वाली वस्तु की व्यर्थता† होती है और यह भगवान् जगत्मय होने से सकल जगत् में व्याप्त होकर रहे हैं। इनकी आज्ञा से ही जगत् कार्य करता है। तो अपने को बन्धन में डालने के लिये जगत् को स्वयं वैसी प्रेरणा वैसे करेंगे। अतः किसी भी प्रकार से भगवान् का बन्धन बन नहीं सकता है इससे भक्त निश्चिन्त है ॥ १३॥

आभास—तादृशं योन्यथा विचारयति स निष्फल प्रयासो भवतीति तां दूषयन्निव तस्याप्यज्ञानमाह तमिति।

आभासार्थ—वैसे भगवान् को, जो मनुष्य, लौकिक के समान समझता है उसका प्रयास[2] व्यर्थ होता है इस प्रकार शुकदेवजी उस (यशोदा) को मानों दोष देते हैं उसके अज्ञान का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥ १४ ॥

१—'जगत्' शब्द का अर्थ जन्म लेना और लय पाना है यदि भगवान् इससे पूर्व न होते तो इसका जन्म न होता और अन्त में न होते तो इसका लय न होता। जिससे 'जगत्' शब्द की व्युत्पत्ति ही व्यर्थ हो जाती।—'लेख'

† जो आप ही अपने को बान्ध सकता है तब तो दूसरी बन्धन करने वाली वस्तु की आवश्यकता नहीं अतः वह लानी ही व्यर्थ है।

२—परिश्रम, प्रयत्न।

श्लोकार्थ—उस अवयक्त,[१] मनुष्य के चिन्ह वाले अर्थात् मनुष्याकृतिवाले नेत्रादि इन्द्रियों से जिसको जाना वा देखा नहीं जाता है वैसे भगवान् को अपना पुत्र समझ कर, प्राकृत बालक के समान उसको यशोदा ने रज्जु से ऊखल के साथ बान्धा ।

सुबोधिनी—तं पुराणपुरुषोत्तममात्मजं स्वशरीराजातं मत्वा **दाम्ना बबन्धेतिसम्बन्धः**, देहस्तु प्राकृतस्तस्या इति तज्जातः सुतरां प्राकृतो भवति, ननु क्वचिन् महान्तोपि पुत्रा जायन्ते देवादयोपि ततो लोके कारणवैलक्षण्यस्यापि दृष्टत्वात् कथमात्मजत्वे तथा कर्तुं शक्यत इति चेत् तत्राहाव्यक्तमिति, न केनाप्यंशेन व्यक्तं, ये हि महान्तो भवन्ति ते स्वधर्मान् प्रकटीकुर्वन्ति यथा भरतादयः भगवांस्तु तथा न करोतीति प्राकृतबुद्धिस्तेषां दृढा, मध्यमावस्थानामेव तथा करणं न तु परमकाष्ठां गतस्य, किञ्च यदि गुप्त एव संस्तूष्णीं तिष्ठेत् तथापि सन्देहः स्यादन्यवाक्येन वा माहात्म्यं जानीयुः प्रत्युत भगवान् विपरीतधर्मान् बोधयत्यतः कथं प्रतीतिरित्याह मर्त्यलिङ्गमिति, मर्त्यस्यात्यन्तप्राकृतस्य लिङ्गानि यस्मिन्निति, तथैव स्वरूपं गुणांश्चेष्टां च प्रदर्शयतीत्यर्थः, ननु तथाप्यत्यन्ताभिज्ञा यथा नटं परिचिन्वन्ति तथा सर्वविलक्षणानन्तगुणवत्त्वादानन्दमयत्वाच्च कथं न ज्ञायत इत्याशङ्क्याहाधोक्षजमिति, **अधोक्षजं ज्ञानं यस्मा**दिति न हि भगवान् गुणा वा कस्यचिदपि चक्षुर्गोचरा भवन्ति, इच्छा तु नास्तीत्यवगम्यते विरुद्धप्रदर्शनात्, किञ्चेयं च यशोदा गोपिकातिप्राकृतरूपा, अतोनभिज्ञा कथं जानीयात् ? उलूखलोपरिपादं दत्वा भगवान् क्रीडति, अग्नेश्च नाभिर्भवति, अतो भगवान् गोकुलस्थितमुलूखलं स्वाश्रयत्वेन ज्ञापयितुमत्र बन्धनं कारितवान् गोपिकायस्तु बुद्धिर्यथान्यत्र न गच्छतीति, दाम पशूनां बन्धकं, ननूलूखलदामहस्ताधिष्ठितदेवानां कथं तूष्णीम्भावः ? तत्राह **प्राकृतं यथेति**, तेषामपि बुद्धिर्भगवता तथा सम्पादितेति ।। १४ ।।

व्याख्यार्थ—उसे पुराण पुरुषोत्तम का अपने शरीर से उत्पन्न पुत्र समझकर रज्जु से बान्ध दिया इस प्रकार सम्बन्ध है । यशोदा का देह तो प्राकृत है उस (प्राकृत देह) से उत्पन्न निश्चय से प्राकृत होता है ।

कभी यों भी देखा गया है कि महत्पुरुष तथा देवता भी प्राकृत माताओं से पुत्र होकर जन्म लेते हैं । इससे लोक में कारण से कार्य की विलक्षणता भी देखने में आती है । उत्पन्नकर्त्ता (कारणरूप) माता और पिता से उत्पन्न (कार्यरूप) पुत्र पृथक प्रकार का होता है । तो यशोदा ने इसको अपनी देह से उत्पन्न समझा तो कौनसा दोष है ? इसके उत्तर में मूल-श्लोक में 'अव्यक्त' शब्द दिया है जिसका आशय है कि जिसको यशोदा पुत्र समझती है वह किसी भी अंश से उत्पन्न (प्रकट) नहीं होता है । जो महत्पुरुष होते हैं वे अपने धर्मों को प्रकट करते हैं जैसे भरतादिकों ने अपने धर्म प्रकट किये हैं । भगवान् तो अपने धर्म इस प्रकार जन्म लेकर प्रकट नहीं करते हैं । इस कारण से लोकों की बुद्धि दृढ़ प्राकृत होती है अर्थात् लोक समझते हैं कि यह प्राकृत बालक है । मध्यम कोटि के पुरुष ही अपने धर्म प्रकट कर दिखाते हैं न कि वे जो उच्च-कोटि वाले हैं ।

१—जो प्रकट नहीं है ।

पुन: जो भगवान् गुप्त होकर चुप रहे, तो भी सन्देह (यह ईश्वर है वा कौन है) होता है इस अवस्था में लोक, अन्य पुरुषों के वचनों से, माहात्म्य ज्ञान प्राप्त करें। किन्तु यहाँ भगवान् विपरीत धर्मों को प्रकट करते हैं तो उस (भगवान्) की प्रतीति कैसे होगी ? यह 'मर्त्यलिंग' शब्द में कहा गया है कि अत्यन्त प्राकृत धर्म के चिन्ह (स्वरूप गुण और क्रिया के) दिखाते हैं।

इस प्रकार होने पर भी जैसे अत्यन्त चतुर लोक, नट किसी भी भेष में हों, तो उसको पहचान लेते हैं; वैसे ही सब से विलक्षण, अनन्तगुणवान् और आनन्दमय होने से क्यों नहीं जाना जा सकता है ? इसके उत्तर में श्लोक में 'अधोक्षजं' विशेषण दिया है, भगवान् वा उनके गुण किसी की भी इन्द्रियों द्वारा देखने में नहीं आते हैं। आप अपने में अपने से विरुद्ध धर्म (मर्त्यधर्म) का प्रदर्शन करते हैं इससे ज्ञात होता है कि अपने स्वरूप गुणों के जताने की भगवान् की इच्छा नहीं है और यह यशोदा अत्यन्त प्राकृत रूपवाली हैं। इस कारण से अनभिज्ञ[1] है वह कैसे जान सकेगी ? कि भगवान् ऊखल के ऊपर चरणारविन्द धरकर क्रीड़ा कर रहे हैं और यह ऊखल अग्नि की नाभि है ? किन्तु यह ऊखल गोकुल में है अत: मेरा आश्रय स्थान है इस तत्व को बताने के लिये अपने को उलूखल के साथ बन्धवाया और यशोदा की बुद्धि भी दूसरी वस्तु में न जाय इसलिये भी बन्धवाया। रज्जु[2] पशुओं को बान्धती है। ऊखल, रज्जु और हस्त में स्थित देवता चुप क्यों रहे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् ने उनकी बुद्धि प्राकृत जैसी बना दी थी अत: वे प्राकृत जैसे हो गए थे ॥ १४ ॥

आभास--अयं देहाकारेण भासमान एव भगवान् सच्चिदानन्दरूप इति गुणोपसंहारन्यायेन "न चान्तर्न बहिर्यस्ये" त्यादिधर्मा अस्यैवेति ज्ञापयितुं बन्धनेप्युपायं वदन् भगवान् सामिबद्धो जात इत्याह।

आभासार्थ—यह देह की आकृति वाले ही सच्चिदानन्दरूप भगवान् हैं यह 'गुणापसंहारन्याय' (थोड़े में ही गुण बता देना) से न अन्दर न बाहिर आदि स्वल्प गुणों से उनके धर्म बताने के लिये तथा उनके बान्धने का उपाय भी कहकर भगवान् आधे ही बान्धे गए हैं इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक--**तद् दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः।**
द्व्यङ्गुलोनमभुत् तेन सन्दधेन्यच्च गोपिका ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ--अपने अपराधी पुत्र को जब बान्धने लगी तब वह रज्जु दो अंगुल कम हो गई (यह देख) गोपिका (यशोदा) ने उसके साथ दूसरी रज्जु जोड़ दी।

१--अनजान। २--रस्सी।

सुबोधिनी—भगवता स्वस्मिन् दोषद्वयं प्रदर्शितं तत्पुत्रत्वमपराधश्च, तदा रज्जुरन्तर्बहिःस्थितं भगवन्तं तिरोहितं मत्वा वेष्टनं कृतवती स्वयं बहिः स्थितान्तः स्थितस्य भगवतः, तदाह तद्दाम बध्यमानस्येति, अन्यथा बहिरपि रज्जुर्न भवेद् वेष्टकमपि न भवेत्, तथापि परितो वेष्टनरूपा न जाता, पूर्वापरयोर्भगवत एव सत्त्वात्, अतो द्व्यङ्गुलं न्यूना जाता, लोकपरिमाणे प्रथमपरिमाणमङ्गुलिः, तत्र प्रथमातिक्रमे कारणाभावादल्पवैलक्षण्ये महतो योजनायामाश्चर्यमपि भवतीति द्व्यंगुलोनमेवाभूत्, रज्ज्वाद्यन्तयोर्यो भगवान् स एवायं क्रोडीकृतः, न तु ततः केनापि धर्मेण भिन्न इति ज्ञापयितुमेवमाह व्यापकत्वस्य दर्शनार्थमेव तिरोभावाद् रज्जुस्थूलतायामपि नोदरस्थौल्यं, प्रतिबिम्बादौ तथोपलब्धेः, अतो वैलक्षण्याज्ञानात् तेनान्यदपि दाम तावत्प्रमाणकं सन्दधे योजितवती, चकाराद् विसदृशमपि ततोपि स्थूलं, नन्वङ्गुलद्वये न्यूने किमित्येतावद् योजितवती ? तत्राह गोपिकेति, मौढ्यं तस्या अनुवर्तत इति ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ—रज्जु भगवान् को कैसे बन्धन में लाई ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि भगवान् ने अपने में दो दोष दिखाए—

(१) एक तो उस (यशोदा) का पुत्र-पना, और

(२) उस (माता) का अपराध (मटुकी फोड़ तक्र बहाना, मक्खन बंदरों को बांटना) ।

जब भगवान् ने ये दो दोष प्रकट किए तब रज्जु को ज्ञान हुआ कि भगवान् के वे गुण (भगवत्व अन्दर बाहिर स्थीति) तिरोहित हो गए हैं (वा भगवान् ने छिपा दिए हैं) अब भगवान् को मैं बान्ध सकूंगी यों समझ कर उसके ही स्थित और अन्तःस्थित भगवान् की बान्धा । यदि रज्जु को इस प्रकार का ज्ञान न होता तो रज्जु भगवान् के बाहिर भी अपने को न समझती[1] और न बान्ध सकती थी। यों करते हुए भी पूर्णतया बान्ध न सकी क्योंकि रज्जु के पूर्व (आदि) और अपर में (अन्त में) भगवान् ही हैं । अतः रज्जु दो अंगुल कम हो गई । लोक के परिमाण (नाप) में प्रथम नाप १ अंगुली है। प्रथम नाप (१ अंगुली) के अतिक्रमण का कुछ कारण न होते हुए भी स्वल्पविलक्षणता को भी महापुरुषों की योजना आश्चर्य उत्पन्न करती है जैसे कि दो अंगुल कम

१—प्रभुचरण टिप्पणीजी में कहते हैं कि रज्जु ने यह समझा कि भगवान् ने अपने वे धर्म तिरोहित कर दिये हैं अतः अब यहाँ भगवान् नहीं हैं इसलिये मैं इनको बान्ध लूंगी । यह रज्जु का ज्ञान अपूर्व था इस प्रकार के ज्ञान होते हुए भी वह भगवान् को बान्ध नहीं सकती थी फिर भी भगवान् को बान्ध सकी इसका कारण बताते हुए प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि भगवान् जो लीला यहाँ कर रहे हैं, वे भक्ताधीन होकर करते हैं; अतः जिस प्रकार मर्यादा मार्ग में भक्त होकर भी यदि भगवान् का अपराध करता है तो उसको भगवान् के अधिकारी कालादि दण्ड देते हैं । उसी प्रकार पुष्टिमार्ग में यह नियम है कि भगवान् भक्त का अपराध करें तो उन (भगवान्) को भक्ताधीन होके; भक्तेच्छानुकूल लीला करनी पड़ती है । यहां भजन के विरोधि भावों को उत्पन्न करना ही अपराध है । ऐसा होने पर ही भगवान् ने पुत्रपना स्वीकार किया, तो साथ में उस (पुत्रपने) के धर्म भी आ गए, इससे माता का नियामकत्व भी आपने अंगीकार किया । रज्जु की स्वामिनी माता है अतः माता की वस्तु रज्जु को भी इस प्रकार के सामर्थ्य का सामर्थ्य प्रदान किया जिससे वह बान्ध सकी ।

वाली रज्जु में बड़ी रज्जु जोड़ने पर भी रज्जु फिर भी दो अंगुल कम हो गई रज्जु के आदि एवं अन्त में जो भगवान् है उस भगवान् को ही लपेट लिया किन्तु इससे भगवान् से उनके (सर्व-व्यापकत्व आदि) धर्म पृथक् न हुए थे । इस अपनी नित्य सर्वव्यापकता को दिखाने के लिये ही तिरोभाव (का नाटच) किया था । रज्जुस्थूल (बड़ी) हो रही थी किन्तु भगवान् का उदर वैसा का वैसा था । जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल आदि में बिम्ब जितना ही दीखता है भगवान् की विलक्षणता का ज्ञान न होने से दूसरी भी उसमें जोड़ती गई । 'च' अक्षर का भाव बताते हैं कि और बड़े-बड़े रज्जु भी उसमें जोडी । जब दो ही अंगुल न्यून होता तो दूसरे बड़ी-बड़ी क्यों जोड़ने लगी ? इस पर आचार्यश्री कहते हैं कि शुकदेवजी ने इसलिये ही 'गोपिका' शब्द देकर इसकी मूर्खता को प्रकट किया है ।। १५ ।।

आभास––ततः किमभूदित्याशङ्क्यामाह यदासोदति ।

आभासार्थ—इसके पश्चात् क्या हुआ ? उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक––**यदासीत् तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्दधे ।**
तदपि द्वयङ्गुलं न्यूनं यद्यदादत्त बन्धनम् ।। १६ ।।

श्लोकार्थ—अन्य रज्जुओं के जोड़ने से जो रज्जु बनी वह भी जब छोटी हो गई तब दूसरी तीसरी जोड़ी तब भी दो अंगुल छोटी हुई । तात्पर्य है कि जितनी उनसे भी वह रज्जु जोड़ी दो अंगुल ही छोटी रही ।

सुबोधिनी—उभयोः सम्बन्धे पुनः सैकैव रज्जुर्जाता, तदाह **यदासीदिति**, उभयोः सम्बन्धे यदेकमासीदित्यर्थः, **तदपि** पूर्वोक्तन्यायेनैव **न्यूनमासीद् द्व्यंगुलं तेनापि** विशिष्टेन पुनरन्यत् **सन्दधे**तृतीयं, **तदपि द्व्यंगुलमेव** न्यूनं, "त्रिसत्या हि देवा" इति, भगवतो जगदाद्यन्तः स्थितिर्वारत्रयं प्रदर्शिता, मानुषभावं ततोपि बहुवारं कृतवतीत्यनुवदति **यद्यदादत्त बन्धनमिति, यद्यदेव** योजनार्थं गृहीतवती तत्तदेव द्व्यङ्गुलोनमभूत् ।। १६ ।।

व्याख्यार्थ—दो रस्सियों के जुड़ने पर वह रस्सी एक हो गई तब भी पूर्ववत् दो अंगुल ही कम हुई । उस बड़ी हुई रस्सी के छोटी होने पर यशोदा ने दूसरी रज्जु उसमें जोड़ी किन्तु वह भी उसी प्रकार दो अंगुल ही कम हो गई तो पुनः तीसरी बार और रज्जु जोड़ी तो वह तब भी उतनी ही न्यून हुई त्रिसत्याः'हिदेवाः' इस श्रुति के अनुसार 'देवता त्रिसत्य हैं' । तीन बार रज्जु सम्मिलित होते हुए भी दोही अंगुलि न्यून हुई । इसका भावार्थ यह है कि भगवान् जगत् के आदि में है (जगत् प्रकट नहीं हुआ था तब भी भगवान् थे) तथा जगत् के अन्त में भी हैं (जगत् लीन हो जाएगा तब भी भगवान् रहेंगे । अर्थात् भगवान् ने तीनों बार यह दिखा दिया कि सारा जगत् मेरे भीतर है तो जगत् अन्तःपाती रस्सी मुझे कैसे बांध सकेगी । इतना प्रभाव देखती हुई

भी यशोदा ने मानुष स्वभाव के कारण पुनरपि[1] जितनी रस्सियां मिल सकीं वे मिलाती गई किन्तु फिर भी वही दो अंगुल कम ही रही ॥ १६ ॥

श्लोक—एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्दघत्यपि ।
गोपीनां सुस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताभवत् ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार यशोदा अपने घर की सब रस्सियों को स्वयं ला ला कर जोड़ने लगी, तो भी भगवान् को बाँध न सकी, पहले तो रोष था, जब दो बार जोड़ने से तीन रस्सियां पूरी न हुई, तब कुछ गर्वित हो, बहुत रस्सियां मिलाने लगी, तब भी कार्य पूरा न हुआ, तो अचम्भे में पड़ गई, इसको देखने के लिये आई हुई गोपियां यह देखकर बहुत गर्विष्ठ हो गई, क्योंकि उनके मन में यह विचार आया कि भगवान् हमारी भुजाओं से तो बन्धन में आते हैं किन्तु इतनी रस्सियों में नहीं, इसलिये हम भाग्यशाली हैं, अतः गर्विष्ठ हुई ।

सुबोधिनी—सर्वा एव गोप्योङ्गणमध्ये तथा करणाद् द्रष्टुमागताः अद्यापि तथा न निरुद्धा इति तदा **स्मयन्त्यो** जाता गर्विष्ठाः सन्मुखा वा स्वस्यापि भुजबन्धनादिकं भावयिष्यन्त्यः **सुस्मयन्त्यो** जाताः, गृहस्थसर्वदामव्ययकरणेपि न बन्धनं निवृत्तमित्याहैवमिति पूर्वोक्तन्यायेन सर्वाण्येव **दामानि** योजितवती, यतो **यशोदा** यशो ददाति द्यति वा, **सन्दधत्यपि** द्वयङ्गुलन्यूनभावाद् **विस्मिताभवदि**तिसम्बन्धः, यशोदागृह एव भगवता पुत्रत्वमपराधश्च दर्शित इति तद्गेहदामान्येवान्तर्वहिर्भगवत्तिरोभावात् सम्बद्धानि न तु गेहान्तरस्थितानि, अन्यासां तु तदर्थप्रवृत्तिरेव नास्ति, अन्तर्बहिस्तिरोधानाभावात्, रज्जूनामानयनं यशोदाकर्तृकमेव, न हि तादृश्या अन्यः सहायं कर्तुमर्हति, पूर्वं तु वारद्वयं त्रययोजनायां रोषे गते **स्मयन्ती** जाता, ततोपि बहुवारयोजनायां **विस्मिता** चाभवत्, आश्चर्यं प्राप्तवती, ततो रज्जूनामन्वेषणार्थं निर्बन्धेन यत्नं कृतवती ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ—रज्जु के परस्पर जोड़ने का कार्य यशोदा आंगन में कर रही थी, सब गोपीजन भी दर्शनार्थ आ गई, उनका भी अबतक पूर्ण निरोध नहीं हुवा था । अतः वे यशोदा का यह कार्य देखकर हँसने लगी अथवा गर्ववती भी हुई और उनके मन में उस समय यह भाव उत्पन्न हुए कि यशोदा रस्सी से बांधना चाहती है इतनी रस्सियों को जोड़ने पर भी बन्धन में नहीं आए । हम तो इनको भुजाओं से बाँध लेंगीं, इसलिये विशेष गर्विष्ट हुई । यशोदा ने अपने गृह के सर्वदाम (रस्सी) जोड़ दिये तो भी दो अंगुल ही न्यून होने से, विस्मित हुई (यशोदा का गर्व टूट गया) । यशोदा अपने घर की ही सब रस्सियाँ लाई, किन्तु अन्य घरों से न ला सकी इसका कारण आचार्य श्री बताते हैं कि भगवान् यशोदा के घर की रस्सियों में से तिरोहित (छिप) हो गए थे अतः घर की रस्सियां यशोदा ला सकी अन्य घरों (गोपियों के) की रस्सियां नहीं ला सकी कारण की गोपियों के अन्तःकरण से भगवान् तिरोहित नहीं हुए थे इसलिये उन (गोपियों) की

१—फिर भी ।

यशोदा जैसी वृत्ति नहीं हुई, जो वे घर की रस्सियां लाकर अब भी देवें। यशोदा के इस कार्य से यशोदा के नाम की सार्थकता प्रकट होती है 'यश ददाति वा द्यति' दूसरे (भगवान्) को यश देती है और अपना यश गवांती है। भगवान् ने दोनों ही अपराध यशोदाजी के घर में किये थे, १—'पुत्रत्व स्वीकार, और २--तक्र बहाना'। जब यशोदा ने देखा दूसरी कोई सहायता नहीं करती है तब विस्मित (गर्व रहित) यशोदा आग्रह पूर्वक रज्जुओं के ढूंढने का प्रयास करने लगी ॥ १७ ॥

आभास--ततः सामर्थ्याभावे गोपिकानां समक्षं परमलज्जां प्राप्य भग्नमानस-सङ्कल्पा मृतप्रायासीत् तदा भगवान् परमकृपालुस्तादृशदुष्टेष्वपि सद्बुद्ध्या युक्तमपि कृतवानित्याह।

आभासार्थ—जब यशोदा ने भगवान् को बान्धने में अपने को सामर्थ्य-हीन समझा, तब गोपियों के सामने लज्जित होने लगी। मनके संकल्प[1] नष्ट होने से मृत प्राया[2] हो गई। तब परमदयाल भगवान् ने ऐसे दोषयुक्त भक्तों पर भी सद्बुद्धि से जो कार्य करना (भगवान् का बन्धन में आना) योग्य नहीं था, वह भी किया। जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक--**स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।**
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत स्वबन्धने ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ--परिश्रम से आए हुए पसीने से भरपूर शरीर वाली और चोटी से जिसके पुष्प गिर रहे हैं ऐसी अपनी माता को देखकर कृपा से श्रीकृष्ण भगवान् बन्धन में आ गए।

सुबोधिनी—स्वमातुरिति, ततो भगवान् कृपया स्वबन्धन आसीदितिसम्बन्धः, तत्र कारणत्रयमाह स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रज इति, मातुर्हि परितोषः कर्तव्यः, "मातृदेवो भव" एभ्यो माता गरीयसी" तिवाक्यात्, नापि तस्या अपत्यान्तरमस्ति यो ह्युपस्थितं दुःखं निवारयेद् यत इयं स्वस्यैव मातातो मातृत्वं ख्यापयित्वा तस्या दुःखमसहमानेन तथा कृतं, किञ्च गोकुलवासिनां खेददूरीकरणार्थमागतो भगवान् स कथं स्विन्नगात्रायाः सर्वाङ्गे जातस्वेदाया न परिश्रमं दूरीकुर्यात्? किञ्च गोकुलवासिनां खेद दूरी करणार्थ-मागतो भगवान् स कथं स्विन्न गात्रायाः सर्वाङ्गे जातस्वेदाया न परिश्रमं दूरी कुर्यात्? किञ्च गोकुलवासिनां सर्वसौभाग्यदानार्थमागतः स कथं विस्रस्ताः कबरात् केशपाशात् स्रजो यस्यास्तादृशीं पश्येत्? अनेन सर्वाभरणानामेव तिरोभावः सूचितः, एवमेतादृश्या, परिश्रमं दृष्ट्वे तस्ततः पर्यटनं खेदः प्रस्वेदो मुखशोषो महती च ग्लानिरित्यादिः परिशब्दार्थः, तत्रपि भगवान् कृष्णः सदानन्दोननुभूत-दुःखदुःखितानामसमक्षः परदुःखमपि न पश्यति तदपूर्वं

१—विचार। २ - मरी हुई जैसी

यशोदादुःखं दृष्ट्वा कृपयाऽऽ यास्तो मात्रर्थे स्विन्नगात्रार्थे स्रगभावार्थे च स्वस्यैव स्वयं बन्धकरूपगुणाङ्गुल-त्रयभूतो जातः, द्वाभ्यां पूरितमङ्गुलमात्रं च बन्धनं जातं, तदा स्वस्यैव बन्धने जात आसीत प्रकरणाद् गृहीत इत्यवक्तव्यत्वान्नोक्तम् ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—तदनन्तर भगवान् कृपा कर स्वयं अपने बन्धन में आ गए इस प्रकार वाक्यों का सम्बन्ध है। भगवान् का बन्धन में आना, इसके तीन कारण बताते हैं—

(१) अपनी माता है।

(२) पसीने से तर हो गई है।

(३) चोटी से फूल गिर गए हैं।

माता को प्रसन्न करना पुत्र का प्रथम कर्तव्य है क्योंकि शास्त्र में 'मातृदेवो भव' माता को अपना देव समझ, न केवल इतना ही समझ किन्तु माता देवताओं से भी बढ़कर समझ जैसा कि कहा है 'एभ्यो माता गरीयसी'। भगवान् ने ऐसी माता की दशा देखकर सोचा, कि माता के दूसरा बेटा भी नहीं है जो दुःख निवारण करे इसलिये इसका यह दुःख मुझे ही निवारण करना चाहिये कारण कि यह अपनी ही माता है। अतः मातापन प्रकट कर उसके दुःख को सहन नहीं कर सके, जिससे वैसा किया (बन्धवाया) और जो गोकुलवासियों के दुःख दूर करने के लिये प्रकटे हैं वे सर्वांग में पसीनेवाली अपनी माता का परिश्रम कैसे न दूर करे? (दूर करना ही चाहिये अतः दूर किया और जो गोकुलवासियों को सौभाग्यदान करने के लिये प्रकटे हैं वे चोटी से पुष्प गिरने से जिसके सर्व प्रकार के आभूषणों का तिरोभाव हो गया है इस प्रकार यहाँ वहाँ आना जाना, हृदय की घबराहट, पसीने का होना, मुख सूक जाना आदि से टूटे हुए हृदय वाली माता को आप कैसे सौभाग्यदान न करें। उस पर भी यह भगवान् श्रीकृष्ण सदानन्द[1] हैं। दुःख का कभी भी अनुभव नहीं किया है और दुःखियों के सामने उपस्थित नहीं होते हैं। दूसरों का दुःख भी नहीं देख सकते हैं। इस समय यशोदा का ऐसा दुःख जैसा कि आपने पूर्व देखा ही नहीं वह देख के कृपा से पूर्ण हो गए। पसीने वाली, माला के अभाववाली, माता की प्रसन्नता के लिये आप स्वयं ही अपने को बान्धने के लिये तीन अंगुल की रस्सी रूप हो गए। जिससे वह रस्सी जो दो अंगुल कम थी वह बान्धने के योग्य हो गई और एक अंगुल बढ़ी जिससे गांठ बाँधी गई। तब आप इस प्रकार स्वयं ही अपने ही से बन्धन में आ गए। प्रकरण से आप बन्धन में आए। यह यों कहने योग्य न होने से नहीं कहा गया है ॥ १८ ॥

१—भगवान् कृष्ण में आनन्द, धर्मरूप से सदैव रहता है अतः आपको आनन्द का अभावरूप दुःख, कभी भी अनुभव में नहीं आता है। जैसे सूर्य जहाँ है वहाँ अन्धकार नहीं रहता है अतः सूर्य को कभी भी अन्धकार का अनुभव नहीं होता है तात्पर्य जहाँ श्रीकृष्ण बिराजते हैं वहाँ दुःख रह नहीं सकता है—'लेख'

आभास--ननु किमर्थं भगवानेतावत् कृत्वा बन्धनरूपो जात इति ।

आभासार्थ—भगवान् इतना कर फिर आप रस्सीरूप होके स्वयं बन्धन में क्यों आए ? इस शङ्का को निम्न श्लोक में निवारण करते हैं ।

श्लोक--एवं प्रदर्शिताह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता ।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ--हे राजन् ! जिनके ईश्वर (लोकपाल और देवता आदि) सहित यह सर्व जगत् वश में है उन्होंने स्वतन्त्र होते हुए भी इस प्रकार अपनी भक्तवश्यता प्रकट की है ।

सुबोधिनी—चेत् तत्राहैवमिती, एवमपकारिणि लोके स्वकीयत्वमात्राभिमानेनाप्येतावतीमभूतपूर्वां कृपां करोतीति स्वस्य भक्तवश्यता प्रदर्शिता, प्रदर्शनस्यापि प्रयोजनमाह हरिणेति, स हि सर्वदुःखहर्ता तत्त्वसिद्धयर्थमसम्बन्धेन दुःखहर्तृत्वेतिप्रसङ्गात् संसारविलयः स्यादिति सम्बन्धार्थं कृपालुतां प्रदर्शयति, कृपा च सर्वधर्मधर्मिभ्यो बलिष्ठेति वक्तुं भक्तवश्यताशब्देनैवोक्ता, ननु भक्त्या चेद् धर्मधर्मिणामुपमर्दः क्रियते तदा स्वरूपस्य प्रच्युतत्वात् फलाभावात् प्रदर्शनमपि व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्याह स्ववशेनापीति, स हि स्ववश एव न केनाप्युपमर्द्यः, अनेन फलसाधकत्वमुक्तं, फलरूपत्वमाह कृष्णेनेति, नन्वेवं कृतेन्यो महान् ब्रह्मादिर्न मंस्यते ततो माहात्म्यस्य न्यूनभावान्न तथा फलत्वमित्याशङ्क्याह यस्येदं सेश्वरं वश इति, तत्तदधिष्ठातृदेवतासहितं सर्वं जगद् यस्य वशे, अतो नान्यथाभावनं केनचिदपि कर्तुं शक्यमितिभावः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ—जो मनुष्य, भगवान् मेरा है वा मैं भगवान् का हूँ केवल इस प्रकार भगवान् के साथ स्वकीय भाव सम्बन्धवाला है वह भगवान् का अपकार भी कर देता है तो भी प्रभु उस स्वकीय भक्त के ऊपर कृपा ही करते हैं अतः यहाँ ऐसी अभूतपूर्व (आगे किसी पर भी न की हुई) कृपा कर अपनी भक्तवश्यता दिखाई है । भक्तवश्यता दिखाने का प्रयोजन बताने के लिये श्लोक में भगवान् का नाम 'हरि' है । वे सर्व दुःखहर्त्ता हैं किन्तु सम्बन्ध बिना यदि सर्व के दुःखों का हरण करें तो अतिप्रसंग हो जाय (यह नियम सर्व के साथ जोड़ा जाय) जिससे संसार लोप हो जाए अतः आप सम्बन्ध वालों पर (सम्बन्ध प्रदर्शन करते हुए) ही कृपा करते हैं । कृपा सर्व धर्म और धर्मियों से बलवाली है यह प्रमाणित करने के लिए श्लोकों से 'भक्तवश्यता' यह दिया है ।

शङ्का—यदि भक्ति से धर्म और धर्मी का उपमर्दन[1] होता है तो भगवान् के स्वरूप की हानि होने से फल भी प्राप्त नहीं होगा और कृपा दिखाई वह भी व्यर्थ होगी ?

१—दबा देना ।

समाधान—श्लोक में इस शंका के मिटाने के लिए ही 'स्ववशेन' यह कृष्ण का विशेषण दिया है जिसका तात्पर्य है कि वह किसी अन्य के वश नहीं है । अतः इनको कोई दबा नहीं सकता अर्थात् इनको स्वरूप से च्युत (गिरा) नहीं सकता है । इससे यह बताया कि फल देने वाले आप ही हैं । 'कृष्णेन' पद देकर बताया है कि फल रूप आप ही हैं ।

शङ्का—यों करने को अन्य ब्रह्मादि नहीं मानेंगे तो उनका (श्रीकृष्ण का) माहात्म्य कम हो जाएगा तो फल रूपता भी न होगी ।

समाधान—इस शङ्का के निवारण को मिटाने के लिए श्लोक में 'यस्येदंसेश्वरवंशे' पद दिया है । जिसका भावार्थ है पृथक-पृथक पदार्थों के जितने भी देवतागण हैं उन समेत सारा जगत् कृष्ण के वश में है अतः किसी में भी इतनी सामर्थ्य नहीं है जो अपने ईश्वर की सामर्थ्य को अन्यथा (कमती) कर सके । (सारांश यह है कि कृष्ण देवताओं सहित समग्र जगत् के ईश्वर स्वतन्त्र स्वामी हैं) इसलिए जो भी आपको अपना करता है उसके दोषों पर ध्यान न देकर उस पर कृपा ही करते हैं ।। १९ ।।

आभास—नन्वेतादृशो भावः पूर्वमपि सिद्धस्ततः शास्त्रप्रसिद्धत्वात् किं प्रदर्शनेनेत्याषङ्क्याह नेमं विरञ्च्य इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार का भाव पहले भी सिद्ध हुआ है जो शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है फिर उसके प्रदर्शन[1] करने की क्या आवश्यता थी इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**नेमं विरञ्चयो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।**
प्रसादं लेभिरे गोपी यत् तत् प्राप विमुक्तिदात् ।। २० ।।

श्लोकार्थ—मोक्षदाता (भगवान्) से जिस प्रकार का प्रसाद (कृपा) गोपी (यशोदा) ने प्राप्त किया वैसा भगवान् के अंग को आश्रय कर रही लक्ष्मीजी ने, ब्रह्मा और शंकर ने भी नहीं प्राप्त किया ।

सुबोधिनी—इमं प्रसादं न कश्चित् पूर्वं प्राप्तवान् भक्ता एव हि महान्तः प्राप्नुवन्ति, तत्र भक्तेषु भक्त्या स्वरूपतश्च महान्तस्त्रयः पुत्रो ब्रह्मा भक्तः प्रवृत्तिमार्गसर्वधर्मप्रवर्तकः सर्वेषां हेतुभूतस्तथा महादेवोपि पौत्रः सर्वनिवृत्तिधर्मप्रवर्तकः प्रलयकर्ता गुणावतारश्च भगवदर्थमेव सर्वपरित्यागेन तपस्तपति ततोपि लक्ष्मीर्भार्या

१—दिखाने

ब्रह्मानन्दभूतोरस्यपि लब्धपदा जगज्जननी निरन्तरं पाद-सेवनपरा, एवमेते त्रयोपि यदीमं प्रसादं न प्राप्तवन्त-स्तदा कोन्य: प्राप्तुमर्हति ? तदाहेमं **प्रसादं न वा विरञ्चयो न वा भवो न वा श्री:,** प्रत्येकसमुदायाभ्यां **प्रसादं न लेभिरे,** न च तेषां दोषोस्तीति शङ्कनीयं, यतस्त्रयोप्यङ्गमेव सम्यगाश्रयन्ति, एका वक्षोन्यो नाभि-मन्य: पादाविति, तेषां त्रयाणामपि गुणावताराणां यद् दुर्लभं तदन्येषां दुर्लभमेव, स क: प्रसाद इत्याशङ्क्य तमनुवदति **गोपी यत् तत् प्रापेति,** जात्या स्वरूपतो हीना, प्रसादस्तत्रैव प्रसिद्धो न तु केनचिन्निरूपित:, न हि सर्वमोचक: कश्चिदात्मानं बध्नाति, खेदस्तु ज्ञानमपि दत्वा विदेहकैवल्यं वा दत्वा मोचयितुं शक्यते किं स्वयं बन्धनेन ? अत: **प्रसिद्ध: प्रसादोयमेव** नान्य इत्यर्थ: ।। २० ।।

व्याख्यार्थ—इस प्रसाद को आगे किसी ने भी प्राप्त नहीं किया है इसको तो भक्त ही पा सकते हैं । क्योंकि वे सब से महान् हैं । भक्तों में भक्ति और स्वरूप से महान्-भक्त तीन ही हैं ।

(१) ब्रह्मा—भक्त है जो भगवान् का पुत्र भी है । और प्रवृत्ति मार्ग के सर्व धर्मों के प्रवर्त्तक हैं तथा सब का कारण रूप (सबकी रचना करने वाला) है ।

(२) महादेव—पौत्र है सर्व निवृत्ति धर्म के प्रवर्तक, प्रलयकर्त्ता, गुणावतार और भगवदर्थ सर्व का त्याग कर तपस्या कर रहे हैं ।

(३) उससे भी विशेष लक्ष्मीजी हैं जो भार्या है एवं ब्रह्मानन्द रूप है और जिसने भगवान् के उरस्थल पर बिराजने का सौभाग्य प्राप्त किया हैं तथा जगत् जननी है एवं नित्य भगवच्चरणारविन्द की सेवा में परायण है ।

वैसे इन तीनों ने भी जब इस प्रकार की कृपा प्राप्त नहीं की है तो दूसरा कौन है जो प्राप्त कर सकेगा ? (कोई नहीं है जो प्राप्त कर सके)

इन तीनों ने पृथक् पृथक् वा मिलकर भी इस प्रसाद को नहीं पाया । यह भी शङ्का नहीं करनी कि इनमें कोई दोष होगा ? ये तो निर्दोष होने से तीनों ही भगवान् के श्रीअंग का सदैव आश्रय करते हैं ।

एक (लक्ष्मीजी) वक्षस्थल का, दूसरा ब्रह्मा नाभि-कमल का, तीसरा महादेव चरणों का आश्रय करते हैं इन तीनों* गुणावतारों को जो दुर्लभ है वह दूसरों के लिये तो निश्चयपूर्वक दुर्लभ ही होगा । वह कौनसी कृपा है ? जो कृपा ऐसे इन तीनों पर भी नहीं हुई है उसका वर्णन 'गोपीयत् तत् प्रापेति' पद से किया है । जो गोपी जाति से और स्वरूप से भी हीन है उसको ही वह प्रसाद प्राप्त हुआ यह प्रसिद्ध है । किसी ने इसका निरूपण भी नहीं किया है यह निश्चय है कि जो कोई सबको छुड़ाता है वह अपने को बन्धन में नहीं डालता है । माता का दु:ख ज्ञान देकर अथवा मोक्ष देकर भी मिटाया जा सकता है तो फिर अपने को बन्धन में डालने की क्या आवश्यकता थी इससे

---

* प्रकाशकार कहते हैं कि लक्ष्मी का गुणावतार 'माया' है जिसको भा० १०-२६-३६ में भगवान् की सात्त्विकी शक्ति कहा गया है लक्ष्मी ने भगवान् की आज्ञा से 'माया' का रूप धारण किया ।

समझा जा सकता हैं कि यह ही 'प्रसाद' (कृपा कर आप ही का बन्धन में आना) प्रसिद्ध है दूसरा कोई भी वैसा प्रसाद[1] नहीं हैं ॥ २० ॥

आभास—ननु ते महान्तो मूढा चेयमिति मूढानुरोधेन कृतोर्थः कथं प्रसादः स्यात्? तत्राह नायं सुखाप इति ।

आभासार्थ—वे (ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मीजी) महान् हैं और यह (यशोदा) मूढ़ के अनुरोध[2] से किए हुए कार्य को कृपा कैसे कही जाय । इस शंका निवारणार्थ[3] निम्न श्लोक कहा है ।

श्लोक—**नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।**
ज्ञानिनां चात्मपोतानां यथा भक्तिमतामिह ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ—यह यशोदा नन्दन भगवान् यहाँ जिस प्रकार से सरलतापूर्वक भक्ति करने वालों को प्राप्त होते हैं उस प्रकार देहधारियों को तथा आत्मा को नौका बना कर पार जाने वाले ज्ञानियों को सरलता से नहीं मिलते हैं ।

सुबोधिनी—न ह्यत्र बन्धनं निरूप्यते किन्तु वश्यता, सा न कस्यापि सिध्यति, यावन्तः कर्मिणो देहाभिमानिनो येपि ज्ञानिनो निरभिमाना मुक्ता उभयेषामप्ययं भगवान् न सुखापः सुखेन प्राप्तुं शक्यः, तत्र-हेतुर्देहिनामिति, एकत्र **देहाभिमानो** दोषोन्यत्र नैरपेक्ष्यं, तदाह **ज्ञानिनां चात्मपोतानामिति**, आत्मा स्वरूपं पोतः संसारसमुद्रतरणोपायो येषां, न हि समुद्रतरणमात्रेण पारस्थितो महाराजः प्राप्यते, भक्तिमतां त्विहैव सुलभः, तत्र हेतुर्गोपिकासुत इति, यतो **गोपिकायाः** सुतो जातः, अतः **सर्वे भक्ता भवन्त्वित्येवं भगवता** कृतमितिभावः, इहेत्यस्मिन्नवतारे **भक्तिमतामिति** भक्तेविशेषणत्वमुक्तं न तु भक्तानाम् ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—यहाँ भगवान् ने अपने को आप ही बन्धन में डाला इस प्रकार का जो वर्णन है उसका तात्पर्य यह है कि भगवान् को अपनी वश्यता (मैं भक्ति करने वाले के, वश हो जाता हूँ) दिखलानी थी । वह वश्यता[4] भक्ति करने वालों के अतिरिक्त किसी को भी सिद्ध नहीं होती है । भक्ति करने वालों के अतिरिक्त अन्य हैं, (१) कर्म करने वाले और (२) ज्ञानी । वे दोनों दोष युक्त हैं कर्मिष्टों[5] में देहाभिमान का दोष रहता है इस दोष से उन पर इन जैसी भगवत् कृपा नहीं होती है । और ज्ञानी निराभिमान होने से निरपेक्ष[6] दोष वाले होते हैं । वे समझते हैं कि हम आप ही आत्मरूप नौका से पार पहुँचेंगे । हमको भगवद्भक्ति या आश्रय की आवश्यकता नहीं है । जैसे मनुष्य नाव से समुद्र के पार तो पहुँच जाते हैं किन्तु वहाँ उनको

१—कृपा । २—अभिलाषा पूर्ण करने की इच्छा । ३—सन्देह दूर करने के लिए ।
४—आधीन होना । ५—यज्ञादि कर्म करने वाले । ६—किसी की भी आशा या भरोसा

महाराजा के दर्शन प्राप्त नहीं होते हैं वैसे ही ज्ञानी भी केवल संसार के पार जा सकते हैं किन्तु उस रसेश के दर्शनादि का आनन्द नहीं पाते हैं। भक्तिवालों को तो वह रसेश यहां भी सुलभता से प्राप्त हो जाता है। यहां ही उनको क्यों सुलभतापूर्वक प्राप्त होता है इसकी पुष्टि[1] श्लोक में 'गोपिकासुतः' कह कर की है। भगवान् भक्ति के कारण ही, यशोदा के पुत्र बन उसके वश हुए हैं। इससे यह शिक्षा दी है कि आप सब भक्ति करो और सच्चे भक्त बनो। इस अवतार में जैसे मैंने भक्ति से वश्यता दिखलाई है। श्लोक में 'भक्ति मताम्' पद कहकर यह बताया है कि भगवान् भक्ति करने वालों के वश में होते हैं न कि भक्तों के वश में होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रेम बिना केवल क्रिया मात्र, सेवा करने वाले भक्त को नहीं मिलता हूँ ॥ २१ ॥

आभास——एवं स्वमनोरथे सिद्धे गोपिका बहिर्मुख्यो यथायथं गताः, भगवांस्तु तथा न गतः किन्तु तस्यामेवावस्थायां महत् कार्यं कृतवानित्याह कृष्ण स्त्विति।

आभासार्थ—इस प्रकार अपने मनोरथ पूर्ण होते ही बहिर्मुख गोपिकाएँ अपने-अपने घर गई भगवान् गये नहीं किन्तु उसी अवस्था में (ऊखल से बन्धी हुई अवस्था में) जो बड़ा कार्य किया उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक——**कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभु।**
अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ——माता घर के काम में लग गई कृष्ण ने तो दो अर्जुन वृक्षों को देखा। वे (वृक्ष) पहले गुह्यक (देवयोनि) में कुबरे के पुत्र थे।

सुबोधिनी—तुशब्दः पूर्वसम्बन्धं व्यावर्तयति नायं बन्धनव्यग्रः कृष्णः, सा चेद् भगवन्तं वशीकृत्य तथैव तिष्ठेन् न किञ्चित् कुर्याद् भगवान्. निरोधस्य सिद्धत्वात्, सा पुनर्गृहकृत्ये व्यग्रा जाता, तथा जातायां यमलार्जुनवृक्षावद्राक्षीत् तत्पातनेन च तस्याः प्रपञ्चविस्मरणं करिष्यामीति, ननु कोयमत्याग्रहः ? तत्राह मातरीति, तस्यामप्यवस्थायां पातने सामर्थ्यमस्तीति ज्ञापयति प्रभुरिति अर्जुनौ जातिविशेषवृक्षौ 'सखि' शब्दवाच्यौ, ननु गोपिकार्थं कथं तयोः पातनमपराधाभावादित्याशङ्क्याह पूर्वं गुह्यकाविति, देवयोनिभूतौ वृक्षौ जातौ, अतस्तयोर्वृक्षत्वमनभिप्रेतं तथापि प्रयोजनाभावात् सम्बन्धाभावात् किमिति मोचनीयावित्याशङ्क्याह धनदात्मजाविति, धनदः कुबेरो भक्तस्तस्य पुत्रो ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में आए हुए 'तु' शब्द से पूर्व कथा की पृथकता दिखलाते हैं। यह कृष्ण बन्धन में व्यग्र[2] नहीं है क्योंकि आप सदानन्द रूप हैं। बन्धन तो नाम मात्र बन्धन है

१—समर्थन। २—व्याकुल।

आप स्वेच्छा से अपनी लीला कर सकते हैं। वह (यशोदा) यदि भगवान् मेरे वशीभूत हो गए हैं यों समझकर वहाँ ही ठहर जाती तो भगवान् दूसरा कार्य न करते, कारण कि समझ जाते, कि इसे निरोध सिद्ध हो गया है किन्तु देख लिया कि यह फिर गृह कार्य में लग गई है इससे उसका पूर्ण निरोध नहीं हुआ है। अतः इसकी (यशोदा की) प्रपञ्च में, जो अब तक आसक्ति है वह छुड़ानी चाहिये। इसलिए सामने स्थित, यमलार्जुन वृक्ष को देखा, देखते ही विचार आया कि इनको गिरा दूं। इनके गिरने के शब्द से इसका प्रपञ्च विस्मरण करूँगा। इस प्रकार से निरोध करने की अति आग्रह की क्या आवश्यकता है? इस आवश्यकता को बताने के लिए श्लोक में माता कहा है यशोदाजी भगवान की माता थी माता होने के नाते से भगवान् को अत्याग्रह करना पड़ा। इस अवस्था 'बाल्यकाल' में अथवा ऊखल में बन्धन की अवस्था में पेड़ों को कैसे गिरा सकेंगे? इस शङ्का को मिटाने के लिए श्लोक में 'प्रभु' विशेषण दिया है जिसका अर्थ है सदैव सामर्थ्य-वान् हैं। अर्थात् बन्धे हुए हो, चाहे बालक हो, तो भी, पेड़ों को गिराने में समर्थ हैं। अर्जुन नाम वाले एक प्रकार के वृक्ष होते हैं जिनको 'सखा'[1] भी कहते हैं। इन वृक्षों ने कोई अपराध नहीं किया है। तब गोपी के (यशोदा के) लिये इनको बिना अपराध क्यो गिराया जाता है? इस शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि ये वृक्ष नहीं है किन्तु पहले जन्म में ये देवयोनि में थे। अब वृक्ष हुए हैं यह वृक्षपने में प्रसन्न नहीं है। बिना प्रयोजन और बिना सम्बन्ध के क्यों वृक्षयोनि से छुड़ाए? इस शंका के उत्तर में कहा है कि 'धनदात्मजौ' भक्त कुबेर के ये पुत्र हैं। ॥ २२ ॥

आभास--ननु तौ महान्तौ कथमेवं जातौ? तत्राह पुरेति।

आभासार्थ-ये भक्त कुबेर के पुत्र इतने महान् होकर पेड़ कैसे बने? इस शंका को मिटाने के लिये निम्न श्लोक कहा है।

श्लोक--पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात्।
नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ---ऐश्वर्यवान् नलकूबर और मणिग्रीव नाम से प्रख्यात इन्होंने मद के कारण नारदजी के शाप से वृक्षयोनि प्राप्त की है।

सुबोधिनी—पुरेति, पूर्वं नारदशापेन वृक्षत्वं प्राप्तौ, ननु नारदः किमिति शापं दत्तवान्? तत्राह मदादिति, श्रीमदेन मत्तौ, अतो मदाद्धेतोर्नारदशापः शापेन च वृक्षत्वमिति, ननु तथाभावयोग्यावेव तौ किमिति मुच्येते इत्याशङ्क्याह नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्याताविति, नलः कूबरो यस्य नलोतिसुन्दरः सोपि कुञ्जतुल्यो मणियुक्ता ग्रीवा यस्यैवन्नाम्ना ख्यातौ, तेषां नामख्यातिश्च न शान्तेति तदुद्धारो युक्तः, किञ्च श्रिया चान्वितौ, अद्यापि तौ परित्यज्य श्रीर्न गता, अतः कीर्तिश्रियोर्विद्यमानत्वादुद्धारमर्हतः ॥ २३ ॥

१—अर्जुन भगवान् के सखा का नाम है अतः इन अर्जुन नाम वाले वृक्षों को सखा नाम से पुकारते हैं।

व्याख्यार्थ—पूर्वकाल में नारदजी के शाप से ये वृक्ष हुए थे किन्तु नारदजी ने इनको शाप क्यों दिया ? इस शंका के मिटाने के लिये श्लोक में 'मदात्' शब्द से यह बताया है कि ये श्री के मद से मस्त हो गए थे। इस कारण से नारदजी ने इनको शाप दिया जिससे ये वृक्ष हुए हैं। इस प्रकार (वृक्ष) होने के योग्य थे तो इनको इस योनि से क्यों मुक्त किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि नल सुन्दर होते हुए भी वह आगे से कुबड़े जैसा था, इसलिये एक का नाम नलकूबर और दूसरा मणियुक्त ग्रीवा वाला था। इनके नामकी प्रशंसा अब तक प्रसिद्ध हो रही है इसलिये इनको वृक्ष योनि से मुक्त करना योग्य है और ये 'श्री' से भी युक्त हैं अब तक भी श्री ने इनको छोड़ा नहीं है। अतः कीर्ति और श्री वालों का उद्धार करना योग्य ही है॥ २३॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम-स्कन्ध, पूर्वार्ध के नवम अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के 'तामस-प्रकरण, प्रमाण' अवान्तर प्रकरण, का 'ज्ञान निरूपक' पञ्चम अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण।

इस 'ज्ञान निरूपक' अध्याय में श्रीबालकृष्ण प्रभु की वर्णित लीलाओं के पद

अथ दामोदरलीला

राग धनाश्री

यशुमति रिस करि रज्जु आकरषे।
सुतहि क्रोध देखि माता को मन ही मन हरि हरषे॥ १॥
उफनत छीर जननि करि दुचिती, यह बुधि भुजा छुड़ायो।
भाजन फोरि दह्यो सब डार्यो, माखन मुख लपटायो॥ २॥
ले आई जेवरी अब बांधों, मरम जानि न बंधाये।
अंगुर द्वै घटि होत सबनि सों, पुनि पुनि और मंगाये॥ ३॥
नारद श्राप भये यमलार्जुन, इन को अब जो उधारों।
सूरदास प्रभु कहत भक्त हित, जनम जनम तनु धारों॥ ४॥

राग बिलावल

गोविन्द बार बार मुख जोवे।
कमल नयन हरि हिलकन रोवत, बंधन छोड़ि यह सोवे॥ १॥
जो तेरो सुत खरोई अचगरो, अपनी कूखि को जायो।
कहा भयो जो घर को लरिका, चोरी माखन खायो॥ २॥
नई मटुकिया दह्यो जमायो, देव न पूजन पायो।
तिहिं घर देव पितर काहे को, जिहिं घर कान्हर आयो॥ ३॥
जाको नाम कुठार धारहे, यम की फाँसी काटे।
सो हरि बांधे प्रेम जेवरी, जननी सांट ले डांटे॥ ४॥
परमानन्द दास को ठाकुर करत भक्त मन भाये।
देखि दुःखी ये सुत कुबरे के, लाल जू आप बंधाये॥ ५॥

राग विलावल

जसोदा तेरो कठिन हियो री माई ।
तनिक दधि के कारने, तूं बांधि ऊखल आई ॥ १ ॥
जे मूरति जल थल में, ब्यापक सुपने न देत दिखाई ।
ते मूरति ते अपने अंगना चुटकी दे दे नचाई ॥ २ ॥
जे मूरति देवन मुनि दुर्लभ निगम नेति करि गाई ।
ताहीते तू गर्व भुलानी घर बैठे निधि पाई ॥ ३ ॥
बार बार सजल दल लोचन चित ये कुंवर कन्हाइ ।
कहा कहूं जो छुडावत ही हों तें मोहि सोंह दिवाई ॥ ४ ॥
सुरपालक असुरन उर सालक त्रिभुवन देत भुलाई ।
सूरदास प्रभु सब विधि लायक हितसों कछु न बस्याई ॥ ५ ॥

कब के बांधे ऊखल श्याम ।
कमल नयन बाहिर ही राखे तू बैठी सुख धाम ॥ १ ॥
हे निर्दय दया तोहि नांहीं लागि रही ग्रह काम ।
देखि क्षुधाते मुख कुमलानों अति कोमल तन श्याम ॥ २ ॥
छांडो वेगि बड़ी विरियाँ भई बीति गये युग याम ।
तेरे भयसों निकट न आवे बोलि सके नहीं राम ॥ ३ ॥
जन कारन भुज आप बंधाये वचन किये हँसि ताम ।
ताही दिन ते प्रगट सूर प्रभु दामोदरसो नाम ॥ ४ ॥

जब बालकृष्ण ऊखल में बंधे हुए थे तब एक व्रजभक्त ने हँस कर कहा कि इतनी पतली डोरी से बँधे हुए हो उसे तोड़ क्यों नहीं देते हो ? उस को आप इस प्रकार उत्तर देते हैं.—

रसिया

झीनी २ नेह की डोरी, सखी ! मोपे तोड़ी छोड़ी न जाए
परवत होय तो फूंक उडाऊँ, साँकर होय तो तोड़ दिखाऊँ,
वज्र होय तो पीस बताऊँ, धनुष होय तो छिन में तोड़ूँ
प्रीति तोड़ी न जाए ॥ १ ॥ झीनी २ नेह की डोरी—
बीस भुजा दस सीस उखाडूँ, सहस्र बाहू को पकड़ पछारूँ
चरण चीर हिरनाकुस मारूँ, तीन पैर में पृथ्वी नापूँ
प्रीति नापी न जाए ॥ २ ॥ झीनी २ नेह की डोरी—
गिरि गोवर्धन धार दिखाऊँ, दावानल अग्नि पी जाऊँ
काली दह में नाग नचाऊँ, सागर की हों पाज बँधाऊँ
प्रीति बांधी न जाए ॥ ३ ॥ झीनी २ नेह की डोरी—
सब देवन को देव कहाऊँ, कछुआ बन कर बीन बजाऊँ.
गोपी बन कर रास रचाऊँ, मछली बन कर चीर चोर कर
चढूँ कदम की डार ॥ ४ ॥ झीनी २ नेह की डोरी—
नन्द यशुमति को लाल कहाऊँ चोर चोर दधि माखन खाऊँ,
निज माया ते जगत बन्धाऊँ, पर भक्तन के हों बस हो जाऊँ
परमानन्द बलि जाए ॥ ५ ॥ झीनी २ नेह की डोरी—

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित – सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस-प्रकरण

प्रमाण अवान्तर प्रकरण

षष्ठो अध्याय

स्कन्धानुसार : दशम-अध्याय

कारिका—एवं तु नवमाध्याये भक्तिरुक्तातिदुर्लभा ।
कृष्णसेवकसख्यस्य हेतुर्दशम उच्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—इस प्रकार नवम अध्याय में अति दुर्लभ भक्ति का वर्णन किया । दशम अध्याय में श्रीकृष्ण के भक्त की मैत्री का कारण कहते हैं ।

व्याख्या—प्रथम कारिका में नवम और दशम अध्याय की संगति बताने के लिये कहा है कि नवम अध्याय में राजा के १०-७-२ में किए हुए, जिस श्रवण करने से, भगवान् में भक्ति हो, उस प्रश्न का उत्तर दिया है और दशम अध्याय में कृष्ण के सेवक की मैत्री का हेतु (वैराग्य) बताकर दोनों की संगति दिखाई है । यमलार्जुन (नलकूबर और मणि ग्रीव) को भगवान् के दर्शन हुए जिससे उनका मोक्ष भी हुआ, यह भगवद्भक्त नारदजी के अनुग्रह रूप शाप से हुआ । अतः इस चरित्र के श्रवण से भगवद्भक्तों से कैसी भी मैत्री हो तो वह हितकर होती है । श्रीकृष्ण

के भक्तों का दर्शन ही मुक्ति देनेवाला है, उसमें उन (भगवद्भक्तों) की कृपा रूपी वाक्यों से तो भगवान् की भी कृपा होती है जिससे सब बन्धन छूट जाते हैं इस प्रकार का ज्ञान होते ही जीव उनसे मैत्री करने का यत्न करेगा ॥ १ ॥

कारिका—**वैराग्यं भगवद्धर्मः षड्गुणोत्र निरूप्यते ।**
गुणानां भगवत्त्वाय स एव हि यतोभवत् ॥ २ ॥

कारिकार्थ--इस दशम अध्याय में षड्गुणवाले 'वैराग्य' धर्म का निरूपण करते हैं गुण भी भगवान् ही है क्योंकि निश्चय से भगवान् ने ही गुणों के रूप धारण किए हैं ।

व्याख्या—नवम अध्याय में अविद्या को नाश करने वाले और भगवान् को वश में करने वाले ज्ञानरूपी भगवान् के धर्म का निरूपण किया है—इस दशम अध्याय में बताते हैं कि भगवान् के सर्वगुण भगवद्रूप हैं अर्थात् जो कुछ भगवान् करते हैं वे सब उनके गुण भी कर सकते हैं क्योंकि उनने ही गुणों का रूप धारण किया है इसलिये षड्गुण वाले 'वैराग्य' धर्म का वर्णन इस अध्याय में किया गया है इससे इस कारिका से स्कन्ध के अर्थ (निरोध) से भी संगति बताई है और यह भी बताया है कि जैसे सर्प गोलाकार आदि कोई भी रूप धारण करता है तो भी प्रत्येक आकार (रूप) में वह एक ही सर्प होता हैं वैसे ही गुण भी भगवान् का ही रूप है ॥ २ ॥

कारिका--**वैराग्यमनिवर्त्यं तु भगवद्वाक्यतो भवेत् ।**
विशेषस्तु यद्वाक्यं न निवर्तेत केनचित् ॥ ३ ॥

कारिकार्थ--अविनाशी वैराग्य तो भगवान् के वचनों से होता है जो वचन (वैराग्य) कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता है ऐसी इसमें विशेषता है ।

व्याख्या—वैराग्य दो प्रकार के होते हैं-एक नाशवान् और दूसरा अविनाशी । भगवान् के भगवद्भक्तों के वचनों से जो वैराग्य होता है वह अविनाशी होता है जो सदैव बना रहता है और दूसरे प्रकार का वैराग्य, जो गृहस्थ कुटुम्बियों द्वारा अथवा धन-नाश आदि द्वारा दुःख से जो वैराग्य उत्पन्न होता है वह सुख मिलने पर मिट जाता है तथा (वैसे) नित्य और अनित्य वस्तु के विवेक से जो वैराग्य उत्पन्न होता है वह भी स्थिर नहीं रहता है । नलकूबर और मणिग्रीव को नारदजी के शाप से अविनाशी वैराग्य हुआ था । भगवान् एवं भगवद्भक्त के वाक्य अन्यथा नहीं होते हैं अतः नारदजी का दिया हुआ शाप रूप वाक्य, वैराग्यजनक था जिससे वह वैराग्य अविनाशी हुआ । भक्त के शब्द भगवान् के ही शब्द होते हैं ॥ ३ ॥

कारिका——तादृशं शापरूपं स्याद् भक्तानामेव तादृशम् ।
अतो वैराग्यकथने शापो मोक्षावधिर्मतः ॥ ४ ॥

कारिकार्थ——इस प्रकार का वैराग्य भक्तों के शाप से ही होता है। अतः यह शाप तो मोक्ष की अवधिवाला होता है और वैराग्य सदैव अविनाशी होता है।

व्याख्या—भगवद्भक्त का शाप भी हितकारी होने से शापित का हित साधक ही होता है और वह शाप सदैव नहीं रहता है शापित का हित करके मिट जाता है जैसे नलकूबर और मणिग्रीव का मोक्ष कराकर शाप मिट गया ॥ ४ ॥

कारिका——शापोद्यमस्तथा हेतुः शापश्चापि प्रसादभाक् ।
वाक्यस्यापि फलं शीघ्रं स्तुतिश्चानुग्रहस्तथा ॥ ५ ॥
षड्भिर्द्वादशभिश्चैव त्रिभिः षड्भिस्तथैव च ।
दशभिः पञ्चभिश्चेति षडर्थाः क्रमतो मताः ॥ ६ ॥

कारिकार्थ---शाप का उद्यम, शाप का कारण, अनुग्रह रूप शाप, वाक्य का फल भी शीघ्र होना, स्तुति और प्रसाद[1] ये षट् अर्थ क्रमशः श्लोकों में इस प्रकार कहे गए हैं——

(१) शाप का उद्यम छः श्लोकों में, (२) शाप के कारण द्वादश श्लोकों में, (३) अनुग्रह रूप शाप तीन श्लोकों में, (४) फल की शीघ्रता छ श्लोकों में, (५) स्तुति दश श्लोकों में, (६) कृपा, पांच श्लोकों में ॥ ५-६ ॥

व्याख्या—इन दो कारिकाओं में कौन से और कितने श्लोकों में किस-किस चरित्र का वर्णन है उसका विश्लेषण किया गया है ॥ ५–६ ॥

कारिका——अपूर्वत्वाच्छ्रोतुमिच्छा तेन प्रश्नः परीक्षितः ।
स्वस्यापि तादृशत्वेन तद्वन्मोक्षाशया पुनः ॥ ७ ॥

कारिकार्थ----यह अपूर्व होने से इस प्रसंग[2] के श्रवण की इच्छा हुई। अतः परी-

१—कृपा।   २—चरित्र।

क्षित ने प्रश्न किया है क्योंकि आप भी वैसे ही थे अर्थात् इन (परीक्षित) को भी मोक्ष की इच्छा थी इसलिये भी प्रश्न किया है।

व्याख्या—परीक्षित को इस चरित्र को सुनने की इच्छा इसलिये हुई कि यह एक नवीन एवं विचित्र बात है कि देव भी पाप करते हैं और ऋषि तथा भक्त भी क्रोध करते हैं। परीक्षित को इस कथा के पूछने का यह भी कारण था कि वह स्वयं भी ऋषि द्वारा शापित था। इस चरित्र श्रवण से मुझे (परीक्षित को) भी निश्चय हो जाय कि महान् पुरुषों का शाप भी आशीर्वाद है उससे कल्याण ही होता है ॥ ७ ॥

आभास----पूर्वाध्यायान्ते शापेन यमलार्जुनौ जाताविति श्रुत्वा कथं वा तेषा भगवानुद्धारको जात इति पृच्छति कथ्यतामिति ।

आभासार्थ—नवम अध्याय के अन्त में कुबेर के पुत्र नारदजी के शाप से यमलार्जुन (वृक्षरूप) हुए। यह सुनकर परीक्षित अब इस निम्नलोक में प्रश्न करता है कि भगवान् ने इनका उद्धार किस प्रकार किया।

॥ श्रीराजोवाच ॥

लोक---**कथ्यतां भगवन्नेतत् तयोः शापस्य कारणम् ।**
यत् तद् विगर्हितं कर्म येन देवऋषेस्तमः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ----राजा ने कहा हे भगवन्! उनके शाप का वह कारण कहो कि इनने कौनसा निंदित कर्म किया था जिससे ऋषि नारदजी को क्रोध आ गया।

सुबोधिनी—भगवन्निति सम्बोधनं कथनेन स्वदुःखदूरीकरणसामर्थ्यार्थं, एतदिति, हृदये बाधकत्वेन स्थितं, तयोर्नलकुबरमणिग्रीवयोरेकरूपस्य शापस्य कारणं, चतुष्टयं तु तेनैव वक्तव्यं शापविस्तारो विमोक्षणं स्तुतिर्भगवत्प्रसादश्चेति अतोधिकं द्वयं पृच्छति **यत् तद् विगर्हितं कर्मेति**, यत् प्रसिद्धं तादृशशापहेतुभूतं जातं तदवश्यं विगर्हि। निन्दितमेव भवति, देवानां तु पापं न सम्भवतीति प्रश्नः, किञ्च येन कृत्वा **देवऋषेर्देवतानामपि** मन्त्रद्रष्टुस्तमः क्रोधो भवति, अनेन शापे हेतुः स्पष्टः, **विगर्हितेन** शापोद्यमः सर्वो हि विगर्हिते कृते शापं दातुमुद्युक्तो भवति, **देवर्षिस्तु** साधारणे न भवतीति विशेषतो हेतुर्वक्तव्यः ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ—राजा परीक्षित शुकदेवजी को 'भगवन्' यह विशेषण इसलिये देता है कि भगवान् ने जैसे यमलार्जुन का दुःख दूर किया था वैसे ही आप भी मेरे दुःख दूर करने की सामर्थ्य वाले हो इससे मेरे लिये भगवान् हो। श्लोक के एतद् (यह) शब्द का भाव बताते हैं कि परीक्षित

के हृदय में शाप का कारण बाधक[1] हो रहा था अर्थात शाप से क्या होगा ? इसलिये पूछता है कि इन दोनों (नलकूबर और मणिग्रीव) को एक ही प्रकार के शाप का कारण कहिये। इस एक ही शाप के प्रश्न से शेष इससे सम्बन्ध रखनेवाले चार विषयों का अभिप्राय अर्थात्––(१) शाप का विस्तार, (२) मोक्ष, (३) स्तुति और भगवत्प्रसाद निकल जाएगा। इसलिये इन चारों से अधिक दो ही प्रश्न पूछते हैं। इस प्रकार के शाप का हेतु जो कर्म है वह अवश्य निन्दित ही है। इसलिये प्रश्न करते हैं कि ऐसा निन्दित कर्म देवताओं ने कैसे किया। देवता तो पाप[2] कर्म करे यह सम्भव नहीं है और जिस कर्म के करने से देवताओं में भी जो ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) हैं वैसे नारद ऋषि को क्रोध आ गया। इस प्रकार कहने से यह स्पष्ट कह दिया कि उन्होंने ऐसा पाप कर्म किया है जिससे ऋषि को इनके प्रति शाप देना आवश्यक हो गया था। निन्दित कर्म के कारण, नारदजी ने शाप का उद्यम किया। निन्दित कर्म करने पर सब शाप देने का उद्यम करते हैं। किन्तु ये देवों में भी ऋषि हैं, अतः साधारण पाप कर्म होता तो ये शाप नहीं देते इसलिये इनने जो शाप दिया उसमें कोई विशेष कारण होगा वह विशेष कारण कृपा कर कहिये ॥ १ ॥

आभास तत्र प्रथमं विगर्हितेन शापोद्यममाह षड्भी रुद्रस्येति।

आभासार्थ—निम्न श्लोक से लेकर छ श्लोकों में विशेष करके निन्दित कर्म करने से शाप के उद्यम का वर्णन करते है।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक----**रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुदृप्तौ धनदात्मजौ ।**
कैलासोपवने रम्ये मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ ॥ २ ॥

श्लोकार्थ----श्रीशुकदेवजी बोले, श्रीमहादेवजी के सेवक महान् अंहकारी जो कुबेर के पुत्र थे मदोन्मत्त होकर श्रीगङ्गाजी के समीप कैलास के सुन्दर उपवन में फिर रहे थे।

कारिका----**उन्मादश्च प्रमादश्च निन्दिताचरणं तथा ।**
महत्स्वपि तथा धार्ष्ट्यसिद्ध्यर्थं महतां दृशि: ॥ १ ॥
धार्ष्ट्यं तयोर्न सङ्घस्य ततश्चोद्यम ईर्यते ॥ १½ ॥

कारिकार्थ---छ श्लोकों में शाप के उद्यम का वर्णन है अब किस श्लोक में उनके

१—दुःख दे रहा था। २—निन्दित।

(नलकूबर और मणिग्रीव के) किस कर्म का वर्णन है वह इस १½ कारिका द्वारा बताते हैं। उन्माद (२ रे श्लोक में) प्रमाद (३ रे श्लोक में) निन्दिताचरण (४ थे श्लोक में) नारदादि महापुरुषों से भी धृष्टता की। महापुरुषों का दर्शन (नलकूबेर के कर्मों को देखना) (५ वें श्लोक में) सब स्त्रियों ने धृष्टता नहीं को केवल इन दोनों की धृष्टता (अविनय) (६ ठे श्लोक में) इसके पश्चात् पाप के लिये उद्यम का वर्णन (७ वें श्लोक में) किया है।

सुबोधिनी—प्रथमतो महतस्तथात्वमनुचितमित्याह रुद्रस्य महादेवस्य रुद् रोगाणि द्रावयतीति तादृशस्य सेवकयो रोगसम्बन्धोनुचितः, **अनुचरपदेन** पश्चादेव चलनस्योचितत्वादणुमात्रविभेदोपि दोषायेति तादृशावपि भूत्वा **दुष्टौ** जातौ धनेनातिमत्तौ, तत्र हेतू**र्धनदात्मजाविति**, धनं सर्वेभ्यो ददातीति तदात्मजस्य धनित्वं सिद्धमेव, उभयोश्च सहक्रीडा निन्दिता, **उभौ च** दुष्टो जातौ, तत्रापि महादेवस्य गृहरूपो यः पर्वतः **कैलास**स्तस्योपवन आरोपितफलपुष्पप्रधाने **वने**, तत्रापि रम्ये सर्वदोषविवर्जिते वने, स्वभावतो विरक्तो महादेवस्तस्य स्थाने विरक्ता एव तिष्ठन्ति, तत्राप्युपवने योगिनां भगवच्चिन्तनस्थाने, तत्रापि रम्ये भगवत्प्रसादस्थाने, ततोप्यधिकदोषमाह **मन्दाकिन्यामिति**, **मन्दाकिनी** भागीरथी प्रसिद्धा, मन्दाकिन्यां दोषाभावात्, तत्रापि **मद उत्कटो ययोः**, अयं मदो धनादिकृत एव, सुरादिकृतस्त्वग्रे वक्ष्यते ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—पहले तो महान् पुरुषों को इस प्रकार के कर्म करनेवाला होना योग्य नहीं है। इस प्रकार के निन्दित कर्म करने वालों की महत्ता दिखाते है कि ये रुद्र के अनुचर हैं। रुद्र का अर्थ है, जो रोगों (भवरोगों) का नाश करते हैं। ऐसों के सेवकों को रोग से सम्बन्ध करना अनुचित[1] है। अनुचर पद का भाव बताते हैं कि उसको अणुमात्र भी विपरीत कर्म करना दोष है। उसे पूर्ण रीति से स्वामी के अनुसार कर्त्तव्य करने चाहिये। महादेवजी के अनुचर होकर भी धन के कारण ये दोनों मदोन्मत्त थे कारण कि कुबेर* के पुत्र थे। जो सबको धन देता है उसके पुत्र धनी होते ही हैं इसमें संशय ही नहीं है। इस प्रकार की क्रीड़ा, दो की साथ में नहीं होनी चाहिये क्योंकि साथ करना निन्दित है किन्तु दोनों दुष्ट हो गए थे इसलिये न केवल दोनों ने मिल कर क्रीड़ा ही की परन्तु जहाँ क्रीड़ा नहीं करनी चाहिये थी ऐसे स्थल जो महादेवजी का निवास स्थान कैलास है उसके रम्य[2] उपवन जिसमें पुष्प फल आदि लगे हुए हैं उसमें क्रीड़ा करने लगे।

---

* कुबेर देवताओं के कोषाध्यक्ष (खजाची) हैं।

१—लालूभट्टजी योजना में लिखते हैं कि अनुचर का तात्पर्य है पीछे चलनेवाला अर्थात् जैसे स्वामी करे वैसे ही सेवक को भी शुद्ध आचरण रखने चाहियें 'शिव वेद है वेद शिव है' इस श्रुत्यानुसार शिव वेदरूप है इसलिये शिव के सेवकों को वेदानुसार अपना व्यवहार रखना चाहिये। इन्होंने वैसा नहीं किया अतः यह अनुचित है।

२—सब दोष रहित।

महादेवजी स्वभाव से विरक्त हैं और उनके स्थान में विरक्त[1] ही रहते हैं। उसमें भी उपवन में जहाँ योगीजन भगवच्चिन्तन करते हैं। उससे भी विशेष रम्य-स्थान भगवान् की कृपा के होने का स्थान, इससे भी अधिक दोष बताते हैं कि मन्दाकिनी (श्री भागीरथी गंगाजी) जिसमें किसी प्रकार का भी दोष* नहीं है उसके समीप के स्थानों पर इन्होंने जो क्रीड़ा की, उसका कारण धन के मद से दुष्ट हो गए थे। मदिरा[2] पानादि दोषों के मद का आगे वर्णन करेंगे ।। २ ।।

आभास---महतः स्वरूपदोषा उक्ताः, आगन्तुकदोषैः सदुष्टक्रियामाह वारुणीमिति ।

आभासार्थ—इससे पूर्व के श्लोक में महान्[3] पुरुष के स्वरूप के दोष कहे, अब निम्न श्लोक में आगन्तुक (दुष्ट कर्म करने से आने वाले) दोषों का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**वारुणीं मदिरां पीत्वा मदाघूर्णितलोचनौ ।**
स्त्रीजनैरनुगायद्भिश्चेरतुः पुष्पिते वने ।। ३ ।।

श्लोकार्थ——वारुणी[3] पीने से उत्पन्न मद से घूर्णित[4] नेत्र वाले वे पुष्प-वाटिका में फिर रहे थे। जिनके पीछे गाती हुई स्त्रियाँ भी फिर रही थीं।

सुबोधिनी—द्वन्द्वजो हि दोषो दुर्निवार इति द्वयोः सम्बन्धः, वारुणी वरुणोद्भवा, अमृतसङ्ग उत्पन्ना दैत्यभावबोधिका, तत्रापि **मदिरा** मादिकासुरभावादप्यधिकदोषजनिका, तां **वारुणीं मदिरां पीत्वा मदेनाघूर्णिते लोचने** ययोर्विरुद्धज्ञानवन्तौ, तत्राप्यनु पश्चाद् **गायद्भिः** स्त्रीभिः सहितौ, सङ्गदोषो मोहहेतुः सम्बन्धश्च, **पुष्पिते वने** रजोयुक्ते **चेरतुः** भ्रममाणौ जातौ, **मन्दाकिन्यामिति** सामीप्यसप्तमी, **कैलासोपवने** सति, **मन्दाकिन्यामपि** सत्यां मदोत्कटाविति वा अतः **पुष्पिते वन** इति न दोषवचनेन विरोधः।। ३ ।।

व्याख्यार्थ—दो कारणों से उत्पन्न दोष को मिटाना कठिन हो जाता है, यह बताकर दोनों श्लोकों (दूसरे-तीसरे) का सम्बन्ध बताया दूसरे श्लोक में धनमद बताया है यहाँ तीसरे में वारूणी मद बताते हैं। अतः इस प्रकार दो दोष हो गए जिन्हें वे स्वतः मिटा नहीं सकते थे। वारूणी शब्द का अर्थ है जो वरूण[5] में से पैदा हुई है और अमृत के साथ उत्पन्न हुई है अतः दैत्य-भाव को बढ़ाने वाली है। उस पर भी फिर मदिरा मादक[6] होने से आसुर भाव से भी अधिक दोष

---

* श्री पुरुषोत्तमजी 'प्रकाश' में इसका स्पष्टीकरण (खुलासा) करते हैं कि महादेवजी के उपवन में जो गंगाजी हैं वे दोष-रहित इसलिये हैं कि वहाँ कोई भी मनुष्य स्नान नहीं करता है अतः वहाँ की गङ्गाजी पाप-रहित हैं अन्यत्र मनुष्य स्नान करते हैं उनका पाप गङ्गाजी ले लेती हैं तो वहाँ गङ्गाजी सर्व दोष-रहित नहीं कही जाती है।

१—त्यागी। २—शराब। ३—बड़े। ४—घूमती हुई। ५—समुद्र। ६—नशा लाने वाली।

पैदा करने वाली है । ऐसी मदिरा को पीने से उत्पन्न मद करके वे घूर्णित नेत्रवाले हो गए अर्थात् विरुद्ध ज्ञानवाले (अज्ञानी) हो गए न केवल इतना ही था किन्तु पीछे गाती हुई स्त्रियाँ भी संग में थीं । संग का दोष, मोह का कारण है अर्थात् संग से ही मोह[1] होता है और स्त्रियों से सम्बन्ध भी बताया है । पुष्पवाटिका में फिरने लगे । जो रजोगुण युक्त होने से उसमें फिरने वालों में भी रजोगुण* बढ़ता है । 'मन्दाकिन्या' का अर्थ है गंगाजी के समीप । जहाँ ऐसे दोषयुक्त वे घूम रहे थे वहां कैलाश का उपवन था एवं समीप में गंगाजी भी बह रही थी । इन दोनों पवित्र स्थानों के होते हुए भी मदान्धन[2] हो रहे थे । अतः रजोगुण युक्त पुष्पवाटिका के कारण भी इनमें दोष की विशेषता दिखाने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है ॥ ३ ॥

आभास--दोषान्तरमाहान्तः प्रविश्येति ।

आभासार्थ---इस चतुर्थ श्लोक में दूसरा दोष दिखाते हैं ।

श्लोक----**अन्तः प्रविश्य गङ्गायामम्भोजवनराजिनि ।**
चिक्रीडतुर्युवतिभिर्गजाविव करेणुभिः ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ--कमल वन की पंक्ति युक्त गङ्गाजी के मध्य में प्रवेश कर हस्ती[3] जैसे हस्तिनियों[4] से क्रीड़ा करते हैं वैसे वे भी स्त्रियों से क्रीड़ा करने लगे ।

सुबोधिनी---क्रीडा गङ्गायां निषिद्धा "गङ्गां पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदश विवर्जयेदि" त्यत्र क्रीडाया निषिद्धत्वात्, तत्रापि नोद्धृत्य किन्त्वन्तः प्रविश्य, अम्भोनानां वनराजयो वनपंक्तयो यत्र, अनेन भगवत्सान्निध्यमपि गङ्गाकृतपूजार्थं लक्षितं **गजाविव करेणुभिरिति** क्रीडायामनवधानतोक्ता ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ--श्री गङ्गाजी में इस प्रकार की क्रीडा करने का शास्त्रों ने निषेध किया है । जैसे कि कहा गया है 'गंगा पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदश विवर्जयेत्' पुण्य जलवाली गंगा पर जाकर तेरह कार्य छोड़ें । जिन में गंगाजी के भीतर क्रीड़ा का भी निषेध है । इन्होने गंगा का जल नदी से लाकर, बाहिर जल में क्रीड़ा नहीं की, किन्तु गंगा के भीतर जल के मध्य में क्रीडा

* १. रजोगुण—विषयों में आसक्त करता है ।—अनुवादक

२. मन्दाकिन्या—व्याकरणानुसार यह सप्तमी विभक्ति अधिकरण अर्थ में भी होती है यदि वह अर्थ किया जाता तो लक्षणा करनी पड़ती । लक्षण करना आचार्यश्री को अभीष्ट नहीं है । अतः यहां सप्तमी का अर्थ सामीप्य में किया गया है ।— अनुवादक

१ —अज्ञानता, बे समझी । २—घमंड में अन्धे । ३—हाथी । ४—हथनियों ।

की । वह क्रीड़ा भी कहाँ की, कि जहाँ कमल के वन की पंक्तियां लग रही थीं, वहां सदैव भगवत्सान्निध्य रहता है अर्थात भगवान् वहाँ विराजते हैं । उस स्थान पर इन कमलों से गंगाजी भगवान् की पूजा करती है । गंगाजी में भी ऐसे स्थल पर, जो क्रीड़ा की, वह क्रीड़ा भी हाथी, हथनियों के समान लज्जा का त्याग कर करने लगे ।

आभास----**विषयं निरूप्य शापहेतोः समागममाह यदृच्छयेति ।**

आभासार्थ--इस प्रकार दोनों (नल कूबर और माणिग्रीव) के विषय [चरित्र] का निरूपण कर, अब निम्न श्लोक में शाप के लिए देवर्षि नारदजी के पधारने का वर्णन करते हैं ।

श्लोक----**यदृच्छया च देवर्षिर्भगवांस्तत्र कौरव ।**
अपश्यन्नारदो देवौ क्षीबाणौ समबुध्यत ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ--हे कौरव ! वहां देवर्षि भगवान् नारद ने उन दोनों देवों को अचानक देखा और समझ गए कि ये दोनों मत्त[१] हैं ।

सुबोधिनी—देवर्षिरिति भाव्यर्थपरिज्ञानं देवयोनीनामुपकारकर्तृत्वं च ज्ञापितं भगवानिति सर्वसामर्थ्यं, कार्यभगवत्त्वानि भगवत्कृपासाध्यानि, तत्रैति तस्यां गङ्गायां, कौरवेतिसम्बोधनं महतोपि वंश उत्पन्नः प्रमाद्यतीति स्वदृष्टान्तेन ज्ञानार्थं, आदौ देवावपश्यत् ततः क्षीबाणौ समबुध्यत, क्षीबशब्दोकारान्तो नकारान्तोपि, क्षीबा मत्तः, देवानां स्वर्षिसम्मानाभावयोगात् ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—आचार्यश्री कहते हैं कि श्लोक में नारदजी को देवर्षि इसलिये कहा है कि नारदजी को भविष्य[२] का ज्ञान है और उनमें देवताओं पर कृपा करने का गुण है । तथा भगवान् कहकर यह बताया है कि नारदजी में भगवान् के समान सर्व सामर्थ्य भी है । ऋषि वा पार्षदादि में भगवान् जैसी सर्वसामर्थ्य आदि की शक्ति* भगवान् की कृपा से आती है । तत्र (गंगाजी के मध्य में) क्रीड़ा करने की भूल महान कुल (देव कुल) में उत्पन्न[३] होकर भी कर रहे हैं ?

* श्रीपुरुषोत्तमजी प्रकाश में इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि ऐश्वर्यादि गुण भगवान् में नित्य है जो उनके ही रूप हैं दूसरों में नित्य नहीं है भगवान् की कृपा से कभी वे गुण उनमें उत्पन्न होते हैं सदैव नहीं । इसलिये श्री सुबोधिनीजी में उनको 'कार्य भगवनित्वा' कहा गया हैं अथवा जितनी भगवान् की इच्छा हो उतने ही गुण उनको देते हैं ।

१—मस्त । २—आगे होनेवाला । ३—जन्म लेकर ।

राजा को कौरव विशेषण इसलिये दिया है कि राजा अपने दृष्टान्त‡ से इसके तत्त्व (उपदेश) को समझ लो। नारदजी ने पधारते ही पहलें ही देवों को देखा उसके पीछे उनको मदयुक्त[1] जाना क्योंकि उनको चाहिये था कि आए हुए ऋषि का वे प्रणामादि से सन्मान करते, जो उन्होंने नहीं किया अतः ऋषि ने समझ लिया कि ये मदयुक्त हैं ॥ ५ ।

आभास----ततो यज्जातं तदाह तं दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—नारदजी आए और इनको मदयुक्त अवस्था में क्रीड़ा करते हुए देखा उसके पीछे जो कुछ हुआ उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्यो विवस्त्राः शापशङ्किताः ।
वासांसि पर्यधुः शीघ्रं विवस्त्रौ नैव गुह्यकौ ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ----नग्नदेवियों ने नारदजी को देख के लज्जित होकर, शाप के भय से शीघ्र वस्त्र धारण कर लिए परन्तु नंगे गुह्यकोंने वस्त्र नहीं पहने ।

सुबोधिनी—नारदं दृष्ट्वा देव्योप्सरसो विवस्त्राः सत्यः स्वस्मिन् नारदे चैकैकं धर्मं ज्ञातवत्यः, स्वस्मिन् लज्जा जाता कामोद्बोधेनानिष्टजनकत्वे शापशङ्का, वस्त्रपरिधानेनाभयं भवतीति शीघ्रं यावद्दर्षः क्षोभो न भवति ततः पूर्वमेव पर्यधुः, गुह्यकावपिविवस्त्रौ, नग्न दर्शनमप्यमङ्गलं निषिद्धं स्त्रीसङ्गात् क्षोभकं च, तत्रापि गुह्यकौ, गुह्यं कं ययोः ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—नग्न देवियों[2] ने नारदजी को देख कर अपने में और नारदजी में एक, एक धर्म जान गई। देवियों को स्त्रीत्व के कारण लज्जा आई और काम जगने से अनिष्ट होगा, जिस से शाप की शङ्का मन में हुई और यह विचार भी आया कि लज्जा की रक्षा तथा पाप से अभय हो जाँय इसलिए जो विलम्ब करेंगीं तो नारदजी के मन में क्षोभ होगा और वे शाप दे देंगे। अतः शीघ्र कपड़े पहन लिए। गुह्यक भी नंगे थे नग्नदर्शन अमंगलकारी है तथा निषिद्ध है और

‡ राजा परीक्षित भी महत्कुल में उत्पन्न हुआ है और उसने भी ऋषि के गले में साँप डालने की भूल की है। मदयुक्त के लिये श्लोक में 'क्षीबाणौ' शब्द दिया है यह शब्द अकारान्त 'क्षीब' भी है और नकारान्त 'क्षीबन्' भी है।

१—अहंकारी, घमंडी। २—अप्सराएं।

स्त्री के संग से तो मन में क्षोभ[1] करने वाला है। गुह्यक§ पद का तात्पर्य बताते हैं कि जिनको अपना शरीर वस्त्रों से ढकलेना चाहिए था ऐसे नाम वाले होने पर भी कपड़े नहीं पहने ॥ ६ ॥

आभास—तथा सति तयोः शापोपक्रममाह तौ दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार की दशा देखकर नारदजी शाप देने का प्रारम्भ करने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**तौ दृष्ट्वा मदिरामत्तौ श्रीमदान्धौ सुरात्मजौ ।**
तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ—मदिरा के मद से मतवाला और लक्ष्मी के मद से अन्धे उन देव के कुमारों को देखकर, उन पर अनुग्रह करने के लिये शाप देते हुए नारदजी ने ये वचन बोले।

सुबोधिनी—सुरात्मजौ भूत्वा मदिरामत्तावसुरकार्यं कृतवन्तौ, श्रीमदेन चान्धौ मनुष्यदोषं च प्राप्तवन्तौ, अत उभयोः फलं महापुरुषसान्निध्ये भवति "त्यत्यन्तनिन्दितै-र्दोषैर्जन्तुः स्थावरतां व्रजे" दित्येतयोः स्थावरत्वमेव युक्तमिति विचार्य कर्मणैवैतद् भविष्यतीति निश्चित्य कृपया परीतस्तयोरनुग्रहार्थं शापं दास्यन्निदं वक्ष्यमाणं हेतुभूतं जगौ, अन्यापराधे बालकेन कृते पित्रा शिक्षणं कर्मसाध्यमनिष्टमपि फलं नात्यन्तं दुखदं भवतीति कर्माधिकारिफलभावनात: पूर्वमेव स्वयं शापं दत्तवान्, महापुरुषदृष्ट्योद्बुद्धं च जातं, अतो न वने वृक्षौ जातौ, वृक्षाणां मध्येजुंनजातीयानां मुक्तिः प्रसिद्धा 'नर्मदातीर-सञ्जाताः सरलाजुंनपादपा नर्मदातोयसंस्पर्शाद् यान्ति ते परमां गति" मितिवाक्यात् तत्रापि गवां छायाजनकौ, महतो नन्दस्याभिज्ञापकौ च भविष्यतः, फलं तूत्कृष्टं भविष्यत्येवातः कर्मफलाच्छापः समीचीनः ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—देवकुमार होकर असुरों जैसा कार्य मदिरा पानकर मदमत्त हो गये हैं और लक्ष्मी के मद से अन्धे बन गये हैं इससे मनुष्य दोष भी उनमें आ गए हैं। इस प्रकार असुर और मानुष दोष दोनों दोष आने का फल महापुरुषों की सन्निधि में ही मिलता है। 'अत्यन्त निन्दितै-र्दोषैर्जन्तुः स्थावरतां व्रजेत' अर्थ—विशेषनिन्दित दोषों से जीव (मनुष्य) स्थावर योनि को प्राप्त होवे। शास्त्र के इस वचनानुसार इन दोनों को स्थावरत्व (जड़पना-वृक्षादि योनि) ही योग्य है यों विचारते हुए कि यह सब कर्म से ही प्राप्त होता है ऐसा निश्चय कर कृपायुक्त देवर्षि उन पर

---

§ श्री पुरूषोत्तमजी प्रकाश में कहते है कि 'क' का अर्थ विषय भी होता है किन्तु विषयों का कपड़ों से आच्छादन हो नहीं सकता है शरीर का हो सकता है अतः यहां 'क' का अर्थ आचार्यश्री ने शरीर किया है।

१—घबराहट ।

अनुग्रहार्थ शाप देते हुए ये वचन कहने लगे कि जैसे कोई बालक किसी अन्य का अपराध करता है तो उसका पिता अपने बालक को कर्मानुसार फल देता है वह फल अनिष्ट[1] बालक को वा दूसरों को अच्छा न लगता हो तो भी विशेष दुःखदायी नहीं होता है कारण कि वह फल कर्मानुसारी है और बालक के शिक्षार्थ अनुग्रहरूप है । वैसे ही नारदजी ने भी कर्माधिकारी जब तक दंड देवे उससे पहले ही शाप दे दिया । महापुरुष की दृष्टि से कर्म ने फल दिया इस कारण सें वे स्थावर[2] तो हुए किन्तु ऐसे वृक्ष हुए जिस वृक्षयोनि से मुक्ति मिलती है । जैसा कि शास्त्रों में कहा है कि नर्मदा के तीर पर उत्पन्न सरल और अर्जुन के पेड़ नर्मदा* के जल के स्पर्श से परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं । उसमें भी ये जो गौओं की अपनी छाया से सेवा करने वाले और नन्दरायजी को समाचार कहनेवाले होंगे जिससे इनको उत्कृष्ट[3] फल मिलेगा अतः कर्मफल से शाप श्रेष्ठ है ।।७।।

आभास----ननु शापे दत्ते कदाचिदुत्कृष्टकर्मापि सम्भवति ततः पापक्षये मुक्तिरेव कदाचिद् भवेत् सत्संगे भक्तिर्वा ततः किमिति शापं दत्तवानित्याशङ्क्य तयोः सत्कर्म-सत्सङ्गौ दुर्लभाविति तदर्थं तयोर्विद्यमानदोषस्य तदुभयाजनकत्वं निरूपयति द्वादशभिर्न ह्यन्य इति ।

आभासार्थ—पूर्व श्लोक (७) में नारदजी के शाप का वर्णन किया गया इस पर यह शङ्का होती है कि जैसे इन्होंने अब ये दुष्कर्म किए वैसे ही कभी उत्तम कर्मों का होना भी सम्भव है जिनसे पाप क्षय कर मुक्ति की प्राप्ति कर लेते, अथवा सत्संग होने से भक्ति उत्पन्न हो जाती तो शाप की क्या आवश्यकता थी, जो नारदजी ने शाप दिया इस शंका को निम्न १२ श्लोकों से निवारण करते हुए कहते हैं कि इन दोनों लक्ष्मी मद वालों को 'सत्कर्म और सत्सङ्ग' दुर्लभ है।

।। श्री नारद उवाच ।।

श्लोक——न ह्यन्यो जुषतो जोष्मान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः ।
श्रीमदाभिजात्यादिर्यत्र स्त्रीद्यूतमासवः ।। ८ ।।

श्लोकार्थ----श्रीनारदजी बोले लक्ष्मी के मद से उत्पन्न स्त्री संग, द्यूत[4] और मदिरा पान दोष जिस प्रकार विषयों का उपभोग करनों वालों की बुद्धि का नाश करता है, वैसे

* नर्मदा तीर संजातां सरलार्जुन पादपाः ।
नर्मदा तोय स्पर्शात्, यान्ति ते परमांगतिम् ।।

१—बुरे या अपराधी । २—वृक्ष । ३—बहुत उत्तम । ४—जुआ ।

उत्तम कुल में जन्म आदि से उद्भूत[1] अन्य दोष (मद वा रजोगुण) बुद्धि का नाश नहीं करते हैं ।

सुबोधिनी—सन्मार्गः सत्सङ्गो वा सद्बुद्धचा भवति श्रीमदेन तु सद्बुद्धिः कदापि नोत्पद्यते, तदाहान्यो जोष्यान् जुषतः प्राणिनो बुद्धेभ्रंशहेतुर्न भवति, बुद्धिरत्र सात्त्विकी "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान" मिति, तस्य बाधकं त्रिविधं गुणा विरुद्धा आश्रयनाशकमाश्रयविरोध्यन्तरजनकं च, तदत्र श्रीमदात् त्रयं भवति, यद्यपि "न्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनश्चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्भस्तोयमिव ह्रदा" दिति विषयमात्रसेवनमेव बुद्धिभ्रंशहेतुस्तत्रापि यथा श्रीमदाद् बाह्याभ्यन्तरदोषसंसर्गरूपादन्यः प्रकारान्तरेणोत्पन्नो विषयानुभवः, साधनस्य द्वन्द्वत्वाभावात् परिहार्यो भवति, अयं त्वपरिहार्यः, यतस्तेनान्तर्बहिर्दोषौ जन्येते इत्याहाभिजात्यादिरिति, "विद्यामदो धनमदस्तथैवाभिजनो मद एते मदा मदान्धानां त एव हि सतां दमा" इति, तत्र धनमदो मध्यम उभयमदयोः साधको यथा मध्यमं गृहं दग्धं सत् पार्श्वस्थितयोरपि दाहं सम्पादयति, **आभिजात्यास्यादिः** श्रीमदस्ततोऽप्यनर्थसम्पादकः, तस्य मदान्तरापेक्षया दुष्टविषयजनकत्वं हेतुत्वनाह **यत्र स्त्रीद्यूतमासव** इति अन्यान्यपि दूषणानि वक्ष्यति, ततः प्रथमं दोषत्रयमाह यदपरिहार्यं, प्राणिनः सर्वहेतवः कायवाङ्मनांसि, तत्र स्त्री कायनाशिका द्यूतमनृतं वाङ्नाशकं, आसवो बुद्धिनाशकः, आसवो मदिरा, "द्यूतं पानं स्त्रिय" इत्यधर्मपादा अप्येते, तत्रापि प्रथमं स्त्रीनिर्देशस्तेष्वप्याधिक्यख्यापकः, "न तथास्य भवेन् मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतो योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गत" इति, श्रीमदे त्वेते भवन्त्येव धनमदकृतस्त्रियोसत्या एव भवन्ति ।। ८ ।।

व्याख्या—सन्मार्ग पर चलना और सत्संग करना ये दोनों कार्य सद्बुद्धि[2] से होते हैं। जिनमें लक्ष्मी का मद होता है उनमें सद्बुद्धि नहीं होती है। लक्ष्मी मद के अतिरिक्त दूसरे दोष, विषयों का उपभोग करने वालों की बुद्धि[3] का भ्रंश (नाश) नहीं करते हैं। सतोगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है इस वचनानुसार यहाँ कही हुई बुद्धि सात्त्विकि है। उस सद्बुद्धि[4] के तीन प्रकार के बाधक[5] है--

(१) विरुद्ध गुण[6]

१—पैदा हुआ । २—जिस बुद्धि से ज्ञान उत्पन्न हो उसे सद्बुद्धि कहते हैं ।—लेख

३—असद्बुद्धि की वृत्ति को 'मन' और सद्बुद्धि की वृत्ति को 'चित्त' कहते हैं। जिसमें सद्बुद्धि नहीं है उसका चित्त सुप्त (सोया हुआ) है और मन जागृत (जागा हुआ) है। जब तक चित्त-वृत्ति नहीं जागती है तब तक सद्बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। मन असद्बुद्धि उत्पन्न कर अधःपात करता है।—'लेख'

४—चित्त का आश्रय करने वाली सद्बुद्धि का ज्ञान । —'लेख'

५—बाधा या रुकावट डालने वाले । —'लेख'

६—निषिद्ध विषय चित्त में रहकर ज्ञानवृद्धि में रुकावट डालते हैं विषय भोग में मुख्य स्त्री है अतः श्लोक में 'स्त्री' शब्द दिया हैं । —'लेख'

(२) आश्रय[७] को नाश करने वाले

(३) आश्रय के विरुद्ध ज्ञान[८] उत्पन्न करने वाले।

ये तीनों बाधक लक्ष्मी के मद से उत्पन्न होते हैं विषयों का ध्यान करने वालों का मन विषयों से आकृष्ट (खिंची हुई) इन्द्रियों द्वारा विक्षिप्त होता है वह बुद्धि की चेतना (समझ) का हरण कर लेता है जैसे नाली बड़े जलाशय (तालाब) से जल खेंच लेती है।

यद्यपि किसी भी विषय के सेवन से बुद्धि का नाश होता है तो भी बाह्य[९] और आन्तर[१०] दोषों के भण्डार रूप लक्ष्मी के मद से जैसा बुद्धि का नाश होता है वैसा दूसरे किसी से नहीं होता है। अन्य प्रकार से उत्पन्न विषयों के अनुभव में द्वन्द्वपन (दो दोषों के होने) का अभाव है, इसलिये उन विषयों का त्याग किया जा सकता है। किन्तु लक्ष्मी मद से उत्पन्न विषयों का अनुभव नहीं छोड़ सकते हैं कारण कि इससे अन्दर के* और बाहर के† दोष उत्पन्न हो जाते हैं जिसका वर्णन श्लोक में 'आभिजात्यादि' पद से किया गया है।

कारिका—**विद्यामदो धनमदस्तथैवाभिजनोमद ।**
एतेमदा मदान्धानां त एवहि सतादमा ॥

कारिकार्थ—विद्या का मद, धन का मद, उत्तम वंश में जन्म होने का मद तो मद से अन्धे हो गए पुरुषों के लिये है। सत्पुरुषों के लिये ये मद नहीं है, किन्तु उनके लिये दम[११] है।

उपरोक्त कारिका में तीन प्रकार के मदों में, धन का मद मध्य में दिखाया है जिसका तात्पर्य यह है कि दूसरे मदों का जनक[१२] भी धन मद ही है। जैसे बीच के घर के जलने पर दोनों बाजू वाले घर भी उसके संसर्ग[१३] से जलने लगते हैं। उत्तम कुल में जन्म के कारण उत्पन्न मद

---

* विद्यामद को अन्दर का दोष कहते हैं।

† उच्च-कुल में होने के मद को बाहिर का दोष कहते हैं। —'लेख'

७—आश्रय—ज्ञान का आश्रय चित्त है अर्थात् ज्ञान चित्त में रहता है उस चित्त का नाश हुआ तो ज्ञान का नाश हुआ चित्त का नाश करने वाला द्यूत (जुआ खेलना) है तात्पर्य यह है कि जुआ ज्ञान का नाश करता है। —'लेख'

८—चित्त में ज्ञान विरुद्ध अन्य विचार (अज्ञान मोहादि) उत्पन्न करने वाला आसव (मदिरा) है। —'लेख'

९—बाहर के। १०—अन्दर के। ११—संयम अर्थात् इन्द्रियों को अपने वश में करना।

१२—पैदा करने वाला। १३—संग।

की आदि भी मूल लक्ष्मी का मद है यह लक्ष्मी का मद उच्च-कुल में जन्म के मद से भी विशेष अनर्थकारक है; कारण कि दूसरे मद दुष्ट विषयों को उत्पन्न नहीं करते हैं किन्तु लक्ष्मी मद दुष्ट विषयों का जनक है वे दुष्ट विषय हैं—(१) स्त्री (संसर्ग[७]), (२) द्यूत,[१] (३) मदिरा[२] इनके अतिरिक्त शेष दूसरे भी कहेंगे । इससे पहले ये तीन दोष कहे हैं जो अपरिहार्य[३] हैं। प्राणियों को सर्व प्राप्ति के तीन कारण,—'कायां', 'वाणी' और 'मन' हैं । ये तीनों यदि स्वस्थ हैं तो प्राणी सब प्रकार से उन्नत हो सकता है । यदि ये अस्वस्थ्य हैं तो प्राणी की अवनति होती है इसको स्पष्ट समझाते हैं कि ये तीन किस प्रकार प्राणी का नाश करते हैं। प्रथम 'स्त्री' काया का नाश करती है, दूसरी द्यूत वाणी का नाश करता हैं क्योंकि द्यूत खेलने में पुन: पुन: असत्य बोला जाता है जिससे वाणी अपवित्र होकर नाश होती है और तीसरी 'मदिरा' इसके पीने से बुद्धि-ज्ञान नाश होता है। जूआ मदिरा-पान और स्त्रियाँ ये तीन अधर्म के चरण हैं अर्थात् अधर्म इनके द्वारा ही चलता और बढ़ता है । श्लोक में प्रथम 'स्त्री' कहने का तात्पर्य कहते हैं कि इन तीनों में भी 'स्त्री' विशेष अनर्थ कारिणी है जैसे कहा है कि "न तथास्य भवेत्मोहो, बन्धंश्चान्यप्रसंगतो । योषित्संगाद् यथा-पुंसो यथा तत्संगिसंगत:" क्योंकि पुरुषों को स्त्रियों के संसर्ग से अथवा स्त्री संगियों के संसर्ग से जिस प्रकार मोह और बन्धन होता है वैसा दूसरे किसी से नहीं होता है । इस वाक्य से बताते हैं कि स्त्रियों में विशेष दोष होता है । जिसको लक्ष्मी का मद होता है उसके पास जो स्त्रियाँ रहती हैं वे असती* ही होती हैं ॥ ८ ॥

आभास—दोषान्तराण्याह हन्यते पशवो यत्रेति ।

आभासार्थ—लक्ष्मी मद से होनेवाले दूसरे दोषों का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**हन्यन्ते पशवो यत्रनिर्दयैरजितात्मभिः ।**
मन्यमानैरिदं देहमजरामृत्यु नश्वरम् ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ—इस क्षण भंगुर[४] देह को (लक्ष्मी के मद से) अजर[५] और अमर मानने वाले अजितेन्द्रिय[६] और निर्दय होके पशुओं को मारते हैं ॥६॥

* श्री पुरुषोत्तमजी "प्रकाश" में इसका परिज्ञान कराते हैं कि धर्म के आचरण करने के वास्ते 'स्त्री' से विवाह किया जाता है यदि स्त्री अनर्थकारी दुष्ट है तो उससे धर्म के आचरणार्थ विवाह कैसे किया जाता है । इसके समाधानार्थ ही आचार्यश्री ने आज्ञा की है कि पुरुष, धन के मद से, जिन स्त्रियों को रखते हैं वे स्त्रियाँ ही असली अनर्थकारिणीयाँ होती हैं अन्य स्त्रियाँ नहीं ।

१—जुआ खेलना । २—शराब पीना । ३—मिट नहीं सकते हैं । ४—पल मेंटूट जानेवाले । ५—बूढ़ा न होनेवाला । ६—इन्द्रियों को वश में न कर सकनेवाले । ७—संग ।

सुबोधिनी—यत्र श्रीमदेन प्रत्यहं भक्षणार्थं पशवो हन्यन्ते, निर्दयैरिति, बाला ग्रामा अपि हन्यन्त इति सूचितं कोमलमांसत्वात्, किञ्चाजितात्मभिः सर्वाण्येव पापानि क्रियन्ते, 'नूनं प्रमतः कुरुते विकर्म यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति" त्यत्र निरूपणात्, तेषां स्वेष्टसाधनताज्ञानवतां कथं स्वानिष्टे प्रवृत्तिरितिचेत् तत्राह मन्यमानैरिति, पूर्वोक्त प्रकारेण विषयभोगः स्वभावतः सुखहेतुर्भवति पर्यवसाने परलोके च दुःखहेतुर्भवति, स च परलोकोस्य देहस्य नाशे, ते हि धनमदेनवस्तुतत्त्वं न जानन्ति, अत इदं शरीरं नश्वरमप्यजरामृत्यु जानन्ति जरामृत्युरहितम् ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ—जहाँ लक्ष्मी मद होता है वहां प्रतिदिन अपने उदरपूरणार्थ तथा जिह्वा के स्वाद के लिये पशु मारे जाते हैं, क्योंकि उनमें दया नहीं रहती है, जिससे वे निर्दयी हो जाते हैं। निर्दयी होने से बाल-पशु (छोटे-छोटे बच्चों) को भी मारते हैं कारण कि उनका माँस कोमल होता है और मद करके वे अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकते हैं जिससे इन्द्रियाधीन होकर अन्य पाप भी करते हैं। जैसा कि कहा है कि 'नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म यदिन्द्रिय प्रीतय आपृणोति" मदमत्त, इन्द्रियों को प्रसन्न करने के लिये, दुष्कर्म निश्चय से करता है। अपने इष्ट (प्रिय) पदार्थ किस साधन से प्राप्त होते हैं इस प्रकार के ज्ञान वाले होकर भी अनिष्ट फलदायी साधन (कर्म) में प्रवृत्ति क्यों करते हैं ? इस शंका का समाधान श्लोक के उत्तरार्ध द्वारा करते हैं कि विषय भोग, स्वभाव से सुख देनेवाला समझा जाता है किन्तु अन्त में परलोक में दुःखदाता होता है। वह परलोक तो इस देह छूटने के पीछे मिलता है। वे धन के मद से वस्तु के तत्व को नहीं जान सकते हैं। अतः वे इस क्षण भंगुर देह को भी जरा मृत्यु रहित समझते हैं ॥ ९ ॥

आभास—ननु सत्यमेव देवा अजरामरा इति तत्राह देवसंज्ञितमपीति ।

आभासार्थ—देवों को तो शास्त्रों में 'अजर अमर' कहा गया फिर यहाँ उनको (उनकी देहों को) नश्वर[1] कैसे कहा जाता है इस शंका का समाधान निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक----**देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञितम् ।**
भूतधुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥ १० ॥

श्लोकार्थ--यह देह, देवनाम धारण करनेवाली होने पर भी, जो अन्त में सड़े तो कृमिरूप[2] है, खाया जाय तो विष्टारूप और जलाया जाय तो भस्मरूप होनेवाला है ऐसी देह के लिये जीवों से द्रोह करने वाला पुरुष क्या अपने स्वार्थ (हित) को जानता है ? अर्थात् नहीं जानता है क्योंकि भूतों के द्रोह करने से नरक की प्राप्ति होती है।

१—नाश होनेवाले। २—कीड़ा।

सुबोधिनी— यथाजाशब्दो जायां न योगेन वर्तते किन्तु ब्रह्म कदाचित् तेन रूपेण सोमाहरणार्थं गतवदिति तथा "अमरा निर्जरा" इत्यपि, यथा मनुष्याणां यावता कालेन जरा मृत्युर्वा भवति तथा न भवतीति यथा न स्वपिति पश्चाच्छायी प्रथमबोधी च तमाहुर्न स्वपितीत्यधिकारिणस्तथात्वाद वा वस्तुतस्तु देहत्वाद् देवसंज्ञितमप्यन्तवदेव भवति, अतोन्ते कृमिविड् भस्मसंज्ञितमेव भवति. देहस्य त्रिधातिपत्तिर्दह्यते भक्ष्यते विशीर्यते वा, विशीर्णपक्षे कृमयो भवन्ति भक्षणेन ततो विड भवति दाहे भस्म, पूर्वं देवसंज्ञामपि प्राप्यान्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञा: प्राप्नोति, एवं सति यस्तादृशदेहकृते भूतध्रुक् स किं स्वार्थं वेद ? अपि तु न वेद, यतः भूतद्रोहान्नरकपातः, विशेषाकारेण हननमुक्तमिति श्रीमदस्य तदव्यभिचारात् प्रकृतेपि तदस्तीति हिंसा निन्दा, अनेन दृष्टान्तेन स्त्रीसेवका अपि स्वार्थं न विदुरित्युक्तं, अत: स्वार्थापरिज्ञानाद् धर्मसत्संगाभावाच् छाप उचित एवेतिभावः, अनेन देहार्थं प्रयत्नो न कर्तव्य इत्यर्थादुक्तम् ।।१०।।

व्याख्यार्थ--निश्चय से देवों को अजर-अमर कहा गया है, किन्तु वह कहना वास्तविक अजरत्व और अमरत्व का प्रतिपादन करने वाला नहीं है; किन्तु जैसे बकरी को 'अजा' कहा जाता है, वास्तव में वह अजा नहीं है किन्तु जन्म लेती है इस प्रकार देव भी अजर-अमर कहे जाते हैं किन्तु है नहीं यह कहना रूढिमात्र है । इसको दो दृष्टान्तों से समझाते हैं १-'अजा' बकरी जन्म लेने पर भी जो 'अजा' कही जाती है उसका कारण यह है कि परमात्मा ने किसी समय सोम लाने के लिये 'अज' बकरे का रूप धारण किया था उसके साथ रूप की सादृश्यता होने से बकरे को अज और बकरी को अजा कहते हैं तथा २—जैसे किसी से पूछा जाय कि अमुक पुरुष सोता है ? जवाब में वह कहदे कि नहीं सोता है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह नींद लेता ही नहीं है। उसके कहने का तात्पर्य इतना ही है कि यह पुरुष सब के पीछे सोता है और सब से पहले जागता है इसलिये कहा जाता है कि यह नहीं सोता है । इस प्रकार मनुष्यों के जरा[1] वा मृत्यु[2] के समय से देवों का जरा और मृत्यु का काल विशेष देरी से आता है । अत: वे अजर और अमर कहे गये हैं । वास्तविक तो यह है कि जिसका नाम देह है वह देव कही जाय तो भी अन्तवाली ही है। देवों की भी देह होती है। देह का परिणाम तीन प्रकार से होता है १—जलाई जाती है, २—खाई जाती है और ३—सड़ जाती है। सड़ने पर उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। खाने से विष्टा का रूप धारण करती है और जलने पर भस्म बनती है । यह देह पहले 'देव' नाम धारण करके भी अन्त में कीड़े विष्टा और भस्म नामवाली हो जाती है । जब देह ऐसी है तो उस देह के पोषणार्थ, जो भूतों (जीवों) की हिंसा करते हैं, क्या वे अपना स्वार्थ (हित) समझते हैं ? अर्थात् नहीं समझते हैं । यदि समझते होते तो भूतों का द्रोह[3] नहीं करते । क्यों ? वैसा (भूत द्रोह) करने से नरक की प्राप्ति होती है । विशेषता से यहाँ हिंसा कही गई है क्योंकि जहाँ धन मद होता है वहाँ हिंसा अवश्य होती है । इस दृष्टान्त से यह भी बताया है कि स्त्रियों के सेवक (विषयी पुरुष) भी अपने स्वार्थ (हित) को किस कर्म करने में है इसको नहीं समझते हैं । अत: स्वार्थ को न समझने से

१—बुढ़ापा । २ —मौत । ३—अनिष्ट, बुरा ।

और धर्म तथा सत्संग के अभाव की अवस्था में उन देवों को शाप देना उचित ही था। इससे यह भी जता दिया कि ऐसी देह के सुख के लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

आभास—तच् छास्त्रान्तरे विरुध्यति, "आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि" ति "तस्मादस्य वधो राजन् सर्वार्थवध उच्यत" इत्यादिवाक्यै रक्षाया अवश्यविधानात्। तत्रादेह किमन्नदातुः।

आभासार्थ—देह के सुखार्थ प्रयत्न नहीं करना चाहिये इसका अन्य शास्त्र विरोध करते हैं। जैसे कि कहा है कि स्त्रियों से और धन से भी पहले, देह की रक्षा करनी चाहिये। इसी देह के वध से सर्व पुरुषार्थों का वध होता है। इन शास्त्रवचनों के अनुसार देह की रक्षा अवश्य करनी चाहिये। इस शंका के उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**देहः किमन्नदातुः स्वं निषेक्तुर्मातुरेव वा।**
मातुःपितुर्वा बलिनः केतुरग्नेः शुनोपि वा ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—यह देह किसकी है? क्या अन्नदाता की है? वा पिता की है? अथवा माता की है? या नाने की है? वा बल से अपने पास ले जावे उसकी है? या खरीददार की है? वा अग्नि की है? अथवा कुत्तों की है? ॥ ११ ॥

सुबोधिनी—स्वमिति, अविचाराद् देहे रक्षार्थं प्रयत्नवचनानि, विचारे तु न रक्षणीयं स्यादिति सन्देहजनकान् पक्षानाह, देहः केन सम्बधेन सम्बन्धी भवतीति, विचारणीयं, तत्रात्मा न भवति, अल्पविवेकेनापि तद्भेददर्शनात्, आत्मीयत्वं तु भवति, सा चात्मीयता किन्निबन्धना? बहूनामेवैकस्मिन् छरीर आत्मीयत्वबुद्धिः, शरीरस्योत्पत्तिर्द्विविधा, आद्या प्रत्यहं च जायमाना, प्रत्यहं चेद् देहोन्नदातुर्भवत्यन्नमयत्वाच्च देहस्य, आद्यश्चे-न्निषेक्तुः पितुः, लोकप्रतीत्या चेदुत्पत्तिर्मातुर्भवति, परलोकसाधकत्वे मातुःपितुर्भवति, पुत्रिकापुत्रपक्षे तथैव-शास्त्रार्थत्वात्, एषा स्वरूपस्थितिः, वैषयिकस्थितिमप्याह क्रेतुर्वा बलिन इति, यो वा विक्रीणीते यो वा बद्ध्वा गृह्णाति? अन्त्यविचारश्चेदग्नेः शुनोथ वेति? क्रमिपक्षे न स्वत्वं कस्यचित् ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—देह के रक्षार्थ जो वचन कहे गये हैं वे पूर्ण विचार कर नहीं कहे गए हैं। विचार करके देखा जाय तो निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि देह की रक्षा के प्रयत्न नहीं करने चाहिये। उन्होंने पहले यह निश्चय ही नहीं किया है कि देह किसकी है? इस श्लोक में देह विषयक[1] जो-जो सन्देह हैं कि देह किस की मानी जाय वे दिखाए गये हैं जैसे कि देह किस सम्बन्ध के कारण सम्बन्ध वाली होती है प्रथम इसका विचार करना चाहिये—(१) देह आत्मा नहीं है क्योंकि थोड़ा भी विचार किया जाय तो समझ में आ जाता है कि देह और आत्मा में भेद पृथकत्व[2] है। अपनापन

१—सम्बन्ध या बारे में। २—भिन्नता, अलगपना।

तो होता है वह अपनापन किसका है और कैसा है ? यह देखना है कारण कि एक ही देह में बहुतों का अपनापन भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। शरीर की उत्पत्ति दो प्रकार की है—१. पहले जन्म समय की और २. नित्य की उत्पत्ति (नित्य शरीर का बढ़ना) नित्य की उत्पत्ति से जाना जाता है कि यह देह अन्नदाता की है क्योंकि देह अन्न से बनता और बढ़ता है इसलिये शास्त्रों में देह को अन्नमय कहा गया है। पहली जन्म समय की उत्पत्ति से, वीर्य दाता पिता की यह देह होती है। लोक में प्रत्यक्ष उत्पत्ति से देह माता की होती है। परलोक के साधक* (हित करने वाला) होने से नाने की होती है कारण कि पुत्री का पुत्र दौहित्र परलोक सुधार सकता है यों शास्त्र कहते हैं। यह स्थिति स्वरूप से कही जाती है। दूसरे प्रकार से कहते हैं कि खरीददार की वा हठात्[1] उठाके लेजाने वाले की होती है यह वैषयिक (सांसारिक सम्बन्ध की) स्थिति है। देह की अन्तिम अवस्था का विचार किया जाए तो देह अग्नि वा कुत्तों की होती है जो देह में कीड़े पड़ जावें तो किसी का भी स्वत्व[2] नहीं रहता है ॥ ११ ॥

आभास—ततः किमत आहैवमिति ।

आभासार्थ—देह के विषय में इतने पक्ष करने से क्या परिणाम निकला ? इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक—**एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम् ।**
को विद्वानात्मसात्कृत्वा हन्ति जन्तून् कृतेसतः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार साधारण देह जिसकी उत्पत्ति अव्यक्त से है और लय भी उसमें है उस देह को अपना (वा अपना रूप) समझ कर मूर्ख[3] के अतिरिक्त कौन विद्वान् है जो ऐसी देह के लिये भूतों[4] का वध करता है।

सुबोधिनी—एवं सर्वेषां साधारणं देहमात्मसात्कृत्वा को वा जन्तून् हन्तीतिसम्बन्धः तत्रापि विद्वान्, यतोयं देहः साधारणः, वस्तुतस्त्वयं देहो न पूर्वोक्तानां मध्ये कस्यचिदपिभवितुमर्हति, यतोव्यक्तमेव प्रभव उत्पत्तिस्थानमप्ययस्थानं च, नन्वेतदृशा घातका अपि बहवो दृश्यन्तं इति चेत् तत्राहुरसत इति, ये सच्छब्दवाच्या देवाः, सन्तोपि ते नैवंविधा इत्यर्थः ॥ १२ ॥

---

* प्रकाशकार पुरुषोत्तमजी कहते हैं कि पुत्र न होने पर पुत्री का पहला पुत्र नाने का पुत्र होकर पिण्डदान कर नाने का उद्धार करता है।

१—जबरदस्ती। २—अपनापन। ३—अज्ञानी। ४—जीवों, प्राणियों।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार देह का सब के साथ साधारण सम्बन्ध है उस देह को अपना (रूप) समझकर कौन है जो जीवों की हत्या करे। इस प्रकार अन्वव[1] है। उस में भी विद्वान् तो हत्या नही कर सकता है क्यों कि वह समझता है कि यह देह, साधारणतया सब से सम्बन्ध रखने वाली है, सचमुच तो यह देह ऊपर कहे हुए व्यक्तियों में से किसी की भी नहीं है। कारण कि यह देह प्रकृति से उत्पन्न होती है और उसमें ही लीन हो जाती है। यदि कहो, कि ऐसा व इतना होते हुए भी, लोक में बहुत हिंसक देखे जाते हैं, श्लोक में इसका उत्तर 'असतः' शब्द से दिया गया है कि हिंसक देखे जाते हैं वे असत्पुरुष हैं। लोक में जिस को देव वा सत्पुरुष कहते हैं वे इस प्रकार के (हिंसक) नहीं होते हैं ॥१२॥

आभास—तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहासत इति।

आभासार्थ—ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए? ऐसी आकांक्षा के उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक—असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमाञ्जनम्।
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मी के मद से अन्धे बने असत्[2] पुरुष के लिए दारिद्रय[3] उत्तम अंजन है। दरिद्री ही दूसरों को अपने समान देखता है जिससे वह किसी का द्रोह[4] नहीं करता है।

सुबोधिनी—असतो लक्षणं श्रीमदान्धस्येति, श्रीमदेनान्धस्य, यथा भगवान् "यस्यानुग्रहमिच्छामि हरिष्ये तद्धनं शनै" रिति तथा नारदोप्याह, यथा काचकामलादिनान्धस्याञ्जने दत्ते दृष्टिर्भवति न तु स्वभावत एवान्धस्य, अय च श्रीमदेनान्धः, श्रिया अभावो येनैव भवति तदेवाञ्जनं, भवति, तद् दारिद्र्यमेव, दारिद्र्यं नाम दुरदृष्टसहितसम्पत्त्यभावः, संत्यञ्जनान्यन्यान्यपि व्याध्यादीनि, परं दारिद्र्यं परममञ्जनं, न केवलं दारिद्र्यस्य दोषनिवर्तकत्वं किन्तु गुणजनकत्वमपीत्याहात्मौपम्ये नेति, आत्मोपमानं यत्र तञ् ज्ञानमात्मौपम्यं, यथात्मनि सुखदुःखानुभवस्तथा सर्वस्येत्यनुसन्धानं यथात्मसुखार्थे यतते दुःखनिवृत्त्यर्थं च न तु दुःखार्थं तथा सर्वेषामपि सुखदुःखाभावार्थे यतत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—असत् का लक्षण बताते हैं कि यहाँ लक्ष्मी के मद से अन्धे को असत् कहा गया है। भगवान् जिस पर कृपा करते हैं उसी का धन नाश करते हैं क्यों कि धन से मद[5] होता है

१—सम्बन्ध। २—मूर्ख व दुष्ट। ३—गरीबी। ४—अनिष्ट, बुरा। ५—अहंकार या घमंड।

अहङ्कारी से भगवान् दूर रहते हैं अतः अहङ्कार न हो इस लिए धन का हरण कर उस पर अनुग्राह* करते हैं तब वह भगवान् से प्रेम करने लगता है। तात्पर्य यह है कि लक्ष्मी के द्वारा उत्पन्न मद से मनुष्य अहङ्कारी व अन्धा बन जाता है। भगवान् ने उसकी औषधि[1] दरिद्रता- बनाई है। नारदजी ने भी यही औषधि योग्य समझ कर ऐसा शाप दिया है। जैसे मोतिया बिन्दु वा कामलादि[2] से अन्धे की औषधि अन्जन है अन्जन लगाने से फिर सब दिखने लगता है। स्वभाव[3] से अन्धे के लिए अन्जन कुछ नहीं कर सकता है। ये जन्म से सुर हैं असुर नहीं हैं, केवल लक्ष्मी के मद से असत् बन गए हैं। अतः इन के लिए लक्ष्मी का अभाव ही अन्जन है जो कि दारिद्रता है। दारिद्रता का तात्पर्य है खराब प्रारब्ध[4] के साथ दारिद्रय। लक्ष्मी मद को नाश करने के लिए दूसरे भी अन्जन हैं किन्तु दारिद्रता उत्ताम अन्जन है कारण कि दारिद्रता केवलदोषों को ही नाश नहीं करती है, किन्तु गुणों को भी प्रकट करती है। गुणों को बताते हैं कि सब को अपने समान समझकर उन से अपने जैसा वर्ताव करते हैं जैसे अपने सुख के लिए और दुःख की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करता है वैसे ही दूसरों को सुख प्राप्त हो और उनका दुःख निवृत्त उन के लिए भी प्रयत्न करता है। ॥ १३ ॥

आभास---आत्मौपभ्येन भूताना दर्शनं दरिद्रस्यैव नान्यस्येत्यर्थे दृष्टान्तमाह यथेति।

आभासार्थ—जिस प्रकार दीन दूसरों को अपने समान समझता है उसी तरह दूसरे (धन वाले) नहीं समझते हैं। इसको दृष्टान्त देकर निम्न श्लोक में समझाते हैं।

श्लोक—**यथा कण्टकविद्धाङ्गो जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम्।**
जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाविद्धकण्टकः ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ--जिस पुरुष को कांटा लगा हो वह दूसरे को कांटा लगने की इच्छा नहीं करता है, वह मन में विचारता है कि कांटे लगने से मुझ जैसा दुःख हुआ है वैसा दुःख दूसरे को भी होगा और जिस को कांटा न लगा हो उस को ऐसा अनुभव न होने से ऐसा विचार नहीं आता है

---

* यस्यानुग्रह मिच्छामि हरिष्ये तद्धनं शनैः १०–८५–८ श्रीमद्भागवत।

१—दवा। २—कामला रोग में सबकुछ पीला दीखता है। ३—जन्म से। ४—भाग्य।

सुबोधिनी—दारिद्र्यं सर्वदुःखनिदानं, दारिद्र्यं गतः सर्वाण्येव दुःखान्यनुभवति, न त्वदरिद्रः प्रतिकारबाहुल्यात्, स्वानुभवेनैव कण्टकेन विद्धाङ्गः कण्टकव्यथामन्यस्मै न वाञ्छति जातामपि दूरीकरोति, लिङ्गैः स्वानुभवैः परदुःखज्ञापकैः कृत्वा जीवसाम्यं गतः सर्वेषु जीवेषु सन्मत्वं प्राप्तः, न तथाविद्धकण्टकः समत्वं प्राप्नोति ।। १४ ।।

व्याख्यार्थ—दरिद्रता सब दुःखों का कारण है, जो दरिद्री होता है वह सब प्रकार के दुःखों का अनुभव कर सकता है। धनाढ्य नहीं करता है क्योंकि धन के होने से वह दुःखों को मिटाने के सब उपाय कर सकता है। जिसको काँटा लगा है, वह उस से हुए दुःख के अनुभव से चाहता है कि दूसरों के भी काँटे न लगे। यदि किसी दूसरे को काँटा लग भी जाय तो उसको झट निकालने का प्रयत्न करता है। क्योंकि इससे उसमें जीवों में समभाव आ गया है-जिसको काँटा नहीं लगा है उसमें समानता का भाव उत्पन्न नहीं होता है ।। १४ ।।

आभास—ननु तदापि दारिद्र्यस्य दुःखरूपत्वात् फलोतमत्वेपि स्वरूपतोनिष्टरूपत्वात् कथं स्तूयत इत्याशङ्क्याह ।

आभासार्थ—दरिद्रता से उत्तम फल की प्राप्ति होते हुए भी दारिद्र्य दुःख रूप होने से उसका स्वरूप अनिष्टरूप है अतः उसकी प्रशंसा कैसे की जाती है? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह ।**
कृच्छ्रं यदृच्छयाप्नोति तद्धि तस्य परं तपः ।। १५ ।।

श्लोकार्थ—सर्व प्रकार के मद से मुक्त और अहङ्कार रूप-स्तम्भ से रहित, दरिद्री पुरुष इस इच्छा से (अचानक) जो कष्ट पाता है तो वह कष्ट हो, उसके लिये बड़ा तप हो जाता है।

सुबोधिनी—दरिद्रस्येति, दारिद्र्यं मोक्षसाधकमतः स्वरूपतो दुःखरूपमपि तपोवदाशास्यमेव तस्य मोक्षसाधकत्वमाह दरिद्रः प्रथमतो निरहंस्तम्भः, अहंलक्षणः स्तम्भो निर्गतो यस्मात् मोक्षेहङ्काराभावः करणं, अहमित्यस्यात्मपरत्वव्यावृत्त्यर्थं स्तम्भपदं, अहंकारस्तम्भे- नैवाज्ञानगृहं सुस्थिरं भवति, किञ्च सर्वमदैरपि मुक्तो भवति, यदृच्छयैवं च कृच्छ्रं क्लेशाधिक्यं प्राप्नोति, ततः किमत आह तद्धि तस्य परं तप इति, यत् कष्टेन तपः कर्तव्यं तत् तस्य स्वभावत एव सम्पद्यते, विहितत्वं त्वप्रयोजकम् ।। १५ ।।

व्याख्यार्थ—दारिद्रता मोक्ष देने वाली है। इसलिये स्वरूप से दुःख रूप होने पर भी, चाहने योग्य है। क्योंकि वह तपरूप है। दारिद्र्य मोक्ष साधक है इसको समझाते हैं कि दरिद्र[1]

१—दीन, गरीब ।

अहंकार[1] रूप थम्भे वाला नहीं होता है अहंकार रूप थम्भा मोक्ष का प्रतिबन्धक[2] है। मोक्ष की प्राप्ति में अहंकार का अभाव ही साधन है। श्लोक में केवल 'अहं' पद न देकर 'अहं' के साथ 'स्तम्भ' देने का तात्पर्य बताते हैं कि 'अहं' शब्द का अर्थ 'ब्रह्म' भी होता है इसलिए साथ में स्तम्भ देकर यह समझा दिया है कि यहां अहं का अर्थ ब्रह्म नहीं है किन्तु मोक्ष में रुकावट डालने वाला अहंकार समझना चाहिए कारण कि अज्ञान रूपी गृह की पूर्ण रीति से स्थिरता[3] अहंकार रूप थंभे से होती है। दरिद्र में उसके न होने से उसमें अज्ञान नहीं रहता है जिससे उन दीन पुरुषों के दूसरे मद भी नष्ट हो जाते हैं। उसको अचानक जो विशेष कष्ट प्राप्त होते हैं वे ही उसके तप होते हैं। तपस्या करने में इन्द्रियों को रोकना आदि कष्ट साध्य है, वह इन्द्रियदमन तब इसका स्वतः स्वभाव से ही हो जाता है। तपस्या विधि अनुसार होनी चाहिए वह नियम यहाँ प्रयोजक (लागू)* नहीं होता है ॥ १५ ॥

आभास--किञ्च मोक्ष इन्द्रियजयो योगशास्त्रसिद्धः साधनत्वेन यथा साङ्ख्ये-हंकाराभावो दारिद्र इन्द्रियजयः स्वभावत एव भवति, तदाहनित्यमिति ।

आभासार्थ--योग शास्त्र में मोक्ष की प्राप्ति के लिए इन्द्रियों को जीतना कहा है और सांख्य शास्त्र में अहंकार का अभाव बताया है। दीनता में इन्द्रिय-जय स्वभाव से ही हो जाता है इसको नीचे के श्लोक में कहते हैं।

श्लोक--**नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकांक्षिणः ।**
इन्द्रियाण्याशु शुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ--भूख से दुर्बल देह वाले और नित्य अन्न की चाहना वाले दरिद्री की इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती हैं जिससे हिंसा भी निवृत्त हो जाती है।

---

*श्री पुरुषोत्तमजी 'प्रकाश' में कहते हैं कि—भगवान ने गीता में 'देवद्विगुरुप्राज्ञ' श्लोक में इन्द्रियनिग्रह-कर भगवच्चिन्तनादि करने की आज्ञा दी है। वह यहां स्वभाव से सिद्ध है। और यह तप विधिपूर्वक नहीं है उसके उत्तर में कहते हैं कि 'येन केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत' किसी प्रकार से भी मन कृष्ण में लगाए। इस न्यायानुसार पदार्थ की सिद्धि में ही तात्पर्य है विधि में नहीं है। विधि विहीन होती हुई भी अहंकार के अभाव से एवं इन्द्रिजय स्वतः होने से सत्फल की प्राप्ति होती है।

१—घमंड। २—रुकावट डालने वाला। ३—मजबूती।

सुबोधिनी—सर्वदा क्षुत्क्षामदेहस्यान्नकाङ्क्षिण इन्द्रियाण्याशु शुष्यन्ति, "विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन" इतिवाक्याद्, दरिद्रस्येतिहेतुः, इन्द्रियप्रागल्भ्याभावादेव हिंसा निवर्तते ज्ञानेन्द्रिय प्रागल्भ्याभावाच्च तद्धेतुभूता तृष्णापि विषयाभावाच्च ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ––गीता के (विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः) आहार के अभाव से देहधारी का विषय निवृत्त[1] हो जाता है इस वचनानुसार यहाँ भी कहा जाता है कि भूख के कारण दुर्बल देह वाले और अन्न को चाहन वाले दरिद्री की इन्द्रियाँ शीघ्र ही शुष्क[2] हो जाती हैं कारण कि दरिद्री शरीर का पोषण करने में असमर्थ होता है। कर्म इन्द्रियाँ शिथिल हो जाने से हिंसा करनी भी छूट जाती है और ज्ञानेन्द्रियों में भी प्रतिभा[3] न रहने से और विषयों के अभाव से उनकी कारण भूत तृष्णा भी मिट जाती है ॥ १६ ॥

आभास––मनोरथरूपा तृष्णा त्ववशिष्यते, तस्या अपि निवृत्तिमाह दरिद्रस्यैवेति।

आभासार्थ—इन्द्रियों की शिथिलता से विषय भोग का अभाव हो जाता है तो भी मनोरथ रूप तृष्णा तो अवशिष्ट[4] रहती है दरिद्री की वह भी निवृत्ति हो जाती है यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक––**दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः।**
सद्भिः क्षिणोति सन्तर्षं तत आराद् विशुध्यति ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ––सम दृष्टि वाले साधुओं का समागम भी दरिद्रीं को ही होता है और उन के संसर्ग[5] से उसकी तृष्णा क्षीण हो जाती है जिससे वह शीघ्र ही निर्मल[6] हो जाता है।

सुबोधिनी—साधुसङ्गात् तृष्णापगमः, ते हि भगवत्प्रेरिता परिभ्रमन्ति लोकानामुद्धारार्थं, तेनावृतत्वाद् दरिद्रस्यैव गृहे गच्छन्ति, तेषां काण्डद्वयनिष्णातत्वमाह **साधवः समदर्शिन** इति, तत्रापि विश्वासार्थं सदाचार एव मुख्यः, तदाह **सद्भिः क्षिणोति सन्तर्षमिति**, सन्तर्षस्तृष्णा समीचीनापि, धर्मार्थमपि यात्रार्थमपि वा धनाकाङ्क्षां, ततः शीघ्रमेव सिध्यति ॥ १७ ॥

व्याख्या––दरिद्र की वह (मनोरथरूप) तृष्णा भी साधुओं के संग से मिट जाती है वे भगवान् की प्रेरणा से लोकों के उद्धार के लिये चारों तरफ भ्रमण करते रहते हैं। उन दरिद्रों के द्वार सदैव साधुओं के लिये खुले रहते हैं। इसलिये साधुजन दीन मनुष्य के ही घर में जाते हैं।

१—दूर। २—सूख जाती ही, निकम्मी हो जाती है। ३—पूर्ण ज्ञान, पूरी समझ।
४—शेष, बाकी। ५—संग। ६—पवित्र।

वे साधुगण वेद के दोनों (पूर्व और उत्तर) काण्डों को यथार्थ समझ कर समदर्शी हो गए हैं तो भी दीन जन ही सदाचारी होते हैं इस विश्वास से, दीन के घर ही जाते हैं उन साधुओं के पधारने पर, वे दीनजन उनसे सतसंग कर तृष्णा को मिटाते हैं। अच्छे सत्कर्म करने के लिए (तीर्थ यात्रा आदि के लिए) जो तृष्णा हो तो वह भी मिट जाती है उसके मिट जाने से शीघ्र ही उसका फल (मोक्ष) सिद्ध हो जाता है।

आभास—ननु सन्तोपि भक्ष्यादिरहिते दरिद्रगृह कथं गच्छेयुः तत्राह साधुनामिति।

आभासार्थ—जहां भक्षणार्थ भोजनादि सामग्री का अभाव है वैसे दरिद्र के गृह में साधुगण क्यों जाते हैं ? इसके उत्तर में निम्न श्लोक हैं।

श्लोक---साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम् ।
उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ---सब में सम चित्त वाले, मुकुन्द भगवान् के चरणों की चाहना वाले साधुजनों को नीचों के उपासक और स्वयं भी नीच तथा धन के कारण स्तम्भ जैसे बने हुए अहंकारी पुरुष उपेक्षा[1] करने योग्य हैं।

सुबोधिनी—सतां धनिनां च परस्परविरुद्धा धर्माः, ते हि साधवः सदाचाराः, ते ह्यसन्तोसदाचाराः, साधवस्तु समचित्ताः, ते तूपेक्ष्या एव विषमचित्ताः, समचित्तानां विषमचित्ता उपेक्ष्या एव भवन्ति, साधवस्तु मुकुन्दचरणैषिणो मोक्षदातुश्चरणान्वेषणपराः, अन्ये त्वसदाश्रयाः, असत्स्वेव हि धनं तिष्ठति, तदर्थं तच्चरणान्वेषिणो यतस्तमेवाश्रित्य तिष्ठन्ति, अतो धनस्तम्भैर्धनेन स्तम्भप्राया जाता गृहभारवाहकास्तैर्न किञ्चित् कृत्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ--साधुओं के और धनवालों के धर्म परस्पर विरुद्ध होते हैं अर्थात् दोनों के धर्म समान नहीं होते हैं जैसे कि साधुजन सदाचारण वाले, और वे (धनवान) असत् आचरण वाले होते हैं। साधु पुरुष सब में समान दृष्टि वाले और धनी विषम[2] दृष्टिवाले होते हैं। अतः समदृष्टि वालों के लिए विषम दृष्टि वाले उपेक्षा[1] करने योग्य हैं। साधु पुरुष मोक्षदाता मुकुन्द भगवान् के चरणों के ढूंढने में ही तत्पर रहते हैं दूसरे वे (असत् पुरुष) नीचों के आश्रय करने वाले होते हैं कारण कि धन नीचों के पास ही रहता है उनको धन की ही चाह होती है जिसके लिए वे उनका (नीचों का) आश्रय ढूंढते रहते, हैं और उनका ही आश्रय करते हैं। अतः धन

१—त्याग देने, छोड़े देने। २—भेदभाव।

से मदान्ध स्तम्भ जैसे बने हुए अनम्र[1] तथा घर के भार का वहन करने वाले असत् पुरुषों से साधुओं का कोई (किसी प्रकार का) सम्बन्ध नहीं है ।

श्लोक--तदहं मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदान्धयोः ।
तमो मदं हरिष्यामि स्त्रैणयोरजितात्मनोः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ--मैं माध्वी[3] वारूणी[2] से उत्पन्न हुए, धन के मद से अन्धे हुए, स्त्रियों के अधीन हुए, इन्द्रियों से जीते हुए इनका वह अज्ञान मद हरण करूँगा ।

सुबोधिनी—एकोप्यंशो नोभयोस्तुल्यः, अतः श्रीमदनिवृत्तिः कर्तव्या, दारिद्रं च सम्पादनीयं, निन्दितकर्मणा च स्थावरत्वं, मददूरीकरणं तु सतामावश्यकं, सतां दृष्टिर्हि ब्रह्मज्ञानवत् सर्वदोषनिवर्तिका, अन्यथा त्रिदोषयुक्ता नाशमेव यास्यन्तीति तयोर्दोषान् गणयति माध्व्या मत्तयोः, माध्वीपदेन रस्यत्वादनिवृत्तिः, फलं तु नाशकमेव, वारुणी दैत्यत्वसम्पादिका, श्रीमदेन चान्धौ स्त्रैणौ च, अतो दोषत्रयं दूरीकरिष्यामि तमोज्ञानं मदोजितेन्द्रियत्वं च ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—धनाढ्य और साधुओं में कोई भी अंश समान नही है । अतः श्रीमद से अंधे बने हुए इन (नल कूबर और मणिग्रीव) दोनों का लक्ष्मी मद नाश करने के अर्थ इनको दरिद्र बनाना चाहिये । इनके निन्दित कर्म से इनको जड़ता प्राप्त होनी चाहिये । मद दूर करना सत्पुरुषों का आवश्यक धर्म है । साधु पुरुषों की दृष्टि ब्रह्म ज्ञान के समान दोषों को नष्ट करने वाली होती है यदि साधुजन दोषों को नाश करें तो त्रिदोष युक्त होने के कारण धनवान् नाश को प्राप्त हो जावेंगे अर्थात् अधोगति[4] पाएँगे । उन दोनों (नलकूबर और मणिग्रीव) के दोषों की गणना करते हैं । मधु से बनी हुई मदिरा से मत्त[5] हुए थे । यह मदिरा मधु से बनने के कारण, उसमें रस विशेष होने से वह छोड़ी नहीं जा सकती है । उसके पीने का फल तो नाश करने वाला होता ही है । वारुणी होने से दैत्य बना देती है । ये दोनों लक्ष्मी के मद से अन्धे और स्त्रियों में आसक्त[6] बन गए हैं । अतः इन के तीनों दोष (१-अज्ञात, २-मद और ३-इन्द्रियों के वश में होना) दूर करूँगा ॥ १६ ॥

आभास--एवं हेतुं निरूप्य शापमाह प्रसादान्तं त्रिभिर्यदिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार शाप के कारणों का निरूपण कर निम्न तीन श्लोकों से प्रसाद पर्यन्त शाप का वर्णन करते हैं ।

१—उद्दंड, कठोर स्वभाव वाले । २—शराब । ३— मधु से बनी हुई शराब ।
४—नीच गति । ५—मस्त । ६—लिप्त, लम्पट ।

श्लोक---**यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ ।**
न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ ॥ २० ॥

श्लोकार्थ--- जो, ये दोनों लोकपाल के पुत्र होकर, अज्ञान से पूर्ण और अत्यन्त मद वाले हो गए हैं जिससे अपना नग्न होना भी नहीं जानते हैं ।

कारिका----**दोषानुवादः शापश्च प्रसादश्चेत्यनुक्रमात् ॥ १/३ ॥**

कारिकार्थ---पूर्व कहे हुए दोषों का अनुवाद (फिर कहना) शाप देना और प्रसाद (कृपा करना) ये तीनों विषय क्रम से २०-२१ और २२ श्लोक में कहे हैं।

सुबोधिनी—अनुवादमाह यद् यस्मात् कारणादिमौ लोकपालस्य कुबेरस्य रक्षायां प्रतिष्ठितस्य पुत्रौ भूत्वा तत्पदाभिषेकयोग्यौ तमसा प्लुतौ किञ्च विवाससं नग्नमात्मानं च न विजानीतः, किञ्च सुदुर्मदौ ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में दोषों का अनुवाद करते हुए कहते हैं कि रक्षा कार्य के लिये प्रतिष्टित लोक पाल, कुबेर के पुत्र और उसकी गद्दी पर बैठने के योग्य ये दोनों इतने अज्ञान से भरपूर हो गए हैं और अत्यन्त दुष्ट मद वाले हुए हैं जो अपने वस्त्र रहित (नग्न) होने को भी नहीं समझ सकते है ॥ २० ॥

आभास---अतो दोषत्रयेण स्थावरतां शुद्धतामसत्वमर्हतः, कर्मण एव तथाफलं भवतीति, ततः किमत आह यथा पुनरेव नैवं स्याताम् ।

आभासार्थ—इस कारण से (तीन दोष वाले होने से) ये शुद्ध तामसयोनि, जो स्थावर होती हैं उसके योग्य हैं । कारण कि कर्म का फल इस प्रकार का ही है इस योनि (वृक्षयोनि) को पाएंगे तो क्या होगा ? इसका उत्तर देते हैं कि स्थावर बनने से परिणाम[२] यह होगा कि ये पुनः ऐसे दुष्ट मद वाले अज्ञानी नहीं होंगे ।

श्लोक--- **अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः ।**
स्मृतिः स्यान् मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात् ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ---इसलिये ये स्थावर[१] होने के योग्य हैं जिससे फिर ऐसे मदान्ध न हो जाँय, यह मेरे प्रसाद से इन्हें स्मरण रहेगा और इन पर मेरा अनुग्रह वहाँ भी होगा ।

१—वृक्ष, पेड़ । २—फल, नतीजा ।

कारिका—**ज्ञाननाशः क्रियानाशो भोगनाशस्तथैव च ।**
दुखं शीघ्रं चानिवृत्तिर्वृक्षत्वे हि भवन्ति वै ॥ १ ॥

कारिकार्थ—स्थावर होने पर क्या होता है उसका वर्णन इस कारिका में करते हैं ? १--ज्ञान का नाश, २-क्रिया का नाश और उसी प्रकार, ३--भोग का नाश, ४--दुःख, ५–दुःख से छुटकारा शीघ्र न होना ये पांच वृक्ष योनि प्राप्त होने पर होते हैं ।

सुबोधिनी—ननु कर्मणैवैतद भविष्यति तव कः प्रसाद इति चेत् तत्राह स्मृतिः स्यान् मत्प्रसादेनेति, पूर्वजन्मवृत्तान्तस्मरणं शापेन वृक्षभावस्मरणं च यद्यपि वृक्षयोनौ न भवति सत्त्वांशाभावात् तथाप्यहं भगवत्कृपया सर्वभावं प्राप्त इति मदंशो गुप्त एव तत्रापि वर्ततेग्निवदत्राहं चेत् प्रसन्न उद्रिक्तसत्त्वगुणस्तदा मदंशस्तत्रापि प्रकटो भविष्यतीति स्मृतिः स्यात्, तत्रापि तस्मिन्नपि जन्मनीदानीमपि, किञ्चाधिकोनुग्रहोपि क्रियते प्रसादस्तु स्वधर्माविर्भावः, अनुग्रहस्तु परदोषाणां स्वीकारः अतस्तदीयदोषोंस्माभिर्गृहीत इति कर्मफलस्यापि भोगात् ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—जब कर्म के फल से स्वतः वृक्षयोनि प्राप्त होती है तो नारदजी की कृपा कैसी ? वहाँ कहते हैं कि यद्यपि वृक्षयोनि जड़ है जड़योनि में सत्वगुण का अंश नहीं है अतः उस योनि में किसी प्रकार की स्मृति नहीं रहती है किन्तु मैं (नारद) भगवत् कृपा से सर्वभाव को प्राप्त होने से सर्वत्र हूँ, इसलिये उन गुह्यकों की इस वृक्षयोनि में मेरा अंश अग्नि के समान गुप्त रूप से रहेगा । जिससे वृक्षयोनि में भी इनको पूर्वजन्म के कृत्यों की और मेरे शाप से वृक्ष होने की स्मृति रहेगी । यह मेरे प्रसाद का फल है । नारदजी कहते हैं कि यदि मैं प्रसन्न हो जाऊँ अर्थात् विशेष सत्व गुण धारण करूँ तो मेरा अंश वहाँ भी प्रकट होगा जिससे इस जन्म और उस जन्म (दोनों जन्मों) में भी स्मृति रहेगी और विशेष अनुग्रह भी करता हूँ । श्लोक में 'प्रसाद' और 'अनुग्रह' दोनों शब्द एक ही अर्थ वाले हैं किन्तु दो बार कहने से उनके भाव पृथक् पृथक् हैं उसको आचार्यश्री समझाते हैं प्रसाद कहने का भाव है अपना धर्म उसमें प्रकट करना जैसे नारदजी ने अपना धर्म-सतोगुण वृक्षों में गुप्तरूप से धरा है । अनुग्रह कहने का तात्पर्य है कि दूसरों के दोष स्वयं ग्रहण कर* उन दोषों के कर्म का फल भोग कर लेना ॥ २१ ॥

श्लोक- --**वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते ।**
वृत्ते स्वलोकतां लब्ध्वा लब्धभक्ती भविष्यथः ॥ २२ ॥

* नारदजी ने इन गुह्यकों के शेष दोष ग्रहण किये हैं ।

श्लोकार्थ----दिव्य सौ वर्ष बीतने के अनन्तर भगवत्सान्निध्य प्राप्त कर (भगवान् के दर्शन पाकर) स्वलोक को प्राप्त करोगे उस योनि में भगवान् की भक्ति वाले होवो ।

सुबोधिनी—वासुदेवस्य सान्निध्यं प्राप्स्यथः, पुरुषापराध इति पुरुषायुःपर्यन्तं भोगः, देवत्वाद् दिव्यं दिव्यशरच्छते वृत्तेतीते वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा ततः स्वलोकतां च लब्ध्वा नलकूबरत्वं च प्राप्य पूर्वावस्थातो विशिष्टौ लब्धभक्ती भविष्यथो भक्तिस्तत्र प्राप्तव्या, अनेनाप्राप्तभक्तेरेव स्वसाधनरूपा भक्तिर्भवति गच्छति चानयोस्तु नैसर्गिकी रतिर्भविष्यतीतिभावः ।। २२ ।।

व्याख्यार्थ--मनुष्य यदि वैसे कर्म करे जिनसे वृक्षयोनि को पावे तो वह मनुष्य मनुष्यों की सौ वर्ष आयु जितनी वृक्षयोनि भोग कर उससे छूट जाता है। ये देव हैं इसलिये इनको यह वृक्षयोनि देवताओं के सौ वर्ष तक भोगनी है। जब देवताओं के सौ वर्ष पूरे होंगे तब आपको भगवान् के दर्शन होंगे और देवयोनि की प्राप्ति होगी। और भगवान् की स्वाभाविकी रतिरूपा स्थिर-भक्ति की प्राप्ति होगी जिनमें भक्ति नहीं है वे साधनों द्वारा भक्ति प्राप्त करते हैं, वह भक्ति स्थिर नहीं रहती है आपकी तो स्थिर रहेगी ।। २२ ।।

आभास--एवमुक्त्वा ब्रह्मवाक्यमन्यथा न भविष्यतीति तादृशवाक्यमुच्चार्य तता गत इत्याह स एव मिति ।

आभासार्थ—ब्राह्मण का वचन टल नहीं सकता है इस प्रकार के वचनों का उच्चारण कर नारदजी वहाँ से रवाने हो गए इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

।। श्रीशुक उवाच ।।

श्लोक--**स एवमुक्तो देवर्षिर्गतो नारायणाश्रमम् ।**
नलकूबरमणिग्रीवावासतुर्यमलार्जुनौ ।। २३ ।।

श्लोकार्थ--श्री शुकदेवजी बोले कि ऐसे कहकर देवर्षि नारदजी नारायण के आश्रम को गए नलकूवर और मणिग्रीव यमलार्जुन हो गए।

सुबोधिनी—स नारदो देवगुह्यकर्ता, एवमुक्तः कर्त्तरिक्तः, पश्चान्नारायणाश्रमं गतस्तद्दोषपरिहारार्थं, तज्ज्ञानार्थं देवर्षिरिति, मिलितानां मध्ये नारदस्य गमनमुक्त्वा नलकूबरयोराह नलकूबरमणिग्रीवाविति, यमलावेकत्रोत्पन्नौ मूले मिलितौ, अर्जुनौ जातिविशेषः ।।२३।।

व्याख्यार्थ----नारदजी देवताओं के गुह्य कार्य करने वाले हैं, वे इस प्रकार कह कर गुह्यकों† के जो दोष नारदजी ने लिये थे, उन दोषों को मिटाने के लिए नारायण के आश्रम

† 'उक्त' शब्द में क्त प्रत्यय कर्तति प्रयोग में कहा है।

में गए। वहाँ दोष मिटेंगे यह उनने कैसे जाना इसलिये श्लोक में नारद जी को देवर्षि कहा गया है। ऋषि त्रिकालज्ञ[1] होते हैं ये तो देव और साथ में ऋषि भी हैं इसलिये इनको यह ज्ञान पहले ही था। वहां जो देव स्त्रियां और नारद जी इकट्ठे हुए थे उन में से नारदजी चले गए। अब नल कूबर के सम्बन्ध में कहते हैं कि वे अर्जुन वृक्ष की योनि को प्राप्त हुए। उस का प्रकार बताते हैं कि जड़ तो एक थी और ऊपर दो पेड़ हो गये थे इसलिये साथ में उत्पन्न होने से 'यमलार्जुन' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं ॥ २३ ॥

आभास---एवं शापदातुः प्रायश्चितं शापग्रहीतुः शापफलप्राप्तिश्चेति निरूप्य स्मृतिरपि तत एव भविष्यतीति तामनुक्त्वानुग्रहफलं भगवत्सान्निध्यं ।

आभासार्थ—इस प्रकार शाप देने वाले (नारदजी) ने प्रायश्चित्त किया (नारायणाश्रमतीर्थ पर गए) और जिन नलकूबर मणिग्रीव को शाप मिला उस का फल उन्होंने पाया यह वर्णन कर, स्मरण भी नारदजी के प्रसाद से होगा उस को न कहकर, उन को अनुग्रह का फल भगवान् का सान्निध्य[2] हुआ। इस का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक---**ऋषेर्भगवतस्तस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः ।
जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ ॥ २४ ॥**

श्लोकार्थ---वे भगवान् देवर्षि के वचन सत्य करने के लिये जहाँ यमलार्जुन थे वहाँ हरि (श्रीकृष्ण) धीरे-धीरे पधारे।

सुबोधिनी—तयोर्जातमित्याहर्षेरिति, स हि भाव्यर्थं जानात्येव तज् ज्ञात्वैव तथोक्तवानिति, किञ्च भगवतापि स्वकृपया तस्मिन् भगवत्त्वं सम्पादितं, तदाह भगवत इति, तस्यर्षित्वं भगवत्त्वं वाक्यसत्यत्वं च कर्तुं, स्वयं च सर्वदुःखहर्ता, यत्र यमलार्जुनावास्तां तत्र शनकैर्जगामादाविव, आरावे पुनः स्त्रीणामनुसरणं भविष्यतीति भगवानेवम्प्रकारेण तत्र गतस्तौ ज्ञापयितुं यत्र स्त्रियो मामेवं कुर्वन्ति तत्र युवां कथं न करिष्यन्त्यतः स्त्रीसंगो न कर्तव्य इति तदानीमपि स्त्रीदर्शनाभावाय शनैर्गतः, तयोरागमनं न सम्भावितमिति यत्र तावेवास्तां तत्र स्वयंगतः ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ—उन नारदजी ने इस प्रकार के वचन 'वृक्षयोनि में भी आपको भगवत्सान्निध्य होगा,' 'भगवान् की भक्ति सिद्ध होगी' 'स्मरण रहेगा' कैसे कहे? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में ऋषि विशेषण देकर बताया है कि वे (नारदजी) भावी[3] अर्थ[4] को जानने वाले हैं इसलिए उन्होंने ऐसे वचन कहे और भगवान् ने अपनी कृपाकर उन (नारदजी) में अपना भगवत्व स्थापित

१—भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान वाले। २—समीप, निकट या पास में
३—आगे होने वाले। ४—कार्य, काम।

किया है इसलिये श्लोक में उनके लिए दूसरा विशेषण 'भगवतः' दिया है। उन (नारदजी) का भगवत्त्व[1] ऋषित्व[2] और वाणी सत्यकृत्व[3] सिद्ध करने के लिये एवं आप भी 'हरि' सर्व दुःख हर्ता[4] हैं इसलिये जहाँ वे (यमलार्जुन) थे वहाँ आप पधारे। कैसे पधारे ? इस प्रकार धीरे-धीरे गए कि थोड़ासा शब्द[5] न हो, शब्द होगा तो वहाँ स्थित स्त्रियाँ चली आएँगी, उन (स्त्रियों) का आना भगवान् को अभीष्ट[6] न था कारण कि भगवान् ने सोचा कि जो स्त्रियाँ मुझे भी बन्धन में डालती हैं वे इनको बन्धन में कैसे नहीं डालेंगी। अतः भगवान् ने धीरे-धीरे जाने की क्रिया से उनको स्त्री-दर्शन नहीं कराए और इससे यह शिक्षा दी कि स्त्रियों का संग नहीं करना चाहिये। जहाँ वे (वृक्ष) थे वहाँ आप (हरि) गए क्योंकि वे जड़ थे आ नहीं सकते थे ॥ २४ ॥

आभास––एवं भगवत्सेवकेषु भगवत्कृपा, अतो भगवत्सेवकानुवृत्तिः कर्तव्येति गत्वा भगवान् यमलार्जुनयोर्भङ्गं करिष्यतीति तत् कुतः सान्निध्यं तु वरप्राप्तं तथैव च भक्तिरपि भविष्यति सानिध्यादेवेदं शरीरं परित्यज्य नलकूबरत्वमेव प्राप्स्यतोतो भङ्गोनुचित इत्याशङ्क्य भगवतोभिप्रायमाह देवर्षिरिति।

आभासार्थ—भगवान् की भगवद्भक्तों पर ऐसी कृपा होती है जो भक्तों के वचन सत्य करने के लिए आप वहाँ गए और इससे यह शिक्षा दी कि सब को मेरे भक्तों की इच्छा के अनुसार कर्तव्य करने चाहिए। यहाँ शङ्का होती है कि नारदजी ने उनको भगवान् के समीप होने और भगवान् की भक्ति को पाने का अनुग्रह रूप वरदान दिया था जिससे सान्निध्यमात्र से इस (वृक्ष) शरीर को छोड़कर पुनः उस देवयोनि में नलकूबर बन जाते और भगवान् की भक्ति पालते। तब भगवान् ने जो वृक्ष को तोड़ देने का कर्म अनुचित किया ? इसके उत्तर में भगवान् के अभिप्राय को निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक----**देवर्षिर्मे प्रियतमौ यदिमौ धनदात्मजौ ।**
तत् तथा साधयिष्यामि यद् गीतं तन् महात्मना ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ––देवर्षि नारद मेरे परम प्रिय हैं, और ये दोनों कुबेर के पुत्र हैं, वह उसी प्रकार सिद्ध करुँगा जिस प्रकार उस महात्मा ने कहा है।

सुबोधिनी—एकमत्र सन्दिग्ध, स्मृतिर्जाता न वेति, तदपि प्रकटीकर्तव्यममर्यादरूपं च, देवर्षिराह यत् सत्त्वगुणोद्रेकेपि दुर्लभं तददतितामसे भवत्विति, ननु तन् मिथ्यैव भवत्वविचारितवचनादि-

१—भगवान् पन। २—ऋषिपन। ३—वाणी की सत्यता। ४—सब दुखों को मिटाने वाला। ५—खटका। ६—इच्छित, पसन्द।

त्याशाङ्क्याह मे देवर्षिः प्रियतम इति, आर्षज्ञानमर्यादा भज्येत, नारदश्च मदीयः, यत् मत्सेवकैः कृतं तत् मयैव कृतिमिति, तत्राप्यत्यन्तं प्रियः प्रीतिविषयः, अतः स्नेहात् सर्वमेव कर्तव्यं, अन्यथा स्नेहमर्यादापि न स्यात, यद् यस्मादिमौ च धनदात्मजौ, कुबेरोतिभक्तः, अतो मूलभावश्च शुद्धः, अतस्तावन्तमर्थं त्याजयित्वा धनदांशे भवत्युपयोग्यंशं योजयित्वा तत्रैव स्वयं प्रविश्य शुष्कौ कृत्वा स्वाधिदैविकभावेन तद विदीर्णं विधाय तत उद्धृत्य दृढभक्ति कर्तव्यौ तदा नारदवाक्यं सत्यं भवति, तथैवाहं साधयिष्यामि यत् तेन गीतं तत् तथा, ननु किं परार्थं एतावानुद्यमः ? तत्राह महात्मनेति महानेव तस्यात्मा, महत्त्वं भगवत्प्रवेशात् ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ—यहां शेष[1] एक संशय रहता है वह यह है कि उनको स्मरण हुआ या नहीं ? इसको प्रकट करना चाहिये । नारदजी ने जो वृक्षयोनि में इनको स्मरण होने का कहा है वह मर्यादा रहित है क्योंकि स्मरण तो मनुष्य योनि में भी जब विशेष सतोगुण बढता है तब होता है यह वृक्षयोनि तामस है उसमें स्मरण कैसे होगा ? इसलिये यह नारदजी का कहना झूठ होगा, कारण कि नारदजी ने विचार करके नहीं कहा है । इस प्रकार की शङ्का मिटाने के लिए भगवान् ने कहा है कि नारदजी मेरे प्रिय नहीं, किन्तु प्रियतम (अत्यन्त प्यारे) हैं । यदि नारदजी के वचन मिथ्या होंगे तो आर्षज्ञान (ऋषि त्रिकालज्ञ होते हैं वे जो भी कहते हैं वह सत्य ही होता है) की मर्यादा नष्ट हो जायगी और नारदजी मेरे भक्त हैं, भक्तों ने जो कहा और किया वह मैंने ही किया । अत्यन्त प्रीतम के लिए स्नेह होता है, स्नेह के कारण भक्तों के सर्व कार्य, पूर्ण करने ही चाहिये यदि न किए जाएँगे तो स्नेह की मर्यादा न रहेगी । इसके अतिरिक्त ये कुबेर के पुत्र हैं । कुबेर पूर्ण भक्त है अतः इनकी (नलकूबर और मणिग्रीव की) जड़ शुद्ध है । इसलिए इन में जो धन मद का अंश है उसको नष्ट कराके उस स्थान पर भक्ति का अंश (भाव) प्रकट करके उसमें स्वयं प्रवेश कर दोनों को शुष्क करके अपने आधिदैविक भाव से उनको (वृक्षों को) गिराकर उस (वृक्षत्व) में से उन दोनों का उद्धार कर उनको दृढ़ भक्ति वाले बनाएंगे । तब नारदजी के वचन सत्य प्रमाणित होंगे । इसलिए मैं वैसा ही कर्म (लीला) करुँगा जैसा कि उन्होंने (नारदजी ने) कहा है । दूसरों के लिए इतना उद्यम क्यों ? इसके उत्तर में श्लोक में कहा है कि, 'महात्मना' । देवर्षि नारदजी महान् आत्मा है । महान् आत्मा वह है जिस आत्मा में भगवान् ने प्रवेश किया हो । अतः भगवान् के प्रवेश होने से ही नारदजी महान् आत्मा हैं ।

आभास--इति विचार्य भगवानुभयोरन्तः प्रविष्ट इत्याहेत्यन्तरेणेति ।

आभासार्थ--इस प्रकार विचार करके भगवान् ने दोनों वृक्षों के बीच में प्रवेश किया ।

१—बाकी ।

श्लोक—इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ ।
आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग् गतमुलूखलम् ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार विचार करके श्रीकृष्ण यमलार्जुन वृक्ष के बीच में से निकलने लगे, आत्मा के प्रवेशमात्र से ऊखल टेडा हो गया ।

सुबोधिनी—यमयोरर्जुयोरनन्तरा कृष्णो ययौ, केवलं बहिरेव ययाविति पक्षं दूषयितुं तुशब्दः, सदानन्दरूपत्वाद् दोषो दुःखं च तयोस्तदानीमेवनिवृत्तं, भगवत्सम्पृक्तं तूलूखलं दारूमयं भवतीति स्वसजातीयोद्धारार्थमात्मनो भगवतो वृक्षयोर्निर्वेशमात्रेणोलूखलं तिर्यग्भूतं जातं, ऋजुत्वे तु तदपि मध्ये निर्गच्छेत् तदा तु पुनर्भगवत्सम्बद्धं यदि सजातीयं न मोचयेत् तदा स्वस्याधिदैविकत्वं जातं व्यर्थं स्यात् ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ—यमलार्जुन के बीच में श्रीकृष्ण गए । श्लोक के 'तु' अक्षर का भाव बताते हैं कि भगवान् केवल बाहिर ही उपस्थित नहीं हुए किन्तु भीतर गए क्योंकि आप सदानन्द† रूप हैं उन (भगवान्) के प्रवेश से वृक्षों के दोष और दुःख उसी समय निवृत्त हो गए—भगवान् से बन्धा हुआ ऊखल* लकड़ी का था । इसलिये अपनी जाति काष्ठ (वृक्ष)‡ के उद्धारार्थ भगवान् का वृक्षों के बीच में प्रवेश होते ही ऊखल टेढा हो गया यदि टेढा न होता और सीधा ही रहता तो वह ऊखल भी वृक्षों से निकल जाता जिससे वृक्षों का उद्धार न होता तो भगवान् से सम्बन्धवाला होकर भी अपनी जाति वाले को यदि न छुड़ावे तो उनका आधिदैविकत्व व्यर्थ हो जाता ॥२६॥

आभास—एवमुलूखले तिर्यक्प्रकारेण पतिते भगवान् यत् कृतवांस्तदाह बाले नेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार जब ऊखल टेडा हो गया तब भगवान् ने जो कुछ किया उसका वर्णन इस निम्न २७ वें श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद् दामोदरेण तरसोत्कलताङ्घ्रिबन्धौ ।
निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेपस्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ ॥ २७ ॥

---

* गो० पुरुषोत्तमजी 'प्रकाश' में कहते हैं कि पद्मपुराण के वचनानुसार श्रीकृष्ण को ऊखल में जब बान्धा तब वे २८ मास के थे और वह दिन मार्ग शीर्ष सुदि प्रतिपदा थी ।

† पुरूषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि भगवान् ने यह विचार किया कि यदि मैं कुछ न करूंगा तो नारदजी के वचन सिद्ध न होंगे ।

‡ लेखकार गो० वल्लभलालजी 'लेख' में कहते हैं कि श्रीकृष्ण सद्रूप है उन सद्रूप के प्रवेश से वृक्षों के दोष नष्ट हुए और श्रीकृष्ण आनन्दरूप भी हैं उस आनन्दरूप के प्रवेश से वृक्षों के दुःख दूर हो गए ।

श्लोकार्थ----टेढ़े ऊखल को बालरूप भगवान् दामोदर के खेंचते हुए उन वृक्षों की जड़ें उखड़ पड़ीं और उन दोनों वृक्षों के तने, पत्ते और शाखाएँ परम पराक्रमवालों के समान अतिशय काँपने लगी और प्रचण्ड[1] शब्द करते हुए वे वृक्ष गिर पडे ।

सुबोधिनी—उलूखलं निष्कर्षता बालेन तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ निष्पेततुः, भूमेर्भगवत्सम्बन्धादार्द्रता सात्त्विकभावात्, अतः शिथिलसर्वभागावाकर्षणोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ जातौ, अन्वगनुकूलतयाकृष्टं यथा भवति तथोलूखलं नितरां कर्षतेति, उलूखलाकर्षणेन तावप्याकृष्टौ, अन्वगीषदिति वा, दामोदरेत्यन्वर्थनाम, बालस्योदरेणाकर्षणमल्पमेव भवति तत्राप्यूलूखलस्य स्थूलस्य, रज्जुरपि सूक्ष्मात्याकर्षेण नश्येत् अनेनापि साक्षाद्भगवानित्युक्तं, रज्जूलूखलयोरभङ्गेप्यर्जुनयोर्भङ्गात्, उपपत्तिस्तु रज्जुर्भगवद्रूपेति पूर्वमुक्तं, उलूखलं त्वाधिदैविकं रूपं प्राप्तवत्, अतो युक्तमेव मूलतः पतनं, क्रियाशक्तेरल्पीयस्या अप्युद्गताया महत् कार्यं जातमित्याह परमविक्रमितातिवेपस्कन्धप्रवालविटपाविति, परमं विक्रमं प्रापितौ परमविक्रमितौ यथा भीमेन हनुमता वा बलाच्चाल्येत परमविक्रमितयोरिव योयमतिवेपः स्कन्धप्रवालविटपानां ययोः, स्कन्धस्य चलनमतिकठिनं ततोप्यल्पप्रवालानां पृथक्तया चलनमत्याश्चर्यं ताभ्यां युक्तानां विटपानां चलनमिति, किञ्च कृतश्चण्डः शब्दो याभ्यां, पाते महाञ् छब्दः, आसुरभावस्य वा नाशदशायां तदभिमानिनः शब्दः, एवमसुरनाशिकाया भगवक्रियाशक्तेर्माहात्म्यमुक्तम् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—भगवान से सम्बन्ध होते हुए भी पृथ्वी में सात्त्विक भाव आने से उसकी शुष्कता[2] मिट गई और उसमें आद्रता[3] आ गई जिससे जड़ से लेकर सबभाग ढीले पड गये । अतः बाल-रूप दामोदर भगवान् के टेढे ऊखल को खेंचते ही वे (वृक्ष) भी पीछे-पीछे खिच आए और बहुत शीघ्र ही उनकी जड़ें उखड़ पड़ीं और स्वयं दोनों वृक्ष गिर पड़े । भगवान् का दामोदर नाम सार्थक था, क्योंकि उस समय भगवान् का उदर[4] रज्जु[5] से बांधा हुआ था । इस लीला से यह बताया कि यह बालक साक्षात् भगवान् है कारण कि बालक के उदर से खेंचान छोटे पदार्थ की हो सकती है पर यहाँ तो स्थूल[6] ऊखल को खींचना था, रज्जु भी पतली थी जो कि जोर से खींचने से वह टूट जाती ये सब कारण बालक का साक्षात् भगवान् होना प्रमाणित करते हैं । इतने बड़े वृक्ष तो जड़ से उखड़ कर टूट गए किन्तु न रज्जु टूटी और न ऊखल फूटा (यह विशेष आश्चर्य कारक हुआ) उपपत्ति[7] बताते है कि रज्जु साधारण रज्जु नहीं थी किन्तु भगवान् स्वयं रज्जु रूप हो गए थे इसलिए रज्जु टूटी नहीं । ऊखल की भी भगवत्स्पर्श होने से आधिभौतिकता नष्ट हो गई थी और उसका आधिदैविक रूप हो गया था जिससे वह फूटा नहीं अतः इनके द्वारा वृक्षों का गिर पड़ना योग्य ही है । भगवान् ने अपनी अल्प[8] ही क्रिया शक्ति प्रकट की, जिससे इतना महत् कार्य सम्पन्न हुआ उसका वर्णन वृक्षों के इन दो विशेषणों से प्रकट करते हैं । अतिशय सामर्थ्य वाले भीम अथवा हनुमान के चलाने जैसा कम्पन हो वैसा कम्पन, जिनके तनों पत्तों और शाखाओं में हो रहा था । पेड़ के तने का चलना अति कठिन है उससे भी पत्तों का

१—घोर शब्द । २—सूखापन । ३—गीलापन । ४—पेट ।
५—रस्सी । ६—भारी । ७—सिद्धान्त या प्रमाण । ८—थोड़ीसी ।

दामोदर लीला

उनसे पृथक होकर चलना आश्चर्य कारक है और दोनों से इकट्ठी शाखाएँ भी हिल रही थीं। इस प्रकार कांपते हुए वृक्ष गिर पड़े जिनके गिरने का महान् शब्द हुआ अथवा भगवान् के सान्निध्य से उनका जो आसुर भाव नष्ट हुआ उस आसुर भाव के अभिमानी देवता का यह महान् शब्द था। इस प्रकार इस श्लोक में आसुर भाव को नाश करने वाली भगवान् की क्रिया शक्ति का माहात्म्य कहा है।

आभास----एवं तयोर्दोषपरिहारमुक्त्वा गुणमाह तत्रेति।

आभासार्थ--इस प्रकार उनके दोषों के नाश का वर्णन कर अत्र निम्न श्लोक में गुणों का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदाः।**
कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुः स्म।२८।

श्लोकार्थ----वहाँ इन दोनों वृक्षों में से मूर्त रूप अग्नि की तरह प्रकट होकर दिशा के प्रकाश से शोभित दोनों सिद्धों ने लोकों के नाथ श्रीकृष्ण के पास आकर मस्तक से प्रणाम किया और निर्दोष होने से हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे।

सुबोधिनी—**परमया श्रिया** दश दिशः स्फुरन्त्यो जातास्तावपि स्फुरन्तौ सन्तावुपेत्येतिसम्बन्धः, अस्यैव स्फुरच्छब्दस्य विभक्तिलिङ्गविपरिणामेन दिक्शब्देनापि सम्बन्धः, प्रकाशमानया तत्सम्बन्धिन्या वा कृत्वा तत्र देशे तयोर्वृक्षयोर्वा स्फुरन्तौ निर्गच्छन्तौ श्रिया विराजमानौ ततो निर्गतौ, ककुभः सम्बन्धि तेजो विद्युति दृष्टं, अत एव परमशोभात्वेन निर्दिष्टं, यथा दामोदरेण मोचनमेवं नग्नेनापि पीताम्बरतुल्यतेजःसम्पादनमित्यद्भुतच रित्रमुक्तं, निर्गमनात् पूर्वमेव यावदभीष्टं तावद् रूपं सम्पन्नमिति सिद्धौ, कुजयोर्वृक्षयोः सकाशादागत्य भगवन्निकटे, पूर्ववृत्तान्तज्ञानवतामपि भ्रममिवोत्पादयन्तौ ताविति दृष्टान्तेनाह जातवेदा इवेति, दृष्टान्तेपि द्वित्वमत्यन्तदुर्लभं, कुजयोररण्िद्वयरूपयोः सकाशाद् यथा श्रौतोग्निर्भवति, जातो वेदो यस्मात्, क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा वह्निरित्यर्थः, ततो भगवन्तं प्रणम्य पूर्वज्ञानस्य दार्ढ्याच् छिरसेति, साष्टाङ्गनमस्कारं भूमौ कृत्वा देवानामितरनमस्कारशङ्का भूमिसम्बन्धी शङ्कां च व्युदस्य बद्धाञ्जली भूत्वा भगवन्तं वक्ष्यमाणप्रकारेणोचतुः स्मेतिसम्बन्धः, शापविमोक्षे जातेपि भगवन्तमपृष्ट्वास्तुत्वा च न गन्तव्यं यतो भगवानखिललोकनाथः सर्वलोकाधिपतिः स्वयमेकलोकाधिपतेः पुत्रौ तदाज्ञाव्यतिरेकेण गते तस्मिँल्लोके स्थितिरपि न स्याद् भक्तिस्तु दूरे, अञ्जलिबन्धो विज्ञापनार्थः, तादृशयोः कथं भगवत्स्तोत्रेधिकार इत्याशङ्क्याह **विरजसाविति** अत्रासम्भावनाव्युदासाय स्मेतिप्रसिद्धिरुक्ता ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ--विशेष श्री से (प्रकाश या तेज से) दश दिशाएँ प्रकाशित हो गईं*

* श्लोक में 'स्फुरत्' शब्द पुल्लिंग और द्विवचन है इस के लिये आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि इस 'स्फुरत्' शब्द के लिङ्ग और विभक्ति का परिवर्तन करने से दिशा वाचक 'ककुभ्' शब्द से भी उसका सम्बन्ध हो सकता है। इसलिये उसके दो प्रकार से अर्थ होते हैं—जैसाकि १-प्रकाशमान होती हुई दिशा, अथवा २-तेज से सम्बन्धित दिशाओं के कारण तेज से शोभित। एक जगह 'ककुभः' प्रथमा का बहुवचन और दूसरी जगह ककुभः षष्ठी का एक वचन होता है।

वे दोनों भी यमलार्जुन वृक्ष में से तेज युक्त प्रकट होकर श्रीकृष्ण के पास गए और निम्न प्रकार से कहने लगे। दिशा के सम्बन्ध वाला तेज बिजली में दृष्टिगोचर होता है इस कारण ही उसको परम शोभा वाला कहा है। जैसे दामोदर मुक्त करते हैं, वैसे गुह्यक भी पीताम्बर के समान तेज सम्पादन करते हैं यह भगवान् का अद्भुत चरित्र कहा गया है।

वृक्ष में से निकलने के पूर्व जैसा रूप चाहते थे वैसा ही रूप प्राप्त हुआ। इसलिये श्लोक में इनको 'सिद्धौ' विशेषण दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि इन्होंने अपना कार्य सिद्ध कर लिया। दोनों वृक्षों से प्रकट होकर सीधे भगवान् के पास आए थे। पूर्व से पहचानने वालों को भी इनके इस प्रकार तेज युक्तरूप से भ्रम-सा हो गया कि ये वे नलकूबर-मणिग्रीव हैं या कोई दूसरे हैं ? क्योंकि इनका रूप वैसा प्रकाश स्वरूप देखने में आया, जैसे कि अरणी[1] के संघर्ष[2] से उत्पन्न यज्ञ की प्रकाश स्वरूप अग्नि हो। वहाँ भगवान् के समीप आने के पश्चात् प्रथम भगवान् को मस्तक से प्रणाम करने लगे। मस्तक से प्रणाम करने का आशय यह है कि उनको पूर्व ज्ञान दृढ़ था, वह नष्ट नहीं हुआ था। पृथ्वी पर स्थिति हो साष्टाङ्ग नमस्कार कर हाथ जोड़ के निम्न प्रकार से प्रार्थना करने लगे। देव दूसरों को नमस्कार नहीं करते हैं और न पृथ्वी पर पदार्पण[3] करते हैं। इन दोनों कार्यों का इन्होंने इसलिये तिरस्कार कर दिया कि भगवान् सर्वलोकों के अधिपति हैं और हम तो एक लोक के अधिपति के पुत्र हैं। शाप मुक्त हो गए हैं, तो भी भगवान् की स्तुति करने और आज्ञा लिए बिना कैसे चले जावें अर्थात् नहीं चलना चाहिये। इनकी आज्ञा के बिना चलने से उस लोक में भी स्थिति नहीं होगी। जब वहाँ ही स्थिति न होगी, तो भक्ति की प्राप्ति तो दूर रही। हाथ जोड़ने का भाव यह है कि हमारा कहना केवल कहना नहीं है किन्तु प्रार्थना है। ऐसे अहङ्कारियों को भगवान् की स्तुति का अधिकार कैसे प्राप्त हुआ ? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'विरजसौ' विशेषण दिया है जिसका तात्पर्य है कि इनमें से रजोगुण निकल गया है अतः ये अब निरहंकारी[4] हो गए हैं अतः इनको स्तुति करने का अधिकार है। विशेष में श्लोक में 'स्म' शब्द देकर यह भी बता दिया है कि इसमें किसी प्रकार की असम्भावना नहीं करनी चाहिये क्योंकि इनका अहंकार नष्ट हो गया है इनमें दीनता आ गई है यह बात प्रसिद्ध है गुप्त नहीं है ॥ २८ ॥

कारिक---**दशभिः प्राणभृच्छ्लोकैश्चक्रतुः स्तोत्रमुत्तमम् ।**
ज्ञानवैराग्ययोरत्र निर्णयः समुदीरितः ॥ १ ॥

कारिकार्थ----नल कूबर और मणिग्रीव अपने देव रूप को प्राप्त होकर भगवान् की दश श्लोकों से स्तुति करते हैं। आचार्यश्री उनका भावार्थ कारिकाओं द्वारा संक्षेप में बताते हैं।

१—एक प्रकार की लकड़ी। २—रगड़ने से। ३—पैर रखते हैं। ४—दीन।

कारिकार्थ—प्राण दश हैं इसलिये इन्होंने दश श्लोकों से स्तुति की हैं कारण कि किसीका यह मत है कि वृक्षयोनि में प्राण (यहाँ प्राण शब्द—इन्द्रियों का वाचक समझना चाहिये) नहीं है अतः उनकी प्राप्त्यर्थ यह प्रार्थना होने से दश श्लोकों में स्तुति की गई है । यहां (नवम तथा दशम अध्याय की संगति बताने के लिये) ज्ञान और वैराग्य का निर्णय अच्छे प्रकार से किया गया है ।। १ ।।

कारिका—**मूलरूपो भवान् पूर्वं जगद्रूपस्तथैव च ।**
मध्यरूप इति त्रेधा ज्ञानरूपो निरूपितः ।। २ ।।

कारिकार्थ—स्तुति करने (प्रथम श्लोक अर्थात् २६ वें) में मूलरूप आप हो यह वर्णन किया गया है । वैसे ही आप जगत्रूप (देह-इन्द्रियादि रूप भी) हो इसका वर्णन ३० वें श्लोक में किया है । इसी प्रकार मध्यरूप (महत्तत्त्व और प्रकृति आदि रूप) भी आप हो जिसका वर्णन ३१ वें श्लोक में करने में आया है । इसी प्रकार ज्ञानरूप भगवान् तीन तरह से वर्णित किये गये हैं। १—मूल रूप, २—जगद्रूप और ३—मध्यरूप से सद्रूप के वर्णन से चिद्रूप का भी निरूपण किया गया है ।। २ ।।

कारिका—**माहात्म्यज्ञापनार्थाय दुर्ज्ञेयत्वं च वर्णितम् ।**
सर्वरूपोपि सर्वस्मिन् गृह्यमाणैर्न गृह्यते ।। ३ ।।

कारिकार्थ—इस कारिका के पहले अर्द्ध में ३२वें श्लोक के उत्तरार्ध का अर्थ कहा गया है कि भगवान् दुर्ज्ञेय[1] है यह उनका दुर्ज्ञेयपन महात्म्य जताने के लिए कहा है । कारिका के उत्तरार्द्ध में ३२ वें श्लोक में पूर्वार्द्ध में योगी भी भगवान् को ग्रहण नहीं कर सकते हैं इसका आशय बताते हुए कहा है कि भगवान् सर्वरूप हैं और सब में हैं तो भी सर्व पदार्थ ग्रहण होते हुए भी आपको कोई ग्रहण नहीं कर सकता है ।। ३ ।।

कारिका—**आध्यात्मिकस्ततो नायं भौतिकोपिततो न हि ।**
दैविकत्वेन सर्वः स्यात् द्वयं तस्माच्च जायते ।। ४ ।।

कारिकार्थ—सर्व पदार्थ तो ग्रहण किये जा सकते हैं किन्तु पुरुषोत्तम को ग्रहण नहीं कर

१—जिसका समझना कठिन हो ।

सकते हैं इस कारण से यह (श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम) न, आध्यात्मिक हैं और न आधिभौतिक हैं ये दोनों आध्यात्मिक और आधिभौतिक उस आधिदैविक से प्रकट होते हैं। अतः आध्यात्मिक और आधिभौतिक भिन्न वस्तु नहीं हैं किन्तु आधिदैविक रूप से ही सब है। यह ३०वें श्लोक में कहा है, ३१वें श्लोक में आध्यात्मिक रूप का कर्त्ता भी वही है और ३२वें श्लोक में आधिभौतिक का कर्त्ता भी इसको ही कहा है ॥ ४ ॥

कारिका—**अतः सर्वत्वकर्तृत्वे ज्ञानभक्ती फलिष्यतः ।**
अतो ज्ञानं निरूप्यादौ भक्तिमाहतुरुत्तमाम् ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—पुरुषोत्तम, सर्व रूप और सर्व आधिभौतिक और आध्यात्मिक के कर्ता हैं, इनसे ज्ञान और भक्ति की प्राप्ति होगी। इसलिए पहले ज्ञान का निरूपण कर प्रश्चात् उत्तम भक्ति को कहते हैं। ३०वें श्लोक का यह तात्पर्य है कि एक ब्रह्म के ज्ञान से सब का (सब पदार्थों और रूपों का) ज्ञान हो जाता है। ३१वें व ३२वें श्लोकों में कहे गये अर्थ के ज्ञान से भक्ति की प्राप्ति होती है। इन श्लोकों से भगवान् के स्वरूप का निर्णय हुआ है। भगवान् का (आधिदैविक) स्वरूप सर्व (आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक) रूपों से लिप्त होने के कारण प्रकाशित नहीं होता है क्योंकि आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूप सद् रूप हैं तो भी ज्ञान को आच्छादन[1] करते हैं। ज्ञान के आच्छादित होने से आधिदैविक स्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता है। भगवान् काल रूप से ईश्वर रूप से अथवा प्रकृति रूप से कर्ता हैं और अक्षर रूप से सर्व रूप है। कर्तृ रूप से भक्ति एवं अक्षर रूप से ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

कारिका—**अनेनैव च वैराग्यं ज्ञानाजनकता यदि ।**
तदा सर्वं परित्याज्यमन्यथा स्याद् विनाशनम् ॥ ६ ॥

कारिकार्थ—ज्ञान के वर्णन करने से वैराग्य का भी निरूपण किया गया है। भगवान् सर्व रूप हैं यदि इससे ज्ञान उत्पन्न न होवे तो सर्व का त्याग करना चाहिए, अर्थात् सबसे राग[2] निकाल लेना चाहिए। जो ज्ञान के अभाव में सब में से आसक्ति भी नहीं निकाली तो नाश (अधः पतन) होता है ॥ ६ ॥

कारिका—**भक्तिसिद्ध्यं तु यज् ज्ञानं श्लोके षष्ठे निरूप्यते ।**
अन्यथाभावशङ्काया व्यावृत्त्यर्थं भवान् परः ॥ ७ ॥

१—ढक देते हैं। २—प्रेम और आसक्ति।

कारिकार्थ—भक्ति की सिद्धी हो उसके लिए, जिस ज्ञान की आवश्यकता है उसका वर्णन इस स्तोत्र के छठे श्लोक (१०वें अध्याय के ३४वें श्लोक) में किया गया है श्लोक ३५वें में श्रीकृष्ण मनुष्य नहीं है· किन्तु ब्रह्म ही है इसको 'पर' विशेषण से सिद्ध किया है। जिससे इस प्रकार की (कृष्ण के मनुष्यत्व की) शङ्का को निर्मूल बना दिया है ॥ ७ ॥

कारिका---**भगवन्तं नमस्कृत्य गमनप्रार्थना कृता ।**
तदयुक्तं भक्तिमतामिति भक्तिस्तु षड्गुणा ॥ ८ ॥

कारिकार्थ—इस कारिका में श्लोक ३६वें, ३७वें व ३८वें में वर्णित विषय का सार बताया है जैसा कि ३६वें श्लोक में भगवान् को नमस्कार की है, ३७वें श्लोक में जाने के लिए प्रार्थना की है और ३८वें श्लोक में भक्ति के प्रकार (छ अंग) एवं उसकी प्राप्ति की प्रार्थना की है। (अर्थ) भगवान् को नमस्कार कर जाने की प्रार्थना की है। भक्ति वालों को यों करना योग्य नहीं है इस प्रकार की शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि भक्ति छ गुण वाली है इसलिए यों करना भक्ति मार्ग में अयोग्य नहीं है ॥ ८ ॥

कारिका—**भक्तैः सहैव सा कार्या परोक्षेणैव सिध्यति ।**
गुप्तो रसस्तदो द्बुद्धो रसतां याति नान्यथा ॥ ९ ॥

कारिकार्थ—भक्ति की सिद्धि[1] के लिए, वह छः गुण वाली भक्ति, भक्तों के साथ और भगवान् के परोक्ष में करनी चाहिए। जब इस प्रकार भक्ति की जाती है तब गुप्त रस जाग्रत हो कर रसिकता को प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से (भगवान् के सान्निध्य में वा भक्तों के सङ्ग बिना अकेला भक्ति करने से) नहीं ॥ ९ ॥

कारिका--**गुणप्रधानभावत्वमेकत्र हि विरुध्यते ।**
अतोत्र भगवाँल्लीलां स्वयं कर्तुं समुद्यतः ॥ १० ॥

कारिका---**स्वस्यैव रसभोगार्थं परार्थं वेत्यनिर्णयः ।**
ताभ्यां विमोचनं नैव शक्यं पक्षद्वयेपि हि ॥ ११ ॥

कारिकार्थ—इन दोनों कारिकाओं में बताते हैं कि भगवान् दो प्रकार से लीला करते हैं।

१—प्राप्ति ।

एक लीला में भक्तों की प्रधानता होती है। दूसरी लीला में भगवान् की प्रधानता होती है। भगवान् गोकुल में जो लीला करते हैं उन लीलाओं में भगवान् की गौणता और भक्तों की प्रधानता है। एक ही स्थल पर दो प्रकार की (गौण और प्रधान) लीला करने में विरोध होता है अतः नल कूबर गोकुल की लीला के अधिकारी न होने से व्रज भक्तों के साथ भक्ति नहीं कर सकते थे इसलिए उन्होंने जाने की प्रार्थना की है। यहाँ (गोकुल में) भगवान् अपने लिए ही अपने रसभोगार्थ अथवा दूसरों को (व्रज भक्तों को) रस दान करने के लिए लीला करने का स्वयं उद्यम करते हैं इसका निर्णय वे (नल कूबर और मणिग्रीव) नहीं कर सकते थे। दोनों पक्ष ग्रहण करने से भी वे भगवान् को ऊखल से मुक्त नहीं कर सकते थे इन कारणों से भगवान् को ऊखल में बन्धा हुआ ही छोड़ कर चले गए॥ १०-११ ॥

आभास--पूर्वस्मृतिः सन्दिग्धेति तन्निर्णयार्थं भगवानागत इत्युक्तं, सा स्मृतिः सर्वलोकप्रसिद्धा भवत्विति कृष्णस्वरूपं ज्ञातं निरूपयतः, "ज्ञानी प्रियतमोतो म" इतिवाक्यात्, अन्यथा सर्वैव स्तुतिर्विरुध्यते।

आभासार्थ—नलकूबर और माणिग्रीव को पूर्व ही स्मृति है ? वा नहीं, इस प्र कार का संदेह था, उस सन्देह के निर्णयार्थ भगवान् स्वयं वृक्षों के पास पधारे। उनकी वह स्मृति सर्व लोक में प्रसिद्ध रहे इसलिए ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्यारे हैं। २५वें श्लोक में कहे हुए इस वाक्य के अनुसार वे दोनों निम्न श्लोक में बताते हैं। कृष्ण के स्वरूप का ज्ञान हमें है यह यदि नहीं बतावें तो सकल स्तुति का विरोध दीखने में आवे।

॥ नलकूबरमणिग्रीवावूचतुः ॥

श्लोक--**कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः।**
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रुपं ते ब्रह्मणो विदुः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ---नलकूबर व मणिग्रीव ने कहा, हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगी ? आप आद्य तथा पुरुष एवं पर हो, ज्ञानीजन प्रकट तथा अप्रकट यह विश्व आपका रूप है, यों वेद से जानते हैं।

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं पुरुषोत्तमो भवानित्याहतुः कृष्णकृष्णेति, आदरे वीप्सा, कृष्णः सदानन्दः, स एव कृष्णनामा च, उभयविधाज्ञाननिवृत्त्यर्थं वा तथोक्तं, आकृत्या चेष्टया च नावयोर्भ्रम इत्याहतुर्महायोगिन्निति, लौकिका अपि नानायोगचर्यायां प्रवृत्ता हीनभावं न प्राप्नुवन्ति कुतः पुनर्निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः ? अतो नामरूपे वर्णनीयेर्थे न बाधके, आद्य इति, मूलभूतत्वमेव महत्त्वं, सर्वैर्हि स्वापेक्षया महत्त्वं ज्ञातव्यं, आद्यस्तु तथा आद्यत्वं मतान्तरेचेतनस्यापि सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह पुरुष इति, साङ्ख्यतुल्यतामाशङ्क्याहतुः पर

इति, पुरुषोत्तम इत्यर्थः, निराकारपक्षनिवृत्त्यर्थं पुरुषपदं तस्मिन् पक्षेयं विकृतो भवेदेव, परः कालादीनामपि निन्यता, एवं भगवतो मूलरूपत्वं निरूप्य कार्यरूपाभावे मूलरूपत्वं नोपपद्यत इति कार्यस्य चान्यथात्वे तस्य गौणत्वमविकृतत्वमसङ्गित्वं च विरुध्यत इति कार्यरूपमपि त्वमेवेत्याहतुर्व्यक्ताव्यक्तमिदमिति, इदं सर्वमेव जगद् द्विरूपमेव भवति कालेनापरिगृहीतमव्यक्तं भवति परिगृहीतं व्यक्तं भवति, आकाशपरमाण्वादीनामपि व्यक्ततेति केचित्, तदा सर्वमेव जगत् कालादितृणस्तम्बान्तं व्यक्तमव्यक्तं च भवति, अवयुत्यानुवादो वा, उभयथापीदं जगत् तवैव रूपं, अत्र प्रमाणमाहतुर्ब्रह्मणो विदुरिति, ब्राह्मणो वेदात्, ब्राह्मणा इति वा, ते ब्रह्मण इति वा, तदा सर्वा एव श्रुतयः प्रमाणमित्युक्तं भवति, रूपमिति स्वरूपं निरूपकं वा ।। २९ ।।

व्याख्यार्थ--प्रारम्भ में ही कहते हैं कि आप स्वरूप से सदानन्द हो, इसलिये कृष्ण हो और वही सदानन्द स्वरूप आप कृष्ण नामधारी बने हो। इस भाव को बताने के लिए श्लोक में कृष्ण! कृष्ण! दो बार कहा है और आदर भाव दिखाने के लिए भी कृष्ण दो बार कहा गया है। अथवा आपके नाम और स्वरूप का हमको ज्ञान है इसको बताने के लिए भी दो बार कृष्ण कहा है। श्लोक में कहे हुए 'महायोगिन्, का भाव प्रकट करते हैं कि आपकी आकृति का आकार और चेष्टा करनी मनुष्यों जैसी दीखती है तो भी हमको यह भ्रम नहीं होता है कि आप ब्रह्म नहीं हो और मनुष्य हो। क्योंकि आप योगी नहीं हो किन्तु महायोगी हो। जब लौकिक योगी भी अनेक प्रकार की क्रिया करते हुए हीन भाव को प्राप्त नहीं होते हैं तो आप फिर दोष-रहित पूर्ण गुणाकृति महायोगी कैसे हीन भाव को प्राप्त होंगे कदापि नहीं। अतः आपके स्वरूप और गुण वर्णन में नाम और रूप किसी प्रकार बाधक नहीं हो सकते हैं। आप सब से प्रथम हो अर्थात् आदि हो यह मूलभूतपता ही आपका महत्त्व है। प्रत्येक यह जानता है कि जो हमारा आदि मूल है वह हमसे महान् है इस प्रकार जानना ही चाहिये। किसी के सिद्धान्त में जीव भी आद्य है, किन्तु जीव आद्य (मूल) नहीं है इसलिये 'पुरुष' कह कर जीव के आध्या होने का निषेध किया है। पुरुष शब्द से कोई सांख्य सिद्धान्त में कहे हुए पुरुष के समान आप यह कृष्ण हैं इस शंका को मिटाने के लिये कहा है कि आप 'साङ्खाप्रोक्त' पुरुष नहीं हो। किन्तु 'पर' हो अर्थात् पुरुषोत्तम हो। पुरुष पद का दूसरे प्रकार से भाव बताते हैं कि कोई कहते हैं कि भगवान् निराकार है किन्तु भगवान् निराकार नहीं है साकार है इसकी पुष्टि करने के लिये 'पुरुष' पद दिया है। यदि भगवान् साकार होंगे तो विकारी होंगे। इस भ्रम के निवारण के लिए 'पर' पद दिया है कि वे 'पर' होने से कालादिकों के भी नियामक हैं जिससे कालादिकृत विकार उनमें नहीं आ सकते हैं। इस प्रकार भगवान् के मूलरूप (आद्य-कारणरूप) का वर्णन किया। कोई भी तत्व कारण रूप तब हो सकता है जब उसका कार्यरूप भी हो और यदि कार्य कारण से अन्य प्रकार का (विकारी, झूठा वा पृथक्,) हो तो कारण रूप (मूलरूप) भी वैसा ही होना चाहिये यों नहीं है। जैसा कारण वैसा ही कार्य है कारण आप हो और कार्य (विश्व) आप ही हो यह बताने के लिये श्लोक में कहा है कि यह प्रकट और अप्रकट विश्व (जगत्-कार्यरूप) आपका ही रूप है। इस समग्र जगत् के दो रूप हैं। १--व्यक्त (प्रकट) २--अव्यक्त (गुप्त) जिस रूप को काल ने घेर लिया है वह व्यक्त है और जिसको काल ने नहीं घेरा हे वह अव्यक्त है। कोई कहते हैं कि आकाश और परमाणु

आदि भी व्यक्त हैं। तब तो समग्र जगत् काल से लेकर तिनके पर्यन्त व्यक्त और अव्यक्त होगा। अथवा यहाँ भिन्न-भिन्न कहा है। दोनों प्रकार* का होते हुए भी यह सारा जगत् आपका ही रूप है। नलकूबर व मणिग्रीव अपने कथन का प्रमाण देते हैं कि इस प्रकार वेद से सब जानते हैं अथवा ब्राह्मण जानते है कि यह जगत् ब्रह्म का रूप है। इससे यह कहा है कि सर्व श्रुतियाँ प्रमाण हैं। रूप का अर्थ है स्वरूप अथवा निरूपण किया जा सकने वाला है॥ २९॥

आभास—एवं सर्वरूपत्वं भगवतो निरूप्याधिदैविकप्रकारेणापि सर्वरूपत्वमाहतुस्त्वमेक इति।

आभासार्थ—इस प्रकार के सब भगवान् के ही रूप हैं यह निरूपण (वर्णन) कर अब आधिदैविक प्रकार से भी वे (परमात्मा श्रीकृष्ण) सर्व रूप हैं यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः।**
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः॥ ३०॥

श्लोकार्थ—आप एक ही सर्व भूतों (प्राणिमात्र) का देह, प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ तथा जीव हो भगवान् काल, विष्णु, अव्यय और ईश्वर भी आप हो।

सुबोधिनी—तत्तदाधिदैविकानां भेदो भविष्यतीत्याशङ्क्याहतुरेक इति, देवादीनामुक्तमत्वात् आधिदैविकत्वमस्तु कृमिकीटाधि दैविकत्वं तु न भविष्यतीत्याशङ्क्याहतुः **सर्वभूतानामिति**, आब्रह्मतृणस्तम्बान्तजातिभेदानां देहा असवः प्राणा आत्मान्तःकरणमिन्द्रियाणीश्वरो जीवः, स्वात्मा जीवो वा, इन्द्रियपदेन प्राणाः, इन्द्रियाण्यन्तःकरणं च, ईश्वरोन्तर्यामी, आधिभौतिकादीनामीश्वरो वा, देहद्वयसहितजीवस्य वा, नियामकत्वपक्षे भिन्नतया कालादीनामपि तथात्वमिति कालादिरूपतामाहतुस्त्वमेव काल इति, कालो भगवच्चेष्टेति केचिद्, वस्तुतस्तु **त्वमेव कालः**, तत्र हेतुमाहतुर्भगवानिति, ऐश्वर्यं सर्वस्यापि कालकृतमेवेति काल एवेश्वर, तथा बलमपि, तारुण्य एव बलं, तपोयोगादिभिरपि कालपुष्टैरेव बलं, सिध्यति, यशोपि काल एव, न हि सर्वदा कस्यचिद् यशो भवति, एवमन्येपि गुणाः, कालान्वयव्यतिरेकात् काल एव षड्गुणहेतुरिति गम्यते, ननु कालस्तु विष्ण्वात्मकः, यो हि व्यापको भवति स कलयति न हि योयं व्याप्तुं न शक्नोति स कलयति, अतो विष्णुरेव कालो नान्य इत्याशङ्क्याहतुर्विष्णुरिति, त्वमेव विष्णुराधिदैविकः कालो यज्ञरूपो वा पालको वा सत्त्वात्मकः, तस्य भिन्नत्वे भगवतस्तदधीनत्वं स्यात्, अव्ययोक्षरमपि त्वमेव, अन्यथा भगवतः समवायित्वं न स्यात्, अक्षरमेव हि समवायिकारणं प्रकृतिपुरुषोपादानत्वात्, "सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वं" इति सर्वत्वमन्यथाप्युपपद्यते, वस्तुनः परिच्छेदकत्वं न सर्ववादिसम्प्रतिपन्नं अतोक्षरो भगवानेवेश्वररूपमप्यन्तर्यामिरूपं भिन्नरूपं वाधिकारित्वेन निर्दिष्टं यस्यासाधारणो धर्मं ऐश्वर्यं भवति॥ ३०॥

---

*गो० श्रीवल्लभजी 'लेख' में कहते हैं कि दो मत हैं—पहिले मत में जगत् किसी समय व्यक्त और किसी समय अव्यक्त होता है, दूसरे मतमें कहा गया है कि जगत् के कितने ही पदार्थ तो व्यक्त हैं और कितने ही अव्यक्त हैं। दूसरे मत के अनुसार व्यक्त और अव्यक्त इकट्ठा करने के बिना भी ये सर्व व्यक्त और अव्यक्त आप के ही रूप हैं।

व्याख्यार्थ––पदार्थ पृथक् पृथक् हैं अतः उनके आधिदैविक रूप भी भिन्न-भिन्न होंगे इस शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'त्वमेकः' सबों का आधिदैविक रूप एक आप ही हैं। देवता उत्तम हैं। अतः उनके आधिदैविक भले आप भगवान् हो किन्तु कृमि कीटादिकों का तो आधिदैविक रूप भगवान् नहीं हो सकते हैं ? इस पर श्लोक में कहते हैं कि ('सर्व भूतानां') सब भूतों का अर्थात् ब्रह्मा से लेकर तिनके पर्यन्त जितने भी जो कुछ हैं उनके देह, प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ, ईश्वर जीव अथवा स्वात्मा 'इन्द्रिय' पद से प्राण व अन्तःकरण समझने चाहिये। ईश्वर पद से अन्तर्यामी समझना, आधिभौतिकादिकों के ईश्वर अथवा दोनों देहसहित* जीव को ईश्वर समझना चाहिये (ये सब रूप आप ही हो)। जिस मत में ईश्वर को नियामक माना जाता है और काल आदि को आप से (भगवान् से) पृथक् समझ कर ईश्वर कहा जाता है। वह मत अपूर्ण है क्योंकि कालरूप भी आप ही हो। कोई कहते हैं कि 'काल' भगवान् की चेष्टा रूप है (इच्छा का रूप है) वास्तविक तो वह चेष्टा रूप काल भी आप ही हो क्योंकि आप भगवान् हो। सबों में जो कुछ ऐश्वर्य देखने में आता है वह काल ने ही किया (दिया) है। अतः काल ही ईश्वर है। सबों में जो बल है वह भी काल-दत्त है जैसाकि बल युवावस्था (जवानी) में ही होता है। तपस्या और योगादि से भी बल तब प्राप्त होता है जब काल भगवान् उसको सफलता देता है। यश की प्राप्ति भी काल-द्वारा होती है यदि काल द्वारा न होती हो तो यश सदैव रहना चाहिये। वह सदा किसी का भी नहीं रहता है। इसी प्रकार दूसरे गुण भी (श्रीज्ञानादिभी) काल-कृत हैं। काल अन्वय$ और व्यतिरेक† से ऐश्वर्यादि षड्गुणों का कारण है।

यदि यह शंका होवे कि जो सबको अपना ग्रास बनाता है वह काल है, और वह सर्वव्यापक हो तब ही बन सकता है इसलिये 'विष्णु' जो सर्वव्यापक है वह काल है। यह 'श्रीकृष्ण' नहीं है क्योंकि यह (श्रीकृष्ण) सर्वव्यापक नहीं है इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में श्रीकृष्ण के लिये तीन विशेषण—१–विष्णु, २–अव्यय और ३–ईश्वर दिये हैं। 'विष्णु' विशेषण देकर यह समझाया है कि वह व्यापक विष्णु यज्ञ रूप, पालक रूप तथा सतोगुणी आधिदैविक आप ही हो यदि वह (विष्णु) आप (श्रीकृष्ण) न हो तो वह आपसे पृथक् अन्य कोई होता तो उसका आपके ऊपर आधिपत्य होनी चाहिये थी। वह तो है नहीं आप स्वतंत्र हो अतः विष्णु भी आप ही हो इतना ही नहीं किन्तु आप इस मनुष्याकृति धारण करते हुए भी अव्यय[1] अक्षर रूप हो जो

---

* देह, स्थूल शरीर, इन्द्रियाँ सूक्ष्म शरीर 'स्वात्मा' यहाँ जीव का ईश्वर कहते हैं। 'लेख'

$ अन्वय—जिस के होने से वह वस्तु हो उसको अन्वय कहते है।

† व्यतिरेक—जिसके न होने से वह वस्तु न हो उसको व्यतिरेक कहते हैं। यहाँ काल के होने से ऐश्वर्य आदि गुण हो तो वह अन्वय है, काल के न होने से वे नहीं हों तो वह व्यतिरेक है।

१—अविकारी

अक्षर रूप आप न होते तो सबका समवायि कारण भी न हो सकते थे । प्रकृति और पुरुष अक्षर रूप आपसे ही प्रकट हैं । वे ही जगत् के समवायि कारण हैं । दूसरे प्रकार से सब में व्याप्त हो कर रहते हो इसलिये सर्व रूप भी आप हो (भगवद्गीता ११-४० सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व:) पदार्थ परिच्छेद[1] वाले होते हैं इस को सब वादी नहीं मानते हैं अतः भगवान् ही अक्षर है । भगवान् के ही अन्तर्यामी रूप से तथा दूसरे रूप से ईश्वर रूप का भी अधिकारी रूप से वर्णन किया गया हैं और उस (ईश्वर रूप) का असाधारण धर्म ऐश्वर्य है ॥ ३० ॥

आभास--एवमाधिदैविककालादिरूपत्वं निरूप्याध्यात्मिकत्वमाधिभौतिकत्वं च निरूपयितुं मध्यमभावं निरूपयति त्व महानिति ।

आभासार्थ—इसी प्रकार आप ही आधिदैविक काल आदि रूप हो इस का वर्णन कर, आध्यात्मिक और आधिभौतिकत्व भी आप हो । इसको सिद्ध करने के लिये मध्यम भाव (आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक रूप धारण करने) के लिए आधि दैविक ने कौन कौन रूप धारण किए-यह भाव मध्यम भाव है उस का निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक--**त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी ।**
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ--आप ही महान्, प्रकृति, सूक्ष्म (प्रकृति) और रजोगुण, सतोगुण एवं तमोगुण वाली प्रकृति हो । आप ही पुरुष, अध्यक्ष और समस्त क्षेत्रों के विकारों को जानने वाले हो ।

सुबोधिनी—सर्वस्यापि जगतो-ङ्कुरभूतो महान्, तस्यापि क्षेत्ररूपं **प्रकृतिः**, तस्या अपि कार्योत्पत्ति-साधारणरूपं योनिवद् या **प्रकृतिः** सा **सूक्ष्मा**, तस्या अपि मूलभूता गुणाः, **तन्मय्याधिदैविकी प्रकृतिर्गुणाश्च** त्वमेव, एवं पञ्चरूपत्वमुक्तं, एवं योनिरूपत्वमुक्त्वा बीजरूपत्वमाहतुस्त्वमेव **पुरुष** इति, तस्याः प्रकृतेः पुरुषस्तस्यास्तावत्त्वसम्पादकः, **अध्यक्षः** साक्षी, साक्षिरूपं भिन्नमितिसिद्धान्तः, **क्षेत्रज्ञश्च** तथा क्षेत्राभिमानी जीवः सोपि क्षेत्रज्ञो भवति, क्षेत्रं जानातीतिव्युत्पत्त्या यः क्षेत्रज्ञः स मुख्यो भवान्, एतावता यत्रैव प्रमाणप्रवृत्तिः केनापि प्रकारेण तदेव भवानित्युक्तं भवति ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ--समस्त जगत् का अंकुर रूप महान् महत्तत्त्व है । प्रकृति उस (महत्तत्त्व) का क्षेत्ररूप है सूक्ष्म प्रकृति योनि के समान कार्य के उत्पत्ति का साधारण रूप है, उस सूक्ष्म प्रकृति की मूल (जड़) सत्वादि तीन गुण हैं उन गुणोंवाली आधिदेविकी प्रकृति और गुण आप ही हैं । इस

१—सीमा

प्रकार भगवान् (श्रीकृष्ण) के मध्यम भाव में पंचरूपपना दिखाया है। ये पांचोरूप योनिरूप (कारणरूप) कह कर अब बीजरूप (मूल कारण) कहते हैं आप ही पुरुषरूप हैं, उस प्रकृति में इतनी शक्ति (उत्पत्ति आदि कार्य करने की सामर्थ्य) का सम्पादन आप ही हैं। जो अध्यक्ष (साक्षी) है वह भी आप हो हो साक्षी* रूप पृथक् है। यद्यपि देह (क्षेत्र) का अभिमानी होने के कारण से जीव को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है किन्तु क्षेत्रज्ञ शब्द के अर्थ क्षेत्र के स्वरूप को जो जानता है वह मुख्य-क्षेत्रज्ञ आप हो। आप ही सर्व पदार्थों के आधिदैविक आध्यात्मिक आधिभौतिक रूप हो। इसलिये जहाँ किसी भी प्रकार से शास्त्र के प्रमाण की प्रवृत्ति है वह ही आप हैं। अर्थात् शास्त्र प्रमाणानुसार सब कुछ आप ही हैं॥ ३१ ॥

आभास––तत् प्रमाणं श्रुतिरेव न तु प्रत्यक्षमित्यलौकिकत्वसम्पादनार्थं भगवतः प्रत्यक्षग्राह्यत्वं निराकरोति गृह्यमाणैरिति ।

आभासार्थ—सर्व महान् प्रकृति आदि भगवान् (आप) ही हैं इसका प्रमाण श्रुति है न कि प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि भगवान् अलौकिक हैं। अलौकिक का ज्ञान प्रत्यक्षादि से नहीं हो सकता है। यह निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक––**गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः ।**
कोन्विहार्हति विज्ञातुं प्राक् सिद्धं गुणसंवृतः ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ----इन्द्रियों से जो ग्रंहण किये जा सकते हैं ऐसे प्राकृत विकार वाले गुणों से वा पदार्थों से आपका ग्रहण नहीं हो सकता है। क्योंकि गुणोंकर के आवृत्त कौनसा मनुष्य है जो सबकी उत्पत्ति से प्रथम स्वतः सिद्ध (आपको) जान सके ? (कोई नहीं जान सकता है।)

सुबोधिनी— गृह्यमाणैर्घटपटादिभिः कृत्वा त्वमग्राह्यः, तद्रूपोपि तैर्गृहीतैर्न गृहीतो भवसि, न वा तैः सह, तेषां धर्माणां त्वदाश्रयाणां धर्म्याश्रयसहभाननियमात्, तत्रहेतुर्विकारैरिति, विकारे हि प्रकृतिर्न प्रतीयते यथा सन्निपाते, तत्र प्राकृतस्तिरोभवति, स्वप्रकाशमेव हि जडैः सह भासते यथा ज्ञानं विषयैः, तथा भगवानपि विषयान् प्रकाशयन् विषयैः सह कुतो न भासत इति चेत् तत्राहतुः प्राकृतैरिति, प्रकृतिर्हि जडा पुरुषाच्छादिका, प्रकृतौ प्रविष्टं पुरुषं न प्रकाशयाति तथा प्राकृतैरपि तत्र स्थितो भगवानाच्छाद्यत इति न भगवान् गृह्यते, ज्ञानं त्वन्यनिष्ठं, ननु पुरुषो भगवान् प्रकृति स्त्रियमुपमर्द्य कथं न प्रकाशत इत्याशङ्क्याहतुर्गुणैरिति, गुणा हि बंधका रञ्जकाश्च, अतः प्रकृतौ प्रविष्टस्तद्गुणानुरक्तस्तद्गुणैर्वशीक्रियत इति तैः सह न प्रकाशते, ननु गुणाः साम्प्रतमेव

* शरीर में जो सात्विक रूप है वह अन्तर्यामी है। —'प्रकाश'

जाता भगवांस्तु मूलभूत इति गुणक्षोभात् पूर्वमेव ज्ञात्वोलरत्रापि तदनुवृत्तिः कथं न क्रियत इत्याशङ्क्य तत् परिहरन्तौ भगवांस्तथैव करोतीत्यत्र हेतुं वदन्तौ तादृशस्य भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वमाहतुः कोन्विहार्हतीति, इहास्मिन् संसारे, न्वितिवितर्के, पश्चादुद्भुतः को वा प्राक्सिद्धं गुणक्षोभात् पूर्वस्थितं विज्ञातुमिदमित्थतया द्रष्टुमर्हति ? अपि तु न कोपि, नन्वयमप्यात्मत्वान्नेदानीं सिद्धः कुतो नार्हतीती चेत् तत्राहतुर्गुणासंवृत इति, गुणैर्वेष्टितः गुणा हि पूर्वबुद्धिं दूरीकृत्य स्वरूपमप्यावृनवन्तः, अतो ज्ञातृज्ञेययोरावरणान्न ज्ञानं सम्भवति ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ—घट पट आदि सर्व पदार्थ आपके ही रूप हैं चक्षु से उनका तो ज्ञान हो जाता है किन्तु आपका ज्ञान उनके साथ नहीं होता है और न पृथक् भी होता है। नियम तो यह है कि जिन धर्मों का जो आश्रय होता है जैसे आप इन धर्मों का आश्रय हो, तो उन पदार्थों (धर्मों) का धर्मी और आश्रय के साथ ज्ञान हो जाता है। उस नियम के विरुद्ध भगवान् (आप) का ज्ञान नहीं होता है उसका कारण बताने के लिए श्लोक में 'विकारैः' पद दिया है। वे पदार्थ विकारी हो गए हैं अतः उनके साथ पृथक् आपका ज्ञान नहीं होता है। इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य को जब सन्निपात का रोग होता है तब उसकी प्रकृति* का ज्ञान नहीं होता है। वहां (विकार होने से) प्राकृत का तिरोभाव हो जाता है। अर्थात् स्वभाव छिप जाता है।

जिस प्रकार ज्ञान, विषयों के साथ प्रकाशित होता हैं उसी प्रकार, जिससे अपने विषयों का प्रकाश होता है, वैसा ही ज्ञान जड़ पदार्थों के साथ भासता है। तथा भगवान् भी विषयों को प्रकाश करते हुए विषयों के साथ क्यों नहीं भासते हैं ? इस शंका को मिटाने के लिए श्लोक में 'प्राकृतैः' पद दिया है जिसका आशय है कि प्रकृति जड़ है वह पुरुष का आच्छादन करती है। प्रकृति में प्रविष्ट (जड़ के भीतर गए) पुरुष को प्रकाशित नहीं करती है। वैसे ही प्राकृत पदार्थों में स्थित भगवान् को भी वे पदार्थ आच्छादित कर (ढक) देते हैं इससे भगवान् का ग्रहण नहीं हो सकता है। ज्ञान तो दूसरों में रहता है। प्रज्ञान का पदार्थों से संयोग अथवा समवायि सम्बन्ध न होने से पदार्थ उनको आच्छादित नहीं कर सकते हैं।

भगवान् पुरूष है, प्रकृति स्त्री है तो भगवान् उसको दबाकर क्यों नहीं प्रकाशित होते हैं इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'गुणैः' शब्द दिया है। गुण बन्धन-कर्ता और प्रेम करने वाले होते हैं। इस कारण से जो प्रकृति में प्रविष्ट होता है उसको प्रकृति के गुण प्रेम से वश कर लेते हैं जिससे उनके साथ प्रकाशित नहीं होते हैं।

गुण तो अब उत्पन्न हुए हैं और भगवान् तो सब से पहले ही होने से मूल भूत हैं। तब

---

* प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। जल स्वभाव से स्वच्छ होता है परन्तु जो उसमें मिट्टी आदि से विकार हो जाय तो नदी का तल (पेंदा) देखने में नहीं आता है, स्वच्छ हो तो देखने में आ जावे।—'लेख'

इसी प्रकार पदार्थ, घट पट, नेत्र आदि विकृत होने से नजर नहीं आते हैं, उसी प्रकार भगवान् का ज्ञान नहीं होता है—'अनुवादक'

तो गुणों के क्षोभ[1] से पहले ही जीव को भगवान् का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये था और सदैव उसकी अनुवृत्ति[2] करना चाहिये था। इस शंका को मिटाने के लिये आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान् इसी प्रकार करते हैं। क्योंकि इसी प्रकार करने वाले (भगवान्) भक्ति मार्ग के प्रवर्तक हैं। जिसको उत्तरार्द्ध से समझाया गया है कि जगत् में पीछे उत्पन्न हुआ ऐसा कौन है जो गुणक्षोभ से पहले विद्यमान को पूर्ण रीति से जान सके ? कोई भी ऐसा नहीं है।

दूसरे उनको नहीं जान सके, किन्तु जीव तो अनादि आत्मा है, अब उत्पन्न नहीं हुआ है, वह क्यों नहीं उसको जानने के योग्य है ? इस शंका के निवारणार्थ श्लोक में 'गुण संवृतः' 'गुणों से आवृत'[3] होने से वह भी नहीं जान सकता है। क्योंकि गुण पूर्वबुद्धि (पहले ज्ञान) को हटा कर स्वरूप को भी आच्छादान कर देते हैं अतः ज्ञान (जीव) और ज्ञेय (भगवान्) में आवरण (बीच में अज्ञान का पड़दा) हो जाने से ज्ञान नहीं होता है ॥ ३२ ॥

आभास—तर्हि कथं निस्तार इति चेत् तत्राहतुस्तस्मैतुभ्यमिति ।

आभासार्थ—जो इस प्रकार है तो भगवान् का ज्ञान हो नहीं सकेगा यदि भगवान् का ज्ञान न हुवा तो जीव की मुक्ति कैसे होगी ? इस शंका के निवारणार्थ निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ।**
आत्मद्योतैर्गुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ—स्वयं प्रकाशित गुणों से आच्छादित महिमा वाले वासुदेव जगत्कर्ता आप परब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं।

सुबोधिनी—केवलं तस्मै सर्वदुर्ज्ञेयाय तुभ्यं नानाविनोदयुक्ताय नमः, "ननु तमेव विदित्वातिमृत्युमेती" तिश्रुतेः कथं भगवदज्ञाने निस्तार इति चेत् तत्राहतु भगवत इति, भगवज्ज्ञानगुणेन भगवज्ज्ञानं, अज्ञातोपि प्रमेयबलेन निस्तारयतीति "भक्तिस्तत्र प्रयोजिका" "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानता" मितिश्रुत्य ज्ञात एव ज्ञातो भवति, अतो भगवानीश्वरः केन ज्ञातुं शक्यः ? किञ्च प्रमाणबलेनाज्ञातोपि स्वतो ज्ञातुं शक्यः, यतोयं वासुदेवः, वसुदेवे शुद्धे सत्त्व आविर्भवतीति, आविर्भूतस्तु सर्वैरेव ज्ञातुं शक्यः, नन्वेतदेव सर्वं कुतो भवेत् साधनपरता साधनोत्पत्तिः सत्वशुद्धे राविर्भाव इति ? तत्राहतुर्वेधस इति, स हि सर्व विदधाति, अन्यथा तेन कृतस्तन्मार्गो व्यर्थः स्यात्, नमो धीमहीति वा, हृदये प्रत्यक्षे भगवति तत्पादयोः शिरः स्थापयित्वा मनसा यन्नमनं तत् सोपस्करं धीमहीत्यर्थः, अतोन्तःकरणप्रत्यक्ष एव भगवान् न बहिः, प्रत्यक्षविषयः, तर्हि बहिर्नास्तीत्येव

१—हलचल। २—अभ्यास। ३—ढका हुआ।

मन्तव्यं, तत्राहतुरात्मद्योतैर्गुणैश्छन्नमहिम्न इति, आत्मना स्वेनैव द्योतो येषां, गुणा अपि भगवतैव प्रकाश्यन्ते यथा सूर्येण मेघाः, त एव तस्यावरका भवन्ति, न हि गाढान्धकारे निशायां मेघा दृश्यन्ते, एवं सर्वैरेव विषयैरात्मनैव प्रकाशितैश्छन्नो महिमा यस्य, अतो न प्रकाशते, वस्तुतस्तु वर्तत, एव सर्वत्र अन्तर्बहिःस्थितौ हेतुमाहतुर्बृंहणा इति, "बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाद ब्रह्म," अतः सर्वत्रैव वर्तसे परमन्तरेव प्रकाशसे न बहिरिति ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—मुक्ति का साधन केवल आपके उस* सर्व दुर्ज्ञेयस्वरूप (जिस स्वरूप को कोई नहीं जान सकता है) और नाना प्रकार से विनोद[1] करनेवाले आप† को नमस्कार ही हैं।

'त्वमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इस श्रुति में कहा है कि उस (परमात्मा) को जानकर ही जीव मुक्ति पा सकता है तो फिर उसके जाने बिना मुक्ति कैसे होगी ? इस शंका के निवारणार्थ श्लोक में 'भगवते' शब्द कहा है जिसका आशय है कि भगवान् के गुणों के ज्ञान से भगवान् का ज्ञान हो जाता है। बिना ज्ञान हुए भी आपने प्रमेय बल से इस संसार से वे छुड़ाते हैं इस छुड़ाने में भक्ति ही प्रेरक वा जुटानेवाली है। जिसने कहा है मैंने ब्रह्म को नहीं जाना है उसने जान लिया है, जो कहता है मैंने ब्रह्म को जान लिया है उसने नहीं जाना है इस श्रुति के अनुसार, अज्ञात ब्रह्म ही ज्ञात होता है अर्थात् न जाना हुआ ब्रह्म ही जाना जाता है। अतः भगवान् ईश्वर को कौन जान सकता है और प्रमाण बल से नहीं जाना गया भी स्वतः जाना जा सकता है। क्योंकि यह आप वासुदेव हैं। शुद्ध सतोगुण में आप प्रकट हो जाते हैं। प्रकट होने पर आपको सब ही जान सकते हैं। भगवान् साधनों से प्राप्त नहीं हो सकते हैं ऐसी समझ, साधनों की उत्पत्ति और शुद्ध सतोगुण का आविर्भाव ये सब ही कैसे होंगे ? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'वेधस्' शब्द दिया है। जिसका भावार्थ यह है कि वह (वेधस्) ही सब कुछ कर सकता है। अर्थात् पार भी पहुँचा सकता है। यदि वे वह (वेधस्) पार न पहुँचावे तो उनका प्रकट किया हुआ भक्ति मार्ग व्यर्थ हो जाएगा।

'नमो धीमहि इतिवा' इस प्रकार का पाठ लिया जाए तो हृदय में भगवान् प्रत्यक्ष विराजते हैं उस भगवान् के चरणारविन्दों में शिर धर कर मनःपूर्वक नमन करना और विभूषित स्वरूप का ध्यान धरना यह अर्थ होगा। इससे यह जाना जाता है कि भगवान् हृदय में प्रत्यक्ष हैं किन्तु बाहिर प्रत्यक्ष नहीं हैं। यदि बाहर प्रत्यक्ष नहीं हैं तो मान लेना चाहिये कि भगवान् बाहर है ही नहीं। इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'आत्म द्योतैर्गुणैश्छन्नमहिम्ने' भगवान् का

---

* 'उस' शब्द परोक्ष जो देखने में नहीं आता है उस के लिए कहा जाता है जिसका तात्पर्य 'दुर्ज्ञेय' कठिनाई से जानने में आने योग्य है। —'लेख'

† 'आप' शब्द प्रत्यक्ष (आंखों से देखने में आवे उस) के लिए कहा जाता है। अतः विनोद करने के लिए आप अपनी इच्छा से प्रत्यक्ष हुए हो। —'लेख'

१—लीला या खेल।

विशेषण दिया गया है जिसके देने का तात्पर्य यह है कि जैसे मेघों को सूर्य प्रकट करता है वे ही मेघ सूर्य को छिपा लेते हैं वैसे ही भगवान् के द्वारा प्रकाशित (प्रकटित) गुणों ने भगवान् की महिमा को आच्छादित कर दिया है। जिससे भगवान् बाहर प्रत्यक्ष देखने में नहीं आते हैं। सचमुच तो सर्वत्र (सब जगह सब पदार्थों में) आप विद्यमान ही हैं। भगवान् अन्दर बाहर सर्वत्र है इसका कारण बताने के लिये श्लोक में (ब्रह्मणे) पद दिया है। जिसका भावार्थ यह है कि सब से बड़े होने से सब आप में समाये हुए हैं अतः आप बाहर भीतर सब जगह तथा सर्व पदार्थों में स्थित हो किन्तु भीतर प्रकाशित होते हो बाहिर नहीं होते हो ॥ ३३ ॥

आभास—तर्हि कथमवताराद् बहिः प्रकाशरूपो भगवान् भवतीति ? तत्राहतुर्यस्यावतारा इति ।

आभासार्थ—जो भगवान् बाहर प्रकाशित नहीं होते हैं तो अवतार लेकर बाहर कैसे प्रकाशित होते हैं ? इस शंका के उत्तर में यह निम्न श्लोक है।

श्लोक—**यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः ।**
तैस्तैस्तुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसंगतैः ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ—जिस बिना, देह वाले के अवतार शरीरों में जाने जाते हैं उनका कारण यह है कि जो उनके पराक्रमों के आगे देहधारियों के पराक्रमों की समानता तो नहीं है किन्तु हीनता है।

सुबोधिनी—मत्स्यादिषु **शरीरेषु** क्वचिदेव मत्स्यविशेषेलोकिकभावो दृश्यते स च न जीवधर्मो भवतीत्य**शरीरिणस्तव तेष्ववतारा इति ज्ञायन्ते, अशरीरिण** इतिवचनाच्छरीराकृतिरेव तत्र प्रकाशते न तु तच्छरीरं, अन्यथा वृद्धिर्नोपपद्यते, सामर्थ्यं परमधिकं भवेत्, तस्माच्छरीराकारेण भासमानं भगवद्रूपमेवेति न **तुल्यमतिशयो** या यस्य यस्मादन्यत्र **तदतुल्यातिशयं**, कालापेक्षया नान्यस्य वीर्यमस्ति कालमर्यादां चेदुल्लङ्घति तदा भगवद्वीर्यतुल्यातिशयमिति ज्ञायते, सोपि नैकविधः पराक्रमः, क्षणेन विश्वरूपो भवति, क्षणेन वामनो दृश्यश्चादृश्यश्च बहिरन्तः परिच्छेदो व्यापकश्च, अतो ज्ञायते सर्वेष्वेव **देहिष्वसङ्गतैः** कदाप्यसम्बद्धं भगवानेवायमिति न तु प्रत्यक्षतया भगवानिति निश्चेतुं शक्यत इत्यर्थः, तत्रापि कदाचिच्चेदलौकिकं भवति कल्प्येतापि कथञ्चिज्जातमिति, सर्वदा चेदवाङ्मनोगोचरा अनुभावास्तदा कथं न ज्ञायेत ? तदाहतुस्तैस्तैरिति, एवमवतारेषु भगवज्ज्ञानमानुमानिकं न प्रत्यक्षमित्युक्तम् ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ—मत्स्य[1] आदि शरीरों में प्रायः अलौकिक भाव देखने में नहीं आते हैं क्योंकि अलौकिक भाव भगवद्धर्म है, जीव धर्म नहीं है, अतः जहाँ अलौकिक भाव देखने में आते हैं वे शरीर

१—मछली ।

भगवान् ने अवतारों में धारण किए है। जैसा कि भगवान् ने मत्स्यरूप से अवतार लिया तो उस मत्स्य में अलौकिक भाव प्रकट हुए जैसे वह मत्स्य-शरीर बढ़ता ही गया इसी प्रकार अन्य मत्स्य नहीं कर सकते हैं जिससे यह निश्चय होता है कि भगवान् उस मत्स्य आकृति में केवल दर्शन देते हैं किन्तु वह आकृति देह नहीं है यदि देह होती तो बढ़ती नहीं उसको बढ़ने के लिये काल की आवश्यकता पड़ती है। भगवान् तो अपने वीर्य धर्म से काल का उल्लंघन कर सकते हैं अतः काल का विचार न कर अपने वीर्य से बढ़ते ही गए। जाना जाता है कि यह भगवान् का अतुल्य और अतिशय वीर्य का प्रदर्शन[1] है। वह वीर्य प्रदर्शन आपने एक प्रकार से नहीं अनेक प्रकार से अपने अवतारों में प्रकट किया है। क्षण में विश्वरूप हो जाते हैं, क्षण में वामन बन जाते हैं। कभी दृश्य और कभी अदृश्य होते हैं बाहर से और भीतर से परिच्छेद[2] वाले बन जाते हैं तथा कभी व्यापक[3] होते हैं। इससे समझ में आता है कि इस प्रकार के पराक्रम किसी देहधारियों में नहीं है और न ऐसे पराक्रमों से देहधारियों का सम्बन्ध है। अतः ऐसे अलौकिक वीर्य वाले भावों को प्रकट करने से निश्चय होता है कि यह भगवान् ही हैं। अपनी आँखों से केवल उन आकृतियों[4] को देखने से यह निश्चय नहीं किया जा सकता है कि यह भगवान् हैं। जो अलौकिक भाव कभी-कभी हो अथवा किसी न किसी प्रकार से उस (अलौकिक भाव) का ज्ञान हुआ हो, किन्तु यदि हमेशा जो वाणी तथा मन से जिनका ध्यान न हो सके ऐसे पराक्रम सदा देखने में आते हों तो कैसे न कहा जाय कि यह भगवान् है। यह तात्पर्य श्लोक के उत्तरार्द्ध 'तैस्तैः' से कहा है। इस प्रकार अवतारों में भगवान् का ज्ञान (ये अवताररूप भगवान् के हैं) अनुमान किया जाता है प्रत्यक्ष से नहीं होता ॥ ३४ ॥

आभास--प्रकृते तु शब्दादेव नारदकृपया वा भगवानेतदर्थमागत इति ज्ञायत इत्याहतुः स भवानिति ।

आभासार्थ--इस समय तो भगवान् (आप श्रीकृष्ण) इसके लिये (हमारे उद्धार के लिये और हमको दर्शन देने के लिये) प्रकट हुए हो इसका ज्ञान नारदजी के शब्द तथा कृपा से हुआ है इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक--**स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च ।**
अवतीर्णोंशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ--सर्व लोक के कल्याण और मोक्ष देने के लिये सर्व सुखों के पति वह आप अंश और भाग से अवतीर्ण हुए हो।

१--दृश्य नजारा। २--सीमा, हद्द। ३--सर्वत्र स्थिति, असीम बेहद्द। ४--रूपों या शक्लों।

सुबोधिनी—यः पूर्वोक्तः सर्वप्रमाणवेद्यो लौकिकैरवेद्योन्तःकरणप्रत्यक्षोवतारी चतूरूपो भवान्, अत एव सर्वस्यैव लोकस्य भवायोद्भवायैश्वर्याय च, अंशेन भागेन च साम्प्रतमवतीर्णः, यतो भवानाशिषां पतिः, स्वरूपतो भवाँश्चतूरूपो विवृतः प्रकारेण, ततोप्यधिकास्त्यत्र गुणाः, सर्व एव लोका उत्पादनीयाः, ततस्तेभ्यः स्वसमानैश्वर्यादिकं च देयं भगवत्यंशतः समागते सर्वे भगवदीयाः शुद्धसत्त्वांशेनैवाविर्भवन्ति भगवत्सेवोपयिकदासरूपांशेन वा सर्वे लोकाः स्वदासभावेनाविर्भवन्त्वितीच्छया भगवानेकदेशभावं प्रकाशितवान्, समुदाये ग्रहणभजनाद्यनुपपत्तेः, न हिं प्रलयाग्निः सेवितुं शक्यते, किञ्च भागाः कलाः, कलयावतीर्णः, सर्वेषां सर्वकलाकौशलाय सर्वाः कलास्तदैव प्रातुर्भवन्ति यदि मूलभूतः कलारूपेणाविर्भवति तदैव च सर्वाः कलाः पूर्णा भवन्ति, इदं स्वोपयोगायोक्तं, स्वस्यापि वैष्णवरूपेणोद्भवो भक्तिकलाश्च पूर्णा भविष्यन्तीति, एता एताशिषः, अग्रे प्रार्थमानत्वात्, मानुषभावेन नानाविधाः क्रीडा भक्तानुत्पाद्य तेषु भक्तिस्थापनार्था इत्यर्थः ।। ३५ ।।

व्याख्यार्थ—सर्व प्रमाणों से जानने योग्य लौकिक जिसको नहीं जान सकते हैं, अन्तःकरण में जो प्रत्यक्ष होते हैं और जो अवतारी हैं वह आप चतुःरूप (चार रूपों वाले) हो । इस कारण से ही आप अब सर्व लोगों के कल्याण तथा ऐश्वर्य के लिए अंश और भाग्य से अब अवतार धारण कर पधारे हो । कारण कि आप आशिषों (धर्मादि चार पुरुषार्थ) के पति हैं । आप स्वरूप से चार रूपों वाले हो यह वर्णन प्रकार (सादृश्य) से आगे किया है । उससे भी विशेष यहाँ (आप में) गुण हैं । सब लोकों को उत्पन्न* करना है । उसके पीछे उनको अपने समान ऐश्वर्यादिक देने हैं । भगवदीय शुद्धसत्व गुण से ही आविर्भूत‡ होते हैं उसका कारण यह है कि भगवान् उनमें अंशरूप से प्रकट होते हैं । भगवान् उन (भगवदियों) में किस भावांश का प्रकाश करते हैं ? आचार्यश्री उस पर प्रकाश डालते हैं कि भगवान् की इच्छा है कि सब दासभाव से प्रकट होवें इसलिए लोकों (भगवदियों) में दासभाव रूप अंश का प्रकाश करते हैं । यदि अन्य अंशों से भी उनमें विराजे तो सेवा भजन आदि नहीं हो सके । कारण कि प्रलय की अग्नि का सेवन कोई भी नहीं कर सकता है । 'भाग' शब्द का आशय कला है । भगवान् ने भाग से (कलारूप से) अवतार लिया हैं । कलारूप से अवतार लेने का कारण यह है कि जब कलाओं का मूल रूप (बीज) प्रकट होवे तब ही सब कलाओं का विकास हो और सबों में सर्व कलाकौशल्य[1] हो । तब ही सर्व कलाएं पूर्ण विकसित होती हैं । नलकूबर और मणिग्रीव ने यह अपने उपयोग के लिये कहा है क्योंकि उनका भी वैष्णवरूप से जन्म हुआ है उसमें ही भक्ति कलाएं पूर्ण होगी । ये ही आशीर्वचन हैं जो आगे प्रार्थना करेंगे । भगवान् लोगों में भक्ति की स्थापना के लिये भक्तों को उत्पन्न कर उनके साथ मनुष्य भाव से अनेक प्रकार की क्रीड़ा करते हैं ।। ३५ ।।

---

* उत्पन्न का तात्पर्य यह है कि जो लौकिक में आसक्त हैं उनको अलौकिक बनाना है ।—**अनुवादक**

† श्रीकृष्ण अवतारी पूर्ण स्वरूप हैं । यहाँ अंश से और भाग से अवतार लिये । इस कहने से परस्पर विरोध दृष्टि गोचर होता है इस शङ्का को मिटाने के लिये आचार्यश्री ने सुबोधनी में यह कहा है कि श्रीकृष्ण भगवादियों में अपने अंश-भाग से पधारे हैं । आप तो पूर्णरूप से प्रकटे हैं ।—**'प्रकाश'**

१—कारीगरी ।

आभास—किञ्चित् प्रार्थयितुं नमस्कारं कुरुतो नम इति ।

आभासार्थ—कुछ प्रार्थना करने के लिये वे दोनों निम्न श्लोक में भगवान् को नमस्कार करते हैं ।

श्लोक—**नमः परमकल्याण नमस्ते विश्वमङ्गल ।**
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ—*हे परम कल्याण रूप ! आपको नमस्कार है । हे विश्वमङ्गल रूप ! आपको नमस्कार है । हे परम शान्त यदुवंश शिरोमणि आपको बार-बार हम प्रणाम करते हैं ।

कारिका—**आदिमध्यावसानेषु नमनं मनआदिभिः ॥ १/२ ॥**

कारिकार्थ—आदि, मध्य और अन्त में मन आदि* से प्रणाम करते हैं ।

सुबोधिनी—आदौ कायिकं नमनं, तत्र फलं **परम-कल्याणेति, कल्याणानां** निधानरूपो भगवान्, **कल्याणानि शुभफलानि** पुत्रजन्मादीनि लोके प्रसिद्धानि, परमानन्दः **परमकल्याणः**, कायेन नमस्कृतः शरीरोपभोगाय **परमकल्याणः** प्रादुर्भवति, **नमस्त** इति वाचनिकं, ते तुभ्यमितिकीर्तनात्, तस्य फलं विश्वमङ्गल इति, वेदादिनिर्माणाद् विश्वस्मै तत्साध्यफलरूपो मङ्गलं भवति, अन्ते **नमनं** मानसं, तदर्थं मनस्याविर्भावाय वासुदेवायेति, शान्तायेति ज्ञानरूपाय, केवलमाविर्भूते नारदवदज्ञाते तथापुरुषार्थो न भवतीति शान्तं लयविक्षेपशून्यं रूपमाविर्भावो ज्ञानं चोक्तं फलमाह **यदूनां पतय** इति भगवान् स्वामी फलं यथा **यदूनाम्** ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ—आदि (आरम्भ) में काया से नमन करते हैं जिसका फल यह है कि शरीर के उप-भोगों के लिये (शरीर से सेवा लेने के लिये अथवा उसको आनन्द देने के वास्ते) कल्याणों का भण्डाररूप भगवान् स्वयं प्रकट होते हैं लोक में पुत्र जन्म आदि शुभ फल कल्याण नाम से प्रसिद्ध हैं और भगवान् ही परम कल्याण अर्थात् परमानन्द नाम से विख्यात हैं ।

मध्य में वाणी से नमस्कार करते हैं यह श्लोक में आए हुए 'नमस्ते' पद का भाव है । वाणी से नमस्कार का फल (विश्वमङ्गल) रूप है । विश्व के कल्याण के लिये भगवान् ने वेद प्रकट किए हैं उन वेदों से प्राप्त स्वरूप (विश्वमंगल) है अर्थात् विश्व का मंगल करनेवाला स्वरूप वाणी द्वारा नमस्कार करने से फलरूप (प्रकट) होता है ।

अन्त में मन से नमस्कार करते हैं । मन से नमस्कार करने से भगवान् मन में प्रकट होते

---

* आदि शब्द से काया और वाणी समझनी चाहिए–जिसको" श्री सुबोधिनीजी में स्पष्ट कर दिया है ।

हैं यह बताने के लिये श्लोक में 'वासुदेवाय' पद दिया है। केवल मन में प्रकट होने से नारदजी के समान कोई लाभ नहीं है, जब तक कि उसका ज्ञान न हो, अतः 'शान्ताय' पद देकर बताया है कि आप लय और विक्षेप-रहित ज्ञान स्वरूप से भी (मनद्वारा नमस्कार करने से) प्रकट होते हैं। 'यदूनां पतये' यादवों के स्वामी शब्द से यह बताया है कि आप फलरूप तब होते हैं जब स्वामी रूप से प्रकट होते हैं जिस प्रकार यादवों के पति (स्वामी) होकर प्रकटे हैं ॥ ३६ ॥

आभास––एवं नमस्कृत्य गमनार्थं प्रार्थयेते अनुजानीहीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार नमस्कार कर निम्न श्लोक में प्रार्थना कर वहाँ से आने की आज्ञा मांगते हैं।

श्लोक––**अनुजानीहि नौ भूमंस्तवानुचरकिङ्करौ ।**
दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात् ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ––हे भूमन् ! आपके अनुचरों के किंकर[1] हम दोनों को जाने के लिये आज्ञा दीजिये। भगवान् ऋषि के अनुग्रह से आपके दर्शन हुए।

सुबोधिनी—नावावामनुजानीहि, अनुज्ञां प्रयच्छ, भूमन्नितिसम्बोधनं स्वस्य तत्र स्थातुमयोग्यतार्थं, तदेवाहतुः स्वानुचरकिङ्कराविति, तवानुचरस्य नारदस्य किङ्करौ दासौ, सेवकसेवकत्वमेवोचितं न तु त्वत्सेवकत्वमावयोः, यतस्त्वं भूमा महान्, न ह्यल्पेन महतः सेवा कर्तुं शक्यते, ननु दर्शनयोग्यता यदा तदा सेवायोग्यता सिद्धैव ततः कथमयोग्याविति चेत् तत्राहतुर्दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहादिति, महाराजसेवकः स्वभृत्यं कदाचिन् महाराजस्थानं नयति नैतावता तस्य महाराजसेवायोग्यता भवति, अतो दर्शनान्यथानुपपत्त्या न सेवायोग्यता, भगवतो दर्शनमृषेरनुग्रहादिति, ऋषेर्भगवत इति गुरुदेवतयोरैक्यार्थं सहनिर्देशः ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ–हम दोनों को आज्ञा दो। भगवान् के लिये 'भूमन्' विशेषण देकर यह प्रकट किया है कि हम यहां रहने के योग्य नहीं हैं। क्यों योग्य नहीं हैं तो उसके उत्तर में कहते हैं कि हम आपके सेवक नारदजी के सेवक हैं। हम आपके सेवक के सेवक बनने के ही योग्य हैं न कि आपके सेवक बनने के योग्य हैं। कारण कि आप महान् हैं। महान् की सेवा छोटे नहीं कर सकते हैं। जब आप मेरे दर्शन करने के योग्य हुए हो तो सेवा के योग्य भी हो यह तो स्वतः सिद्ध है ही, तो आप कैसे अयोग्य हो ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि आपके दर्शन हमको हमारी योग्यता के कारण नहीं हुए हैं। किन्तु भगवान् ऋषि नारदजी के अनुग्रह (कृपा) से हुए है। महाराज का नौकर कभी अपने सेवक को महाराज के स्थान पर ले जाता है जिससे वह सेवक महाराज की

१—नौकर।

सेवा के योग्य नहीं बन जाता है। महाराज के दूसरे प्रकार से दर्शन हो नहीं सकते, इससे कोई सेवा की योग्यता नहीं आ जाती है। नारदजी के लिये भगवान् और ऋषि दोनों पद साथ देने से यह बताया है कि गुरू और देव एक ही हैं ॥ ३७ ॥

आभास—एवं गमनं प्रार्थयित्वा तत्र गतयोर्भक्ति प्रार्थयेते वाणीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार जाने के लिये आज्ञा प्रदान करने की प्रार्थना की अब निम्न श्लोक में वहाँ जाकर रहनेवाले हमको आपकी भक्ति स्थिर रहे यह प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—**वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तो च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।**
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत् प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेस्तु भवत्तनूनाम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे निवास जगत् ! (जिसका जगत् निवास-स्थान है) हमारी वाणी आपके गुणानुवाद में (गुणों के कीर्तन मे), कर्ण आपकी कथा सुनने में, हाथ आपकी सेवा करने में, मन आपके चरणों के स्मरण में, मस्तक आपको प्रणाम करने में और दृष्टि आपके स्वरूप भूत भक्तों के दर्शन में तत्पर रहे ।

कारिका—**वाक् श्रोत्रे च करौ चित्तं शिरश्चक्षुस्तथैव च ।**
षडेते भगवत्कार्ये यदि सक्ताः कृतार्थता ॥ १ ॥
कीर्तने श्रवणे चैव गुणानां रूपदास्यके ।
स्वरूपस्मरणे नत्यामवतीर्णस्य दर्शने ॥ २ ॥

कारिकार्थ—मनुष्य के अङ्गों में ६ अङ्ग मुख्य हैं। वे ६-वाणी, कान, हाथ, चित्त, मस्तक और नेत्र हैं। ये ६ अंग यदि भगवान् के कार्य (सेवा) में लगे रहें तो उनकी सार्थकता है ।

वाणी भगवान् के गुणों के कीर्तन में, कान गुणों के श्रवण में, हस्त स्वरूप की दासता में, चित्त स्वरूप के स्मरण में, शिर प्रणाम करने में, नेत्र अवतार स्वरूप के दर्शन करने में लगे रहें तो इन ६ की सार्थकता है ।

पहली कारिका में मुख्य ६ अंग दूसरी में उनके कार्य (सेवा) को बताकर यह कहा है कि इस प्रकार यदि ये अंग सेवा में तत्पर रहते हैं तो उनका होना सफल है नहीं तो वे अंग निष्फल हैं ।

सुबोधिनी—षडङ्गानि पुरुषे प्रधानानि, गुणानामुत्कर्षाधायकधर्माणां कीर्तने वाण्यस्तु, तत्रैव सा विनियुक्ता भवतु, यथा वराय दत्ता कन्या नान्यगामिनी भवति नाप्यन्यः प्रार्थयते नापि पतिभयात् सान्यसम्बन्धिनी कथञ्चिदपि भवति तथा वाणी भवतु, एवमेव **श्रवणौ कथायां**,हस्तावुभावपि भगवतः सर्वकर्मस्वाचष्टयामिकेषु, चकारात् पादावपि मन्दिरगमनादिषु, तद्व्यतिरेकेण हस्तसेवा नोपपद्यत इत्युभयमेकरूपं, **तव पादयोः स्मृत्यां नो मनोस्तु** स्मरणे सर्वानिव भक्तानेकीकृत्याहतुः, पादयारितिद्विवचनं रूपान्तरे तथाभावाय, **शिरस्तु प्रणामे**, चतुरङ्गया भक्तया भगवतः सर्वस्थितिः सर्वान्तरत्वं च स्फुरिष्यति, अतः सम्बोधनं यतो हे **निवासजगदिति**, निवासभूतं **जगद्** यस्येति, **दृष्टिस्तु सतां दर्शनेस्तु**, भगवद्दर्शनं तु धार्ष्ट्यान्न प्रार्थितं, ननु तेषां दर्शने किं स्यात् ? तत्राहतु**र्भगवत्तनुनामिति**, **भगवतस्तनूरूपास्ते**, तत्र भवान् वर्तत इति तथा, अयोगोलके वह्निर्यथा वा गङ्गायां जलम् ।। ३६ ।।

व्याख्यार्थ—विवाह संस्कार द्वारा दान की हुई कन्या वर के अतिरिक्त दूसरे के पास नहीं जाती है, उसके लिये दूसरा पुरुष माँग भी नहीं कर सकता है और वह पति के भय से दूसरे से किसी प्रकार का सम्बन्ध भी नहीं कर सकती है वैसे ही हमारी वाणी भी भगवान् के गुणों (उत्कर्षता बताने वाले धर्मों) के कीर्तन करने में तत्पर रहे दूसरी तरफ न जावे । इसी प्रकार कान भगवान् की कथा में, हाथ आठों पहर भगवान् के सब कार्यों में लगे रहें । श्लोक में आए हुए 'च' शब्द से यह भाव बताते हैं कि पैर भी मन्दिर में जाने आदि कार्यों में लगे रहें । इसके लिए विशेष हेतु देते है कि यदि पैरों से मन्दिर में जाने की सेवा न ली जाए तो हाथों से मन्दिर में जाकर सेवा बन नहीं सकेगी । अतः दोनों (हाथ और पैर) एक रूप समझने चाहिये । आपके चरणों के स्मरण में हम सब लोगों का मन लगा रहे इससे यह बताया कि स्मरण भक्तों के साथ मिलकर करना चाहिये । आपके इस (श्रीकृष्ण) स्वरूप से अन्य स्वरूप में हमारा मन न लगे इसलिये 'पादयोः' यह द्विवचन दिया है । दूसरे स्वरूप में इसका अभाव है । मस्तक आपको प्रणाम करने में लगा रहे । श्रवण, कीर्तन, स्मरण और पाद सेवन इस चार प्रकार से की हुई प्रणामरूप भक्ति से भगवान् की सर्व में स्थिति और सर्वान्तरत्व (सबके भीतर भगवान् हैं) की स्फूर्ति होती है । अतः निवास 'जगत्' यह संबोधन देकर बताया है कि आपका निवास-स्थान जगत् है जिससे आपके सर्व में स्थिति और सर्वान्तरत्व की सिद्धि हो जाती है भगवान् के दर्शन की प्रार्थना तो ढीठपन से नहीं दी है । भगवद्भक्त सत्पुरुषों के दर्शन की प्रार्थना इसलिए की है कि वे भगवान् के शरीर हैं अर्थात् भगवान् उनमें सदैव बिराजते हैं उनके दर्शन से स्वतः भगवान् के भी दर्शन हो जाएंगे । जिस प्रकार लोहे के गोले में अग्नि और गंगा के खात (तह) में जल रहता है उसी प्रकार भगवान् उनमें रहते हैं जिससे वे (भक्त सन्त) वैसे (भगवान् के समान) ही हैं ।। ३८ ।।

आभास----एवं गमनभक्त्योः प्रार्थनायां कृतायां सर्वथा भक्तौ शीघ्रमेव लयो भविष्यतीति किञ्चिन् मोहयित्वा किञ्चिद् दत्तवानित्याहेत्थमिति ।

आभासार्थ––उनकी जाने की आज्ञा और भक्ति की प्राप्ति की प्रार्थना पर भगवान् ने सोचा कि यदि इनको सर्वथा (पूर्ण) भक्ति दे दूंगा तो इनका शीघ्र ही लए हो जाएगा । यह मुझे

इष्ट नहीं है। अतः कुछ मोह उत्पन्न कराने को कुछ दूं—इसका वर्णन श्रीशुकदेवजी निम्न श्लोक में करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक----इत्थं संकीर्तितस्ताभ्यां भगवान् गोकुलेश्वरः ।
दाम्ना चोलूखले बद्धः प्रहसन्नाह गुह्यकौ ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ---श्री शुकदेवजी कहते हैं कि रस्सी से ऊखल में बन्धे हुए गोकुलेश्वर भगवान् ऐसी उनकी स्तुति सुन, हँस कर उन दोनों यक्षों को कहने लगे।

सुबोधिनी—एवङ्कारेण सम्यक् कीर्तितस्तोषपर्यन्तं स्तुतः प्रहसन् गुह्यकावाह, सर्वकरणदानयोः समर्थ इति ज्ञापयति भगवानिति, शीघ्रं तयोर्मुक्तौ गोकुले स्वस्य क्रीडायामन्यप्रवेशो भविष्यतीति ज्ञापयति गोकुलेश्वर इति, गोकुलवासिनामेव साम्प्रतं तद् युक्तं न त्वन्येषां, अतो गोकुलक्रीडासमाप्तिपर्यन्तं तथामोहनमुचितमेव, किञ्च दाम्नोलूखले च बद्धः, यस्तु गोकुलरसभोगार्थं तत्र गौणभावं प्राप्तस्तेषु वा रसाधिक्यसिद्ध्यर्थं तदधीनो जातः, देवयोर्गोकुले स्थितयोः पूजा कापि न जातेतिशङ्कापि न कर्तव्या यतो गोकुलेश्वरो दाम्ना बद्धः, वस्तुतस्त्वीश्वर एव लोकदृष्ट्यापि नन्दस्यायमेव पुत्र इतिश्वर एव स चेद् दाम्ना यन्त्रितस्त दा वस्य गोकुले सन्मानं स्यात्? उचितं चैतद्, देवयोरत्र वृक्षत्वं, एवं गोकुलवासिनां वृत्तान्तं स्मृत्वा प्रहसन् वक्ष्यमाणमब्रवीत् यद् युवाभ्यां प्रार्थ्यते तत् किमपि नावशिष्टं, मदधिकारिणैव तत्सम्पादनात्, द्वयं हि पुरुषार्थौ मुक्तिर्मयि प्रेम च, निरोधस्योभयरूपत्वात् ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ—यक्ष ने जब भगवान् के प्रसन्न होने तक स्तुति की तब भगवान् हँसकर उनको कहने लगे। आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि यह स्वरूप सब कुछ करने और सर्व प्रकार के दान देने में सामर्थ्यवान् है इसलिये श्लोक में 'भगवान्' नाम दिया है। भगवान् गोकुल में अब जो लीला जिनसे कर रहे हैं उस लीला में दूसरे का अथवा दूसरे प्रकार की लीला का प्रवेश होगा जो भगवान् को अभीष्ट[1] नहीं है इस भाव को प्रकट करने के लिये श्लोक में 'गोकुलश्वर' नाम दिया है वह लीला गोकुलवासियों के ही योग्य है न कि दूसरों के योग्य है। अतः इन (नलकूबर मणिग्रीव) की शीघ्र मुक्ति नहीं करनी चाहिये इसलिये इनको अब पूर्ण भक्ति दान नहीं करना है पूर्ण भक्ति दान से इनकी यहाँ ही मुक्ति हो जाएगी। इसलिए जब तक गोकुल में क्रीड़ा चल रही है तब तक इनको मोहित कर देना ही योग्य है। और भगवान् अब तक रस्सी से ऊखल में बन्धे हुए हैं इससे भगवान् बताते हैं कि अब मैं गोकुल में होती हुई लीला के रस भोगार्थ में गौण हूँ। और गोकुलवासी अथवा उनको विशेष रस की सिद्धि करने के लिये उनके आधीन हूँ। यह शंका भी नहीं करनी कि गोकुल में देव आए (नलकूबर मणिग्रीव देवरूप से वहाँ प्रकट हुए) और उनका किसी प्रकार

१—प्रिय।

का सन्मान (पूजा) न हुई । क्योंकि उस समय गोकुल का ईश्वर रस्सी से बान्धा हुआ था । वास्तविक रीति से ईश्वर ही है और यों लौकिक दृष्टि से भी तो नन्द के पुत्र होने से ईश्वर ही है । वह (ईश्वर) जहां बन्धा हुवा हो वहां तब किसका सन्मान होगा । गोकुल में देव, वृक्ष* हुए हैं यह उचित है । इस प्रकार गोकुलवासियों का वृत्तान्त स्मरण कर भगवान् हँसते हुवे गुह्यकों को निम्न प्रकार से कहने लगे । आप दोनों जो मांगते हो वह मेरे अधिकारी ने आपको दे दिया है अब कुछ मांगना तो रहा ही नहीं हैं । दो पुरुषार्थ हैं—(१) मुझ में भक्ति और (२) प्रेम, ये दोनों निरोध के रूप हैं । प्रपञ्च की विस्मृति (मुक्ति) है वह आपको पहले ही प्राप्त हुई है । इसका वर्णन करते हैं ॥ ३९ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

श्लोक---**ज्ञातं मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना ।**
यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोनुगृहः कृतः ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ--भगवान कहते हैं कि दयालु ऋषि ने, तुम जो लक्ष्मी के मद से अन्धे हो गए थे उन पर अपनी वाणी से (शाप देकर) पात (पदवी से गिराने) रूप अनुग्रह किया है यह मैंने पहले ही जाना है ।

सुबोधिनी—प्रपञ्चविस्मृतिर्मुक्तिः सा पूर्वमेव जातेत्याह ज्ञातमिति, ममैतत् पूर्वमेव ज्ञातमासीद् यद् **ऋषिणा करुणात्मना श्रीमदान्धयोर्विभ्रंशः कृतः.** सेवकाः कदाचित् स्वेच्छयापि कुर्वन्तीति तदव्यावृत्त्यर्थं ज्ञानमुच्यते, न केवलं ज्ञातं किन्त्वभिमतमित्यृषिप्रशंसा, ततो मयैतावत् कृतमित्यर्थाज् ज्ञापितं, अतो न प्रार्थनीयं किञ्चिदवशिष्यत इतिभावः, शापो ह्यपकारे भवति स शापदातुः समानाधिकरणो भवति, परदुःखमपि दृष्ट्वा कारुणिको दुःखितो भवति, तदाह **करुणात्मनेति,** करुणायुक्त आत्मान्तःकरणं यस्येति, भाव्यर्थावश्यम्भावज्ञानाद् ऋषित्वं, युवयोस्त्वतिक्लिष्टत्वमाह **श्रीमदान्धयो**रिति, अन्धतमस उद्धारोवश्यं कर्तव्यः, **वाग्भि**रितिवचनमात्रं तेनोक्तं, ज्ञापनार्थं कृतिस्तु मयैव कृता, अत एव वाग्भिर्यो **विभ्रंशो**ज्ञानरूपः स त्वनुग्रह एव ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ—मैंने वह पहले ही जान लिया है कि लक्ष्मी के मद से अन्धे बने आप दोनों का दयालु ऋषि ने देव योनि से आपका पात किया है यह भी विचार नहीं करना कि सेवक अपनी इच्छा से जैसा चाहे वैसा भी कभी कभी करते हैं । वैसे ही नारदजी ने भी किया होगा, यदि आप को ऐसा विचार हो तो योग्य अथवा सत्य नहीं है क्यों कि इसका मुझे पहले से केवल ज्ञान न था, किन्तु मेरी ही यह इच्छा थी अथवा इस प्रकार करना मेरा अभीष्ट था । यों कहने से ऋषि की

* देवों का यहां वृक्ष होना इसीलिये उचित है कि यह गोकुल की भूमि भगवान् की कृपा से सर्व भूमिओं से उत्तम है ।—**'प्रकाश'**

प्रशंसा की है । इस से यों समझना कि यह मैंने ही किया है इस लिए मांगने के लिए शेष कुछ बचा हो नहीं है ।

किसी का जब अपकार[1] किया जाता है तब वह शाप देता है । नारदजी ने अपकार के कारण शाप नहीं दिया है किन्तु आप के ऊपर दया करके शाप दिया है, क्योंकि धन मद से जो आप मदिरापानादि असत्कर्म कर रहे थे जिस का फल आप को दुःख भोगना पड़ेगा यह जानकर वे दुःखी हुए जिससे उनके चित्त में दया आई, उस दया से इस प्रकार का शाप देकर महान् दुःख भोगने से आपको बचा लिया । नारदजी ने ये होने वाले दुःख रूप फल को पहले ही कैसे जान लिया ? इस के उत्तर में नारदजी के लिए 'ऋषि' विशेषण दिया है । ऋषि वह है जिस को आगामी का भी ज्ञान होता है । श्लोक में आप के लिए श्री मद से अन्धे बने हुए जो कहा है उससे आप को अन्धतम नरक की प्राप्ति होती यह जानकर इस नरक से इनका उद्धार अवश्य करना चाहिए । नारदजी ने तो केवल वाणी से ही कह दिया, उस वाणी को कार्य रूप में तो मैं लाया हूँ । अतः वाणी से जो नारदजी ने आप दोनों का पात[2] कर ज्ञान दिया वह उनका अनुग्रह ही समझना चाहिए ॥ ४० ॥

आभास---नन्ववश्यम्भावि चेत् तथात्वं किमिति नारदेनोक्तं ? वचनात् तूष्णीम्भाव एवोचित इति चेत्तत्राह साधूनामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार यदि अवश्य होने वाला ही था, तो नारदजी जी ने वाणी से क्यों कहा ? इससे तो उनको मौन धारण करना ही योग्य था ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं ।

श्लोक---साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।
दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ----जैसे सूर्य के उदय होते ही नेत्रों की देखने की रुकावट नष्ट हो जाती है वैसे ही समान चित्तवाले ज्ञानी, मुझमें पूर्ण रूप से अर्पित आत्मा वाले साधुओं के दर्शन से पुरुष का बन्धन नहीं रहता है ।

सुबोधिनी—ये हि साधवस्तेषां दर्शने पुनर्बन्धो न भवति, ते हि ज्ञानव्याप्ता वह्निनायःपिण्ड इव, यथा तत्सम्बन्धेग्नेरप्यधिको दाहो भवत्येवमेव ब्रह्मज्ञानापेक्षयापि सद्दर्शने बन्धनिवृत्तिर्भवति, साधवः सदाचाराः समचित्ता ज्ञानिनः, अतो ज्ञानकर्मणोः सद्भावादेते मुक्ता एतेमुक्ता इतिवैलक्षण्यज्ञानं न समदर्शित्वबाधकं,

---

१—बुराई । २—देव योनि से वृक्ष योनि में गिराकर ।

नापि तैस्तथा सम्पाद्यते, किन्तु तेषां दर्शनमेव मुक्तिसाधकं, किञ्च नितराम्मत्कृतात्मनामिति, मयि कृत आत्मा यै: समर्पितात्मान:, मत्कृते, वात्मा येषां, कर्मज्ञानभक्तीनां तेषु सिद्धत्वाद् बन्ध: सर्वथा न भवति, तमो निवर्तितं कर्मणा रजो ज्ञानेन सत्त्वं भक्त्येत्यतो न केनाप्यंशेनावशिष्यते, अत एव पूर्णकर्माणो वस्वादिभावं प्राप्नुवन्ति ततोपि ज्ञानिनो ब्रह्मविद: सनकादय इव भवन्ति, ततोपि भक्ता मद्भावं प्राप्नुवन्तीति तदाह दर्शनान्नो भवेद् बन्ध इति, पुंस इति, मर्यादाधिकारिणस्तु ततो बन्धो निवर्तते, अहं त्वनधिकारिणोपि निवर्तक इतिविशेष:, तथाप्यप्रार्थितं कथं दत्तवन्त इत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन निराकरोत्यक्ष्णो: सवितुर्यथेति, अक्ष्णोर्बन्धनमन्धकार:, स सवितृदर्शने निवर्तत एव ।। ४१ ।।

व्याख्यार्थ—वे (साधुजन) इसी प्रकार ज्ञान से भरे हुए है जैसे लोहे का गोला आग से पूर्ण होता है । जैसे उस गोले के स्पर्श से अग्नि से भी विशेष दाह होता है वैसा ही ब्रह्म ज्ञान से भी विशेष शीघ्र बन्ध की निवृत्ति साधुओं के दर्शन से होती है। सदाचारण वाले साधु हैं और सम न चित्त वाले ज्ञानी है । ज्ञान और कर्म के सद्भाव होने के कारण ऐसे साधुओं में से भेद भाव निकल जाता है इसलिए ये मुक्त हैं वा ये अमुक्त है इस प्रकार का उनका वैलक्षण्य[1] ज्ञान उनके समदर्शीपने में बाधक नहीं होता है । वे भी वैसे नहीं करते हैं अर्थात् स्वयं मुक्त नहीं कराते हैं, किन्तु उनका दर्शन ही मुक्ति का साधक[2] है। और जिन साधुओं ने मुझ में आत्मा का समर्पण कर दिया है अथवा जिनकी आत्मा मेरे लिये ही है। उन में कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों ही सिद्ध होने से सर्व प्रकारसे बन्ध नहीं होता है । उनमें बन्धकारक तीनों गुण नहीं रहते हैं । कर्म से तमोगुण की निवृत्ति हो जाती है, ज्ञान से रजोगुण ‡ निवृत्त हो जाता है और भक्ति से सतोगुण* जाता रहता है । इससे बन्ध का कोई अंश नहीं रहता है अत: पूर्ण कर्म वाले वसुभाव को प्राप्त होते हैं उनसे विशेष ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी सनकादिकों के समान होते हैं । उनसे भी अधिक भक्त जन, मेरे भाव को प्राप्त करते हैं ऐसे साधुओं के दर्शन से 'पुरुष' मर्यादाधिकारी का बन्धन निवृत्त हो जाता है । अर्थात् जो मोक्ष के अधिकारी हैं उनके बन्धन दर्शन से कट जाते हैं । जो मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं उनके बन्धनों को काटने वाले हम हैं ।

नलकूबर व मणिग्रीव ने मोक्ष मांगा नहीं तो भी मोक्ष कैसे दिया ? इस शंका का उत्तर देते हैं कि जैसे नेत्रों की प्रार्थना बिना सूर्य के उदय से आँखों का बन्धन (न देखना) वा अन्धकार स्वत: छूट जाता है और नेत्र देखने लगते हैं ।। ४१ ।।

आभास—न हि वस्तुशक्ति: प्रार्थनादिकमपेक्षते तस्मान्मोक्षस्तु पूर्वमेव सिद्धो भक्तिरपि सिद्धेति वदन् प्रार्थितमाह तद् गच्छतमिति, भक्ते: कारणमाह महाभागाविति ।

‡ ज्ञान से रजोगुण के नाश होने से सतोगुण उदय होता है वह पुरुष सतोगुण से ज्ञानवान बनता है । 'सत्वात्संजायते ज्ञानं' अत: सनकादिक ज्ञानी सतोगुणी हैं ।—'लेख'

* भक्ति से सतोगुण के नाश होने से भक्त निर्गुण होते हैं ।

१ —विचित्रता, अजीबपना । २—देने वाला ।

आभासार्थ—कारण कि वस्तु की शक्ति प्रार्थना की अपेक्षा[1] नहीं रखती है इससे मोक्ष तो पहले ही सिद्ध था शेष रही भक्ति जो भी सिद्ध हो गई है उन्होंने जो प्रार्थना की उसका उत्तर नीचे के श्लोक में देते हैं।

श्लोक ---**तद् गच्छतं महाभागो नलकूबरसादनम् ।**
सञ्जातो मयि भावो वामीप्सितः परमोभवः ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ---हे नलकूबर ! इस कारण से महाभाग्य वाले तुम दोनों घर जाओ। आप दोनों का इच्छित अन्तिम जन्मरूप भाव मेरे में हुआ है।

सुबोधिनी—अनन्तकोटिजन्मपुण्यपापयोरुपार्जितयोर्मध्ये दिव्यशतवर्षपर्यन्तं मत्प्रतीक्षाभावनात् सर्वमेव पापं नष्टं, पुण्यं त्ववशिष्यते, तदुक्तं **महाभागाविति**, **नलकूबरे**त्येकस्यैव प्रसादः, सादनं गृहं, यत्रावसादं प्राप्तौ, अनेन तत्रासक्तिर्न भविष्यतीति सूचितं, **मयि** तु मद्विषयको **भावः** प्रेमलक्षणकः **सञ्जात** एव, तेनैव श्रवणादिकं स्वत एव भविष्यति, अप्रार्थितत्वादनभिमतमित्याशङ्क्याहेप्सित इति, तत्र हेतुः **परमोभव** इति, **भाव** एवान्तिमजन्मरूपो न तस्मादप्यन्यज् जन्म भवतीति परमत्वं, अतो जन्मभिः क्लिष्टानां सर्वेषामेव **मयि भावः** प्रार्थनीयो भवति, अतो **वां** युवयोरपीप्सितत्वात् सम्यग् जातः ॥ ४२ ॥

व्याख्यार्थ—अनन्त करोड़ जन्मों में आपने पाप और पुण्य इकट्ठे किये थे सौ दिव्य वर्ष मेरे दर्शन की प्रतिक्षा करने के भाव से आपके पाप तो नष्ट हो गए, अब शेष पुण्य रहे हैं जिनका फल भक्ति की प्राप्ति है, इसलिये आप बड़े भाग्यशाली हो। दोनों का मन मिलकर एक हो गया है अतः भाव भी एक होने से यहाँ केवल एक नंलकूबर संबोधन से दोनों पर ही अनुग्रह कहा है। गृह के लिये श्लोक में 'सदन' शब्द न देकर 'सादन' दिया है आचार्यश्री उसका आशय बताते हैं कि आप अपने घर जाओ किन्तु आपकी वहाँ जाने पर घर में आसक्ति न होगी क्योंकि वहाँ आपने कष्ट पाया है अथवा वहाँ से आपका नाश हुआ है मेरे में तो आपका मेरे सम्बन्धवाला प्रेमरूप भाव हो ही गया है इससे ही श्रवणादिक स्वतः हो जाएंगे। इस प्रकार के भाव की तो प्रार्थना नहीं की है इससे जाना जाता है कि हमको यह इष्ट नहीं है? इसके उत्तर में श्लोक में "ईप्सितः" शब्द देकर यह बता दिया है कि आपको इष्ट है उसका कारण बताने के लिये 'परमत्वं' शब्द दिया है यह भाव ही अन्तिम जन्मरूप है। इस भाव के होने के पीछे दूसरा जन्म नहीं होता है अनेक जन्मों से जो दुःखी है वे सब मेरे में यह भाव माँगने के योग्य हैं अर्थात् मांगते (चाहते) ही हैं। अतः आप दोनों को भी यह इष्ट होने से सम्यक्[2] प्रकार से यह भाव हुआ है ॥ ४२ ॥

१—आवश्यकता। २—अच्छे।

आभास––एवमुक्तौ तत्रोचितं कृत्वा गतवन्तावित्याहेत्युक्तौ ।

आभासार्थ—भगवान् ने उनको जो कुछ ऊपर कहा, वह सुनकर वे जाने लगे । जाने से पहले जो कुछ उनको करना योग्य था वह उन्होंने किया उसका वर्णन नीचे के श्लोक में शुकदेवजी करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक---**इत्युक्तौ तं परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः ।**
बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम् ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ––श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि ऊखल में बन्धे हुए भगवान् से इस प्रकार कहे हुए वचन सुनकर उन दोनों ने उन (ऊखल में बन्धे हुए) की बार बार परिक्रमा और नमस्कार कर और आज्ञा लेकर वें उत्तर दिशा में गये ।

सुबोधिनी—तमिति बालकव्युदासः, बहुवारं प्रदक्षिणां कृत्वा प्रतिप्रदक्षिणं नमस्कृत्य चकरात् स्वदीनतां चाविष्कृत्य लीला भावादिभिरण्य मोहितौ सन्तौ बद्धमुलूखलं यस्मिन्निति, आमनय 'गच्छाव' इत्युक्त्वोत्तरां दिशं स्वस्थानं जग्मतुः, एवं गोकुलवासि नोर्वृक्षयोरपि निरोध उक्तः ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ––श्लोक में (त) शब्द इसलिये दिया है कि वे बालक नहीं थे अर्थात् परब्रह्म थे इसलिये उनकी बार बार प्रदक्षिणा की । प्रत्येक प्रदक्षिणा के समय प्रणाम किये । श्लोक में (च) शब्द आया है उसका आशय बताते हैं कि प्रणाम अभिमान से नहीं किये किन्तु दीनता प्रकट कर प्रणाम किए । लीला भाव से भी मोहित नहीं हुए, अर्थात् उस समय श्रीकृष्ण मनुष्य के बालक के समान ऊखल में बन्धे हुए थे और डरने आदि की चेष्टा कर रहे थे इसको देख कर भी भूले नहीं कि यह मनुष्य है इससे इनको प्रदक्षिणा और प्रणाम कैसे करें, मोहित न हुए इसीलिये प्रणाम के पीछे उसी ऊखल में बन्धे हुए से ही जाने की आज्ञा ली । आज्ञा लेकर अपने स्थान उत्तर दिशा में गये । इस लीला से यह स्पष्ट दिखाया कि मैंने केवल गोकुलवासी चेतन्यों का ही निरोध नहीं किया है किन्तु गोकुल के जड़-वृक्षों का भी निरोध किया ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम-स्कन्ध (पूर्वार्ध) के दशम अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकृत श्रीसुबोधिनी (संस्कृत टीका) के द्वितीय 'तामस-प्रकरण, प्रमाण' अवान्तर प्रकरण, का 'वैराग्य निरूपक' छट्ठा, स्कन्धानुसार दशम अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

इस 'वैराग्य' निरूपक अध्याय में श्रीबालकृष्ण दामोदर प्रभु की लीला सम्बन्धित निम्न पदों से आनन्द लेवें।

रागधनाश्री

हरि चितये यमलार्जुन तन।
अबहि आजु इनहि उद्धारों, ए हैं मेरे निज जन ॥ १ ॥
इनके हेतु भुजा बन्धवाई, अब बिलम्ब नहिं लाऊँ।
परस करौं तनु तरुहि गिराऊँ, मुनिवर श्राप मिटाऊँ ॥ २ ॥
ए सुकुमार बहुत दुःख पायो, सनकादिक सुत चारों।
सूरदास प्रभु कहत मन हि मन, कर बन्धन निरवारों ॥ ३ ॥

(२)

तबहि श्याम एक बुद्धि उपाई।
युवति गई घरनी सब अपने, गृह कारज जननि अटकाई ॥ १ ॥
आप गए यमलार्जुन तरु पट, परसत पात उठे झहराई।
दिए गिराए धरनि दोउ तरुवर, द्वै कुबेरसुत प्रकटे आई ॥ २ ॥
द्वै कर जोर करत दोउ अस्तुति, चार भुजा तिन प्रकट दिखाई।
सूर धन्य व्रज जन्म लियो हरि, धरनी की आपदा नसाई ॥ ३ ॥

(३)

धनि गोविन्द धनि गोकुल आए।
धनि धनि नन्द धन्य निशिवासर, धनि यशुमति जिन गोद खिलाए ॥ १ ॥
धनि व बाल केलि यमुना तट धनि बन सुरभि वृन्द चराए।
धनि यह समय धन्य व्रजबासी, धनि धनि वेरण मधुर धुनि गाए ॥२ ॥
धनि धनि अनख उराहनो धनि धनि, धनि माखन धनि मोहन खाए।
धन्य सूर ऊखल तरु गोविन्द, हमहि हेतु धनि भुजा बंधाए ॥ ३ ॥

(४)

जा को ब्रह्मा अन्त न पावे।
तासों नन्द की नारि यशोदा, घर की टहल करावे ॥ १ ॥
शेष सनक नारद गनेश मुनि, जाके गुण नित गावे।
निसि बासर खोजन पच हारे, मुनि मन ध्यान न आवे ॥ २ ॥
धनि धनि गोकुल धनि व्रज बनिता, निरखत श्याम बंधावे।
सूरदास प्रभु प्रेमहि के बस, संतनि दरस दिखावे ॥ ३ ॥

(५)

धनि धनि धनि ऋषि श्राप हमारे।
आदि अनादि निगम नहि जानत, ते हरि प्रकट देह व्रज धारे ॥ १ ॥
धन्य नन्द धनि मात यशोदा, धन्य आंगन में खेलत बारे।
धन्य श्याम धनि दाम बंधाए, धनि ऊखल धनि माखन त्यागे ॥ २ ॥
दीन बन्धु करुणानिधि हो प्रभु, राखि लेहु हम शरण तुम्हारे।
सूर श्याम के चरण शीस धरि, अस्तुति कर निज धाम पधारे ॥ ३ ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित – सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस-प्रकरण

प्रमाण अवान्तर प्रकरण

सप्तमो अध्याय

दशम स्कन्धानुसार : एकादश अध्याय

कारिका—**निरोधः सर्वभावेन वर्णनीयो हि गोकुले ।**
स्त्रीणां स चोक्तः पुंसां च नन्दप्राधान्यभावतः ।

कारिकार्थ—गोकुल में सर्वभाव से जो निरोध का वर्णन करने योग्य है, वह स्त्रियों का है और पुरुषों का भी मुख्य कर नन्दजी के भाव से कहा है ॥ १ ॥

व्याख्या—गोकुल में सर्वभाव से (सब प्रकार से अथवा सर्व करणों[1] से जिसके द्वारा भगवान् से सम्बन्ध हो जाए इसी प्रकार से) निरोध करना है । दशम स्कन्ध 'निरोध स्कन्ध' है अतः उसमें गोकुल का, 'फल' पर्यन्त पूर्ण निरोध प्रथम कहा है । इससे पहली और दूसरी कारिका से ग्यारहवें अध्याय का 'अर्थ' और प्रथम कहे हुए की संगति कही है । इस अध्याय में स्त्रियों का निरोध और नन्दरायजी की मुख्यता से पुरुषों के निरोध का भी वर्णन है ॥ १ ॥

१—साधनों ।

कारिका—**एकादशे ततोध्याये पूर्वावस्थामशेषतः ।**
त्याजयित्वा तु नन्दस्य कृष्णभावो निरूप्यते ॥ २ ॥

कारिकार्थ—इससे ११ वें अध्याय में पूर्वावस्था (पहली अवस्था) का पूर्ण रीति से त्याग कराके, नन्दरायजो के कृष्ण के भाव का निरूपण करते हैं ।

व्याख्या—यद्यपि नन्दरायजी के निरोध का वर्णन पूर्व हुआ है, किन्तु वह सामान्य था । क्योंकि उस समय नन्दरायजी से प्रपञ्च की आसक्ति नहीं छूटी थी । अब इस अध्याय में वर्णन की हुई लीला द्वारा नन्दरायजी की प्रपञ्च में रही हुई आसक्ति का पूर्ण त्याग कराके, कृष्ण में आसक्ति रूप भाव उत्पन्न कराया जाएगा । जिससे नन्दरायजी का पूर्ण निरोध सिद्ध होगा उसका निरूपण इस अध्याय में किया गया है ॥ २ ॥

कारिका—**मोचनं मुग्धलीला च स्थानान्तरपरिग्रहः ।**
तत्र लीला वत्सबकौ ज्ञानं चेति निरूप्यते ॥ ३ ॥
षड्भिस्त्रिभिः षोडशभिश्चतुर्भिः षड्भिरेव च ।
नवभिः पञ्चभिश्चेति सप्तार्थाः सगुणो हरिः ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—(१) छुडाना (ऊखल में बान्धे हुए भगवान् को छुड़ाना), (२) मुग्ध लोला, (३) दूसरे स्थान पर जाकर रहना, (४) वहाँ लीला करनी, (५) वत्सासुर का वध, (६) बकासुर का वध और (७) ज्ञान लीला । इन सातों का वर्णन क्रमशः निरूपण किया है जैसा कि (१) छुड़ाने का छः श्लोकों से, (२) मुग्ध लीला का तीन श्लोंकों से, (३) दूसरे स्थान पर जाकर रहने का सोलह श्लोकों से, (४) लीला करने का चार श्लोकों से, (५) वत्सासुर का वध छ श्लोकों से, (६) बकासुर के वध का नौ श्लोकों से, (७) ज्ञानलीला का पांच श्लोकों से वर्णन कर यह बताया है कि छ गुणों वाला 'ज्ञान रूप' धर्मी हरि इस ११ वें अध्याय का 'अर्थ' है ॥ ३-४ ॥

व्याख्या—इन दो कारिकाओं से यह बताया है कि इस अध्याय का अर्थ 'हरि है । वह हरि ऐश्वर्यादि छ गुण और ७ वां आप धर्मी रूप होने से 'सगुण' कहा गया है ।'३-४ ॥

कारिका—**स्वार्थं तु भगवान् कार्यस्तथात्वं ज्ञाप्यते पुनः ।**
सर्वस्वं हरिरेवेति तदर्थं त्याग ईर्यते ॥ ५ ॥

कारिकार्थ--भगवान् अपने रस भोगार्थ जो निरोध करते हैं वह निरोध भगवान् ही हैं अर्थात् वह निरोध भगवान् का ही रूप है। इस प्रकार फिर समझाते हैं कि सर्वस्व[1] हरि ही है उस (हरि) के लिये त्याग कहा जाता है।

व्याख्या--भगवान् दो प्रकार से निरोध करते हैं। एक अपने लिये दूसरा अन्यों के लिये। अपने लिये जो निरोध करते हैं वह लीलारूप निरोध भगवद्रूप (धर्मीरूप) है और अन्यों के लिये जो निरोध करते हैं वह निरोध धर्मरूप है। पहले ६ अध्यायों में जो निरोध किया है वह धर्मरूप (गुणरूप) है। सातवें अध्याय में जो दूसरों के लिये पाँच प्रकार के निरोध का वर्णन किया है उनसे श्रोताओं की भगवद्गुणानुवाद में रुचि उत्पन्न होती है जिससे भगवान् में उनकी आसक्ति होती है। पाँचवें अध्याय से दसवें अध्याय तक ६ अध्याय गुणाध्याय हैं और यह एकादश (११) अध्याय रूपाध्याय है इसलिये इसमें रूपलीला से निरोध करते हैं। इस रूप लीला से निरोध दृढ़[2] हो जाता है।

भगवान् जिस प्रकार भक्तों का निरोध अपने में कराते हैं वैसे ही अपना निरोध भक्तों में कराते हैं इस प्रकार दोनों का परस्पर निरोध होने से निरोध परिपक्व होता है।

'स्वार्थ' का विशेष आशय यह भी है कि अपने मन में जिस प्रकार की भगवत्सेवा करने की इच्छा हो उसकी सिद्धि के लिये भगवान् को अपने वश में करना आवश्यक है यह भगवान् को ऊखल से छुड़ाने की प्रथम लीला से बताया है। दूसरी मुग्ध लीला से भगवान् भक्तों के वश होते हैं यह बताया हैं जिसका आशय है कि यह देखकर अन्य भी उस फल की इच्छा से सेवा करेंगे ॥५॥

कारिका--**वृन्दावने स्थितौ हेतुर्भगवत्तोषतः परम् ।**
नास्तीतिज्ञापनायोक्ता प्रीतिर्लीलोपयोगिषु ॥ ६ ॥

कारिकार्थ--वृन्दावन में स्थिति का कारण भगवान् को प्रसन्न करने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है क्योंकि वृन्दावन में लीलोपयोगी जो पदार्थ हैं उनमें भगवान् की प्रीति है।

व्याख्या--गोकुल छोड़कर वृन्दावन में जाकर क्यों रहे उसका कारण केवल भगवान् की प्रसन्नता है भगवान् को वृन्दावन अति प्रिय है क्योंकि वहाँ लीलोपयोगी पदार्थ सुन्दर एवं विशेष हैं। अतः भगवान् की प्रसन्नता के अर्थ सब कुछ त्याग करना योग्य समझ अपना गोकुल गाँव छोड़ा है। ज्ञान मार्ग में 'आत्मा' के लिये सर्व त्याग किया जाता है वैसे ही इस भक्ति मार्ग में 'सर्वस्व' हरि होने से गोकुल का त्याग किया गया है ॥ ६ ॥

१—सब कुछ। २—पक्का, उपयुक्त।

कारिका—**वत्सचारणदोषस्य निवृत्तिर्वत्समारणम् ।**
गोपालदोषव्यावृत्त्यै बकस्यापि विनाशनम् ॥ ७ ॥

कारिकार्थ—वत्सासुर का वध, वत्सचारण के दोषों की निवृत्ति के लिये किया है और गौपालन के दोषों का निवारण करने के वास्ते बकासुर का वध किया है ।

व्याख्या—इस कारिका में वत्सासुर वध और बकासुर वध क्यों किया ? उसको बताया गया है । वत्सासुर वध का कारण भगवान् में वत्स चारण शी लीला से, जो मनुष्यत्व बुद्धि रूप दोष, गोकुलवासियों में उत्पन्न हुआ था, उसका नाश किया । वह असुर, वत्स का रूप धारण कर, बछड़ों में मिल गया था, जिसको ईश्वर के अतिरिक्त कोई नहीं पहचान सकता था । कृष्ण ने अपना ईश्वरत्व प्रकट दिखाने के लिये उसको पहचान कर उसका नाश किया जिससे दोष निवृत्ति हुई । दूसरा वत्सों के चराने से काँटों वाले और कंकरवाले स्थानों पर वत्स जाते हैं जिससे उनको कष्ट होता है । उनसे उत्पन्न दोषों को भी, वत्सासुर वध से निवृत्त किया । वह दोषरूप असुर दुष्ट बुद्धि से भगवान् के वत्सों में (भगवदीयों में) प्रविष्ट हुआ था । उसका फल यह हुआ कि वह स्वरूप से नाश हो गया किन्तु भगवदीयों के सम्बन्ध से उसको भगवान् के कर कमल का संस्पर्श हुआ जिससे उसकी दुष्ट बुद्धि नष्ट हो गई ।

इस लीला से यह शिक्षा प्राप्त होती है कि भक्तों का संग, दोष रहित बुद्धि से करना चाहिये । यदि दुष्ट बुद्धि से किया जाएगा तो वत्सासुर की तरह नाश को प्राप्त होना पड़ेगा । भगवान् अपने भक्तों का जब अनिष्ट दूर करते हैं तब लोक अथवा वेद मर्यादा की अपेक्षा नहीं रखते हैं ॥ ७ ॥

कारिका—**स्थानत्यागे हरीच्छैव कारणं न तु दुष्टता ।**
तज् ज्ञापयितुमत्रापि बकत्वसौ विनाशितौ ॥ ८ ॥

कारिकार्थ—स्थान के त्याग का कारण स्थान की दुष्टता (दोषों का होना) नहीं था किन्तु भगवान् की इच्छा थी यह बताने के लिए वहाँ भी असुर और वत्सासुर का वध किया है ।

व्याख्या—इस कारिका में यह कहा है, कि किसी को यह भ्रम हुआ हो, कि गोकुल इसलिये छोड़ा है कि वहां पूतना आदि दैत्य आए उनको भगवान् ने मारा इसलिये यह गोकुल दोषयुक्त होने से दुष्टता को प्राप्त हुआ है इसलिये इसे छोड़ा है । इस भ्रम[1] निवृत्यर्थं[2] वृन्दावन

१—सन्देह । २—मिटाने के लिये ।

में भी बक और वत्स को मारा है। जिससे इस भ्रम की पूर्णतया निवृत्ति की है। जो भगवान् अन्तःकरण में सदैव विराजमान हैं, दम्भ[1] जो लोभ और असत्य को पैदा कर उनको (भगवान् को) तिरोहित[2] करता है उस (दम्भ) ने बक का रूप धारण कर अपना दम्भ रूप (दोष स्वरूप) प्रकट कर दिखाया था। दम्भ रूप असुर ने गोपालों के अन्तःकरण में प्रवेश किया था किन्तु यमुनाजल के पान से वह दम्भ उनके अन्तःकरणों में से बाहिर निकल गया वहां से निकल कर उस असुर ने अपने जैसे दम्भी बक का रूप धारण किया है भगवान् जो अन्तर्यामी हैं उनने यह जानकर बक रूप असुर का नाश किया जिससे गोपाल दम्भ रूप दोष से निश्चिन्त हो गए ॥ ८ ॥

कारिका—**अतो विमर्शो गोपानामानन्दश्च निरूपितः ।**
तदर्थमेव च हरेर्बालभावो न चान्यथा ॥ ९ ॥

कारिकार्थ—अतः गोप के विचार करने का और आनन्द का निरूपण किया है। हरि का बाल भाव इसलिये ही है, न कि अन्य किसी भाव से है।

व्याख्या—गोकुल दोष युक्त (दुष्ट) नहीं था इसलिये गोकुल का त्याग गोपों नें भगवान् की इच्छा जानकर किया है। अतः गोपों ने वृन्दावन में निवास करने की मन्त्रणा[3] और आनन्द के अनुभव का वर्णन किया है। भगवान् की बाल लीला का मुग्ध[4] भाव आनन्द के लिए और नन्दादिकों का सर्व भाव से निरोध करने के लिये था ॥ ९ ॥

कारिक—**सम्पन्ने तु ततस्तस्य परित्यागोपि वर्ण्यते ॥ ९½ ॥**

कारिकार्थ—उसके पूर्ण हो जाने के पीछे बाल भाव के त्याग का भी वर्णन है।

व्याख्या—नन्दादिकों का पूर्ण निरोध सम्पन्न होने के अनन्तर बाल-भाव लीला की आवश्यकता न रही। अतः भगवान् के बाल-भाव का त्याग करना युक्त था। जिसका वर्णन भी इस अध्याय में किया है ॥ ९½ ॥

आभास—तत्र प्रथमं प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकं भगवदासक्ति वक्तुं भयविमोकावाह गोपा नन्दादय इतिषड्भिर्नन्दार्थमेवैतदिति ज्ञापयितुं नन्दादय इति, गोपा इति ।

१—कपट, पाखण्ड। २—छिपाता है। ३—सम्मति सलाह। ४—भोला भाला स्वभाव।

आभासार्थ—एकादश अध्याय में, प्रपञ्च के विस्मरण के साथ भगवान् में आसक्ति का वर्ण करने के लिये प्रथम गोपों के उत्पन्न भय का और भगवान् को ऊखल से नन्दजी ने छुड़ाया उसका वर्णन पहले से लेकर छः श्लोक तक करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—**गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम् ।**
तत्राजग्मु कुरुश्रेष्ठ निर्घातभयशङ्किताः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहते हैं हे कुरुश्रेष्ठ ? वृक्षों के गिरने का शब्द सुनकर बिजली के गिरने की शंका से भयभीत हुए नन्दादिक गोप वहाँ आए।

सुबोधिनी—स्वतः सामर्थ्याभावः, भगवतोऽद्भुतलीलामाह श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवमिति, पततोर्द्रुमयोरिदानीं रवः श्रुतो यदा तौ स्तुत्वा निर्गतौ, इदं नान्यशक्यं, ततस्तत्राजग्मुः, कुरुश्रेष्ठेतिविश्वासार्थं, सर्वेषां तत्रागमने हेतुर्निर्घातभयशङ्किता इति, निर्घातो निरभ्रविद्युत्पातस्तत्कृतं भयं कस्यचिदुपद्रवो भाव्यनिष्टसूचनम् ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ—पहले से छट्ठे श्लोक तक की लीला नन्दजी के निरोध के लिये ही की है। वह बताने के लिये श्लोक में नन्दजी का नाम पहले दिया है। गोपों में वहाँ अकेले जाने की सामर्थ्य नहीं थी इसलिये नन्दजी को आगेवान कर उनके पीछे-पीछे गए यह बताने के लिये श्लोक में 'गोपाः' शब्द का विशेषण नन्दादय (नन्द है आदि में जिनके ऐसे गोप) दिया है। 'दोनों पेड़ों के गिरने का शब्द सुनकर' नन्दादिगोपों को आश्चर्य हुआ, क्योंकि भगवान् की अद्भुत लीला थी। वृक्षों के गिरने का शब्द उन्होंने तब सुना जब वे (नलकूबर और मणिग्रीव) स्तुति करके चले गए थे। इस प्रकार की यह लीला ईश्वर बिना दूसरा कोई नहीं कर सकता है। क्योंकि पेड़ गिरे वे देवरूप होकर प्रगटे और भगवान् की स्तुति की, तब तक गोपों ने न शब्द-ध्वनि सुनी और न कुछ जाना उनके जाने के पीछे शब्द सुना यह ईश्वर की अद्भुत लीला है और ईश्वरत्व है। इस लीला पर आपको विश्वास होगा और होना चाहिये क्योंकि आप 'कुरुश्रेष्ठ' हो। नन्दजी के अतिरिक्त अन्य गोपादिकों के आने का कारण बताने के लिये 'निर्घातभयशंकिताः' पद श्लोक में दिया है जिसका आशय यह कि आकाश में बादल नहीं है तो भी बिजली गिरी है यह उपद्रव है वह भावी[1] अनिष्ट[2] की सूचना देता है इससे उत्पन्न भय के कारण शंकाशील होकर सब वहाँ आ गए थे ॥ १ ॥

१—आगे आने वाले। २—सङ्कट या विपत्ति।

आभास---आगतानां ज्ञानमाह भूम्यामिति ।

आभासार्थ—आए हुए नन्दादिकों को जिस प्रकार का ज्ञान हुआ उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक---**भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशुर्यमलार्जुनौ ।**
बभ्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ---वहां पृथ्वी पर पड़े हुए यमलार्जुन को देखा, पड़ने का कारण प्रत्यक्ष होते हुए भी उसको न समझकर भ्रमित हो गए ।

सुबोधिनी—भूमौ निपतितावर्जुनौ दृष्टवन्तः ततोन्यत्र तौ चेत् पतितौ भवतस्तदा कालान्तरत्वं न दोषायेति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह तत्रेति, यत्रैव स्थितौ तत्रैव **पतितौ**, आर्द्रता च तेषां दृष्टिगम्या न भवति, बहिर्मुखत्वात्, जातायामपि तत्राप्याकर्षणस्यापेक्षितत्वात् तस्य पतनस्य कारणमविज्ञाय बभ्रमुः, ननु प्रत्यक्षस्याभावेप्यनुमानेन कथं न कल्प्यते ? तत्राह लक्ष्यमिति, लक्ष्यमप्यविज्ञाय, ते ह्यतिनैयायिका युक्तिबाधितं प्रमाणं न किमपि मन्यन्ते, अतो व्याप्तस्याभावान्नानुमानेन पतनकारणज्ञानम् ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—पृथ्वी पर पड़े हुए पेड़ों को देखा । श्लोक मे दिये हुए 'तत्र' का भावार्थ बताते हैं कि यदि वे पेड़ कहीं दूर जा के गिरे होते और हमको देरी से पता लगता तो देरी होना दोष नहीं था, किन्तु जहां खड़े थे वहां ही गिरे हैं और गिरे हुए को विशेष समय भी नहीं हुआ है । बहिर्मुख होने से उनको पेड़ों की आर्द्रता[1] भी देखने में नहीं आई । यदि उन्होंने गीलापन देखा भी हो तो भी उन (पेड़ों) को खेंचने की आवश्यकता थी यहां कोई खेंचने वाला नहीं देखकर, उनके गिरने का कारण न जानकर भ्रम में पड़ गए । यदि प्रत्यक्ष से, कारण को नहीं जान सकें तो अनुमान से कारण की कल्पना कर लेते ? इसके उत्तर में श्लोक में 'तद् अविज्ञाय लक्ष्यं' पद दिये हैं जिसका आशय है कि देखने में आते हुए को भी न समझ सके । जब देखा कि वृक्ष गिरे पड़े हैं, तो अवश्य इनको किसी ने गिराया होगा, ऐसा अनुमान लगा के कारण का पता लगा लेते यों भी उन्होंने नहीं किया । कारण कि वे बड़े नैयायिक थे । बड़े नैयायिक जिसका युक्ति से बाध[2] हो जाता है वैसा कोई प्रमाण नहीं मानते हैं । इससे किसी ने गिराये हैं । इस प्रकार के ज्ञान का प्रमाण न होने से और उसके अनुमान करने की इच्छा न होने से एवं व्याप्ति*

---

* एक वस्तु के ज्ञान होने पर दूसरी वस्तु का ज्ञान व्याप्ति हैं । जैसे जहां धूम्र (धूंआ) होता है वहां अग्नि होनी ही चाहिये ।

१—गीलापन । २—झूठा सिद्ध होना ।

वाले किसी भी कारण के न होने से उन्होंने समझ लिया कि अनुमान से गिरने के कारण का ज्ञान नहीं होगा ॥ २ ॥

आभास----ननु भगवानस्त्येव प्रत्यक्षसिद्धः कोत्र सन्देह इति चेत् तत्राहोलूखलमिति ।

आभासार्थ—वृक्षों को गिरानेवाला भगवान् यहां है ही यह प्रत्यक्ष दिखता है इसमें किसी प्रकार से संशय नहीं है तो भी उनको सत्य ज्ञान नहीं हुआ यह तीसरे श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक---**उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम् ।**
कस्येदं कर्म आश्चर्यमुत्पात इति कातराः ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ--(नन्दादिगोपों ने) रज्जु से बंधे हुए बालक को, ऊखल खेंचते हुए देखा तो भी यह काम किसका है ? आश्चर्य है ! यह कोई उत्पात है ऐसा समझ भयभीत हो गए ।

सुबोधिनी—उलूखलाकर्षणं कुर्वन्तं तदानीमपि ततोप्यग्रे गच्छन्तं वृक्षयोर्मध्ये स्थित, अन्यत्र गमनाभावे हेतुर्दाम्न बद्धमिति, च कारादुलूखलेन सह वृक्षयोः पातं बालकं चेति वा बालकत्वादेव न स्वतो मोचनं भगवन्तं हेतुत्वेन प्रत्यक्षसिद्धमप्यन्यथासिद्धं कृतवन्त इत्याह कस्येदमिति, इदं बन्धनलक्षणं कस्य कर्म ? कर्मेतिवचनं, व्याकुलत्वज्ञापकं, किञ्च कुतो वा हेतोरेतद् बन्धनमिति, आश्चर्यमिति, बालकस्य बन्धनं तेन पातनं त्वसम्भवितमेवात आश्चर्यमेवैतदुभयमपि, पातनमेव वा, नन्वकारणकार्योत्पत्तिः कथम् ? तत्राह उत्पात इति, अयमुत्पातो देवदैत्यादिकृतो भाव्यनिष्टसूचको न तु सर्वथा युक्तिबाधितो भगवता कृत इति कार्यकारणभावे प्रत्यक्षसिद्धेऽपि न तथात्वमङ्गीकर्तुं शक्यते, अत एव भ्रान्तो नैयायिकस्तर्कविरुद्धं न मन्यते, 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेदि" तिवाक्याच्च, तर्हि किं जातं तादृशज्ञानस्य फलमित्याकांक्षायामाहोत्पात इति कातराः,पातस्तूत्पातरूपः अग्रे च भयं भविष्यतीति कातरा भयव्याकुला जाता इत्यर्थः ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ—जिस समय नन्दादि गोप वहाँ गए उस समय भी भगवान् उखल को खेंच रहे थे खेंचते हुए वहां वृक्षों के बीच में ही स्थित थे । आगे न जाने का कारण यह था कि आप ऊखल से बन्धे हुए थे श्लोक के 'च' अक्षर का आशय बताते हैं कि गोपों ने यह प्रत्यक्ष देखा कि ऊखल के कारण पेड़ पड़े हैं क्यो कि ऊखल पेड़ों के बीच मे टेढा हुआ वृक्षों के पास पड़ा है । और ऊखल से बन्धे हुए बालक को देखा । बालक होने से स्वयं ऊखल से अपने को नहीं छुड़ा सके ।

भगवान् वृक्षों के गिराने का कारण है यह प्रत्यक्ष सिद्ध देखकर भी इस हेतु को उन्होंने नहीं माना किसी दैत्य का यह उत्पात कार्य है ऐसा समझ उसको हेतु मान लिया । भगवान् के बन्धन

का कर्म किसने ? यहाँ 'कर्म' शब्द से गोपों ने अपनी व्याकुलता प्रकट की है और भगवान् के बान्धने का क्या कारण है ? अचम्भा हैं ! बालक ऊखल में बन्धा हुआ है, वह पेड़ों को गिरावे यह असम्भव है । अतः यह भी आश्चर्य है, और पेड़ों का गिरना भी आश्चर्य है । कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति कैसे हुई ? अर्थात् कारण के बिना पेड़ों का पातरूप कार्य कैसे हुआ ? इसके उत्तर में कहते हैं कि यह देव अथवा दैत्यों द्वारा किया हुआ उत्पात[1] है और आने वाले अनिष्ट[2] का सूचक है । सर्व प्रकार से जो युक्ति से वाधित[3] हैं वह तो भगवान् ने नहीं किया है। कार्य (पेड़ों का गिरना) और कारण (भगवान् का भाव) प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर भी हम वह नहीं मान सकते हैं । इस से ही कहा जाता है कि तर्क विरुद्ध बात को न मानने से वे नैय्यायिक भ्रान्त[4] हैं । क्यों कि शास्त्र में कहा है कि 'अलौकिकास्तुये भावा नतांस्तर्केण यौजयेत्' जो अलौकिक भाव हैं उनको तर्क से सिद्ध नहीं करना चाहिये । इस प्रकार युक्तियों पर आधार रखने का फल क्या हुआ ? वृक्षों के गिरने को उत्पात समझा और उससे भावी आपदा आने वाली है यों समझ भयभीत हुए ।। ३ ।।

आभास––अत एव बालकैरुच्यमानमपि वाक्यं नांगीकृतवन्त इत्याह बालाः प्रोचुरितिद्वाभ्यां ।

आभासार्थ—महानैयायिक होने से ही बालकों की प्रत्यक्ष देखी हुई बात को भी नहीं माना । इसका वर्णन ४थे–५वें दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक––**बालाः प्रोचुरनेनेति तिर्यग् गतमुलूखलम् ।**
विकर्षता मध्यगेन पुरुषावप्येचक्ष्महि ।। ४ ।।

श्लोकार्थ––बालकों ने कहा ति पेडों के बीच मे आए हुए इस (बाल कृष्ण) ने टेढ़े पड़े हुए ऊखल को खेंचा जिससे ये पेड़ गिर गए हैं और उनमें से निकले हुए दो पुरुषों को भी हमने देखे हैं ।

सुबोधिनी—सर्व एव बाला यथादृष्टार्थवादिनः कल्पनासमर्थाः कारणं प्रोचुः, तेषां वाक्यमाहानेनेति, अनेन वृक्षौ पातितौ, प्रकाराकङ्क्षायामाहुस्तिरश्चीनमुलूखलं विकर्षतेति, तिर्यक् पतितमुलूखलं तं विशेषेण कर्षता, कर्षणेपि प्रयोजनमाहुर्मध्यगेनेति, मध्ये स्थितः किं कुरयात् ? नचैतज् ज्ञानं भ्रान्तमित्याशङ्कायामाहुः पुरुषावप्यचक्ष्महीति, वृक्षाद् द्वौ पुरुषौ निर्गतौ तावप्यस्माभिर्दृष्टाविति, अतः स्वदृष्टं लौकिकमलौकिकं चोक्तवंतः ।। ४ ।।

१—उपद्रव । २—विपत्ति । ३—सिद्ध नहीं । ४—भ्रम में पड़ हुए ।

व्याख्यार्थ—जो बालक अब तक बात की बनावट करने में असमर्थ हैं उन्होंने जैसा देखा वैसा ही वे कहने लगे। उन्होंने कहा कि पेड़ इस बालक ने गिराए हैं। इसने कैसे गिराए ? तो कहने लगे कि इस टेढ़े ऊखल को खेंचते हुए गिरा दिए। यह ऊखल खेंचते हुए टेढ़ा हो गया था उसको जोर से खेंचा तो पेड़ गिर गए। जोर से क्यों खेंचा ? तो कहने लगे कि बालक पेड़ों के बीच में स्थित था इसलिये क्या करे ? बाहिर निकलने के लिये उसको जोर से खेंचना आवश्यक था। जब ऊखल को जोर से खेंचा तो पेड़ गिर गए। यह ज्ञान संशययुक्त (भ्रमवाला) न समझना क्योंकि पेड़ों के गिरते हुए उनमें से दो पुरुष निकले वे भी हमने देखे हैं। बालकों ने जो कुछ लौकिक (ऊखल को खेंचना उसका टेढ़ा होना तथा पेड़ों का गिरना) और अलौकिक (पेड़ों से दो देवरूप पुरुषों का निकलना) देखा वह उनको कह दिया ॥ ४ ॥

आभास—तदुभयमपि तैर्नाङ्गीकृतमित्याह न ते तदुक्तं जगृहुरिति ।

आभासार्थ—बालकों के कही हुई दोनों बातें उन्होंने नहीं मानी ।

श्लोक—**न ते तदुक्तं जगृहुर्न घटेतेति तस्य तत् ।**
बालस्योत्पाटनं तर्वोः केचित् सन्दिग्धचेतसः ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ—वृक्षों को यह बालक जड़ से उखेड़ दें यह हो नहीं सकता है, ऐसा समझ कर बालकों का कहना नहीं माना। कुछ गोपों को संशय हुआ कि कदाचित् इसने इस प्रकार से गिरा भी दिया हो।

सुबोधिनी—ते गोपा बालकोक्तं न सत्यमिति गृहीतवन्तस्तत्र हेतुर्न **घटेतेति, तस्य बालकस्य तर्वोरुत्पाटनं** सर्वथा युक्तिवाधितं, **केचन** पुनरार्द्रनैयायिकाः **सन्दिग्धचेतसो** जाताः शकटतृणावर्तयोर्भङ्गदर्शनात्, न तु तेषामपि कश्चन निर्धारः ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—उन गोपों ने जो कुछ बालकों का कहना था उसको सत्यरूप से ग्रहण नहीं किया क्योंकि बालकों का कहना युक्ति से वाधित था, अर्थात् युक्ति से सिद्ध नहीं होता है कारण कि पेड़ इतने बड़े और बालक इतना छोटा, वह छोटा बालक इतने युगल[१] पेड़ को कैसे गिरा सकेगा ? अतः यह बालकों का कहना युक्तियुक्त न होने से मानने योग्य नहीं हैं। बड़े नैयायिकों[२] ने तो इस प्रकार निश्चय कर लिया किन्तु उनमें कुछ आर्द्र-नैयायिक[३] भी थे उनको बालकों के कहने से मन में संशय हुआ कि कदाचित् इस बालक ने इस प्रकार टेढ़े ऊखल को खेंचते हुए गिरा भी

१—जुड़े हुए।
२—तर्क (बहस) के आधार पर निर्णय करनेवाले।
३—तर्क (बहस) पर ही पूरा विश्वास न करनेवाले।

दिया हो क्योंकि हमने देखा है कि इसने शकट तोड़ा था और तृणावर्त को मारा था, संशय होते हुए भी उन्होंने किसी प्रकार का निश्चित निर्णय नहीं किया ॥ ५ ॥

आभास---नन्दस्तु सन्दिग्धोपि तं विचारं दूरीकृत्य मोचितवानित्यौहोलुखलमिति।

आभासार्थ—नन्दरायजी संशयशील होते हुए भी इस विचार का परित्याग कर बालक को ऊखल से छुड़ाने लगे इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक---उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम्।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ----रस्सी से बन्धे हुए ऊखल को खेंचते हुए अपने पुत्र को देखकर हँसित मुख वाले नन्दजी ने उसकी रज्जु खोल दी (जिससे कृष्ण) बन्धन मुक्त हो गए।

सुबोधिनी—तदानीमपि विकर्षन्तमिति शीघ्रमोचने हेतुः, दाम्ना बद्धमिति मोचने निमित्तं, स्वमात्मजमिति स्वस्यैवावश्यकत्वं, स्वमिति व्याकुलतापरिज्ञानार्थं स्वपदप्रयोगात् भगवद्भावं प्राप्त इतियुक्तिरपि, तेषामज्ञानं न तेषां बुद्धिदोषेण किन्तु भगवतैव कार्यत इति, प्रहसद्वदन इति धौर्त्यस्मरणात, तस्यापि ज्ञानाभावस्त्वनेनोक्तः, विशेषेण मोचनं सर्वासामेव रज्जूनां पृथक्करणं, हेत्याश्चर्यं, स्वबन्धनं त्वेन मोचितमिति भगवल्लक्षणो बन्धो भगवतैव मोचयितुं शक्यते नान्येनेत्यत इदमाश्चर्यमेव ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—नन्दरायजी ने रस्सी को खोलने की इतनी शीघ्रता क्यों की ? नन्दरायजी ने देखा कि अब भी कन्हैया ऊखल को खेंच रहा है इससे थक गया होगा इससे रस्सी खोलने की शीघ्रता की। रज्जु से बालकृष्ण बन्धा था यह छोड़ने का निमित्त कारण था। नन्दजी ने क्यों छोड़ा ? तो कहते हैं कि अपना पुत्र है इससे स्वयं छोड़ना आवश्यक था। केवल आत्मज (पुत्र) न कहकर 'स्व' शब्द से नन्दजी की व्याकुलता प्रकट की है अथवा 'स्व' पद देकर यह बताया है कि नन्दरायजी भगवद्भाव को प्राप्त हो गये हैं। गोपों को इस प्रकार का अज्ञान उनके बुद्धि दोष से नहीं हुआ था किन्तु भगवान् ने ही उनमें यह अज्ञान उत्पन्न किया था। यह भी नन्दजी ने भगवद्भाव को प्राप्त होने से जान लिया था। भगवान् की धौर्त्यलीला का स्मरण आते ही नन्दजी प्रसन्नवदन (हँसमुख) हो गए हैं। नन्दरायजी में भी ज्ञान का अभाव* था। इससे कहा है। श्लोक में 'मुमोच' के पूर्व 'वि' उपसर्ग दिया है जिसका अर्थ होता है विशेष रीति से छुड़ाना।

---

* प्रकाशकार कहते हैं कि नन्दजी को भी यशोदा ने जो भगवान् का अपराध किया उसका और भगवान् के स्वरूप का ज्ञान नहीं था।

वह विशेषता से छुड़ाना क्या है ? उसको समझाते हैं कि समग्र[1] रज्जू[2] जो जहां कहीं से लाकर गाँठ देकर इकट्ठी की थी उन प्रत्येक की गाँठ खोलकर पृथक् पृथक् करना विशेष छुड़ाना है। यह भी आश्चर्य है। भगवान् जो जीव को बन्धन में डालते हैं उसको भगवान् ही छुड़ा सकते हैं दूसरा कोई नहीं छुड़ा सकता है उन ही भगवान् के बन्धन को नन्दजी ने छुड़ा लिया यह भी आश्चर्य है ॥ ६ ॥

आभास----गोपीनां वशमात्रं प्राप्तस्य भगवतो लीलामाह गोपीभिरितित्रिभिः।

आभासार्थ—गोपियों के आधीन भगवान् की लीला का तीन श्लोकों से वर्णन करते हैं।

श्लोक----**गोपीभिः स्तोभितोनृत्यद् भगवान् बालकः क्वचित्।**
उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत् ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ----गोपियों के बढावा[3] देने से भगवान् किसी समय बालक के समान नृत्य करते, कभी मुग्ध होकर गाते और कभी तो काठ की पुतली के समान उन (गोपियों) के आधीन हो जाते।

कारिका----**विद्योपजीविनां सेवां येनैव च सुखं भवेत्।**
राजसीं तामसीं लीलां सात्विकीं च चकार ह ॥ १ ॥

कारिकार्थ----जिस चरित्र से विद्या के द्वारा आजीविका करने वालों की सेवा, और सुख हों वैसी राजसी, तामसी और सात्विकी लीला भगवान ने की।

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं राजसीं लीलामाह, गोपिकाः प्रत्येकं स्वस्वगृहं नीत्वा 'नृत्यं' कुरु भगवँल्लड्डुकानि दास्यामी'त्युक्तो नृत्यति, तत्रापि **स्तोभितः,** 'कृष्ण एव सम्यङ् नृत्यं जानाति कर्तुं न राम'इत्युक्तः, **स्तोभा** शून्यप्रशंसा यथा स्तोभाक्षराणि भभभेति, तथा **गोपीभिर्यथाकथञ्चित् स्तुतोनृत्यन्** नृत्यं करोति, लडर्थे लङ्, तत्रापि नृत्ये न प्राकृतवन् नृत्यति किन्तु यथा तण्डुर्यथा वा पार्वती, ततोपि सहस्रगुणमत्यन्तं नृत्यति, तदनुचितं, किं पामराणां स्थाने तथानृत्येनेति ? तदाह **भगवानिति,** षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो न ह्यन्यथा नृत्यं कर्तुमर्हति, तर्हि तासामप्यग्रे नार्हत्येवेति चेत् तत्राह **बालकः क्वचिदिति क्वचिद् वा** गोकुले स्वस्य बालभावं प्रदर्शितवानिति, **बालवदितिपाठे क्वचिद्** भगवान् शास्त्रानुसारेण नृत्यति **क्वचिद् बालवत्** केवलं देहपादचालनमात्रं करोति मुग्धभावख्यापनाय, ततोपि कयाचित् 'कृष्ण गाये' त्युक्त **उद्गायति,** उच्चैस्तूष्णीं **गानं** करोति यथा सर्वासां हास्यं भवति, अथवा क्वचिदूर्ध्वं **गायति** यथाशास्त्रं **क्वचिन्मुग्धो**शास्त्रमपि **बालवत्,** किञ्च नृत्यगानयोर'प्येवमुत्थायैव-

१—सब, सारी। २—रस्सी। ३—झूठी प्रशंसा, तारिफ।

मुत्थायैवमुपविष्ट एव सुप्तो गानं कुर्वि' त्युक्तस्तथैव गायतीत्याह तद्वशो दारुयन्त्रवदिति, गोपिकावशो भूत्वा दारुपुत्रिकावन् नृत्यति गायति च ।। ७ ।।

व्याख्यार्थ—प्रमथ राजसी लीला का वर्णन करते हैं। गोपिकाएं भगवान् को अपने अपने घर में लेजा कर नचाने लगी उसका प्रकार बताते हैं कि घर में लेजा कर श्रीकृष्ण को कहती हैं कि हे कृष्ण ! आप नृत्य करो तो आपको लड्डू देंगी। गोपियों के वचन सुनकर भगवान् नृत्य करते हैं। जब भगवान् नाचते हैं तब विशेष नृत्य कराने के लिये झूंठी प्रशंसा करती हैं कि 'कृष्ण तो बहुत सुन्दर नृत्य करते हैं राम को तो नृत्य करना आता ही नहीं है'। यह झूंठी बड़ाई का निरर्थक शब्द 'स्त्तोभ' है जैसे सामवेद में 'भ भ भ' निरर्थक शब्द हैं। इस प्रकार गोपियों की झूठी प्रशंसा से भी नाचने लगे। किन्तु वह नृत्य प्राकृतों के समान प्राकृत नृत्य नहीं था किन्तु तण्डु* और पार्वती के नृत्य से भी सहस्त्रगुणा विशेष नृत्य था। ऐसा उत्तम और इतना नृत्य पामरों (मुर्खों-गौपियों) के सामने करना योग्य नहीं है। इस शंका का समाधान करते हैं कि नृत्य करने वाला बालक भगवान् था भगवान् षड़ेश्वर्य गुणवाले हैं। अतः साधारण प्राकृत नृत्य तो कर नहीं सकते। भगवान् हैं और जब उनको ऐसा उत्तम नृत्य ही करना है तो इन गँवार गोपियों के आगे तो नहीं करना चाहिये ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् होते हुए भी उन्होंने अब गोकुल में बाल-भाव धारण किया हैं इसलिये भगवान् कभी शास्त्र के अनुसार नृत्य करते हैं तो कभी बालक के समान केवल मुग्ध भाव प्रकट करने के लिये हाथ पैर ही चलाते हैं। यदि कोई गोपी कहती हैं कि हे कन्हैया ! गान करो तो इस प्रकार कभी धीरे-धीरे और कभी जोर से बालकृष्ण गाते हैं जिससे सबको हँसी आ जाती है। अथवा ककी शास्त्र के अनुसार जोर से गाते हैं तो कभी मुग्ध बालक के समान शास्त्र विरुद्ध वा मनमाने ढंग से गाने लगते है कभी गोपियां कृष्ण को कहती हैं कि खड़े रहकर गावो तो खड़े होकर गाते हैं कभी कहती कि बैठकर गाओ तो बैठकर गाते थे यदि कहती सोकर गान करो तो सोकर गान करते थे तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण गोपियों के ऐसे वश में हो गए थे कि जैसे गोपीयां कहती थी वैसे ही वैसे आप काठ की पुतली के समान सब कार्य गान नाच आदि करते थे ।। ७ ।।

आभास—लीलान्तरमाह बिभर्तीनि,

आभासार्थ—दूसरो लीला का वर्णन श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**विर्भांत क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम् ।**
बाहुक्षेपं च कुरुते स्वानाँ च प्रीतिमावहन् ।। ८ ।।

---

* प्रकाशकार कहते हैं कि शङ्कर भगवान् के तांडवनृत्य प्रारम्भ कराने वाला 'तण्डु' है।

श्लोकार्थ––कभी गोपियों से शासन् प्राप्त, भगवान् चोकी, पायली[1] और खड़ाऊ पकड़ अपने सम्बन्धी (भक्त) जनों को प्रसन्न करने के लिये वा उनमें प्रेम उत्पन्न करने के लिये अपनी बांह ठोकते थे।

सुबोधिनी—सर्वत्र क्वचिदितिपदेन क्वचित् करोति क्वचिन्न करोतीति ज्ञातव्यं, अन्यथा तथास्वभाव आश्चर्यं न स्याद् बहुधा प्रार्थनं च, क्वचिदाज्ञप्तः 'पीठमानंयोन्मानं तण्डुलादिमानपात्रमानय पादुके दारुमये आनये'त्युक्तः केवलं बिभर्ति न तूत्थापयितुं शक्नोति, अशक्तिभावनां च करोति यथा प्राकृता बालाः कुर्वन्ति, एकवद्भावः स्थूले सूक्ष्मे प्रशस्ते निन्दिते तुल्यत्वज्ञापनार्थः किञ्च बाहुक्षेपं च कुरुते, 'मया सह मल्लयुद्धं कुर्वि'त्युक्तो बाहुविस्फोटनं करोति, चकारादुपर्यपि पतति, बलाविर्भावेन तं चालयतीव, ननु किमित्येवं करोति ? तत्राह **स्वानामिति**, येन कारणेन तेषु स्वत्वं सम्पादितं तेनैव **प्रीतिमुद्वहन्** यावतैव तेषां प्रीतिर्भवति, न त्वधिकं करोतीत्यर्थः ।। ८ ।।

व्याख्यार्थ—'क्वचित्' पद बहुत स्थान पर आया है अतः उसका आशय है कि कभी भगवान् कार्य करते हैं और कभी नहीं भी करते हैं। यदि इस प्रकार न हो और भगवान् सदैव उनकी आज्ञा के अनुसार काम करते ही रहे तो लीला में आश्चर्य उत्पन्न न होवे। आश्चर्य उत्पन्न करना भगवान् का स्वभाव होने से अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं। इस प्रकार आश्चर्य उत्पन्न न करें तो पुनः पुनः प्रार्थना भी नहीं हो। किसी समय गोपियाँ आज्ञा करती है कि 'चोकी ले आ, धान नापने की पायली उठाला और खड़ाऊ ले आ'। वह आज्ञा पाकर भगवान् उन वस्तुओं के पास जाकर उनको पकड़ लेते हैं किन्तु उनको जब उठा नहीं सकते हैं तब प्राकृत बालकों जैसा दृश्य करते हैं कि मैं बालक होने से उठा नहीं सकता हूँ। वह वस्तु छोटी, बड़ी, उत्तम और निन्दित हो सब में समान भाव दिखाया है। भगवान् बाहुओं को इस प्रकार ठोकते हैं जैसे कुशती लड़ने वाले ठोकते हैं। जिससे यह भाव प्रकट करते हैं कि मुझ से मलयुद्ध करो (कुश्ती-लड़ो) मूल में दिये हुए 'च' शब्द का भाव बताते हैं कि उनके ऊपर गिरते (बैठते) हैं। उन पर बैठकर अपने बल को आविर्भूत (प्रकट) कर मानो उनको चलाते हैं। श्लोक में दिये हुए 'स्वानां' का भाव स्पष्ट करते हैं कि जिस कारण से उनमें अपनेपन को स्थापित किया है इसी कारण से ही उनमें प्रीति उत्पन्न कराते हैं उतना ही करते हैं जितने से उनकी प्रीति उत्पन्न हो अधिक नहीं करते हैं ।। ८ ।।

आभास––लीलाद्वयं विशेषतो निर्दिश्य सामान्यतः सर्वामेव लीलां संक्षेपेणाह दर्शयन्निति।

आभासार्थ—दो लीलाएं विशेष प्रकार से वर्णन कर अब साधारण प्रकार से सब लीलाएं संक्षेप से निम्न श्लोक में कहते हैं—

१—अनाज नापने का साधन या बर्तन।

श्लोक---**दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम् ।**
व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ---लोक में भगवान् के स्वरूप को जाननेवाले ज्ञानी-भक्तों को अपनी भक्तवश्यता दिखाते हुए भगवान् ने बाल चेष्टाओं (लीलाओं) से व्रज को आनन्दित किया ।

सुबोधिनी—बालचेष्टितैर्भगवान् व्रजं हर्षयामास, व्रजे यावद्विधा प्राणिनस्तेषामपि यथायथा हर्षो भवति, स च हषस्तेष्वेव तिष्ठति सोपि स्थितः पुष्टो भाररूपो भवति तदा तेषां वहनाशक्तौ तेषां हर्षं भगवानुवाह, तदपि न विषयत्वेन किन्तु करणत्वेनेत्याह बालचेष्टितै रिति, ननु बालचेष्टा फलपर्यवसायिन्यो न भवन्ति स्वरूपत एव परं मोहे सुखजनिकास्तत् कथं तादृशे हर्षे करणता ? तत्राह भगवानिति, यावतानुपपत्तिः परिहृता भवति तावान् धर्मो भगवच्छब्दाद् ग्राह्यः, ननु किमेवं प्राकृतानामत्र स्थितानां वैकुण्ठमनीत्वा स्वयमागत्य विपरीतभावेन तथाकरणे प्रयोजनमित्याशङ्क्याह तद्विदां भगवत्स्वरूपविदामात्मनो भृत्यवश्यतां दर्शयन्निति, यतस्ते भृत्या भरणीयाः स्वेनैव न केवलं प्रदर्शनमात्रपरत्वं, तथा सति कापटचेनापि स्यादित्याह वै निश्चयेनेति, आत्मन इत्यनेन वश्यतादोषः परिहृतः, ये त्वज्ञास्ते व्यामोहिता एव, ये जानन्ति तेषां ज्ञानस्य मक्तयुपयोगः, तत्तदनुसारिणोपि तत्त्वेनैव ग्राह्या इति न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—बाल चेष्टाओं (लीलाओं) से भगवान् ने व्रज को आनन्दित किया । व्रज* में जितने प्रकार के प्राणी थे उनको भी जिस जिस प्रकार से हर्ष हो उस प्रकार से उन सबको भगवान् ने हर्ष प्रदान किया । वह हर्ष उनमें ही स्थित होकर पुष्ट होगा जिससे वह पुष्ट हर्ष, भाररूप हो जाएगा जिसे वे अशक्त होने से धारण नहीं कर सकेंगे । इसलिये उनका हर्ष स्वयं भगवान् धारण करते हैं । वह (हर्षभार) विषय के ढंग पर नहीं किन्तु करणरूप[1] से भगवान् ने ग्रहण किया । यह आशय श्लोक में आए हुए 'बालचेष्टितैः' पद से समझा जाता है जिस पद का अर्थ है बालकों जैसी चेष्टाओं[2] से धारण किया । अर्थात् भगवान् स्वयं बाल चेष्टाओं से व्रजवासियों के साथ आलिंगनादि

---

* प्रत्येक व्रजवासी की यह इच्छा थी कि भगवान् हमारे साथ मिलकर आलिङ्गनादि से हमको आनन्द प्रदान करे, किन्तु भगवान् व्रज में, व्रज के राजा नन्दजी के पुत्र थे इसलिये उनसे सर्व साधारण अपने अपने भाव के अनुसार इस प्रकार का स्वयं व्यवहार नहीं कर सकते थे यह जानकर भगवान् ने उन सबकी भावना के अनुसार बालक्रीड़ाओं द्वारा आपने करण[1] बनकर उनको आनन्द दान दिया जिससे उनको प्राप्त हर्ष (आनन्द) भाररूप न हुआ यदि भगवान् करण (साधन) रूप होकर यों न करते तो व्रजवासियों में उत्पन्न उत्कट[3] भाव न जाने क्या कर देता । इसलिये भगवान् को करणरूप होना आवश्यक था ।

१—साधन । २—क्रियाओं । ३—उत्तम ।

कर उनकी अपने में आसक्ति कराते थे जिससे वे आनन्दित हो जाते थे। बालक होने से इस प्रकार कर रहे हैं यों समझ लोकनिन्दा भी नहीं कर सकते थे।

बालक की चेष्टाएं स्वरूप से फल नहीं देती है, किन्तु मोह करके सुख देतीहैं। तब मोह से उत्पन्न आनन्द में भगवान् करण कैसे बन सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते है। इसी शंका के निवारण के लिये 'भगवान्' शब्द दिया है जिसका आशय है कि भगवान् ने अपने करण-साधनरूप धर्म से इस अयोग्यता (चेष्टाओं से उत्पन्न मोहरूप अयोग्यता) को मिटा दिया था। जिससे बालक की चेष्टाएं भी स्वरूप से फलदायिनी है यह बताया है यहाँ स्थित प्राकृत जनों (जिनकी आध्यात्मिक अविद्या नाश नहीं हुई है उन) को वैकुण्ठ में न ले जाकर स्वयं वहाँ आकर अपना ईश्वर भाव छोड़कर इस प्रकार आनन्द के दान करने का क्या प्रयोजन था? इस शंका का परिहार[1] करने के लिये श्लोक में 'तद्विदां' पद दिया है। जिसका तात्पर्य है कि भगवान् ने यहाँ आकर इसलिये आनन्ददान दिया कि भगवान् को भगवत् स्वरूप को जाननेवालों को अपनी भृत्यवश्यता[2] दिखानी थी कि सेवक अपने स्वामी से ही भरण पोषण करने योग्य हैं। केवल यह दिखावा नहीं करना है क्योंकि दिखावा तो कापटच से भी होता है। इसलिये श्लोक में 'वै' कहा है कि निश्चय से भरण योग्य हैं। जो भगवान् सर्व को वश और नियम में रखते हैं वे भगवान् वश में कैसे हुए? इस शंका के मिटाने के लिये श्लोक में भगवान् के लिये 'आत्मनः' शब्द दिया है जिसका आशय है कि भगवान् भक्तों के वश में होते हुए भी सबकी आत्मा होने से स्वतन्त्र हैं। जो इस तत्त्व को नहीं जानते हैं उन (असुरों) को भगवान् ने अपनी लीलाओं से मोह में डाल दिया है। जो इस तत्व 'भगवान् भक्तों के वश में हैं' को जानते हैं उनके ज्ञान का भक्ति में उपयोग होता है अर्थात् उनका प्रेम भगवान् में बढ़कर आसक्ति का रूप लेता है। पृथक् पृथक् मार्गानुयाइयों के अधिकार के अनुसार भगवान् उनको ग्रहण करते हैं और जो कोई ग्रहण योग्य नहीं है तो उनका त्याग करते हैं। इसलिये इसमें कुछ भी अयोग्य (युक्ति-रहित) नहीं है ॥ ९ ॥

आभास—एवं बृहद्वामुक्त्वा सर्वदेवाधिष्ठितवृन्दावने क्रीडां वक्तुं भगवत्प्रेरितानां तेषां निर्गमनार्थं मन्त्रमाह।

आभासार्थ—उपरोक्त श्लोकों में बृहद् बन में की हुई भगवान् की क्रीड़ा का वर्णन कर अब सब† देवताओं के स्थान वृन्दावन में जाकर क्रीड़ा करनी है इसलिये भगवान् की प्रेरणा से

---

† श्री प्रभुचरण टिप्पणी में आज्ञा करते हैं कि वृन्दावन में सर्व देवताओं ने आधिदैविकरूप से आकर भगवान् की लीलास्थलियों को तैयार किया। भगवान् के पधारने की राह देख रहे हैं कि कब पधारते हैं। इससे वहाँ स्थित हैं।

१—मिटाने।

२—अपने सेवकों के वश में होना।

गोपगण वहाँ जाने के लिये मन्त्रणा[1] करने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोकों में करते हैं।

कारिका----**उद्यमो मुख्यसम्पत्तिर्मन्त्रो हेतुस्त्रिभिस्ततः ।**
निर्धारितपरित्यागः स्थानान्तरगुणास्ततः ॥ १ ॥
कृष्णाज्ञयेति कालस्य नापेक्षातोनिवारणम् ।
पञ्चभिर्गमनं चैव रतिस्तत्र हरेः परा ॥ २ ॥
एवं कलाभिर्भगवान् पूर्णो वृन्दावने बभौ ॥ २½ ॥

कारिकार्थ—उद्यम, मुख्य सम्पत्ति की प्राप्ति, मन्त्रणा, इसके पीछे तीन श्लोकों से कारण, निर्धारित का त्याग, दूसरे स्थान के गुण कृष्ण की आज्ञा से गमन, काल की अपेक्षा नहीं होने से उसका निषेध, पांच श्लोकों से गमन, वहाँ का निवास भगवान् का उसमें विशेष प्रेम, इस प्रकार भगवान् वृन्दावन में कलाओं से पूर्ण सुशोभित हुए।

व्याख्या—इन कारिकाओं में ११वें अध्याय के श्लोक १०से श्लोक २५ तक जो लीलाएं भगवान् ने की हैं उनका क्रमशः सूक्ष्म वर्णन कर समझाया है कि १० श्लोक में वृन्दावन में जाने के लिये किए हुए उद्यम का वर्णन है। ११ श्लोक में यह बताया कि किसी भी मन्त्रणा के समय सब बोलने लगे यह सम्भव$ नहीं इसीलिये मुख्य वक्ता की प्राप्ति होने से वह बोलने लगे। १२वें श्लोक में उसने जो गोकुल छोड़ने की सम्मति दी उसका वर्णन है, १३वें श्लोक मे पूतना के उपद्रव १४वें श्लोक में तृणावर्त के विविध साधनों द्वारा उपद्रव और १५वें श्लोक में यमलार्जुन के मध्य में स्थिति भय, इन श्लोकों में गोकुल के उपद्रव और उनसे भगवान् ने रक्षा की यह वर्णन है। १६वें श्लोक में इन कारणों से गोकुल छोड़ने का निश्चय किया। १७वें श्लोक में जहाँ जाने का विचार है उस (वृन्दावन) के गुणों का वर्णन किया है। १८वें श्लोक में श्रीकृष्ण की इच्छापूर्वक आज्ञा से सर्व गोपों की जाने के लिये सम्मत्ति का वर्णन है। १९वें श्लोक में सब गोपों ने एक होकर जाने की तैयारी की काल (शुभ मुहूर्त) की चिन्ता नहीं की। २४वें श्लोक में वहाँ जाने का तथा निवास का एवं हरि का उससे विशेष प्रीति का वर्णन है इन सब का वर्णन १६ (१० से २५) श्लोकों में हुआ है जिसका भाव बताते हैं कि इससे वृन्दावन में भगवान् १६ कलाओं से पूर्ण शोभायमान दर्शन देने लगे।

$ यदि सब बोलने लगे तो मन्त्रणा हो नहीं सकती है अतः एक सुज्ञ बोलकर समझावे तो मन्त्रणा योग्य होती है।—अनुवादक

१—सलाह।

आभास––प्रथमं मन्त्रार्थमुद्यममाह गोपवृद्धा इति ।

आभासार्थ—प्रथम मंत्रणा करने के लिये उद्यम करते हैं इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक––**गोपवृद्धा महोत्पातान‌नुभूय बृहद्वने ।**
नन्दादयः समागम्य व्रजकार्यममन्त्रयन् ।। १० ।।

श्लोकार्थ––गोपों में से वृद्ध नन्दादिक गोप, ब्रज में बड़े-बड़े उत्पात होते देखकर इकट्ठे हुए और विचार करने लगे कि अब व्रज का हित कार्य कैसे किया जाय ।

सुबोधिनी— गोपेषु ये वृद्धाः पूर्वापरानुसन्धानसहिताः, बृहद्वनमन्वर्थनाम, पूर्वं कदाचिदपि तत्रोत्पत्त्यभाव उत्पातानामिदानीं तु महोत्पाताः पूतनामरणादयः, नन्दोपि वृद्धप्रायः प्रधानव्यतिरेकेण विचारो न निर्वहतीति समागम्य सम्यगेकत्रोपविश्य, व्रजसम्बन्ध्यवश्यकर्तव्यममन्त्रयन् ।। १० ।।

व्याख्यार्थ––गोपों में वृद्ध जो (आगा पीछा विचार करने की बुद्धिवाले) थे वे व्रज से सम्बन्धित आवश्यक कर्त्तव्य की मंत्रणा करने लगे । हमारे इस वन का नाम बृहद्वन इसलिये पड़ा है कि इसमें कभी भी उत्पात नहीं हुए हैं । अब तो बड़े बड़े उत्पात होने लगे हैं जैसे पूतना मरण आदि उपद्रव हुए हैं । मन्त्रणा 'प्रधान' के बिना नहीं होती है इसलिये सब इकट्ठे हुए । नन्दजी भी वृद्धों के समान ही थे तो भी वहाँ प्रधान उपनन्द हुए ।। १० ।।

आभास—सर्वेषां वक्तृत्वं न सम्भवतीति प्रधानं व्यपदिशति तत्रेति ।

आभासार्थ—मन्त्रणा करने के समय सब बोलने लगे तो निर्णय पूरी मन्त्रणा (विचार) से नहीं हो सकता है इसलिये प्रधान (मुख्य वक्ता) का नाम निर्देश निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक––**तत्रोपनन्दनामाह गोपो ज्ञानवयोधिक ।**
देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद् रामकृष्णयोः ।। ११ ।।

श्लोकार्थ––वहाँ (इकट्ठी हुई गोप सभा में) उपनन्द नाम वाला गोप, जो कि देश और काल के तत्व को जानने वाला, ज्ञान में और अवस्था में बड़ा और बलराम तथा श्रीकृष्णचन्द्र का प्रिय करने वाला था वह कहने लगा ।

सुबोधिनी—उपनन्दनामा नन्दसन्बन्धी गोपा इति धर्मैप्रधानः, ज्ञानवयोभ्यां च परिणतः, देशकालार्थातत्त्वज्ञः, तादृशोप्यभक्तश्चेत् सर्वं व्यर्थं स्यादिति राम-नामपि कस्मिन् देशे कस्मिन् काले कोर्थः कर्तव्य इति-

कृष्णयोः प्रियकृदाहेतिसम्बन्धः नाम्ना नन्दस्य स एव मन्त्रद इति ज्ञापितं, गोप इति तन्मध्यपाती तुल्येष्टानिष्टा, तादृश एव मन्त्रार्हः, ज्ञानं तु वयसा प्रतिष्ठितं भवतीत्युभयाधिक्यं, इदं मन्त्रे मुख्यमङ्गं, लोकानभिज्ञो न शास्त्रार्थज्ञानमात्रान् मन्त्री भवतीति देशादिज्ञानमुक्तं, इदं गमनं स्वार्थं चेन् निरोधेन विरुध्यत इति भगवत्प्रीतिरुक्ता प्राधान्यप्रतिपत्त्यर्थं, द्वयोर्निर्देशः साधारणनिरोधत्वात्, असाधारणनिरोधो भगवतैव क्रियते साधारणस्तूभाभ्यामिति ।। ११ ।।

व्याख्यार्थ--'उपनन्द' नाम के गोप नन्दजी के सम्बन्धी थे, इससे उनमें 'धर्म' प्रधान था। और वे ज्ञान और आयु में वृद्ध होने से अनुभवी थे। जिस अनुभव के कारण वे इस तत्व को जानते थे कि किस देश में वा किस काल में क्या करना चाहिये जिससे अर्थ सिद्ध हो किसी प्रकार की हानि न हो। ऐसा अनुभवी भी हो किन्तु यदि वह भगवान् का भक्त नहीं है तो उनका ज्ञान, वृद्धत्व और अनुभव सब व्यर्थ है अर्थात् किसी काम के नहीं है। उपनन्द भगवान् का भक्त भी था यह बताने के लिये श्लोक में 'प्रियकृद्' 'रामकृष्णयोः' पद दिये हैं जिनका अर्थ है राम और कृष्ण का प्रिय करने वाला था। इससे बताया कि वह भक्त भी था। 'उपनन्द' नाम से यह बताया है कि वह नन्दजी को मंत्रणा देने वाला था इससे वह नन्दजी का मन्त्री था। गोप होने से उनका समावेश गोप जाति में था इसलिये गोपों का हित व अहित वह अपना ही समझता था। वैसा ही व्यक्ति मन्त्री होने के योग्य है। ज्ञान (अनुभव से होनेवाली समझ) आयु से प्राप्त होता है। यह तो आयु और ज्ञान दोनों से बड़े थे। मन्त्रणा का यह भी मुख्य अंग है केवल शास्त्रों के अर्थ को जानने वाला जिसको लौकिक ज्ञान (अनुभव) नहीं है वह मन्त्री होने के योग्य नहीं हो सकता है। इसलिए श्लोक में 'देशकालार्थ तत्वज्ञः' पद दिया है। जिसका तात्पर्य है देश और काल का जिसको अनुभव हो। यह अनुभव उपनन्द को था। वृन्दावन में जाना चाहिये यह उपन्दन का कहना यदि अपने स्वार्थ के लिए होता तो इसमें (वहां जाने से) निरोध की सिद्धि नहीं होती क्यों कि स्वार्थ निरोध का विरोधी है जहां स्वार्थ नहीं है वहां निरोध सिद्ध होता है। वृन्दावन में जाने की सम्मति उपनन्द ने अपने स्वार्थ के लिए नहीं दी थी किन्तु भगवान् राम और कृष्ण के प्रिय करने के लिये दी थी। राम और कृष्ण दो नाम कहे उसका भाव यह है कि यहां साधारण निरोध करना है। असाधारण निरोध तो श्रीकृष्ण ही करते हैं साधारण निरोध दोनों करते हैं ।। ११ ।।

आभास--मन्त्रमाहोत्थातव्यमिति।

आभासार्थ--क्या सम्मति दी वह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक--**उत्थातव्यमितोस्माभिर्गोकुलस्य हितैषिभिः ।**
आयान्त्यत्र महोत्पाता प्रजानां नाशहेतवः ।। १२ ।।

श्लोकार्थ--गोकुल के हित की चाहना करने वाले हमको यहाँ से दूसरे स्थान पर

चलना चाहिये क्योंकि यहां प्रजा को नाश करनेवाले बड़े-बड़े उत्पात एक के पीछे दूसरे आ रहे हैं।

सुबोधिनी—इदं स्थानं परित्यक्तव्यं, परितो यद्यपि व्रजाः सन्ति ते तिष्ठन्तु मा वा, अस्माभिस्तूत्था-तव्यं, ननु कर्माधीनत्वाज् जगतः सर्वत्रैव यद् भाव्यं तद् भविष्यतीति किं गमनेनेति चेत् तत्राह **गोकुलस्य हितैषिभिरिति, गोकुलस्य** ये हितं वाञ्छन्ति काल-कर्मपक्षौ परित्यज्य लौकिकन्यायेन ये हितचिन्तकास्तैर-वश्यमेतत् कर्तव्यं, यत् साधनानि भगवता दत्तानि ज्ञानकरणादीनि तान्यन्यथा व्यर्थानि स्युः, अतो विरोध एव तयोर्भिन्नं प्रामाण्यं, यावन्न विरोधस्तावत् करणा-नामेव मुख्यं प्रामाण्यं, उत्थाने हेतुमाहायान्त्यत्र महोत्पाता इति।

व्याख्यार्थ--इस स्थान के चारों तरफ यद्यपि गोष्ठ (गौओं के ठहरने के अनेक स्थान) हैं वे रहें या न रहें तो भी यह स्थान (वृहद्वन-गोकुल) छोड़ना चाहिये। उपद्रवों के कारण हम इसे छोड़कर दूसरे स्थान पर चलें तो कोई विशेष लाभ नहीं है। कारण कि सब कुछ (सुख दुःख उत्पात आदि का आना) कर्मों के आधीन है सर्वत्र जो होनहार है वह होगी ही, उसको कोई टाल नहीं सकता है। इसका उत्तर देते हैं कि जो गोकुल का हित चाहते हैं वे काल और कर्म के पक्षों को (सब कुछ काल और कर्म करता है इस मन्तव्य को) छोड़ कर और जो लौकिक न्याय से गोकुल के हित का चिन्तन करनेवाले हैं उनको तो अवश्य चलना चाहिये। भगवान् ने विचार कर कार्य करने के लिये जो ज्ञान और करण (साधन) दिये हैं उनसे विचार कर हम कार्य नहीं करेंगे तो वे (ज्ञान और करण) व्यर्थ हो जाएंगे अतः जहां दो× पक्षों में विरोध हो वे वहां दूसरे प्रमाण को मानने की आवश्यकता हैं। जहां विरोध न हो तो करणों को ही मुख्य प्रमाण मानकर उसके अनुसार कर्त्तव्य करने चाहिये। यहां से दूसरे स्थान पर चलने के कारण कहते हैं कि यहां महान् उत्पात् (उपद्रव) आ रहे हैं (हो रहे हैं)।

कारिका—**अलौकिकोनिष्टहेतुरुत्पातः सर्वनाशकः।**
महोत्पातो बुधैर्ज्ञेयो यत्र तत्त्यागमर्हति ॥ १ ॥

कारिकार्थ—उत्पात अलौकिक अनिष्ट का कारणरूप, सर्वनाशकर्त्ता है ज्ञानी जहाँ (जिस स्थान पर) महोत्पात देखें उस स्थान का तो त्याग करना ही योग्य है।

सुबोधिनी—महोत्पाताः पूतनादयः, तेषां सोढ़-व्यतां निराकरोति **प्रजानां नाशहेतव** इति, हेतौ कार्य-मावश्यकं, महतां देवाद्युपासकानामनिष्टाभावेपि प्रजोप-द्रवोपि वारणीयस्तैः, "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य" तिन्यायेन प्रतीकारापेक्षया त्यागः श्रेष्ठः ॥ १२ ॥

× १—पक्ष, 'जो होना होगा वह होगा ही। २—पक्ष, वैसे उपाय किये जांय, जिनसे अनिष्ट नहीं होवे (टल जावे)।

व्याख्या—कौनसे महोत्पात हैं ? उनको बताते हैं कि पूतनादिकों का आना मरना आदि। इससे क्या ? ये प्रजाओं के नाश का कारण हैं। इन उपद्रवों का देवादिकों की उपासना से प्रतीकार करना चाहिये। इसके उत्तर में कहते हैं कि 'प्रक्षालनाद्धिपङ्कस्य दूरादस्पर्शनःवरम्' कीचड़ में पैर डालकर फिर धोने से कीचड़ में पैर नहीं डालना अच्छा है। इस न्यायानुसार प्रतीकार[1] करने से उस स्थान का त्याग ही श्रेष्ठ उपाय है ॥ १२ ॥

आभास—उत्पातानेव गणयन्ति तामसराजससात्त्विकान्।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में राजस, तामस और सात्त्विक उत्पातों की गणना करते हैं।

श्लोक—**मुक्तः कथञ्चिद् राक्षस्या बालघ्न्या बालको ह्यसौ।**
हरेरनुग्रहान्नूनमनश्चोपरि नापतत् ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—बालकों को मारने वाली राक्षसी ने यह बालक किसी प्रकार से छोड़ा है। ईश्वर के अनुग्रह से शकट ऊपर नहीं गिरा।

सुबोधिनी—उत्पाताः प्रतीकारसहिता उच्यन्ते, अन्यथा तन्निवृत्तिरेव न स्यादुत्पातत्वं वा, अत एव राक्षस्या पूतनयासावेव बालको मुक्तः, दृष्टहेतुपरिज्ञानाभावत् कथञ्चिदित्यदृष्टं साधनं कल्पितं, कार्यस्य कारणावश्यकत्वात्, राक्षस्या बालघ्न्येति जातिक्रियादोषौ, मुक्तत्वं निःसन्दिग्धमित्यसाविति प्रदर्शितः, अलौकिकमुपायमाह हरेरनुग्रहादिति, एतदेव हेतुद्वयं शकटभङ्गेप्याकर्षत्यनश्चोपरि नापतदिति चकारेण, नूनमिति स्वदर्शनात् ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—उपाय सहित उत्पातों का वर्णन करते हैं। यदि उपाय सहित वर्णन न हो, वा न करें तो उत्पातों का नाश ही न हो अथवा उत्पात ही न हो इस कारण से ही राक्षसी पूतना ने इस ही बालक को छोड़ दिया। छोड़ देने का कोई कारण देखने में वा समझने में नहीं आया। अतः छोड़ने का कारण अदृष्ट[2] है ऐसी कल्पना की गई। क्योंकि कार्य का कारण होना आवश्यक है। राक्षसी और बालघ्नी[3] इन दो पदों से उनकी जाति और क्रिया के दोष कहे। श्लोक के 'असौ' शब्द से यह प्रत्यक्ष (भगवान् है) मुक्तपना निश्चित है यह सिद्ध किया है। शकट का भङ्ग और उसका ऊपर न पड़ना ये दोनों ही कार्य भगवान् के अनुग्रहसे हुए हैं। श्लोक में 'नूनम्' पद से यह बताया है कि निश्चय से इसी प्रकार हुआ है क्योंकि मैंने प्रत्यक्ष देखा था ॥१३॥

आभास—तृणावर्ते लौकिकानि बहूनि साधनान्याह चक्र वातेनेति।

१—उपाय। २—प्रारब्ध या भाग्य। ३—बच्चों को मारने वाली।

आभासार्थ—तृणावर्त के पास लौकिक साधन बहुत थे इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते है।

श्लोक—**चक्रवातेन नीतोयं दैत्येन विपदं वियत् ।**
शिलायां पतितस्तत्र परित्रातः सुरेश्वरैः ।। १४ ।।

श्लोकार्थ—चक्रवात् नाम वाला दैत्य इस (कृष्ण) को बहुत ऊपर आकाश म ले गया वहाँ से शिला पर गिराया वहां सुरेश्वरों ने सर्व प्रकार से रक्षा की।

सुबोधिनी—चक्रवातेनेति, **चक्रवातः** प्रसिद्धस्तृणावर्तः कंसभृत्य इति, अतो **दैत्य** इत्युक्तं, **वियदाकाशं नीतः**, तदपि नाल्पदूरं किन्तु **विपदं**, यावद्दूरे श्येनादयः परिभ्रमन्ति, वयः पक्षिणस्तेषां **पदमिति**, यद् **वियत्** नीतवांस्तद् विपदमेव नीतवानिति वा, सरस्वती तु तस्यायमेव **विपद्रूपः**, विपद् व्ययं प्राप्नुवद् यथा भवति तथा प्रतिक्षणं क्षीयमाणेन नीतः, तत्रोभयोर्मध्य एकः **शिलायां पतितस्तत्रैव** प्रदेशे पर **उपर्येव सुरेश्वरैः परित्रातः**, न देवमात्रकृत्यं तादृशं, रुद्रास्तु घातुकाः, तदुपमर्दस्तु सुरेश्वरैरेव कर्तुं शक्यः, रुद्राधिपति पुनस्तेषामनुकूल इति बहवोत्र पुनस्तादृशा रक्षका उक्ता "बहूनामनुग्रहो न्याय्य" इति, **परितस्त्राणं न केनाप्यंशेन** बाधाभावार्थम ।। १४ ।।

व्याख्यार्थ—'चक्रवात' प्रसिद्ध तृणावर्त कंस का नौकर था इससे उसको दैत्य कहा है। वह कृष्ण को बहुत ऊपर जहाँ श्येनादि पक्षी भ्रमण करते हैं वहां आकाश में ले गया। आचार्यश्री 'विपद' शब्द के दो अर्थ करते है एक अर्थ 'वि' पक्षी उनका पद स्थान अर्थात जहां तक आकाश में श्येनादि पक्षी उड़ते हैं वह स्थान। दूसरा अर्थ 'विपद' आपदा अर्थ कर समझाते हैं कि तृणावर्त कृष्ण को नहीं ले गया किन्तु अपने नाश के लिये 'आपदा' को ले गया यहसरस्वती आशय प्रकट करती है क्यों कि सरस्वती जानती है कि भगवान् को तो तृणावर्त आपदा में डाल नहीं सकता हैं। विपत् शब्द का यौगिक अक्षरार्थ करते हैं कि प्रतिक्षण 'व्ययं प्राप्तुवद' क्षीणता को प्राप्त होने वाला तृणावर्त (कृष्ण को लेजा रहा था)। इस प्रकार दोनों आकाश में जा रहे थे उनमें से एक (तृणावर्त) शिला के ऊपर आके पड़ा। वहाँ उसके ऊपर स्थित दूसरे (श्रीकृष्ण) की सुरों के ईश्वरों ने रक्षा की। यह रक्षा का कार्य केवल देव नहीं कर सकते थे। रुद्र तो घातक है उन घातकों का मर्दन तो उनके ईश्वर ही कर सकते हैं। रुद्रों का अधिपति सुरेश्वरों के अनुकूल[1] था। यहाँ वैसे बहुत रक्षक है 'बहूनां अनुग्रहो न्याय्यः' बहुतों का अनुग्रह न्याय हैं (उचित है) इससे किसी भी प्रकार से रक्षा करने में बाधा[2] न हुई।। १४ ।।

आभास—प्रस्तुतमाह यत्रेति।

१—पक्ष में। २—रुकावट।

आभासार्थ—जिस (यमलार्जुन) का प्रसंग चल रहा है उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**यन्न म्रियेत द्रुमयोरन्तरं प्राप्य बालकः ।**
असावन्यतमो वापि तच्चाप्यच्युतरक्षणम् ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ—वृक्षों के बीच में आने पर भी यह (कृष्ण) अथवा दूसरा कोई बालक न मरा, यह भी अच्युत भगवान् ने रक्षा की।

सुबोधिनी—अनयोर्द्रुमयोरन्तरं प्राप्य बहवो बाला अत्र स्थिताः कोपि नोपद्रुतः, **असौ भगवानन्यतमः अन्यो** वा कश्चिद् भगवान् देवैः सर्वदा रक्षित इत्यन्यस्य नामग्रहणं, तमप्प्रत्ययेन हीनोपि कश्चिन्नोपद्रुत इत्यमङ्गलशब्दोच्चारणं स्नेहात्, प्राकृतानां सहजं प्राकृतत्वमन्यथा न परिज्ञायेत, येषां वाङ्मनसोरव्यवस्था तेत्यन्तं प्राकृता येषां मनसोपि नाव्यवस्था तेत्यन्तं सन्तः, **अत्राच्युतो** भगवानेव रक्षकः, स हि सर्वत्र च्युतिरहितोन्तर्यामी ततो बालकानुत्पातस्थानादन्यत्र नीतवान् ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ—इन गिरे हुए वृक्षों के बीच में बहुत बालक आ गये थे किन्तु किसी को भी कोई चोट न आई। उन बालकों में यह भगवान् भी एक था। अथवा भगवान् के तो सर्वदा सर्व देव रक्षक (शरीर रक्षक) हैं ही इसलिये किसी साधारण के लिये 'अन्यतम' शब्द श्लोक में दिया होगा। साधारण, नीच वा निर्बल, को भी कोई चोट नहीं आई। अमंगल शब्द का (चोट आना) उच्चारण स्नेह प्रदर्शन के लिये किया गया है। प्राकृत[1] पुरुषों के प्राकृतपने का ज्ञान दूसरे प्रकार से नहीं हो सकता है जिनकी वाणी और मनकी कोई स्थिरता नहीं है वे अत्यन्त प्राकृत हैं। जिनकी केवल वाणी ही नहीं, किन्तु मन भी स्थिर है, वे अत्यन्त सत्पुरुष हैं। इस समय (पेड़ों के बीच में आ जाने के समय) रक्षा करने वाला सर्व प्रकार से च्युतिरहित अन्तर्यामी अच्युत भगवान् ही रक्षक हुवा है। इसका आशय यह है कि उस समय बालकों को उत्पातवाले स्थान से दूसरे स्थान पर ले गए ॥ १५ ॥

आभास----अतो भगवतो वारत्रयं देवानां च रक्षणं जातमित्यतः परं य उत्पातः समायास्यति तस्य न प्रतीकार इति ततः पूर्वमेव गमनमुचितमित्याह यावदिति।

आभासार्थ—भगवान् ने तीन वार और देवताओं ने तीनवार आपदा से रक्षण किए अब यदि कोई उत्पात हुआ तो उसका प्रतीकार[2] न हो सकेगा अतः उत्पात होने से पहले ही यहाँ से रवाना होना योग्य है। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

१—मूढ, मूर्ख। २—उपाय।

इलोक—**तावद् बालानुपादाय यास्यामोन्यत्र सानुगाः ॥ १६ ॥**

श्लोकार्थ----जब तक उत्पात से उत्पन्न अशुभ फिर व्रज का अभिभव[1] न करे तब तक (उससे पहले ही) बालक और नौकरों सहित यहां से दूसरे स्थान पर हम चलकर पहुँच जाय ।

सुबोधिनी—उत्पातेन जातोरिष्टो मरणादिरूप इति यावद व्रजं नाभिभवेत् तावदितो बालानादाय सानुगाः सपरिकरा अन्यत्रैव यास्यामः, निर्धारितमेतद् वचनं, बालानां कर्मता, उत्पातास्तत्सम्बन्धिन एव दृष्टा इति, स्थलान्तरमन्विष्यास्य परित्याग इति ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ--उत्पात से उत्पन्न अरिष्ट[2] से व्रज का अभिभव न हो उससे पहले ही अपने यहां से बालक, नौकर और समस्त परिवार को साथ लेकर दूसरे स्थान पर चले चलेंगे । यह कहना निर्धारित[3] किया हुआ है । यहाँ जो उत्पात हुए हैं वे सब बालकों के सम्बन्ध वाले हैं अर्थात् बालकों को ही कष्ट हुआ है इसलिये यहाँ श्लोक में बालक शब्द दूसरी विभक्ति में दिया है ॥१६॥

आभास--स्थलान्तरं सगुणं निर्दिशति वनं वृन्दावनमिति ।

आभासार्थ—दूसरे रहने योग्य स्थल को ढूंढ कर पीछे इस स्थान को छोड़ना योग्य है । इसलिये उस योग्य स्थल के गुणों का वर्णन निम्न श्लोक में करते है ।

श्लोक--**वनं वृदावनं नाम पशव्यं नवकाननम् ।**
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम् ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ--वृन्दावन नाम वाला वन, पशुओं के अनुकूल और नया वन है गोप गोपियां और धेनुओं के सेवन करने योग्य है । इसमें पवित्र, पर्वत, तृण और लताएँ सब अच्छे हैं ।

सुबोधिनी—**वृन्दा मधोः** पुत्री, तन्नाम्ना नूतनं वनं वृन्दावनं, स्त्रीप्राधान्यात् तत्र न दैत्यसम्बन्धः, भगवता पुनर्जालन्धरवधार्थं सा परिगृहीता, अतो देवताधिष्ठानाद् देवदैत्यानामनुरोध्यं तत् स्थानं, अतस्तत्रोत्पातशङ्काभावः, तदाह **वृन्दावनं, नामेति** प्रसिद्धं तथा तन् **नवकाननमिति**, न शीर्णवृक्षास्तत्र सन्ति नापि शृगालसर्पादीनां तत्र स्थितिः, अतः सर्वे गुणाः सर्वदोषाभावश्चोक्ताः, किञ्चालौकिकोपि तत्रत्यो गुणः समीचीन इति ज्ञायते

१—हानि २—मरणादि अशुभ । ३—निर्णय ।

यत् पशव्यो भवति पशूनां हितः, ते ह्यरण्योपजीविनोरण्यपात्रास्तेषां यद्धितमलौकिकप्रकारेणापि समीचीनमिति, किञ्च तस्मिन् वने त्रिविधा भूमिरस्ति, अतिगुप्तातिप्रकटा तृणादिगह्वरा च, तदाह **गोपीनां गोपानां गवां च सेव्यमिति**, अन्येषामापि नन्दपुरोहितप्रामाणिकानां तत् सेव्यमित्याह **पुण्याद्रितृणवीरुधमिति**, **पुण्योद्रिः** गोर्वर्धनः, तृणानि बर्हिः, वीरुधः सोमः करीराणि वा, अतस्तामसानां राजसानां सात्त्विकानां च हितकारि तत् स्थानमित्युक्तम् ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने जालन्धर के वध के लिये जिस मधु की पुत्री वृन्दा को स्वीकार किया था, उसके नाम से यह नूतन[1] वन वृन्दावन कहलाता है इस वन में स्त्री का प्राधान्य है इसलिये इस वन में दैत्य प्रवेश नहीं करते है क्यों कि दैत्य स्त्रियों के स्थान में नहीं आते हैं कारण कि दैत्य, स्त्रियों की रक्षा मुख्य कर्म समझते हैं। वह देवताओं के रहने का (भगवान् ने वृन्दा को स्वीकार किया इसलिये) स्थान हो गया है। अतः देव और दैत्य दोनों को यह स्थान बहुत प्रिय है। इससे उस में उत्पात होने की शङ्का करने का भी अभाव हैं। यह वृन्दावन नवीन वन है और (गुणों के कारण) प्रसिद्ध भी हैं। वहाँ कोई शुष्क[2] वृक्ष नहीं है तथा शृंगाल[3] और सर्प आदि भी नही रहते हैं। इससे इस वन में सर्व गुण हैं दोष कुछ भी नहीं है। लौकिक गुण तो हैं ही किन्तु अलौकिक गुण भी सुन्दर है वे बताते हैं १–पशु जाति, अरण्यों[4] पर ही जीती है तो यह अरण्य पशुओं के योग्य पात्र है इसमें सर्व प्रकार से पशुओं का हित है। इस वन में तीन प्रकार की भूमि है १–अतिगुप्त, २–अतिप्रकट ३–तृणादि[5] से भरपूर। इसलिये गोप, गोपियों और धेनुओं[6] के सेवन[7] योग्य है। इनके अतिरिक्त अन्य नन्द, पुरोहित और प्रामाणिक पुरुष के लिए भी सेवन योग्य हैं, क्योंकि पवित्र पर्वत गोवर्द्धन पर घास, मयूर-बर्हि सोमलता करीर आदि पदार्थ पुष्कल[8] हैं। अतः यह स्थान, तामस, राजस और सात्विक तीनों के रहने योग्य है ॥ १७ ॥

आभास—एवं स्थान प्रशंसायां सर्वे गोपाला आहुस्तत्तत्राद्यैव यास्याम इति।

आभासार्थ—इस प्रकार स्थान की प्रशंसा सुनते ही सब गोपाल कहने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**तत् तत्राद्यैव यास्यामः शकटान् युंक्त माचिरम्।**
गोधनान्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—इससे वहाँ आज ही चले चलें, इसलिये तुम सब की रुचि हो तो

१—नया। २—सुखा हुआ। ३—गीदड़। ४—जगलों। ५—घास आदि
६—गायों। ७—रहने ८—भरपूर ९—विचार

गाड़े जोड़ो, देरी मत करो, गोधन को प्रथम से आगे चलने दो ।

सुबोधिनी—तस्मात् कारणाद यदि वृन्दावनं तादृशं ततोद्यैव तत्र यास्यामः, एवं सर्वेषां सङ्कल्पे प्रधानभूता उपनन्दादय ग्राहुः शकटाञ् युंक्त मा चिरमिति, शकटानां बलीवर्दैः सह योजनं साधनं, विलम्बनिषेध उत्पातभयशङ्कया ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—आपके कहे हुए कारणों से यदि वृन्दावन ऐसा है तो आज ही हम वहाँ चलेंगे । इसी प्रकार सब का सङ्कल्प[1] देखकर मुख्य उपनन्दादिक कहने लगे कि गाड़े जोतो देरी मत करो । जाने का साधन बतातें है कि गाड़ों के साथ बैलों को जोड़ो । देरी नहीं करने का कारण कहते हैं कि फिर कहीं कोई उत्पात न आ जाय ॥ १८ ॥

आभास----एवं भयसाधनयोर्निर्देशे यत् कृतवन्त स्तदाह श्रुतवेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उपनन्दादि ने ठहरने में शङ्का और जाने के साधन कहे, तब गोपों ने जो कुछ किया उसका वर्णन नीचे के श्लोक में वर्णन करते है ।

श्लोक—**तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः साधुसाध्वितिवादिनः ।**
व्रजान् स्वान् स्वान् समायुज्य ययू रूढपरिच्छदाः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—यह सुनकर सब गोप एक मत होकर वाह ! वाह ! बहुत अच्छा कहके अपने अपने गाड़े जोड़ उन पर सब सामान लाद के रवाने हुए ।

सुबोधिनी—मध्ये तेषां न वैमत्यं यतो गोपास्तुल्यां:, तादृशोर्थः स्वस्यात्यन्तमभीष्ट इति मन्त्रवाक्यप्रशंसा, गच्छन्त एव वदन्तीतिवादिनः, ते सर्वेवान्तरभिन्नभिन्नब्रजाधिपतयः स्वस्य यत्र यत्र भिन्नतया गावः स्थितास्तान् समुदायेनैव वत्सगोविभागमकृत्वा सम्यन्गायुज्य योजयित्वाग्रे प्रस्थाय शकटेष्वारोपितोपकरणाः सर्व एव ततो ययुः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ—उनमें किसी की भी सम्मति भिन्न नहीं थी सब एक मत वाले थे क्योंकि गोप सब एक जैसे थे । वैसा उपनन्दजी का कहना उनको बहुत प्रिय था । जाते हुए 'साधु' 'साधु' कहते थे जिससे उस उपनन्द के मन्त्रणा और वचनों की प्रशंसा हुई । वे सब गोप पृथक् पृथक् व्रज (गोवाड़े) के अधिपति थे सबकी गौ अलग-अलग थीं तो भी इस समयवत्स और गौओं का विभाग न कर साथ में ही मिलाकर और आगे रवाना कर अपना सब सामान गाड़ों में धर कर सब गोप वहाँ से रवाने हुए ॥ १९ ॥

१—विचार

आभास—गताश्चतुर्विधा इति ज्ञापयितुं तमोरजः सत्वनिर्गुणरूपान् पृथक् पृथक् चतुर्भिः श्लोकै राह, तत्र प्रथमाह वृद्धान् बालान् स्त्रिय इति ।

आभासार्थ—जो वहाँ से रवाने हुए वे तामस, राजस, सात्त्विक और निर्गुण होने से चार प्रकार के थे । उनका क्रमवार एक एक श्लोक में वर्णन करेंगे इस श्लोक में तमोगुणियों का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**वृद्धान् बालान् स्त्रियो राजन् सर्वोपकरणानि च ।**
अनस्स्वारोप्य गोपाला यत्ता आत्तशरासनाः ॥ २० ॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! वृद्ध, बालक और स्त्रियों को गाड़ों में बिठाकर तथा सब सामान को गाड़ों में भर कर गोपालों ने कवच बान्ध एवं धनुष धारण किए ।

सुबोधिनी—अत्यन्तं प्राकृता वृद्धा बालाः त्रिस्यश्च, **राजन्नि**तिसम्बोधनं कदाचित् तीर्थयात्राद्यर्थं सकुटुम्बस्य प्रस्थाने त्वदीयानामपि तथाप्रस्थितिस्तवानुभवसिद्धेतिज्ञापनाय, देशान्तरनिवासार्थमाज्ञप्तानां त्वदीयानां यथा तथेति वा, **सर्वोपकरणानि च** शकटेष्वारोप्य **गोपाः** सर्वे पदातय आयत्ता बद्धकवचा **आत्तशरासना** गृहीतधनुषस्तामसत्वाद् राजसेष्वेव सम्बन्धः ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—वृद्ध, बालक और स्त्रियाँ अत्यन्त प्राकृत हैं । आपको भी कभी सकुटुम्ब तीर्थ यात्रा पर जाने के समय आपके सम्बन्धियों की भी इस प्रकार रवानगी हुई होगी । अथवा आपने अपने आश्रितों वा सम्बन्धियों को देशान्तर जाने की आज्ञा दी होगी तो उनकी भी इस प्रकार की रवानगी हुई होंगी । इनका आपको अनुभव है ही । इसको बताने के लिये श्लोक में 'हे राजन्' यह सम्बोधन दिया है । सब सारा सामान गाड़ों में लाद कर सब गोप पैदल कवच बाँध हाथों में धनुष लेकर (रवाने हुए) तामस होने से राजस से (धनुष) सम्बन्ध हुआ* ॥ २० ॥

आभास----गोधनानीति ।

---

* श्रीप्रभुचरण टिप्पणीजी में कहते है कि २० वें श्लोक में अपने सरसामान की रक्षा करनेवाले तामस गोपों का वर्णन है । २१ वें श्लोक में अपने अपने गोष्ठ के अधिपति होने से और साथ में कर्मठ ब्राह्मणों के साथ होने से राजस गोपों का वर्णन है । २२ वें श्लोक में सात्विक गोपियों का वर्णन हैं ।

इस प्रमाण प्रकरण में यशोदा और नन्द के निरोध का मुख्य वर्णन होने से यह तारतम्य बताकर गोपियों का सात्विक होना सिद्ध किया है ।

योजनाकार लालूभट्टजी कहते हैं कि जिस प्रकार सर्गलीला में ब्रह्मा समय समय पर भिन्न भिन्न गुणों को धारण करते हैं वैसे ही यहाँ भी चार प्रकार के गुणों का धारण करनां काल भेद से कहा है ।

आभासार्थ—इस श्लोक में राजसों का वर्णन करते हैं।

श्लोक----गोधनानि पुरस्कृत्य शृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः ।
तूर्यघोषेण महता ययुः सह पुरोहिता ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ---गोधन को आगे कर चारों और सींग बजाते और तुतारी का बड़ा शब्द करते पुरोहितों को साथ ले (वृन्दावन) गये।

सुबोधिनी—गोधनानि गावः पुरस्कृत्याग्रे नीत्वा निर्भया शृङ्गाण्यापूर्य, ते तु शृङ्गवादित्रा एव, महान् घोषः, प्रभूणां निर्गमनमाह तूर्यघोषेणेति, पुरोहिता ब्राह्मणा वैश्ययाजकाः। २१ ॥

व्याख्यार्थ—गौओं को आगे कर निर्भय हो, सींग बजाने वालों ने सींग बजाकर चारों तरफ महान् शब्द किया, वैश्यों के कर्म कराने वाले ब्राह्मण और गोष्ठों के प्रभू (राजा) तुरी के घोष करते हुए निकले ॥ २१ ॥

आभास---गोपिकास्तु भगवद् भोग्याः सात्त्विक्यो भिन्नतयैव निर्गता गोप्य इति।

आभासार्थ—गोपियां सात्विक और भगवद् भोग्य (भगवान को रस देने वाली) थीं इसलिये वे गोपों के साथ न होकर भिन्न* प्रकार से निकलीं।

श्लोक---गोप्यो रूढरथा नूत्नकुचकुङ्कुमकान्तयः ।
कृष्णलीलां जगुः प्रीता निष्ककण्ठयः सुवाससः ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ----स्तनों पर चर्चित नवीन केसरसे सुशोभित, सुन्दर वस्त्र पहने, गले में सोने की कण्ठिओं को पहने रथ में बैठी हुई सब गोपियाँ प्रसन्न चित्त हो कृष्ण की लीला गाने लगीं।

सुबोधिनी—रथास्तूत्तमा अश्वयोजिता वृषभयोजिता वा, नूतनाः कुचकुंकुमकान्तयो यासां, वयःसाधनशोभाभोग्या उक्ता भगवत एवेती ज्ञापयितुं तद्गुणानेव गायन्त्या निर्गता इत्याह कृष्णलीलामिति, एकवचनेन स्वोपयोगिन्येव लीला निरूपिता, कृष्णपदेन च न केवलं निरोधपरा किन्त्वानन्दमयीति, प्रीता इति मनस्तोषः, निष्ककण्ठ्य इति साभरणा, सुवाससश्चेति देहपरिष्कार उक्तः, गुणगानादेव वाक्परिष्कारोपि, एतासामेव रथो भगवांस्तु तास्वेव प्रतिष्ठितो गच्छति ॥ २२ ॥

---

* योजनाकार श्रीलालूभट्टजी कहते है कि गोप तो जैसे वस्त्रादि धारण किये हुए थे उन वस्त्रों से ही छकड़ों में बैठकर निकले, किन्तु गोपीजन आभूषण वस्त्र आदि से सुसज्जित होकर रथों पर बैठकर निकलीं इसलिये आभास में कहा है कि 'भिन्नतया एव' भिन्न प्रकार से गोपों से अलग होकर ही निकलीं।

व्याख्यार्थ—गोपियां जिन रथों में बैठकर रवाना हुई वे रथ उत्तम थे रथों में घोड़े अथवा बैल जोड़े थे। गोपियां स्तनों पर लगाई हुई नवीन केसर की कान्ति से सुशोभित हो रही थीं। स्तन शब्द देकर यह बताया है कि गोपियां वय[1] से, भगवान् को रस देने योग्य हैं 'नवीन केसर' शब्द से यह बताया है कि गोपियों के पास भगवान् को रस देने के साधन भी हैं; 'कांति' शब्द से गोपियां अपनी शोभा से यह बताती हैं कि हम भगवान् के भोग योग्य हैं। गोपियां भगवान् के ही भोग योग्य हैं। गोपियों की यह उत्कट अभिलाषा है कि भगवान् हमारा भोग करें इसलिये वे उन (श्रीकृष्ण) के ही गुणों को ही गाती हुई निकली। श्लोक में 'कृष्णलीला' यह पद एकवचन क्यों दिया? श्रीकृष्ण की लीलाएं तो बहुत ही हैं। एकवचन का आशय कहते हैं कि गोपियों ने वह लीला गाई जो लीला गोपियों के उपयोग की थी। 'कृष्ण' नाम देने का तात्पर्य समझाते है कि वह लीला (जो लीला गा रही थी) केवल निरोध करने वाली नहीं थी किन्तु आनन्दमयी* भी (आनन्द से भरपूर आनन्दरूप) थीं गोपियां उस समय प्रसन्नचित्त थीं। गोपियों ने गले में सोने की कण्ठी आभूषणों से और सुन्दर वस्त्रों से देहों को परिष्कृत[2] किया था, तथा भगवद्गुण गान से वाणी को परिष्कृत किया था रथ† तो गोपियों के ही थे अतः भगवान् उनके (गोपियों के) हृदय में विराजमान थे उनके साथ रथ में बैठ जाते थे ॥ २२ ॥

आभास—यशोदारोहिण्योर्भगवत्सम्बन्धाद् गुणातीतयोः पृथग्गमनमाह तथेति ।

आभासार्थ—यशोदा और रोहिणी भगवान् से सम्बन्ध होने के कारण गुणातीत[3] हो गई थी इसलिये उनका जाना पृथक हुआ। उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**तथा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते ।**
रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथाश्रवणोत्सुके ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ—वैसे ही कृष्ण की कथा सुनने की इच्छा वाली यशोदा तथा रोहिणी एक छकड़े में श्रीकृष्ण तथा बलरामजी को साथ में लेकर बैठी हुई शोभित हो रही थी।

---

* **योजनाकार**—इसका भाव समझाते हुए कहते है कि 'कृष्ण' नाम से यह बताया है कि 'स्त्रीभावो गूढ़ः पुष्टिमार्गे तत्वंइतिकृष्ण पदार्थ' गूढ़ स्त्री भाव पुष्टिमार्ग में तत्त्व है स्त्री भाव से युक्त भगवान् को 'कृष्ण' कहा जाता है वह स्वरूप विशेष रसवाला (दाता) होने से आनन्दमय कहे जाते है अतः उनकी लीला भी आनन्दमयी है।

† **लेखकार**—'तो' अक्षर का भाव बताते हैं कि भगवान् गोपियों के हृदय में स्थिर स्थित रहते हैं—यशोदा की गोदी में सदैव स्थिर नहीं रहते हैं—थोड़ी देर बैठकर फिर चले जाते हैं पुनः आ जाते हैं।

१—अवस्था। २—सजाया था, सुशोभित किया था। ३—निर्गुण।

सुबोधिनी—शकटो मध्यस्थितः, अनो निकृष्टं रथस्तूत्तमः, तथेतिसौन्दर्यं गुणगानं च, निर्दिष्टं स्थानं यशोदायाः, भगवांश्च प्रधानभूत इति सार्धद्वयवार्षिको भगवान्, अतो यशोदाक्रोडे स्थितस्तथा रामोपि, कृष्णरामाभ्यां सहिते ताभ्यां कृत्वा वा रेजतुः गोपिकानां निकटे तयोर्गमनमाह तत्कथाश्रवणोत्सुके इति नामलीलानुरक्तिस्तयोः सूचिता ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ—तीन प्रकार की सवारी की गाड़ी होती है। उनमें 'शकट' (छकड़ा) मध्यम अतः छोटी गाड़ी निकृष्ट[1] है और 'रथ' उत्तम है। श्लोक में 'तथा' शब्द से बताया है कि सौन्दर्य और भगवान् का गुणगान यहां भी है। जहां यश देने वाली यशोदा हो वहां सौन्दर्य और यश दोनों ही रहते हैं इसी प्रकार जहां भगवान् विराजते हैं वहां भी सौन्दर्य और यश होते ही हैं। इस रथ में स्थित यशोदा एवं गोदी में विराजमान भगवान् के कारण दोनों (सौन्दर्य और गुणयश) यहां भी हैं कारण कि यशोदा शकट में बैठी थी और भगवान् मुख्य थे उसकी गोदी में विराजमान थे क्योंकि उस समय भगवान् अढ़ाई वर्ष के थे। वैसे राम भी थे। राम और श्रीकृष्ण दोनों के साथ होने से वे (यशोदा-रोहिणी) सुशोभित हो रही थी। वे गोपियों के पास गईं, कारण कि उन दोनों (यशोदा-रोहिणी) को भगवद्गुण श्रवण करने की उत्सुकता थी। इससे यह बताया कि उनकी भगवान् की नाम लीला में विशेष प्रीति थी ॥ २३ ॥

आभास—न केवलं तत्र गताः किन्तु तत्र प्रतिष्ठिता इत्याह वृन्दावनमिति।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में कहते हैं कि वे केवल वृन्दावन में गये हीं नहीं किन्तु उन्होंने वृन्दावन को अपना वासस्थान बना लिया।

श्लोक—**वृन्दावनं सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम्।**
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत् ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ—सब समय में सुख देने वाले वृन्दावन में प्रवेश कर, वहाँ शकटों से अर्धचन्द्र के समान व्रज[2] का आवास[3] बना दिये।

सुबोधिनी—वृन्दावनभूमिस्तस्मिन् कल्पे यमुनोत्तरभागे गोवर्धनश्चाक्रूरस्थाने तदुत्तरणमल्पप्रवाहा च यमुना ह्रदाः परं तत्रागाधा नन्दस्थानं च तत्रैव, अस्मिन् कल्पे तु प्रदेशास्तत्तदधिष्ठातृदेवताधिष्ठिता विशकलिततया पतिता इति न काप्यनुपपत्तिः, उत्तरणपक्षेप्यल्पप्रवाहेति नोत्तरणं निरूपितं, वर्षाकाल एव यमुनाया महत्त्वमिति, एते बृहद्वनं परित्यज्य वृन्दावनं सम्यक् प्रविश्य शकटैरर्धचन्द्रवद् व्रजावासं चक्रुः,

---

१—अधम, साधारण। २—गोधन गोष्ट। ३—निवास स्थान।

वेष्टनस्थानीया गृहाः, मध्ये गवां स्थानं, प्रथममेवैतत्, पश्चाद् यथासुखमेव स्थितिः, अर्धचन्द्राकारे बहिर्द्वारं सर्वग्राह्यं भवति, गृहाणां निर्माणं तत्र नापेक्ष्यते, यतो वनमेव सर्वकालं सुखमावहति, शकटैरिति, रथानां क्रीडार्थं स्थापनं, अनांसि काष्ठाद्यानयनार्थानि, महादेवो हि पशुपतिस्तच्चिह्नमर्धचन्द्रः, अतः प्रतिष्ठितो भवतीति ।। २४ ।।

व्याख्यार्थ—भगवत में जिस कल्प की, श्रीकृष्ण की लीला कही गई है उस कल्प में वृन्दावन तथा गोवर्द्धन यमुनाजी के उत्तर भाग में थे। अकर के स्थान पर जाने के लिये जहाँ यमुनाजी पार करनी पड़ती थी वहां यमुना का प्रवाह स्वल्प[1] था परन्तु हृद[2] अगाध[3] थे। नन्दजी का स्थान भी वहाँ ही था। इस कल्प में तो अधिष्ठातृ देव अपने अपने अधिष्ठात[4] भिन्न २ बना कर रहते हैं अतः प्रदेश भी अलग अलग हो गए हैं। इसलिये इस प्रकार के वर्णन में किसी प्रकार अयोग्यता की शङ्का नहीं है। गोप यमुनाजी को पार करके वृन्दावन पहुँचे थे उसका वर्णन क्यों नहीं किया ? इस शङ्का का निवारण यह है कि यदि उस कल्प में भी गोकुल से वृन्दावन जाते हुए बीच में यमुनाजी थी ऐसा मान लिया जाय और उसको पार कर गोप वृन्दावन में गए थे तो भी वहाँ यमुना का प्रवाह स्वल्प था जिसको मनुष्य पैदल ही पार कर सकते थे इसलिये उत्तरण[5] का वर्णन नहीं किया है कारण कि यमुना का प्रवाह* केवल वर्षाकाल में ही बढता है। उस समय पार नहीं जा सकते, गोपादि गोकुल वासियों ने गोकुल छोड़कर वृन्दावन में समीचीन[6] प्रकार से प्रवेश कर उस (वृन्दावन) को शकटों से अर्धचन्द्र के समान व्रज का आवास बना दिया। किस प्रकार बनाया उसको समझाते हैं कि, बीच में गौओं के रहने के स्थान बनाए, उनके चारों तरफ वाड़ की जगह शकटों को रक्खा जिनको अपने घर किए। इनमें मुख्य तो धेनुओं के रहने के स्थान थे ! इस प्रकार सब सजाने के पश्चात् सुख पूर्वक निवास करने लगे। वास स्थान को अर्द्धचन्द्राकार इसलिये बनाया गया था कि बाहिर के दरवाजे से अपने स्थान पर आने में किसी को रुकावट न हो वहां शकटों से पृथक् अन्य घरों के बनाने की आवश्यकता नहीं थी कारण कि वृन्दावन सर्व समय में सुख देने वाला था। वासस्थान शकटों[7] से अर्धचन्द्र के समान बनाया था। छकड़ों से इसलिये बनाया था, कि रथ क्रीड़ा के काम में आएँगे और गाड़े काष्ट[8] आदि को लाने के काम में आयंगे। महादेव पशुपति है उनका चिह्न अर्द्धचन्द्र है उसमें आप (महादेव) विराजते हैं अतः यह वास स्थान अर्द्धचन्द्राकार होने से महादेव के विराजने का स्थान होने से वे यहां बिराजेंगे जिससे पशुओं के सुख समृद्धि[9] की वृद्धि[10] होगी ।। २४ ।।

* प्रकाशकार पद्मपुराण का प्रमाण देकर कहते हैं कि गोप गोकुल से वृन्दावन मार्ग शीर्ष शुक्ल ५ को गए हैं। उस समय वर्षा नहीं थी।

१—कम, थोड़ा। २—गढ्ढे या खड्डे। ३—बहुत गहरे। ४—स्थान। ५—पार करने। ६—अच्छे उत्तम। ७—छकड़े। ८—लकड़ियाँ। ९—सम्पत्ति। १०—बढ़ोतरी।

आभास—तत्र भगवतश्चरित्रमाह सामान्यतो वृन्दावनमिति ।

आभासार्थ—वहां (वृन्दावन में) भगवान् ने जो सामान्य चरित्र किए उनका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं कि—

श्लोक—**वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च ।**
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! वृन्दावन, गोवर्द्धन और श्री यमुनाजी के तटदेखकर, राम और कृष्ण को उत्कट[1] आनन्द हुआ ।

सुबोधिनी—वृन्दावनं राजसं गोवर्धनः सात्त्विको यमुनापुलिनानि च दृष्ट्वोत्तमा प्रीतिरासीत्, अतः प्रीतः पूर्वोक्तप्रकारेण लीलां कृतवानित्युक्तं भवति, नृपति-सम्बोधनं दर्शनेन प्रीती राजलीलेति ज्ञापयितुम् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—राजस वृन्दावन, सात्त्विक गोवर्द्धन और यमुनाजी के तट देखकर (राम और श्रीकृष्ण को) बहुत हर्ष हुआ । अतः हर्ष युक्त होकर पूर्व में कहे हुए प्रकार से लीला करने लगे । हे नृप ! यह सम्बोधन परीक्षित को बताने के लिये दिया है कि देखने से हर्ष होना यह भगवान् की राजलीला है ॥ २५ ॥

आभास—एवं सामान्यलीलामुक्त्वा स्त्रीनैरपेक्ष्येण विशेषतो बाललीलां वक्तुं वत्सचारणलीलामुपक्रमत एवमिति ।

आभासार्थ—सामन्य लीला के पीछे जिस लीला में स्त्रियों की आवश्यकता नहीं है ऐसी बाललीला का वर्णन इस श्लोक से लेकर अध्याय समाप्ति पर्यन्त करते हैं । उसमें पहले वत्स[2] चारणलीला से प्रारम्भ करते हैं ।

श्लोक—**एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितौ ।**
कलवाक्यौ स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ—बालकों के समान चेष्टा वाले, मधुर और अव्यक्त[3] शब्द बोलने वाले वे दोनों (राम-कृष्ण) व्रजवासियों को हर्षित करते थे । जब वत्स चराने की आयु वाले हुए तब वत्सपाल हुवे । (बछड़े चराने लगे) ।

१—अधिक । २—बछड़े चराने । ३—तोतले जो पूरे समझ में न आवे ।

सुबोधिनी—यावदध्यायसमाप्ति, पूर्वप्रकारेण व्रजौकसां व्रजमध्यस्थितानां प्रीतिं यच्छन्तावेव स्वकालेनाधिदैविकेन सेवार्थमागतेन कृत्वा वत्सपालयोग्यौ वर्षत्रयाधिकौ जातौ, देशकालद्युपद्रवाभावाय बालचेष्टितौ कलवाक्याविति पदद्वयं, मनसा तु प्रीतिं भावयत्येव कायेन वाचा च भावयतीति बालयोरिव चेष्टितानि ययोः, कलमव्यक्तमधुरं वाक्यं ययोः, व्रजौकसां प्रीतेरनुवृत्तिः पूर्वकृतनिरोधनिवृत्त्यभावाय भगवति योग्यताफलयोः पृथङ् निरूपणाभावाद् वत्सपालकावेव सञ्जातावित्युक्तम् ।।२६।।

व्याख्यार्थ—व्रजवासियों को पूर्वोक्त[1] प्रकार से हर्ष देते हुए ही आधिदैविक काल सेवा के लिये आ गया। जिससे आप वत्सपाल (बछड़ों को पालने वाले गोप) होने के योग्य आयु वाले (तीन वर्ष से बड़े) हो गए। उस समय वहाँ (वृन्दावन में) देश अथवा कालादि के उपद्रवों का अभाव था कारण कि दोनों ने अपने बालचेष्टाओं[2] से और मधुर तथा धीमी वाणी से उपद्रवों का अभाव कर दिया था। भगवान् मन से तो गोपों को हर्ष देते ही थे किन्तु बाल क्रीड़ाओं द्वारा काया से और मधुर तथा अव्यक्त शब्दों द्वारा वाणी से भी गोपादिकों में हर्ष उत्पन्न करते थे। व्रजवासियों में जो हर्ष (निरोध) उत्पन्न किया था वह चालू रहे इसलिये ये (बाल चेष्टाएँ और कलरव की) लीलाएँ करने लगे। भगवान् में योग्यता और फल का पृथक निरूपण न कर 'वत्स पालकौ' पद से दोनों (योग्यता और फल) बता दिये जैसे कि भगवान् में बछड़ों को चराने की योग्यता है और उनके पालना करने की सामर्थ्य भी है ।। २६ ।।

आभास----तयोर्वत्सपालने क्रीडामाह त्रिभिरविदूर इति ।

आभासार्थ—दोनों ने जो वत्सों को पालते हुए क्रीड़ाएँ की हैं उनका वर्णन २७ वें श्लोक से २९ वें श्लोक तक करते हैं।

श्लोक----**अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः ।**
चारयामासतुर्वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ ।। २७ ।।

श्लोकार्थ---क्रीड़ा के अनेक साधन वाले दोनों भाई ग्वालबालों के साथ व्रजभूमी के सान्निध्य[3] में बछड़े चराने लगे।

सुबोधिनी—अत्रापि क्रीडा त्रिरूपा, तत्र प्रथमं व्रजभुवोविदूरे यत्र स्थितैर्व्रजो दृश्यते व्रजस्थाश्च पश्यन्ति, व्रजभूम्यपेक्षया सा तृणयुक्ता विलक्षणेति ज्ञापयितुं व्रजभुव इत्युक्तं, गोपालानां दारकाः समानवयसस्तान् कृतार्थीकर्तुं बहुभिः सह क्रीडोत्तमा भवतीति क्रीडासाधनसहितावेव वत्सांश्चारयामासतुः, भ्रमरचक्रसूक्ष्मदण्डकाष्ठखण्डकृत्रिमरथवादित्राकर्षणादीनि क्रीडापरिच्छदानि, तानि गृहीत्वैवायान्ति गच्छन्ति च, अनेन सामान्यतः क्रीडा निरूपिता, वत्सपालनं तु मुख्यं सूक्ष्मगोपालानां सहभावश्च ।।२७।।

१—पहले कहे हुए। २—बच्चों की क्रियाओं। ३---निकट, पास में।

व्याख्यार्थ—यहाँ भी क्रीड़ा तीन§ प्रकार से की है। उन तीन प्रकार की लीलाओं में से प्रथम प्रकार की लीला का वर्णन करते हैं कि १—साधारण लोला व्रज-भूमि के समीप की है सामीप्य[1] भी ऐसा की जहाँ खड़े हुए व्रज को देख सकते थे और व्रज में स्थित उन क्रीडाओं को और उनको भी देख सकते थे। जहां सामीप्य में खेलते थे वह भूमि व्रजभूमि से विशेष घास वाली होने से विलक्षण थी। गोपबालक समानवय वाले थे उनको कृतार्थ करने के लिये और बहुतों के साथ क्रीड़ा उत्तम (रसवाली) हो इसलिये साधन भी साथ ले गए थे। ऐसे सरस क्रीड़ा करते वे दोनों बछड़े चराते थे। क्रीड़ा[2] के साधन जो ले गए थे वे बताते हैं। फिराने के लिये चक्र, छोटा दण्ड, काष्ट का टुकड़ा, बनावटी रथ, बाजे, आकर्षण (वृक्षों से फल गिराने के लिये लम्बे बांस के साथ बांधा हुआ लोहे का काँटा) आदि साधन थे उनको लेकर ही आते और जाते थे। इस श्लोक में इस प्रकार सामान्य[3] क्रीड़ा का वर्णन किया है इस क्रीड़ा में वत्सों का पालन और छोटे गोपों से मित्रता मुख्य है ॥ २७ ॥

आभास--उभयोरत्र निरोधो वक्तव्यः, नन्दसहचरितानां निरोधनिरूपणाय साधनैश्च क्रीडां प्रथमत आह।

आभासार्थ--यहाँ दोनों (वत्स और गोपों) के निरोध का वर्णन करना है। नन्द के साथ हिलमिल रहने वालों का निरोध करने के लिये, यहाँ दोनों (वत्स और गोपों) के निरोध का वर्णन करना है। अतः साधनों से होनेवाली क्रीड़ा का वर्णन पहले करते हैं।

श्लोक--**क्वचिद् वादयतो वेणून् क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित्।**
क्वचित् पादैः किङ्किणीभिः क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ--कभी मुरली बजाते, कभी गोफन चलाते, कभी घुँघरूवाले चरणों से नृत्य करते और कभी बनावटी मृत्तिका के दोनों तरफ पहिये वाले खिलोने से क्रीड़ा करते थे।

सुबोधिनी—प्रथमं क्वचिद् वेणून् वादयतोवेंणुर्बहुच्छिद्रवंशस्तेषामवान्तरभेदा बहव इति बहुवचनं, शिरोव्यापारा अनेनोपलक्षिताः, क्षेपणा रज्ज्वादिनिर्मिता मध्ये लोष्टादि स्थापयित्वा भ्रामयित्वा लोष्टादिकं दूरे

§ 'प्रकाश' में गो० पुरुषोत्तमजी कहते हैं कि—१. साधारण क्रीड़ा, २. असाधारण क्रीड़ा और ३. निरोध में विघ्न करनेवाले दैत्यों का नाश। इस प्रकार की तीन लीलाएँ कीं।

१—निकटता। २—खेल। ३—साधारण।

क्षिपन्ति तज्जातीया अपि बहुविधाः, एवमुभावपि क्षिपतो लोष्टादीनि दूरे प्रक्षिपतो मत्प्रक्षिप्तमेतावद्दूरे गच्छतीति ज्ञापनार्थं, क्वचिदिति यत्रान्योपद्रवशङ्का न भवति, हस्तयोः क्रीडा निरूपिता, क्वचित् पादैः किङ्किणीभिः सहितैर्नृत्यतः क्षिपतो वा लोष्टादीनि, कदाचिन् मृदादिनिर्मिता ये गोवृषा उभयतश्चक्रयुक्ता तानारुह्य व्रजतः, गोपाला वा कृत्रिमवृषाभवन्ति, तैः सह युद्धादिकं वा कुरुतः, तैर्वान्यान् क्षिपन्ति तमारोपयित्वा क्वचित् पातयन्ति ॥२८॥

व्याख्यार्थ—(१) प्रथम दोनों कभी बंसरियों को बजाते थे बंसरियाँ बहुवचन में इसलिये कही गई हैं कि बंसरी के अवान्तर भेद बहुत हैं बहु छिद्रवाले वंश (बाँस) को बंसरी कहते हैं। अनेक प्रकार की बंसुरी बजाने से मस्तक की क्रिया बताई हैं। (२) हस्त की क्रिया बताने के लिए दोनों भाई गोफनों को (रस्सी आदि से बने हुए होते हैं जिनमें बीच में लोहे वा पाषाण के ढ़ेले रखकर दूर दूर फेंकें जाते हैं उनको गोफन कहते हैं वे भी अनेक प्रकार के होते हैं) घुमाते घुमाते लोष्ठादि[१] ढेलों को दूर दूर फेंकते थे। फेंक कर राम कहते थे कि देखो मेरा ढेला कितना दूर गया है फिर श्रीकृष्णजी फेंक कर कहते थे कि दाऊ! देखो तो सही मेरा ढेला आपसे भी कितना दूर गया है यह क्रीड़ा सावधानी से कभी इस प्रकार करते जैसे किसी को किसी प्रकार की चोट लगने की शङ्का न हो। कभी पैरों में किङ्किणी[२] बान्ध कर नाच करते थे अथवा लोष्ठादि के ढेलों को उन पैरों से दूर फेंकते थे कभी मृत्तिका[३] से बनाये हुए गो वृषों[४] पर बैठकर घूमते थे अथवा गोप गो वृष बन जाते थे उन पर सवारी कर घूमते थे। अथवा उनसे युद्ध करते थे। अथवा परस्पर[५] एक दूसरे पर गिरा देते थे। कभी उन पर चढ़कर गिरा देते थे ॥ २८ ॥

आभास----एवं शिरोबाहुपादयुद्धस्थानैश्चतुर्विधा लीला निरूपिता, सम्पूर्णेन लीलामाह वृषायमाणाविति।

आभासार्थ—ऊपर के श्लोक में शिर, बाहु, पाद और युद्ध के साधनों से चार प्रकार की लीला का वर्णन कर अब इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने जो लीला की उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक—**वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम्।**
अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ--आप (श्रीकृष्ण) स्वयं वृष बनकर नाद[६] करते तो अन्य भी वैसे ही करते और परस्पर लड़ते थे। कभी मयूर[७] आदिकों की वाणी का अनुकरण करते प्राकृत बालकों के समान फिरते थे।

१—पत्थर इत्यादि। २—घुंघरू। ३—मिट्टी। ४—बैलों। ५—आपस में।
६—गरजते। ७—मोर।

सुबोधिनी—स्वयमेव वृषरूपौ भवतः कृत्रिमप्रकारेण तथैव च नर्दन्तौ शब्दं कुरुतः, परस्परमन्योन्यं च युयुधाते, कायवाङ्मनोलीला प्रदर्शिताः, युद्धं कायिकमपि मनोधर्मप्रधान्यात् मानसं, एवं स्वतोलीलां निरूप्यानुकारेणापि स्वतोलीलामाहानुकृत्येति, जन्तून् मण्डूकादीन् मयूरादींश्चानुकृत्य तत्सरूपौ भूत्वा तैस्तैः सहानुकारेण तेषामपि भ्रममुत्पाद्य सर्वा एव लीलाः कृतवन्तौ, तत्र स्वैश्वर्यभावनया तथा कृतवन्ताविविति शङ्कां वारयति प्राकृतौ-यथेति, यथा प्राकृतौ लौकिकसाधनैरेव तत्तदनुकरणं कुरुतस्तथा भगवान् सर्वविधबालकानां मनोरञ्जनार्थं तेषां दोषदूरीकरणार्थं निरोधार्थं च तथालीलां कृतवान्, जीवास्तु द्विविधा इत्युभयोस्तथाकरणम् ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ—स्वयं ही बनावटी वृषरूप बनते थे और उनके समान शब्द भी करते थे। परस्पर लड़ते भी थे। इससे काया[1], वाणी तथा मनकी लीला बताई है। युद्धकाया की और वाणी से बिजारे[2] जैसी ध्वनि इस प्रकार करने में मनोधर्म प्रबल होता है जिससे मन से भी लीला हुई। पूर्वार्द्ध में स्वतः की हुई तीन प्रकार की लीलाएँ कहकर उत्तरार्द्ध में अनुकरण से जो आपने लीलाएँ की उनका वर्णन करते हैं। मण्डूक[3] तथा मयूर आदि जन्तुओं के रूप बनकर उनके साथ मिलके वैसी ही बोली बोल कर उनको भी भ्रम में डालते थे वे भी समझ नहीं सकते थे कि ये बनावटी मेंढ़क वा मयूरादि हैं। इस प्रकार की बहुत लीलाएँ करते थे। ये लीलाएँ अपना ऐश्वर्य प्रकट करने के लिए की थी ऐसी शङ्का हो तो उसको मिटाने के लिये श्लोक में "प्राकृतौ" शब्द दिया है जिसका भाव यह है कि ये लीलाएँ प्राकृतो[4] के समान प्राकृत साधनों से ही करके उनका अनुकरण[5] किया था। भगवान् ने ये लीलाएँ सब प्रकार के बालकों के दोष* दूर करने, मनोरञ्जन करने तथा निरोध करने के लिए की हैं। जीव दो $ प्रकार के थे इसलिये दोनों † ने ऐसी लीलाएँ की ॥ २६ ॥

आभास—एवं भगवतो लीलामुक्त्वा पाल्यानां वत्सानां दोषरूपं वत्सासुरं मारितवानित्युपाख्यानमारभते कदाचिदितिषड्भिः।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने जो लीलाएँ की उनका वर्णन कर अब बछड़ों के दोष रूप वत्सासुर के वध का चरित्र छ श्लोकों से वर्णन करते हैं।

---

* टिप्पणी में श्रीप्रभुचरण कहते हैं कि—गोपों में यह दोष था कि वे भगवान् को अलौकिक समझते थे लीला के समय यों समझना दोष है इस दोष को निवृत्त करने के लिए ही परमात्मा (भगवान्) ने प्राकृत की तरह प्राकृत साधनों से लीलाकर गोपों का यह दोष मिटा दिया।

$ लेखकार कहते हैं कि एक प्रकार के जीव जो श्रीकृष्ण और बलरामजी दोनों को समान समझते थे वे प्रमाण में निष्ठावाले साधारण जीव हैं। दूसरे प्रकार के जीव जो केवल श्रीकृष्ण में ही निष्ठावाले थे, वे असाधारण जीव है।

† प्रकाश में श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि 'दोनों ने' बलराम और भगवान् 'श्रीकृष्ण ने' इस प्रकार से सब लीलाएँ की।

१—शरीर। २—सांड, बैल। ३—मेंडक। ४—साधारण, स्वाभाविक। ५—नकल।

श्लोक—कदाचिद् यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः ।
वयस्यैः कृष्णबलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत् ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ—किसी समय यमुनाजी के तटपर अपने समानवय वाले साथियों के साथ बछड़े चराने वाले राम और कृष्ण को मारने को इच्छा वाला एक दैत्य अचानक आ गया ।

सुबोधिनी—यदा वत्सानां निरीधो भगवता विचारितः स एव कालः, **यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोस्तयोः** सतोर्दैत्य आगमदितिसम्बन्धः, प्राकृता एव हि सदोषांश्चारयन्ति निरोधार्थं प्रवृत्तस्तु निर्दोषानेव पालयतीतिज्ञापनार्थं तेषां वत्सानां मिलितानां योयमासुरो भावः स एकीभूतो वत्सासुर इति तद्वधो निरूप्यते, **यमुनातीर** इति, तेषां शुद्धत्वे जलं हेतुः, दैत्यागमने तु यमभगिनीत्वं हेतुरिति, **स्वकैर्वयस्यैः** सहेति, येन्तःस्थिता बालास्ते निष्कासिता अत एव भगवद्भावमापन्नास्ते हि सर्वथा समानवयसो भवन्ति, ततो भक्तकालक्रोडीकृताः सख्ययोग्या भवन्तीति **कृष्णबलयोश्चारयतोः** सतोरितिपूर्वमिव सम्बन्धः, **जिघांसुर्घातक** क्रूरो दैत्यः पाल्यमानदोषरूपत्वादनामा, **आगमत्** क्रीडास्थाने समागतः ॥ ३० ॥

व्याख्यार्थ—वह दैत्य उस वक्त आया जिस समय भगवान् ने बछड़ों के निरोध करने का विचार किया था । जब यमुनाजी के तट पर दोनों भ्राता बछड़ों को चरा रहे थे उस समय वह दैत्य आया इस प्रकार अन्वय है । प्राकृत पुरुष ही दोषवाले बछड़ों को चराते हैं जो भगवान् निरोध करने के लिए प्रकट हुए हैं वे सदोष[1] बछड़ों को कैसे चराएँगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए ही कहते हैं कि सब बछड़ों का सम्मिलित जो आसुर भाव था वह वत्सासुर के रूप में वहाँ आया था इसलिए भगवान् ने उसका वधकर बछड़ों को प्रथम निर्दोष बनाने कि लीला की है। बछड़े तो यमुनाजल पान करने के कारण शुद्ध थे । दैत्य वहाँ क्यों आया ? उसका कारण यमुनाजी यमकी बहिन है* । भगवान् जिन समानवय वालों के साथ क्रीड़ा करते थे वे कौन थे ? आचार्यश्री उसका स्पष्टीकरण करते हैं कि समान वय वाले वयस्य वे थे जिनको बालक भगवान् ने पहले (पूतना का स्तन पान करते समय) अपने अन्दर स्थापित किए थे उनको बाहिर प्रकट कर खेलते थे अन्तः स्थित होने से वे भगवद्भाव को प्राप्त हुए थे । जिससे भगवान् के समवयस्क होने से मैत्री के योग्य भी थे । इसलिए श्लोक में केवल 'वयस्या' (मित्र) न कहकर 'स्वकैः' (अपने) कहा । क्योंकि 'अन्तःस्थ' (हृदय में रहने वाले) ही अपने कहे जाते हैं । 'जिघांसु' कहने से बताया है कि वह दैत्य, घातक और क्रूर था । उसका नाम इसलिए नहीं दिया है कि वह पालने योग्य बछड़ों के दोषों का रूप था । आया अर्थात् खेल के स्थान पर आएगा ॥ ३० ॥

* यमुनाजी के तीर पर क्रीड़ा हो रही थी वहाँ दैत्य आया यमुनाजी यम की बहिन है उसका आश्रय जो करता है उसको यमयातना भोगनी नहीं पड़ती है उसके सर्वदोष दूर हो जाते हैं मुकुन्द भगवान् में रति होती है । यहाँ आने से इसकी भी ऐसी गति होनी है । इसलिए यहां आया ।—**अनुवादक**

१—दोष वाले ।

आभास—तस्य ग्रहणमाह तं वत्सरूपिणमिति ।

आभासार्थ—उस (वत्सासुर) को भगवान् ने पहचान कर पकड़ लिया उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः ।**
दर्शयन् बलदेवाय शनैर्मुग्ध इवासदत् ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ—बछड़े के रूपवाले उसको बछड़े के टोले में मिले हुए देख, बलरामजी को उसे दिखाकर भगवान् ने अनजान के समान बन धीरे धीरे वहाँ जाकर उसको पकड़ लिया ।

सुबोधिनी—स प्रसिद्धो दोषात्मा वत्सस्येव रूपमस्यास्तीति **वत्सरूपी** तादृशोपि यदि पृथक् तिष्ठेत् तदा केनचिज् ज्ञायेतापि परं **वत्सयूथगते** वत्ससमूहे वत्ससमानाकृतिरूपो भूत्वा प्रविष्टः, मारणं तु तेषामुद्धारार्थं यतोयं सर्वदुःखहर्ता, **बलभद्रादेरप्यन्यधर्मसम्बन्धाद्** वाच्यतानिराकरणाय **बलदेवाय** प्रदर्शितवानयमसुरो वत्स इति प्रदर्शितत्वादेव दैत्यस्वरूपमाविश्चकार, नो चेद्वाच्यतां वा सम्पादयेत्, तथाभावे **बलभद्रेणाङ्गीकृते शनैर्यथा** भगवत्कृत्या दैत्यत्वोद्बोधो न भवति तथा **मुग्ध इवाजानन्निव** वत्सान्तरं गृह्णन् क्रीडार्थमयमपि गृहीतः, तदाह **मुग्ध इवासददिति**, अत्रसादं प्रापितवानित्यर्थः, ग्रहणमात्रेणैव निष्पीडित एवावसन्नो जातो विशीर्णो वा गतिसाम्याद् धृतो वा, सम्यग्ग्रहणपर्यन्तमज्ञानाय मुग्धभावः ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ—प्रसिद्ध दोष* रूप वह असुर बछड़े का रूप धारण कर बछड़ों के यूथ (टोले) में मिल गया था । यदि वह पृथक[1] खड़ा होता तो उसको कोई भी पहचान सकता था किन्तु बछड़ों के समूह में वत्स रूप होकर मिल जाने से पहचानना अशक्य[2] था । भगवान् को तो उसके उद्धार के लिए उसको मारना था क्योंकि यह भगवान् सर्व के दुःखों का हरण करने वाले हैं । भगवान् ने बलदेवजी को दिखा दिया कि यह बछड़ा असुर‡ है । यदि इस प्रकार कहकर न दिखाते तो निन्दा होती कि कृष्ण भी इसको पहचान न सके और बछड़े को मार दिया इस निन्दा के निवारण के लिए बलराम जी को पहचान करा दी क्या बलदेवजी उसको न पहचान सके ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि उस समय बलदेवजी को अन्य धर्म† से सम्बन्ध था अतः उन्होंने

* 'कृष्णोपनिषद' में लिखा है कि लोभादिदोष असुर बन के आए हैं ? अतः यह असुर दोष रूप है । —**'योजना'** ।

‡ बलदेवजी वेद रूप है इसलिए उसकी सम्मति लेने के लिए उनको दिखाया । —**'योजना'** ।

† 'अन्यधर्म' अर्थात् 'प्राकृत धर्म' । —**'प्रकाश'**

१—अकेला । २—कठिन

पहचाना नहीं। जिस समय भगवान् ने बलरामजी को कहा कि यह वत्स असुर है उस समय भगवान् के सत्व भाव उदय से असुर ने अपना असुरत्व प्रकट कर दिखाया। यदि भगवान् बलदेव को यों न दिखाते तो वह अदृश्य हो जाता। भगवान् के दिखाने से बलदेवजी ने उसके असुरत्व को जान लिया। भगवान् उसको पकड़ने के लिए धीरे धीरे इसलिये गए कि वह न जान सके कि मेरे पकड़ने के लिए आ रहे हैं यदि जान जाएगा तो वह अपना असुरपना बाहिर भी प्रकट कर देगा। अतः धीरे धीरे तथा मुग्ध भाव से जा रहे थे जिससे वह समझ जाय कि किसी दूसरे को पकड़ने को जा रहे हैं। भगवान् ने अपना मुग्धभाव प्रकट करते हुए पहले किसी दूसरे वत्स को क्रीड़ा के लिए पकड़ते हुए इसको भी पकड़ लिया। पकड़ते ही वह शक्ति हीन वा क्षीण हो गया। भगवान् ने जिस गति से दौड़कर दूसरे को पकड़ा था उसी प्रकार दौड़कर इसको भी पकड़ लिया पूर्ण रीति से पकड़ लेने तक इस (वत्सासुर) को अज्ञान में रखने के लिए भगवान् ने मुग्ध भाव प्रकट किया था ॥३१॥

आभास---ततो गृहीत्वा मारितवानित्याह गृहीत्वेति।

आभासार्थ—पकड़ने के अनन्तर भगवान् ने उसको मार डाला यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक---**गृहीत्वापरपादाभ्यां सह लाङ्गूलमच्युतः।**
भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद् गतजीवितम् ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ--भगवान् ने पूँछ के साथ पीछे के पादों को पकड़ कर इस प्रकार घुमाया जिससे उसके प्राण वहाँ ही निकल गए अनन्तर कैथ वृक्ष के पास फेंक दिया।

सुबोधिनी--महाबलत्वेन पुच्छभ्रामणादिनापराधकरणाभावाय लाङ्गूलेन सहापरपादाभ्यामपरपादौ गृहीत्वा, स्वस्य मारणादिशंका तु नास्त्येव, यतोमच्युतः, कपित्थाग्रें भ्रामयित्वा कपित्थफलपातनार्थं प्राहिणोत्, एका क्रिया भगवतोनेकक्रियां सम्पादयतीति कपित्थपातनार्थं वृक्षोपरि पातनममुक्त्यर्थं च न प्राणापगमो भगवद्धस्तसम्बन्धे नापि भूमौ नापि वृक्षेन्तरिक्ष एव प्राणापगमः, अत एव गतजीवितमन्तरिक्ष एव गतप्राणं प्राहिणोत् ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ--वह असुर महा बलवान् था भगवान् केवल पूंछ पकड़ कर फिराते थे तो कदाचित् पैरों से भगवान् का अपराध करता। यह अपराध इससे न हो, इसलिये भगवान् ने पूँछ सहित इसके पीछे के पाँव भी पकड़ लिये। भगवान् के मन में यह तो शंका थी ही नहीं कि यह असुर मुझे मारेगा क्योंकि भगवान् 'अच्युत'[1] हैं। घुमाकर कैथ वृक्ष पर इसलिये फेंका कि पेड से फल

१—अमर

गिरे । भगवान् की एक क्रिया अनेक कार्यों को सिद्ध करती है । कैथ के फल गिराने और उसकी मुक्ति न हो तदर्थ उस पेड़ पर इसको फेंका था भगवान् के हाथ का सम्बन्ध होने से उसके प्राण पृथ्वी पर न गिरने पर न गए और न वृक्ष पर गिरने के समय गए किन्तु अन्तरिक्ष में ही प्राण चले गये थे । इसलिये श्लोक में 'गतजीवितम्‡ प्राहिणोत्' कहा है जिसका आशय है प्राण अन्तरिक्ष[1] में जाने के अनन्तर उसको फेंक दिया ॥ ३२ ॥

आभास—बालकैस्तु भ्रामणे प्रहरणे च तच्छरीरं न दृष्टमेव, पश्चात् सफलं दृष्टमित्याह सकपित्थैरिति ।

आभासार्थ—भगवान् ने वत्सासुर को जिस समय घुमाया और कैथ के पेड़ पर फेंका उस समय बालकों ने उसको देखा ही नहीं जब वह कैथ के फलों के साथ गिरा तब उसको देखा । इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक- --**स कपित्थैर्महाकायः पात्यमानैः पपात ह ।**
तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुः साधुसाध्विति ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ——गिरते हुए कैथों के साथ वह महाकाय दैत्य भी गिरा उसको देख कर आश्चर्य में पड़े हुए बालक 'वाह वाह' कह कर प्रशंसा करने लगे ।

सुबोधिनी——कपित्थैः फलैः सह तेनैव **पात्यमानैः** स **महाकायः पपात ह** बालैर्ज्ञातं स्थूलं कपित्थफलं शाखा वा पततीति तस्य पातः स्थूलता चात्याश्चर्यमिति हेत्याह, पतितं तं **वीक्ष्य बालाश्च विस्मिता** जाताः कुतोयं दैत्य; कथं पतित इति, भगवत्पातितं ज्ञात्वा **साधुसाध्विति शशंसुः**, ज्ञानं धारणं प्रक्षेपो मारणं चेति प्रत्येकं **प्रशंसे**ति ज्ञापयितुं वीप्साऽऽश्चर्यभावज्ञापकं वा, अनेन लोकेवाच्यता परिहृता ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—कैथ के फलों को गिराता हुवा वह महाकाय (वत्सासुर) भी उनके (फलों के) साथ पृथ्वी पर गिरा । श्लोक में आए हुए 'ह' कहने का भावार्थ बताते हैं कि बालकों ने समझा कि स्थूल कैथ के फल वा बड़ी शाखा गिरती है किन्तु उनके साथ वत्सासुर का गिरना एवं उसकी स्थूलता देखकर अचम्भे में पड़ गये और कहने लगे कि अत्यन्त आश्चर्य है यह इतना बड़ा दैत्य कहां से आया और कैसे गिरा ? विचारान्तर जाने गए कि भगवान् ने गिराया है तब प्रशंसा करते हुए बहुत अच्छा, बहुत अच्छा शब्द की ध्वनि करने लगे । भगवान् ने इसको पहचाना, पकड़ा,

---

‡ 'गतजीवितम्' यह क्रिया का विशेषण है । इसलिये इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है ।—'प्रकाश'

१—बीच में ।

फेंका और मारा प्रत्येक क्रिया की प्रशंसा करने लगे इसलिये 'बहुत अच्छा बहुत अच्छा' दो बार कहें अथवा बालकों को अपने आश्चर्य प्रकट करने की इच्छा हुई इसलिये 'बहुत अच्छा' दो बार कहें। इससे यह भी बता दिया कि वत्सासुर हनन[1] से लोक में निन्दा नहीं हुई है। किन्तु यश ही हुआ है ॥ ३३ ॥

आभास––लोकान्तरेप्यवाच्यपरिहाराय देवानामभिनन्दनमाह देवाश्चेति ।

आभासार्थ—पर इस लोक में भी निन्दा न होकर यश हुआ है जिसकी साक्षी देते हैं कि देवताओं ने भी प्रसन्न होकर अभिनन्दन[2] प्रकट किया। उसका वर्णन नीचे के ३४वें श्लोक में करते हैं।

श्लोक––**देवाश्च परिसन्तुष्टा बभूवुः पुष्पवर्षिणः ।**
वत्सासुरं हतं श्रुत्वा व्रजे गोप्यश्च विस्मिताः ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ––देव भी प्रसन्न हो कर फूल बरसाने लगे और व्रज में वत्सासुर का मरना सुनकर गोपियाँ विस्मित हो गईं।

सुबोधिनी—देवाश्च साधुसाध्विति शशंसुःपरिसन्तुष्टाःपरितः सन्तुष्टाश्च जाताः दैत्यवधाद्, वत्सेषु देवानां दैत्यानां च भोगः, इदानीं देवानामेवेति परितस्तोषः, पुष्पवर्षिणश्च बभूवुः, तेषां वाङ्मनःकायव्यापारा निरूपिताः, अर्धमत्र पतितं, **वत्सासुरं हतं श्रुत्वा व्रजे गोप्यश्च विस्मिता** इत्येवमर्थम् ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ—दैत्यवध से देवगण भी 'बहुत अच्छा बहुत अच्छा' कहकर प्रशंसा करने लगे और सर्व प्रकार से संतुष्ट[3] हुए क्योंकि वत्सों में देव और दैत्यों को भोग करने का अधिकार है अर्थात् दोनों उनका भोग कर सकते हैं। अब दैत्य के मर जाने से केवल देवगण ही वत्सों का भोग[4] ले सकेंगे अतः देव सब प्रकार से प्रसन्न होकर पुष्प वर्षा करने लगे इस प्रकार की क्रिया (कार्य करने) से देवों ने वाणी से प्रशंसा की मन से संतोष प्रकट किया और काया से पुष्प वर्षा की है* ॥ ३४ ॥

आभास----एवं वत्सासुरे हते पुनर्वत्सान्तरशङ्कया वत्सचारणं बाला भगवान् वा न कृतवन्त इत्याशंकापरिहारार्थमाह वत्सपालकौ भूत्वेति ।

* इस ३४वें श्लोक के पूर्वार्द्ध पर आचार्यश्री ने टीका की है और उत्तरार्द्ध के लिये लिखा है कि यह आधा श्लोक मूल भागवत् में नहीं है। अतः केवल उसका शब्दार्थ दिया है वत्सासुर मारा गया यह सुनकर व्रज में गोपीजन आश्चर्य में पड़ गईं।—अनुवादक

१—मारने से। २—हर्ष, आनन्द। ३—प्रसन्न। ४—सुख।

आभासार्थ—यह वत्सासुर तो मरा किन्तु पुनः अचानक दूसरा कोई असुर आ जाएगा तो हम वत्स चराने के लिये कैसे जावें ? इसी प्रकार का भय गोपों को अथवा भगवान् को न हुवा इसलिये वे बछड़े चराने गये उसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ ।**
सप्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ—सकल लोकों के, अकेले मुख्यपालक, वे दोनों भ्राता, वत्स पालक बनकर प्रातः काल में (जिस समय बछड़े माता के दूध को पीते थे उस समय) भोजन करके, बछड़ों को चराते फिरते थे।

सुबोधिनी— **सर्वलोकैकपालकावपि वत्सपालकौ भूत्वा विचेरतुरितिसम्बन्धः**, कदाचिन्न वत्सचारणं किन्तु तद्वृत्तिमानिव निरन्तरं चालयति, अतो वत्सपालका इत्येव लोके प्रसिद्धिः, **सर्वलोकैकपालकाविति च**, एकपदमप्राधान्यपालकव्यावृत्त्यर्थं, भूत्वेतिमध्ये निवेश उभयप्रसिद्धिख्यापकः, वेदाल्लोकप्रसिद्धिर्दुर्बलेति, वत्सपालकत्वं नोक्तं भविष्यतीत्याशङ्क्य प्रथमं निर्दिष्टं, सन्ध्यापर्यन्तं वत्सचारणं कर्तव्यं, अतो वत्सानां स्तनपानसमय एव प्रातरशनं कृत्वा **सप्रातराशौ** गवां वत्सान् धर्मोपयोगिनश्चारयन्तौ स्वयमपि **विचेरतुः** ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि वे दोनों भ्राता सकल लोकों के अकले ही पालक हैं तो भी अब वत्सपाल बनकर फिरने लगे। कभी कभी बछड़े नहीं चराते थे किन्तु जैसे ग्वाले जो गौओं से वृत्ति[1] करने वाले हैं उनके समान सतत्त गौओं को चराने लगे। जिससे आप अब 'वत्सपाल' (गोप व ग्वाल) नाम से प्रसिद्ध हुए, सर्व लोकों के अकेले पालक की तो पूर्व से प्रसिद्धि थी। एक शब्द से यह बताया है कि आप प्रधान (मुख्य) पालक हैं। श्लोक में 'भूत्वा' पद 'वत्सपालकौ' और 'सर्वलोकैकपालकौ' दोनों पदों के बीच में देने से यह बताया है आप 'वत्सपाल' और 'लोकपाल' दोनों नामों से प्रसिद्ध ही हैं। वेद से लोक की प्रसिद्धि दुर्बल है। श्लोक में 'वत्सपाल' पद इसलिये पहले दिया है कि कदाचित् 'वत्सपाल' यह नाम प्रसिद्ध न हो तो पहले देकर इस नाम की प्रसिद्धि की जाय। प्रातः काल बछड़ों के साथ (जिस समय वे गाय के थन से दूध पीते थे उस समय) भोजन इसलिये कर आते थे कि सन्ध्या तक बछड़ों के साथ उनको चराते हुए फिरना हैं। कारण कि गौओं के बछड़े धर्म के उपयोग में आते हैं। अतः बछड़ो कों चराते हुए आप भी सन्ध्या तक फिरते रहते थे ॥ ३५ ॥

आभास—एवं वत्सानां दोषं परिहृत्य पालानामपि दोषं परिहर्तुं दम्भात्मकं बकं मारितवानित्युपाख्यानमारभते स्वं स्वमितिनवभिः।

१—आजीविका।

आभासार्थ—इस प्रकार बछड़ों का दोष निकालकर, अब गोपों के दोषों का परिहार[1] करने के लिये दम्भरूप बक को भगवांन् ने मारा। इसका वर्णन निम्न श्लोक से नौ श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—**स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पाययिष्यन्त एकदा।**
गत्वा जलाशयाभ्यासं पाययित्वा पपुर्जलम् ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ—एक दिन सब गोप बालक अपने अपने बछड़ों के समूह को इकट्ठा कर, पानी पिलाने के लिए, जलाशय के पास ले गए बछड़ों को जल पिलाके आपने भी पीया।

सुबोधिनी—प्रथमं बकदर्शनार्थं यमुनायां चारितान् वत्साज् जलं पाययित्वा स्वयमपि जलं पीतवन्त इत्याह स्वं स्वमिति, वत्सकुलं वत्ससमूहं सर्वेषामेव बहवो वत्सा इति सर्वेषां गमनं, अन्यथा सर्वेषां दर्शनं न स्यात् तुल्योयं बकः सर्वेषामिति सर्वेषां समानक्रिया, एकदेति यदा बालका दोषान् मोचनीया इति भगवदिच्छा तदा, जलसमीपं गत्वा वत्सकुलं जलं पाययित्वा स्वयं जलं पपुः ॥ ३६ ॥

कारिका—**यमुनाजलपानेन दोषः सर्वो विनिर्गतः।**
एकीभूतो बकः प्रोक्तो जलपानात् स दृश्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ— यमुना के जल पान से सम्पूर्ण दोष बाहिर निकल वह दोष बकरूप में इकट्ठा हो गया। जल के पान से वह देखने में आया।

कारिका—**अतः पानं दर्शनं च तेनोपद्रव एव च।**
ततः सर्वापराधश्च तद्वधोपाय एव च ॥ २ ॥
तद्वधश्च स्तुतिर्देवैर्गोपानां तोष एव च।
तथैव गोकुलस्थानां नव प्राणा हि शोधिताः ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—इससे पीना, दर्शन, उसका किया हुआ उपद्रव, सर्व का अपराध, उसके मारने का उपाय, उसका वध, स्तुति, संतोष, गोकुलवासियों का संतोष, इस प्रकार की लीला से नौ प्राण शुद्ध किये हैं।

व्याख्या—प्रथम कारिका में गोपों ने बछड़ों को जल पिलाकर अनन्तर स्वयं ने भी यमुनाजी

१—त्याग।

का जल पीया उस यमुना जलपान से गोपों में जो दोष* थे वे बाहिर निकल गए और वे निर्दोष बन गए। उन दोषों ने मिलकर बक का रूप धारण कर लिया। उसको गोपों ने देखा और पहचान लिया कि यह बक हमारे दोषों का रूप है। यमुना जल के पान करने से ही उनको पहचान सके थे ॥ १ ॥

द्वितीय-तृतीय कारिका में ३६ श्लोक से ४४ वे श्लोक तक के प्रत्येक श्लोक में वर्णन की हुई लीला को कहा है जैसे की ३६ वे श्लोक में यमुना जल पान, ३७ वें श्लोक में, अपने दोषों का रूप यह बक है इसका देखना (समझना) ३८ वें श्लोक में बक का किया हुआ उपद्रव, ३९ वें श्लोक में सब का बक ने जो अपराध किए, ४० वें श्लोक में बक के वध का उपाय, ४१ वें श्लोक में उसका वध, ४२ वें श्लोक में, देवताओं ने भगवान् की जो स्तुति की हैं, ४३ वें श्लोक में गोपों का सन्तोष, ४४ वें श्लोक में गोकुलवासियों का सन्तोष। इन नौ लीलाओं से गोकुल वासी गोपों के नौ प्राणों की शुद्धि की हुई है ॥ २-३ ॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में कहा हैं कि गोपों को बक देखने में आवे, इसलिये प्रथम, यमुना के पास चरते हुए बछड़ों को यमुना जल पिलाकर आपने भी पीया। 'वत्सकुलं' पद का भावार्थ कहते हैं कि प्रत्येक गोप के पास बहुत वत्स थे इसलिये सब गोप जल पिलाने के लिये गए। यदि सब न जाते तो सबों को बक देखने में न आता केवल जाने वालों को ही देखने में आता। यह बक सबों के लिए समान था, इसलिये सबकी क्रिया समान होनी चाहिये अतः सब ने जलपान किया। किसी समय अर्थात् जब भगवान् की इच्छा हुई कि बालकों के दोष निवृत्त करने चाहिये तब जल के पास जाकर बछड़ों के समूहों को जल पिलाकर आप सबने भी जल पीया ॥ ३६ ॥

आभास---ततो दोषात्मकं बकं दृष्टवन्त इत्याह ते तत्रेति।

आभासार्थ—बछड़ों को जल पिलाया, आपने भी पीया तदन्नतर दोषरूप बक को देखा। उसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं।

श्लोक----**ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम्।**
तत्रसुर्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः शृङ्गमिव च्युतम् ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ---वहाँ उन बालकों ने व्रज से टूट कर गिरे हुए पर्वत के शिखर के समान बैठा हुआ एक बड़ा जीव देखा और घबराए।

---

* दम्भरूप दोष बाहिर निकला इससे वे गोप निर्दोष हो गए। ये गोप जो बाहर स्थित थे वे पहले सदोष थे अब निर्दोष हुए। शेष बालक जो भगवान् ने अपने में से बाहर निकाले थे वे पहले ही निर्दोष थे।

सुबोधिनी—ते सर्वं एव तत्र जलनिकटे बाला भीरवो महासत्त्वं भयानकमवस्थितं निकटे मारकत्वेन स्थितं प्रथमतो ददृशुः पश्चात् तत्रसुः, तथापि भगवत्कृपया ते तं हतमेव ज्ञातवन्तः, अन्यथा महाभयेन प्राणवियोगो भवेत्, तदाह वज्रेण निर्भिन्नस्य गिरेःशृङ्गं च्युतमिव तं ददृशुः, कंसो हि जगदुपद्रवकर्ता भगवता वज्रेण हत एव, तस्यायं शृङ्गस्थानीयः सोऽप्यत्र च्युतः, नास्य व्याधुट्यगमनशङ्केत्यतः क्रीडार्थमेव विनियोगो न तु पीडार्थं, केवलं बालानां दर्शनमात्रेणैव भयमिति ।। ३७ ।।

व्याख्यार्थ—उन सब गोपों ने जल के निकट एक भयानक प्राणी को देखा जो मारने के लिये निकट खड़ा था, उसको देखने के अनन्तर डर गये । क्योंकि वे (गोप) बालक थे । डरे, किन्तु भगवान् की कृपा से उन्होंने उसको मरा हुआ समझा । यदि मरा हुआ न समझते तो इस महाभय से उनके प्राण-पक्षी उड़ जाते । इसलिये श्लोक में कहा हैं कि उन्होंने व्रज से टूट कर गिरे हुए पर्वत के शिखर के समान इसको देखा जिसका आशय बताया कि गोपों ने इसको मरा हुआ समझा । जगत् को पीड़ा करने वाले कंस को भगवान् ने व्रज से मारा‡ ही है । उस (कंस) का यह (असुर) शृङ्गरूप है वह भी यहाँ आ पड़ा है। शृङ्ग शब्द का भाव प्रकट करते हैं कि वह यहाँ से भागकर जाएगा । ऐसी शंका ही नहीं करनी चाहिये अर्थात् वह जाएगा नहीं, कारण कि इसका यहाँ पड़ना, क्रीड़ा के लिये ही है, न कि पीड़ा देने के लिये हुआ है । गोप, बालक होने से उसको देख कर केवल भय को प्राप्त हुए हैं ।। ३७ ।।

आभास----ते सर्वे बाला भगवता निष्प्र पञ्चीकृता इति तेषां दोषोयं भगवन्तमपकृतवानित्याह स वै बक इति ।

आभासार्थ—उन सब बालकों का भगवान् ने प्रपञ्च छुड़ा दिया था अर्थात् उन को निर्दोष बना दिया था । उन (बालकों) का यह दोष बक बनकर भगवान् का अपकार[1] करने लगा । इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**स वै बको नाम महानसुरो बकरूपधृत् ।**
आगत्य तरसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोग्रसद् बली ।। ३८ ।।

श्लोकार्थ—वह बक रूप धारण करने वाला, महान् असुर, नाम से 'बकासुर' दैत्य था । तीखी चोंचवाला यह बलवान् असुर शीघ्र आकर श्रीकृष्ण को निगल गया ।

---

‡ व्रज से कंस को मारा ही है का स्पष्टीकरण करते हैं कि भगवान् ने कंस को आकाशवाणी रूप व्रज से पहले ही मार दिया है । —'प्रकाश'

१—अनिष्ट 'हानि' ।

सुबोधिनी – नामप्रसिद्ध्यैव तस्य दोषः स्पष्टः, **महानसुर** इति वत्सापेक्षयापि महान्, भगवदीयानां दोषत्वात्, **बकरूपमेव** च बिभर्ति तस्योपास्या देवता सैवेति स्वरूपतः प्रसिद्धा च, देवानुग्रहाच्च महान्, अत एव **तरसा** शीघ्रमागत्य **कृष्णं** सदानन्दं लोभानृतरूपौ तुण्डौ यस्य तादृशो बली क्रियाशक्तिप्रधानो ग्रासं कृतवान्, आनन्दो हि लोभेन सत् चानृतेन ग्रस्यत एव, 'तं यथायथोपासत' इतिश्रुतेः, भगवतैव भगवान् वशीकृतः गोपानां भगवत्प्रेमज्ञापनार्थमेव तथा कृत इति ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ---'बक' नामकी प्रसिद्धि से ही उसका दोष (रूप) स्पष्ट समझने में आ जाता है। यह असुर महान् है महान् शब्द का आशय है कि यह वत्सासुर से भी बड़ा दैत्य है। क्योंकि वत्सासुर तो बछड़ों का दोषरूप था यह भगवदीय गोपों का दोषरूप है इस कारण से ही इसने बकरूप को ग्रहण किया है। इन (बकासुरों) की उपास्य देवता भी बकरूपा मायादेवी भगवान् का रूप प्रसिद्ध ही हैं। उस अपने देव (बकरूपिणी मायादेवी) के अनुग्रह से यह महान् है। इस कारण से ही लोभ और अनृत[1] रूप चोंचवाले और मुख्य क्रिया शक्तिवाले उस (दोषरूप महान् दैत्य बक ने शीघ्र आकर सदानन्द (श्रीकृष्ण) को निगल लिया। लोभ से* आनन्द और अनृत से सत्य निगला जाता है। 'तं यथा यथोपासते' इस श्रुति के अनुसार उस (भगवान्) की जिस भाव से जीव उपासना करता है उस भाव के अनुसार भगवान् भी उस (भगवान्) के वश में होते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान् लीलार्थ—अपने ही स्वरूप के वश होते हैं भगवान् ने गोपों को प्रेम के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये यह लीला की है ॥ ३८ ॥

आभास----ततस्तेषां प्रेमाणमाह कृष्णमिति ।

आभासार्थ---इसके अनन्तर नीचे के श्लोक में गोपों का भगवान् में जो प्रेम है उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक---**कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः ।**
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणैर्विचेतसः ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ---बलराम आदि सब बालक श्रीकृष्ण के बकासुर से निगले जाने को देख कर प्राणरहित इन्द्रियों के समान अचेत हो गए।

सुबोधिनी—**महाबक** उपास्यस्तेन कवलीकृतं दृष्ट्वा **रामादयोपि विचेतसो** जाताः, तत्प्राणत्वात्, तेषां क्रियायां ज्ञाने वा सर्वदा सामर्थ्यं गतमितिज्ञापनार्थं दृष्टान्तमाह **विनाप्राणैरिन्द्रियाणीवेति**, एकस्तु न लोके दृष्टान्त इति ज्ञापयितुं **प्राणै**रितिबहुवचनम् ॥३९ ॥

* लेखकार गो० श्रीवल्लभलालजी कहते हैं कि जहाँ लोभ होता है वहाँ दुःख उत्पन्न होता है दुःख होते ही सुख तिरोहित हो जाता है।

१—झूठ।

व्याख्यार्थ--बकासुर के उपास्य महाबक से श्रीकृष्ण को निगलते देखकर राम आदि सब अचेत हो गये। क्योंकि श्रीकृष्ण ही इनके प्राण थे। उस (प्राणरूप श्रीकृष्ण) के जाने से इनकी क्रिया और ज्ञान की शक्ति चली गई। कैसे चली गई वह दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे प्राणों के जाने से इन्द्रियों की क्रिया और ज्ञान नष्ट हो जाता है। लोक में एक प्राण दृष्टान्त में नहीं कहा जाता है अतः प्राण शब्द बहुवचन में दिया है ॥ ३९ ॥

आभास--लोभानृताभ्यामेव सदानन्दतिरोभाव इति तुण्डदेशादधोगतः सरस्वती-स्थाने वेदानां प्रामाण्यार्थं तालुमूलं ज्वालितवान्, तीक्ष्णद्रव्याणामपि मरिचादिनां दाहकत्वमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमग्निज् ज्वालनमुक्तं, तथा दहन्तं त्यक्तवानित्याह तमिति।

आभासार्थ—निगले जाने पर भगवान् उसके कण्ठ (सरस्वती के स्थान) में स्थित हो गए चोंचों के बीच में नहीं ठहरे, कारण कि उसकी चोंच लोभरूप हैं और दूसरी अनृतरूप है इससे भगवान् ने यह बताया कि जहाँ लोभ और अनृत हैं वहाँ से मैं तिरोहित हो जाता हूँ अर्थात् वहाँ नहीं ठहरता हूँ मैं तो वहाँ ठहरता हूँ जहाँ वेद प्रमाण का स्थान है अर्थात् वेदानुकूल आचरण हैं। इसलिये आपने सरस्वती के स्थान कण्ठ में स्थिति की है। उसको जलाने लगे जिसका तात्पर्य था कि बक आपको भीतर न निगल सके और बाहिर उगलदे। मिरच आदि से जलन होती है किन्तु वह जलन सहने जैसी होती है यह जलन असह्य थी इसलिये अग्नि जैसी कहा हैं ऐसी असह्य जलन के कारण बक ने भगवान् को उगल कर बाहिर निकाल दिया। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक---**तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद् गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः ।**
चच्छर्द सद्योतिरुषाक्षतं बकस्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ--अग्नि के समान तालु के मूल को जलाने वाले गोपाल (श्रीनन्दरायजी) के पुत्र और ब्रह्मा के पिता को बक ने उगल दिया। उसको बिना घात हुवे (देख) बहुत गुस्से में आकर चोंच से मारने के लिये एकदम पुनः उसके पास आया।

सुबोधिनी—तालुमूलं कण्ठस्थानं प्रकर्षो गिलना-सामर्थ्यसम्पादकः नन्वपहतपाप्मा कथं तालूमूलसम्बद्धो जात इत्याह गोपालसूनुमिति, तथाभावं सम्पादयन्नेतदपि कृतवानित्यर्थः, ननूभयमपि किमिति प्रदर्शितवानित्या-शङ्क्याह पितरं जगद्गुरोरिति, ब्रह्मणोपि पिता, स हि सर्वानुपदिशति 'तत्त्वमसी'ति तत्रासम्भावनया न कोपि तथात्वं मन्यते तस्यैतन्निदर्शनार्थं भगवता कृतं, अनेनैव महत्वमपि सूचितं, कथं मारयिष्यतीतिशङ्का च परिहृता, किञ्च साधारणोपि ब्राह्मणो गरुडेन भक्ष्यमाणो गरु-डस्यापि तालुं ददाह किं पुनर्ब्रह्मणोपि पिता परब्रह्म ? अतश्चच्छर्द बहिर्निष्कासितवान् अन्यथा ज्वलित एव स्यात्, तदि तावदेव कृत्वा गच्छेत् तदा जीवेद् वा, पुनरिति रुषा केनाप्यंशेनाक्षतं भगवन्तं तुण्डेन सम्पुटितेन पीडयितुमभ्यपद्यत, अतिरोषाद् देवता तिरोहिता ॥४०॥

व्याख्यार्थ--तालु का मूल अर्थात् कण्ठ-स्थान। श्लोक में 'दहन्तं' के साथ 'प्र' शब्द दिया है उस 'प्र' के देने का आशय यह है कि इस प्रकार जलाने लगे जिससे वह उस (कृष्ण) को निगल न सका भगवान् (कृष्ण) पापरहित हैं उनका तालु मूल से सम्बन्ध नहीं होना चाहिये वह कैसे हुआ ? इस शङ्का के निवारण के लिये 'गोपाल सूनु' नाम देकर बताया है कि नन्दजी के पुत्र का भाव प्रकट करने के लिए उससे (तालु मूल से) सम्बन्ध भी किया है।

पापरहितपना और तालुमूल से सम्बन्ध ये दोनों एक समय में कैसे दिखाए ? इस शंका के मिटाने के लिये श्लोक में आप (कृष्ण) के लिए 'पितरं जगद्गुरोः' कहा है गोपाल (श्रीनन्दरायजी) का पुत्र साथ में उसी समय ब्रह्मा का पिता भी है वह सबको उपदेश देते हैं कि 'तत्त्वमसि' तू वह (अक्षर ब्रह्म) है किन्तु यह कहना बन नहीं सकता है इसलिये असम्भावना* समझ कोई इस बात को मानता नहीं है। उसको यह सिखाने के लिये भगवान् ने ये दो ही कार्य साथ में कर दिखाए हैं इससे भगवान् का महत्व भी सूचित होता है और ऐसे महान् असुर को कैसे मार सकेंगे यह शंका भी इससे मिटा दी है और साधारण ब्राह्मण को गरुड़ ने खाया तो उसने भी गरुड़ के तालु को जला दिया तो ब्रह्मा के पिता परब्रह्म ने बक का कंठ जलाया तो इसमें क्या आश्चर्य है ? अतः जलने से बक ने भगवान् को बाहिर निकाल दिया। यदि न निकालता तो जल ही जाता था। बाहिर निकाल कर स्वयं रवाना हो जाता तो बच भी जाता किन्तु क्रोध में आ गया क्योंकि देखा कि कृष्ण को कुछ भी घाव नहीं हुआ है इसलिये बिना घाववाले भगवान् को सम्मिलित (दोनों चोंचो को इकट्ठी कर) चोंच से पीड़ा देने के लिये फिर उन (भगवान्) के पास आ गया। विशेष क्रोध के कारण बक में से बक का देवता निकल के चला गया शेष अकेला बक रह गया ॥४०॥

आभास--स्वसामर्थ्येन चेन् मारयितुं प्रवृत्तस्तदा दूरादेव भगवान् मारितवानित्याह तमापतन्तमिति।

आभासार्थ—देवता के चले जाने पर अकेला स्वयं बक अपनी सामर्थ्य से भगवान् को मारने के लिये आया तब भगवान् ने दूर से ही उसको मार दिया। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक--**तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयोर्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां गतिः।**
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया मुदावहो वीरणवद दिवौकसाम् ॥ ४१ ॥

---

* 'तत्त्वमसि' वाक्य में जीव और भगवान् का अभेद बताया है सर्वज्ञ भगवान् के साथ अल्पज्ञ जीव का अभेद में असम्भावना दोष प्रतीत होता है इसलिये इस उपदेश को लोक नहीं मानते हैं इस दोष को मिटाने के लिये भगवान् ने अपने में नन्दपुत्रत्व और ब्रह्मा का पितृत्व दोनों विरुद्ध धर्म दिखाकर जैसे मैं दोनों हूँ उसी प्रकार जीव भी जीव होते हुए ब्रह्म भी है।—**'योजना'**

प्रभुचरण टिप्पणी में कहते हैं कि जैसे नन्दजी का पुत्र ब्रह्मा के पिता के कारण परब्रह्म ही है वैसे ही प्राकृत संघात होते हुए भी जीव अक्षररूप है, इसको सिखाने के लिये यों किया है।

श्लोकार्थ––सत्पुरुषों के आश्रय और देवों को आनन्द देनेवाले उस (भगवान् श्रीकृष्ण) ने इस आते हुए कंस के मित्र बकासुर की चंचुओं को दोनों हाथों से पकड़ कर बालकों के देखते देखते तूली के समान उसको चीर डाला ।

सुबोधिनी—तं **बकमासमन्तात् पतन्तं स कृष्णो** दुःखदूरीकर्ता **निगृह्य** धृत्वा निग्रहं कृत्वा **तुण्डद्वयं पृथग्** धृत्वा **ददार** विपाटितवान् ननु मारणे को हेतुः ? तत्राह **कंससखमिति**, अन्यथा कंसो न मारितः स्यादिति, कंसोपि किमिति मारणीय इति चेत् तत्राह **सतां गतिरिति, सतां स** एव रक्षकः, अन्यथा सद्रक्षा न स्यादिति बालानामेव दोष इति **पश्यत्सु बालेषु ददार,** केचित् पुनर्बकहन्ता बकादनिर्गतो न भवतीति महादेवादिवरसत्यकरणार्थं तुण्डं प्रविष्ट इत्याहुः, तत सत्यं चेत् कल्पान्तराभिप्रायं, तस्य विदारणे हस्तयोः प्रयासमाशङ्क्याह **लीलयेति,** ननूपासकवध उपास्यदेवानां दुःखं स्यादित्याशङ्क्याह **दिवौकसां मुदावह** इति देवानां तेन सन्तोष एवात एव समागतानां दिवौकसां स्वर्गेत्युत्तमे स्थितियुक्तानां तच्छकलद्वयमधोमुखतया स्थापितमतिकोमलमासनमिव जातमित्याह **वीरणवदिति, वीरणं** तृणविशेषस्तेनासनं निर्मीयते, अतस्तद्वधे देवानां हितमेव लोभानृताभ्यां सह दम्भे गते भूमौ देवा हविर्भाजो भवन्तीति ।। ४१ ।।

व्याख्यार्थ—चारों ओर से सरकते हुए आनेवाले उस बक को सबके दुःखों को दूर करने वाले भगवान् कृष्ण ने पकड़ लिया अनन्तर उसकी मिली हुई दोनों चंचुओं को पृथक् पृथक् पकड़ कर चीर डाला । उसको मारने का कारण क्या था ? इस शंका के निवारण के लिये श्लोक में 'कंससखं' बक का विशेषण दिया है । जिसका आशय यह है कि वह (बक) कंस का मित्र था इसको मारे बिना कंस भी नहीं मर सकता था इसलिये इसको मारा । यदि कहो कि कंस को मारने की क्या आवश्यकता थी ? अथवा कौनसा प्रयोजन था ? इस शंका को मिटाने के लिये इस श्लोक में भगवान् कृष्ण का 'संता गतिः' विशेषण दिया है । जिसका तात्पर्य है कि वह भगवान् कृष्ण ही सत्पुरुषों का रक्षक हैं। यदि श्रीकृष्ण कंस को नहीं मारे तो सत्पुरुषों की रक्षा ही न होवे । यह बकासुर बालकों के दोषों का रूप है । इसलिये बालकों के देखते हुए उस (बक को) चीर डाला ।

कितने हो कहते हैं कि बक को महादेवजी ने वरदान दिया था कि तुझे वह मार सकेगा, जो तेरे में से बाहिर निकलेगा । इसलिये भगवान् ने इसके भीतर (मुख में) प्रवेश किया मुख में प्रवेश कर बाहिर न निकलते और यों ही मार देते तो महादेवजी का दिया हुआ वर असत्य हो जाता । इस पर आचार्यश्री अपनी सम्मति देते हैं कि यदि यह कथा सत्य भी हो तो भी किसी कल्पान्तर† की होगी ।

भगवान् ने हाथों से चोंचों को पकड़ कर उसको चीरा था, इसमें भगवान् को श्रम हुवा होगा ? इस शंका को मिटाने के लिये कहा है कि 'लीलया' भगवान् ने खेल करते हुए चीर डाला,

† भागवत में जिस कल्प की कथा है, उस कल्प की यह कथा नहीं है। क्योंकि भगवान् ने केवल कंठ तक ही प्रवेश किया है । यदि महादेवजी के वर को सत्य करने के लिये प्रवेश किया होता तो उदर तक प्रवेश करते अतः कथा दूसरे किसी कल्प को होगी ।—'लेख'

अतः भगवान् को कोई श्रम नहीं हुआ । उपासना करनेवालों की मृत्यु से उसके उपास्य देवों को दुःख हुआ होगा ? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'दिवौकसां मुदावहः' कहा है जिसका आशय है कि बक के मरने से उसके उपास्य देव अप्रसन्न नहीं हुए किन्तु प्रसन्न हुए कारण कि बक के जो दो टुकड़े किए थे उनको नीचे मुख करके स्थापित कर दिया था जिससे उत्तम स्वर्ग में स्थित देवों का यहाँ (भगवान् के पास) आने पर सुन्दर कोमल आसन जैसा बन गया इसलिये श्लोक में 'वीरणवत्' पद देकर बताया कि जैसे 'वीरण' नामक घास से आसन बनते हैं वैसे ही यह भी देवों के लिये आसन जैसा बन गया था । इसकी मृत्यु से देवों का हित ही हुआ हैं क्योंकि लोभ, अनृत[1] के साथ दम्भ[2] के नाश हो जाने से देवगण पृथ्वी पर पधार कर प्रेम से यज्ञ की हवि को ग्रहण कर सकेंगे ।। ४१ ।।

आभास--एवं तदधिष्ठातृदेवानां सन्तोषमुक्त्वा स्वर्गवासिनां सर्वेषामेव तद्वधे सन्तोषमाह तदेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उस (बक) के अधिष्ठाता देवों के सन्तोष का वर्णन कर अब इस नीचे के श्लोक में सर्व स्वर्गवासी देवों को भी इससे सन्तोष हुआ, उसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक---**तदा बकारिं सुरलोकवासिनः समाकिरन् नन्दनमल्लिकादिभिः ।**
समीडिरे चानकशङ्खसंस्तवैस्तद् वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे ।। ४२ ।।

श्लोकार्थ--उस समय स्वर्ग में रहने वाले देवों ने बक के शत्रु पर नन्दनवन के मल्लिका आदि पुष्पों की वृष्टि की और दुंदुभि (नगारे) तथा शंख नाद के साथ स्तोत्रों से स्तुति की । जिसको देख ग्वालबाल विस्मित[3] हुए ।

सुबोधिनी—**बकारिं** बकहन्तारं सर्ववेदब्राह्मणपक्षपातिनं **सुरलोकवासिनः** सर्व एव **नन्दनवनोद्भवमल्लिकादि** पुष्पैः **समाकिरन्** पुष्पवृष्टिं कृतवन्तः, गोपानां महत्त्वज्ञापनार्थमेतद् वर्ण्यते, केवलपुष्पवृष्टिर्बालानां ज्ञापिका न भवतीति स्तोत्रवादित्राणि चाह **समीडिर** इति, **आनक**-शङ्खाभ्यां सहितैः **संस्तवैः सम्यगीडिरे** सम्यक् स्तुतवन्तः, वाद्यद्वयं राजसतामसयोरपि स्तोत्राशक्तयोः संग्रहार्थं, एतत् सर्वं दृष्ट्वा **गोपालसुता** अतिमुग्धाः कृष्णं स्वसमानं ज्ञातयन्तो **विसिस्मिरे** परमं विस्मयं प्राप्तवन्तः ।।४२।।

व्याख्यार्थ--सकल वेद और ब्राह्मणों के पक्षपाती बक के अरि[4] (श्रीकृष्ण) के ऊपर सब स्वर्गवासी देवतागण नन्दनवन में उत्पन्न मल्लिका आदि पुष्प बरसाने लगे । इसका वर्णन इसीलिये

१—झूठ । २—पाखण्ड । ३—आश्चर्य में पड़ गए । ४—शत्रु ।

किया है कि गोपों को भगवान् के महत्व का ज्ञान हो जाए। गोप, भगवान् के महत्त्व को केवल पुष्पों की वर्षा से नहीं समझ सकेंगे अतः स्तुति की और साथ में बाजे बजाए। कौन से बाजे बजाए और किस प्रकार स्तुति की इसको बताने के लिए कहते हैं कि नगारे और शंखों के नाद-सहित स्तोत्रों से सम्यक्[1] प्रकार से स्तुति की। स्तुति करने में अशक्त राजस और तामस भी साथ में थे इसे बताने के लिये दो वाद्यक* हैं। यह सब देखकर अति मूढ़[2] गोप बालक श्रीकृष्ण को अपने समान ग्वाला समझते थे वे अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुए ॥ ४२ ॥

आभास—पूर्वं महत्वमात्रं ज्ञातमधुना त्वाश्चर्यं जातं ततो भगवता सह व्रजमागत्य तन्माहात्म्यमुक्तवन्त इत्याह मुक्तमिति ।

आभासार्थ—प्रथम तो केवल कृष्ण के माहात्म्य को जाना था अब तो देवताओंकी की हुई पुष्पवृष्टि देखकर आश्चर्ययुक्त भी हुए। तदनतन्र व्रज में आकर उसका माहात्म्य वर्णन करने लगे वह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**मुक्तं बकास्यादुपलभ्य बालका रामादयः प्राणमिवैन्द्रियो गणः ।**
प्रत्यागतं तं परिरभ्य निर्वृताः प्रणीय वत्सान् व्रजमेत्य तज् जगु ॥४३॥

श्लोकार्थ—जैसे इन्द्रियाँ प्राणों को पाकर सुखी होती हैं वैसे ही बकासुर के मुख से मुक्त होकर आए हुए भगवान् से मिलकर बलराम आदि सब बालक प्रसन्न हुए अनन्तर बछड़ों को इकट्ठा कर व्रज में आए वहाँ वे समग्रलीला की कथा सबको सुनाने लगे।

सुबोधिनी—वचनं हि हृदये प्ररूढं भवति भगवत्प्राप्तिरत्यभीप्सितेति ज्ञापयितुं दुर्निमित्तापगमे तथा भवतीति **बकास्यान्मुक्तमुपलभ्येत्युक्तं**, स्नेह एव तेषां स्फुरितो न तु माहात्म्याद् भयमिति ज्ञापयितुमाह **बालका** इति, रामस्यापि तदा गौणभावाद् बालकतुल्यतेत्याह **रामादय** इति, भगवदागमनात् पूर्वं न ते रामादयः किन्तु नामान्तरमेव प्राप्ताः, यथा प्राणं विनैन्द्रियो गणो गोलकमात्रपर्यवसितः, प्रत्यागतं पुनरागतं तं भगवन्तं **परिरभ्य निवृताः** सुखिनो जाताः, बकमारणानन्तरमपि न बालका भगवत्समीपं गता मूर्छिता इवातिखेदेन पतिताः पुनरुद्गताः, भगवानेव परं प्रत्यागतः से चेत् सदानन्द आलिङ्गितः सर्वतःसम्बन्धोभून तदा **निर्वृताः**, तदा **वत्सान् प्रणीये**-तस्ततो गतान् समानीय **व्रजमेत्य तद्** बकवधादिकं **जगुरुक्तवन्तः** ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ—जो वचन कहने होते हैं वे हृदय में ऊपर आकर स्थित हो जाते हैं जिससे उन वचनों को रोका नहीं जा सकता है। गोपों को भगवान् की प्राप्ति की अत्यन्त इच्छा थी, इसको

* सात्विकों ने तो स्तोत्र द्वारा स्तुति करके अपना हर्ष प्रकट किया किन्तु जो स्तोत्र करने में राजस व तामस असमर्थ थे उन्होंने नगारे और शंखों की ध्वनि से स्तुति कर हर्ष प्रकट किया।—**अनुवादक**

१—उत्तम। २—भोलेभाले, अनजान।

जताने के लिये वह चरित्र कहे कि जब भगवान् की प्राप्ति में प्रतिबन्धक[1] वाले दुष्ट निमित्त नष्ट होते हैं तब भगवान् की प्राप्ति होती हैं। भगवान् स्वयं विघ्नों को दूर कर हमको प्राप्त हुए हैं यह 'बक के मुख से निकले हुए भगवान् को प्राप्त कर' 'शब्दों' का भाव प्रकट कर बताने लगे। जिसका आशय यह है कि भगवान् जीवकृत साधनों से प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु आप कृपा कर विघ्नों को हटा कर मिलना चाहते हैं तब मिलते हैं। इन चरित्रों से गोपों में भगवान् के प्रति प्रेम ही जागृत हुआ, न कि माहात्म्य ज्ञान से भय उत्पन्न हुआ। क्योंकि गोप बालक थे। बलराम तो बालक नहीं थे? कहते हैं कि वह भी इस समय बालक थे इसलिये श्लोक में 'रामादय.' राम से लेकर सब गोप बालक कहे गए हैं कारण कि राम में भी उस समय गौण-भाव होने से उसकी बालकों से समानता थीं। भगवान् का बक के मुख में प्रवेश होते ही वे बालक अचेत से हो गए थे अतः कहा है कि भगवान् बक के मुख से मुक्त होकर नहीं पधारे तब तक रामादि बालक नहीं थे। जैसे प्राण के बिना इन्द्रियाँ केवल अपने गोलक में रहती है किञ्चित् भी प्रकट क्रिया नहीं कर सकती है इसी प्रकार की दशा गोप बालकों की उस समय हो गई थी। किन्तु अचेत अवस्था में होते हुए भी भगवान् की लीला द्वारा इनका निरोध करना था इसलिए इनमें इतनी चेतनता भगवान् ने प्रकट कर रक्खी थी कि जिससे लीला देख उनको विस्मय हो सका। भगवान् ने बक को मार डाला, उसके अनन्तर भी भगवान् के पास न जा सके कारण कि मूर्छावस्था में अति खेद से वहाँ ही पड़े थे खड़े नहीं हुए। भगवान् ही उनके पास जब लौटकर आ गए तब उन्होंने सदानन्द का आलिगन कर सर्व प्रकार से उनसे सम्बन्ध किया जिससे आनन्द को प्राप्त हुए। तब जहाँ तहाँ बिखरे हुए बछड़ों को इकट्ठा कर व्रज में आये। आकर बकवध आदि लीलाएँ सुनायीं ॥ ४३ ॥

आभास—ततो यज् जातं तदाह श्रुत्वेति।

आभासार्थ—इसके पश्चात् जो कुछ हुआ वह नीचे के श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**श्रुत्वा तद विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः।**
प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ—यह चरित्र सुनकर गोप और गोपियाँ विस्मित हुए और गोपियों ने अतिप्रिय (भगवान्)से आदर पाया। परलोक से लौटकर आए हो, वैसे (समझ) अत्यन्त प्रेम के कारण वे अतृप्त नेत्रों से दर्शन करने लगी।

सुबोधिनी—तद्बकवधं श्रुत्वा गोपा गोप्यश्च विस्मिताः, गोपीनां विशेषमाहातिप्रियादृता इति। अतिप्रियेण भगवतादृताः प्रासादराश्च जाताः, ततः परमानन्देन दृष्टवत्य इत्याहौत्सुक्यात् प्रेमाधिक्यादवितृप्ते-

[1]—रुकावट डालने वाले।

क्षणा अतृप्तनयना ऐक्षन्तेति पामराणां बुद्धिमनुसृत्या श्लीलमप्याह शुकः, सा हि प्रीतौ परमा काष्ठा, औत्सुक्यं प्रेमातिभरतयामर्यादं भवति, तेन सर्वपरित्यागेन भर्त्रादिशङ्कामपि परित्यज्य द्रष्टव्यः, इयं बुद्धिस्तेषां नारोपिता किन्तु सहजेति ज्ञापयितुं नेत्रयोरतृप्तिमाह ।। ४४ ।।

व्याख्यार्थ—वह बक के वध की लीला सुनकर गोप और गोपियाँ अचम्भे में पड़ गए । गोपों से गोपियों के लिये विशेष कहते हैं कि, भगवान् ने गोपियों का आदर सत्कार किया । इससे गोपियाँ भगवान् का परम प्रेमपूर्वक दर्शन करने लगीं गोपियाँ किस प्रकार अपने अतिप्यारे को देखने लगी ? इसको बताने के लिये श्लोक में "औत्सुक्यात" शब्द दिया है जिसका अर्थ उत्कण्ठा (प्रिय के मिलने के लिये अन्तःकरण में बेचैन रहे ऐसी चाहना) से देखने लगी जिससे नेत्र अतृप्त ही रहे । यह प्रेम की पराकाष्ठा[1] है जिसमें किसी प्रकार की मर्यादा उस समय नहीं रहती है । इस प्रकार का कहना अश्लील[2] होते हुए भी शुकदेवजी ने पामरों[3] की बुद्धि इस प्रकार की होती है इसको बताने के लिये कहा है । उस समय गोपियों के प्रेम की पराकाष्ठा हो गई थी, जिससे उन्होंने सबका त्याग कर दिया था अतः पति आदि क्या कहेंगे इस प्रकार की शंका को मन में न लाकर देखती गईं । यह उनकी देखने की वृद्धि किसी कारण से नहीं हुई थी किन्तु स्वाभाविकी थी, इसलिये कहा है कि नेत्रों की तृप्ति नहीं हुई ।। ४४ ।।

आभास—तच् छ्रुत्वा विमर्शकाणां नन्दादीनां यज् जातं तदग्ने वक्तुं तेषां विचारमाह त्रिभिरहो इति ।

आभासार्थ—यह सुनकर विचार करनेवाले नन्दादिकों के जो विचार हुए उनका निम्न तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं :

श्लोक—**अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोभवन् ।**
अप्यासीद् विप्रियं तेषां कृतपूर्वं यतो भयम् ।। ४५ ।।

श्लोकार्थ—अहो ! अरे ! खेद है कि इस बालक के ऊपर बड़ी बड़ी बहुत घातें आई । परन्तु जो जो घात करने आए उनका ही अनिष्ट[4] हुआ क्योंकि पहले उन्होंने दूसरों को भय उत्पन्न किया ।

सुबोधिनी—तामसा आहुरहो इति, **अहो** इत्याश्चर्ये, एकस्यैव बहव उपद्रवा इति **बतेतिखेदे**, स्वस्य तादृशं दुरदृष्टमिति, **अस्यैव बालस्य**, किमपि तत्र हेतुं कल्पयन्ति **कृतपूर्वं यतो भयमिति** 'यो हन्ति स हन्यत' इतिन्यायाद् भयं तु कृतपूर्वं भवति, स्वयं चेदन्यस्मै करोति तदा प्राप्नोति भगवांस्तु न करोति ते तु कुर्वन्तीति तेषामेव भयमुचितम् ।। ४५ ।।

१—सब से ऊँची सीमा या हद्द । २—असभ्य, नीच । ३—अधम । ४—हानि, बुरा ।

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में तामसों के विचार कहे हैं । तामस कहते हैं कि आश्चर्य है कि एक ही बालक को इतने उपद्रव प्राप्त हुए हैं । यह दुःख की बात है । अपने पूर्वकृत कर्मों से बनी अदृष्ट ही इन दुःखों का कारण है । इस प्रकार पुनः पुनः दुःख होने के कारण की कल्पना करते हैं कि जिन पूतनादि दैत्यों ने इस बालक के अनिष्ट की पहले इच्छा की उनका ही अनिष्ट हुआ इस बालक का तो कुछ अनिष्ट नहीं हुआ ! 'यो हन्तिसहन्यते' जो पहले किसी को मारना चाहता है वही मारा जाता है ! इस न्यायानुसार, भय (बुराई) तो पूतनादिकों ने प्रथम किया इससे उस बुराई (भय) ने उनको ही नाश किया । स्वयं जो दूसरों के लिये करता है तो वह स्वयं ही भोगता है भगवान् तो किसी के लिए भय (बुराई) नहीं करता है वे जो करते हैं तो उनको ही भय (बुराई) होना योग्य है ।। ४५ ।।

आभास--राजसास्तु तेषामपकारो न तत्कर्मणा केवलेन किन्तु भगवन्माहात्म्यादित्याहु अथापीति ।

आभासार्थ—राजस अपनी सम्मति देने लगे, उनका अपकार[1] केवल उनके कर्मों से नहीं होता है किन्तु भगवान् के माहात्म्य से होता है । इसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--**अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः ।**
जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवत् ।। ४६ ।।

श्लोकार्थ--यद्यपि वे (दैत्य) घोर दर्शन (जिनके दर्शनमात्र से भय होता है) थे तो भी इस बालक को हरा नहीं सके । मारने की इच्छा से इसके पास आए किन्तु जैसे पतङ्ग दीपक को बुझाने आते हैं ?' किन्तु स्वयं हो नष्ट हो जाते हैं वैसी दशा इन दैत्यों की भी हुई अर्थात् स्वयं नष्ट हो गए ।

सुबोधिनी—यद्यपि कृतपूर्वं भयं भवति, तथाप्ययुक्ते कृते प्रयत्ना नश्यन्ति. अन्यथा पूर्वमेव ते कथं न नष्टा भवेयुः ? तस्मादप्येनं भगवन्तं नैवाभिभवन्ति, अभिभवार्थमप्यागता नाभिभवं कर्तुं शक्नुवन्ति, न चाप्रयोजकाः, यतस्ते पूतनादयः प्रसिद्धाः, अस्तु तेषां बलं दूरे, घोरमेव दर्शनं येषां, दृष्ट्वा एव भयजनका भवन्तीत्यर्थः, तत्र दृष्टान्तमाह जिघांसयैनमासाद्य स्वयमेव नश्यन्ति, अभिप्रायप्रयत्नविरुद्धं फलं प्राप्नुवन्ति, तदसम्भावितं मत्वा दृष्टान्त उच्यते पतङ्गवदिति, ते हि पक्षवन्तः सूक्ष्माः कीटा आत्मानं महान्तं मन्यमाना नरा मूढा अग्निं तेजस्विनं मत्वा किमित्युपासते वयं त्वग्निं दूरीकरिष्याम इति महतोवमननं कृत्वा निर्वाणार्थी प्रवृत्ताः स्वयमेव नश्यन्ति, दग्धाभवन्ति, न त्वग्नेः काचित् क्षतिः एवमयं भगवानतितेजस्वी तान् मारयतीति युक्तम् ।। ४६ ।।

१—हानि, बुरा ।

व्याख्यार्थ—यद्यपि प्रथम जो भय करते हैं उनको ही भय होता है। यों है तो भी यदि वह प्रयत्न अयोग्यों (जिसका हम नाश नहीं कर सकते हैं ऐसे तेजस्वीओं) के लिये किया जाता है तो उनका नाश न कर वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं। जो ऐसा न हो तो भगवान् के पास आने से पहले वे नाश क्यों न हो जाते ? इससे भी देखने में आता है कि भगवान् का पराभव[1] करने के लिये आए हुए वे उस (भगवान्) का पराभव नहीं कर सकते हैं वे कम शक्तिमान थे यों भी नहीं था, क्योंकि वे भायार्थ आये हुए पूतनादि प्रसिद्ध बलवान् थे। उनका बल तो दूर रहा किन्तु उनकी आकृति ऐसी घोर थी जिसके देखने से ही भय उत्पन्न हो जाता था यहाँ दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे पतंग[2] अपने को बड़ा बलशाली समझ कर कहते हैं कि मनुष्य मूर्ख है अग्नि को तेजवाला समझ उसकी क्यों पूजा करते हैं हम तो इसके प्रकाश का नाश कर देंगे इस प्रकार बड़े का तिरस्कार करते हुए उसको बुझाने के लिए उसके पास जाते हैं तो वे (पतंग) स्वयं नष्ट हो जाते हैं जल जाते हैं अग्नि का कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते हैं वैसे ही ये दैत्य भगवान् को मारने की इच्छा से उसके पास आकर स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं इस प्रकार अति तेजस्वी यह भगवान् उनको मारते हैं यह योग्य हैं ॥ ४६ ॥

आभास---अन्ये पुनर्नन्दादय प्रमाणबलसिद्धमिममर्थं मन्यमाना नात्यद्भुतमिति प्रमाणमेव स्तुतवन्त इत्याहाहो इति।

आभासार्थ—अन्य नन्दादिक, जो यों समझते थे कि यह बात तो प्रमाण सिद्ध है इसमें कोई अति आश्चर्य की बात नहीं हैं वे प्रमाण की ही स्तुति करने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक--अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित् ।
गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत् ॥ ४७ ॥

श्लोकार्थ---अहो ! ब्रह्मवेत्ताओं की वाणी कभी भी असत्य नहीं होती है। भगवान् गर्गजी ने जो कहा था वैसा अनुभव में आ रहा है।

सुबोधिनी—**अहो** इत्याश्चर्ये, कथं वा ब्रह्मविदोऽग्रिमवृत्तान्तं जानन्तीति, तत्रोपपत्तिर्ब्रह्मविद्गमिति, 'यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती'ति, अत एव तेषां वाचः कदाचिदप्यसत्या न भवन्ति, तादृशी वाङ् नोत्पद्यत एवेति वक्तुं सन्तीत्युक्तं, ननु का ब्रह्मविदां वाच इत्याकांक्षायामाह **गर्गो यदाहे**ति, तत्र हेतुर्भगवानिति, ब्रह्मविदो हि ब्रह्मैव भवन्तीत्यतस्तेषां वाक्यप्रामाण्यात् **तथैव तदन्वभावि**, वेदवादिनो हि शब्दस्य नानुवादकत्वं मन्यन्ते किन्तु विधायकत्वमत ईश्वरो वेद एव तद्वाक्यादेव फलसिद्धिर्न तु फलसाधकत्वेनेश्वरापेक्षेति, 'अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथे' ति 'नारायणसमो गुणै'रिति, अतस्तद्वाक्यादस्य बालस्य तादृग्गुणा जायन्त इतिभावः ॥४७॥

१—हराने को। २—पंखवाले छोटे कीड़े।

व्याख्यार्थ—'अहो' आश्चर्य वाचक यह शब्द इसलिये कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता भविष्य में होनेवाली बात को पहले ही जान लेते हैं। यह आश्चर्य है वे पहले ही कैसे जान लेते हैं उसको समझाते हैं कि श्रुति कहती है कि जिस (ब्रह्म) को जानने से यह सब जाना जाता है अर्थात् समग्र जगत् के भूत भविष्य का ज्ञान हो जाता है ब्रह्मवेता ब्रह्म को जानने से ब्रह्मरूप हो जाते हैं उनको सब प्रकार का ज्ञान पूर्व ही हो जाता है जिससे उनके वचन असत्य नहीं होते हैं। श्लोक में आए हुए 'सन्ति' पद का भावार्थ है कि उनके मुख से सत्य वचन ही निकलते हैं। झूठे कभी भी नहीं निकलते हैं ब्रह्म-वेत्ताओं के कौनसे वचन हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि गर्गजी ने जो कुछ कहे उसमें कारण देते हैं कि गर्ग साधारण नहीं थे किन्तु 'भगवान्' थे। क्योंकि शास्त्र में कहा है कि 'ब्रह्मविदो ब्रह्म एवं भवन्ति' ब्रह्म को जानने वाले ब्रह्म ही होते हैं ब्रह्म को जानने से गर्गजी ब्रह्म थे अतः श्लोक में गर्ग का विशेषण 'भगवान्' दिया है उनके वाक्य प्रमाणरूप होने के कारण जैसा उन्होंने कहा वैसा ही अनुभव हो रहा है।

वेद-वादिओं[1] का कहना है कि जो होनेवाला है उसका वेद नहीं कहता है किन्तु वेद आज्ञा करने वाला है। अतः वेद ही ईश्वर है। उसकी आज्ञानुसार ही फल होता है इस (वेद) के अतिरिक्त फलदाता कोई ईश्वर नहीं है। इस सिद्धान्त को ही नन्दजी प्रमाणमार्गी होने से प्रमाण मान कर कहते हैं कि गर्गजी ने कहा है कि यह बालक गुणों से 'नारायण' के समान है; इसके द्वारा ही आप सर्व अड़चनों को पार कर सकेंगे। अतः उनके बचन से ही इस बालक में ये गुण आए हैं। इस श्लोक का यह भाव है॥ ४७॥

आभास----एवं नन्दादीनां त्रिविधं ज्ञानं निरूप्य फलितं वदन् भगवत्कृतं नन्दनिरोधमनूद्योपसंहरतीतीति।

आभासार्थ—इस प्रकार नन्दाकिों के तीन प्रकार के ज्ञान का तीन श्लोक में निरूपण किया। इस श्लोक में उसके फल का वर्णन करते हुए भगवान् के किए हुए निरोध को पुनः कहकर इस प्रकरण का उपसंहार[2] करते हैं।

श्लोक----**इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।**
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्॥ ४८॥

श्लोकार्थ----इस प्रकार हर्ष पूर्वक श्रीकृष्ण और बलरामजी की कथा करते हुए

१—मीमांसकों। २—समाप्त।

अर्थात् लीला का वर्णन करते हुए रमण का आनन्द लेते हुए नन्दादिक गोप संसार की वेदना को भूल गए।

सुबोधिनी—इतिभावेन **नन्दादयो गोपा: कृष्ण-रामकथां** स्वतन्त्रतया फलत्वेन कुर्वन्तस्तयैव कथया जातया परमनिर्वृत्या **रममाणा:**, चकाराद् विस्मृतदेहा जातब्रह्मात्मानुभवा वा **भववेदनां** संसारतापं **नाविन्दन्** न ज्ञातवन्त:, प्रपञ्चविस्मृति: सर्वा तदासक्तिश्च निरोध इति भगवत्कृतं कार्यं नन्दादिषु फलितम् ।। ४८ ।।

व्याख्यार्थ—नन्द आदि गोप, भाव से श्रीकृष्ण और राम की कथा फल समझ कर स्वतन्त्रता से करते थे। उस कथा से जो अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता था उस आनन्द में ही रमण (आनन्दानुभव) करते थे। श्लोक में आए हुए 'च' (और) पद का भावार्थ बताते हैं कि उस आनन्द में रमण के कारण देह का भान भी उनको न रहता था। अथवा आत्मा और अक्षर ब्रह्म के स्वरूप की एकता का अनुभव करते थे जिससे सर्व प्रपञ्च भूलकर भगवान् में आसक्त हो गए यही उनका फलात्मक निरोध हुआ। 'सर्व प्रकार से प्रपञ्च भूल जाना और इसके साथ भगवान् में आसक्ति हो जावे' इसको निरोध कहते हैं। इससे भगवान् ने जो कार्य (लीला) किए उसका फल नन्दादिकों को मिला ।। ४८ ।।

आभास—एवं बाल्यभावेन कृते नन्दनिरोधे प्रतिष्ठिते सति येन भक्तेन कालेन क्रोडीकृतास्ते निरुद्धास्तं कालमपि सिद्धे प्रयोजने त्यक्तवानित्याहैवंविहारैरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने बाल्य-भाव से जो निरोध किया वह नन्दराय में स्थित हुआ अर्थात् नन्दरायजी का निरोध सिद्ध हो गया। जिस अवस्था में आधिदैविक काल प्रकट होकर यह कुमार लीला सिद्धि कराता था, उस काल में, जो थे, उनका भी निरोध सिद्ध हो गया। भगवान् ने विचारा कि आधिदैविक काल का जो प्रयोजन[1] था वह पूर्ण हो गया है अत: अब इस काल (कुमार अवस्था) की आवश्यकता नहीं है। इसलिये इसको छोड़ देना चाहिये यों विचार कर उस काल का (कुमार अवस्था का) त्याग किया जिसका वर्णन निम्न श्लोक में है।

श्लोक—**एवंविहारै: कौमारै: कौमारं जहतुर्व्रजे ।**
निलायनै: सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभि: ।। ४९ ।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार छिप जाना, पुल बाँधना बानर की तरह कूदना इत्यादि कुमार अवस्था के खेलों से इन दोनों भ्राताओं ने उस कुमार अवस्था को व्रज में

१—काम, मतलब।

बिता (छोड़) दिया* है ।

सुबोधिनी—एवं पूर्वोक्तप्रकारैर्वः कालस्य हारैर्लीला-रूपैः करणैः सह वा कौमारं जहतुः, ननु विजातीयानां कथं कौमारनिवर्तकत्वं ? तत्राह **कौमारैरिति**, कुमारा-वस्थोद्भवैररणेरुत्पन्नै नैव वह्निनाऽरणिः शाम्यतीति, तानि चरितानि त्रिविधानीति गणयति **निलायनैरिति**, सर्वैरेव **विहारैर्व्रज एव कौमारं जहतुः, अतो** व्रज एव कुमारो जातः कुमारी च, अतोग्रे वक्तव्याः 'कुमार्यः कृष्णचेतस' इति करिष्यन्ति च लीलां लतागृहादिषु लीना भगवद्वशीकरणप्रयत्ना गृहस्वमर्यादोल्लङ्घनकर्त्र्यश्च, भगवान् कुमारावस्थायां **निलायनक्रीडां** करोति, **स हि परमानन्दो भूत्वा स्वाज्ञानार्थं मायया ज्ञानशक्ति रुणद्धि,** तथात्रापि गोपादीनां चक्षूंषि पिधत्ते पश्चान्निलीय तिष्ठति तथान्ये गोपालाः, किञ्च जले प्रवहति **सेतुबन्धान्** कुर्वन्ति, रामावतारे ह्येक एव बन्धः कृतः, एकैव सीतेति, अत्र यमुनादिषु बहूनेव बन्धान् करोति यतः पुलिनादिषु गत्वा रमणं सिध्यति, किञ्च **मर्कटोत्प्लवनादिकमपि** करोति, वृक्षाद् वृक्षान्तरे गच्छति सर्वशाखाफलभोगार्थं, एकस्या-मप्यारूढः सर्वफलं भुंक्ते न तु तस्य भिन्नः प्रक्रमोपेक्ष्यते, आदिशब्देन मण्डूकप्लुत्यादिकमपि, ब्राह्मणोपि भवति क्षत्रियोपि भवति सर्वमेव रसमेकत्र स्थित एव गृह्णाति, न तु तस्य मर्यादा प्रतिबन्धिकेति, एवं यावद्भिर्भावैर्या-वन्तो गोकुलवासिनो ग्रहीतुं शक्यास्तान् सर्वानेव विहारान् कृतवान्, मूलरूपलीला जगद्रूपलीला वेदरूप-लीलेति लीलात्रयं परिचायकत्वेनोक्तं, अतः परं **कौमारकार्यं** नास्तीति ताभिर्लीलाभिः सह **कौमारा-वस्थां जहतुः** ।। ४६ ।।

व्याख्यार्थ—इसके पूर्वोक्त प्रकार से (पहले कहे हुए ढंग से) दोनों भ्राताओं ने काल लीलारूप साधनों से कुमार अवस्था का त्याग† किया । विजातीयलीला (दूसरे प्रकार की पौगण्ड लीला) से कुमारावस्था की निवृति कैसे हुई ? इस शंका का निवारण दृष्टान्त देकर करते हैं कि कुमार अवस्था की निवृति विजातीय (पौगण्ड) लीलाओं ने नहीं की हैं किन्तु जैसे अरणि से उत्पन्न अग्नि से अरणि शान्त हो जाती है वैसे ही कुमारावस्था से उत्पन्न लीलाओं से ही कुमारावस्था शान्त हो गई (छूट गई) इसलिये श्लोक में 'विहारैः' का विशेषण 'कौमारैः' दिया है जिसका सीधा अर्थ होता है कुमार अवस्था में उत्पन्न काल की क्रीडाओं से कुमार अवस्था का त्याग किया ।

वे भगवान् के चरित्र तीन प्रकार के हैं, इन तीन प्रकार की लीलाओं से ही कुमारावस्था बिताई । अतः भगवान् ने व्रज में ही कुमार और कुमारीरूप धारण किए है । अतः आगे‡ 'कुमारीआं कृष्ण में सलंग्न चित्तवाली है' कहने में आएगा और उस स्वरूप से लीलाएँ करेगी । वे कुमारियाँ

---

* 'जहतुः' (बितादी छोड़दी) का भाव प्रकट करते हैं कि जैसे राजा सैन्य को बाहिर छोड़ के वन में गया । इस वाक्य में 'छोड़ के' शब्द का अर्थ 'स्थापित' करके होता है वैसे ही यहाँ भी कुमार अवस्था व्रज में 'स्थापित' की यह अर्थ है ।

† दूसरे स्थान (मथुरा आदि में) भगवान् कुमार वा कुमारीरूप नहीं हैं वे रूप ब्रज में ही सदा विद्यमान है । अतः कहा गया है कि 'व्रजंपरित्यज्य पादमेकं न गच्छति'—**अनुवादक** ।

‡ श्रुति के अनुसार पति और स्त्रीरूप भगवान् बनते हैं तदनुसार व्रज में कुमार और कुमारी रूप भगवान् हैं । २१ वें अध्याय में कृष्ण में चित्तवाली आधिदैविक कुमारियाँ भगवद्रूप हैं— **'योजना'**

वेला के बने हुए गृहों में छिपकर भगवान् को वश करने में प्रयत्नशील होंगी और गृहस्थ धर्म की मर्यादाओं का उलंघन करने वाली होंगी, भगवान् कुमारावस्था में छिप जाने की क्रीड़ाएँ करते हैं। परमानन्द स्वरूप भगवान् अपने को छिपा कर रखने के लिए अर्थात् मुझे कोई (जीव) जान (पहचान) न सके इसलिए अपनी माया से जीवों की ज्ञान-शक्ति को तिरोहित कर देते हैं, जिससे जीव भगवान् को न देख कर उनको ढूंढते रहते हैं वैसे ही यहाँ भी उसी प्रकार की लीला कर दिखाते हैं। जैसे कि गोपादिकों के नेत्रों को हाथों से बन्द करते (वा वस्त्रों से बन्द कराते हैं) फिर आप छिप जाते हैं वैसे ही अन्य गोपाल भी करते हैं।

जहाँ जहाँ जल बहता है वहाँ वहाँ पुलों को बाँधते हैं। रामावतार में एक ही पुल बाँधा था और एक ही सीता थी। यहाँ तो यमुनादि पर अनेक पुल बाँधते हैं कारण कि उन पुलों से यमुना पार कर पुलिनों पर जाकर रमण की सिद्धि करते और बन्दरों के समान एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर कूद कर एक शाखा पर बैठकर सब शाखाओं के फलों का उपभोग करते हैं। एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदने की उनको आवश्यकता नहीं पड़ती। श्लोक मे 'आदि' शब्द का भाव बताते हैं कि इसी प्रकार आप कभी मण्डूक की तरह भी कूद कर फल भोग करते थे।

भगवान् ब्राह्मण भी बनते हैं क्षत्रिय भी होते हैं। सब रस को एक ही स्थान में स्थित होकर ग्रहण करते हैं। भगवान् को इस प्रकार स्वच्छन्द लीला करने में मर्यादा प्रतिबन्ध नहीं कर सकती है। इस प्रकार जिन जिन भावों से जो जो गोकुलवासी स्वीकार करने के योग्य थे उन सब विहारों (खेलों-लीलाओं) को भगवान् ने किया 'मूलरूप लीला' जगद्रूप लीला और वेदरूप लीला इन तीन लीलाओं को परिचयार्थ कहा है। इसके अनन्तर कुमारावस्था का कार्य नहीं रहा है, इस कारण से इन लीलाओं के साथ कुमार अवस्था का भी त्याग किया ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) के एकादश अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तामस प्रकरण, 'प्रमाण' अवान्तर प्रकरण का धर्मी निरूपक सातवां अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण।

इस ११वें अध्याय में वर्णित श्रीबालकृष्ण प्रभु की लीला का
निम्नलिखित पदों से रसास्वादन लीजिए ।

राग रामकली

तरु दोउ धरनि गिरे भहराय ।
जर सहित अरराय के आघात शब्द सुनाय ॥ १ ॥
भये चकृत लोग व्रज के सकुचि रहे डरपाय ।
कोउ रहे आकाश देखत, कोउ रहे सिर नाय ॥ २ ॥
घरी लों तकि गये जहाँ तहाँ देह गति बिसराय ।
निरखि जसुमति अजिर देखै, जहाँ बंधे सु कन्हाय ॥ ३ ॥
वृक्ष दोउ धरा परे देखे, महरि कियो पुकार ।
अबहिं आंगन छाड़ि आई चप्यो तरु के डार ॥ ४ ॥

मैं अभागिनि बांधि राखे नन्द प्राण अधार ।
सोर सुनि नंद द्वार आये, विकल गोपी ग्वाल ॥ १ ॥
देखि तरू मन अति डराने हैं बड़े बिस्तार ।
गिरे कैसे बड़ो अचरज नेकु नहीं बयार ॥ २ ॥
दुहूं तरू बिच श्याम बैठे, रहे ऊखल लागि ।
भुजा छोर उठाय लीन्हों, महरि के हैं भागि ॥ ३ ॥
निरखी जुवती अंग हरि के, चोट जनि कहुँ लागि ।
कबहुँ बांधति कबहुँ मारति, जिहिं लगे मोहि बलाय ॥ ४ ॥
नन्द मोहि कहा कहेंगे, देखि तरू दोउ आय ।
मैं मरू तुम कुशल रहो दोउ श्याम हलधर भाय ॥ ५ ॥
आय जो घर नन्द देखे तरू गिरे दोउ भारि ।
बांधि राखति सुत हि मेरे, देत महरि हि गारि ॥ ६ ॥
तात हित बस श्याम दौरे, महरि लियो अंकवारि ।
कैसे उबरे कृष्ण तरुतें, सूर ले बलिहारि ॥ ७ ॥

राग सारंग

अब घर काहुँ के जिनि जाहु ।
तुमरे आजु कमी काहे की कत तुम अनतहिं खाहु ॥ १ ॥
जरैं जेवरी जिन तुम बांधे, बरैं हाथ महराय ।
नन्द मोहि अति त्रासत हैं, तूं बांधे कुंवर कन्हाइ ॥ २ ॥
रोग जाउ अपने हलधर को, छोरत हैं तब श्याम ।
सूरदास प्रभु खात फिरो जिनि, मांखन दहि तुव धाम ॥ ३ ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

कौतुक लीला निरूपक

प्रक्षिप्त प्रथम अध्याय

दशम स्कन्धानुसार : द्वादश अध्याय

कारिका––कथामात्रं हरेर्वाच्यं सर्वत्रेत्यत्र केचन ।
कथां वक्तुं भागवतीं क्वचित् सिद्धामलौकिकीम् ॥ १ ॥
योजयित्वा त्वाधुनिका अध्यायत्रितयं जगुः ।
शब्दार्थसङ्गतीनां हि स्पष्टा तत्र विरुद्धता ॥ २ ॥
लोकप्रसिद्धे स्तच्चापि कथञ्चिद् रूप्यते स्फुटम् ॥ २½ ॥

कारिकार्थ––भगवान् के सर्व-चरित्र सर्वत्र कहने चाहिये, इस विचार से (वा कारण से)[1] कहीं भी कही गई भगवान् की अलौकिक कथा को कहने के लिये किसी आधुनिक विद्वानों ने ये तीन अध्याय बनाकर यहाँ कहे हैं। उनमें शब्द, अर्थ और संगति की विरुद्धता स्पष्ट प्रतीत होती है। यद्यपि उसमें विरुद्धता स्पष्ट है तो भी ये कथाएँ लोक में प्रसिद्ध हैं। अतः उनका स्पष्ट विवेचन किया जाता है।

१—पद्मपुराण में प्रसिद्ध।

पूर्वाध्यायान्ते "कौमारं जहतुर्व्रज" इत्युक्तं, "ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मता" वित्येव सन्दर्भस्तथापि भगवच्चरितमिव वत्सापहरणं पद्मपुराणे प्रसिद्धमिति तां कथामाश्रित्याघासुरवधं ब्रह्मस्तुतिं च पूर्वापरयोर्निवेश्य कौतुकलीला भगवतः प्रदर्शिता, लोका हि लौकिके कौतुकिनो भवन्ति।

व्याख्यार्थ—एकादश अध्याय के अन्त में 'व्रज में' कुमार अवस्था को छोड़ा (स्थापन किया) यों कहा, और द्वादश अध्याय के प्रारम्भ में कहा कि वे दोनों (श्रीकृष्ण व बलरामजी) पौगण्ड वय को धारण कर व्रज में पशुपाल बने। इस प्रकार से दोनों अध्यायों का परस्पर संदर्भ × है।

× तीन अध्याय प्रक्षिप्त होने के कारण—

(१) ११वें अध्याय के अन्त में कुमार अवस्था छोड़ी कहकर १२वें अध्याय के प्रारम्भ में लिखा है कि श्रीकृष्ण व बलराम ने पौगण्डवय धारण की। इसके बीच में कोई भी कथा नहीं कही है यदि वत्सहरण, अघासुरवध आदि कथाएँ कहनी होती तो अन्तिम श्लोक कुमार अवस्था के त्याग का ११ वें अध्याय के अन्त में न कह कर इन तीनों अध्यायों के अन्त में कहते।

(२) प्रक्षिप्त अध्यायों के कर्त्ता को वही श्लोक पुनः तीसरे अध्याय के अन्त में देना पड़ा है नहीं देते तो संदर्भ नहीं बैठता था। अतः इन अध्यायों की प्रक्षिप्तता इससे भी स्पष्ट प्रतीत होती है।

(३) भागवत में ३३२ अध्याय हैं इन तीन अध्यायों की गणना से ३३५ अध्याय होते हैं। प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधरस्वामी आदि ने भी भागवत् के ३३२ अध्याय माने हैं इससे भी ये अध्याय प्रक्षिप्त हैं।

(४) प्रक्षिप्त अध्ययात्रयी के अध्याय के २६वें श्लोक में कहा हैं कि भगवान् ने असुर को मारा तब कंस भी वहाँ था। अपने सामने अघासुर के मुख में श्रीकृष्ण का प्रवेश देखकर कंस और उसके साथी प्रसन्न हुए। अनन्तर भगवान् उनका नाश करते हैं वह भी कंस ने देखा होगा। इस प्रकार होते हुए भी अरिष्ट वध के अनन्तर नारदजी कंस को कहते हैं कि जिन दोनों ने तुम्हारे पुरुषों को मारा, आदि कहने से इसका विरोध होता है। कारण कि बकी और बक के छोटे बन्धु अघासुर का वध तो कंस ने स्वयं देखा था इससे भी ये अध्याय प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।

(५) भगवान् ने ब्रह्मा को वरदान दिया था कि तुझे कभी भी मोह (अज्ञान) नहीं होगा अतः ब्रह्मा को यह ज्ञान है कि श्रीकृष्ण ईश्वर है और इसलिये ब्रह्मा ने २-७-२७ में श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया हैं ब्रह्मा जिनको ईश्वर समझते हैं उनके साथ इस प्रकार की धृष्टता कैसे करेगा अतः यह कथा प्रक्षिप्त हैं।

(६) तृतीय स्कन्ध में उद्धवजी ने और द्वादशस्कन्ध में सूजजी ने भी इस कथा का वर्णन नहीं किया हैं। इसके अतिरिक्त गोपियों ने लीलानुकरण के समय इस लीला का अनुकरण नहीं किया हैं। इत्यादि से इसकी प्रक्षिप्तता में किसी प्रकार का संशय नहीं है। इसकी प्रक्षिप्तता में रश्मिकार, श्रीप्रभुचरण, प्रकाशकार, योजना लेखक ने अनेक कारण दिये हैं जिनका संक्षिप्तसार उपरोक्त है विशेष उन ग्रंथो में देखिये। —'अनुवादक'

अतः तीन अध्यायों में कही हुई कथाओं के सम्बन्ध की सगंति नहीं बैठती तो भी पद्म पुराण में प्रसिद्ध वत्स हरण लीला की आड़ में अघासुर वध और ब्रह्माद्वारा भगवान् की स्तुति आगे पीछे अध्यायों में कहकर हरि की कौतुक लीला कही है। लोग लौकिक में कौतुक वाले 'तमाशा देखने वाले' होते हैं।

कारिका—**तत्र तु प्रथमेध्याये लीलामाह सुविस्तराम्।**
अघासुरस्य च वधं मुक्तिश्चापि स्वयुक्तितः ॥ ३ ॥

कारिकार्थ--इन तीन अध्यायों के पहले अध्याय में, विस्तार पूर्वक लीला कही है। अघासुर का वध और अपनी युक्ति से मुक्ति भी कही है।

आभास--प्रथमं भगवतो दशभिः श्लोकैर्लीलामाह।

आभासार्थ—प्रथम अध्याय में प्रारम्भ के दश श्लोकों से भगवान् की लीला का वर्णन करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक--**क्वचिद् वनाशाय मनो दधद् व्रजात् प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान्।**
प्रबोधयञ्छृङ्गरवेण चारुणा विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ--श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि किसी दिन वन में भोजन करने के विचार से प्रभात काल होते ही उठकर, सुन्दर सीगं के शब्द से अपने मित्र ग्वाल बालों को जगाके बछड़ों के यूथों को आगेकर भगवान् व्रज से निकले।

सुबोधिनी—क्वचित् कदाचित्, वनाशायाशनमाशो वनेशनं कर्तुं मनो दधद् बिभ्रत् प्रातःकाले व्रजादुत्थाय विनिर्गत इतिसम्बन्धः, वयस्याश्च ते वत्सपाश्च, शृङ्ग-रवेणैव तेषामुत्थापनं, कृष्णस्यैवायं रव इतिज्ञापनार्थं चारुणेति, दोहानन्तरं वत्सान् गृहीत्वा निर्गतः ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ—किसी दिन वन में भोजन करने का मन में विचार करके, प्रभात काल में ही उठकर जो ग्वाले थे और मित्र भी थे उन सब को सींग के शब्द से अर्थात् सींग की ध्वनि से जगाया। श्लोक में शृंगरवेण चारुणा का विशेषण देने का भाव यह है कि सींग की ध्वनि चारु सुन्दर थी जिसको सुनकर ग्वालों ने पहचान लिया कि श्रीकृष्ण की यह ध्वनि है क्यों कि ऐसी सुन्दर ध्वनि दूसरे की नहीं हो सकती हैं। यों समझ सुजाग होकर उठे और समझा कि कृष्ण बुला रहे हैं। गायें दुह लेने के पीछे बछड़ों को साथ में लेकर निकले ॥ १ ॥

आभास----तदा सर्वेपि निर्गता इत्याह तेनैवेति ।

आभासार्थ—उस समय (जब कृष्ण निकले) सब ग्वाल भी (बछड़ों को लेकर निकले) उसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--**तेनैव सार्धं पृथुकाः सहस्रशः स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः ।**
स्वान् स्वान् सहस्रोपरि सङ्ख्ययान्वितान् वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा ॥ २ ॥

श्लोकार्थ--आप के साथ आपके प्रेमी ग्वाल बाल भी अच्छे अच्छे छींके बेंत, सींग और बाँसुरी लिये सहस्रों से भी अधिक संख्या वाले, अपने बछड़ों को आगे कर आनन्द से निकले ।

सुबोधिनी—तेनैव भगवता सार्धं पृथुका बालाः सहस्रशो निर्गताः स्निग्धाः प्रेमला भगवति, शोभना शिक् शिक्यमोदनसहितं वेत्रं वत्सचारणार्थं विषाणं वादनार्थं वेणुश्च ते येषां सन्ति स्वकीयान् वत्सान् पुरस्कृत्य तेपि मुदा गृहेभ्य ययुः, एकैकस्य सहस्रसङ्ख्यात उपरि सङ्ख्याऽयुतमित्यादि तया सङ्ख्ययान्वितान् ॥२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के साथ सहस्रों बालक निकले, वे बालक भगवान् से प्रेम करने वाले थे जिससे उन्होंने ओदन सहित छींके, बछड़ो को चराने के लिये बेंत, बजाने के लिये सींग और बाँसुरी ली थी, वे भी अपने बछड़ों को आगे कर प्रसन्नता पूर्वक घरों से निकले । प्रत्येक ग्वाले के पास दस दस हजार बछड़े थे ॥ २ ॥

आभास--तान् सर्वानेव स्ववत्सकान् कृष्णवत्सेषु योजितवन्त इत्याह कृष्ण वत्सैरिति ।

आभासार्थ—नीचे के श्लोक में कहते हैं कि उन सब ग्वाल बालों ने अपने २ बछड़ों को कृष्ण के बछड़ों में सम्मिलित कर दिया ।

श्लोक--**कृष्णवत्सैरसङ्ख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान् ।**
चारयन्तोर्भलीलाभिर्विजह्रुस्तत्र तत्र ह ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ----श्री कृष्ण के अगणित बछड़ों के साथ अपने बछड़ो के यूथों को मिलाकर उनको चराते हुए वे बालक जहाँ तहाँ बच्चों के खेल खेलने लगे ।

सुबोधिनी—भगवद्वत्सैः सह स्ववत्सान् यूथीकृत्य, अन्यथा स्वच्छन्दलीला न भवति. ततोपि पृथग्भूतान् कदाचिन्निर्गच्छन्तोर्भलीलाभिरेव तांश्चारयन्तो विजह्रुस्तत्रतत्र क्रीडितवन्तः ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ—ग्वाल बाल अपने अपने दस-दस सहस्र बछडों को लेकर निकले। जब व्रज से बाहर आए, तब विचार करने लगे कि, यदि हम अपने बछड़ों को श्रीकृष्ण के बछड़ों के साथ मिलाकर नहीं चरायेंगे तो हम, जो वन में खेल खेलने आएं हैं, वे खेल स्वच्छन्दता[1] से खेल नहीं सकेंगे। इसलिए हमको अपने बछड़े श्रीकृष्ण के बछड़ों के साथ मिला देना चाहिए। यों विचार कर अपने बछड़े श्रीकृष्ण के साथ में कर दिए। अतः आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान् के बछड़ों के साथ अपने बछड़ों को मिला दिया जो नहीं मिलाते तो स्वच्छन्द लीला (क्रीडा) न हो सकती थी यों करने पर भी यदि कोई बछड़े अलग कहीं निकल जाते तो बालक्रीडा करते हुए उनको भी साथ में चरा लेते हुए भिन्न-भिन्न स्थानों में खेलते थे ॥ ३ ॥

आभास—फलादिभिश्च स्वशरीरं भूषितवन्त इत्याह फलेति।

आभासार्थ—उन सब ने अपने अपने शरीर को फुलादि से सजाया। इसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**फलप्रवालस्तबकसुमनःपिच्छधातुभिः ।**
काचगुञ्जामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—यद्यपि ग्वाल बालों ने काच, गुञ्जा,[2] मणि और सुवर्ण का श्रृङ्गार पहले किया था तो भी वन में जाकर उन्होंने अपने को फल, कोंपल, गुच्छों, पुष्प, मोर पंख और धातुओं से सजाया।

सुबोधिनी—पूर्वं काचादिभिर्भूषिता अपि पुनर्वन्यैरभूषयन्, स्तबकाः पुष्पगुच्छानि, सुमनसः केवलपुष्पाणि, पिच्छानि मयूरपिच्छानि, गैरिकादिधातवः, गुञ्जाफलानि वन्यान्यपि नित्यं तिष्ठन्तीति **काचादिषु** गणितानि ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—प्रथम काच आदि से विभूषित थे तो भी वन में उत्पन्न पुष्पों के गुच्छे केवल पुष्प, मोर पिच्छ, गेरुँ आदि धातुओं, गुञ्जाफल आदि पदार्थों से अपने को भूषित करने लगे।

घूंघची वन में उत्पन्न होने से फल होते भी इसकी गणना काच में की जाती है। कारण कि फल सदा नहीं रहते हैं ये नित्य होती है।

आभास—बालकानामन्योन्यं क्रीडामाह मुष्णन्त इति।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में बालकों का परस्पर रमण कहते हैं।

१—बिना रुकावट। २—घूंघची, चिरमी।

श्लोक---मुष्णन्तोन्योन्यशिक्यादीञ् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः ।
तत्रत्याश्च ततो दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ--आपस में छींका आदि पदार्थ चुराते, जानने पर दूर से फेंक देते थे, और उस स्थान पर जो खड़े होते वे हंसते २ दूर से ही दे देते थे ।

सुबोधिनी—अन्योन्यस्य शिक्यादीन् मुष्णन्ति, ततोनेन मदीयं नीतमिति ज्ञात आराद् दूरादेव चिक्षिपुः प्रक्षिप्तवन्तः, ततोपि येषु ते शिक्यादयः पतितास्तेपि ताञ् छिक्यानन्यांश्च दूराच्चिक्षिपुः, ततो हसन्तश्च पुनर्ददुस्तेभ्य एव ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—एक दूसरे के छीके आदि चुरा लेते । जब किसी को पता पड़ जाता कि इसने मेरा छींका आदि ले लिया है तो वहां से दूर फैंक देते थे । फैंके हुए छींके जिनके ऊपर गिरते वे भी उन छीकों को तथा दूसरों को भी फैंक देते थे, फिर हँसते हुए उनको ही लौटा देते थे

श्लोक—यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम् ।
अहम्पूर्वमहम्पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ--जब वन की शोभा देखने के लिये श्रीकृष्ण दूर चले गये तो मैं पहले, मैं पहले, श्रीकृष्ण को छूवूंगा ऐसा कहके खेलते थे ।

सुबोधिनी—यदि दूरं गतः कृष्णो भवति तदा तस्मिन् दूरं ते वनशोभाया दर्शनार्थमहं पूर्वं स्प्रक्ष्यामीत्यहमिकया भगवन्तं संस्पृश्य रेमिरे ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ--जब देखते कि श्रीकृष्ण दूर चले गये हैं और जान लेते कि वन की शोभा देखने के लिए दूर गए हैं तब में पहले कृष्ण को छू लूंगा इस प्रकार स्पर्धा पूर्वक कहते सब ग्वाले श्रीकृष्ण को छू कर खेलते थे ॥ ६ ॥

श्लोक----केचिद् वेणून् वादयन्तो ध्मान्तः शृंगाणि केचन ।
केचिद् भृंगैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ---कितने ही बंसी बजाते थे कितने ही सींगे की ध्वनि कर रहे थे कोई कोई भ्रमरों के साथ उनके समान गुँजर करते थे कोई कोई तो कोयलों के स्वर में स्वर मिला कर कुहु कुहु कर रहे थे ।

सुबोधिनी—तत्र केचिद् बाला वेणून् वादयन्तो जाताः केचन शृंगाणि ध्मान्तो वादयन्तो जाताः, केचित् पुनर्भृङ्गैः सह तथैव गायन्तस्तथैव कोकिलैः सह कूजन्तः ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—वहाँ कितने ही बालक वेणुनाद करने वाले बने, कितने ही सींग बजाने वाले हुए, कितने ही भ्रमरों के साथ उनके सहगान करते थे, कितने ही कोयलों के साथ वैसा कूजन करते थे ॥ ७ ॥

श्लोक---**विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधु हंसकैः ।**
बकैरुपविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ---पक्षियों की छाया के साथ दौड़ते थे, हंसों के साथ अच्छी तरह चलते थे, बकों की पंक्ति के साथ बैठ जाते थे, मयूरों के साथ नृत्य करते थे ।

सुबोधिनी---केचित् पुनरुपरि गच्छतां वयसां छायाभिर्मण्डलाकृतिभिः प्रकर्षेण धावन्तो जाता हंसैः सह साधु गच्छन्तश्च बकैः सह तथैवोपविशन्तः कलापिभिर्मयूरैः सह नृत्यन्तश्च जाताः ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ—कितने ही बालक आकाश में गोलाकार बनकर उड़ते हुए पक्षियों की जो परछाईं पृथ्वी पर पड़ती हुई दौड़ती जाती थी उसके साथ उत्कर्ष पूर्वक दौड़ते थे। कितने ही हंसों के साथ अच्छी तरह चलते थे उसी प्रकार बकों के साथ उनकी तरह बैठ जाते थे कितने ही मयूरों के साथ नृत्य करते थे ॥ ८ ॥

श्लोक---**विकर्षन्तः कीशबालानारोहन्तश्च तैर्द्रुमान् ।**
विकुर्वन्तश्च तैः साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ----बंदरों की पूछें खेंचते हुए उनके साथ पेड़ों पर चढ जाते थे । उनके साथ दाँत निकाल कर मुख मोड़ते और वृक्षों पर कूदते थे ।

सुबोधिनी—कीशा लम्बपुच्छा वानरास्तेषां बालान् पुच्छानि विशेषेण कर्षन्तो बालानेव च धृत्वा तैः सह द्रुमानारोहन्तो मुखविकारांश्च कुर्वन्तो मर्कटवदेव पलाशिषु वृक्षेषु प्लवन्त उत्प्लुत्य गच्छन्तो भूमौ च ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ—बन्दरों की अनेक प्रकार की जातियाँ होती है, उनमें एक जाति है जिस की पूंछें लम्बी होती हैं उस जाति के बन्दरों को संस्कृत में कीश कहते हैं । बाल शब्द के दो अर्थ होते हैं--पशु की पूंछ. २ बच्चे । आचार्यश्री दोनों अर्थ करते हैं। १ लम्बी पूंछ वाले बन्दरों की पूंछे जोर से खींचते थे । २ बन्दरों के बच्चों को खींचकर उनके साथ पेंड़ो पर चढ जाते थे । बंदरों की तरह दाँत निकालते थे और पृथ्वी पर चलते २ उनके समान वृक्षों पर कूदते जाते थे ॥ ९ ॥

श्लोक----साकं भेकैर्विलङ्घन्तः सरित्प्रस्रवसम्प्लुताः ।
विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान् ॥ १० ॥

श्लोकार्थ---मेंडकों के समान उछलते हुए चलते थे । नदी और झरनों में डुबकियाँ लगाते थे । परछाइयों को हँसते और प्रतिध्वनि (गूंज) को अपशब्द कहते थे ।

सुबोधिनी—भेकैर्मण्डूकैः सह, सरितो नद्यः, प्रस्रवा झरणाः, सम्प्लुतास्तैरेव, गर्ता वा स्त्रीलिङ्गपाऽश्चिन्त्यः, प्रतिच्छाया दर्पणादिप्रतिबिम्बानि प्रतिस्वनांस्तटादिषु निर्गताञ् छब्दान् स्वशब्दानुरूपाञ् छपन्तश्च भवन्ति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—मेंडक जिस प्रकार भूमि पर उछलते हुए चलते हैं वैसे ही ग्वाले भी उनके साथ उसी प्रकार पृथ्वी पर चलते थे । जिस तरह मेंडक नदी और झरणों में डुबकियाँ मार कर नहाते हैं वैसे ही वे ग्वाल बाल भी उनके साथ नदी और झरणों में डुबकियाँ मारते हुए नहाते थे । 'संप्लुत' शब्द जो श्लोक में दिया है उसका दूसरा अर्थ गढ़े भी होता है । अतः इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है । वे जैसे कि ग्वाल बाल मेंडकों के साथ नदी, झरणों और गढ़ों को कूद जाते थे, दर्पण आदि में पडे हुए प्रतिबिम्बों का तथा किनारों पर जो प्रतिध्वनियाँ आती थीं उन सबका तिरस्कार (अपमान) करते थे ॥ १० ॥

आभास--तेषां भाग्यमभिनन्दतीत्थमिति द्वाभ्या ।

आभासार्थ—निम्न कहे हुए दो श्लोकों में उनके भाग्य की प्रशंसा करते हैं ।

श्लोक---इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन ।
मायाश्रितानां नरबालकेन सार्धं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—जो भगवान् ज्ञानियों को ब्रह्मरूप और आनन्दरूप से केवल अनुभव में आते हैं ऐसे भाव वाले भक्तों का परम दैवत रूप है माया से मोहित पुरुषों के लिये मनुष्य बालरूप है वैसे भगवान् से वे ग्वाल बाल क्रीड़ा कर रहे हैं इससे जाना जाता है कि इन्होंने कोई पुण्य पुन्ज इकट्ठा कर रक्खा है जिससे ये भगवान् से रमण कर सके हैं ।

सुबोधिनी—लोका त्रिविधा ज्ञानिनो भक्ताः प्राकृताश्च, तत्र भगवान् सर्वेषां तत्तद्बुध्यनुसारेण स्फुरति "तं यथायथोपासते तथैव भवती" तिश्रुतेः, तत्र सतां ज्ञानिनां ब्रह्मरूपः सद्रूपः सुखरूप आनन्दरूपोनुभुतिरूपो ज्ञानरूपस्ताहशेन सह ते विजह्रुरिति बालकानां भाग्यं दास्यं गतानां भक्तानां परो नियन्ता स्वामी दैवतमाराध्यो मायाश्रितानां प्राकृतानां केवलं नरबालकः, एवं सर्वैः सर्व प्रकारेणापि विभाव्येन सार्धं कृतः पुण्यपुञ्जो-यैस्ते विजह्रुः ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—जगत् में लोग तीन प्रकार के होते हैं। १—ज्ञानी, २—भक्त, और ३—प्राकृत (प्रकृति के आधीन)। इसलिये जो जैसा है उसकी बुद्धि में भगवान् वैसे ही दिखते हैं, क्योंकि श्रुति में कहा है कि 'तंयथा यथोपासते तथैव भवति' परमात्मा की जो जिस भाव से उपासना करता है भगवान् उसको उसी प्रकार से दर्शन देते हैं जैसे कि ज्ञानियों की बुद्धि में सद्रूप ब्रह्मस्वरूप से आनन्दरूप से और अनुभूतिरूप-ज्ञान स्वरूप से स्थित होते हैं। वे ज्ञानी उस स्वरूप से रमण करते हैं अर्थात् आनन्द प्राप्त करते हैं।

दास-भाव को प्राप्त भक्तों का नियन्ता (प्ररक-सारथि) और स्वामी तथा आराध्य (सेव्य) है। वे (भक्त) इनमें ही खेलते हैं अर्थात् आनन्द मग्न हो जाते हैं।

प्राकृतों (प्रकृति (माया) के आधीनों) को भगवान् केवल मनुष्य-बालक प्रतीत होते हैं। वे उसमें ही सन्तुष्ट रहते हैं। जिन्होंने पुण्य पुन्ज इकट्ठे किए हैं वे सब ग्वाल-बाल अपने अपने भावानुसार उन (भगवान्) से क्रीड़ा करते थे जो सबों को उनकी भावना के अनुसार आनन्द प्रदान करते थे। इन ग्वालों के बड़े भाग्य हैं॥ ११ ॥

आभास—महच्च तेषां भाग्यं यत् तेषां दृष्ट्यग्रे भगवांस्तिष्ठतीत्याह यत्पादपांसुरिति।

आभासार्थ—वे ग्वालबाल बड़े भाग्यशाली हैं जो उनकी दृष्टि के आगे (देखने में) भगवान् बिराजमान हैं। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।**
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—बहुत जन्म तक कष्ट सहकर मन को वश करने वाले योगीजनों को भी जिनके चरण की रज दुर्लभ है, वे ही आप भगवान् जिनकी दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष विराज रहे हैं। उन व्रजवासियों के भाग्य का क्या कहां तक वर्णन करूँ।

सुबोधिनी—बहुजन्मतपसा जितेन्द्रियैर्योगिभिरपि शरीरेन्द्रियान्तःकरणशुद्धियुक्तैरपि यत्पादपांसुरलभ्यः स एवैष कृष्णो येषां बालकानां सर्वेषामेव व्रजस्थितानां वा स्वयमेव स्थितो न तु तैः प्रार्थितोपि अतो व्रजौकसां भाग्यमवाङ्मनोगोचरं किं वर्ण्यते ? ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ—बहुत जन्म की तपस्या से जितेन्द्रिय और शरीर इन्द्रियां तथा अन्तःकरण से शुद्ध हुए योगीजन भी जिनकी चरण रज प्राप्त नहीं कर सकते हैं वे ही यह कृष्ण स्वयं बिना प्रार्थना के जिन बालकों के अथवा सकल व्रजवासियों के नेत्रों का विषय हो रहे हैं। उन व्रजवासियों के भाग्य का वर्णन वाणी और मन से नहीं हो सकता है तब उनके भाग्य का वर्णन कैसे किया जाए॥१२॥

आभास—एवं क्रीडायां मध्येघासुरः समागत इत्याहाथेत्येकविंशतिभिस्तस्य मुक्त्यन्ता कथा निरूप्यते ।

आभासार्थ--इस प्रकार वे खेल ही रहे थे तो वहाँ अघासुर नामक दैत्य आ गया । उसके मारने तक की समग्र कथा का वर्णन २१ श्लोकों से करते हैं ।

श्लोक--**अथाघनामाभ्यपतन्महासुरस्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः ।**
नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते ।। १३ ।।

श्लोकार्थ----तदनन्तर इन लोगों की सुखपूर्वक क्रीड़ा को सहन न करता हुआ अघासुर नाम वाला बड़ा दैत्य वहाँ आया अमृतपान कर अमर बने हुए देव भी अपने जीने की इच्छा से जिसके मरने के दिन की नित्य प्रतीक्षा[1] कर रहे हैं ।

सुबोधिनी—अघोन्वर्थनामा तेषां बालकानां सुखक्रीडनस्य वीक्षणेप्यक्षमा यस्य, नित्यं सर्वदा यदन्तरघासुरनाशोमरैः प्रतीक्ष्यते, तत्रहेतुर्निजजीवितेप्सुभिरिति, यद्यपि ते पीतामृताः, अतोयमत्यन्तं दुष्टोमृतादीनामपि वस्तुसामर्थ्यनाशकः ।। १३ ।।

व्याख्यार्थ—इस (अघासुर) का नाम भी सार्थक था (अघ) कहते हैं पाप को पाप में जितनी बुराईयाँ होती है उतनी ही इसमें थी । विशेष, असुर तो था ही अतः इन (ग्वालबालों) की आनन्दप्रद क्रीड़ा देखकर सहन नहीं कर सका । वह इतना तो पाप पुञ्ज था, जो अमृत पिये हुए अमरदेव भी अपने जीने के लिए इसके मरने की नित्य प्रतीक्षा कर रहे थे क्योंकि उन (देवों) को यह ज्ञान था कि अमृत में जो अमर बनाने की शक्ति है उस शक्ति को भी यह मिटा सकता है ।।१३।।

श्लोक--**दृष्ट्वार्भकान् कृष्णमुखानघासुरः कंसानुशिष्टः स बकीबकानुजः ।**
अयं तु मे सोदरनाशकृत् तयोर्द्वयोरथैनं सबलं हनिष्ये ।।१४।।

श्लोकार्थ----कंस के भेजे हुए पूतना और बक का छोटा भ्राता अघासुर श्रीकृष्ण की प्रमुखता वाले सब ग्वाल बालों को देख कर, विचार कर, कहने लगा कि यह (श्रीकृष्ण) जो मेरे भाई तथा बहिन को नाश करने वाला है इसलिये उसके बदले में सेना सहित इसका नाश करूँगा ।। १४ ।।

१—बाट देखना, इन्तजार करना ।

सुबोधिनी—अर्भकान् बालकान् कृष्ण एव प्रमुखो येषां कंसेन प्रेषितः स प्रसिद्धो बकी पूतना बकश्च तयोरनुजः, तस्य संकल्पमाहायं त्विति, त्विति पक्षान्तराणि व्यावर्तयति अयं तु भगवान् मे सोदरयोर्भ्रात्रोर्नाशकर्ता न कर्मकालादि, अतस्तयोर्द्वयोरर्थं उपद्रवं करिष्यामीति ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण जिनकी अगवानी कर रहे थे उन सब (ग्वालबालों) को देख कर, कंस के भेजे हुए, पूतना और बक के प्रसिद्ध छोटे भाई ने जो विचार किया उसका वर्णन उत्तरार्द्ध में करते हैं यह भगवान् ही 'मेरी बहिन पूतना और भाई बक को मारने वाला है। श्लोक में (तु) शब्द इसलिये दिया है कि अघासुर का यही निश्चय था कि मेरी बहिन तथा भाई की काल ने मृत्यु नहीं की है और कर्मों के कारण भी उनकी आयु पूरी नहीं हुई थी। अतः इस (कृष्ण) ने ही मारा है अर्थात् दूसरे किसी काल और कर्म ने नहीं मारा है। इस कारण से मैं दोनों के नाश के बदले में उपद्रव करूंगा अर्थात सैन्य सहित इस (कृष्ण) का नाश करूंगा ॥१४॥

आभास—ततो बालकाना मप्युपद्रवो भविष्यतीत्याहैत इति।

आभासार्थ—इस प्रकार करने से बालकों के लिये भी उत्पात होगा जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक----**एते यदा मत्सुहृदोस्तिलापः कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकसः।**
प्राणे गते वर्ष्मसु कानुचिन्ता प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते ॥ १५॥

श्लोकार्थ—जब ये सब, मेरे मित्रों के बक और बकी (पूतना) के तिल और जल होंगे तब व्रजवासी मरे हुए के समान हो जायेगें। प्राणों के जाने के पीछे देहकी चिन्ता कैसी ? देहधारियों के प्राण तो बालक ही हैं।

सुबोधिनी—मत्सुहृदोर्मद्भ्रात्रोस्तिलापः कृतास्तिलोदकप्राया मृतानां तृप्तिहेतवः, तदा व्रजौकसो गावः स्त्रीपुरुषाश्च नष्टसमा नष्टप्रायाः, यथा प्राणे गते वर्ष्मसु देहेषु गमनार्थं का चिन्ता ? बालकाश्च व्रजवासिनां प्राणरूपाः यतः प्राणभृतः प्रजासवः प्रजैवासवः प्राणा येषाम् ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ—मृतकों की तृप्ति करने वाले तिल और जल होते हैं। ये जब मेरे बन्धुओं के तृप्ति कराने के लिये तिल जल रूप होगें तब व्रजवासी, गौ और पुरुष नाश हुओं के समान बन जाएंगे। जब प्राण ही चले गये तो देह के जाने की चिन्ता काहे की ? व्रजवासियों के बालक ही प्राण हैं। बालकों के जाने पर वे भी नहीं रहेंगे ॥ १५ ॥

श्लोक---**इति व्यवस्याजगरं बृहद् वपुः स योजनायाममहाद्रिपीदवरम्।**
धृत्वाद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा पथि व्यशेत ग्रसनाशयः खलः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—ऐसा निश्चय कर सब को निगल जाने की आशावाला वह खल एक योजन लम्बा बड़े पर्वत के समान स्थूल बड़े अजगर जैसा देह धारण कर गुफा के सदृश[1] मुंह फाड़कर मार्ग में सो गया ।

सुबोधिनी—इत्यध्यवसायं कृत्वाजगरमजगरवत् स्थूलं वपुर्धृत्वा पथि व्यशेत योजनमात्रमायामो विस्तारो यस्य वपुषः, महाद्रिवत् पर्वतवत् स्थूलं भ्रमार्थमत्यद्भुतं व्यात्तं गुहावदाननं यत्र ग्रसनार्थमेव शयनं कृतवान्, दया तु नास्ति यतः खलः ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार अपनी बहिन और भाई को इनको मारकर तृप्त (प्रसन्न) करने का निश्चय कर एक योजन विस्तार वाला महापर्वत के समान स्थूल, भ्रम उत्पन्न करने के लिये अपना मुख गुफा जैसा बनाकर बड़े अजगर रूप से सबको निगलने के लिए मार्ग में सो गया । इसका कारण बताते हैं श्लोक में (खलः) विशेषण दिया है । जिसका भाव है कि वह खल होने से निर्दयी था ॥ १६ ॥

आभास—तस्य रूपमनुवर्णयति ।

आभासार्थ—इसके रूपका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो दर्याननान्तो गिरिशृंगदंष्ट्रः ।**
ध्वान्तान्तरास्यो वितताध्वजिह्व-परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ—नीचे का होठ पृथ्वी पर और ऊपर का बादलों को छूता था मुख का मध्य भाग (जबड़े) गुफा के समान, दाढ़ें पर्वत के शिखर के सदृश, मुख के अन्दर का भाग अन्धकार के समान, जीभ इतनी लम्बी मानो कोई सड़क बनी हुई है, श्वास कठोर पवन के समान और आँखें दावानल के जैसी गर्म थीं ।

सुबोधिनी—धरेति, धरायां भूमावधरोष्ठं यस्य, जलदेषु मेघेषूत्तरोष्ठं यस्य, दरीवत् कन्दरवदाननान्तो मुखमध्यं यस्य, गिरेः शृंगवद् दंष्ट्रा यस्य ध्वान्तयुक्तमन्तरास्यं, वितताध्ववन् मार्गवज् जिह्वा यस्य, परुषः स्पर्शदुःसहो योनिलस्तद्वच् छ्वासः, दववद् दवानलवदीक्षणयोरुष्णःस्पर्शो यस्य, श्वासेन सहित ईक्षण उष्णो वा, तादृशमपि दृष्ट्वा बालका न भीताः किन्तु स्वेष्टत्वेनैव कलितवन्तः ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ—उसके (अजगर के) रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिसका नीचे का होठ पृथ्वी पर है और ऊपर का होठ बादलों में हैं मुख का मध्य भाग (जबड़े) कन्दरा के

१—समान ।

समान है, जिसकी दाढ़ें गिरिशिखर के समान लम्बी थीं, मुख के अन्दर का भाग जिसका अन्धकार-युक्त है, जिसकी जीभ लम्बी सड़क जैसी है, जिसके श्वास असह्य पवन (लू) जैसे हैं जिसके आँखों का स्पर्श जंगल की अग्नि के समान उष्ण है अथवा श्वास सहित ईक्षण (आँखें) उष्ण स्पर्श वाली है। ऐसे भी अजगर को देखकर बालक घबराए नहीं किन्तु उस रूप को अपना इष्ट रूप समझा अर्थात् खेलने का खिलौना समझा ॥ १७ ॥

आभास—अत एव तेषां न भयं जातमसद्भावाभावादित्याशयेनाह तं दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—यह असुर है, हमको नाश करने के लिये इसने ऐसा रूप धारण किया है इस प्रकार का उन बालकों में असत् भाव (दुष्ट भाव, दोष वाला भाव) नहीं था इसलिये वे डरे नहीं । इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**तं दृष्ट्वा तादृशं सर्वे मत्वा वृन्दावनश्रियम् ।**
व्यात्ताजगरतुण्डेन ह्युत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार के इस अजगर को देखकर सब बालक उसको वृन्दावन की सम्पत्ति समझ खेलते खेलते फटे हुवे अजगर के मुख की समानता करने लगे ।

सुबोधिनी—तं तादृशं दृष्ट्वा वृन्दावनश्रीरेवैषेति मत्वा क्षणं ध्यात्वा भवति न वेत्यजगरतुण्डतुल्यत्वेन श्रियमेवोत्प्रेक्षितवन्तः, श्रीरेषा परमजगरतुण्डवद् दृश्यत इति, स्मेतिप्रसिद्धिः, स्वस्य भयाभावाल्लीलया यत्किञ्चित् कल्पयन्ति स्म ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—उसको वैसा देखकर यह वृन्दावन की शोभा है यों मान लिया यह वृन्दावन की शोभा है वा नहीं इसका एक क्षण विचार कर कहने लगे कि यह है तो वृन्दावन की शोभा-सम्पत्ति अर्थात् खिलौना, किन्तु अजगर के मुख समान देखने में आता है । इस प्रकार के विचार से उन्होंने इसको वृन्दावन की श्री मान ली । अतः बालक निर्भय होकर जो चाहे उसकी कल्पना करने लगे । इसलिये श्लोक में (स्म) शब्द प्रसिद्धि वाचक दिया हैं ॥ १८ ॥

आभास—कल्पनामेवाह पञ्चभिः, ।

आभासार्थ—निम्न पांच श्लोकों से बालकों ने उस (अजगर) के विषय में कल्पनाएँ की उस का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**अहो मित्राणि गदत सत्त्वकूटं पुरःस्थितम् ।**
अस्मत्संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—अहो! मित्रों! यह जो सामने देखने में आरहा है, वह किसी कपटी प्राणी के समान है या नहीं। उस पर भी अपने को निगलने के लिए अजगर के फटे हुए मुख के समान लगता है वा नहीं यह कहो।

सुबोधिनी—अहो इत्यांश्चर्य, मित्राणि सर्वाणि गदत इति सम्बोधनं वा, सत्त्वकूटं कपटसत्त्वं पुरःस्थितमग्रे वर्तमानमस्मत्सङ्ग्रसनार्थमेव व्यात्तं प्रसारितं व्यालतुण्डमिवाचरति न वेतिनिर्णयो वक्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ—बालकों ने यह देखकर आश्चर्य प्रकट किया इसलिये श्लोक में (अहो) शब्द दिया है। हे मित्रों ! आप सब निर्णय करके कहो कि यह सामने स्थित कपटी प्राणी अपने को निगलने के लिये ही अजगर के फटे हुए मुख के सदृश आचरण करता है वा नहीं ॥ १९ ॥

आभास—तत्र नवापक्षं दूरीकृत्योत्प्रेक्षार्थं व्यालतुण्डत्वमेव सम्पादयन्ति सत्यमिति।

आभार्थ—ऊपर के श्लोक में किए हुए प्रश्न के उत्तर में कितने ही बालक कहने लगे कि यह कपटी प्राणी नहीं हैं किन्तु अनुमान से कहा कि यह अजगर का मुख ही हैं। उसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**सत्यमर्ककरारक्तमुत्तराहनुवद् घनम्।
अधराहनुवद्रोधस्तत्प्रतिच्छाययारुणम् ॥ २० ॥**

श्लोकार्थ—वास्तव में सूर्य की किरणों से थोड़ासा लाल ऊपर के होंठ के समान बादल और उसकी छाया से लाल हुआ यह स्थल नीचे के होंठ के समान दिखाई देता है।

सुबोधिनी—अर्ककरैरारक्तमुत्तराहनुवद् घनं पश्यत अधराहनुवद् रोधश्च तस्यैवारक्तमेघस्य प्रतिच्छाययारुणं वर्णम् ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—सूर्य की किरणों से थोड़े से लाल हुए ऊपर के होंठ के समान बादल को देखो और उसकी परछाईं से लाल नीचे भाग के होठ के सदृश नदी तट को देखो ॥ २० ॥

श्लोक—**प्रतिस्पर्धेते सृक्किभ्यां सव्यासव्ये नगोदरे।
तुङ्गशृगांलयोप्येतास्तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत ॥ २१ ॥**

श्लोकार्थ—बांयी और दाहिनी पर्वत की दोनों गुफाएँ होठों के पास वाले हिस्सों से क्या होंड नहीं करती है ? ऊँचे पर्वत के शिखर, उसकी दाढ़ों की होड करते हैं।

सुबोधिनी—सृक्किणीभ्यां कृत्वा सव्यासव्ये पर्वत-कन्दरे प्रतिस्पर्धेते, वस्तुतः कन्दरैव सृक्किणीव दृश्यते, तुंगानां शृंगाणामालयः पङ्क्तयोपि तद्दंष्ट्राभिः प्रतिस्पर्धन्ते, नात्र सन्देहः, पश्यत ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—ओष्ठों के पास वाले हिस्सों से, वाम और दक्षिण तरफ वालीपर्वत की कन्दराएँ प्रतिस्पर्धा कर रही हैं। वास्तविक देखा जाय तो कन्दरा ही ओष्ठों के प्रान्त भाग की समान दिखती हैं। ऊँचे शिखरों की पङ्क्तियां भी उसकी दाढों से होड करती है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। देखो ॥ २१ ॥

श्लोक—**आस्तृतायाममार्गोयं रसनां प्रति गर्जति ।**
येषामन्तर्गतं ध्वान्तमेतदप्यन्तराननम् ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—यह योजन नापवाला लम्बा मार्ग जिह्वा जैसा मालूम होता है जिसके अन्दर का यह अन्धेरा भी मुख के मध्य-भाग के समान भासता है।

सुबोधिनी—आस्तृत आसमन्तादायाममार्गो योजनपरिमितो रसनां प्रति गर्जति रसनावद् भासते, गर्जनादिकं तुल्यत्वाय, येषां शृङ्गाणां दंष्ट्राणामन्तर्गतमपि ध्वान्तमन्तराननं प्रति गर्जति ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ—यह चारों ओर विस्तारवाला योजन पर्यन्त मार्ग जिह्वा के सदृश भास रहा है। गर्जना आदि तो समानता बताती हैं। शिखर पर्वतों की दाढें हैं उनके भीतर का अन्धकार, मुख के भीतर के अन्धकार जैसा दिखता है ॥ २२ ॥

श्लोक—**दावोष्णखरवातोयं श्वासवद् भाति पश्यत ।**
तद्दग्धसत्त्वदुर्गन्धोप्यन्तरामिषगन्धवत् ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ—दावाग्नि[1] से गर्म यह कठोर वायु श्वास के समान भासता है। देखो दावाग्नि से जले हुए प्राणियों की दुर्गन्ध भी भीतर रहे अपक्व मांस जैसी लगती है।

सुबोधिनी—वातोयं, दावानलेन वोष्णः, श्वासवद् भाति पश्यत विचारयत, तत्र दावानले दग्धानां सत्त्वानां दुर्गन्धोन्तरोदरे यदामिषमपक्वमांसं यत् तेन भक्षितं तस्य गन्धवद् भाति ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ—यह पवन दावाग्नि के समान उष्ण और कठोर है। अथवा दावाग्नि से जो

१—वन में लगी हुई आग।

यह पवन उष्ण और कठोर हुग्रा है। वह पवन जैसा भासमान होता है इसको देखो अर्थात् इसका विचार करो: दावानल में जले हुए जानवरों की दुर्गन्ध वैसी लगती है, जैसे पेट के भीतर खाए हुए कच्चे मांस की दुर्गन्ध हो ।। २३ ।।

ग्राभास----तर्ह्येवं सति किं कर्तव्य मित्याशङ्क्य गन्तव्यमेवेति निर्धार्य बाधकं दूरीकुर्वन्त्यस्मानिति ।

ग्राभासार्थ--जो हमको निगलने के लिये यह ग्राया हो तो क्या करना चाहिये इस प्रकार शंका कर निर्णय करते हैं कि कैसा भी हो हमको इसके भीतर घुसना ही चाहिये । इसमें ग्रानेवाले प्रतिबन्धों को हटाते हैं जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**ग्रस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टानयं तथा चेद् बकवद् विनङ्क्ष्यति ।**
क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखं वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः ॥२४॥

श्लोकार्थ---इसमें घुसे हुए अपने को क्या यह निगलेगा ? यदि निगलेगा तो बक के समान श्रीकृष्ण के हाथ से यह भी शीघ्र नाश हो जाएगा यों कहकर भगवान् के सुन्दर मुख का दर्शन करते हुए ये बालक तालियां बजाते हुए हँसते हँसते उसके मुख में घुसने लगे ।

सुबोधिनी—ग्रत्र प्रवीष्टानस्मान् किमयं ग्रसिष्यति ? तथा चेद् बकवदेव क्षणदेव नाशं यास्यत्यनेनैव कृष्णेनैवैषोघ इति निश्चित्य बकारेर्भगवत उशत् कमनीयं मुखं विक्ष्योर्ध्वं हसन्तः करताडनैः सहिताः प्रवेष्ठुं ययुः ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ--इसमें प्रविष्ट हम लोगों को क्या यह ग्रसेगा ? यदि ग्रसेगा तो बक की तरह यह पापी भी क्षणमात्र में श्रीकृष्ण के हाथ से मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा यह निश्चय कर बक के शत्रु भगवान् के सुन्दर मुखारविन्द को देखकर ऊँची आवाज़ से हँसते हुए तालियाँ बजाते हुए उसके मुख में प्रवेश करने लगे ।। २४ ।।

श्लोक---**इत्थं मिथोतथ्यमतज्ज्ञभाषितं श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषा मृषायते ।**
रक्षो विदित्वाखिल भूतहृत्स्थितः स्वानां निषेद्धुं भगवान् मनो दधे ॥२५॥
तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरं परं न जीर्णाः शिशवः सवत्साः ।
प्रतीक्षमाणेन बकारिवेशनं हतस्वकान्तस्मरणेन रक्षसा ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ---सर्वभूतों के हृदय में (अन्तर्यामी रूप से) स्थित भगवान् जानते थे कि यह राक्षस है । बालक अनजान होने से इसके (सत्यस्वरूप को) नहीं पहचानते हैं इसलिए जो कहते हैं वह असत्य है । यों विचार कर भगवान् ने इनको रोकने के लिए मन (ध्यान) दिया अर्थात् रोकने का विचार किया । इतने में तो वे बालक बछड़ों सहित अघासुर के पेट में पहुँच गए । किन्तु उसने (अघासुर ने) इनको निगला नहीं, क्यों कि वह श्रीकृष्ण के भीतर आने की राह देख रहा था कि कृष्ण आवें तो पीछे निगलने का कार्य करूंगा ।

सुबोधिनी—भगवान् पुनर्मा प्रविशन्तु सर्पोयं भक्षणार्थं स्थित इति यावद् वदति तदर्थं चयावन् मनसि विचारयति तावदेव प्रविष्टा इति श्लोकद्वयसम्बन्धः, इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण मिथो बालकैस्तथ्यमेवातथ्यवद् भाषितं तेषां वाक्यं श्रुत्वा विचिन्त्य सत्यमयमजगर एवेति निश्चित्यामृषैव राक्षसो मृषायतेजगरवत् तिष्ठति श्रीरिव वा बुद्धिमुत्पादयति, अतोयं राक्षस एवेति विदित्वा स्वानां निषेधार्थं स्वान् निषेद्धुं सर्वज्ञो भगवान् मनो दधे विचारितवांस्तावदेव बालका असुरोदरान्तरं प्रविष्टाः सवत्सा गतप्राणा अपि तदुदराग्निना न जीर्णाः, जरणे तेषामुपमर्दोपेक्ष्यते, स तु न जात इत्याह, बकारिप्रवेशं प्रतीक्षमाणेन हतयोर्बकीबकयोरन्तस्मरणं मृत्युस्मरणं यस्य तेन रक्षसा दृढवैरानुबन्धेन जातिदुष्टेनापि भगवत्प्रतीक्षया न जीर्णाः ।। २५–२६ ।।

व्याख्यार्थ——ये बालक इसके मुख में प्रवेश नहीं करें क्योंकि यह सर्प निगलने के लिये यहाँ स्थित है । ऐसा विचार कर जब तक बालकों को कहें कि मत घुसो तब तक बालक उसके मुख में घुस गए । इस प्रकार दोनों श्लोकों का सम्बन्ध है इसलिये दोनों श्लोकों का अर्थ साथ में दिया है ।

व्याख्यार्थ——इस प्रकार बालकों ने आपस में 'सत्य ही' असत्यवत् कहा । उनको सुनकर, विचार कर समझा कि यह सच्चा ही अजगर है । इस प्रकार निश्चय कर भगवान् कहने लगे कि यह राक्षस होते हुए भी अजगर के रूप का झूठा ढोंग करता है अथवा बालकों की बुद्धि में वृन्दावन की श्री का भ्रम उत्पन्न करता है । अतः यह वास्तविक राक्षस ही है यह जानकर अपने मित्रों को रोकने के लिए सर्वज्ञ भगवान् ने मन किया अर्थात् इच्छा को इतने में तो बालक बछड़ों सहित राक्षस के उदर के अन्दर प्रविष्ट हो गए । भीतर जाने पर प्राण रहित हो गए तो भी जठराग्नि ने उनको जलाया पकाया नहीं पक जाते तो उनका उपमर्द (रूपान्तर) हो जाता वह नहीं हुआ था । उनको क्यों नहीं जलाया उसका कारण कहते हैं कि अपने भाई और बहन (बक और बकी) का मरना उसे याद था जिससे भगवान् से दृढ़ बैर भाव वाला और जाति से भी दुष्ट होने से भगवान् की प्रतीक्षा* कर रहा था अर्थात् आने की राह देख रहा था । इसलिये उनको अपनी जठराग्नि

* अपने मन में यह निश्चय कर रक्खा था कि मेरे भाई बहिन को जिसने मारा है उसको मारूंगा ही । २) भगवान् आवें तो उन के साथ इनको भी पकालूँगा । —अनुवादक

१—बेपरवाही ।

से पकाया नहीं ।। २५-२६ ।।

आभास--भगवतो विचारमाह तान्वीक्ष्येति ।

आभासार्थ--निम्न श्लोक में भगवान् के विचारों का वर्णन करते हैं।

श्लोक--तान् वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो ह्यनन्यनाथान् स्वकरादवच्युतान् ।
दीनांश्च मृत्योर्जठराग्निघासान् घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः ।।२७।।

श्लोकार्थ--सबके अभयदाता जिनका नाथ दूसरा कोई नहीं है ऐसे भगवान् दीनों को अपने हाथ से निकल कर मृत्यु की जठराग्नि का ग्रास रूप बना हुआ देख के, दया से पीड़ित हुए और दैव के कृत्य से विस्मित हो विचार करने लगे ।

सुबोधिनी—**कृष्णः** सर्वेषामभयदाता तेषां गोकुलवासिनां च, सर्व **एवानन्यनाथाः**, न विद्यतेन्यो नाथो येषां, इदानीं च **स्वकरादवच्युता** अकस्मात् तन्मुखे पतिताः, नाप्युपेक्षणीया **दीनाः**, **मृत्योरघस्यैव जठराग्नेर्घासाः** कवलरूपाः, **दिष्टकृतेन** तथाभूतांस्तान् दृष्ट्वा भगवान् **विस्मितो** जातः ।। २७ ।।

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण, उन (बालकों) को गोकुलवासियों को और सबों को अभयदान देने वाले हैं । इन सर्व बालकों का मेरे बिना कोई दूसरा नाथ (रक्षक) नहीं है । अब इस समय मेरे हाथ से निकल गए हैं । और उसके मुख में पड़ गए हैं तो आप ही निकल आएँगे आप क्यों विचार करते हो ? इस पर कहते हैं कि नहीं ये (बालक) दीन हैं इसलिये उपेक्षा[1] के योग्य नहीं है। क्योंकि अघासुर जो मृत्युरूप है उसकी जठराग्नि के ग्रासरूप हो गए हैं । मैं ही इनका नाथ हूँ मुझे इनको यहाँ से निकालना चाहिये । प्रारब्ध के कारण इस दशा को प्राप्त हुए इनको देखकर भगवान् विस्मित हुए ।। २७ ।।

आभास---विचारयति कृत्यं किमत्रेति ।

आभासार्थ--यह देख कर भगवान् विचार करते हैं कि इस विषय में अब क्या करना चाहिए वह विचार निम्न श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक--कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवितं न वा अमीषां च सतां विनाशनम् ।
द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य तज् ज्ञात्वाविशत् तुण्डमशेषदृग्घरिः ।।२८।।

श्लोकार्थ----अब यहां क्या करना चाहिए ? यह दुष्ट अघासुर भी न बचे और

१—बेपरवाही ।

ये सत्पुरुष भी न मरें, ये दोनों बात कैसे सिद्ध हो इसका अच्छे प्रकार से विचार कर उसके उपाय का निश्चय कर, सर्व दृष्टा हरि उसके मुख में प्रविष्ट हुए।

सुबोधिनी—यद्ययं मार्यते बालका अपि गमिष्यन्ति, अन्यान् कृत्वा गृहनयने कृतेप्येते नष्टा एव, अतो बालका रक्षणीया अयं च मारणीयः, एतदुभयं मत्प्रवेशेनैव भवतीति तुण्डमविशत्, यतोयमशेषदृग् घरिश्च सर्वदुःखहर्ता, अस्य खलस्य जीवितं यथा न स्यादमीषां वा सतां विनाशनं यथा न स्यादेतद् द्वयं कथं स्यादितिफलद्वयमेकं साधनं च सञ्चिन्त्य तादृशमुपायं ज्ञात्वा प्रविष्टः ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ—–जो इस (राक्षस) को मारेंगे तो ये बालक भी मर जाएंगे। यदि ये बालक मर जावें और दूसरे ऐसे ही बालक बनाकर ले चलें तो भी वे बालक तो मर ही गए। अतः ऐसी युक्ति करें जिससे ये बालक तो बच जाएँ और केवल राक्षस का नाश हो। ये दोनों कार्य तब सिद्ध होंगे जब मैं इसके मुख में प्रवेश करूंगा। यों निश्चय कर श्रीकृष्ण ने उसके मुख में प्रवेश किया। कारण कि यह सर्वद्रष्टा एवं सर्व दुःख हर्ता हैं। इस (मुख में प्रवेशरूप) एक ही साधन से दोनों फलों (राक्षस को मारना व बालकों को बचाना) की प्राप्ति, भगवान् ने समझ कर उसके मुख में प्रविष्ट हुए ॥ २८ ॥

श्लोक----**तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेति चुक्रुशुः ।**
जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ----इस समय बादलों की ओट में खड़े हुए देव हाहाकार करने लगे और अघासुर के सम्बन्धी कंसादिक राक्षस प्रसन्न हुए।

सुबोधिनि—तदा देवाः कंसादयश्चाकाशमार्गेण द्रष्टुमागताः, तत्र तेवा घनच्छदा मेघान्तरिताः पश्यन्ति ते हाहेति चुक्रुशुः कंसाद्या जहृषुर्हर्ष प्रातवन्तः कंसाद्याः सर्व एव ये केचनाघस्य बान्धवाः कौणपा राक्षसाः ॥२९॥

व्याख्यार्थ—–जिस समय अघासुर के मुख में भगवान् प्रविष्ट हुए उस समय आकाश में देखने के लिये आए हुए देव बादलों की ओट में खड़े थे। वे भगवान् का प्रवेश देखकर हाहाकार कर दुःख प्रकट करने लगे और कंसादिक अघासुर के सम्बन्धी जो भी राक्षस वहाँ आकाश में देखने के लिये आए थे वे प्रवेश देखकर हर्ष को प्राप्त हुए ॥ २९ ॥

श्लोक—–**तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वव्ययः सार्भवत्सकम् ।**
चूर्णीचिकीर्षोरात्मानं तरसा ववृधे गले ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ----यह हाहकार सुनकर अविकारी भगवान् श्रीकृष्ण बच्छड़ों के साथ आपको भी चूर्ण करने की इच्छा वाले (अघासुर) के गले में बहुत शीघ्रता से बढ़ने लगे।

सुबोधिनी—उभयेषां हर्षविषादौ श्रुत्वा भगवान् कृष्णोऽव्ययः स्वतो भयरहितः सार्भवत्सकं बालक वत्स-सहितमात्मानं चूर्णीचिकीर्षोरस्य गले ववृधे स्थूलो जातः ।।३० ।।

व्याख्यार्थ—दोनों (देव और कंस आदि राक्षसों) के हर्ष तथा शोक की ध्वनि सुनकर भगवान् कृष्ण अव्यय होने के कारण स्वतः निर्भय थे क्योंकि आपका तो यह राक्षस (अघासुर) लेशमात्र भी कुछ बिगाड़ कर नहीं सकता था । किन्तु बछड़ों सहित बालकों की तो हानि करने में यह राक्षस समर्थ था इस विचार से बछड़ों सहित बालकों को बचाने के लिए और राक्षस के नाशार्थ उसके गले में बढ़ने लगे, अर्थात् स्थूल होने लगे ।। ३० ।।

श्लोक—ततोतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो ह्युद्गीर्णदृष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्ततः ।
पूर्णोन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो मूर्धन् विनिष्पाट्य विनिर्गतो बहिः ।। ३१ ।।

श्लोकार्थ—उन (कृष्ण) के बढ़ने से स्थूल देह वाले सर्प अघासुर का गला घुट गया, आँखे बाहर निकल पड़ी, जिससे इधर उधर तड़फड़ाने लगा और पवन का मार्ग रुक जाने से उसके शरीर के भीतर भरा और रुका हुवा वायु उसके ब्रह्मरन्ध्र को भेद कर बाहिर निकल गया ।

सुबोधिनी—ततोतिकायस्य स्थूलस्य सर्पस्य निरुद्धमुखमार्गवत उद्गीर्णे निर्गते दृष्टी चक्षुषी यस्य, इतस्ततश्च भ्रमतो देहं विक्षिपतोन्तरङ्गे शरीरमध्ये पूर्णः पवनो निरुद्धः सन् मूर्धानं विनिष्पाट्य बहिर्निर्गतो मुख्यप्राणो ब्रह्मरन्ध्रेण विनिर्गतः ।। ३१ ।।

व्याख्यार्थ—इसके अनन्तर बड़ी देहवाले सर्प का गला घुट जाने से आँखे बाहिर निकल आईं, इधर-उधर तड़-फड़ाने लगा । शरीर के मध्य में पूर्ण रीति से वायु रुक गया था निकलने का स्थान न होने से मुख्य प्राण मस्तक को फोड़कर ब्रह्मरन्ध्र से बाहिर निकल गया ।। ३१ ।।

श्लोक—तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु प्राणेषु वत्सान् सुहृदः परेतान् ।
दृष्ट्या स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुनर्वक्त्रान् मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ ।।३२।।

श्लोकार्थ—उस मार्ग (ब्रह्मरन्ध्र) से सर्प के प्राण और इन्द्रियादि सब के बाहिर निकल जाने पर मुकुन्द भगवान् अपनी दृष्टि से मरे हुए बछड़ों और मित्रों को जिला कर उनके साथ मुख से बाहिर निकल आए ।

सुबोधिनी—तेनैव च मार्गेण सर्व एव प्राणा इन्द्रियाण्यात्मा च बहिर्निर्गतास्तदा परेतान् वत्सान् सुहृदो बालकान् स्वयामृतदृष्ट्योत्थाप्य सजीवान् कृत्वा तैः सह मुकुन्दो भगवान् वक्त्राद् विनिर्ययौ मुखमार्गेणैव निर्गतः, प्राणगमनानन्तरं सूक्ष्मो भूत्वा तथा कृतवान् ।। ३२ ।।

व्याख्यार्थ—जब अघासुर के उसी मार्ग (ब्रह्मन्ध्र) से, सर्व प्राण, इन्द्रियां और आत्मा बाहिर निकल गए तब मरे हुए बछड़ों तथा मित्र बालकों को अपनी अमृतमयी दृष्टि से जीवित कर उनके साथ मुकुन्द भगवान् मुख के रास्ते से निकल आए। सर्प के प्राणों के जाने के अनन्तर आप (कृष्ण) ने पूर्ववत् छोटा स्वरूप कर, वैसा किया, अर्थात् निकल आए।

आभास—भगवति बहिर्निर्गतेघस्य सायुज्यमाह।

आभासार्थ—भगवान् के बाहिर निकलने पर निम्न श्लोक में अघ के सायुज्य का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं महज्ज्योतिः स्वधाम्नोज्ज्वलयद् दिशो दश।**
प्रतीक्ष्य खेवस्थितमीशनिर्गमं विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम् ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ—अजगर के मोटे शरीर से निकली हुई ज्योति, अपने प्रकाश से दशों दिशाओं को प्रकाशित करती हुई आकाश में स्थित होकर भगवान् के बाहिर पधारने की राह देखती थी, जब भगवान् बाहिर पधारे तब वह ज्योति देवताओं के देखते देखते उन (श्रीकृष्ण स्वरूप) में प्रविष्ट हो गई।

सुबोधिनी—पीनो योयमहिः सर्पस्तस्य भोगाच्छरीरादुत्थितमद्भुतं महस्तेजोरूपं ज्योतिः प्रकाशमानं स्वधाम्ना स्वतेजसा दश दिश उज्वलयद् बहिः स्थितं सद् भगवन्निर्गमनं प्रतीक्ष्य निर्गते तस्मिन् विवेश पश्यतां दिवौकसां सतां, तेजोरूपं लिङ्गशरीरं प्रविष्टमिति मायावादिनः ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—स्थूल इस सर्प के शरीर से निकला हुआ अद्भुत महत् तेजरूप ज्योति अपने तेज से दश दिशाओं को प्रकाशित करती हुई बाहर (आकाश में) स्थित रहकर भगवान् के बाहिर आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी, भगवान् के बाहिर पधारने पर देवताओं के देखते देखते उनमें प्रविष्ट हो गई। मायावादी कहते हैं कि तेजोरूप लिङ्ग शरीर प्रविष्ट हुआ ॥ ३३ ॥

आभास—ततो देवानां सुखं जातमित्याह।

आभासार्थ—इससे देवता प्रसन्न हुए जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**ततोतिहृष्टाः स्वकृतोकृतार्हणं पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः।**
गीतैः सुगा वाद्यधनाश्च वाद्यकैः स्तवैस्तु विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ--इसके अनन्तर अत्यन्त प्रसन्न हुए देवों ने अपने लिये कार्य करने वाले भगवान् की पुष्पों से, अप्सराओं ने नृत्य से, गायकों ने गाने से, बाजे बजाने वालों ने वाद्यों से विप्रों ने स्तोत्रों से वैष्णवों ने (जय जय) शब्द से पूजा की।

सुबोधिनी—ततोतिहृष्टा इति, स्वार्थं देवार्थमेव करोतीति स्वकृत् तस्य भगवतोर्हणं पूजामकृत कृतवन्तः पुष्पैः, अप्सरश्च नर्तनैः, पूजामकृतेति सर्वत्रसम्बन्धः, सुष्ठु गायन्तीति सुगास्ते गीतैर्वाद्यं घनो येषां ते वाद्यघना विप्रास्तु स्तवैर्वैष्णवगणा जयनिः स्वनैरर्हणमकृत ॥३४॥

व्याख्यार्थ--भगवान् ने हमारे (देवों के) लिये यह कार्य (अघासुर वध) किया है अतः देवगण अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् की पूजा करने लगे। देवों ने पुष्पों, से अप्सराओं ने नृत्यों से, सुन्दर गायकों ने गानों से, वाद्य बजाने वालों ने वाद्यों से, विप्रों ने स्तोत्रों से, वैष्णवगणों ने जय जय शब्दों से पूजा की ॥ ३४ ॥

आभास--तदा ब्रह्मणोप्याश्चर्यं जातमित्याह।

आभासार्थ—तब (यह देख कर) ब्रह्मा को भी आश्चर्य हुआ जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक--**तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतकजयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान्।**
श्रुत्वा स्वधाम्नोन्त्यज आगतोचिराद् दृष्ट्वा महेशस्य जगाम विस्मयम् ॥३५॥

श्लोकार्थ--ब्रह्माजी, ये अद्भुत स्तोत्र, सुन्दर बाजे, गायन और जय घोष आदि अनेक उत्सव के मंगल शब्द, अपने धाम के पास ही सुनकर शीघ्र ही वहाँ आ गए। भगवान् की सामर्थ्य देखकर विस्मय को प्राप्त हुए।

सुबोधिनी—तदद्भुतेति, तेषामद्भुतस्तोत्रादिकं श्रुत्वा स्वधाम्नोन्ति स्वगृहसमीपेजो ब्रह्मा तत आगतो-चिराच्छीघ्रमेव दृष्ट्वा भगवन्तं महेशस्य भगवतः सामर्थ्यं च दृष्ट्वा विस्मयं जगाम, स्तोत्रं सुवाद्यं गीतं जयशब्दाश्च तैर्योयमनेकोत्सवस्तत्सहितान् मङ्गलस्वनान्, ते शब्दा ब्रह्मलोकपर्यन्तं गताः, तच्छ्रुत्वा ब्रह्मा समागतो विस्मयमाप ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ—उनके अद्भुत स्तोत्रादिक ब्रह्माजी ने अपने घर पर ही सुने, सुनकर शीघ्र आ गए वहां भगवान् को और उनके सामर्थ्य को देख कर विस्मय को प्राप्त हुए। क्योंकि जो स्तोत्र वाद्यादि यहां हुए उनकी ध्वनि मेरे घर तक सुनने में आई जिससे ब्रह्मा भगवान् के ऐश्वर्य को जानकर विस्मित हुए ॥ ३५ ॥

आभास---मुक्तस्य देहो भगवद्भक्तानां क्रीडार्थं जात इत्याह ।

आभासार्थ---मुक्त हुए (अघासुर) राक्षस का शरीर भी भगवद्भक्तों के रमण के काम आया । यह नीचे के श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक---**राजन्नाजघरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेद्भुतम् ।**
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम् ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ---हे महाराज ! वृन्दावन में शुष्क अजगर का अनूठा यह चर्म व्रजवासियों के, बहुत समय तक खेलने के समय छिप जाने के लिये गुफा का काम देने लगा ।

सुबोधिनी---राजन्निति, वृन्दावन शुष्कं गन्धरहितं । व्रजौकसां बहुकालमाक्रीडार्थं गह्वरं गुप्तस्थानं बभूव ॥३५॥

व्याख्यार्थ---हे राजन् ! वृन्दावन में शुष्क होने से यह अजगर का चर्म दुर्गन्ध रहित हो गया । अतः बहुत समय तक व्रजवासियों के खेलने के लिये गुप्त (छिपने का) स्थान हुआ ॥३६॥

आभास---आश्चर्यान्तरमाहैतदिति ।

आभासार्थ---दूसरे आश्चर्य का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक---**एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम् ।**
मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ---अपना अजगर रूप मृत्यु से छुड़ाना, कुमार अवस्था में किया हुआ यह भगवान् का कर्म (लीला) देख कर विस्मय को प्राप्त हुए बालकों ने पौगण्ड अवस्था में आने के पश्चात् व्रज में आकर सुनाया ।

सुबोधिनी---भगवतः कौमारावस्थायां जातमेतत् कर्मात्मनोहेः सकाशात् मोक्षणरूपं मृत्योरेव मोक्षणरूपं हरेः पौगण्डावस्थायां जातस्य शरीरं शुष्कं दृष्ट्वा विस्मिताः सन्तो व्रजे समागत्योचुः, ''अद्यानेन महाव्याल'' इति वक्ष्यति ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ---भगवान् की कुमार अवस्था में की हुई यह लीला अपने (बालक और वत्सों) को अजगर से छुड़ाना अर्थात् मृत्यु से बचाना और पौगण्डावस्था में शरीर का शुष्क होता देखा बालक अचम्भे में पड़ गए व्रज में आकर कहने लगे कि आज इस (कृष्ण) ने बड़े सर्प को मार डाला है । यह आगे के अध्याय (३, श्लोक ४८,) में कहा जाएगा ॥ ३७ ॥

आभास—अघासुरस्य मुक्तिं युक्त्या समर्थयति नैतद् विचित्रमितिद्वाभ्यां ।

आभासार्थ—निम्न दो श्लोकों में अघासुर की मुक्ति का युक्ति से समर्थन करते हैं ।

श्लोक—**नैतद् विचित्रं मनुजार्भमायिनः परावराणां परमस्य वेधसः ।**
अघोपि यत्स्पर्शनधूतपातकः प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम् ॥ ३८ ॥

श्लोकार्थ—छोटे और बड़े सबके नियमन करने वाले और कर्ता, मनुष्य-बाल रूप मायावी भगवान् के इस प्रकार के कर्म करने में कोई आश्चर्य नहीं है। जिनके स्पर्श-मात्र से पापी अघासुर भी निष्पाप, होकर दुष्टों को दुर्लभ ऐसी मुक्ति को प्राप्त हो गया ।

सुबोधिनी—मनुजार्भो मनुष्यबालः स एव माया-तद्वतो भगवत एतद् बालमोक्षणमघासुरमोक्षो वा न विचित्रं वस्तुतोयं परावराणां परमो ब्रह्मादीनामस्म-दादीनां च नियन्ता कर्ता च, अघोपि पापरूपो यत्स्पर्शनेन धूतपातकः प्रक्षालितपाप आत्मसाम्यं भगवत्समतामसतां दुष्टानां सुदुर्लभं प्रापेति यत् तत्र हेतुः ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ—मनुष्य-बाल रूप होना ही माया है, उस मायावाले का इन बालकों को मृत्यु से छुड़ाना (अपनी अमृतमयी दृष्टि से अजगर के भीतर ही जीवित करना और अघासुर को मोक्ष देना) कोई आश्चर्यकारक कार्य नहीं है क्योंकि यह वास्तविक में पर (ब्रह्मादि) और अवर (अस्मदादिकों) का नियन्ता और कर्ता है । पापरूप अघ के भी जिसके स्पर्श से पाप धुल गए और जो मुक्ति दुष्टों को मिलनी दुर्लभ है उस भगवत्समता (मुक्ति) को प्राप्त हुआ ॥ ३८ ॥

भगवान् का यह कार्य आश्चर्यकारक नहीं है, जिसका हेतु निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**सकृद्यदंगप्रतिमान्तराहिता मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम् ।**
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्याव्युदस्तमायः परमोंग किं पुनः ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ—जिनकी केवल मनोमयी मूर्ति भी हृदय में धारण करने से मुक्ति देती है तो आत्मसुख स्वरूप सच्चिदानन्द माया से परे सर्व श्रेष्ठ स्वयं जिसकेहृदय में पधारें उसकी मुक्ति होने में कौनसी विचित्रता है ।

सुबोधिनी—सकृद् यस्य भगवतीङ्गप्रतिमा शरीर-समाना मानसी मूर्तिरन्तराहिता हृदये स्थापितापि भागवतीं गतिं ददौ ददाति तत्र **स एव नित्यात्मसुखानु-**भूतिः सच्चिदानन्दरूप आत्मा व्युदस्तमायः पूर्णज्ञानेनैव गतमायः परमकाष्ठां प्राप्तोन्तराहितः सन् मुक्तिं ददातीति किं पुनर्वक्तव्यम् ॥ ३९ ॥

व्याख्यार्थ—एक बार, जिस भगवान् की शरीर के समान मनोमयी (मन से ध्यान में लाई हुई) मूर्ति, हृदय में धारण की हुई, मुक्ति देती है तो फिर वह ही नित्य, आत्म-सुखानुभूति स्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा पूर्ण ज्ञान के कारण माया से परे, सबसे उच्च-स्थिति वाले स्वयं हृदय में पधार कर मुक्ति देवें इसमें क्या कहना है ॥ ३९ ॥

आभास—-एतावदुक्त्वा शुकः परमनिर्वृतः तूष्णीमास तदा राजा पृच्छतीत्याह सूतः।

आभासार्थ—-इतना कहकर परम प्रसन्न हुए शुकदेवजी शान्त हो गए अर्थात् आगे बोले नहीं तब राजा पूछने लगे, जिसका वर्णन सूतजी निम्न श्लोक में करते हैं।

॥ सूत उवाच ॥

श्लोक—-**इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं विचित्रम ।**
पप्रच्छ भूयोपि तदेव पुण्यं वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ—सूतजी कहते हैं, हे ब्राह्मणों ! इस तरह निज पालक भगवान् का विचित्र चरित्र सुनकर उस चरित्र श्रवण में चित्त वाले राजा परीक्षित ने व्यासजी के पुत्र से फिर भी वही चरित्र पूछा।

सुबोधिनी—हे द्विजाः शौनकादयः, यादवदेवेन कृष्णेन दत्तो विष्णुरातः स्वरातुः स्वरक्षितुश्चरितं श्रुत्वा भूयोपि तदेव पप्रच्छ यतो विचित्रं पुण्यं च, वैयासकिं शुकं, येन चरित्रेण निगृहीतं चेतो यस्य ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ—-हे शौनकादिक द्विजों ! यादवों के देव श्रीकृष्ण से रक्षा किए हुए राजा परीक्षित अपने पालक का चरित्र सुनकर फिर भी वही चरित्र व्यास पुत्र शुकदेवजी से पूछने लगे, कारण कि भगवान् के चरित्र पुण्यरूप तथा विचित्र हैं और भगवान् के चरित्रों ने परीक्षित का चित्त अपनी तरफ आकृष्ट कर लिया था ॥ ४० ॥

आभास—-प्रश्नमेवाह त्रिभि।

आभासार्थ—-तीन श्लोकों से राजा के किए हुए प्रश्न का वर्णन करते हैं।

॥ राजो उवाच ॥

श्लोक—--**ब्रह्मन् कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेत् ।**
यत् कौमारे हरिकृतं विदुः पौगण्डकेर्भकाः ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ---राजा परीक्षित ने कहा कि हे ब्रह्मन् ! भगवान् ने कुमार अवस्था में जो लीला की थी बालकों को उस लीला का ज्ञान पौगण्ड अवस्था में हुआ, एक काल में किए हुए कर्म का ज्ञान दूसरे काल में कैसे हुआ।

सुबोधिनी—ब्रह्मन्निति सम्बोधनं ज्ञानार्थं, यदुक्तं "कौमारे हरिकृतं पौगण्डे कीर्तित" मितितत्र शङ्का कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेदिति, तदेवाह यत् कौमारे हरिकृतं बालकाः पौगण्डके विदुरिति ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ----श्लोक में शुकदेवजी को 'ब्रह्मन्' कहा है, जिसका तात्पर्य है कि शुकदेवजी ज्ञानवान् हैं अतः इस प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ हैं (कुमार अवस्था में जो हरि ने किया उसका कीर्तन बालकों ने पौगण्डवय में किया) इसमें शंका होती है कि एक काल में किया हुआ कर्म उसका दूसरे काल में ज्ञान कैसे हुआ होगा ॥ ४१ ॥

श्लोक--**तद् ब्रूहि मे महायोगिन परं कौतूहलं गुरो ।**
नूनमेतद्धरेरेव माया भवति नान्यथा ॥ ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ--हे गुरु ! महायोगी ! वह मुझे कहो। मुझे इसका आश्चर्य है मेरे विचार में निश्चय से यह हरि की माया ही है, माया के बिना वैसा हो नहीं सकता है।

सुबोधिनी—यद्यपि भविष्यति किञ्चित् कारणं तथापि तन् मे मह्यं ब्रूहि, अज्ञानं तु तव नास्तीत्याह हे महायोगिन्निति, किञ्च तत् परं कौतूहलं, एतावज् ज्ञायते नूनमेतद्धरेरेव माया भवति, अन्यथा तेषां भ्रमो न स्यात्, अतो भगवच्चरित्रमिति वक्तव्यम् ॥ ४२ ॥

व्याख्यार्थ----जो कि इसमें कुछ कारण होगा, तो भी वह मुझे कहो। आप महायोगी हो अतः आप सब कुछ जानते ही हो। आप से कुछ भी छिपा हुआ नहीं है और यह महान् आश्चर्य है। इतना समझ में आता है कि निश्चय से यह हरि की माया है जो हरि की माया न होती तो बालकों को इस प्रकार भ्रम न हो सकता था। अतः कहना या समझना चाहिये कि यह सब भगवान् का चरित्र (लीला) ही हैं ॥ ४२ ॥

आभास-- -कथनार्थं स्वश्लाघां करोति वयं धन्यतमा इति।

आभासार्थ—शुकदेवजी मेरे प्रश्न का उत्तर देवें, इसलिये निम्न श्लोक में अपनी बडाई करता है।

श्लोक----**वयं धन्यतमा लोके गुरोपि क्षत्रबन्धवः ।**
यत पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतम् ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ----हे गुरु ! हम क्षत्र बन्धु हैं, तो भी आपके मुखारविन्द से निकले हुए श्रीकृष्ण के कथारूप अमृत का पान करने से बड़े भाग्यशाली हैं ।

सुबोधिनी—क्षत्रियाधमा अपि वयं धन्यतमा यतो भवान् गुरुः, किञ्च त्वत्तः कृष्णकथामृतं यतो मुहुः पिबामः ।। ४३ ।।

व्याख्यार्थ—जो कि क्षत्रियों में भी अधम हैं तो भी हम बड़े भाग्यशाली हैं । क्योंकि आप हमारे गुरू हो और आप से कृष्ण कथारूप अमृत बार-बार पान कर रहे हैं ।। ४३ ।।

आभास---एवं पृष्टो जातसमाधिरपि शुकः पुनराहेत्याह सूतः ।

आभासार्थ—यद्यपि इतना कहकर शुकदेवजी समाधिस्थ हो के शान्त हो गए थे किन्तु राजा के पूछने पर फिर शुकदेवजी कहने लगे । यह सूतजी निम्न श्लोक में कहते हैं ।

।। सूत उवाच ।।

श्लोक----**इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणिः संस्मारितानन्तहताखिलेन्द्रियः ।**
कृच्छ्रात् पुनर्लब्धबर्हिदृशिः शनैः प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तमम् ।। ४४ ।।

श्लोकार्थ---श्रीसूतजी कहते हैं कि हे शोनकादिक ऋषिओं ! इस तरह भगवान् का स्मरण कराते ही शुकदेवजी की सर्व इन्द्रियां भगवान् में लीन हो गईं फिर किसी प्रकार से कष्टपूर्वक शुकदेवजी ने बहिर्दृष्टि कर वैष्णव-श्रेष्ठों में उत्तम वैष्णव राजा परीक्षित को धीरे-धीरे उत्तर देना प्रारम्भ किया ।

सुबोधिनी—इत्थं पृष्टो बादरायणिः सम्यक् स्मारितो योयमनन्तस्तेन हृतान्यखिलेन्द्रियाणि यस्य, तादृशोपि कृच्छ्रात् पुनर्लब्धबर्हिदृष्टिः शनैः प्रत्याह समाधेर्विरतस्योच्चैर्भाषणं न सम्भवतीति, भागवतोत्तमानां मध्य उत्तमं प्रतीतिकथने हेतुः ।। ४४ ।।

व्याख्यार्थ—सम्यक् प्रकार से स्मरण कराए हुए अनन्त भगवान् में शुकदेवजी की सर्व इन्द्रियाँ लीन हो गईं अर्थात् शुकदेवजी समाधिस्थ हो गए थे । किन्तु वैसा होते हुए भी शुकदेवजी कष्ट से बाहिर की दृष्टि प्राप्त कर (समाधि से जागृत हो) धीरे-धीरे उत्तर दिया । समाधि त्याग के अनन्तर ऊंचे स्वर से बोला नहीं जा सकता है । शुकदेवजी ने समाधि त्याग कर भी उत्तर देने की आवश्यकता इसलिये समझी कि प्रश्न करने वाला राजा वैष्णवोत्तमों में भी श्रेष्ठ वैष्णव था ।।५४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) के द्वादश अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तीन प्रक्षिप्त अध्यायों में का प्रथम अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

इस प्रथम प्रक्षिप्त अध्याय में वर्णित अघासुर मोक्ष लीला का अवगाहन
भक्तशिरोमणी सूरदासजी के निम्न पद से कीजिए ।

अथ अघासुर मोक्ष

-- राग बिलावल --

नन्द सुत लाड़िले हो, सब व्रज जीवन प्रान ।
बार-बार माता कहे हो, जागहु श्याम सुजान ।। ध्रुव ।।

जशुमति लेति बलाई, भोर भयो उठो कन्हाई ।
संग लिए सब सखा, द्वार ठाड़े बल भाई ।।
सुन्दर वदन दिखाईये, हरो नैन के ताप ।
नयन कमल मुख धोईये, कछु करो कलेऊ आप ।। नन्दसुत लाडिले हो ।।

माखन रोटी लैहों सद दधि रैन जमायो ।
षटरस के मिष्टान, सोइ जेंवहु रुचि आयो ।।
मो पै लीजै मांगि के, जोई-जोई भावे तोहि ।
संग जेमहु बलराम तुम हो, रुचि उपजा वहु मोहि ।। नन्दसुत लाडिले हो ।।

तब हंसि चितये श्याम, सेज तें बदन उघारचो ।
मानहु पय निधि मथत, फेन फटि चंद उजारचो ।।
सखा सुनत देखन चले, मानहुं नयन चकोर ।
जुगल कमल जनु इंदु पर हो, बैठि रहे अति भोर ।। नन्दसुत लाडिले हो ।।

तब उठि आए कान्ह, मात जल बदन पखारचो ।
बोलि उठे बलराम श्याम, कत उठचो सबार्यो ।।
दाऊ जू कहि हँसि मिले, बाँह गही बैठाय ।
माखन रोटी सद दह्यो हो, जेंवत रुचि उपजाय ।। नन्दसुत लाडिले हो ।।

जल अंचयो मुख धोय, उठे बल मोहन भाई ।
गाय लई सब घेरि चले, वन कुंवर कन्हाई ।।
टेर सुनत बलराम की, आये बालक धाय ।
ले आये सब जोरि के हो, घर तै बछरा गाय ।। नन्दसुत लाडिले हो ।।

सखनि कान्ह सों कही, आजु वृन्दावन जैये ।
जमुना तट तृण बहुत, सुरभि गण तहाँ चरैये ॥
ग्वाल गाय सब लै गए, वृन्दावन समुदाय ।
अतिहि सघन वन देखि के हो, हरषि उठे सब गाय ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

कोउ टेरत कोउ हांकि, सुरभि गण जोरि चलावत ।
कोउ कोउ हेरी देत, परस्पर श्याम सिखावत ॥
अंतरजामी कहत जिय यहि, मोहि सिखावत टेरि ।
कान्ह कहत अबके गई हो, पुनि धौली जो फेरि ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

कोउ मुरली कोउ वेणु शब्द, शृंगी कोउ पूरे ।
कृष्ण कियो मन ध्यान, असुर एक बस्यो अघूरे ॥
बाल बछरूबनि राखि हों, एक बेर लैं जाउँ ।
कछुक जनाऊँ अपनपो हो अबलों रह्यो सुभाउ ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

असुरकुलहि संहारि, धरनि को भार उतारौं ।
कपट रूप रचि रह्यो दनुज यहि तुरत पछारौं ॥
गिरि समान धरि अगम बन बैठ्यो बदन पसारि ।
मुख भीतर बन घन नदी हो माया छलकरि भारि ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

पैठि गए मुख ग्वाल, धेनु बछरा सब लीए ।
देखि माया बन भूमि रहे, तृण द्रुम कृषि कीये ॥
कहन लगे सब आपुस में, सुरभी चरे अध्याय ।
मानहु पर्वत कंदरा हो, मुख गये समाय ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

सब मुख गए समाय असुर तब चोंच सकोर्यौ ।
अंधकार इमि भयो मानो, निशि बादर जोर्यौ ॥
अतिहि उठे अकुलाय के, ग्वाल बछ सब गाय ।
त्राहि त्राहि कहि कहि उठे हो, परे कहां सब आय ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

धीर-धीर कहि कान्ह असुर यह कन्दर नाही ।
अन-जानत सब परे अघामुख भीतर माही ॥
जिय त्याग्यौ यह सुनत ही, अबको सकै उबारि ।
वातैं दूनी देह धरी तब असुर न सक्यो संभार ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

शब्द करयौ आघात, अघासुर टेरि पुकार्‌यो ।
रह्यौ अधर दोऊ चापि, बुद्धि बल सुरति पसार्‌यौ ॥
ब्रह्मद्वार सिर फोरिके, निकसे गोकुल राय ।
बाहिर आ बहु निकसि के हो, मैं करि लियो सहाय ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

बालक बछरा धेनु सबै, अति मनहि सकाने ।
अंधकार मिटि गयो देखि जहाँ तहाँ अतुराने ॥
आये बाहिर निकसि के, मन सब किये हुलास ।
हम अज्ञान कत डरत हैं हो, कान्ह हमारे पास ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

धन्य नन्द अरु धन्य वह, जसुमति महतारी ।
धन्य लियो अवतार कूखि धनि जिहि दई तारी ॥
गिरि समान तनु अति अगम पन्नग की अनुहारि ।
हम देखत पल एक मैं हो, मारचो दनुज प्रचारि ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

हरि हंसि बोले बैन संग जो तुम नहीं होते ।
तुम सब कियो सहाय भयो तब कारज मोते ॥
हमहु तुमहु मिलि बैठि के, बन भोगि करें सब जाय ।
बंशीबट भोजन बहुत हो, जशुमति दयौ पठाय ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

ग्वाल परमसुख पाय कोटि मुख करत प्रसंसा ।
कहा बहुत जो भये, सपूत एकुई बंसा ॥
चढ़ि विमान सुर देख ही गगन रहे भरिछाय ।
जै जै धुनि नभ करत हैं हो हरषि पुहुप बरषाय ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

ब्रह्म सुनी यह बात, अमर घर घरनि कहानी ।
गोकुल लीनो जन्म कौन यह मैं नहि जानि ॥
देखौं इनको खोज लै शोच पर्‌यौ मन मांहि ।
सूरश्याम ग्वालनि लिए चले, बंसीबट की छांहि ॥ नन्दसुत लाडिले हो ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

कौतुक लीला निरूपक

प्रक्षिप्त द्वितीय अध्याय

दशम स्कन्धानुसार : त्रयोदशो अध्याय

कारिका---**द्वितीये वत्सहरणं बालैर्ब्रह्मभ्रमस्ततः ।**
स्तोत्रस्योपक्रमश्चैव भोजनादि निरूप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ----इस द्वितीय अध्याय में भोजन से लेकर ब्रह्मा का बालक और बछड़ों को चुराकर ले जाना तथा ब्रह्मा को भ्रम होना, अन्त में भगवान् की स्तुति करने का उपक्रम (प्रारम्भ) करना, यह निरुपण किया जाता है।

आभास----अभिनन्दति द्वाभ्यां ।

आभासार्थ—पहले दो श्लोकों मे प्रश्न का वर्णन करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक---**साधु पृष्टं महाभाग त्वया भागवतोत्तम ।**
यन्नूतनयसीशस्य शृण्वन्नपि कथां मुहुः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ––श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि हे भागवतोत्तम ! हे महाभागः तुमने श्रेष्ठ प्रश्न किया है । क्योंकि भगवान् की कथा बार-बार सुनने पर भी तुम उसे नवीन के समानस मझते हो ।

सुबोधिनी—साधु पृष्टमिति. भगवच्चरित्र एव स्थिरा बुद्धिरिति महाभागत्वं, भागवतोत्तमेति सहजोत्तमता, सर्वदैवेशकथां शृण्वन्नपि यन् नूतनमिव करोषीति ॥१॥

व्याख्यार्थ––हे बड़े भाग्यशाली ! तुम इसलिये बड़े भाग्यवान् हो कि तुम्हारी बुद्धि भगवान् के चरित्र में स्थिर है । वैष्णवों में श्रेष्ठ हो इससे यह बताया कि आपकी यह उत्तमता सहज (स्वाभाविक) है, क्योंकि सदा भगवान् की कथा सुनते हुए भी उसको नवीन नवीन ही समझते हो ॥ १ ॥

श्लोक—**सतामयं सारभृतां निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ।**
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत् स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता ॥ २ ॥

श्लोकार्थ––सार ग्रहण करने वाले सत्पुरुष स्वभाव से ही यह मानते हैं कि हमारी वाणी, कान और चित्त ये सब भगवान् के अर्थ (लिये) हैं । जैसे स्त्री लम्पट[1] पुरुषों को स्वभाव से बारम्बार स्त्रियों की कथाएँ नवीन लगती हैं इसलिये उन्हें सुनना चाहते हैं वैसे ही सत्पुरुष स्वभाव से ही भगवान् के चरित्रों को प्रतिक्षण नवीन समझ कर सदैव सुनना चाहते हैं ।

सुबोधिनी—किञ्चोचितमेव तव यतः **सतां सारभृतां** भक्तिमतां **निसर्गः** स्वभावोयं, तमेव स्वभावमाहार्थवाणी-श्रुतिचेतसामपि यस्मादयं स्वभावः, अर्थो धनं वाणी वाक् श्रुतिः श्रोत्रं चेतोन्तःकरणं, एतान्यपि स्वभावत एव भगवत्प्रवणानि, तदाह प्रतिक्षणं नव्यवन् नूतनवदच्युतस्य वार्तेति यद् रस आविष्टे स्वभाव एव तथा भवतीति, दृष्टान्तमाह यथा स्त्रिया वार्ता विटानां श्रुता कीर्तिता भाविता वा सुखदा परमसाधुवार्ता सा भवति, इयं तु साधुवार्तेति-विशेषः ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ––और तुम्हारा इस प्रकार प्रश्न करना योग्य ही है । कारण कि भक्तिवालों (भक्तों) का यह स्वभाव ही है । अतः उनका धन, वाणी, कान तथा अन्तःकरण भगवान् में ही प्रवण[2] होते हैं । प्रवण होने से उनको भगवान् के चरित्र प्रतिक्षण नवीन ही भासते हैं । जब रस भीतर घुस जाता है तब स्वभाव भी रसरूप हो जाता है । इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि स्त्रियों की सुनी हुई, कही हुई, या ध्यान में लाई हुई कथा स्त्रीलम्पट पुरुषों को आनन्द देनेवाली

१—व्यभिचारी । २—मग्न ।

होती है । वह स्त्रियों की वार्ता तो निकृष्ट[1] है किन्तु यह भगवत् चरित्र उत्तम व श्रेष्ठ है ॥२॥

आभास--महदद्भुतमस्ति सावधानतया श्रोतव्यमित्याह ।

आभासार्थ—यह चरित्र महान् अद्भुत होने से श्रवणीय है । निम्न श्लोकों में इस प्रकार कहते हैं ।

श्लोक--**शृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते ।**
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ----हे राजन्! सावधान होकर सुनो यह गुह्य[2] है तो भी तुम्हें कहता हूं । कारण कि गुरू प्रिय शिष्य को गुह्य भी बताते हैं ।

सुबोधिनी—शृणुष्वेति, अवहितः सावधानः, गुह्यमप्येतत् तुभ्यं वदामि यतः स्निग्धस्य प्रेमवतः शिष्यस्य गुरवो गुह्यमपि वदन्ति ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ--यह चरित्र अत्यन्त अद्भुत है अतः सावधान होकर श्रवण करो यह गुह्य है तो भी तुम्हें सुनाता हूँ, कारण कि प्रेमी शिष्य को गुरुजन गुह्य भी बताते हैं ॥ ३ ॥

आभास--वत्सापाहरणार्थमघमुखान् मोचितानां बालकानामुत्तरवृत्तान्तमाह ।

आभासार्थ—निम्न ११ श्लोकों में वत्सहरण लीला के जताने के लिए पहले अघासुर के मुख से छुड़ाए हुए बालकों का उत्तर चरित्र कहते हैं ।

श्लोक--**तथाघवदनान् मृत्यो रक्षित्वा वत्सपालकान् ।**
सरित्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ--भगवान् ने इस प्रकार बछड़े और ग्वाल बालों को अघासुर के मुख रूप मृत्यु से रक्षा कर, उनको नदी के किनारे पर लाकर यह कहा ।

सुबोधिनी—तथेत्येकादशभिः, अघस्य वदनान् मृत्योरेव रक्षित्वा वत्सपालकान् सरित्पुलिनं यमुनातीरमानीय भगवानिदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥ ४ ॥

१—अधम, नीच । २—गुप्त, छिपाने जैसी ।

व्याख्यार्थ--अघासुर के वदनरूप मृत्यु से ही ग्वाल बालकों का रक्षण कर और उनको यमुनाजी के किनारे पर लाकर भगवान् ने जो कहना है वह कहा है ॥ ४ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

श्लोक---**अहोतिरम्यं पुलिनं वयस्याः स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छवालुकम् ।**
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिकध्वनिप्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम् ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ--भगवान् कहते हैं कि अहो ! हे मित्रों ! यह तट अपने क्रीड़ा को सम्पत्ति और अति रमणीय है यहा की बालू कोमल तथा स्वच्छ है । प्रफुल्लित कमलवाले सरोवर को सुगन्ध के लोभ से प्राप्त भौंरे और पक्षियों के जल में होते हुए शब्दों की प्रतिध्वनि से शोभायमान वृक्ष चारो ओर व्याप्त हो रहे हैं ।

सुबोधिनी--अहोतिरम्यमिदं पुलिनमतोत्रास्माभिर्भोक्तव्यमिति, वयस्या इति स्नेहेन सम्बोधनं, स्वस्य केलिः क्रीडा तत्र या सम्पन् मृदुलाच्छवालुकारूपता सा वर्तते यत्र तस्मादत्र क्रीडापि कर्तुं शक्यते भोक्तुं च, अन्येप्यस्मिन् पुलिने गुणाः सन्तीत्याह स्फुटन्ति यानि सरोरुहाण्यत्यन्तं निबिडतया स्थितानि सरः शब्देनैवोच्यन्ते, अतः स्फुटद् यत् सरस्तस्य गन्धेन हृता वशीकृता अलयो भ्रमराः पत्रिणः पक्षिणश्च तेषां ध्वनिस्तस्य यत् प्रतिध्वानं प्रतिशब्दस्तेन लसन्तो ये द्रुमास्तैराकुलं व्याप्तं, तत्रत्यानि पुष्पाणि फलानि च पूलिने पतन्तीति ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ--अहो ! यह तट अतिशय सुन्दर है । इसलिए अपने को यहाँ भोजन करना चाहिए । ग्वालों को वयस्य विशेषण देकर उनमें अपना स्नेह प्रकट किया है । हमको क्रीड़ा के लिए जो सम्पत्ति चाहिए वह भी यहाँ स्वच्छ व कोमल बालु है इसलिए यहाँ भोजन व क्रीड़ा दोनों कर सकते हैं । इस किनारे में और भी गुण हैं । 'सर' शब्द से यहाँ बताया है कि इसमें उत्पन्न कमल बहुत परस्पर घने (जुड़े) हुए हैं, अतः प्रफुल्लित कमलयुक्त सरोवर से आती हुई सुगन्धि से वश किए हुए भ्रमर और पक्षियों की ध्वनी से निकली हुई प्रतिध्वनि से सुशोभित वृक्षों से वह तट व्याप्त है । उन वृक्षों से फल और पुष्प किनारे पर गिर रहे हैं ॥ ५ ॥

आभास--अत्रैव भोजने हेतुर्दिवारूढमिति ।

आभासार्थ--यहाँ ही भोजन करना चाहिये जिसका कारण निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक---**अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवारूढं क्षुधार्दिताः ।**
वत्साः समीपेपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम् ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ----अपने को यहाँ भोजन करना चाहिए क्यों कि दिन चढ गया है, भूख भी सता रही है। बछड़े यहाँ ही जल पीकर समीप ही धीरे धीरे घास चरते रहेंगे।

सुबोधिनी—महद् दिनं जातं क्षुधा च सर्वे पीडिताः, अत एव वत्साः समीपेपः पीत्वा शनकैस्तृणं चरन्तु ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—दिन बहुत चढ़ गया है देरी हो गई है और भख से सब पीड़ित हैं। अतः बछड़े समीप में जल पीकर धीरे-धीरे घास चरते रहें ॥ ६ ॥

आभास----एवं भगवतोक्ता बालस्तथैव कृतवन्त इत्याह।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के कहने पर बालकों ने यों ही किया।

श्लोक----**तथेति पाययित्वाभी वत्सानारुह्य शाड्वले।**
मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भगवता मुदा ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ--आपने जो कहा वह सत्य है हम वैसा ही करते हैं यों ग्वाल कह कर बछड़ों को जल पिला कर, हरी घास वाले प्रदेश में चरने के लिए उन्हे छोड़कर अपने छींके खोल कर भगवान् के साथ आनन्द से भोजन करने लगे ॥ ७ ॥

सुबोधिनी—तथेति, अर्भा वत्सान् पाययित्वा शाड्वल उत्तमतृणवति देश आरुह्यारोहं कारयित्वा स्वयं शिक्यानि मुक्त्वा भगवता समं बुभुजुः ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—बालकों ने बछड़ों को जल पिलाकर जहाँ उत्तम घास था ऐसी भूमि पर पहुँचा के आप छींके खोल कर भगवान् के साथ भोजन करने लगे ॥ ७ ॥

आभास—तेषां भोजनार्थमुपविष्टानां प्रकारमाह।

आभासार्थ---वे भोजन करने के लिए किस प्रकार बैठे वह नीचे के श्लोक में कहते हैं।

श्लोक--**कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डले रम्याननाः फुल्लदृशो व्रजाभेकाः।**
सहोपविष्टा विपिने विरेजुश्च्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ----वन में भगवान् श्री कृष्ण चारों ओर बहुत सी पंक्तियों के मण्डल बना

बना कर सम्मुख मुख कर, साथ बैठे हुए प्रफुल्लित दृष्टि वाले ग्वाल बाल कमल की कर्णिका के पत्तों के समान शोभायमान लगते थे ॥ ८ ॥

सुबोधिनी—आवरणवत् स्थिताः पुरूणि पंक्तिमण्डलानि मण्डलत्वाकारेण पौर्वापर्येणोपविष्टाः सर्व एव भगवत्सम्मुखा अत एव फुल्लदृशो व्रजबालकाः सहैकदैवोपविष्टा विपिनेरण्ये तत्रान्यो लौकिको न पश्यतीति विशेषेण रेजुर्यथा छदाः पत्राण्यम्भोरुहकर्णिकायाः परितो राजन्ते ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ—ग्वाल बाल बाड़ की तरह श्रीकृष्ण के चारों ओर गोलाकार बहुत पंक्तियाँ बनाकर एक दूसरे के पीछे इस प्रकार बैठे जैसे सब भगवान् के सन्मुख रहें जिससे ग्वाल-बाल के नैत्र प्रफुल्लित हो गए थे सब ग्वाले साथ ही बन में बैठ गए, जैसे कोई दूसरा लौकिक उनको देख न सके। जैसे कमल के चारों ओर कर्णिका के पत्र शोभा देते हैं वैसे ही वे विशेष शोभायमान थे !। ८ ॥

आभास---तेषां भोजनपात्राण्याह केचिदिति ।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में भोजन के पात्रों का वर्णन करते हैं ।

श्लोक---**केचित् पुष्पैर्दलैः केचित् पल्लवैरङ्कुरैः फलैः ।**
शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ---कितने ही बालकों ने पुष्पों (बड़े बड़े कमलों) के किसी ने फूल की पंखुरियों के किन्ही बालकों ने, पत्तों के, अकुंरों के, फलों के, छीकों के, पेड़ की छालों के ओर पत्थरों के बर्तन बना कर भोजन किया ।

सुबोधिनी—पुष्पादीनि प्रसार्य तैरेव कृतभाजनाः सन्तस्तदुपर्योदनं स्थापयित्वा बुभुजुः ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ—पुष्पादिकों का विस्तार कर (भोजन के पात्र के समान बनाकर) उनको भोजन पात्र के स्थान पर समझ उनके ऊपर भात रखकर भोजन करने लगे ॥ ९ ॥

आभास---बालकानां लोकिकत्वाद् भोजने प्रकार माहसर्वे इति ।

आभासार्थ—बालक लौकिक थे इसलिए उनके भोजन करने का प्रकार नीचे श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक---**सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचि पृथक् ।**
हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः ॥ १० ॥

श्लोकार्थ--सब अपने भिन्न २ भोजन करने के पदार्थों का स्वाद दिखाते हुए हँसते हुए और हँसाते हुए भगवान् के साथ भोजन करते थे ।

सुबोधिनी—स्वस्वभोज्यस्यौदनादे रुचिमन्यस्मै प्रदर्शयन्तः, पृथगिति भोज्यप्रकारविशेषाणां लड्डुकादीनां, ततः स्तोत्रनिन्दाभ्यां हसन्तो हासयन्तश्चेश्वरसहिता अभ्यवजह्रुर्भोजनं कृतवन्तः, एवमानन्दभोजन ईश्वरसाहित्यमेव हेतुः, सर्वैरानीतान्यन्नान्येकीकृत्याग्रभागं भगवतो दत्वा भगवत्कृपयाक्षय्यान्ना बुभुजुः ॥१०॥

व्याख्यार्थ--प्रत्येक ग्वाल बालक अपने अपने भात आदि भोज्य पदार्थों का स्वाद अन्यों को दिखाते थे । सबके पृथक पृथक भोज्य पदार्थ थे उनके विशेष प्रकार लड्डू आदि के स्वाद का वर्णन करते हुए स्वयं हँसते तथा दूसरों को हँसाते हुए श्रीकृष्णचन्द्र के साथ भोजन करने लगे । इस प्रकार के आनन्द का कारण ईश्वर के साथ ग्वालों का भोजन करना था । भोजन किस प्रकार परोसते थे वह भी बताते हैं कि सब जो कुछ लाए थे उसको इकट्ठा कर प्रथम आगे का हिस्सा भगवान् को अर्पण करते थे जिससे वह भोज्य भगवान् की कृपा से अक्षय हो जाता था । अतः वे ग्वाल बिना संकोच के पूर्ण तृप्ति से भोजन करने लगे ॥ १० ॥

आभास--भगवानपि मुक्तवानिति वदन् ध्यानार्थं तादृशं रूपमनुवर्णयति विभ्रद् वेणुमिति ।

आभासार्थ—ग्वाल-बालकों के साथ स्वयं भगवान् भी भोजन करने लगे । ध्यानार्थ उस समय के रूप का वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--**विभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे,**
वामे पाणौ मसृण कवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरि सुहृदो हासयन् नर्मभिः
स्वैः स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ--भोजन के समय, श्रीकृष्ण ने बंसी कमर की फेंट में खोंस ली, सींग और बेंत को बगल में दबा रखा था, वाम हस्त में घृत मिला हुआ दही भातका कौर और अंगुलियों के मध्य में भोग्य फल लेकर कर्णिका के समान यज्ञ भोक्ता भगवान् सबके सन्मुख विराजते थे और अपने हास्य वचनों से सब सुहृद्गणों को हँसाते थे एवं स्वर्गस्थ तथा लोकस्थ देवों के देखते हुए भोजन करते थे ।

सुबोधिनी—मल्लवत् कटितटे पीताम्बरमस्ति तत्र हस्ते स्थितानां वेण्वादीनां मध्ये वेणुं जठरपटयोर्मध्ये स्थापितवान्, छृङ्गं वेत्रं च कक्षयोः, वामे पाणौ मसृणं चिक्कणं घृतदध्यादिवेष्टितं कवलमोदनं, सर्वत्र बिभ्रदितिसम्बन्धः, तत्र दध्योदन उचितानि फलानि जम्बीरकादीन्यङ्गुलीषु सन्धिषु वा बालकानां मध्ये तिष्ठन् स्वस्य परितो वर्तमानान् सुहृदो बालकान् स्वैरसाधारणैर्नर्मभिः स्वर्गे लोके तत्रस्थितदेवेषु मिषत्सु सत्सु सर्वयज्ञभोक्ता बुभुजे,बालस्येव केलिर्विनोदो यस्य ॥११॥

व्याख्यार्थ—भोजन करने के समय में श्रीकृष्ण ने मल्लयुद्ध करने वालों के समान अपना पीताम्बर कटि पर बान्ध रखा था, हाथ में जो वेणु आदि थे उनमें से वेणु को कमर की फेंट में खोंस रखी थी सींग और छड़ी को काख (बगल) में दबाये हुए थे वाम हस्त में चिकने पदार्थ (घृत दधि सहित चाँवल) का कोर लिए हुए दही और ओदन (भात) के साथ खाने योग्य जम्बीर आदि फलों को अंगुलियों के बीच में धारण करके बालकों के बीच में स्थित, अपने चारों और फैले हुए मित्र बालकों को अपने असाधारण हास्य वचनों से स्वर्ग और लोक में स्थित देवों के सामने सर्व यज्ञ भोक्ता भगवान् ने सन्तुष्ट होकर भोजन किया। यज्ञ भोक्ता की यह लीला बालकों की क्रीड़ा के समान है ॥ ११ ॥

आभास—एवं सर्वेषां भोजने जायमाने किञ्चिदद्भुतमिव जातं तदाह भारतेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भोजन करते समय कुछ अद्भुत घटना हुई उसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु ।**
वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविशुस्तृणलोभिताः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! ग्वालों का इस प्रकार भोजन करने और श्रीकृष्णचन्द्र में लवलीन होने पर, बछड़े तृण के लोभ से वन के अन्दर दूर चले गए।

सुबोधिनी—वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु विस्मृतदेहेषु सत्सु वत्साः स्वयमेवान्तर्वने वनमध्ये तृणेन लोभिता दूरं गताः ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ—बछड़ों के पालक ग्वाल बाल भोजन करने में श्रीकृष्ण में लवलीन होने के कारण अपनी देहादि की सुधि भूल गए इतने में बछड़े अपने आप ही बन में घास के लोभ से दूर निकल गए ॥ १३ ॥

श्लोक—**तान् दृष्ट्वा भयसन्त्रस्तानूचे कृष्णोस्य भीभयम् ।**
मित्राण्याशान् मा विरमतेहानेष्य वत्सकानहम् ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ--उन (बालकों) को भयभीत देखकर, जगत् की मृत्यु जिससे डरती है, उस श्रीकृष्ण ने कहा कि हे मित्रों। भोजन छोड़ कर उठो मत, मैं बछड़ों को यहाँ ले आऊँगा।

सुबोधिनी—ततो बालका भयसन्त्रस्ता जातास्तां स्तथाविधान् दृष्ट्वा कृष्णो भगवानूचे यतोयं निर्भयः, तत्रहेतुरस्य भीभयमिति, अस्य जगतो या भीर्मृत्युस्तस्यापि भयरूपो "भीषास्माद् वातः पवत" इतिश्रुतेः, भगवतो वाक्यमाह मित्राणीति, हे मित्राण्याशाद् भोजनान् मा विरमताहमिहैव वत्सकानानेष्ये ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ--उसके अनन्तर डरे हुए बालकों को देख कर भय रहित भगवान् श्री कृष्ण, (जिनसे कि मृत्यु जिससे सारा जगत् डरता हैं, वह डरती हैं और उनके ही डर से वायु अपना कार्य पूर्ण रीति से करतो है) कहते हैं कि हे मित्रों। भोजन करना बन्द मत करो मैं अभी बछड़ों को ले आऊँगा ॥ १३ ॥

श्लोक---**इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान् ।**
विचिन्वन् भगवान् कृष्णः स पाणिकवलो ययौ ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार कहकर, कौर अभी हाथ में ही था, उसको लिए हुए, भगवान् (कृष्ण) अपने बछड़ों को पर्वतों की गुफाओं कुञ्जों तथा अन्य भयानक स्थलों में ढूढने लगे।

सुबोधिनी—इत्युक्त्वा भगवांस्ततो गत आदौ स्ववत्सकान् विचिन्वन् स पाणिकवलसहित एवाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेषु ययौ, आदौ कियद् दूरे गतस्तत्र वत्सानदृष्ट्वाद्रेः पर्वतस्य गोवर्धनादेर्दरीषु कन्दरासु कुञ्जेषु द्रोणीषु गह्वरेषु भयानकस्थानेषु सर्वत्रैव गतः ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ—यों कहकर भगवान् वहाँ से चले गए पहले अपने बछडों को ढूंढ़ते हुए आगे बढ़े। उस समय आपके हाथ में कौर था, उसका त्याग न कर, हाथ में उसे लिए हुए ही पहाड एवं उनकी गुफाओं में कुञ्ज तथा भयानक स्थलों में सर्वत्र गए।

आभास--ननु निकट एव वत्साः, सम्भवन्ति कथं दूरे गत इत्याशङ्क्य मध्ये ब्रह्मणा वत्सा हृता इत्याह।

आभासार्थ—बछड़े तो समीप ही मिलने चाहिए फिर इतनी दूर क्यों गए ? इसका कारण था कि ब्रह्माजी बछड़ों को चुरा ले गए थे। जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

॥ शुक उवाच ॥

श्लोक——**अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितुर्द्रष्टुं,**
मञ्जुमहित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान् ।
नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात् खेवस्थितो यः पुरा,
दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम् ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ——श्रीशुकदेवजी कहते हैं, हे कुरू कुलदीप ! इस अवसर में वे ब्रह्माजी जो आकाश में स्थित होकर बाल-रूप धारी भगवान् कृष्ण के किए हुए अघासुर का मोक्ष देखकर विस्मित हुए थे । वे पुनः भगवान् का विशेष पराक्रम देखने की इच्छा से यहाँ से बालकों का और वहाँ से बछड़ों का हरण कर अन्य स्थान पर लेजा के उनको छिपा दिया और स्वयं तिरोहित[1] हो गए ।

सुबोधिनी—**अम्भोजन्मजनिरिति, अम्भोजन्म** कमलं तत्र जनिर्जन्म यस्य, नाभिकमल एवोत्पन्नस्तदन्तस्तन्मध्य एवागतः सन् **मायार्भकस्य** मायाबालक **स्येशितुर्भगवतो मंजुमहित्वं दृष्ट्वा**घसायुज्यलक्षणमन्यदपि **द्रष्टुमरण्याद् वत्सान्** पुलिनाद् **वत्सपांश्च नीत्वान्यत्र** स्थापयित्वा, हे **कुरुद्वहे**तिविश्वासार्थं, **स्वयमन्तर्धानं** कृतवान् **नीत्वे**त्युभयत्र सम्बन्धः, ननु किमित्येवं कृतवानित्याशङ्क्याह **यः पुरा ख आकाशेवस्थितः**सन्न**घासुरमोक्षणं दृष्ट्वा परं विस्मयं प्राप्तः**, ननु किमाश्चर्यं भगवतः सकाशान् मुच्यत एवेति तत्राह **प्रभवत** इति, **प्र**कर्षेण **भव**त्यस्माज् जगदिति **प्रभवो** भगवान्, ततस्तस्मादुत्पत्तिरेवोचिता स्वदृष्टान्तेन न तु मुक्तिरिति **विस्मयः**, अन्यथा स्वस्यापि मुक्तिः स्यात ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ—जिन (ब्रह्माजी) का जन्म भगवान् की नाभि रूप कमल से हुआ है, उनने उस समय आकर माया (अपनी इच्छा) से बालक रूप धारण किए हुए भगवान् की सुन्दर महिमा को अघासुर वध से जिसकी सायुज्य मुक्ति हुई थी , उसको आकाश में स्थित होकर देखी थी, जिससे विस्मित हुए थे । फिर भी दूसरी आश्चर्यमय मनोहर लीला के दर्शन की इच्छा से यहाँ (भूमि पर) आए और आकर अरण्य[1] में से बछड़ों को और यमुना तट से ग्वाल-बालकों को लेकर दूसरे स्थान पर रखकर, आप अन्तरध्यान[2] हो गए । राजा को 'कुरूद्वह' विशेषण इस लिये दिया है कि जैसे राजा कुरू स्वयं विश्वास वाले थे वैसे ही आप भी विश्वास रखो । अघासुर की भगवान् द्वारा हुए बध से मुक्ति हुई, इसमें आश्चर्य क्यों करना चाहिए इस शंका के निवारणार्थ श्लोक में 'प्रभवतः' शब्द कहा है । उत्कृष्ट[3] रीति से जगत् का जिससे जन्म होता है उसको 'प्रभव' अर्थात भगवान् कहते हैं । इसलिये उस (भगवान्) से तो उत्पत्ति होनी चाहिऐ जैसे मेरी हुई है, वह न होकर मुक्ति क्यों हुई ? यह देखकर ब्रह्मा को आश्चर्य हुआ कि जो उत्पन्न करने

१—अन्तरध्यान । १—बन । २—छिप गए । ३—उत्तमता से ।

वाला है उसने नाश (मुक्ति) कैसे किया तदि वैसा है तो मेरी भी मुक्ति होनी चाहिऐ ॥ १५ ॥

श्लोक---ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेपि च वत्सपान् ।
उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—जब श्रीकृष्ण बछड़ों को न देख अर्थात् जब बछड़े भगवान् को नहीं मिलने पर व लौट कर जमुना तट पर आए तो वहाँ ग्वालों को भी नहीं देखा तब आप उन दोनों को वन में चारों तरफ ढूँढने लगे।

सुबोधिनी—ततो भगवान् वनादहृष्ट्वैत्य पुलिनेपि वत्सपानहृष्ट्वा प्रायेणैते वत्सपास्वयमपि वत्सानन्वेष्टु गता इत्युभावप्युभयविधानपि वने भगवान् समन्ततो-विचकाय ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—इसके अनन्तर, भगवान् बछड़ों को न देखकर अर्थात् प्राप्त कर बन से लौट कर आए, तो यहाँ तट पर ग्वालों को भी न देख कर समझे कि ये ग्वाले स्वयं बछड़ों को ढूँढने गए हैं। तब भगवान् इन (बछड़ों और ग्वालों) दोनों को वन में चारों तरफ ढूँढने लगे ॥ १६ ॥

श्लोक---क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित् ।
सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ---सर्वज्ञ श्री कृष्ण ने बन में कहीं भी बछड़े और ग्वालों को न देख झट समझ लिया कि यह सब कृत्य ब्रह्मा के हैं।

सुबोधिनी—ततोन्तर्विपिने क्वापि वत्सान् वत्सपांश्चाहृष्ट्वा विचार क्रियमाणे विश्ववित् सर्वज्ञो विधिकृतं सर्वमिति सहसा शीघ्रमेवावजगाम ज्ञातवान् हेत्याश्चर्यम् ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ---उसके पीछे वन के भीतर कहीं भी बछड़ों और ग्वालों को न देख कर विचार किया कि वे कहाँ चले गए ? कृष्ण ने जो विश्व को जानने वाले अर्थात् सर्वज्ञ हैं। उनने झट समझ लिया कि यह कार्य ब्रह्मा का है 'ह' का अर्थ आश्चर्य है इससे यह जताया कि भगवान् को आश्चर्य इसलिये हुआ, कि जो मेरे स्वरूप को जानता है और मुझ से पैदा हुआ है, उसने यह कार्य किया है जो उसको नहीं करना चाहिये था अतः आश्चर्य है ॥ १७ ॥

श्लोक---ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च ।
उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—इसके अनन्तर विश्वकर्त्ता भगवान् कृष्ण, ब्रह्मा को और ग्वालों की माताओं को प्रसन्न करने के लिये आप ही सर्व वत्स और ग्वाल रूप बन गए।

सुबोधिनी—ततो भगवान् ब्रह्मणो मुदं कर्तुं बालकान् नानीतवान्, तथा सति तस्य स्वप्रयासवैयर्थ्यात् खेद एव भवेत्, तूष्णीं गृहगमने तु तन्मातृणां खेदो भवेत्, अत उभयेषां मुदं कर्तुमात्मानमुभयायितं चक्रे यतोयं विश्वकृत्, कोयं प्रयासः ननु तज्जनकानां कालकर्म-स्वभावानामभावात् कथं कृतवानित्याशङ्क्याहेश्वर इति ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—उसके पीछे भगवान् ने विचारा कि जो मैं बछड़ों को ले आऊँगा तो ब्रह्मा, अपने परिश्रम को व्यर्थ समझ दुःख पाएगा अतः ब्रह्मा प्रसन्न हो इसलिए बछड़ों को नहीं ले आए, और बालकों को तथा बछड़ों को घर न ले चलूंगा तो बछड़ों की माताएँ (गौएँ) तथा ग्वालों की माताएँ दुःखीं (खेदयुक्त) होंगी। अतः इन दोनों को प्रसन्न करने के लिए भगवान् ने वत्स और ग्वालों के समान रूप धारण किए क्योंकि आप विश्व को बनाने वाले हैं अतः उनको इस स्वल्प कार्य में कोई परिश्रम नहीं हुआ। बछड़े और बालक जो बनाए उनके काल, कर्म और स्वभाव तो थे नहीं फिर वे कैसे बनाए ? इस शंका को मिटाने के लिए कृष्ण का विशेषण (गुण दिखाने वाला) शब्द 'ईश्वर' दिया है। ईश्वर का अर्थ है कि जिसमें सब प्रकार के कार्य करने, न करने और अन्यथा करने की शक्ति हो। अतः कृष्ण ने काल कर्म और स्वभाव का विचार न कर वे स्वयं बाल और वत्स रूप बन गए। इसलिये वे बाल वत्स लौकिक काल, कर्म और स्वभाव से बने हुए पाँच भौतिक व मायिक नहीं थे ॥ १८ ॥

आभास—इयं सृष्टिरात्मसृष्टिरेव जातेत्याह यावदिति।

आभासार्थ—यह सृष्टि ग्वाल-बाल और बछड़े आत्म-सृष्टि ही थे, अर्थात् भगवान् ही ग्वाल और बछड़े बन गए। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**यावद्वत्सकवत्सपाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं**
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—जितने बालक वत्स जैसे उनके छोटे शरीर जैसे उनके छोटे-छोटे हाथ पाँव आदि अंग, जितने उनके पास सींग, छड़ी, वेणु पत्ते और छींके आदि थे जैसे उनके गहने, कपड़े थे जैसा उनका स्वभाव, गुण, नाम, रूप और अवस्था और जैसे उनके विहारादिक थे, उसी प्रमाण से 'सब जगत् विष्णुमय है' ऐसी जो प्रसिद्ध वाणी है, इसी वाणी के अनुसार, यथार्थ रूप से, सर्व स्वरूप भगवान्, शोभित हुए।

सुबोधिनी—यावन्तो वत्सा वत्सपाश्च सङ्ख्यया तावान् भगवानेव जातोल्पकानि वपूंषि जातः, यावदिति पदार्थानतिवृत्तौ, वत्सकवत्सपाल्पकवपुर्यावत् तावद्रूपो जात इत्यवधारणे वा, कराङ्घ्र्यादिकं यावत् तावदपि जातो यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद् विभूषाम्बरं च यावत् तावदपि जातः, शीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं च यावत् तावद्रूपः सन् बभाविति सम्बन्धः, ननु कथमेवं जातं इत्याशङ्क्याह सर्वस्वरूप इति नन्वेकस्य कथं सर्वभावस्तत्राह "सर्वं विष्णुमयं जग" दित्यत्रवाक्ये "सर्वं विष्णुमय" मितिप्रतीकग्रहणं, "सर्वं विष्णुमय" मित्येवम्रूपा या गीस्तस्या ऋज्ञ्वदर्थवत् 'सर्वं विष्णुमयं जग' दितिवाक्यार्थो यथाश्रुतो यथोपपद्यत आत्मसृष्ट्याधिदैविकसृष्ट्या वा यथैवोपपद्यते तथैवैतदपि जातमिति ज्ञातव्यम् ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ––ग्वाल-बाल और बछड़ों की जितनी संख्या थी उतने ही भगवान् स्वयं हो गए। उनके जैसे छोटे शरीर थे आपने भी वैसे छोटे रूपों को ग्रहण किया था। 'यावत्' शब्द का यही भाव है कि उनमें किसी प्रकार की घटती बढ़ती नहीं की थी। उनके जितने हाथ अंगुलियां आदि थे आप भी वैसे ही और उतने ही बन गए। उनके पास जितनी छड़ियें, सींग, वेणु, पत्ते और छींके थे आप भी उतने ही बन गए जितने और जैसे गहने और कपड़े थे वैसे ही आप हो गए। जैसा उनका स्वभाव, गुण नाम, रूप और अवस्था तथा जैसे विहारादिक थे, उसी प्रमाण बनकर भगवान् शोभित हुए। कृष्ण इस प्रकार कैसे हुए इस शंका के मिटाने के लिए श्लोक में कृष्ण का विशेषण 'सर्व स्वरूप' दिया है अर्थात् सब रूप कृष्ण के हैं। कृष्ण जब चाहें तब वह रूप ग्रहण कर सकते हैं। एक में सर्व के भाव कैसे होंगे उसका उत्तर श्लोक में 'सर्वं विष्णु मयं' पद से दिया है इसका यह तात्पर्य है कि सकल जगत् विष्णु रूप है। इस प्रकार की जो वाणी (वेदवाणी) प्रसिद्ध सुनी जाती है। तदनुसार जैसे आत्म-सृष्टि आधिदैविकी सृष्टि प्रकट होती है उसी प्रकार यह सृष्टि भी हुई है, यों समझना चाहिए ॥ १९ ॥

आभास---एवं सर्वरूपो भूत्वा रूपाणां विनियोगमाह स्वयमिति।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने सर्वरूप बनकर उसका जिस तरह उपयोग किया है उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक---**स्वयमात्मात्मगोवत्सान् परिवार्यात्मवत्सपैः।**
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम् ॥ २० ॥

श्लोकार्थ––आप ही निज रूप ग्वालों से, निजरूप बछड़ों को घेर कर आत्मरूप विहारों से क्रीड़ा करते सर्वात्मा भगवान् व्रज में पधारे।

सुबोधिनी—स्वयमेव भगवानात्मना स्वेनैवात्मरूपान् गोवत्सान् परिवार्यात्मरूपैरेव वत्सपैस्तत्तद्वत्सान् परिवार्य सह वात्मरूपैरेव विहारैः क्रीडन् स्वयमेव धर्मिधर्मभावं प्राप्तः सर्वात्मा व्रजं प्राविशत ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—आप ही भगवान् अपने ही रूपवाले बछड़ों को तथा अपने ही रूप ग्वाल-बालों से उनके बछड़ों को चारों तरफ से घेरकर, उनके साथ आत्म-रूप विहारों से खेलते हुए धर्मी और धर्म-भाव को प्राप्त कर (खिलाड़ी आप, खेल आप और खिलौने आप, होकर) वे सर्वात्मा व्रज में पधारे ॥ २० ॥

श्लोक----**तत्तद्वत्सान् पृथङ् नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य सः ।**
तत्तदात्माभवद् राजंस्तत्तत् सद्म प्रविष्टवान् ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ--हे राजन् ! उन उन बछड़ों को पृथक्-पृथक् लेकर उन उन गोष्ठों[1] में प्रविष्ट कराके वे बाल रूप भगवान् उन घरों में प्रविष्ट हुए ।

सुबोधिनी—ततस्तत्तद्वत्सान् पूर्ववदेव यावता मार्गेण यत्र गम्यते तावद् दूर एव ततस्ततः पृथङ् नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य स्थापयित्वा स एव भगवान् तत्तदात्माभवत् तत्र स्थित्यर्थं तत्तद्भावं प्राप्तवान् बन्धनादिभावं ततो वस्तरूपेण तत्तत् सद्म गृहं तेनतेन प्रकारेण प्रविष्टवान् ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—उसके पीछे उन उन बछड़ों को पहले की तरह ही, जिस राह से जो जहाँ जाते थे उतनी दूर ही जाकर वहाँ वहाँ से अलग-अलग उनको लाकर व्रज को ले चले । व्रज में आकर अपने-अपने गोष्ठों में उनको स्थापित किए, वे ही वहाँ स्थित होने के लिए भगवान् वत्स और बाल-रूप हुए थे अतः बन्धनादिभाव को प्राप्त होने के लिए गोष्ठों में एवं निवासादिक करने के लिए गृहों में प्रविष्ट[2] हुए ॥ २१ ॥

आभास—एवं तेषां कार्यमुक्त्वा गोपिकानां पूर्ववदेव तेषु वृत्तिमाह तन्मातर इतिद्वाभ्यां ।

आभासार्थ--इस प्रकार उनके कार्य का वर्णन कर निम्न दो श्लोकों में कहते हैं कि गोपियाँ का उनमें पहले की तरह ही प्रेम था ।

श्लोक--**तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्वृताः ।**
स्नेहस्नुतस्तन्यपयःसुधासवं मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन् ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ--मुरली का शब्द सुनते ही त्वरा[3] से उठी, उनकी माताओं ने उनको (बालरूप परब्रह्म को) अपने पुत्र समझ अपने हाथों से उठाकर अलिङ्गन कर अत्यन्त

१—गायों के बाड़े या गौशालाओं । २—घुसे, प्रवेश हुए । ३—जल्दी ।

प्रसन्न तथा आनन्दमय हो गईं, उस आनन्द स्नेह के कारण टपकते हुए अपने स्तन्य को, जो अमृत के समान मधुर और आसव[1] के समान मादक[2] था वह पिलाने लगीं।

सुबोधिनी—वेणुरवे श्रुते त्वरयोत्थिता जाताः, उपविष्टानपि बालकान् दोर्भिरुत्थाप्य परिरभ्य निर्वृता जाता देहस्वभावोपि तदधिष्ठातृकृतस्तथैव जात इत्यत्यन्तस्नेहेन स्नुतं तनूद्भवं यत् पयस्तदेव सुधारूपमासवं मादकं च जातं तादृशं पयः परं ब्रह्म सुतान् मत्वापाययन्, वस्तुतस्त्वेते मुक्तस्तना भवन्ति ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ—वेणु की ध्वनि सुनते ही माताएँ वेग से उठ खड़ी हो गईं बैठे हुए बालकों को भी हाथों से उठाकर आलिंगन किया जिससे आनन्द मग्न हो गई। देह का स्वभाव भी वैसा हो गया, जैसा देह के अधिष्ठाता ने बनाया था। इस प्रकार अत्यन्त स्नेह से जो शरीर (स्तन) से उत्पन्न पय[3] टपकने लगा था, वह अमृत रूप और मादक हो गया। वैसा पय परब्रह्म को पुत्र समझ कर पिलाने लगीं। वास्तविक रीति से देखा जाय तो बालक तो बड़े थे उन्होंने माता का स्तन्यपान तो छोड़ दिया था* ॥ २२ ॥

आभास—ततो बहिरपि सेवां कृतवत्य इत्याह।

आभासार्थ—अनन्तर माताओं ने बाहिर की भी सेवा की, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में है।

श्लोक—**ततो नृपोन्मर्दनमज्जलेपनालङ्काररक्षातिलकाशनादिभिः ।**
संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन् सायं गतो यामयमेन माधवः ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ—हे नृप! माधव भगवान् काल को अपने नियम में रखकर शामको घर पधारते तब अपने चरित्रों से आनन्द देते हुए भगवान् का माताओं ने मर्दन[4] स्नान लेपन, अलङ्कार रक्षा तिलक और भोजन आदि से लालन किया।

सुबोधिनी—हे नृप, प्रथममुन्मर्दनं तैलपिष्टेनोद्वर्तनं, ततो मज्जो मज्जनं, स्नानमित्यावत्, ततो लेपनं गन्धादिना, ततोलङ्काराः, ततो रक्षा, ततस्तिलकादि, ततोशनं भोजनं, ततो वार्तासुखशयनादि, तैः सर्वैरेव संलालितः सन् स्वाचरितैर्यथापूर्वं बालका आचरन्ति तादृशचरित्रैः प्रकर्षेण हर्षयन्न् जातः, नन्वेतावता भूयान् कालो लगति तत् संसारव्यापृतानां प्रत्यहं कथं सम्भवतीत्याशङ्क्याह सायं गत इति, सायङ्कालेपि गतस्तावद्भावं प्राप्नोति,

* इससे वात्सल्यभाव की पराकाष्ठा (सब से ऊँची हद) दिखाई गई—अनुवादक।

१—मदिरा, मद्य। २—मस्ती लाने वाला। ३—दूध। ४—मालिश।

तत्रहेतुर्यामयमेनेति यामस्य कालस्य प्रहरात्मकस्य यमेन नियमेन, यावतैतावान् कालो भवति तावत् सूर्यगतिः कुण्ठिता भवतीत्यर्थः, कथमेवमत आह माधव इति, लक्ष्मीपतिरयमतः सर्वसम्पत्तिः, कालस्य च नियन्तातो न कालकृतानुपपत्तिरिति ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ—प्रथम माताओं ने बालकों का तेल से मिले हुए पिष्ट[1] द्रव्यों[2] से मर्दन किया अनन्तर स्नान, गंध आदि पदार्थों से लेपन आभूषण पहना कर अलंकृत किया एवं रक्षा और तिलक किए अन्त में भोजन कराके कहानियाँ कहते हुए शयनादि कराया। उन सब से माताओं द्वारा लालन किए हुए बालक पूर्व के समान चरित्रों से विशेष हर्ष देने लगे। ये कार्य प्रतिदिन कार्य में व्यावृत होने से प्रातःकाल में नहीं कर सकती थीं अतः सायंकाल में बन से लौटते थे तब होता था यहाँ शँका होती है कि शामको लौटने के पीछे इस प्रकार लालनादि करने में तो समय बहुत लगेगा सूर्य तो अस्त हुआ होगा रात्रि हो जाती होगी। इसके प्रत्युत्तर में श्लोक में 'याम यमेन' शब्द दिया है जिसका भावार्थ है काल को नियम में रखकर (अपने आधीन कर) शाम को आते थे। क्योंकि वे जानते थे कि माताओं को इतना कार्य करना है। इसलिये सूर्य की गति (चलना) रुक जाती थी। जब माताएँ यह कार्य कर लेती थीं तब सूर्य अस्त हो जाता था। इस प्रकार कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में भगवान् का विशेषण 'माधव' दिया है जिसका भाव यह है कि कृष्ण, लक्ष्मी (सर्व सम्पत्ति) का पति है। और काल का भी नियामक है। अतः काल के द्वारा उसके कार्य में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध[3] नहीं हो सकता है ॥ २३ ॥

आभास—एवं मातॄणां बालेषु वृत्तिमुक्त्वा गवां वत्सेषु वृत्तिमाह गाव इति।

आभासार्थ—इस प्रकार माताओं की वृत्ति का वर्णन कर अब गौओं के वत्सों के प्रति, वृत्ति का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं हुङ्कारघोषैः परिहूतसंगतान्।**
स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययन् मुहुर्लिहन्त्यन्: स्रवदौधसं पयः ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ—तत्पश्चात् गौ शीघ्र गोष्ठ में आकर, हुँकार शब्दों से बछड़ों को बुलाने लगीं, जब वे पास आ गए तब अपने अपने बछड़ों को चाटती हुई थनों में से स्रवित[4] दूध पिलाने लगीं।

सुबोधिनी—ततो वत्सप्रीत्यनन्तरं गावोपि गोष्ठमुपेत्य सत्वरं त्वरया हुङ्कारघोषैः स्वकृतैर्हुङ्कारशब्दैः परिहूता आहूताश्च ते संगताश्च, ततस्तादृशान् स्वकान् स्वकान् वत्सतरान् स्थूलवत्सानप्यपाययन् स्नेहान्

१—पिसे हुए। २—चीजों से। ३—रुकावट। ४—झरता हुआ।

मुहुर्लिहन्त्यः न चाग्रे दोहः कथं भविष्यतीत्याशङ्कनीयं, यतः स्नवदेवौधसमोधः सम्बन्धि पयो न त्वन्तःस्थितम् ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ––गौओं ने जो अपने अपने बछड़ों को देखा तो उनके अन्तःकरण में भी बछड़ों के लिए वात्सल्य प्रेम उत्पन्न हुआ। प्रेम उत्पन्न होने के अनन्तर वे भी शीघ्र गोष्ठ में आ गई और अपने हुँकारो की ध्वनियों से बछड़ों को बुलाने लगीं वे आकर मिले। फिर मिले! हुए उन अपने स्थूल अपने बछड़ों को स्नेह से बार-बार चाटती हुई पिलाने लगीं। यदि बछड़ों को दूध पिला दिया तो दोहन क्रिया पीछे कैसे होगी ? यह शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जो दूध बछड़ों को पिलाने लगीं वह दूध स्नेह के कारण थनों से जो टपक रहा था वह पिलाया न कि जो भीतर थनों में दूध था वह तो भीतर ही पड़ा था। जिससे दोहन क्रिया बिना संकोच हो सकती थी ॥ २४ ॥

आभास––एवमुभयविधानां पूर्ववत् स्थितिमुक्त्वा विशेषमाहगो गोपीनामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार वत्स और बालकों की पहले जैसी स्थिति कही अब इस श्लोक में विशेष स्थिति का वर्णन करते हैं।

श्लोक––**गोगोपीनां मातृतास्मिन् सर्वाः स्नेहर्द्धिकां विना ।**
पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ––गौ और गोपियों का भातृभाव तो इसमें पहले जैसा ही रहा, किन्तु अब आगे से प्रेम विशेष होने लगा। गौ और गोपियों में भगवान् का बाल (पुत्र) भाव तो वैसा ही रहा किन्तु इस समय भगवान् का बाल-भाव रूप धर्म, माया से प्रकट किया हुआ है। माया को छोड़कर तो स्वरूप से बाल-भाव तो पूर्व के समान ही है।

सुबोधिनी—गवां **गोपीनां** च **मातृता** मातृभावः सेवादिरूपः **सर्वोप्यस्मिन्** नूतन पुत्रेपि पूर्ववदेवासीत्, परं स्नेहर्द्धिकां विना स्नेहर्द्धिस्त्वधिका जाता, **आस्वपि** गोगोपीषु **हरेस्तोकतां** पूर्ववदेवासीत्, स्तोकेषु यादृशो भावः सा स्तोकता मातृविषयिणी स्तोकनिष्ठा हरेरप्यासीद यथा पूर्वं, स्तोकानां परमिदानीं भगवति स धर्मो मायया जातः, अतो **मायया विना** मायां परित्यज्य स्वरूपतः पूर्ववदेवासीदित्यर्थः ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ—गौओं का तथा गोपियों का सेवा आदि करने का सर्व मातृ-भाव तो इस नए पुत्र में पूर्व के समान ही था। किन्तु अब स्नेह विशेष उत्पन्न हुआ है। हरि अपने को गोपियों का मैं बालक हूँ यह पूर्व के समान समझते थे। किन्तु यह धर्म इस समय भगवान् ने अपने में माया से उत्पन्न किया है अर्थात् माया के बिना अर्थात् माया का त्याग करने पर स्वरूपतः वास्तविक रीति से बाल-भाव पूर्व की तरह ही है ॥ २५ ॥

आभास––एवमारम्भ एव स्नेहाधिक्यमुक्त्वा तस्य वृद्धिमाह व्रजोकसामिति ।

आभासार्थ--इस प्रकार आरम्भ में स्नेह की अधिकता होना कह कर अब इस श्लोक में स्नेह की वृद्धि बताते हैं।

श्लोक—**व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम् ।**
शनैर्नि:सीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत् ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ---ब्रजवासियों का पहले यशोदानन्दन श्रीकृष्ण में अपने पुत्रों से भी अधिक जैसा असीम प्रेम था वैसा स्नेह इस समय एक वर्ष पर्यन्त अपने पुत्रों में बढ़ा।

सुबोधिनी—**स्वतोकेषु** स्वस्वबालकेषु **स्नेहवल्ली** शीघ्रमेव वर्धमानान्वहं **ववृधे, शनैरिति** वैलक्षण्याज्ञानार्थ, ततो **नि:सीम ववृधे, यथा कृष्णे** तु पूर्ववत्, **कृष्णे त्व-पूर्ववदेव, कृष्णशब्दः** सप्तम्यन्तो वारद्वयमावर्तते ॥२६॥

व्याख्यार्थ--अपने-अपने पुत्रों में स्नेह रूप बेल शीघ्र ही प्रति दिन धीरे-धीरे बढ़ने लगी। धीरे-धीरे कहने का आशय यह है कि वह बढ़ते हुए प्रेम की विलक्षणता कोई समझ न सके। प्रेम बिना सीमा के बढ़ता ही गया। जैसे कृष्ण में पहले नि:सीम प्रेम नित्य बढ़ता ही जाता था। वैसे ही इन अपने-अपने पुत्रों में स्नेह बढ़ने लगा ॥ २६ ॥

आभास----एवं भगवच्चरित्रं नूतनमुक्त्वोपसंहरतीत्थमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का नवीन चरित्र वर्णन कर निम्न श्लोक में उस चरित्र की कथा का उपसंहार करते हैं।

श्लोक---**इत्थमात्मात्मनात्मानं वत्सपालमिषेण सः ।**
पालयन् वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ---इस प्रकार श्रीकृष्ण वत्स पालक (ग्वाला) होकर, वत्स और पालक के बहाने से अपने ही स्वरूप को आप ही पालन करते हुए एक वर्ष पर्यन्त वन और गोष्ठों में खेलने लगे।

सुबोधिनी—**आत्मा कृष्ण आत्मना** वत्सरूपेणात्मानं वत्सरूपं वस्तुतः स्वयमेव **वत्सः पाल** इतिमिषमात्रं व्याजमात्रं, तेन **स** एव **वत्सपो** भूत्वात्मानं **पालयन् वनगोष्ठयोर्वने गोष्ठे च चिक्रीडे** क्रीडां कृतवान् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में एक ही आत्मन् शब्द तीन विभक्तियों आत्मा, आत्मना और आत्मानं में आया है। उनका अर्थ बताते हैं कि 'आत्मा' श्रीकृष्ण, 'आत्मना' वत्सरूप से 'आत्मानं' वत्स रूप को अर्थात् वास्तविक रीति से वत्स रूप (बछड़े का रूप) और ग्वाल रूप भी आप आत्मा

(श्रीकृष्ण) ही बने थे। ये सब रूप दिखावे मात्र के थे इसकहने का आशय यह है कि आप श्रीकृष्ण ही ग्वाले बनकर अपने ही रूप वत्सों (बछड़ों) का पालन करते हुए बन और गोष्ठ में क्रीड़ा करने लगे ॥ २७ ॥

आभास----इदानीं गोकुलवासिनां सर्वेषां मध्ये बलभद्रस्य भगवत एवंलीलया ज्ञानं जातमिति वक्तुमुपाख्यान मारभत एकदेति।

आभासार्थ—श्रीकृष्ण ने ग्वाल और वत्सों का रूप धारण किया है इसका ज्ञान अब तक बलरामजी को भी नहीं था अतः उनको जताने के लिये निम्न श्लोक से उपाख्यान[1] प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक—**एकदा चारयन् वत्सान् सरामो वनमाविशत्।**
पञ्चषासु त्रियामासु हायनापूरणीष्वजः ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ- --एक वर्ष पूर्ण होने में शेष पाँच छ रात्रि थी, तब श्रीकृष्ण, बलरामजी को साथ में लेकर बछड़ों को चराने के लिए बन में पधारे।

सबोधिनी—यदा भगवत इच्छा, वत्सान् पालयन् बलभद्रसहितो वनमाशित् यत्र गह्वरे बने गावश्चरन्ति तत्र गतः पञ्चषासु रात्रिषु हायनापूरणीषु सत्सु वत्सापहरणे वर्षमात्रं जातं पञ्च वा षड् वा रात्रयो न्यूनाः, त्रियामा इत्यल्पत्वं, अज इति वत्सपालरूपेण तन्मातृभ्यो न जातः केवलं स्वयमेव तथा वर्तत इतिज्ञापनार्थमुक्तम् ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ—किसी समय जब भगवान् की इच्छा हुई तब बलरामजी को साथ ले बछड़ों को चराने जहाँ घना जंगल था, जहाँ गौऐं घास चरती थीं वहाँ बन में पधारे। ब्रह्मा बाल और बछड़ों को ले गया और आप बाल वत्स रूप बन गए इस लीला को पाँच छः रात्रि कम एक वर्ष पूर्ण होने आया था। श्लोक में 'त्रियामा' पद का भाव यह है कि तीन प्रहर कहने से रात्रियाँ छोटी थीं यह बताया है। श्लोक में 'अज' पद का भाव यह है कि इस समय बछड़ों की रक्षा करने वाले ग्वाले माता के गर्भ से उत्पन्न ग्वाले नहीं हैं किन्तु 'अज' हैं अर्थात् जिनका जन्म नहीं केवल वह आप भगवान् ही ग्वाल रूप हैं ॥ २८ ॥

टिप्पणी—व्याख्या में कृष्ण शब्द दो बार लिया गया है जिसका आशय है कि एक स्वयं कृष्ण और अब सर्व बाल भी कृष्ण के रूप थे। अतः बालक कृष्ण रूप होने से उनमें भी व्रजवासियों का निःसीम प्रेम प्रतिदिन वर्ष पर्यन्त बढ़ा।—अनुवादक।

१—इतिहास, कहानी, कथन।

आभास---ततो यदासीत् तदाह ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर जो कुछ हुआ वह इस श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सानुपव्रजम् ।**
गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो ददृशुस्तृणम् ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ—गोवर्धन पर्वत के शिखर पर घास चरती हुई गौओं ने दूर से ब्रज के समीप चरते हुए अपने बछड़ों को देखा ।

सुबोधिनी—विशेषेण दूराद् दूरे **चरतो वत्सानुपव्रजं** व्रजसमीप एव स्थितान् व्रजसमीपारण्ये स्थितानित्यर्थः, **गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो गावो ददृशुः** ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ—गौओं ने दूर दूर चरते हुए बछड़ों को व्रज के समीप वाले अरण्य[1] में स्थित देखा । उस समय स्वयं गौ गोवर्धन पर्वत के शिखर पर घास चर रही थीं ॥ २९ ॥

आभास ---यद्यपि गवा तृणमत्यभीष्टं तथापि तत् परित्यज्य वत्सस्नेहाद् वत्ससमीपमागता इत्याह दृष्टवेति ।

आभासार्थ—यद्यपि गौओं को घास अत्यन्त प्रिय था तो भी उसको छोड़कर बछड़ों के स्नेहवश हो बछड़ों के पास आई इस श्लोक में उसका वर्णन है ।

श्लोक—**दृष्ट्वाथ तत्स्नेहवशोऽस्मृतात्मा स गोव्रजोत्यात्मपदुर्गमार्गः ।**
द्विपात् ककुद्ग्रीव उदास्यपुच्छोगाद्धुङ्कृतैरास्रुपया जवेन ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ--देखते ही सबकी सब उनके स्नेहवश हो, अपनी देह की सुध भूल गई । उनके थनों में से दूध टपकने लगा । ग्वाल और विषम मार्ग का रंचक भी ध्यान न रख कर, ऐसी दौड़ी कि मानो दो ही पावों से चल रही हों और उनकी गर्दनें डील से मिल गई थीं सिर और पूँछ को ऊँचा कर (उठा कर) बडे वेग से हुंकार शब्द करती हुई अपन अपने बछड़ों के पास आन पहुँची ।

सुबोधिनी—पूर्वमपि पश्यन्ति कदाचित् तद्व्यावृत्त्यर्थं भिन्नप्रक्रममाहाथेति, तत्स्नेहेन वत्सस्नेहेन वशीकृतस्तस्नेहवशोत एवास्मृत आत्मा देहो येन स प्रसिद्धोपि गोव्रजः सर्वा एव गावोत्यात्मपदुर्गमार्गो जातः, अतिक्रान्ता

१—बन जंगल ।

अात्मपा गोपाला दुर्गश्च मार्गो येन, रक्षकानतिक्रम्य कण्टकादिभूयिष्ठमपि प्रदेशं मार्गव्यतिरेकेणैवाऽतिक्रम्यागत इत्यर्थः किञ्च द्विपाज् जातो योजितपादद्वयेनैवोत्प्लवनेनैव धावति, ककुदि, ग्रीवा यस्य, उद्ध्वंमास्ये पुच्छं यस्यैतादृशः सन्नगाद् वत्ससमीपे समागतो हुङ्कृतैः सह, अ समन्तात् स्रवतीत्यास्रु, आस्रु पयो यस्य स आस्रुपया जवेनागतः ।।३०।।

व्याख्यार्थ—श्लोक में कहे हुए 'अथ' शब्द का भाव बताते हैं कि गौएं अपने बछड़ों को पहले भी देखती थीं किन्तु अब का देखना अन्य प्रकार का है इसलिये 'अथ' शब्द 'आरम्भ में' के अर्थ में दिया गया है। अर्थात् इस प्रकार देखने से नया विशेष प्रेम उत्पन्न होने से गौओं ने विशेष प्रकार की क्रिया की जैसे कि अबकी बार देखते ही उनमें ऐसा प्रेम उत्पन्न हुआ जो उनके वश में हो गईं, जिससे अपने देहादि को भी भूल गईं। सब गौओं ने अपने पालक गोपों का तथा कांटे वाले मार्ग और कठिन मार्ग का भी ध्यान नहीं किया और शीघ्र ही उनका अतिक्रमण करती हुईं दो पैरों से उछलती कूदती दौड़ती हुई जा रही थीं। उस समय उनकी ग्रीवाएँ हुट्टों में मिली हुई सी दीखने में आती थीं तथा उनकी पूछें लम्बी और ऊंची हो रही थीं, इसी तरह जाते समय हुङ्कार करती हुई, और अपने थनों से दूध को टपकाती हुई बछड़ों के पास आ गईं ।। ३० ।।

श्लोक---**समेत्य गावोधोवत्सान् वत्सवत्योप्यपाययन् ।**
गिलन्त्य इव चाङ्गानि लिहन्त्यः स्वौधसं पयः ।। ३१ ।।

श्लोकार्थ----बछड़ों वाली इन गौओं ने गोवर्धन से नीचे आकर जिन बछड़ों ने दूध पीना भी छोड़ दिया था उनके अंगो को इस तरह चाटती हुई, मानों उनको निगल जाएगी (पेट में ही रख लेंगी) उनको दूध पिलाने लगी।

सुबोधिनी—ततः समेत्य वत्सवत्योप्यधोवत्सांस्त्यक्तवत्सानप्यपाययन्, तत्राप्यङ्गानि गिलन्त्य इव लिहन्त्यः स्नेहमुद्गिरन्त्यस्तथा कुर्वन्ति, नात्र तासां कश्चन दोषो यतः स्वौधसं स्वस्यैवौधसि स्थितं पयः ।। ३१ ।।

व्याख्यार्थ—अनन्तर नीचे आकर बछड़ों से मिलीं यद्यपि उन्होंने दूध पीना छोड़ भी दिया था और गौओं के दूसरे छोटे बछड़े भी थे तो भी उनको दूध पिलाने लगीं दूध पिलाते समय स्नेह प्रकट करती हुईं बछड़ों को इस प्रकार चाटती थीं मानो उनको निगल रही हैं। ऐसा करने में इनका कोई दोष नहीं था क्योंकि जो दूध इनके थनों में भरा हुआ था वह पिलाया ।। ३१ ।।

आभास––एवं गवां स्नेहाधिक्यमुक्त्वा गोपानां स्नेहाधिक्यमाह गोपा इति ।

आभासार्थ---इस प्रकार गौओं के स्नेह की अधिकता का वर्णन कर अब निम्न तीन श्लोकों से बालकों पर गोपों के प्रेम की विशेषता का वर्णन करते हैं।

श्लोक----गोपास्तद्रोधनायासमौढ्यलज्जोरुमन्युना ।
दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽभ्येत्य गोवत्सैर्ददृशुः सुतान ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ----धेनुओं के रोकने का प्रयास व्यर्थ होने से गोप पहले 'किंकर्त्तव्यमूढ़' (क्या करना चाहिये इसका निर्णय नहीं कर सके) हो गए और लज्जित हुए जिससे क्रोध से भरे हुए ग्वाल विषम मार्ग में क्लेश पाकर भी नीचे आए वहाँ गौओं के बछड़ों के साथ अपने पुत्रों को भी देखा ।

सुबोधिनी—प्रथमत तस्य गोव्रजस्य रोधनार्थ योयमायासस्तस्मिन् विफले जाते यन् मौढ्यमितिकर्तव्यताज्ञानाभावो जातस्तस्मिन्न् जाते पश्चाल्लज्जा जाता, एवं दोषत्रयेणोरुमन्युर्जातः, तेन मन्युनाविचारितक्लेशा एव दुर्गाध्वनि यः कृच्छ्रः क्लेशस्ततोपि समेत्य क्लेशं प्राप्यापि मिलित्वा गौवत्सैः सह मिलितान् सुतान् ददृशुः ॥३२॥

व्याख्यार्थ--पहले गोप, गौओं को रोकने का प्रयास निष्फल होने से, 'किंकर्त्तव्यमूढ़' बने जिससे लज्जित हुए । निष्फलता मूढ़ता और लज्जित होना इन तीन प्रकार के दोषों से गोप बहुत क्रुद्ध हुए । उस क्रोध के कारण, पर्वतीय मार्ग के क्लेश की चिन्ता न कर उनको सहन कर भी जहां नीचे गौएँ थीं वहां आकर बछड़ों के साथ मिले हुए अपने पुत्रों को देखा ॥ ३२ ॥

आभास----क्लेशः कोपो लज्जा मौढ्यमायासश्चेतिपञ्चदोषयुता अपि वस्तुनाशमपि दृष्ट्वा पश्चात् पुत्रदर्शने सर्व विस्मृतवन्त इत्याह तद्वीक्षेति ।

आभासार्थ----दुःख, क्रोध, लज्जा, मूढता और परिश्रम इन पांच दोष वाले भी हुए तथा वस्तु (दूध) का नाश* भी देखा किन्तु अनन्तर पुत्रों के दर्शन से ये सब दुःखादि एवं वस्तु नाश को भूल गए इसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--तद्वीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया जातानुरागा गतमन्यवोर्भकान ।
उदूह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्ध्नि घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ--उनको देखते ही, वे गोप प्रेम रस से भरे अन्तःकरण वाले हो गए और अनुराग विशेष होने से उनका क्रोध शान्त हो गया; अतः अपने पुत्रों को हाथों से उठाकर छाती से लगाया तथा उनके मस्तक सूंघने से परमानन्द को प्राप्त हुए ।

---

* गौओं ने दूध बछड़ों को पिला दिया था ।

सुबोधिनी—तेषां पुत्राणां वीक्षणेन यत् प्रेम जातं तस्य रसेनाप्लुताशया व्याप्तान्तःकरणाः प्रथमतोपि जातानुरागा अतो गतमन्यवो जाताः, ततोर्भकान् बालकानुदुह्योर्ध्वमुत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य, बहुवचनं समुदायाभिप्रायं, मूर्ध्नि आघ्राणैराघ्राणनैः कृत्वा ते परमां मुदमवापुः ।। ३३ ।।

व्याख्यार्थ--गोपों के अपने पुत्रों को देखने से जो प्रेम उत्पन्न हुआ उसके रस से उनके अन्तःकरण भर गए पहिले से ही अनुराग होने से अब क्रोध रहित हो गए तब अपने बालकों को हाथों से ऊँचा उठाकर छाती से लगा कर उनके मस्तकों को सूंघकर परमानन्द को प्राप्त हुए ।। ३३ ।।

आभास--ततो निर्गमनेप्यशक्ता जाता इत्याह तत इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रेम मग्न होने के कारण वहाँ से जाने की भी इच्छा शक्ति गोपों में न हुई यह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक--**ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः ।**
कृच्छ्राच्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः ।। ३४ ।।

श्लोकार्थ—अनन्तर बालकों के आलिङ्गन से परम आल्हादित बड़े गोप धीरे-धीरे अत्यन्त कठिनता (दुःख) से वहाँ से (उन बालकों के पास से) गए किन्तु उन (बालकों के) स्मरण से उनके आँखों में आँसू भर आए थे ।

सुबोधिनी— प्रवयसो वृद्धा अपि गोपास्तोकानां बालानामाश्लेषेण सुष्ठु निर्वृता जाताः कृच्छ्रादेव शनैस्ततोपगतास्तेषां बालकानामनुस्मृत्योदश्रवोपि जाताः ।। ३४ ।।

व्याख्यार्थ—बूढे गोप भी बच्चों के आलिङ्गन करने से अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुए । दुःख से ही धीरे-धीरे वहां से रवाना होने लगे । बालकों की स्मृति से उनके नैत्र जल से पूर्ण हो गए ।। ३४ ।।

आभास—एवं दृष्ट्वा रामस्य शङ्का जातेत्याह व्रजस्येति ।

आभासार्थ—यह प्रकार (नमूना) देखकर बलदेवजी को शङ्का हुई उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--**व्रजस्य रामः प्रेमर्द्धेर्वीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम् ।**
मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वप्यहेतुविदचिन्तयत् ।। ३५ ।।

श्लोकार्थ--जिनने स्तन से दूध पीना छोड़ दिया है ऐसे बच्चों पर भी क्षण क्षण में होती व्रज के प्रेम की वृद्धि देखकर, उसके कारण को न जानने से बलरामजी विचार में पड़ गए ।

सुबोधिनी— व्रजस्य प्रेमर्द्धि दृष्ट्वा मुक्तस्तनेष्व-प्यपत्येष्वौत्कण्ठ्यमनुक्षणं लालसतां दृष्ट्वाहेतुवित् सन् हेतुमज्ञात्वाचिन्तयत् ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ—व्रज की अर्थात् व्रजवासी गोप गौ आदि की, प्रेम की वृद्धि देख कर, जिनने स्तन से दूध पीना छोड़ दिया है, उन बच्चों को भी प्रति क्षण दूध पिलाने की लालसा देख इसका कारण न समझ बलरामजी विचार में पड़ गए ॥ ३५ ॥

आभास--चिन्तामाह किमेतदिति ।

आभासार्थ--निम्न श्लोक में बलदेवजी के विचार का वर्णन करते हैं ।

श्लोक--**किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेखिलात्मनि ।**
व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ--सब की आत्मा भगवान् वासुदेव के स्थित होते हुए भी यह अपूर्व प्रेम मेरे सहित व्रज का बालकों में बढ़ रहा है, यह अचम्भे के समान क्या है ।

सुबोधिनी—एतद् गवां गोपानां च स्वतोकेषु भावलक्षणं किमेतद् यल्लोकयुक्तिप्रमाणैर्विरुध्यते ? अत एवाद्भुतं भवितुमर्हति, तदपि न भवति, वासुदेवे-खिलात्मनि सति किं भगवत्सान्निध्यादेवाहोस्विन् निमित्तान्तरमस्तीतिसन्देहः, व्रजस्य सात्मन इति, स्वसहितस्य सर्वस्यैव व्रजस्य स्तोकेषु बालकेष्वपूर्वमभूतपूर्वं प्रेम वर्धत इति यदेतदद्भुतमिवेतिसम्बन्धः ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ--गौओं और गोपों का अपने सन्तति पर इस प्रकार का भाव होना, क्या यह लोक, युक्ति और प्रमाण से विरुद्ध है ? इस कारण से ही यह अद्भुत होना चाहिये । वह भी नहीं हो सकता है सब की आत्मा भगवान् वासुदेव के सान्निध्य से इन बालकों में यह प्रेम बढ़ रहा है वा कोई दूसरा कारण है ? यह सन्देह है । केवल व्रज का हो सो नहीं, किन्तु मेरा भी इन बालकों में जो आगे कभी नहीं हुआ वैसा प्रेम बढ़ रहा है । इससे यह जो कुछ हो रहा है अद्भुत जैसा, यह सम्बन्ध है ॥ ३६ ॥

आभास--तर्हि काचिन् माया भविष्यतीत्याशंक्याह केयंवेति ।

आभासार्थ--निम्न श्लोक में विचार करते हैं कि यह कोई माया होगी ।

श्लोक----केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी ।
प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेपि विमोहिनी ।। ३७ ।।

श्लोकार्थ--क्या यह माया देवताओं की है ? या मनुष्यों की है ? अथवा दैत्यों की है ? यह माया कैसी है ? कहाँ से आई है ? दूसरों की तो नहीं हो सकती है, क्योंकि इसमें मैं भी मोहित हो गया हूँ इसलिए बहुधा यह माया मेरे स्वामी की ही होनी चाहिए ।

सुबोधिनी—इयं वेति, इयं का वा माया ? कुतो वायाता ? तत्र स्वरूपे सम्बन्धिभेदेन भेदान् निर्दिशति, दैवी देवसम्बन्धिनी नारी नरसम्बन्धिन्यासुर्यसुरसम्बधिनी वा ? एते पूर्वपक्षाः, प्रायेण मम भर्तुरेव मायास्तु, सिद्धान्तोयं भविष्यति, तत्र हेतुर्यतो मे ममापि विमोहिनी, अतो नान्या ।। ३७ ।।

व्याख्यार्थ—यह कौनसी माया है ? कहाँ से आई है । माया के स्वरूप वर्णन करते हुए सम्बन्धियों के भेद से उसके स्वरूप के भेदों को कहते हैं कि, यह माया देवों से सम्बन्ध वाली दैवी माया है ? वा मनुष्यों से सम्बन्ध वाली मानवीय माया है । अथवा आसुरों से सम्बन्ध वाली आसुरी माया है । ये तीन भेद पूर्व पक्ष से (शङ्का से) कहे हैं । अब इसके उत्तर पक्ष में कहते हैं कि मैं समझता हूँ कि यह माया उपरोक्त सम्बन्घ वाली माया नहीं हैं किन्तु प्रायः मेरे स्वामी की यह माया होनी चाहिये क्योंकि यह माया मेरे अन्तःकरण में भी मोह उत्पन्न कर रही है, मेरे स्वामी की माया के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की माया मुझे मोहित नहीं करती हैं अतः निश्चित है कि यह माया मेरे स्वामी की है ।। ३७ ।।

श्लोक----इति सञ्चिन्त्य दाशार्हो वत्सान् सवयसानपि ।
सर्वानचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः ।। ३८ ।।

श्लोकार्थ--इस तरह सोच विचार कर बलरामजी ने ज्ञान-दृष्टि से देखा तो सब बछड़े और अपने मित्र गोप-बालक उनको श्रीकृष्ण रूप से दर्शन देने लगे ।

सुबोधिनी—एवं सञ्चिन्त्य दाशार्हो बलभद्रो निदिध्यासनेन वत्सान् वयस्यसहितान् सर्वानपि स्वव्यतिरिक्तान् वैकुण्ठमचष्ट, अयं सर्वोपि गणः केवलं भगवानिति, तत्र प्रमाणं वयुनेन चक्षुषा ।। ३८ ।।

व्याख्यार्थ--इस प्रकार विचार कर बलराम जीनिदिध्यासन (पूर्ण विचार) से अपने अतिरिक्त सकल वयस्य (मित्रों) तथा बछड़ों को श्रीकृष्ण रूप देखा अर्थात सब रूप श्रीकृष्ण के हैं ऐसा निश्चय से जाना कि ये सब रूप श्रीकृष्ण के हैं ।। ३८ ।।

आभास--एवं दृष्ट्वा सन्दिहानो भगवन्तं पृच्छति नैते सुरेशा इति ।

आभासार्थ—जब इस प्रकार देखा तब मन में कुछ संशय हुआ उस संशय निवारण के लिए निम्न श्लोक में भगवान् से पूछने लगे ।

श्लोक—**नैते सुरेशा ऋषयो न वैते त्वमेव भासीश भिदाश्रयेपि ।**
सर्वं पृथक्त्वं निगमात् कथं वदेत्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोवैत् ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ—बलरामजी ने जब इस प्रकार देखा तब भगवान् से पूछने लगे, हे ईश ! ये (बालक) इन्द्र नहीं हैं, और ये बछड़े ऋषि नहीं हैं । आश्रय पृथक् पृथक् होने पर भी ये सब आप (आपके रूप) ही हैं अतः जो कुछ है वह स्पष्ट वेद से बताइये । भगवान् के बताने पर बलरामजी ने सब समझा ।

सुबोधिनी —हे भगवन् पूर्वमस्माभिज्ञायत एते वत्सपाः सुरेशा इन्द्रादय एते च वत्सा ऋषय इति वेदार्थद्रष्टारः, इदानीं तु पुनर्नैते सुरेशा न वैत ऋषयः किन्तु त्वमेव तत्तद्रूपेण भासि, ननु सत्यमेव ब्रह्मवादस्तथैवेतिचेत् तत्राह भिदाश्रयेपीति, अभेदाश्रये सर्वं भगवानेव नात्र सन्देहः, भेदाश्रयेपि स एवेत्याश्चर्यं, अतोत्र वेदानामभावात् सर्वं पृथक्त्वं कथं ? तन् **निगमाद् वद** वेदवाक्याद् बोधय भेदपक्षे श्रुतिः कथं सर्वब्रह्मतां वदतीति, तदा भगवतोक्तोर्थात् पूर्ववृत्तान्तं **बलो** बलभद्रो**वैत्** ॥३९॥

व्याख्यार्थ—हे प्रभु ! पहले तो हम जानते थे कि ये बछड़ों के पालक इन्द्रादिक देव थे और ये बछड़े वेदज्ञ ऋषि थे अब तो ये न इन्द्रादिक देव हैं और न वेदज्ञ ऋषि हैं । किन्तु आप ही इस रूप से प्रकाशित हो रहे हैं ।

ब्रह्मवाद सिद्धान्त के अनुसार यह सत्य है यों कहो तो कहते हैं कि अभेद आश्रय में तो सब भगवान् हीं हैं । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं हैं किन्तु भेद आश्रय (सब अलग अलग रूप) होते हुए भी वह (भगवान्) ही एक हैं । यह आश्चर्य है । अतः इस विषय में वेद वचनों का अभाव है । अर्थात् वेद भिन्न-भिन्न आश्रय होते हुए भी सब भगवद्रूप हैं ऐसा नहीं कहते हैं तो आप इसको वेद के वचनों से समझाओ कि भेद होते हुए भी सब भगवद्रूप कैसे हो सकते हैं ? तब भगवान् ने बलरामजी को सारा चरित्र कह सुनाया । तब बलरामजी ने इसको समझा ॥ ३९ ॥

आभास—एवं बलभद्रं ज्ञापयित्वा ब्रह्माणमपि ज्ञापितवानिति च ब्रह्मणः समागमनमाह तावदेत्येति ।

आभासार्थ—इस प्रकार बलदेवजी को समझाने के अनन्तर आए हुए ब्रह्माजी को भी समझाया । इसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा ।**
पुरोवदब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम् ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ—यहाँ तो इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए एक वर्ष बीत गया पर ब्रह्माजी का तो एक त्रुटि[1] जितना ही काल हुआ था इतने ही काल में ब्रह्माजी ने लौटकर आके जो देखा तो जैसे आगे खेलते थे वैसे ही अपनी कला से भगवान् ग्वाल-बाल और बछड़ों से खेल रहे हैं।

सुबोधिनी—आत्मभूरयं ब्रह्मा, अन्यथा सापराधो नष्टो भवेदेव तावदेव शीघ्रमेवैत्यागत्य पुरोवदेवाब्दमब्द-पर्यन्तं क्रीडन्तं सकलं पालकवत्ससहितं हरिं ददृशे, ननु ब्रह्मा कथमेतावद्विलम्बं कृतवान् ? तत्राहात्ममानेन त्रुट्यनेहसेति, अनेहा काल आत्मनो ब्रह्मणो मानेन, त्रुटिरङ्गुलिस्फोटनमात्रं विवक्षितं न तु तृतीयस्कन्ध-गणितत्रुटिकालः, अतः शीघ्रमेवागतोपि स्वकालवशाद् वर्षानन्तरमागतः ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ—ये ब्रह्माजी स्वतः उत्पन्न होने से जन्म-रहित अर्थात् अजन्मा हैं यदि अजन्मा न होते तो इस अपराध के करने से नष्ट हो जाते । किन्तु नष्ट न होकर शीघ्र लौटकर आए और आकर पूर्ववत् अपनी कला से ग्वाल-बाल तथा बछड़ों के साथ वर्ष पर्यन्त क्रीडा करते हुए हरि को देखा।

ब्रह्मा इतने समय के अनन्तर देखने को क्यों आये ? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'त्रुटि' शब्द देकर यह बताया है कि ब्रह्मा की दृष्टि में वा उसकी गणना में तो अब एक 'त्रुटि'* समय ही बीता है। अतः ब्रह्माजी तो अपने किए हुए कार्य की सफलता वा निष्फलता देखने के लिये शीघ्र ही आ गए हैं। ब्रह्माजी तो शीघ्र ही आगए किन्तु भूलोक की गणना से एक वर्ष के अनन्तर आए ॥ ४० ॥

आभास—आगतस्य दृष्टवतो विचारमाह यावन्त इतिद्वाभ्यां ।

आभासार्थ—अब दो श्लोकों से आए हुए ब्रह्माजी के विचारों का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**यावन्तो गोकुले बालाः सवत्साः सर्व एव हि ।**
मायामये शयाना मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ—गोकुल में जितने भी बालक, बछड़ों सहित थे उन सबको मैंने माया-मय लोक में सुलाया है। अभी तक भी वे उठे नहीं हैं।

---

* यहाँ तृतीय स्कन्ध में 'त्रुटि' काल की गणना नहीं ली गई है—(श्री सुबोधिनीजी)

१—चुटकी बजाने जितना समय ।

सुबोधिनी—गोकुले यावन्तो बाला वत्साश्च ते सर्व इतो मया नीता मायामये लोके मया स्थापिताः शयाना एव तिष्ठन्त्यद्यापि पुनर्नोत्थिताः ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ----गोकुल में जितने भी बालक और बछड़े थे वे सब यहाँ से लेकर मायामय लोक में उनको स्थापित किया वे आज तक (अभी तक) सो रहे हैं उठे नहीं हैं ॥ ४१ ॥

श्लोक---इत एतेत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे ।
तावन्त एव तत्राब्दं क्रीडन्तो विष्णुना समम् ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ--मेरी माया से मोहितों से इतर (दूसरे) ये यहाँ कैसे आए ? स्वतः उत्पन्न हुए, वा दूसरे कहाँ से आए ? वर्ष भर उतने ही (बालक और बछड़े) विष्णु के साथ खेल रहे हैं ।

सुबोधिनी—एते चात्र पुनर्दृश्यन्त इत एवैते उत्पन्ना उद्भूता वा भवितुमर्हन्ति न तु तत आगन्तुं, अन्यथात्र कुत्रत्याः ? वैलक्षण्यं च दृश्यत इत्याह मन्मायामोहितेभ्य इतर एते, आश्चर्यं च तावन्त एव तत्रैव स्थाने तद्रूपा एव, विष्णुना सममब्दं क्रीडन्त एते कुत्रत्या इतिसम्बन्धः ॥ ४२ ॥

व्याख्यार्थ—वे (बालक और बछड़े) जो यहाँ देखने में आते हैं, ये यहाँ ही उत्पन्न हुए दिखते हैं वहाँ से आए ऐसा तो बन नहीं सकता है यदि यहाँ उत्पन्न नहीं हुए तो ये कहाँ के हैं। मैं जो ले गया था उनमें मैं और ये जो दिख रहे हैं इनमें विलक्षणता[1] देखने में आती है । अतः मेरी माया से मोहित हुए हैं उनसे ये दूसरे हैं । अचम्भा है उतने ही 'वहाँ (उस स्थान पर) ही, वैसे ही रूप वाले विष्णु के साथ वर्ष भर से क्रीडा करते हुए ये कहाँ' के हैं ॥ ४२ ॥

आभास—अत्र ब्रह्मण उभयथाबुद्धिः किं भगवन्मायया तदानीमेव निर्मिता बाला मयानीता आहोस्वित् सत्या एवेत्येते वा सत्या निर्मिता वेतियुक्तिभिरनुचिन्तने क्रियमाणे निर्धारो न जात इत्याहैवमिति ।

आभासार्थ—इस विषय में ब्रह्माजी की बुद्धि अनिश्चित हो गई है एक विचार आया कि क्या मैं जिन (बालक और बछड़ों) को ले गया हूँ वे भगवान् ने अपनी माया से बनाये थे अथवा जो असल सत्य थे उनको मैं ले गया अथवा ये माया से बनाये हुए हैं वा ये सच्चे हैं इस प्रकार युक्तियों से विचार करते हुए ब्रह्माजी कुछ भी निर्णय न कर सके । उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

१—भेद ।

श्लोक---एवमेतेषु सुचिरं ध्यात्वा सर्वात्मनात्मभूः ।
सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चन ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ----इस प्रकार बहुत समय तक विचार करते हुए भी सब के सम्बन्धी स्वयंभू ब्रह्माजी नहीं जान सके कि इनमें सत्य कौन से हैं और माया से बने असत्य कौन से हैं।

सुबोधिनी—एतेषु बालेषूभयविधेषु चिरं ध्यात्वाप्यात्मभूरपि के सत्याः कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे न समर्थो जातः कथञ्चन युक्त्यापि ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ—इन दो प्रकार के (यहां स्थित और आप जो ले गए) बालकों और बछड़ों में कौन से सत्य और कौन से झुठे हैं यह बहुत ध्यान विचार करते हुए भी स्वयं ब्रह्मा किसी युक्ति से जानने में भी असमर्थ हुए ॥ ४३ ॥

आभास--तर्हि किं जातमित्याकाङ्क्षायामाहैवमिति ।

आभासार्थ—जब ब्रह्माजी भी नहीं जान सके तब क्या हुआ इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम् ।
स्वयैव मायया जोपि स्वयमेव विमोहितः ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ--इस प्रकार ब्रह्माजी, विश्व को मोहित करनेवाले और किसी से भी मोहित न होने वाले भगवान् श्रीकृष्ण को अपनी माया से मोहित करने चले थे परन्तु स्वयं ब्रह्माजी अपनी माया से आप ही मोहित हो गए ।

सुबोधिनी—विष्णुं विमोहयन् विष्णुविमोहार्थं प्रवृत्तः स्वयमेव विमोहितो जातः, तत्र हेतुर्विमोहं विश्वमोहनमिति, भगवान् स्वयं मोहरहितोन्यांश्च विमोहयति, अतो भगवतामोहितोपि स्वयैव मायया जोपि सन् स्वयमेव विमोहितः ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ—विष्णु (श्रीकृष्ण) को मोहित करने में प्रवृत्त ब्रह्माजी स्वयं मोहित हो गए ऐसा क्यों हुआ ? उसमें कारण बताते हैं कि विष्णु को कोई भी मोहित नहीं कर सकता है किन्तु आप सकल विश्व को मोहित कर सकते हैं । यहां भगवान् ने ब्रह्माजी को मोहित नहीं किया, तो भी ब्रह्माजी अजन्मा होते हुए भी अपनी ही माया से स्वयं मोहित हो गए ॥ ४४ ॥

आभास---तद् युक्तमेवेत्याह तम्यामिति ।

आभासार्थ—ब्रह्माजी का मोहित होना योग्य ही था । यह निम्न श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक----**तम्यां तमोवन् नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि ।
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः ॥ ४५ ॥**

श्लोकार्थ----जैसे अंधेरी रात्रि में नीहार[1] के अन्धकार, का और दिन में जुगुनूं के प्रकाश का पता नहीं चलता है वैसे ही बड़े पर साधारण पुरुष अपनी माया महा-पुरुष पर चलाना चाहें तो उनकी वह माया बड़ों की कुछ भी हानि नहीं कर सकती है । प्रत्युत बडों की माया उनका और उनकी माया का, नाश करती है ।

सुबोधिनी—तमिस्रा रात्रिस्तमी तस्यां नैहारतमोवल् लोकस्य व्यामोहार्थं नीहारादप्यन्धकारो जायते स चेद् रात्रौ भवेत् सोपि न दृश्येत, लोकानामदर्शनं त्वन्यथैव सिद्धमतो महामायायुक्ते भगवत्यन्या माया स्वपदमेव न प्राप्नोति किं पुनः कार्यं प्राप्स्यति ? एवं मोहकसाधर्म्येण ब्रह्ममायाया अप्रयोजकत्वमुक्त्वा भगवदग्रे ब्रह्मणोप्यप्रयोजकत्वमाह **खद्योतार्चिरिवाहनीति, अहनि खद्योतार्चिः** स्वयमपि न प्रकाशते कुतो घटादीन् प्रकाशयिष्यति ? दूरे सूर्यप्रकाशनाशा अत एव **महतीतरस्य माया वैश्यमी**-शत्वं वा युंजतः पुरुषस्य महतो **मायैश्यं प्रयुंजतो** माया-मैश्यं च **निहन्ती**त्यर्थः ॥ ४५ ॥

व्याख्यार्थ—लोगों को प्रातः कुहरे का अन्धकार भी मोहित कर देता है कि अभी तक रात्रि है किन्तु वही कुहरा अन्धेरी रात्रि में जो अन्धकार करे, तो वह अन्धकार देखने में नहीं आता है, व्यर्थ है । लोग तो अन्धेरी रात्रि में यों ही पदार्थों को नहीं देख सकते हैं इस प्रकार महामायी भगवान् में दूसरे की माया को स्थान ही नहीं मिलता है । तब वह वहां क्या कार्य कर सकेगी अर्थात् कुछ नहीं । इसी तरह दोनों, ब्रह्मा और कृष्ण की मोह उत्पन्न करने वाली माया का धर्म (मोहित करना) समान होते हुए भी ब्रह्मा की माया की निरर्थकता बताकर, अब भगवान् के आगे ब्रह्मा भी किसी गिनती में नहीं है अतः उनका भी अप्रयोजकत्व सिद्ध करने के लिये श्लोक में 'खद्योतार्चिरिवाहनि' शब्द दिए हैं । जैसे जुगुनू दिनको आप ही प्रकाश नहीं दे सकता है तो घटादिकों को कैसे प्रकाशित करेगा सूर्य को प्रकाशित करने की आशा तो दूर रही । इसी प्रकार जब भगवान् के आगे ब्रह्माजी स्वयं कुछ नहीं कर सकते तो उनकी माया क्या करेगी अतः महान् पर माया अथवा ईशपना डालने वाले दूसरे (छोटे) पुरुष की माया और ईशपने (ऐश्वर्य) को उस बड़े की माया नाश कर देती है ॥ ४५ ॥

आभास—एवं चिन्ताकुलिते ब्रह्मणि भगवान् स्वरूपं प्रदर्शितवानित्याह तावदिति,

आभासार्थ—ब्रह्माजी जब इस प्रकार चिन्तातुर हुए तब भगवान् ने ब्रह्माजी को अपना स्वरूप दिखाया यह नीचे के श्लोक में कहते हैं ।

१—कुहरा ।

श्लोक--**तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोजस्य तत्क्षणात् ।**
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः ॥ ४६ ॥

श्लोकार्थ----इतने में ब्रह्माजी के देखते हुए उसी समय बछड़े और उनके पालक (ग्वाल-बालक) मेघ जैसे श्याम वर्ण वाले और पीतवस्त्र धारण किए हुए देखने में आये ।

सुबोधिनी —यावदयं विचारयति तावत् पश्यत एवाजस्य सतस्तत्क्षणादेव सर्वे वत्सा पालाश्च घनश्यामा व्यदृश्यन्त नीलमेघश्यामा भाता ब्रह्मणा वा दृष्टाः सर्वे च पीतपट्टाम्बरधारिणः ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्माजी विचार ही कर रहे थे तो उसी क्षण में ब्रह्माजी के देखते देखते सब बछड़े और पालक (ग्वाल-बालक) मेघ जैसे श्याम वर्ण वाले और सब पीतवस्त्र धारण किए हुए थे यों ब्रह्माजी को दिखने लगे ॥ ४६ ॥

श्लोक—**चतुर्भुजाः शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः ।**
किरिटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः ॥ ४७ ॥

श्लोकार्थ----चतुर्भुज, हाथों में शंख, चक्र, गदा और कमल धारण किए हुए, मुकुट वाले, कुण्डल, हार और वनमाला पहने हुए (ब्रह्माजी ने देखे) ।

सुबोधिनी—चतुर्भुजाः, यस्य यस्य धर्मस्य प्राकट्यार्थं यादृशो वैकुण्ठमूर्तिस्तादृशा एत इति भुजादयो निरूप्यन्ते, चत्वारो भुजाः प्रत्येकं येषां, शङ्खचक्रगदाराजीवानि प्रत्येकं पाणिषु येषां, राजीवं कमलं, सर्वे किरीटिनः किरीटाभरणयुक्ताः कुण्डलाभरणयुक्ताः मुक्ताहारयुक्ता वनमालायुक्ताश्च ॥ ४७ ॥

व्याख्यार्थ---वैकुण्ठ में जिस जिस धर्म को प्रकटनार्थ जैसी मूर्ति (स्वरूप) हैं वैसे ये हैं जैसे कि चार भुजा वाले, और हाथों में शंख चक्र, गदा और पद्म धारण किए हुए सब ने किरीट (मुकुट) धारण कर रक्खे थे। कानों में कुण्डल आभूषण पहिने थे, मोतियों की मालाओं से तथा बन मालाओं से सुशोभित थे (ऐसे ब्रह्माजी को दिखाई देने लगे) ॥ ४७ ॥

आभास----सारूप्यं गतानामप्येतद् भवतीत्यसाधारणान्, छ्रीवत्सादिधर्मानाह ।

आभासार्थ—ये उपरोक्त चार भुजायें और मुकुटादि आभूषण सायुज्य मुक्तों को भी होते हैं किन्तु जो श्रीवत्स आदि असाधारण आभूषण उनको नहीं होते हैं वे भी इनको थे उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः ।
नूपुरैः कटकैर्भाताः कटिसूत्रांगुलीयकैः ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ—श्रीवत्स, भुजाओं में भुजबन्द, रत्नमय आभूषण तथा हाथों में शंख के समान तीन धारा वाले कंकण, नूपुर, कटक, (कड़े) कटिमेखला और अंगूठियों से सुशोभित (देखने में आए) ।

सुबोधिनी—श्रीवत्सो दक्षिणावर्तरोमरेखा, अङ्गदं बाहुवलयं, दोरत्नानि दोषां बाहूनां रत्नानि बाहव एव वा रत्नानि, कम्बुसदृशानि कङ्कणानि, एतत्सहिताः प्रत्येकं पाणयो येषां, नुपूरैश्चरणाभरणैः कटकैर्हस्ताभरणैश्च भाताः कटिसूत्रेणाङ्गुलीयकैश्च भाताः ॥ ४८ ॥

व्याख्यार्थ—श्रीवत्स (दक्षिण ओर आवर्त (गोल चक्कर वाली) रोम की रेखा) भुजबन्द, भुजाओं के रत्न, अथवा भुजाएं ही रत्नों जैसी थीं, शंख के समान तीन धारा वाले कङ्कण, प्रत्येक के हाथ में ये आभूषण थे, चरणों के आभूषण नूपुरों से, हाथों के आभूषण कड़ों से, और कटिमेखला (करधनी) तथा अंगूठियों से शोभायमान हो रहे थे (ऐसे देखने में आए) ॥४८॥

श्लोक—आङ्घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसीनवदामभिः ।
कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः ॥ ४९ ॥

श्लोकार्थ—अति पुण्यवान् पुरुषों द्वारा अर्पण की हुई कोमल तुलसी की नवीन मालाओं से पाँव से शिर तक परिपूर्ण भरे हुए (दिखाई दिये) ।

सुबोधिनी—तुलसीनूतनमालाभिराङ्घ्रिमस्तकं नखशिखाग्रपर्यन्तमासमन्तात् पूर्णास्तानि च दामानि कोमलतुलसीनिर्मितानि, सर्वगात्रेषु च पृथक्पृथक् समर्पितानि, समर्पकाश्च भूरिपुण्यवन्तः ॥ ४९ ॥

व्याख्यार्थ—तुलसी की नवीन मालाओं से चरण से मस्तक तक अर्थात् नख से लेकर चोटी तक भरे हुए, (देखने में आए) वे मालाएँ कोमल तुलसी की बनाई हुई थीं । सकल अङ्गों में पृथक्-पृथक् अर्पण की हुई थीं । समर्पण करने वाले अत्यन्त पुण्यात्मा हैं ॥ ४९ ॥

आभास—असाधारणं भगवद्भावं तत्र वर्णयति ।

आभासार्थ—उनमें भगवान् के असाधारण भाव का निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः ।
स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः ॥ ५० ॥

श्लोकार्थ---चन्द्रिका के समान स्वच्छ मन्द हास्यों से अपने भक्तों के मनोरथों का मानो सतोगुण से पालन करते हैं और अरुण जैसे कटाक्ष सहित विशेष ईक्षणों से मानों रजोगुण से अपने भक्तों के मनोरथों को उत्पन्न करते हुए (दिखाई देने लगे)

सुबोधिनी—चन्द्रिकेति, चन्द्रिकावद् विशदाः स्मेरा मन्दहासा अरुणान्यपाङ्गवीक्षितानि स्मेरैर्वीक्षितैश्च स्वकार्याणां भक्तपुरुषार्थानां स्रष्टृपालका जाताः, वीक्षितैः पुरुषार्थानामुत्पत्तिः स्मेरैः पालनं, तत्रोपपत्तिं वदन् दृष्टान्तमाह रजःसत्त्वाभ्यामिवेति, अरुणवर्णत्वाद् वीक्षितं रजस्तुल्यं, शुभ्रत्वात् स्मेरं सत्त्वतुल्यं, रजसोत्पाद्यते सत्त्वेन परिपाल्यते ॥ ५० ॥

व्याख्यार्थ—चन्द्रिका (चान्दनी) के समान स्वच्छ मन्दहासों (मुसक्यानों) से और अरुण (लाल) जैसे कटाक्षों के ईक्षणों से भक्तों के पुरुषार्थों की रचना और पालना करने लगे। इसको हेतु देकर सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त देते हैं, जैसे रजोगुण से उत्पत्ति होती है तथा सतोगुण से पालन होता है वैसे ही यहाँ मन्दहास स्वच्छ होने से सतोगुण के समान है अतः इनसे पालन किया, तथा कटाक्ष लाल होने से रजोगुण के समान है इनसे रचना उत्पत्ति की है ॥ ५० ॥

श्लोक---**आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः ।**
नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक्पृथगुपासिताः ॥ ५१ ॥

श्लोकार्थ----ब्रह्माजी से लेकर स्तम्ब[1] पर्यन्त, सब स्थावर और जंगम मूर्तिमान होकर, नृत्य और गायन आदि अनेक प्रकार की पूजाओं से उनकी भिन्न-भिन्न उपासना कर रहे थे (ऐसे देखने में आए)।

सुबोधिनी—किञ्चात्मा ब्रह्मास्तम्बस्तृणस्तम्बो ब्रह्मादितृण स्तम्बपर्यन्तैराधिदैविकैर्मूर्तिमाद्भिर्विग्रहवद्भिश्चराचरैः स्थावरैर्जङ्गमैश्च पृथक्पृथगुपासिता इति- सम्बन्धः, पृथुगुपासने हेतुर्नृत्यगीताद्यनेकार्हैर्यथाधिकारं स्वस्य धर्मा भगवत्सेवोपयिकाः पृथक् पृथक् सन्तीति सर्वेषां पृथगुपासनम् ॥ ५१ ॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्माजी से लेके तृणों की झाड़ी आदि सब जड़ और चेतन अपने अपने आधिदैविक मूर्तिमान् स्वरूपों से उनकी पृथक् पृथक् उपासना कर रहे थे। पृथक् पृथक् उपासना का कारण यह है कि जैसा जिसका अधिकार था उसी अधिकारानुसार नृत्य गीत आदि विविध प्रकारों से पृथक् पृथक् सेवा की ॥ ५१ ॥

श्लोक—**अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः ।**
चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः ॥ ५२ ॥

१—तृण, तिनका।

श्लोकार्थ---अणिमा आदि आठ सिद्धियों, माया आदि विभूतियों और महत्तत्व आदि चौबीस तत्व, इनसे वेष्टित[1] थे।

सुबोधिनी—अणिमाद्यष्टैश्वर्यैरपि सेविता:,अणिमादीनां महित्वं माहात्म्यरूपत्वं, अजाद्या विभूतय:, उत्पत्तिव्यतिरेकेणैव स्वस्योत्पत्तिभावमन्येषां चोत्पत्ति सम्पादयति या शक्तिः साजा, सादिर्यासां लक्ष्म्यादीनां, ताभीरपि प्रत्येकमुपासिताश्चतुर्विंशतितत्त्वाभिमानिन्यो देवता: ॥ ५२ ॥

व्याख्यार्थ—अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों से सेवित, अर्थात् अणिमादिकों के माहात्म्य रूप से सेवित, अजा (योगमाया) आदि विभूतियों से सेवित, अजा का स्वरूप बताते हैं कि जो स्वयं उत्पन्न न हो, किन्तु उत्पन्न होने का केवल भाव दिखाती हो और दूसरों को उत्पन्न करती हो उसको 'अजा' कहते हैं। लक्ष्मी आदि शक्ति में यह अजा शक्ति मुख्य है इन अजादि शक्तिओं से प्रत्येक पृथक् पृथक् उपासित हो रहे थे, एवं चौबीस तत्त्वों के अभिमानी देवता भी प्रत्येक की पृथक् पृथक् उपासना कर रहे थे। (ऐसा देखने में आता था) ॥ ५२ ॥

श्लोक---**कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः ।**
स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्तिमद्भिरुपासिता: ॥ ५३ ॥

श्लोकार्थ---काल, स्वभाव, संस्कार, काम कर्म और गुणादिक पदार्थ, मूर्त्तिमान होकर, प्रत्येक की सेवा करते थे। इन सबकी महिमा भगवान् की महिमा के सामने नष्ट हो गई।

सुबोधिनी—कालादयोप्यभिमानिदेवा:, गुणा सत्त्वरजस्तमांसि, आदिशब्देन नामसृष्टिवर्ग: सर्वोप्यासन्यादयश्च, तेषां माहात्म्यमाह स्वमहिध्वस्तमहिभिरिति, स्वमहिम्नैव ध्वस्तो महिमान्येषां यैः, भगवन्महिम्ना वा ध्वस्तमहिमान:, ते च सर्वे मूर्तिमन्त:, तैरपि 'पृथक्पृथ' गुपासिता: ॥ ५३ ॥

व्याख्यार्थ--काल आदि देवगण भी अभिमानी देव हैं। सतोगुण रजोगुण जौर तमोगुण ये तीन गुण कहे और आदि शब्द से सम्पूर्ण नाम सृष्टि का वर्ग तथा आसन्य आदि प्राण कहे हैं। श्लोक में आए हुए 'स्वमहिध्वस्तमहिभि:' पद के दो अर्थ करते हैं—(१) इन अभिमानी देवगणों ने अपनी महिमा से दूसरों की महिमा नाश कर दी है अथवा भगवान् के माहात्म्य से जिनकी (कालादिकों की) महिमा नष्ट हो गई है। वे सब कालादिक मूर्तिमान (आधिदैविक रूप वाले) हैं उनसे भी जिनकी प्रथक् प्रथक् उपासना हो रही है (ऐसे दीखे) ॥ ५३ ॥

आभास--धर्मानुत्क्वा स्वरूपमाह सत्येति ।

१—सेवित ।

आभासार्थ--इस प्रकार धर्मों का वर्णन कर अब स्वरूप का वर्णन करते हैं।

श्लोक--**सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।**
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥ ५४ ॥

श्लोकार्थ--य सब (बछड़े और ग्वाल बालक) सत्य, ज्ञानरूप, अनन्त, आनन्द मात्र एक रस मूर्ति वाले, आत्म-ज्ञान रूप नेत्र वाले, महात्मा लोग भी जिनके माहात्म्य को नहीं जान सकते हैं (ऐसे देखने में आए) ।

सुबोधिनी —सत्यंज्ञानमनन्तशब्देन दोषाभावः, इतरान्यत्वमानन्दश्च स्वरूपे दोषाभावोप्यवश्यं वक्तव्यः, तन्मात्रा एकरसा मूर्तयो येषां, रसभेदस्तु विजातीयसंश्लेषाद् भवति, उत्कर्षमाहास्पृष्ट भूरीति, उपनिषद्–दृग्भिरपि न स्पृष्टं भूरि माहात्म्यं येषाम् ॥ ५४ ॥

व्याख्यार्थ--ये सब सत्य, ज्ञान, आनन्दमात्र, एक रस वाले मूर्तिमान थे। अनन्त शब्द से बताया है कि इनमें दोषों का अभाव है तथा ये दूसरों (लौकिकों) से दूसरे प्रकार के (अलौकिक) थे और 'आनन्द' शब्द से यह बताया है कि किसी भी रूप में दोष नहीं है, यह सर्व रूपों में निर्दोषता भी अवश्य कहनी चाहिये। रस स्वरूप में भेद तब होता है जब उसमें विजातीय पदार्थ (रस रहित पदार्थ) का मिलन होता है। यहाँ किसी का भी मेल नहीं है उसकी स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि उपनिषद् प्रोक्त ज्ञान दृष्टि वाले भी जिनकी महिमा को नहीं जान सकते हैं (ऐसे वे दीख रहे थे) ॥ ५४ ॥

आभास--एवं सर्वमेव भगवत्स्वरूपं वर्णयित्वोप संहरंस्तस्य दर्शनमाह ।

आभासार्थ--इस प्रकार सब ही भगवत्स्वरूप हैं ऐसा वर्णन कर अब ब्रह्माजी को भी वैसे दर्शन हुए उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक--**एवं सकृद ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोखिलान् ।**
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥ ५५ ॥

श्लोकार्थ--इस प्रकार ब्रह्माजी ने एकबार सबको परब्रह्म मय देखा, जिस पर ब्रह्म के प्रकाश से यह सब जगत् प्रकाशित होता है।

सुबोधिनी—अजो ब्रह्माप्येवं सकृदेव ददर्श सर्वानिव परब्रह्मात्मनः परब्रह्मरूपान्, एकं हि परब्रह्म प्रसिद्धं दृश्यते त्वनन्तरूपमिति, नन्वेकेन ब्रह्मणा कथमेतावन्तो दृष्टास्तत्राह यस्येति, यस्य भगवतो भासेदं सर्वमेव–सचराचरं विभाति, अतो भगवदिच्छयैव भगवद्भासा सर्वज्ञो जातः ॥ ५५ ॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्माजी ने भी सबको इस प्रकार परब्रह्म रूप देखा। परब्रह्म एक ही है यह प्रसिद्ध है, एक होते हुए भी उनके अनेक रूप हैं। ब्रह्माजी एक थे, एक ने इन सबको किस प्रकार देखा ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् के प्रकाश से यह सर्व जड़ चेतन प्रकाशित हो रहा है। अत: भगवान् की इच्छा से ही ब्रह्माजी को वह रूप प्रकाशित हुआ जिससे वह सर्वज्ञ हुए और उनने देखा तथा समझा ॥ ५५ ॥

श्लोक——**ततोतिकुतुकोद्वृत्त्य स्तिमितैकादशेन्द्रियः ।**
तद्धाम्नाभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका ॥ ५६ ॥

श्लोकार्थ——उनके तेजस ब्रह्म की एकादश ही इन्द्रियाँ जड़ हो गईं। तब ब्रह्माजी दृष्टि को फिराकर चुपचाप खड़े हो गए जैसे नगर के अधिष्ठात्री देवी के पास पुतली शान्त होकर खड़ी रहती है।

सुबोधिनी—ततोतिकुतुकेनातिसन्तोषेणोद्वृत्त्य दृष्टीः परावृत्त्य स्तिमितान्येकादशेन्द्रियाणि यस्य तादृशो जातः, तेन हर्षादपि स्तोत्रे न समर्थो जातः, अशक्यं च स्तोत्रं, प्रदर्शितस्य मनसाप्याकलयितुमशक्यत्वात् हेत्वन्तरमप्याह **तद्धाम्नाभूदिति**, भगवत्तेजसा निष्प्रतिभो ब्रह्मा तूष्णीमासीत्, तत्र दृष्टान्तो लौकिकः **पूर्देव्यन्ती पुत्रिकेव, पूर्देवी** सर्वैरेव पुरवासिभिः पूज्यते न तु तन्निकटस्था पुत्रिका, न हि समानदेशस्थितिमात्रेण पूजार्हता भवति, अतस्तदानीं दृष्टैः सर्वैरेवायमुपेक्षित इति निष्प्रतिभत्वमुचितमेव ॥ ५६ ॥

व्याख्यार्थ—इसके अनन्तर क्रिया करने में असमर्थ हुई एकादश इन्द्रियों वाले ब्रह्माजी ने अति सन्तोष से दृष्टि को बदल दी। अति सन्तोष (हर्ष) के कारण भगवान् की स्तुति भी नहीं कर सके। स्तुति न कर सके इसका दूसरा कारण यह था कि ब्रह्माजी भगवान् के तेज से शक्ति-हीन हो गए थे अतः ब्रह्माजी कुछ भी कह नहीं सके और शान्त रहे। कैसे शान्त रहे इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे नगर की अधिष्ठात्री देवी के पास पुतली केवल खड़ी रहती है। नगर की अधिष्ठात्री देवी का तो सब नगरवासी पूजन करते हैं किन्तु वह पुतली पास में केवल खड़ी रहती है उसकी कोई पूजा नहीं करता है। केवल समान देश में स्थिति[1] करने से कोई भी पूजा के योग्य नहीं बनता है अतः सब ने इन ब्रह्माजी को देखा किन्तु देखने पर भी इन ब्रह्माजी की उपेक्षा करदी थी। इससे ब्रह्माजी का तेज हीन होना उचित ही जचता है ॥ ५६ ॥

आभास----एवम प्रयोजके ब्रह्मणि जाते भगवांस्तद्रूपमुपसंहृतवानित्याहेतोरेश इति।

१—निवास।

आभासार्थ—इस प्रकार जब यह लीला देखकर ब्रह्माजी का तेज नष्ट हो गया कारण कि उनका किया हुआ कार्य निष्फल हो गया था, तब भगवान् ने अपने उन रूपों को तिरोहित कर लिया। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक----**इतीरेशेतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके**
परत्राजातोतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ ।
अनीशेपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति
चच्छादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोजाजवनिकाम् ॥ ५७ ॥

श्लोकार्थ----इस प्रकार अतर्क्य, (जो तर्क विचार में न आ सके) स्वप्रकाश, प्रकृति से पर और ब्रह्म से भिन्न वस्तुओं का निषेध करते हुए उपनिषद्, जिनके स्वरूप का ज्ञान कराते हैं वैसे असाधारण महिमा वाले स्वरूप में 'यह क्या ?' ऐसे ब्रह्माजी मोहित हो गए और उनकी दर्शन करने की शक्ति भी जब चली गई तब भगवान् ने माया रूप पड़दा डाल दिया।

सुबोधिनी—इत्यमुना प्रकारेणेरेशे वाक्पतौ ब्रह्मणि द्रष्टुमप्यनीशे मुह्यति च सति तस्य मोहादिक्लेशं ज्ञात्वाजाजवनिकां मायारुपतिरस्करिणीं चच्छादाच्छादितवान्, तदुपरि प्रसारितवान, यथा ब्रह्मणो दर्शनं न भयति, उद्धाटितमाययैव तेषां दर्शनं न तु निर्माणमत आच्छादनेदर्शनं युक्तमेव, सनु ब्रह्मणो मोहेदर्शने च को हेतुस्तत्राह निजमहिमन्यतर्क्ये सति, भगवतोसाधारणमहिमान्येषां तर्कविषयोपि न भवति, अतः कथं द्रष्टुं शक्यते ज्ञातुं वा ? तदेव कुतस्तत्राह स्वप्रमितिक इति, स्वस्यैव भगवत एव प्रमितिर्यस्य, केवलं स्वसंवेद्यमेव तन् न त्वन्यसंवेद्यं, तत्रापि हेतुरजातः परत्रेति, प्रकृतेः परः सः, प्रकृतौ चान्ये, अतो यत्र भगवांस्तत्राव्यो नास्तीति भगवत्संवेद्यमेव भगवनमाहात्म्यं, ननु श्रुत्वा कथं न ज्ञायते ? तत्राहातन्निरसनमुखब्रह्मकमिताविति, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य निरसनद्वारैवोपनिषदो ब्रह्मस्वरूपं बोधयन्ति न तु साक्षादाहत्य, सङ्केतग्रहाभावात्, वैदिकव्यवहारेपि यावदयं बहिर्मुखस्तत्र प्रविशति तावद्बहिर्निरसनेनैव प्रवेशनीयः प्राविष्टस्तु तद्भावमेव प्राप्स्यतीति स्वसंवेद्य एव भविष्यति, अतः प्रथमाधिकारे श्रुतिस्तथैवा 'हाथात आदेशो नेति नेती'ति, अतः श्रुतयोप्याहत्य न वदन्तीति युक्तमेव तस्य द्रष्टुमशक्तिर्मोहश्च ततो दुःखं चेति॥ ५७ ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार जब ब्रह्माजी मोह को प्राप्त हुए और देख भी न सके तथा दुःखी हुए। ब्रह्माजी की यह दशा जानकर भगवान् ने इस लीला को माया के पड़दे से ढक दिया अर्थात् जैसे उन (ब्रह्माजी) को भगवद्रूप के दर्शन न हो सके। पहले ब्रह्माजी को बछड़े और बालक भगवद्रूप देखने में इसलिये आए थे जो भगवान् ने माया का पड़दा हटा दिया था। बछड़े और बालक कल्पित[1] नहीं थे किन्तु वास्तविक ब्रह्म-स्वरूप थे। अब माया फैलाने से वे (बछड़े और बालक) ब्रह्मरूप नहीं देखने में आए, यह योग्य ही है।

१—बनाये हुए।

ब्रह्माजी को मोह हुआ और देख भी न सके इसका यह कारण है कि भगवान् का माहात्म्य ऐसा है जिससे उनको कोई नहीं जान सकता है। इतना ही नहीं, किन्तु उसकी महिमा कितनी है? इसका तर्क[1] भी कोई नहीं कर सकता है। अतः वे कैसे देखे जा सकते हैं अथवा जाने जा सकते हैं।

भगवान् की ऐसी महिमा किस कारण से है? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'स्वप्रमितिकः' है। भगवान् ही अपने को जान सकते हैं कि मैं कैसा हूँ मेरी महिमा कितनी एवं कैसी है अर्थात् भगवान् 'स्व संवेद्य' अपने से ही जानने योग्य हैं उनको अन्य कोई नहीं जान सकता है। दूसरा उनको क्यों नहीं जान सकता है उसमें दो हेतु देते हैं—

१. 'अजातः' जिसका जन्म नहीं अर्थात् जो अनादि है। अन्य सब जन्मे हुए हैं 'आदि' वाले हैं, आप सब से पहले है अतः आपको कोई नहीं जान सकता है।

२. 'परत्र' वे प्रकृति से परे हैं अन्य सब प्रकृति के भीतर है इसलिये प्राकृत अप्राकृतक को नहीं जान सकते हैं। क्योंकि जहां (प्रकृति से परे) भगवान् हैं वहां अन्य (प्राकृत) नहीं है। इत्यादि से भगवान् का माहात्म्य स्व संवेद्य ही है।

भगवत्माहात्म्य सुनकर तो जाना जा सकता है? नहीं। इसके लिये श्लोक में 'अतन्निरसन मुखब्रह्मकमितौ' पद दिया है अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप का उपनिषद् भी साक्षात् वर्णन नहीं करते हैं किन्तु ब्रह्म भिन्न जो वस्तु दृष्टि में आती है उनका निषेध करते हुए ही ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं ब्रह्म स्वरूप ऐसा ही है यों उपनिषद् भी कहते हैं कारण कि ब्रह्म स्वरूप के साक्षात् बताने के लिये किसी प्रकार का कोई भी संकेत नहीं है। वैदिक व्यवहार में भी जब यह बहिर्मुख जीव ब्रह्म में प्रवेश× करता है तब बहिर्मुखता को निकाल कर (मैं देहादि हूँ, इसका त्याग कर) उसमें प्रवेश† योग्य होता है। प्रवेशानन्तर* ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है अर्थात् अक्षर ब्रह्मरूप हो जाता है, भगवान् का माहात्म्य वही जान सकता है। अतः प्रथम अधिकार (जब तक अविद्या ग्रसित है) में श्रुति 'इति न इति न' यह नहीं यह नहीं इस प्रकार उपदेश करती है। इससे श्रुतियाँ भी जानकर ब्रह्मस्वरूप नहीं कहती हैं। अतः ब्रह्माजी भगवान् के स्वरूप का दर्शन न कर सके और मोह को प्राप्त हुए तथा दुःखी हुए, यह कहना योग्य ही था ॥ ५७ ॥

आभास—भगवतैवं कृते मूर्छित एव ब्रह्मा पतितस्ततः कियत्कालानन्तरभुत्थित;।

× अपने में आनन्दांश को प्रकट करता है—अनुवादक।

† आनन्दांश प्रकट करने के—अनुवादक।

* आनन्दांश की अभिव्यक्ति (प्राकट्य) के अनन्तर—अनुवादक।

१—विचार, बहस।

आभासार्थ—भगवान् ने माया का पड़दा डाल दिया तब ब्रह्माजी मूर्छित होकर गिर गए कुछ समय के अनन्तर उठे। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**ततोर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः कः परेतवदुत्थितः ।**
कृच्छ्रादुन्मीस्य वै दृष्टीराचष्टेदं सहात्मना ॥ ५८ ॥

श्लोकार्थ—तदनन्तर मर कर पीछे उठे हों ऐसे ब्रह्माजी ने बाह्य दृष्टि को प्राप्त कर बड़ी कठिनता से आँखे खोल अपने को और जगत् को देखा।

सुबोधिनी—अर्वागेव प्रतिलब्धमक्षं ज्ञानं येन, लोकदर्शनार्थमेवोत्थितो न तु भगवद्दर्शनार्थमिति व्यर्थमस्योत्थानमिति दृष्टान्तमाह परेतवदिति, यथा मृत उत्तिष्ठति केनचिन्निमित्तेन तथायमप्युत्थितः पूर्वं मृतो मूर्छितः पश्चादुत्थित इति वा, कृच्छ्रादतिकष्टेनैव दृष्टीरुन्मील्येदं जगदेव दृष्टवान् ॥ ५८ ॥

व्याख्यार्थ—कितनेक समय के अनन्तर ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्माजी उठे। लोक के देखने के लिये ही उठे न कि भगवान् के दर्शन के लिये। अतः उनका उठना[1] व्यर्थ था। इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे मरा हुआ किसी कारण से जीवित हो‡ उठता है वैसे ये भी उठे अथवा पहले मरे (मूर्छित हुए) पीछे उठे। अत्यन्त कष्ट से नेत्र खोल कर इस जगत् को ही देखने लगे ॥५८॥

श्लोक—**सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोपश्यत् पुरः स्थितम् ।**
वृन्दावनं जनाजीव्यं द्रुमाकीर्णं समप्रियम् ॥ ५९ ॥

श्लोकार्थ—उसी समय चारों ओर दृष्टि डाल कर देखा तो सामनें विद्यमान, चारों तरफ प्रिय पदार्थों से भरा हुआ और मनुष्यों की जीविका के साधन रूप वृक्षों से व्याप्त वृन्दावन देखने में आया।

सुबोधिनी—ततः सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोपश्यत् ततः पुरःस्थितं वृन्दावनं चापश्यत् ततस्तस्मिन् वने जीवनार्थमागतांल्लोकानप्यपश्यत्, तदाह जनाजीव्यमिति, द्रुमाकीर्णमिति द्रुमैर्व्याप्तं न तु शून्यारण्यं, समं च तदासमन्तात् प्रियं च ॥ ५९ ॥

व्याख्यार्थ—इसके अनन्तर, उस क्षण में ही चारों ओर देखते हुए ब्रह्माजी ने दिशाएँ देखीं। पश्चात् सामने स्थित वृन्दावन को देखा। उसके अनन्तर उस वन में जीवन के लिये आए

‡ मरा हुआ जीवित होने के अनन्तर भी संसार में आसक्त होता है भगवद् भजन नहीं करता है अतः उसका जीवित होना जैसे व्यर्थ है वैसे ही ब्रह्माजी का उठना भी व्यर्थ था—अनुवादक।

१—जगना।

हुए लोगों को देखा । लोग जीवन के लिये वृन्दावन में क्यों आए ? इसके उत्तर में वृन्दावन की विशेषता बतलाते हैं कि यह बन वृक्षों से व्याप्त है शून्य अरण्य नहीं है, तथा समभूमि वाला है जिससे सब प्रकार से प्रिय है ॥ ५९ ॥

आभास--ततस्तत्रत्यान् मृगानपि दृष्टवानित्याह ।

आभासार्थ--इसके पीछे ब्रह्माजी ने वन के रहने वाले पशुओं को भी देखा जिसका वणन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--तत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः ।
मित्राणीवाजितावासगतरुट्तर्षकादिकम् ॥ ६० ॥

श्लोकार्थ----वहां परस्पर स्वाभाविक गाढ वैर वाले मनुष्य एवं सिंहादिक भी आपस में मित्रों के समान रहते थे । कारण कि वहां भगवान् निवास करते थे जिससे उस बन एवं उनके निवासियों में से क्रोध लोभ आदि निकल गये थे ।

सुबोधिनी—तत्र नैसर्गदुर्वैरा इति. स्वभावत एव दुष्टवैरा अप्यश्वमहिषादयः सहैवासन्नरा मृगाश्च, मित्राणीव, तत्र हेतुरजितस्य भगवत आवासेन गता रुद् तर्षा तृष्णान्येपि कामादयो दोषाः, गतरुद्तर्षादिकं यथा भवति तथा सहासन्निति सम्बन्धः ॥ ६० ॥

व्याख्यार्थ--स्वाभाविक दुष्ट वैर वाले होते हुए भी घोड़े, भैंसे आदि और मनुष्य तथा पशुगण भी साथ ही रहते थे । वे सब परस्पर मित्रों के समान रहते थे । उसका कारण यह था कि जिसको किसी (काम क्रोधादि) ने भी नहीं जीता है ऐसे भगवान् वहाँ विराजते थे जिससे वहाँ से द्वेष, तृष्णा तथा दूसरे काम आदि दोष भाग गए थे इससे वह वन तथा वनवासी निर्वैर होकर प्रेम से हिलमिल कर रहते थे ॥ ६० ॥

आभास--तस्मिन् वने भगवन्तमपि पूर्ववद् दृष्टवानित्याह तत्रोद्वहदिति ।

आभासार्थ—ब्रह्माजी ने उस वन में भगवान् को भी पहले के समान देखे । यह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक--**तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम् ।**
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्वदेकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट ॥६१॥

श्लोकार्थ—वहाँ ग्वालवंश को बालक भाव का नाटक करते हुए ब्रह्माजी ने जैसे पहले देखा था वैसे ही अब हाथ में ग्रास लिए हुए श्रीकृष्ण को देखा । जो द्वैत भाव

रहित, पर, अनन्त तथा अगाध ज्ञानवान होते हुए भी, बछड़ों और मित्रों को पूर्व की तरह चारों ओर ढूँढते थे ।

सुबोधिनी —तत्र वृन्दावन उद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं येन वस्तुतस्त्वद्वैतं, ब्रह्मैव, परंकालादिनियन्तृ, अनन्तमत एवापरिच्छिन्नं, अगाधो बोधो यस्य, उद्वहदिति भिन्नपदं वा विचिन्वदित्यनेन सम्बध्यते, सखीन् वत्सांश्च परितो विचिन्वन्तं, विचिन्वन् यो वर्तते तमितियोजना एकमेव वर्षात् पूर्वमेव गृहीतं कवलं हस्ते यस्य, पाणौ कवलं तेन सहितमचष्ट दृष्टवान् ॥ ६१ ॥

व्याख्यार्थ—जो वास्तविक अद्वितीय[1] ब्रह्म हैं, केवल गोपवंश में बाल भाव का जिसने नाटच किया है, और जो 'पर' (कालादिकों का नियन्ता) है तथा अनन्त[2] एवं अगाध बोध[3] है वैसे बालकृष्ण को पूर्ववत् ब्रह्माजी ने देखा। श्लोक में "उद्वहत्"× और 'विचिन्वत्' ये परस्पर सम्बन्ध वाले दो पद ब्रह्माजी के विशेषणों के रूप में लिये गए हैं, जिनका अर्थ 'विचिन्वत्' बछड़ों को ढूंढते हुए और 'उद्वहत्' ग्रास वाले हस्त को धारण करते हुए श्रीकृष्ण को ब्रह्माजी ने देखा, जैसे एक वर्ष पहले भगवान् को बछड़ों को ढूंढते तथा हाथ में ग्रास लिए हुए देखा था अब भी वैसे ही देखा ॥ ६१ ॥

श्लोक—दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोवतीर्य पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवा निपात्य ।
स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम् ॥६२॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार के भगवान् के दर्शन कर (ब्रह्माजी ने) शीघ्र अपने वाहन हंस से उतर कर, कनक दण्ड के समान अपने शरीर से साष्टाङ्ग प्रणाम कर, चारों मुकुटों की कोटि[1] से चरण युगल को छू कर आनन्दाश्रुओं के जल से अभिषेक किया।

सुबोधिनी—ततो भगवन्तं दृष्ट्वात्वरेण निजधोरणतो विनानादवतीर्य विनानं परित्यज्य भूमौ समागत्य पृथिव्यां स्वस्य वपुः कनकदण्डमिवा समन्तात् पातयित्वा परिवर्तनेन चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुगं स्पृष्ट्वा पुनर्वाचापि नत्वाश्रुजलैः प्रेमाश्रुभिः पादयुग्मस्यैवाभिषेकमकृत ॥ ६२ ॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् भगवान् को देखकर, शीघ्र ही अपने विमान (हंसरूप वाहन) से उतर कर भूमि पर आके पृथ्वी के ऊपर अपने शरीर को स्वर्ण के दण्ड के समान सम्पूर्ण गिराकर, उलटे होके चारों मुकटों की कोटि[4] से भगवान् के चरणों का स्पर्श कर, पुनः वाणी से भी प्रणाम कर प्रेम के आँसुओं से भगवान् के चरण युगल का अभिषेक किया ॥ ६२ ॥

× 'उद्वहत्' यह पद श्लोक में 'पशुपवंशशिशुत्व नाट्य' पद में मिला हुआ आया है । उसका अर्थ ऊपर किया गया है । आचार्य श्री ने इसको पृथक् कर यह अर्थ भी बताया है—अनुवादक ।

१—द्वैत रहित । २—सीमा रहित । ३—जिसका ज्ञान बहुत गहरा हो । ४—अग्रभाग ।

श्लोक--उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन् ।
आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः ॥ ६३ ॥

श्लोकार्थ--जैसे जैसे प्रथम देखी हुई महिमा को बार बार स्मरण करते थे वैसे वैसे ही बार बार उठकर बहुत देर तक भगवान् के चरणों में पड़ते थे ।

सुबोधिनी—ततोपि पुनः पुनरुत्थाय **कृष्णस्य पादयोः पतन्** स्तब्ध इवास्ते, तत्र हेतुः **प्राग्दृष्ट महित्वं पुनः पुनः स्मृत्वा स्मृत्वा** ॥ ६३ ॥

व्याख्यार्थ—वहाँ से भी बार-बार उठकर कृष्ण के चरणों में पड़कर स्तब्ध हो जाते थे कारण कि भगवान् की देखी हुई पूर्व की महिमा ज्यों-ज्यों याद आती थी त्यों-त्यों बार-बार चरणों में पड़कर ब्रह्माजी स्तब्ध हो जाते थे ॥ ६३ ॥

श्लोक----शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः ।
कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः सवेपथुर्गद्गदयैडतेलया ॥ ६४ ॥

श्लोकार्थ--फिर धीरे से उठ, आँखे पोंछ, भगवान् को देखकर गर्दन नीची कर हाथ जोड़, विनय सहित सावधान ब्रह्माजी कांपते कांपते गद्गद् वाणी से स्तुति करने लगे ॥ ६४ ॥

सुबोधिनी—ततः पुनर्मूर्छां परित्यज्य **शनैरुत्थाय** नेत्रे **विमृज्य** ततो निर्मलचक्षुषा **मुकुन्दमुद्वीक्ष्य** विशेषेण **नम्रा कन्धरा** यस्य तादृशो जातः, ततः **कृताञ्जलिः प्रश्रयवान्** विनयसहितः **समाहितः** सावधानः **सवेपथुः** कम्पमानो **गद्गदयैलया** सरस्वत्यैडत स्तोत्रं कृतवान् ॥ ६४ ॥

व्याख्यार्थ—इसके अनन्तर मूर्छा को छोड़कर धीरे-धीरे उठकर, निर्मल नेत्रो से मुकुन्द भगवान् के दर्शन कर नीची गर्दन कर विनय-पूर्वक हाथ जोड़ सावधान होके कांपते हुए ब्रह्माजी गद्गद् वाणी से स्तुति करने लगे ।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम-स्कन्ध (पूवार्ध) के तेरहवें अध्याय को श्रीमद् वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तीन प्रक्षिप्त अध्यायों में का द्वितीय अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित हरि-लीला का अवगाहन निम्न पद से कीजिए

राग बिलावल

हरष भये नंदलाल बैठ तरु छांह की ।। ध्रुव ।।

बंशी बट अति सुखद और द्रुम पास चंहू हैं ।
सखा लये तहां गये धेनु बन चरत कहूँ है ।।
बैठि गये सुख पाय के ग्वाल बाल लये साथ ।
कांवरि झोरी लये सखा हो आन नबायो माथ ।। १ ।। बैठि तरु छांह की,

आनन्द दये मधु छाक तुरत वृन्दावन आये ।
बिंजन सहस प्रकार जशोदा बने पठाये ।।
श्याम कह्यो बन जात हों माता सों समुझाय ।
उतते वे आये सबे हो देखत ही सुख पाय ।। २ ।। बैठि तरु छांह की,

कान्ह देख मधु छाक पुलक अंग अंग बढायो ।
हरि हंसि बोलत बैन प्रेम जननी पहुँचायो ।।
नीके पहुँचे आय तुम भलो बन्यो संयोग ।
बार बार कहि सखनि सों हो आजु करें सुख भोग ।। ३ ।। बैठि तरु छांह की,

बन भोजी विधि करत कमल के पात मंगाये ।
तोरे पान पलास सरस दोना बहु लाये ।।
भाँति भाँति भोजन धरे दधि लवनी मिष्टान ।
बन फर लये मंगाय के हो लागे रुचि करि खान ।। ४ ।। बैठि तरु छांह की,

बन भोजन हरि करत संग मिलि सुबल सुदामा ।
श्याम कँवर प्रसेन महर सुत अरु श्रीदामा ।।
कान्ह सबन मिल खात हैं ले ले कौर छिड़ाय ।
औरनि देत बुलाय के हो डहकि आपु मुख नाय ।। ५ ।। बैठि तरु छांह की,

ब्रह्मा देख विचार सृष्टि को उनई चलाई ।
मोहि पठयो जेहि सोंपि ताहि कह के हो जाई ।।
देखो धों यह कौन है बाल बच्छ हर लेऊं ।
ब्रह्म लोक लै जाउँगो हो यहि बुधि कर दुख देऊं ।। ६ ।। बैठि तरु छांह की,

अन्तर्यामी नाथ तुरत विधि मन की जानी ।
बालक द्वै दिये पठे धेनु बन कहां हिरानी ।।
जहां तहां बन ढूंढि के फिरि आये हरि पास ।
सखा सबनि बैठारि के हो, आपुन गये उदास ।। ७ ।। बैठि तरु छांह की,

हरि ले बालक बच्छ ब्रह्म लोक हि पहुँचायो ।
फिरि आवे जो कान कहूँ को उनही बतायो ।।
जान्यो यह मन में तबही विधि ले गयो हराय ।
प्रभु तबही तेहि रंग रूप के हो बालक बच्छ बनाय ।। ८ ।। बैठि तरु छांह की,

तातें कीने और ब्रह्म हृदि नाल उपायो ।
अपनों करि तेहि जानि कियो ताको मन भायो ।।

उच्चाटन मारन समर्थ मन हरि कीन्हों ज्ञान ।
अनजानें विधि यह करी हो नये रचे भगवान् ।। ९ ।। बैठि तरु छांह की,

उहे बुद्धि उहे प्रकृति उहे पौरुष तन सब के ।
वहे नाम वहे भेष धेनु बछरा मिलि रबके ।।
श्याम कहे सब सखनि को ल्यावहु गोधन फेरि ।
संध्या को आगम भयो हो व्रज तन हांको घेरि ।। १० ।। बैठि तरु छांह की,

सुनत ग्वाल लै धेनु चले व्रज वृन्दावन ते ।
कांन्हहिं बालक जानि डरे सब ग्वालहिं मन ते ।।
मध्य किये ले श्याम को सखा भये चहुं पास ।
बच्छ धेनु आगे दिये हो आवत करत विलास ।। ११ ।। बैठि तरु छांह की,

बाजत वेणु विषान सबै अपने रंग गावत ।
मुरली धुनि गोरंभि चलत पग धूरि उड़ावत ।।
मोर मुकट सिर सोहंई मनहु चंदकन शीत ।
आस पास नाचत सखा हो बिच २ हरिगावत गीत ।। १२ ।। बैठि तरु छांह की,

देखि हरखि व्रज नारि श्याम पर तन मन वारति ।
एक टक रूप निहारि रही मेटति चित्त आरति ।।
कहा कहें छबि आजु की मुख मंडित खुर धूरि ।
मानहु पूरन चन्द्रमा हो कुहू रह्यो आपूरि ।। १३ ।। बैठि तरु छांह की,

गोकुल पहुंचे जाय गाय बालक अपने घर ।
गोसुत अरु नर नारि मिलि अति ही करि आदर ।।
प्रेम सहित वे मिलत हैं जे उपजाये आजु ।
जशुमति मिलि सुत सों कहति है रैनि करत किहिं काजु ।।१४।। बैठि तरु छांह की,

मैं घर आवन कह्यौ सखा संग कोउ नहि आवै ।
देखत बन अति अगम डरावैं मोहि डरपावै ।।
बार बार उर लायके लै बलाय पछिताय ।
कालिहुतें वेई सबे हो ल्यावहि गाय चराय ।। १५ ।। बैठि तरु छांह की,

यह सुनि के हरि हंसे काल्हि मेरि जाय बलैया ।
भूख लगी मोहि बहुत तुरत ही दे कछु मैया ।।
माखन दीनों हाथ पै वह तब लो तुम खाहु ।
तातो जल है घाम को हो तनक तेल सो न्हाहु ।। १६ ।। बैठि तरु छांह की,

तब जशुमति गहि बांह वहीं हरि लै अन्हवाये ।
रोहिनि करि जेवनारि श्याम बलराम बुलाये ।।
जेंवत अति रुचि पाव हो परुसति माता हेतु ।
जेंय उठे अचवन लीयो हो दुहुं कर बीरा देतु ।। १७ ।। बैठि तरु छांह की,

श्याम उनिदे देखि मात रचि सेज बिछायो ।
तापे पौढे लाल अतिहि मन हरष बढायो ।।
अघमर्दन विधि गर्व हरत करत न लागी बार ।
सूरदास प्रभु चरित को हो पावत कोऊ न पार ।। १८ ।। बैठि तरु छांह की,

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्योनमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य – विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

कौतुक लीला निरूपक

प्रक्षिप्त तृतीय अध्याय

दशम स्कन्धानुसार : चतुर्दशो अध्याय

कारिका––स्तुतिर्ब्रह्मप्रसादश्च वत्सानां पुनरागतिः ।
स्नेहोपपत्तिः श्रवणे फलं चेति निरूप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थं––इस अध्याय में पांच विषयों का निरूपण है––

(१) ब्रह्मा ने भगवान् की स्तुति की है, (२) प्रसन्नता, (३) भगवान् बछड़ों को ले आए, (४) भगवान् में स्नेह होना, (५) इस कथा के श्रवण से प्राप्त फल का निरूपण ।

आभास––प्रथमं व्याकुलो ब्रह्मा दृष्टं रूपं वर्णयन् नमस्यति ।

आभासार्थ––प्रारम्भ में व्याकुल हुए ब्रह्मा ने जैसा रूप देखा उसका वर्णन करते हुए स्तुति करते हैं ।

॥ ब्रह्मोवाच ॥

श्लोक––नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—ब्रह्माजी कहने लगे कि, हे स्तुति करने योग्य मेघ श्याम वर्ण वाले बिजली के समान चमकोले पीताम्बरधारी, गुंजा के कर्णभूषण और मयूर पिच्छों के मुकट से शोभायमान, वन मालाओं से विभूषित, ग्रास, बेंत, सींग और वंशी के चिन्हों से सुशोभित शरीर वाले तथा कोमल चरणों वाले गोपाल के पुत्र आपकी स्तुति करता हूँ।

सुबोधिनी—नौमीति "णु स्तुतौ" स्तौमि भगवन्तं, तत्र हेतुं सम्बोधनेनाह हे ईड्येति, सर्वैरेव स्तूयतेतो मयापीति, "प्रयोजनमनुद्दिश्य कोपि न प्रवर्तत" इति किमर्थं स्तोत्रमित्याशङ्क्याह त इति, तुभ्यमेव, त्वमेव फलं न त्वहं, ब्रह्मप्राप्तिश्च तपोज्ञानादिभिः किं स्तोत्रेणेति चेत् तत्राहाभ्रवपुष इति, नास्माकं फलं शब्दविषयकं ब्रह्म किं त्वेतदेव प्रत्यक्षतो दृश्यं तदपि प्राकृतचक्षुषैव तत्रापि सर्वाभरणभूषितं तत्रापि प्राकृतालङ्कारसहितं तत्राप्येतदवस्थापन्नमिति वक्तुं तथाविशेषणान्याहाभ्रवन् मेघवद् वपुर्यस्य नीलमेघश्यामाय, तडिद्वत् पीतमम्बरं यस्य, गुञ्जाफलानामवतंसः परितो मयूरपिच्छानि तैर्लसन् मुखं यस्य, वनोद्भवानां पुष्पाणां स्रग् यस्य, कवलं दध्योदनो हस्ते, वेत्रविषाणे कक्षयोः, वेणुर्जठरपटयोः, एतान्येव यानि लक्ष्माणि चिह्नानि तैः श्रीः शोभा यस्य, मृदू पादौ यस्य, पशुपस्य नन्दस्याङ्गाज्जातो नन्दसूनुः, अनेन यथैव व्यवहारो लौकिकस्तद्विषय एव भगवानस्माकं फलरूपोऽस्त्वित्यर्थः ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ—मैं (ब्रह्मा) आप (भगवान्) की स्तुति[1] करता हूँ कारण कि आपकी सब स्तुति करते हैं आप स्तुति करने योग्य हो अतः मुझे भी स्तुति करनी चाहिये। स्तुति करने की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि मूर्ख भी प्रयोजन के बिना कोई कार्य प्रारम्भ नहीं करता है तो मैं बिना प्रयोजन के कैसे स्तुति करूंगा। प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि 'ते' तेरे लिये ही स्तुति करता हूँ कारण कि आप (जो इन नेत्रों से दिख रहे हो वह) ही फलरूप हो, न कि मैं फलरूप हूँ। ब्रह्म की प्राप्ति तो तप ज्ञानादि से होती है स्तुति करने से क्या लाभ ? इस शङ्का के निवारण के लिये कहते हैं कि 'अभ्रवपुषे' मैं उस स्वरूप की स्तुति करता हूँ जो आपका स्वरूप घनश्याम है। हम लोगों के लिये जिसका केवल शब्द से इंगित वर्णन किया जाता है वह फलरूप नहीं है किन्तु यह ही फलरूप है जो प्रत्यक्ष देखने में आ रहे हैं और जो इन प्राकृत नेत्रों से ही दृश्य हो रहे हैं, तथा प्राकृत अलङ्कार पहिने हुए और इसी अवस्था में स्थित हैं—इसको बताने के लिये दूसरे विशेषण देते हैं। अभ्र (आकाश) के समान नील, (मेघश्याम) बिजली के समान पीले वस्त्र वाले, गुञ्जाफल के आभूषण पहने हुए मोर पिच्छ से शोभित मुख वाले, वनमालाओं से विभूषित, दहि से मिश्रित भात के ग्रास को हाथ में लिए हुए जठर (पेट) पर लपेटे वस्त्र में वंशी धारण किए; इतने पदार्थों से जिनकी शोभा हो रही है और कोमल चरण वाले, नन्दनन्दन उनका जैसा ही लौकिक व्यवहार देखने में आता है, वैसे विषय वाले भगवान् ही हमारे फलरूप है।

१—श्लोक में 'नौमि' पद 'णु' स्तुतिवाचक धातु का रूप है।

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

ब्रह्म-स्तुति

कारिका——**लौकिके प्राकृते भावे यस्य भावः स भक्तिमान् ।**
हीनभावं तं विदित्वा योन्यथा वेद सोधमः ॥ १ ॥
यद् गृह्णाति यथैवायं रोधयत्यत्र लौकिके ।
तत् प्रमाणमिहास्माकं नान्यद् भिन्नाधिकारतः ॥ २ ॥

कारिकार्थ——लौकिक और प्राकृत भाव वाले स्वरूप में जिस मनुष्य (भक्त) का प्रेम है वह ही भक्तिवाला है। और जो इस प्राकृत भाववाले स्वरूप को हीन समझता है वह पुरुष अधम है।

भगवान् लोक में जिस प्रकार के स्वरूप को ग्रहण करते हैं एवं जैसा भी जनाते हैं, वही स्वरूप हमारे भक्ति मार्ग में प्रमाण है। अन्य प्रकार का रूप दूसरों (जो भक्ति मार्ग के अधिकारी नहीं हैं उन) के लिये प्रमाण है।

व्याख्या——आचार्य श्री दोनों कारिकाओं से यह शिक्षा देते हैं कि भगवान् स्वइच्छा से जो भी रूप धारण कर भक्तों को दर्शन देते हैं वह स्वरूप लौकिक प्राकृतवत् है तो भी हमारे (भक्तों के) वह ही फलरूप परमतत्त्व* है। जो इस स्वरूप को नीची श्रेणी का मानते हैं वे अधम हैं।

आभास——नन्वेतदेव फलत्वेन किमिति प्रार्थ्यते ? प्रदर्शनार्थमेवैतदतः श्रुतिसिद्धमेव फलत्वेन प्रार्थ्यतामित्याशङ्क्याहास्यैवेति ।

आभासार्थ—इस दृश्यरूप को ही फलरूप कैसे कहते हो ? यह तो केवल दिखावा (मायिक) है, अतः श्रुति प्रमाण सिद्ध स्वरूप को फलरूप समझ उसकी प्रार्थना करो। इस शङ्का को मिटाने के लिये निम्न श्लोक कहते है।

श्लोक——**अस्यैव देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य तनुभूतमयस्य कोपि ।**
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण साक्षात् तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥ २ ॥

श्लोकार्थ——हे देव ! मुझ पर अनुग्रह करने वाली, स्वइच्छानुसार स्वरूप धारण करने वाली यह आपकी मूर्ति की जो पञ्चभूतों से बनी हुई नहीं है उसको कोई भी विचारयुक्त मन से जान नहीं सकता है तो आपके सांक्षात् स्वतः पुरुषार्थ रूप स्व अनुभूति स्वरूप की महिमा को कौन जान सकेगा ?

* जैसे गोपियों ने कहा है कि 'अक्षण्वतां फलमिदं' इन्द्रियवानों का यही फल है कारण कि भक्त को वह स्वरूप तथा उसके आभूषणादि आनन्द रूप ही दीखते हैं। और अभक्त को प्राकृत व मायिक, अतः वे अधम हैं—अनुवादक ।

सुबोधिनी—एतदप्यस्माकं महत् फलं यस्य हि स्वरूपानुभावौ ज्ञायेते तत् फलमिष्टं भवति, अस्माकं त्वेतस्यापि स्वरूपानुभावौ न बुद्धिगोचरावत इदमेव फलत्वेन धार्ष्ट्यादेव प्रार्थ्यते, देवेतिसम्बोधनमुपास्यत्वाय, अस्यापि वपुषो महि महिमानमन्तरेणापि मनसान्तर्मुखेन विचारयुक्तेनापि मनसाहं ब्रह्मापि नेशे "कश्चिद धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षु" रितिपक्षं व्यावर्तयति, यद्यपीदं वपुर्मदनुग्रहं मय्यनुग्रहो यस्य, ब्रह्मकृपयैवावतारो ब्रह्मवचनाच्च गोकुले समागमनं ब्रह्मणि कृपयैवेदानीं प्रादुर्भाव इति, अत इदं रूपं ब्रह्मार्थमेव, तर्हि कथं न माहात्म्यं ज्ञायत इत्याशङ्क्याह स्वेच्छामयस्येति, स्वस्य येच्छा तन्मयोयं, इच्छा त्वपराधेन्यथा भवतीति न नियमो मय्यनुग्रहमेव करिष्यतीति, न च कालकर्मस्वभावानां नियामकत्वं, तथा सति ब्रह्मण्यस्तेनुकूला इत्यनुग्रहमेव करिष्यतीति कल्पयितुं शक्यते, अतः कालाद्यधीनत्वाभावे हेतुमाह तनुभूतमयस्येति, कोप्यहमपि, यत्रास्य रूपस्यैव महिमा न ज्ञायते तत्र साक्षात्तत्वैव श्रुत्यैकसमधिगम्यस्यात्मसुखानुभूतेः स्वत एव बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य सच्चिदानन्दरूपस्य वा, यद्यप्येतदेव तत् तथाप्यप्रतीयमानमपि फलत्वेन भिन्नतया निर्दिष्टम् ।। २ ।।

व्याख्यार्थ—यह प्रत्यक्ष देखने में आनेवाला स्वरूप भी हमारे लिये महान् फल है । जिसके स्वरूप और प्रभाव जानने में आवे वह स्वरूप ही फल, अभिलषित तथा प्यारा होता है । हम लोगों को तो इसके भी प्रभाव और स्वरूप समझ में नहीं आते हैं अतः इसकी भी फलरूप से धृष्टता कर ही प्रार्थना करते हैं । श्लोक में 'हे देव' शब्द से बताया गया है कि यह स्वरूप ही उपासना करने योग्य है । इस वपु[1] की महिमा विचारयुक्त मन से भी मैं ब्रह्मा भी नहीं जान सकता हूँ । 'किसी अन्तर चक्षुधारी धीर ने प्रत्यगात्मा को देखा' इस पक्ष को यहाँ स्वीकार नहीं करते हैं । जो कि यह स्वरूप मेरे पर अनुग्रह वाला है अर्थात् मेरी प्रार्थना से मुझ पर कृपा कर यह स्वरूप धारण किया है । मेरे कहने से गोकुल में पधारे, अब भी मुझ पर कृपा कर प्रकटे हैं अतः यह रूप ब्रह्मा के (मेरे) लिये ही है । तो इसका माहात्म्य ब्रह्मा क्यों नहीं जान सकते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि यह अवतार 'स्वेच्छामय' है । अपनी इच्छा वाला है इच्छा में तो कोई अपराध करे तो भी उसके ऊपर कृपा की जा सकती है वहाँ कोई भी नियम लागू नहीं हो सकता है । अतः मेरे पर अनुग्रह ही करेगा ऐसा नियम नहीं है । इस पर काल कर्मादिकों का भी नियामकत्व नहीं है उनके नियामकत्व न होने से जाना जाता है कि भगवान् की इच्छा ब्रह्मा के अनुकूल है, इससे अनुग्रह ही करेंगे यह कल्पना की जा सकती है। ऐसा क्यों कहते हो कि कालादि के आधीन यह स्वरूप नहीं है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि कालादि के आधीन वह होता है जो पञ्चभूतों से बना हुआ शरीर हो । यह पाँच भूतों से बना हुआ नहीं है, किन्तु स्वेच्छामय है । अतः कोई भी एवं मैं भी जहाँ इस रूप की महिमा नहीं जान सकते हैं तो साक्षात् अशेष[2] पुरुषार्थ रूप, सच्चिदानंद स्वरूप की महिमा को कौन जान सकेगा । यद्यपि (जोकि) वह भी यही है तो भी प्रतीति न होने से उसको पृथक् फलरूप से वर्णन किया गया है ।। २ ।।

आभास—नन्वेवं सति कथं ज्ञानार्थं यतन्ते ? तत्राह ज्ञाने प्रयासमिति ।

१—शरीर । २—सर्व ।

आभासार्थ—यदि ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान होना अशक्य है तो उसके लिये प्रयत्न क्यों करते हैं ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक द्वारा करते हैं ।

श्लोक----ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताःश्रुतिगतां तनुवाङ् मनोभिर्ये प्रायशोजित जितोप्यसितैस्त्रिलोक्याम् ॥

श्लोकार्थ----हे अजित[1] ? ज्ञान प्राप्ति के लिये परिश्रम का त्याग कर, जो लोग सत्पुरुषों के मुख से गाई हुई आपकी कीर्त्ति कान में आते ही शरीर, वाणी तथा मन से नमन करते हुए जीते हैं उनने आपके स्थान (तीर्थ, मन्दिर आदि) में स्थित ही आप अजित को प्रायः जीत लिया है अर्थात् अपने वश में कर लिया है ।

सुबोधिनी—ज्ञानं द्विविधं भगवतः स्वस्य च, तत्र स्वज्ञानमपि भक्त्यैव भवतीति वक्तव्यं, भगवज्ज्ञानं तु न कस्यापि भवति, न ह्यापाततो दृष्टो भगवान् ज्ञातो भवति नापि श्रुतः, भक्त्यापि तत्त्वं ततो ज्ञानमिति प्रवेशोपयोग्येव तावदेवापेक्ष्यत इति, अतो ज्ञाने प्रयासमुद्भवमेवापास्य दूरीकृत्य तव द्वारकादिस्थानेषु स्थिता देशदोषाभावाय यत्र क्वाप्युपविष्टा वा सद्भिर्मुखरितां भगवदीयवार्तां स्वस्य श्रुतिगतां कर्णगतां तनुवाङ् मनोभिर्नमन्तो ये जीवन्ति ते प्रथमतः प्रसिद्धा भवन्ति, किं बहुना ? तैरजितोपि भवान् जितः अयमेको मार्गः सर्वेषां पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं प्रसिद्धः सुगमः, आदौ स्थानस्थितानां जीविकोपद्रवाभावादिः स्वतःसिद्धः, सन्तश्च सर्वत्र भगवदाज्ञया परिभ्रमन्ति, तेषां चैतदेव कृत्यं, भगवद्गुणगाने ते मुखरा एव भवन्ति, तत्रापि कथायां ज्ञात्वा वक्तव्यमिति न नियमः, केवलं भगवदीया भगवत्सम्बन्धिनी वार्ता भवतु न तूपपन्नानुपपन्ना वेति, तत्राप्यनायासेन स्वकर्णे समागता भवति, परं कायवाङ् मनोभिर्नमस्या सा, तदनुगुणतयाकायवाङ् मनांसि स्थापनीयानि, न तु तत्र विरोध आचरणीयः, एतावदेव कृत्यमत्र साधनं जीवनमेव न तु कर्मकरणादिकमपि, प्रायश इति ते चेद् भावान्तरं न कुर्युः कालादयः प्रतिबन्धकत्वाद्वा, अतोनेनैव प्रकारेणाग्रिमतनानां निस्तारो मम त्वनेनैव स्वरूपेणेति स्वतन्त्र पक्षो निरूपितः ॥३॥

व्याख्यार्थ—ज्ञान दो प्रकार का है । १—भगवान् के स्वरूप का ज्ञान, २—अपने (जीव) स्वरूप का ज्ञान । इन दोनो में अपने (जीव) स्वरूप का ज्ञान भी भक्ति से प्राप्त होता है । भगवान् के स्वरूप का ज्ञान तो किसी को भी नहीं होता है । कारण कि भगवान् के दर्शन से वा उनके स्वरूप का वर्णन श्रवण करने मात्र से उसका पूरा ज्ञान नहीं होता है । भक्ति से भी तत्त्व हृदय में आ जाता है, उससे प्रवेश उपयोगी जितना ज्ञान अपेक्षित है उतना ज्ञान हो जाता है, अतः ज्ञान के लिए परिश्रम करना छोड़कर देश के दोष विघ्नकारक न हों इसलिये आपके द्वारका आदि स्थानों में स्थित अथवा जहाँ कहीं भी स्थित सत्पुरुषों के द्वारा कही गई भगवान् की कथा जब अपने कान में आती है तब शरीर, वाणी और मन से आपको ही प्रणाम करते हुए जो लोग जीवित

१—किसी से भी नहीं जीते गए ।

रहते हैं वे पहले से ही प्रसिद्ध हैं। बहुत क्या कहें ? उन्होंने अजित आपको भी जीत लिया है। यह एक ही सरल मार्ग सबके लिए पुरुषार्थ सिद्ध करने वाला प्रसिद्ध है। आरम्भ में ही आपके स्थान में रहने वालों को भोजन आदि का कष्ट नहीं होता है यह स्वतः सिद्ध है। सत्पुरुष सर्वत्र[1] भगवदाज्ञा से परिभ्रमण करते हैं उनका यही कर्त्तव्य है। भगवान् के गुणगान करने में वे अगुए ही होते हैं। उसमें भी कथा जानकर ही कहनी वैसा नियम वहां नहीं है। केवल भगवान् से सम्बन्धित कथा ही होनी चाहिये। युक्ति-युक्त वा अनुपपन्न हो उसका विचार नहीं करना चाहिये। वह बिना प्रयास कान में आ जाती है किन्तु वह काया, वाणी और मन से नमन योग्य है। उस वार्ता को शरीर, मन तथा वाणी में इस प्रकार स्थान देना जैसे उसमें दुर्भावना उत्पन्न न होने पावे। उसके विरुद्ध विचार न करने चाहिये इतना ही कृत्य है। यहाँ (भक्ति मार्ग में) जीवन† ही साधन है न कि कर्म करने आदि साधन है। श्लोक में आए हुए 'प्रायशः' का भाव बताते हैं कि वे (भक्ति पथिक) यदि अन्य भाव न लावें अथवा कालादिक प्रतिबन्धक हैं केवल जीवित रहकर श्रवण से क्या होगा ? इस प्रकार के भाव न लावें तो यही (जीवन) एक सरल साधन सर्व सिद्धि कारक है। अतः इस प्रकार (जीवित रहकर भगवद्गुण श्रवण से) होने वालों (जीवों) का मोक्ष होगा। मेरा तो प्रथम श्लोक में कहे हुए भगवान् के स्वरूप से ही मोक्ष होगा। इस प्रकार स्वतन्त्र (प्रत्यक्ष दर्शन के) पक्ष का निरूपण किया है ॥ ३ ॥

आभास ये तु पुनः स्वज्ञानार्थं यतन्ते तेन च पुरुषार्थं साधयितुं ते भ्रान्ता एवेत्याह श्रेयः स्रुतिमिति।

आभासार्थ—जो लोग आत्म-ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं और उससे पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिए प्रयास करते हैं वे भ्रान्त[2] हैं। यह निम्न श्लोक में दृष्टान्त देकर समझाते हैं।

श्लोक **श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो यतन्ति ये केवलबोधलब्धये।**
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—हे विभो ! कल्याण के प्रवाह को प्रकट करनें वाली आपकी भक्ति को छोड़कर, जो लोग केवल आत्मबोध की प्राप्ति के लिये क्लेश करते हैं उनको केवल यह क्लेश ही फलरूप में प्राप्त होता है जैसे भूसा कूटने वाले को दुःख के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं है।

† जीवन को साधन कहने का आशय यह है कि भगवद्गुण श्रवण जीवन में हो सकते हैं—अनुवादक।

१—सब स्थानों में। २—भूले हुए।

सुबोधिनी—श्रेयस: स्रुति: प्रस्रव:, सृतिर्गतिर्वा, यया भक्तिर्हि चिन्तामणिरूपा प्रार्थ्यते चेदन्यदिवात्मज्ञानमपि प्रयच्छति तादृशीमपि परित्यज्य केवलं स्वरूपज्ञानमेवास्त्विति ये यतन्ते तेषामसौ यत्न: क्लेशल एव शिष्यते, क्लेशयुक्त: क्लेशलो न तु फलयुक्तोपि, तेन प्रयत्नेन गौणमपि फलं साधितं भविष्यतीतिशङ्कां वारयति नान्यदिति, अन्यत् फलं प्रासाङ्गिकमपि न भवतीत्यर्थ:, ननु तपस्यादिना यत्ने कथं नान्यफलसिद्धिरन्त:करणशुद्धिर्वा भवेदित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह स्थूलतुषावघातिनामिति, महता कष्टेनाप्युत्पादिता: स्थूलतुषा अवहता अपि स्वरूपत एव परं नश्यन्ति न तु कश्चन तेषु सारांशोस्ति, अत: सत्त्वमूर्तेरस्वीकारे सत्त्वाभावाच् छुद्धिज्ञानादिकं न भवत्येव, मौढ्यात् प्रवृत्ता:-क्लिष्टा एव भवन्तीत्यविवादम् ।। ४ ।।

व्याख्यार्थ—जिससे कल्याण के झरने बह रहे हैं ऐसी चिन्तामणि रूप से, आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है उसको त्याग कर केवल यही चाहते हैं कि स्वरूप का ज्ञान ही हो इस प्रकार जो लोग प्रयत्न करते हैं उनका यह प्रयत्न केवल क्लेशकारक ही होता है। क्लेश के अतिरिक्त कुछ भी फल नही मिलता है। उस प्रयत्न से मुख्य फल नहीं होगा किन्तु गौण फल तो मिलेगा ? इस शंका निवारणार्थ कहते हैं कि दूसरा प्रासंगिक फल भी नहीं होता है। तपस्यादि प्रयत्न करने से दूसरे फल की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? अथवा अन्त:करण की शुद्धि तो होगी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे भूसा कूटने से किसी प्रकार का फल तो नहीं मिलता है किन्तु वह भूसा ही नष्ट हो जाता है। वैसे ही सत्त्वमूर्ति की भक्ति का स्वीकार किए बिना तथा सत्वगुण का अभाव रहने से, अन्त:करण की शुद्धि वा ज्ञानादिक की प्राप्ति नहीं होती है। मूर्खता से उसमें प्रवृत हुए लोग दु:खी ही होते हैं। इसमें किसी प्रकार का वाद नहीं अर्थात् यह निश्चय ही है ।। ४ ।।

आभास—अस्मिश्च मार्गे फलसिद्धिर्बहूनां जातेत्याह पुरेति ।

आभासार्थ—इस मार्ग में आए हुए बहुतों को फल प्राप्ति हुई है। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**पुरेह भूमन् बहवोपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया ।**
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेञ्जोच्युत ते गतिं पराम ।। ५ ।।

श्लोकार्थ----हे भूमन् ! हे अच्युत ! इस लोक में पहले बहुत से योगीजन अपनी चेष्टा और कर्मों को आप में अर्पण कर, उन अर्पित कर्मों से प्राप्त, कथा श्रवण से उत्पन्न भक्ति-द्वारा ही, आत्मज्ञान को प्राप्त कर अनायास से आपकी परागति को प्राप्त हुए हैं ।। ५ ।।

सुबोधिनी – हे भूमन् व्यापक, पूर्वमपि विद्यमान, इहास्मिन् बहवोपि सङ्ख्शो योगेनावधृतभक्तिसामर्थ्याः, अत एव त्वय्यर्पितेहा चेष्टा यस्तेनैव समर्पणलक्षणेन कर्मणा त्वत्सेवालक्षणकर्मणा वा लब्धया भक्त्यैव विबुध्य स्वरूपं ज्ञात्वा हेच्युत केनापि प्रकारेण च्युतिरहित ते गतिं मार्गं येन प्रकारेण त्वं गच्छसि तां प्रपेदिरे, पश्चात् त्वदनुगानां न कापि चिन्ता, अञ्जोनायासेनैव परां लोकातीतां प्रपेदिरे प्राप्तवन्तः, अत आत्मज्ञानापेक्षायामप्ययमेव मार्ग उचितः ।। ५ ।।

व्याख्यार्थ—हे भूमन् ! (पहले भी विद्यमान ! सर्वव्यापक !) इस (भक्ति) मार्ग में बहुत संख्या वाले योगीजन जिन्होंने योग से भक्ति के माहात्म्य को जान लिया है इस कारण से ही अपनी चेष्टाएँ एवं सर्व कर्म अर्पण कर दिये हैं उससे अथवा आपकी सेवा रूप कर्म से प्राप्त भक्ति द्वारा ही आत्म स्वरूप को जानकर हे अच्युत[1] जिस प्रकार से आप जाते हो उसी गति[2] को वे प्राप्त हुए हैं । अनन्तर आपके अनुयायियों को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती है । अनायास[3] से ही परम अलौकिक गति को प्राप्त होते हैं अतः आत्मज्ञान की अपेक्षा[4] से भी यही मार्ग उचित है ।। ५ ।।

आभास—एवं लौकिकप्रकारं समर्थयित्वा वैदिकं च व्यवस्थया निरूप्य पौराणिकप्रकारेणापीदमेवोपास्यं न त्वन्तर्यामिरूपमिति वक्तुं तदपेक्षयास्य माहात्म्यं वदिष्यन्नन्तर्यामिरूपं सुकरत्वेन निरूपयत्यथापीति ।

आभासार्थ—इस तरह लौकिक प्रकार का समर्थन कर तथा वैदिक प्रकार की व्यवस्था (शास्त्र की मर्यादा) से निरूपण कर एवं पुराणों में कहे हुए प्रकार से भी यह बताया कि यह स्वरूप ही उपासना करने योग्य है । अन्तर्यामी रूप उपास्य नहीं है । यों कहने के लिए भी इस (श्रीकृष्ण स्वरूप) के माहात्म्य का वर्णन करने के पहले सरल रीति से अन्तर्यामी रूप का निरूपण निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**अथापि भूमन् महिमागुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।**
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ।। ६ ।।

श्लोकार्थ—हे भूमन् ! (हे सर्वत्र व्यापक !) यों तो आपके सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का ज्ञान होना कठिन है तो भी आपके निर्गुण स्वरूप की महिमा तो विकार रहित आत्मानुभव युक्त अन्तःकरण से ही अहम्रूप ज्ञानियों को अनन्य भाव से अनुभव में आती है परन्तु दूसरे प्रकार से नहीं ।

१—किसी प्रकार की भी हानि या पतन से रहित । २—मार्ग । ३—बिना परिश्रम । ४—तुलना में ।

सुबोधिनी—हे भूभन् ? अगुणस्य गुणातीतस्य ते महिमामलान्तःकरणैर्बोद्धुं बोधगोचरीभवितुमर्हति योग्यो भवति, हेतौ तृतीया, बोधविषयो महिमा भवति, यथा बोधे कर्ता योग्यो भवत्येवं कर्मापि "ग्रामो गन्तुमर्हती" तिवत्, अन्तःकरणैर्नैर्मल्येगुणस्य महिमा चिते प्रकाशते दर्पणे मुखवत् प्रयासाभावात्, चित्तं हि सत्त्वाकारं तद् गृह्णाति, अग्रहणे हेत्वभावात्, तत्र विकारं हेतुत्वेनाशङ्क्य परिहरत्यविक्रियादिति, न विक्रिया यस्मिन्, विकारे हि सति शुद्धचित्तेन न गृह्यते, किञ्च शुद्धं चित्तमात्मगाम्यात्मस्थितमेव पदार्थं गृह्णाति, महिमा पुनरात्मनिष्ठ एव, अतोपि ग्रहणयोग्यो भवतीत्याह स्वानुभवादिति, स्वस्यानुभव एवानुभवो यस्य, आत्मग्रहणेनैव गृह्यत इति स्वशब्देनात्मा, महिम्न एव स्वशब्दावाच्यत्वे महिम्न एवानु पश्चाद् भव उद्भवो यस्मात् महिमसम्बन्ध्यनुभवोन्तःकरणे भवति, गुणातीतस्य चेत् तथा महिमा न भवति तदान्तःकरणे ज्ञानं न भवेदेव, अत एवात्मानमपि गृह्णन् स्वजनकं ज्ञापयत्येव, स्वस्यायं महिमानुभवरूप एव वा, स्वयमेवानुभवस्तथा सति स्वप्रकाश एव, किञ्च शुद्धे ह्यन्तःकरणे ब्रह्माकारेण परिणते रूपवत्पदार्था एव न गृह्यन्ते महिमा तु ब्रह्मभूत एवेति भिन्नरूपत्वाभावाद् बोद्धुमर्हति, तदाहानन्यबोध्यात्मतयेति, अन्येन बोध्य आत्मा स्वरूपं यस्य तादृशभिन्नोयमात्मत्वेनैव भासमानत्वात्, अन्तःकरणधर्मा वा एते निर्दिष्टाः, सर्वविकारं परित्यज्य ज्ञानरूपेण परिणतं सप्रापञ्चिकविषयग्रहणहेतुभूतवासनारहितं सत् स्वत एव स्फुरज् ज्ञानरूपमन्तःकरणं भगवन्महिमानं गृह्णातीति ।। ६ ।।

व्याख्यार्थ—हे सर्वत्र व्यापक ! गुण रहित, आपकी महिमा का शुद्ध ज्ञान, ज्ञानियों को अन्तःकरण ही कराता है । 'अन्तःकरण' शब्द श्लोक में तृतीया विभक्ति में (अमलान्तरात्मभिः) आया है, साधारण रीति से तृतीया विभक्ति 'करण' कारक में आती है किन्तु यहाँ वह हेतु में दी गई है, अर्थात् महिमा को जानने में ज्ञानियों का शुद्ध अन्तःकरण कारण है । 'महिमा' ज्ञान का विषय है अर्थात् 'महिमा' जानने के योग्य है । अतः जानने के लिए जैसे कर्ता योग्य होता हैं वैसे ही कर्म भी योग्य होना चाहिये । इसको यों समझना चाहिये, कि जैसे 'महिमा' स्वयं जान नहीं सकती है, किन्तु उसको जानने वाला शुद्ध अन्तःकरण, उसका योग्य कर्त्ता है । वैसे ही गांव भी जड़ होने से वहाँ भी जा नहीं सकता है अतः 'ग्रामो गन्तुमर्हति' वाक्य का अर्थ होगा, मनुष्य गांव को जाता है तब कर्म की योग्यता सिद्ध हो जाएगी, आशय समझ में आ जाएगा । जैसे निर्मल दर्पण में विना प्रयास के मुख स्वयं प्रकाशित होता है वैसे ही अमल[1] अन्तकरण में महिमा स्वतः प्रकाशित हो जाती है । शुद्ध अन्तःकरण सत्त्व[2] रूप होने से महिमा का ग्रहण कर लेता है, शुद्ध अन्तःकरण महिमा के ग्रहण नहीं करने में किसी प्रकार का कोई कारण नहीं है । यदि कोई कहे कि शुद्ध सतोगुण रूप अन्तःकरण विकार वाली वस्तु को ग्रहण नहीं करता है । तो इस शङ्का के मिटाने के लिये श्लोक में 'अविक्रियात्' शब्द दिया है कि उसमें (महिमा में) किसी प्रकार का विकार नहीं है । शुद्धचित्त आत्मगामी[3] होने से आत्मा में स्थिर पदार्थ को ही ग्रहण करता है । महिमा[4] आत्मा में ही स्थित है इस कारण से भी महिमा ग्रहण करने के योग्य है । इसको सिद्ध करने के लिये श्लोक में 'स्वानुभवात्'

१—मल रहित साफ । २—सतोगुण । ३—आत्मा की तरफ आकृष्ट (खिंचा हुआ) । ४—माहात्म्य ।

पद दिया है। आत्मा के अनुभव से ही महिमा का अनुभव होता है। यदि 'स्व' शब्द का अर्थ 'महिमा' लिया जाए तो भी महिमा का अन्तःकरण में अनुभव होने से आत्मा का भी अनुभव हो जाता है। जो निर्गुण की ऐसी महिमा न होवे तो अन्तःकरण में ज्ञान ही न हो सके। इस कारण से आत्मा का ग्रहण करते हुए वह अनुभव अपने उत्पन्न कर्त्ता का ज्ञान कराता है अथवा आत्मा की यह महिमा अनुभव रूप ही है। आत्मा ही अनुभव रूप है। आत्मा अनुभव रूप होने से आप ही अपने को प्रकाश करता है और जब अन्तःकरण शुद्ध होकर ब्रह्मरूप हो जाता है तब रूप वाले पदार्थों को वह ब्रह्मरूप अन्त.करण ग्रहण नहीं करता है किन्तु महिमा तो ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्म से पृथक् महिमा का कोई रूप नहीं अतः उसको ब्रह्मरूप अन्तःकरण जान सकता है। इसलिए श्लोक में 'अनन्य बोध्यात्मतया' पद आया है, जिसका भावार्थ यह है कि 'महिमा' का स्वरूप दूसरे से (अन्तःकरण से) जाना जा सकता है क्योंकि इसका स्वरूप आत्म रूप से प्रकाशित होते हुए भी भिन्न प्रतीत होता है उसका कारण है कि ये अन्तःकरण के धर्म ही बताए गए हैं। तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकार के विकारों का त्याग कर, प्रपञ्च के विषयों को ग्रहण करने वाली वासना रहित हो के, ज्ञान रूप हुआ, स्वतः प्रकाशमान् स्वरूप अन्तःकरण, भगवान् की महिमा को ग्रहण करता है।

आभास---गुणात्मनस्तु महिमा ज्ञातुं न शक्यत इत्याह गुणात्मनस्त इति।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में बताते हैं कि आपके सगुण स्वरूप की महिमा को कोई भी नहीं जान सकता है।

श्लोक—**गुणात्मनस्तेपि गुणान् विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेस्य।**
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ—जगत के हितार्थ, सगुण स्वरूप से प्रादुर्भूत, आपके गुणों की गणना कौन करने में समर्थ है? जो अति निपुण[1] पुरुष, विशेष समय लगाकर पृथ्वी के रजःकण, आकाश में के हिमकण और नक्षत्र आदि के किरणों के परमाणु भी गिन सके, वे भी आपके गुणों को नहीं गिन सकते हैं ॥ ७ ॥

सुबोधिनी—सर्वगुणरूपो भगवानेव जातस्ते च गुणा अनन्तास्तेषां विमानेपि कश्चिन्न शक्तः, यतः सर्वजगद्धितार्थमवतीर्णः, बहवोपि मिलित्वा नेशिरे, महतापि कालेन सुकल्पैरतिसमर्थैर्भूपांसवो विमिता भवन्ति पंचाशत्कोटिघनस्य गणनायां घनान्तरवत् तदपि गणयितुं शक्येत, ख आकाशे मिहिका हिमकणाः, द्युभासो ज्योतिश्चक्रतेजोंशाः एते तामसा राजसाः सात्त्विकाः सर्वहितार्थं प्रवृत्ताः परिमितत्वात् गणितुं शक्याः, अपरिमितास्तु भगवद्गुणा गणितुं न शक्याः।

१—समर्थ।

व्याख्यार्थ—सर्व गुण रूप भगवान ही प्रकट हुए हैं। वे गुण अनन्त हैं, उनकी गणना करने में कोई भी शक्तिमान नहीं है। कारण कि सर्व जगत् के हितार्थ अवतार धारण किए हैं। बहुत मिल कर भी गुणों की गणना नहीं कर सकते हैं। विशेष सामर्थ्य वाले पुरुष भी, बहुत समय से भूमि के रजःकण गिनते है। पचास करोड़ समुहों की गणना में एक दूसरे समूह के समान वह (रजःकण समूह) भी कदाचित् गिना जा सके, आकाश में के हिम कण और नक्षत्र आदि के किरणों के परमाणु कदाचित् गिनने में भी आ जावें क्योंकि वे तामस, (भूमि के रजःकण) राजस (हिम कण) और सात्त्विक (नक्षत्रादि) सर्व हितार्थ प्रवृत्त होने के कारण परिमित[1] हैं अतः वे गिने जा सकते है किन्तु भगवान् के गुण अपरिमित[2] है इससे वे गिनने में नहीं आ सकते हैं।

आभास—अतो ये सगुणोपासकास्ते गुणज्ञानाग्रहं परित्यज्यास्मदुक्तानुसारेण चेत प्रवृत्तास्तदा कृतार्था भवन्तीत्याशयेनाह तत्।

आभासार्थ—आप के गुण असीम हैं, अतः गुणों के ज्ञान का आग्रह छोड़ कर, जो सगुणोपासक हमारे कहे हुए प्रकार से यदि प्रवृति करते हैं, तो कृतार्थ होते हैं। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**तत् तेनुकम्पां प्रसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन् नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥ ८ ॥**

श्लोकार्थ—इसलिए आपकी कृपा को राह देखता हुआ, अपने कर्म फल भोगता हुआ, मन, वाणी और शरीर से आपको प्रणाम करता हुआ जीवन धारण करता है वह मुक्ति पद का दायभागी[3] होता है।

सुबोधिनी—तस्मात् कारणात् तेनुकम्पां कृपामेव प्रकर्षेण समीक्षमाणः कदा कृपां करिष्यतीति तावत्पर्यन्तमात्मकृतमेव विपाकं कर्मविपाकं भुञ्जानो हृदयमेव मनो वाङ्मनोवपुर्भिस्ते नमो विदधद् यो जीवेत स मुक्तिपदे दायभाग् भवति, यथा पितृद्रव्ये जीवन् पुत्र एव भागी ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ—इस कारण से, आपकी कृपा की राह देखता रहता है, कि कब कृपादृष्टि होगी? तब तक अपने किए हुए कर्मानुसार प्रारब्ध भोगों को भोगता हुआ, हृदय ही मन है। वाणी, मन और शरीर से आपको प्रणाम करता हुआ जो जीवन यापन करता है, वही मुक्ति में, इस प्रकार भागीदार होता है, जैसे पिता के द्रव्य में जीवित पुत्र होता है।

१—हद्दवाले। २—असीम, बिनामाप वाले। ३—हिस्सेदार।

आभास––एवम्रूपस्यैव भगवतः सर्वोपास्यत्वमुक्त्वा स्वापराधं क्षमापयितुमनु–वदति पश्येति ।

आभासार्थ––इस प्रकार का भगवद्रूप ही उपासना के योग्य है, यों कह कर अब निम्न श्लोक में ब्रह्माजी अपने अपराध की क्षमा याचना करते हैं ।

श्लोक----**पश्येश मेनार्यमनन्त आद्ये परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि ।**
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ----हे ईश्वर ! मेरी दुर्जनता[१] तो देखिए कि आप, जो आदि और अन्त रहित हो, तथा मायावियों को भी मोहित करने वाले, तथा सब से 'पर' आत्मा हो, उन पर अपनी माया फैलाकर आपके ऐश्वर्य को देखने की इच्छा की । जैसे अग्नि के आगे उसकी किरण क्या चीज है ? कुछ नहीं । वैसे ही आपके सामने मैं क्या हूँ ? कुछ नहीं हूँ ।

सुबोधिनी—हे ईश मेनार्यं दुष्टत्वं पश्य, अनार्यमेवाहानन्त उत्तरावधिरहित आद्ये पूर्वावधिरहिते परमात्मनि नियामकात्मरूपेन्तर्बहिःस्थित एतादृशे त्वय्यपि मायिनामपि मायिनि मोहके, प्रकृतोपयोगि विशेषणमेतत्, तादृशे **माया वितत्यात्मवैभवमीक्षितुमैच्छं**, अनेन प्रदर्शनार्थमेवैतदित्यपराधाभावोपि सूचितः, परमेतदप्यनुचितं, तत्र हेतुमाह **कियानहमिति**, को वाहं वराकः ? तत्र दृष्टान्तोनार्चिरिवेति, न ह्यग्नेर्ज्वालाविशेषोग्निमेवं कर्तुमर्हति ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ—हे ईश ! मेरी दुष्टता को देखो । अपनी दुष्टता बताते हैं कि आप जो अनन्त[२] तथा आद्य[३] हो, अन्दर बाहर सर्वत्र नियामक रूप 'पर' आत्मा हो और मायावियों[४] को भी मोहित करने वाले* हो उन पर अपनी माया फैलाकर आपका वैभव[५] देखने की इच्छा की । इस प्रकार कहने से ब्रह्मा ने यह बताया कि मैंने यह कार्य आपका ऐश्वर्य देखने के लिये किया हैं, अतः मैं निरपराधी[६] हूँ । किन्तु तो भी ऐसा करना भी मेरे लिये उचित नहीं था । उचित न होने में दृष्टान्त देकर कारण बताते हैं कि मैं छोटा (बिचारा) कौन ? जैसे अग्नि के कण को अग्नि के

---

* यह विशेषण इस प्रकरण में उपयोगी है । अर्थात् जो मैं ब्रह्मा मायावीं हूँ उसको भी आपने मोहित कर दिया है । इसलिये श्री सुबोधिनीजी में यहाँ आचार्यश्री ने 'प्राकृतोपयोगी विशेषण मेतत्' पंक्ति दी है ।

१—दुष्टपन ।
२—जिसका अन्त कहां और कब होगा जिसका पता न हो ।
३—जिसका आदि कब है अर्थात् कब उत्पन्न हुआ जिसका भी पता न हो ।
४—मोह में डालने वालों ।
५—ऐश्वर्य ।
६—निर्दोष ।

प्रकाश (वैभव) को देखने की इच्छा करना योग्य नहीं है । वैसे ही मुझे भी ऐसा करना योग्य नहीं था ।। ६ ।।

श्लोक—**अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।**
अजावलेपान्धतमोन्धचक्षुष एषोनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ।। १० ।।

श्लोकार्थ—हे अच्युत ! इसलिए आप मेरे पर दया करो । मैं तो रजोगुण से हूँ, उत्पन्न, अनजान हूँ । इस कारण से मैं अपने को आप से पृथक्, अजन्मा, जगत्कर्ता ईश्वर समझता हूँ ऐसे मद के गाढ अन्धकार से अन्धदृष्टि हो गया हूँ । परन्तु आपको यों समझना चाहिये कि यह मेरा दास है, दास समझ कर क्षमा ही करनी चाहिये ।

सुबोधिनी—अतोनुचितं यद्यपि तथापि क्षमस्व यतस्त्वमच्युतस्तव न काचित् क्षतिः. मम चायं सहजो दोषो यतोहं रजोभूा, तत्राप्यजानतः, अर्थात् तव माहात्म्यं, तत्र हेतुस्त्वजः पृथगेवाहमीश इत्यभिमानयुक्तः, हेत्वन्तरमप्याहाजोहं न कस्मादप्युत्पन्न इति योयमवलेपो गर्वो वस्तुतस्त्वज एव, तेनावलेपेनान्धं चक्षुर्यस्य, क्षमायां हेतुमाहैषोनुकम्प्यो मयि नाथवानिति, एष ब्रह्मानुकम्प्यः, कुतः ? मय्येव सत्ययं नाथवान् अन्यथा त्वनाथ एव स्यात्, अतो ब्रह्मण एतावत्त्वं मत्त एवेति क्षमोचिता ।।१०।।

व्याख्यार्थ—मैंने जो कुछ किया है वह अनुचित ही है तो भी आप क्षमा करो । क्योंकि आप 'अच्युत' हो दुष्ट किसी प्रकार का भी आपके प्रति अनुचित करे तो भी आपकी कोई क्षति[1] नहीं होती है । मेरा यह स्वाभाविक दोष है क्योंकि रजोगुण से पैदा हुआ हूँ । रजोगुणी को अभिमान होता ही है । रजोगुण के साथ आपके माहात्म्य का अज्ञान मिल जाने से मस्तिषक में यह गर्व आ गया कि मैं पृथक् ही ईश हूँ । केवल इतना ही नहीं किन्तु दूसरा भी अभिमान का कारण यह हुआ कि मैं 'अजन्मा' हूँ किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ हूँ । इस गाढ गर्व से मैं चक्षुहीन हो गया, देख नहीं सका (समझ नहीं सका) कि मैं कौन हूँ । वास्तविक में तो मैं अज[2] हूँ, अतः क्षमा करे । आप जानते ही हैं कि ब्रह्मा का इतना महत्त्व मेरे कारण ही है । मुझ से ही यह (ब्रह्मा) सनाथ[3] है । यदि मैं क्षमा न करूंगा तो ब्रह्मा अनाथ जैसा हो जाएगा, अतः मुझे अनाथ न बताते हुए क्षमा करें मैं दास हूँ अतः क्षमा के योग्य हूँ ।। १० ।।

आभास—एवमाधिभौतिकब्रह्माण्डमात्मानं तिरस्कृत्याधिदैविकमपि तिरस्करोति क्वाहमिति ।

१—हानि । २—बकरा । ३—स्वामी ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्माजी अपने आधिभौतिक स्वरूप का तिरस्कार कर अब निम्न श्लोक में आधिदैविक रूप का भी तिरस्कार करते हैं ।

श्लोक—**क्वाहं तमोमहदहङ्खचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥ ११॥**

श्लोकार्थ—प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से वेष्टित ब्रह्माण्ड रूप घट में सातववितस्ति[1] प्रमाण शरीरकाला मैं कहाँ ? और इस प्रकार के अनेक ब्रह्माण्ड रूप जिनके रोमकूप झरोखों में फिरा करते हैं वैसे आपकी महिमा कहाँ ।

सुबोधिनी—तमः प्रकृतिर्महन् महत्तत्त्वमहमहङ्कारः खमाकाशश्चरो वायुरग्निर्वार्जलं भूमिश्चेत्यष्टावरणानि तैः सम्यग् वेष्टितो योग्यमण्डरूपो घटस्तस्मिन् घटे सप्तवितस्तिपरिमितः कायो देहो यस्य, वितस्तिमात्रं शिरः परित्यज्य कायः सप्तवितस्तिर्भवति, ईदृग्विधानाम विगणितानामण्डपरमाणूनां गतिर्यत्र तादृशो वाताध्वो गवाक्षः, गवाक्षे हि सूर्यकिरणेषु त्रसरेणूनां गतिर्दृश्यत इति गवाक्षवद् रोमविवराणि यस्य, तादृशस्य ते महत्त्वं क्वाहं च क्वेति सर्वथा परीक्षायामयोग्यता ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—प्रकृति, महत्तत्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवि इन आठ आवरणों से वेष्टित ब्रह्माण्ड रूप घड़े में सातवितस्ति[1] प्रमाण शरीर वाला मैं हूँ यह नाप मस्तक को छोड़कर शेष शरीर का है । और इस प्रकार के असंख्य ब्रह्माण्डरूप परमाणुओं, जिनके रोम कूप रूप झरोखों में इस प्रकार फिरा करते हैं जैसे झरोखों में सूर्य किरणों के त्रसरेणु* फिरा करते हैं । वैसे महान् आपका महत्त्व कहाँ ? और मैं कहाँ इस प्रकार अपने स्वरूप का वर्णन कर यह बता दिया कि आपकी परीक्षा करने की मुझ में योग्यता नहीं ॥ ११ ॥

आभास—आध्यात्मिकस्यापि ब्रह्मणः स्वरूपमाश्रित्यापराधक्षमापनामाहोत्क्षेपणमिति ।

आभासार्थ—ब्रह्मा अपने आध्यात्मिक स्वरूप द्वारा अपराध की क्षमा याचना निम्न श्लोक से करते हैं ।

---

* झरोखों से आने वाले सूर्य की किरणों के रजःकण को त्रसरेणु कहते हैं । उसका तीसवां भाग 'परमाणु' होता है ।

१—बारह अंगुली का नाप ।

श्लोक—उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे ।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—हे अघोक्षज ! गर्भ में स्थित बालक का पादों को उछालना क्या माता का अपराध गिना जाता है ? भाव और अभाव (स्थूल सूक्ष्म वा कार्य कारण) नाम से भूषित (प्रसिद्ध हुआ) हुआ यह सर्व जगत् आपके उदर से कुछ भी बाहिर है ? नहीं है ।

सुबोधिनी—गर्भगतस्य पादयोरुत्क्षेपणं मातुरागसे किं भवति ? अपराधाय न कल्पते, ननु विषमो दृष्टान्त इति चेदस्तिनास्तिव्यपदेशाभ्यां भावाभाव शब्दाभ्यां भूषितमलङ्कृतं जगत् तव कुक्षेरनन्तर्बहिः किम् ? सर्वं हि तव कुक्षौ, अतो ममापि सर्वमध्ये पातान् नापराध इत्यर्थः, अनेनापि प्रकारेणापराधक्षमापनं,[१] अयं साधारणः पक्ष इति ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ—गर्भ में स्थित बालक का पादों को उछालना क्या माता के अपराध के लिये होता है ? पैरों का उछालना अपराध नहीं गिना जाता है× । यदि कहो कि यह दृष्टान्त विषम* है तो उसके उत्तर में दूसरा अर्ध श्लोक कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् जो भाव (स्थूल) और अभाव (सूक्ष्म) नाम से भूषित[२] है क्या वह आपके उदर से बाहिर है क्या ? सब (जगत्) निश्चय से आपके उदर में है । मैं भी सब में आ जाने से आपके उदर में ही हूं इसलिये आपको यह मेरा अपराध न समझना चाहिये । इस प्रकार से ब्रह्मा ने जो अपराध नहीं समझना चाहिये । इस प्रकार से ब्रह्मा ने जो अपराध क्षमा कराने की प्रार्थना की है वह साधारण पक्ष है ॥ १२ ॥

आभास—विशेषप्रकारेण स्वस्य पुत्रत्वं भगवतः पितृत्वं चाह जगत्त्रयेति ।

आभासार्थ—अब निम्न श्लोक में विशेष प्रकार से अपना पुत्र-पन और भगवान् का पिता-पन बताते हैं ।

श्लोक—जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे नारायणस्योदरनाभिनालात् ।
विनिर्गतोजस्त्विवतिवाङ् न वै मृषा किन्त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोस्मि ॥१३॥

× अपराध इसलिये नहीं गिना जाता है कि वह बालक का सहज धर्म है, यों समझ माता उसको अपराध नहीं समझती है । उत दुःख को सहन कर मातृ-धर्म का पालन करती है—अनुवादक ।

* आप ब्रह्मा ईश हो और वह छोटा बालक उसके साथ आपकी बराबरी नहीं हो सकती है । इसलिये आपका दिया यह दृष्टान्त विषम है—अनुवादक ।

१—बराबर नहीं । २—प्रसिद्ध । ३—इकट्ठे ।

श्लोकार्थ----हे ईश्वर ! प्रलय समय में एकत्रित[1] हुए समुद्रों के जल में, नारायण के उदर के नाभि नाल में से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ है । यह कहना निश्चय से झूठा नहीं है । क्या मैं आप से पैदा नहीं हुआ हूँ ।

सुबोधिनी—जगत्रयस्यान्ते प्रलये य उदधिसम्प्लव उदधीनां संश्लेषस्तस्मिन् प्रलयोदके नारायणस्योदरनाभिनालात् कमलादजो विनिर्गत इतिवाङ् न मृषा, उपाख्यानानामपि सत्यार्थप्रतिपादकत्वात्, अत एव हे ईश्वर किं त्वत्तोहं न निर्गतः ? अपि तु निर्गत एवास्मि ।। १३ ।।

व्याख्यार्थ—तीनों जगत् के प्रलय समय में जो समुद्र इकट्ठे हो जाते हैं उस इकट्ठे हुए प्रलय जल में नारायण की नाभि कमल से ब्रह्मा प्रकट हुआ है यह वाणी बिलकुल झूठी नहीं है क्योंकि उपाख्यान (इतिहास) भी सत्य अर्थ का प्रतिपादन करते हैं । इसीसे हे ईश्वर ! क्या मैं आपसे पैदा नहीं हुवा हूं ? निश्चय से उत्पन्न हुवा ही हूं ।। १३ ।।

आभास----ननु नाहं नारायण इति चेत् तत्राह नारायणस्त्वमिति ।

आभासार्थ—यदि कहो कि 'मैं नारायण नहीं हूं' तो निम्न श्लोक में सिद्ध करते हैं कि आप ही नारायण हो ।

श्लोक---**नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशोखिललोकसाक्षी ।**
नारायणोङ्गं नरभूजलायनात् तच्चापि सत्यं न तवैव माया ।। १४ ।।

श्लोकार्थ----क्या आप नारायण नहीं हो ? सर्व प्राणियों के आत्मा तथा अधीश्वर हो । और अखिल[2] लोक के साक्षी हो । नर से उत्पन्न जिसका आश्रय स्थान है वह नारायण आपका अंग है, वह भी सत्य नहीं है किन्तु आपकी ही माया है ।

सुबोधिनी—त्वं किं नारायणो न हि ? यतो नारायणत्वसाधका हेतवः सन्ति तानाह सर्वदेहिनामात्मेति, नारं जीवसमूहस्तदयनं यस्येति, आत्मा हि सर्वभूतेषु तिष्ठति, "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थिति" इतिवाक्यात्, किञ्च नारमयते प्रेरयतीति नारायणः, अस्मिन्नपि पक्षेधीश्वरत्वाद् भवान् नारायणो "नराज् जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधास्तेषामधीश्वरः साक्षान् नारायण इतिस्मृत" इतिवाक्यात्, नारं जीवसमूहमयते जानातीति चेत् तथापि भवान् नारायणो यतोखिललोकसाक्षी, ननु नैवं नारायणशब्दो व्युत्पन्नः कि "न्त्वापो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृत" इतिवाक्यान् नरोत्पन्नजलायनान् नारायण इति चेत् तत्राह नारायणोङ्गमिति, नरभूजलायनाद् यो नारायणः स तवाङ्गं पुरुषत्वात् "पुरुषोह वै नारायणोकामयते" तिश्रुतेः, "विष्णोस्तु त्रीणी रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो

१—इकट्ठे । २—सम्पूर्ण ।

विदुः प्रथमं महतः स्त्रष्टृ द्वितीयं खण्डसंस्थितं तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यत" इतिवाक्यान् नारायणस्तवाङ्गमवतारः, किञ्च नारायणशब्दो वस्तुतस्तथा न व्युत्पन्न एव, यतो जलवासस्य प्रदर्शनमात्रपरत्वात्, न ह्यवस्तुना शब्दो व्युत्पद्यते, अन्यथा रजतदाने शुक्तिकामपि दद्यात्, अतो जलस्थितेः प्रदर्शनमात्रपरत्वात् तेन न नारायणयोगार्थः सिध्यति, तदाह तच्चापि सत्यं नेति, जलाधिकरणत्वं न सत्यं किन्तु तव मायैव ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ—तो क्या आप नारायण नहीं हो ? ऐसा नहीं है आप नारायण ही हो । क्योंकि आपके नारायणत्व को सिद्ध करने वाले अनेक कारण हैं । वे कारण बताते हैं ।

(१) सकल देहधारियों की आत्मा हो ।

(२) 'नार' शब्द का अर्थ जीव समूह है उस (जीव समूह) में निवास करते हो । आत्मा सर्व भूतों में रहती है जैसा कि गीता में आपने ही कहा है कि हे गुड़ाकेश ! हे अर्जुन ! मैं जो आत्मा हूं वह सर्व भूतों के अन्तःकरण में रहता हूं ।

(३) 'नारं' (जीव समूह) को अयते जो प्रेरणा* करता है वह नारायण है ।

(४) 'नार' शब्द का अर्थ यह भी होता है कि 'नर'[1] से उत्पन्न तत्व 'नार' है उनका अधीश्वर साक्षात् नारायण है । ज्ञानी इस प्रकार जानते हैं ।

(५) नारं (जीव समूह) को 'अयते' जो जानता है इस अर्थ से भी आप नारायण हो क्योंकि अखिल लोक के साक्षी[2] हो । यदि कहो कि आपके ये अर्थ यथार्थ नहीं हैं नारायण§ का अर्थ तो 'जल' है जिसे नार कहते हैं, ये जल नर के पुत्र हैं, वे जल पहले उसके निवास-स्थान थे इस कारण से यह नारायण है । इस वास्ते नर से उत्पन्न जल जिसका घर है वह नारायण है । मैं तो नारायण नहीं हूँ इसके उत्तर में कहते हैं कि 'नारायणोऽङ्गं' वह नारायण आपका ही अंग है । क्योंकि पुरुष है । श्रुति कहती है कि निश्चय से प्रसिद्ध है कि पुरुष नारायण है उसने कामना[3] की । विष्णु के पुरुष नाम से तीन रूप प्रसिद्ध हैं । प्रथम रूप महत्तत्व को उत्पन्न करने वाला है । द्वितीय ब्रह्माण्ड में स्थित । तृतीय सर्व भूतों में वास करने वाला । इनको जान लेने पर मुक्त होता है इस वाक्य से नारायण आपका अंग (अवतार) है और नारायण शब्द की वास्तविक व्युत्पत्ति[4] इस प्रकार हो नहीं सकती है । कारण कि जल में निवास तो केवल दिखावे मात्र है । जो वस्तु है ही नहीं उससे शब्द उत्पन्न नहीं होता है जो यों न होवे तो चांदी के दान के बदले में शुक्ति[5] दी जावे । वैसा नहीं होता है । इससे नारायण शब्द का यह यौगिक अर्थ सिद्ध नहीं होता है ।

---

* आप प्रेरक हो इससे नारायण हो—अनुवादक ।

§ आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नर सूनवः । अयनं तस्य ताःपूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥

१—पुरुष । २—जानने वाले । ३—इच्छा । ४—अर्थ । ५—सीप ।

उसको स्पष्ट करते हैं कि वह भी सत्य रूप नहीं है। जल आपका निवास-स्थान है यह सत्य नहीं है क्योंकि यह सब आपकी माया ही है।

आभास----तस्य मायिकत्वार्थे तर्कमाह तच् चेज् जलस्थमिति।

आभासार्थ—वह निवास-स्थान जल मायिक था उसकी सिद्धि के लिये निम्न श्लोक में तर्क[1] देते हैं।

श्लोक----**तत् चेज् जलस्थं तव सत् जगद्वपुः किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव।**
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥ १५॥

श्लोकार्थ—हे भगवन्! यदि आपकी वह जगदाश्रय रूप मूर्त्ति जल में ही स्थित होती तो मैंने उस समय* क्यों न देखी? अथवा हृदय में क्यों न देखने में आई? और फिर तत्क्षण क्यों न देखने में आई?

सुबोधिनी—तद् वपुश्चेत् सज् जलोपरि च वर्तते तदा मे मया किं तदैव न दृष्टं? यो हि स्थूलपदार्थः परिच्छिन्नो योग्ये वर्तते स दृश्यते यथा घटः, अतस्तदा मया न दृष्टमिति न तज् जले तिष्ठति, नन्वयोग्यत्वान्न दृश्यते न त्वविद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह **किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैवेति**? न हि हृदये जलमस्ति, अतो जलस्थितिर्न नारायणशब्दप्रवृत्तिप्रयोजिका, किञ्च सपद्येव पुनः किं नो व्यदर्शि? अस्मभ्यं कथं न दर्शितवान्? यद्यहं तस्य नारायणस्यैव पुत्रः, लोके हि पितापुत्रावन्योन्यं प्रत्यक्षसिद्धौ भवतः, न हि तयोरन्यतरोयोग्यो भवितुमर्हति, वस्तुतो भवानेव नारायणो न तु सः, नारं सर्वमेवायते प्रविशति यमिति नारायणः सर्वजगदाधारः, स भवानेव न तु सः ॥ १५॥

व्याख्यार्थ--वह तनु यदि सत्य हो और जल के ऊपर विराजमान होता तो मैंने उस समय क्यों न देखा? जो स्थूल पदार्थ परिच्छिन्न[2] योग्य, स्थल पर होता है वह देखने में आ जाता है जैसे घड़ा देखने में आता है उस समय मैंने नहीं देखा इससे जाना जाता हैं कि वह (शरीर) जल पर नहीं है यदि कहें कि शरीर तो था किन्तु आप उसके दर्शन करने के योग्य अधिकारी नहीं थे इसलिए नहीं देखा। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यदि मैं अयोग्य था तो उसी समय मेने हृदय में आपका दर्शन क्यों किया? हृदय में तो जल नहीं है, अतः नारायण शब्द का तात्पर्य जल में स्थिति दिखाने का नहीं है। और फिर तत्क्षण क्यों नहीं देखने में आए? जबकि मैं उस नारायण का पुत्र हूँ तो मुझे क्यों दर्शन नहीं किए? पिता और पुत्र दोनों आपस में प्रत्यक्ष दिखते हैं। उन

* कमल नाल में बैठ अन्वेषण करते समय।

१—दलील। २—हद्दवाला।

दोनों में परस्पर देखने की अयोग्यता नहीं होती है। अतः वास्तविक नारायण तो आप ही हैं न कि वह है। नारायण शब्द की व्युत्पत्ति[1] वास्तविक यह है कि 'नारं[2] अयते प्रविशति यं इति नारायणः' सर्व जीव समूह जिसमें प्रविष्ट होकर रहता है वह जगदाधार नारायण है। जगत् का आधार आश्रय आप ही हो न कि वह (जल में स्थित रूप) नारायण है ॥ १५ ॥

आभास----तस्योदर एवाहं स्थितो जगत् कृतवान्न् यदि जगत् तत्र सहजं तिष्ठेत् मम कृतिर्व्यर्था स्यादत्र तु तिष्ठतीत्याहात्रैवेति ।

आभासार्थ—उस (जलस्थ नारायण) के उदर में स्थित होकर मैंने जगत् रचना की होती तो वह मेरी कृति व्यर्थ हो जाती क्योंकि उसके उदर में जगत् सहज नहीं है जगत् तो इस आपके स्वरूप में ही है। इसका निरूपण इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक----**अत्रैव मायाधमनावतारे ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिःस्फुटस्य ।**
कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्यामायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ----हे मायानाशक ! इस ही अवतार में आपने बाहिर प्रकट, इस समग्र जगत् को, अपनी माता को, अपने उदर में दिखला कर यह सिद्ध कर दिखाया है कि यह प्रपञ्च मायिक नहीं है।

सुबोधिनी—हे **मायाधमन** मायानिवारक, अनेन मायासम्बन्धो भगवति निराकृतः, **अस्य प्रपञ्चस्य बहिः-स्फुटस्य कृत्स्नस्याप्यन्तर्जठरे ते जनन्यामायात्वमेव प्रकटीकृतं**, "अथो अमुष्ये" तिवाक्यात्, अतः सत्यप्रपञ्चाधारत्वाद् भवानेव नारायणः ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—हे माया निवारक ! हे माया को मिटाने वाले ! इस विशेषण से यह बताया कि भगवान् के साथ माया का सम्बन्ध मात्र नहीं है। बाहर प्रकट इस समग्र प्रपञ्च को अपने उदर में माता को दिखाकर प्रपञ्च मायिक नहीं है यह* प्रमाणित कर दिखाया है। इससे सत्य प्रपञ्च के आप ही आधार होने से आप ही नारायण हो ॥ १६ ॥

आभास—ननु विश्वाधारो नारायण एव पुरुषस्तस्मिन् विश्वप्रतीतेरतोहं प्रपञ्च-मध्ये स्थितः सूक्ष्मो नारायणो न भवामीति चेत् तत्राह यस्येति ।

---

* १०-८-४० के उत्तरार्द्धानुसार ।

१—अर्थ ।   २—सर्व जीव समूह ।

आभासार्थ--वही पुरुष नारायण है जो विश्व का आधार है उसमें ही विश्व दिखता है। इस कारण से प्रपञ्च के मध्य में स्थित, मैं सूक्ष्म नारायण नहीं हो सकता हूं इस शंका निवारणर्थ निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक--**यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा।**
तत् त्वय्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया विना ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ--जिस नारायण की कोख[1] में आत्मा सहित यह सर्व प्रपञ्च जिस प्रकार भासता है उसी प्रकार वह सर्व प्रपञ्च आप में भी भास रहा है। क्या यह माया के बिना दीखता है ?

सुबोधिनी—यस्य नारायणस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्ममात्मसहितं भाति तथा त्वय्यपीह भाति, अतो विशेषाभावाद् भवानपि नारायणः, यस्तु भेदः परिच्छेदोऽन्यथाप्रतीतिरेतत् सर्वं किं मायया विना ? अपि तु तव व्यामोहिकया शक्त्या माययैवं भासते भवान् परिच्छन्न आधेयो नारायणाद् भिन्न इति, अतः पुरुषस्य नारायणपक्षेपि भवान् नारायण ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ--जिस नारायण के उदर में आत्मा सहित सर्व प्रपञ्च जिस प्रकार भासता है वैसे ही आप में भी यहाँ ही भास रहा है। अतः उसमें कुछ भी विशेषता न होने से आप भी नारायण हो। यदि आप कहो कि मुझ में तो भेद, परिच्छेद[2] और अन्यथा प्रतीति देखने में आती है तो मैं नारायण कैसे हो सकूंगा इसके उत्तर में कहते हैं कि यह सब अन्यथा प्रतीति माया के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। माया ही अन्यथा प्रतीति करा रही है वास्तव में तो पुरुष पक्ष से भी आप नारायण ही हो ॥ १७ ॥

आभास--किञ्च नारायणः पुरुषोत्तमः स एव सर्वं न त्वन्यो नारायणो भवतीति चेत् तत्राहाद्यैवेति।

आभासार्थ--नारायण, पुरुषोत्तम, सब कुछ वही है अन्य कोई भी नारायण हो नहीं सकता है। ऐसी शङ्का का निवारण करने के लिये निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक--**अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शित-**
मेकोसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि।
तावन्तोसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता-
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते ॥ १८ ॥

१—उदर। २—सीमा, अवधि।

श्लोकार्थ—आपके बिना अन्य समस्त जगत् का रूप मायिक रूप है। क्या यह आपने मुझे अभी नहीं दिखाया ? प्रथम तो आप एक ही थे पश्चात् ग्वाल-बाल और वत्सरूप हो गए। पुनः वे सब रूप चतुर्भुज बन गए। अनन्तर देखा तो मेरे सहित सब तत्व और वत्सों की सेवा कर रहे हैं। इसके पश्चात् देखो तो उतने ही ब्रह्माण्ड रूप बन गए। इसलिये परिच्छेद[1] रहित अद्वैत ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। अर्थात् आप उस परब्रह्म से पृथक् नहीं हो, जो अवशेष रहता है वह आप ही हो।

सुबोधिनी—अद्यैव ते त्वया त्वद्वृतेस्य प्रपञ्चस्य भिन्नतया सत्त्वं नास्तीति ज्ञापयितुं मायात्वमादर्शितं, ये हि भिन्नतया जगद् भगवद्व्यतिरिक्तमस्तींत्याहुस्तेद्यैव भ्रान्ताः कृता यतः सर्वं त्वमेवेति, तदुपपादयत्येकोसि प्रथमं यदा मया वत्सा अपहृता बालाश्च ततो व्रजस्य सम्बन्धिनः सुहृदो बाला वत्साश्च ततः समस्ता अपि सर्वब्रह्माण्डरूपस्ततः क्षणानन्तरं तावन्तोपि भगवत्स्वरूपाश्चतुर्भुजा दृष्टास्तत्राप्यखिलैर्ब्रह्माण्डैस्तत्रत्यैर्वा मया चोपासितास्तावन्त्येव जगन्ति त्वमेवाभूः, अतःकारणाद् ब्रह्माद्वयमेव शिष्यते, न त्वन्यः पदार्थो विचार्यमाणः सिध्यति, तस्माद् भवानेव नारायण इति समर्थितम् ।।१८।।

व्याख्यार्थ—आज ही आपने मुझे यह दिखा दिया कि मेरे बिना अन्य सर्व प्रपञ्च का पृथक् अस्तित्व नहीं है। जो पृथक्ता दीखती है वह मायापना है। जो जगत् को भगवान् के अतिरिक्त अन्य भिन्न पदार्थ मानते हैं वे आज ही भ्रान्त[2] हैं ऐसा आज ही आपने मुझे समझा दिया। मैंने समझ लिया कि जो कुछ है वह आप ही हो। किस प्रकार आप हो वह प्रतिपादन[3] करते हैं। आप एक हैं। पहले, जब मैं बछड़े और बालकों को चुरा ले गया, तब आप एक ही थे। उसके अनन्तर, वह एक ही आप, व्रज के सम्बन्धी मित्र, बालक और वत्सरूप बन गए। पश्चात् फिर आप ब्रह्माण्ड रूप हो गए। क्षणानन्तर वे सब चतुर्भुज स्वरूप से दर्शन देने लगे। दर्शन के पश्चात् देखा तो ब्रह्माण्ड में रहे हुए मेरे सहित सब उन चतुर्भुज स्वरूपों की सेवा कर रहे हैं। इतने जगत् आप ही हो गए। अतः विचार करने पर यही समझ में आया कि जगत् आदि पृथक् कुछ नहीं है एक अद्वितीय ब्रह्म ही शेष है। इससे निश्चय है कि आप ही नारायण हो। इस श्लोक में ब्रह्मा नें इस बात का समर्थन[3] किया कि नारायण श्रीकृष्ण के बिना दूसरा नहीं है ।। १८ ।।

आभास—अतः परं भवान् स्वाम्यहं सेवक इति सकृदपराधः सेवकस्य भर्त्रा सोढव्य इति वक्तुं सर्ववस्तूनां तत्त्वमाहाजानतामित्यादिदशभिः ।

आभासार्थ—अभी से आप स्वामी मैं सेवक हूँ इससे स्वामी को सेवक का अपराध एकवार सहन करना चाहिये। यों कहने के लिये इस श्लोक से दश श्लोकों में सर्व वस्तुओं का तत्त्व कहते हैं।

१—सीमा, अवधि। २—भूले हुए। ३—सिद्ध।

श्लोक--अजानतां त्वत्पदवीमनात्मन्यात्मात्मना भाति वितत्य मायाम् ।
सृष्टाविवाहं जगतो विधत्त इव त्वमेषोन्त इव त्रिनेत्रः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ--आपके स्वरूप को न जानने वालों को जैसे सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा है, स्थिति-कर्ता विष्णु है एवं संहार-कर्ता यह शंकर है ऐसा भासता है वैसे अनात्म देहादिकों में भी माया के विस्तार से आत्मरूप भासता है ।

सुबोधिनी—त्वत्पदवीमजानतामेतदग्रे वक्ष्यमाणं सर्वं तत्त्वं न तु त्वत्पदवीं जानते, एवमपि तेन तत्त्वेन न तेषां निस्तारो भ्रमतत्त्वभावात्, किन्तु तेषामपि तव पादाम्बुजानुग्रहलेशादेव मुख्यतत्त्वप्राप्तिर्न तु भावित्वेन, भ्रान्ते निरीश्वरसाङ्ख्यादिपरिकल्पिते न काचित् सिद्धिरिति, तत्र तेषां प्रथमं भ्रममाहानात्मनीति, अनात्मनि देहादावात्मात्मना देह आत्मेन्द्रियेणात्मना कृत्वा भाति, नन्वनात्मनि कथं कर्तृत्वं करणत्वं चेत्याशङ्क्याह वितत्य मायामिति, मायां वितत्य विस्तारयित्वानात्मन्येवात्मबुद्धि सम्पादयति, तत्र दृष्टान्तो यथा सृष्टावहं ब्रह्मा ब्रह्मा हि देहो न हि स कर्ता भवति, जगत्कर्तृत्वं भगवत एवेति जगतो विधाने स्थापने त्वमिव यथा गुणावतारो विष्णुः पालकत्वं च भगवत एवेति विष्णुरपि चतुर्भुजादिरूप इति त्वमिवेत्युक्तं, एष त्रिनेत्रः, अत एवेदानीं महादेवोप्यागत इति ज्ञायते, नाप्ययमन्तकर्ता, "जन्माद्यस्य" तिन्याय उत्पत्तिस्थितिलया भगवतः सकाशादेवेत्युक्तं, अतो यथोत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्तारो वयं कल्पिता एवं देहोप्यात्मा, इन्द्रियाणि च करणाण्यात्मा, अहमन्यथा पश्यामीति सामानाधिकरण्यप्रतीतिर्नोपपद्यते ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ--जो जन, आपकी महिमा[1] को नहीं जानते हैं, वे अब जो कहा जाएगा, उसको 'तत्त्व' समझते हैं । ऐसा जानने पर भी, उस तत्त्व से उनका निस्तार[2] नहीं होगा । कारण कि वह (तत्त्व) भ्रम के कारण, तत्त्व समझा जाता है । उनको भविष्य में निरीश्वर सांख्यादि मतो के कल्पित तत्त्वों के ज्ञान से किसी प्रकार की सिद्धि न होगी । सिद्धि तो तब होगी, जब आपके चरण कमल के अनुग्रह का कण उनको प्राप्त होगा, जिससे मुख्य तत्त्व की प्राप्ति होती है* ।

उनको (जो भगवान् की महिमा को नहीं जानते हैं एवं मुख्य तत्त्व को न जान कर भ्रम से अतत्त्व को 'तत्त्व' मानते हैं। जो पहले भ्रम होता है उसको कहते हैं । जो वस्तु आत्मा नहीं है उसको अनात्मा कहा जाता है जैसे कि देहादिक अनात्मा है किन्तु देहादि भी इन्द्रियों के कारण आत्मा रूप से भासमान होते हैं । अनात्म रूप देह, इन्द्रियादिको में कर्त्तापन तथा करण पन कैसे भासता है ? माया के फैलाव से, अनात्म में, आत्म बुद्धि हो जाती है । इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं । जैसे सृष्टि कार्य में, मैं, ब्रह्मा कर्ता माना जाता हूँ, वास्तविक तो ब्रह्मा कर्त्ता नहीं है क्योंकि ब्रह्मा तो देह हैं जगत् का कर्त्तापन तो भगवान् का है । जगत् के पालन में पालनकर्त्ता

* यहां तक जो कहा गया है वह दश श्लोकों में कहे हुए तत्त्व का तात्पर्य है ।

१—माहात्म्य । २—कल्याण ।

गुणावतार 'विष्णु' को कहते हैं, किन्तु वह भी देह है। यद्यपि विष्णु, आपके समान चतुर्भुज है, तो भी वास्तविक पालनकर्ता वह नहीं है किन्तु भगवान् ही है, इसी प्रकार यह महादेव भी (श्लोक में 'ऐष' [यह] शब्द कह कर यह बताया है कि जब ब्रह्मा यों स्तुति कर रहे थे उस समय महादेवजी भी पधार गए थे) प्रलयकर्ता नहीं है। इसमें, व्यास सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' प्रमाण देते हैं कि व्यासजी ने इस सूत्र में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकर्ता, एक ही पर-ब्रह्म स्वरूप को माना जाता है। अतः जैसे हम (ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर) में उत्पत्ति स्थिति[1] और प्रलय के कर्तापन की कल्पना मात्र है, इसी प्रकार देह, आत्मा है, इन्द्रियाँ करण[2] रूप भी आत्मा है (यह भी कल्पना मात्र है) किन्तु देह और इन्द्रियाँ दोनों को आत्मा न माने तो "मैं देखता हूँ" इस प्रकार (इन्द्रिय और आत्मा दोनों में) एक प्रकार का रहा हुआ अनुभव नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ ज्ञान के करण[2] है इसलिये वे देख सकती है। तो भी "मैं देखता हूँ" इस प्रकार का अनुभव आत्मा को होता है। वह इसलिए होता है कि इन्द्रियों को भी आत्मा माना गया है ॥ १९ ॥

आभास—नन्वेवं भ्रमेसति कथं निस्तार इति चेतू तत्रह सुरेष्विति ।

आभासार्थ—जो इस प्रकार भ्रम होता हैं तो निस्तार[3] कैसे होगा ? इस शंका के निवारण[4] के लिए निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक—**सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेजनस्य ।**
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ॥ २० ॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! हे प्रभो ! हे सृजन कर्ता ! अजन्मा आपके, देवताओं, पक्षिओं और जलचर जन्तुओं में जन्म होते हैं वे दुष्टों का दुर्मद नाश करने तथा सत्पुरुषों का अनुग्रह करने के लिये होते हैं।

सुबोधिनी—नन्वेवं भ्रान्तानां स्वरूपस्वतत्त्वपरिज्ञापनाय, सुरेषु देवेषु वामनरूपेण, ऋषिषु परशुरामरूपेण तथा नृषु रामरूपेण, तिर्यक्षु वराहरूपेण, यादःसु मत्स्यकूर्मरूपेणाजनोपि जन्म कृतवान्, अन्यथा तत्त्वं को वा जानीयात् को वोपदिशेत् ? अतस्तव जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय सदनुग्रहायच, दुष्टनिग्रहे तदुपद्रवस्तदावेशेन बुद्धिनाशश्च निराकृतो भवति ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—भ्रान्तों को अपने स्वरूप तथा तत्व के परिज्ञान कराने के लिए ही, अजन्मा होते हुए भी सर्वरूपों से अपने वामन रूप से ऋषियों में, राम रूप से मनुष्यों में, वराह रूप से

१—पालन। २—साधन। ३—उद्धार। ४—मिटाने।

पशुओं में, मत्स्य तथा कूर्म रूप से जल जन्तुओं में जन्म लिए हैं। यदि आप इस प्रकार, जन्म न लेते, तो आपका तत्त्व कौन जान सकते थे और कौन आपके स्वरूपादि का उपदेश दे सकते थे अतः आपका जन्म असत्पुरुषों के दुर्मद को नाश करने के लिए तथा सत्पुरुषों पर अनुग्रहार्थ है। दुष्टों के निग्रह से होने वाले उपद्रव तथा उन (दुष्टों) के आवेश से होने वाला बुद्धि का नाश दोनों दूर हो जाते हैं ॥ २० ॥

आभास—ननु तद् व्यतिरेकेणापि वेदादिना कथं न तत्त्वपरिज्ञानं ? तत्राह को वेत्तीति।

आभासार्थ—उन (अवतारों के धारण) के अतिरिक्त भी वेदादि से तत्व का परिज्ञान क्यों न कर लेते हैं ? इस प्रकार की शंका का निवारण निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।**
क्वाहो कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ—हे भूमन् ! हे भगवन् ! हे परमात्मन् ! हे योगेश्वर ! आप जो योगमाया को फैलाकर क्रीडाएँ करते हो आपकी उन लीलाओं को त्रिलोकी में कौन जान सकता है ? कि कहाँ, किस प्रकार से, कितनी और कब होती है।

सुबोधिनी—ननु तद्तत्त्वं भवान् भवल्लीला च, तत् को वा जानाति ? वेदस्तु व्याख्यात्रभावान् मूकवन् नार्थं समर्पयति, भूमन्निति, व्यापकत्वादेकदेशे स्थितो न जानातीत्युक्तं, भगवन्निति, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नत्वादिगुणयुक्तः कथं जानीयात् ? न हि पामरा विदुषस्तत्त्वं जानन्त्यनीशो वेश्वरस्याविरक्तो वा विरक्तस्य, परात्मन्निति, परमात्मनस्तत्त्वं न हि जीवो जानाति, योगेश्वरेति, न हि स्वच्छन्दतेर्बद्धो जानाति, किञ्च सापि लीला क्व वा जायते ? अहो आश्चर्ये, न हि मत्स्यादिरूपे ज्ञानप्रकाश उचितः, कथं वा जायते ? न हि भगवतो लीलासमुद्रे प्रस्तरणादिरूपा कस्यचिद् बुद्धिगम्या भवति, कति वा लीलाप्रकारा भवन्ति कदा वा भवन्तीति न कोपि वेद, तत्र हेतुर्विस्तारयन् क्रीडसि योगमायामिति, यदि मायामविस्तारयन् क्रीडेत् तदा लोको जानीयादपि, अतस्त्वत्स्वरूपं त्वमेव जानासीति तत्त्वोपदेशार्थं तवावतारः ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—आप तथा आपकी लीलाएँ ही तत्त्व है इसको कौन जान सकता है ? वेद स्वयं तो मूक[1] के समान अपना अर्थ नहीं बताता है उसकी व्याख्या करने वाले का भी अभाव है। श्लोक में 'कृष्ण' के लिए दिए हुए 'भूमन्' आदि विशेषणों का भाव बताते हैं कि–

१–हे भूमन ! आप सर्व व्यापक हो, अतः अल्पज्ञ जीव जिसकी स्थिति एक देश में है,

---

१—गूंगे।

वह आपको कैसे जान सकेगा ? अर्थात् जीव भी आपको तथा आपकी लीला को नहीं जान सकता है।

२-हे भगवन् ! ऐश्वर्यादि षड्गुण आप में है, जीव में कोई भाग नहीं है वह ईशादि गुणों से रहित है अतः आपको कैसे जानेगा। मूर्ख विद्वान के तत्व को नहीं जान सकते हैं। जो ईश नहीं है, वे ईश्वर के तत्त्व को नहीं जान सकते हैं। जो वैराग्यवान् नहीं है वे वैराग्यवालों के तत्त्व को नहीं जान सकते हैं।

३-हे परात्मन् ! पर आत्मा का तत्व, आत्मा (जीव) नहीं जान सकता है।

४-हे योगेश्वर ! योगेश्वर स्वच्छन्द[1] गति वाले होते हैं अर्थात् मुक्त बन्धन होते हैं जहाँ इच्छा हो वहाँ जावें, जो चाहें सो करें ऐसे योगेश्वर को बन्धन में पड़ा हुआ (जीव) कैसे जान सकेगा ? अर्थात् नहीं जानेगा। और वह लीला कहाँ व कैसे होती है ? 'अहो' शब्द से कहते हैं कि लीलाएँ आश्चर्य मय हैं, जैसे कि मत्स्य आदि रूपों में ज्ञान का प्रकाश, जो, उन रूपों में होना असम्भव हैं ? कारण कि लीला रूप समुद्र में शय्या आदि पदार्थ, किसी की भी बुद्धि में नहीं आ सकते हैं। लीला के कितने प्रकार होते हैं और वे कब होते हैं उनको कोई नहीं जान सकता है। क्यों नहीं जाने जाते हैं, उसमें कारण बताते हैं कि, आप जो जो क्रीड़ा जब जब करते हो और जहाँ जहाँ जैसे करते हो, तब अपनी योगमाया का विस्तार कर, करते हो, जिससे कोई नहीं समझ सकता है। यदि योगमाया को, न फैलाकर, क्रीड़ा करो, तो लोक समझ भी सके ! इस कारण से आपके स्वरूप को आप ही जानते हो। अतः दूसरों को तत्त्व का उपदेश करने के लिए ही आपके अवतार हैं।

आभास--एवं देहाद्यात्मभावं भवान् दूरीकरतीत्युक्त्वा प्रपञ्चेपि योयं भ्रमः प्रपञ्च मिथ्यात्वं भिन्न तथापि सत्यत्वं सोपि निवर्तत इत्याति दिशति तस्मादिती।

आभासार्थ—उपरोक्त श्लोक के अनुसार आप देहादिकों में, जो हम लोगों का आत्म-भाव है, उसको दूर करते हो[2] यों कह कर अब प्रपञ्च में, प्रपञ्च का मिथ्यापन तथा भिन्न होते हुए भी सत्यपन, इस प्रकार के भ्रम को भी, आप मिटाते हो यह निम्न श्लोक द्वारा कहते हैं।

श्लोक--**तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।**
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति ॥२२॥

१—स्वतन्त्र, आजाद। २—मिटाते हो।

श्लोकार्थ—इसलिए, यह असत् स्वरूप, स्वप्न सदृश, बुद्धि[१] रहित और अत्यन्त दुःखदायी जगत् आपकी माया[२] से उत्पन्न होने पर भी नित्य आनन्द और ज्ञान स्वरूप अनन्त आप में सत् सदृश भासमान होता है ।

सुबोधिनी—सतां बहिर्मुखानामिव **स्वरूपं** यस्य सन्मार्गप्रतिबन्धकं, अत्र ममतायां भगवद्वैमुख्यं भवतीति स्वरूपतोप्यनित्यमुदयास्तमितप्रायं, तदाह स्वप्नाभमिति, **स्वप्नस्येवाभा** यस्य, किञ्च ज्ञानप्रतिबन्धकं चैतत्, **यतोस्ता** गता **धिषणा** यस्मात्, किञ्च क्लेशरूपं च, **पुरुदुःखा**दपि दुःखं यस्मात्, एतादृशमपि **त्वय्येव सदिवावभाति** त्वन्निमित्तं यथा सन् नारदादिस्तथा घटादिरपि **भाति** भगवत्सेवासाधकत्वात्, तत्र हेतुर्नित्यसुखबोधतनावनन्त इति, उदयास्तमितत्वं **नित्यस्य** भगवतः सम्बन्धात् नित्यमिवाभाति, **पुरुदुःखदुःखमपि** सुखात्मकमाभाति, **अस्तधिषणमपि बोधा**त्मकमाभाति, अनित्य**मप्यनन्त** आभातं नित्यमिव भासते, भ्रमाहृप्युद्गतं देहात्मज्ञानं सेवौपयिकत्वात् **सदिवावभाति**, **अतः सर्वमेव जगत् त्वत्सम्बन्धे सति समीचीनं, अन्यथा** विपरितमिति **जगतस्तत्त्वम्** ॥२२॥

व्याख्यार्थ—यह समग्र जगत् असत् स्वरूप है, कारण कि दुष्ट बहिर्मुखों के समान सन्मार्ग में प्रतिबन्धक[३] है । जैसे दुष्ट, सन्मार्ग से प्रेम को हटाकर, असन्मार्ग में ममता कराते हैं वैसे ही प्रपञ्च भी, पुत्रादिकों में ममता उत्पन्न करा के भगवान् से विमुख कराता है । स्वरूप से भी प्रपञ्च अनित्य है, जो वह उदय और अस्त होता रहता है । इसका अनित्यपन, स्वप्न सदृशता बताकर सिद्ध किया है । और बुद्धि अस्त हो जाने से ज्ञान में भी प्रतिबन्धक है । अत्यन्त दुःख से भी विशेष दुःख रूप होने से क्लेश[४] रूप है । इस प्रकार का प्रपञ्च है, तो भी आप से सम्बन्ध होने से सत् जैसा भासता है । आपके कारण (सम्बन्ध) से जैसे नारद आदि सत् हैं वैसे घट आदि भी सत् भासते हैं क्योंकि घट आदि भी आपकी सेवा में आने से उनका भी सम्बन्ध आप से हो जाता है । नित्य सुख रूप, ज्ञान स्वरूप और अनन्त स्वरूप आप हो । आप नित्य हो, अतः आपके सम्बन्ध से प्रपञ्च की अनित्यता, नष्ट जैसी हो जाती है आप सुख रूप हो अतः आपके सम्बन्ध से प्रपञ्च का दुःखपन भी नष्ट हो जाता है । आपके ज्ञान स्वरूप के सम्बन्ध से, प्रपञ्च की बुद्धि का उदयसा हो जाता है । आपके अनन्त स्वरूप के सम्बन्ध से प्रपञ्च भी नित्य के समान भासमान होता है । भ्रम से भी उत्पन्न देह में, आत्मा की बुद्धि (देह आत्मा है ऐसी समझ) भगवत्सेवा के उपयोग में आने से सत्य प्रतीत होती है । अतः समग्र जगत् आप से सम्बन्ध होने से उत्तम है (सत् है) सम्बन्ध न होने से निकृष्ट[५] है अर्थात् असत् है । इस प्रकार जगत् का तत्त्व है ॥ २२ ॥

आभास—भगवतस्तत्त्वमाहैकस्त्वमात्मेति ।

१—ज्ञान ।　　२—इच्छा ।　　३—अन्तरहित ।
३—रुकावट डालने वाला ।　　४—दुःख ।　　५—निन्दित वा अधम ।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में भगवत्तत्व समझाते हैं ।

श्लोक—**एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्मयञ्ज्योतिरनन्त आद्यः ।**
नित्योक्षरोजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोद्वयो मुक्त उपाधितोमृतः ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ—आप एक, आत्मा, पुरुष, सत्य, स्वयं प्रकाश, अनन्त, आद्य, नित्य, अक्षर, नित्य सुखरूप, अविद्या रहित, पूर्ण, अद्वितीय, उपाधि रहित और अलौकिक हो ।

सुबोधिनी—त्वमादावेक एव सजातीयविजातीय स्वगतभेदशून्यः, तत **आत्मा** त्रिविधो जीवरूपोन्तर्यामिरूपो विभूतिरूपश्च जातः, ततः **पुराणः पुरुषः** पुरुषोत्तमः अथवैको ब्रह्मवादे, **आत्मा** योगे, **पुरुषः** साङ्ख्ये, **पुराणो** वैष्णवे, **सत्यः** पाशुपते, सत् त्यदितिभेदे **सत्यो** जगद्रूपो वा, एवं पञ्चविधोपि **स्वयञ्ज्योतिः** स्वप्रकाशो न तु जडः, **अनन्तो**न्तशून्य उत्तरावधिरहितः, **आद्यः** पूर्वावधिरहितः, **नित्यः** सदैकरूपः, न तु वृद्धिक्षयवान् यथा समुद्रश्चन्द्रो वा, एवं प्रपञ्चरूपत्वे दोषचतुष्टयं निवार्य भगवतो रूपान्तराण्याहाक्षर इति, शब्दब्रह्माक्षररूपः प्रकृतिपुरुषकारणरूपो वा, तेन ज्ञानविषय उक्तः, तत्साध्यामोक्षरूपत्वमाहाजस्रसुख: इति नित्यसुखरूपः, तस्मिन्नपि सुखे प्राप्तदोषान् निवारयति निरन्तरसुखरूपमप्यज्ञानयुक्तं भवति यथा सुषुप्तिः तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **निरञ्जन** इति, **अञ्जनमविद्या** तद्रहितः, परिच्छेदोपि भवति तद्व्यावृत्यर्थमाह **पूर्ण** इति, तरतमराहित्यार्थमाहाद्वय इति, केनचिदुपाधिनैव भोक्तव्यमितिशङ्कां वारयति **मुक्त उपाधित** इति, यथा स्त्रीसुखं पुरुषेणैव **भोक्तव्यं** पुरुषसुखं स्त्रियैव तथा ब्रह्मानन्दानुभवे न कोप्युपाधिरपेक्षितः, किञ्च स्वरूपतोपि **स ऋतोलौकिकः** श्रुत्यैकसमधिगम्यो न तु लौकिकप्रमाणवेद्यः, अन्यथा **पूर्वोक्तरूपो** न स्यात्, एभिरेव षोडशविशेषणैर्देहाद् वैलक्षण्यमपि ज्ञातव्यं "षोडशकलोयं पुरुषः," देहस्तु बाल्यकौमारादिभेदेनानेको नापि व्यापको नाप्यात्मेत्यादि स्वयमूह्यं, एकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतेभ्यो वा वैलक्षण्यं ज्ञातव्यं, षोडशकलो वा नारायण एभिरुक्तः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—प्रथम आदि में, आप एक ही सजातीय[1] विजातीय[2] और स्वगत[3] इन तीन प्रकार के भेदों से रहित थे ।

इसके अनन्तर आपने जीवनरूप, अन्तर्यामीरूप और विभूतिरूप तीन स्वरूप धारण किए ।

पश्चात् आप पुराण पुरुष हुए, अर्थात् 'पुरुषोत्तम' कहलाए । अथवा ब्रह्मवाद (वेदान्त) में आप एक हो । योगमार्ग में आपको 'आत्मा' कहते हैं । सांख्य मत में आप 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो । वैष्णव मत में आपको 'पुराण' कहते हैं । और पाशुपत मत में 'सत्य' कहे जाते हो। अथवा सद् और त्यद् इस भेद से आप 'सत्य' रूप वा जगत् हो ।

इस प्रकार पांचों प्रकारों की आप स्वयं ज्योति हो अर्थात् स्वतः प्रकाशक होने से जड़ नहीं हो ।

आप अनन्त होने के कारण अन्त रहित हो, आपकी कोई अन्तिम अवधि[4] नहीं हैं । आप आद्य होने से आपके आदि की कोई अवधि नहीं है ।

१—अपनी जाति से भेद । २—दूसरी जाति से भेद । ३—अपने में के भेद । ४—सीमा, हद ।

आप नित्य एक समान हो, समुद्र और चन्द्रमा के सदृश आप में क्षय वृद्धि नहीं है।

इस प्रकार प्रपञ्च रूप पने में प्रतीत होने वाले चारों दोषों का निवारण कर[1] 'अक्षर' नाम से भगवान् के दूसरे रूपों का वर्णन करते हैं।

'अक्षर' नाम से शब्द ब्रह्मरूप आप हो अथवा प्रकृति और पुरुष के कारण रूप हो। इससे आप ज्ञान का विषय हो अर्थात् आपका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

ज्ञान से प्राप्त करने योग्य मोक्ष का रूप आप हो इसलिये ही नित्य सुख रूप हो।

नित्य सुख रूप में भी, जो दोष होते हैं, उनको निवारण के लिये आप 'निरञ्जन' अर्थात् अविद्या रहित हो। नित्य सुख रूप 'सुषुप्ति' में भी अविद्या रहती है वह आप में नहीं है। प्रत्येक पदार्थ की सीमा होती हैं, आपकी किसी प्रकार की कोई भी सीमा नहीं है; इसको बताने के लिये आपको 'पूर्ण' कहा गया है।

कम और अधिकपन आप में नहीं है इसलिये आपको 'अद्वय' कहा है।

आपका ब्रह्मानन्द रूप सुख किसी भी उपाधि के बिना भोगा[2] जाता है इसलिये कहा है कि आप उपाधि से मुक्त हो अर्थात् आपके सुख भोग में किसी प्रकार की उपाधि नहीं है ब्रह्मातिरिक्त अन्य पदार्थों से जो सुख भोगा जाता है वह उपाधि से प्राप्त होता है। जैसे स्त्री का सुख पुरुष से ही भोगा जाता है और पुरुष का सुख स्त्री से ही भोगा जाता है। इसलिये वह सुख उपाधि से प्राप्त होता है।

आप स्वरूप से भी 'अलौकिक' हो, इसलिये आपका ज्ञान, श्रुतियों से होता है। लौकिक प्रमाणों से ज्ञात नहीं होता है यदि ऐसा न हो तो ऊपर कहा हुआ आपका रूप न हो।

इन उपरोक्त सोलह विशेषणों से आपकी देह से विलक्षणता भी सिद्ध हो गई है। जैसे कहा है कि 'षोड़श कलोऽयंपुरुषः' यह पुरुष सोलह कलाओं वाला[3] है। देह तो बाल्य, कौमार आदि अवस्था भेद से भिन्न-भिन्न रूप वाली होने से एक रस नहीं, अतः अनेक हैं व्यापक तथा आत्मा भी नहीं है। इन सब बातों को स्वतः समझ लेना अथवा उपरोक्त षोडश विशेषणों से आप पञ्च महाभत और एकादश इन्द्रियों से पृथक् एवं विलक्षण हो अथवा सोलह विशेषणों से यह सिद्ध किया है कि षोडश कला वाले नारायण आप हो ॥ २३ ॥

आभास—एवं भगवत्स्वरूपभुक्त्वैवंविधं ये वक्ष्यमाणप्रकारेणोपासते ते भ्रान्ता इत्याहैवंविधमिति पञ्चभिः, एवं।

आभासार्थ—भगवान् के स्वरूप का वर्णन किया, अब नीचे कही जायगी जो परिपाटी, तदनुसार जो उस स्वरूप की उपासना करते हैं, वे भ्रान्त[4] हैं। यह निम्न पाँच श्लोकों में कहते हैं।

१—मिटा कर। २—प्राप्त किया। ३—देह में इन षोड़श कलाओं में से कोई कला नहीं है—अनुवादक।
४—भूले हुए।

श्लोक--**एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते ।**
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ--समस्त जीवों के आत्मरूप आपको, जो लोग गुरु रूप सूर्य द्वारा प्राप्त उपनिषद् रूप सुन्दर नेत्रों से अपना ही रूप समझते हैं वे इस संसार रूप असत् समुद्र से मानो तर जाते हैं ।

सुबोधिनी—षोडशकलं त्वां **सकलात्मनामपि** सर्वजीवानामात्मानं देहरूपमात्मरूपं चात्मन एव स्वस्यैवात्मतयाहमेव भगवानिति ये **विचक्षते** पश्यन्ति तत्र विषयप्रबोधको गुरुरर्को ज्ञानकरणमुपनिषदेव **चक्षूः**, य एवमहमेव परं ब्रह्मेति जानन्ति **ते भवानृताम्बुधिं तरन्तीव** सर्वंब्रह्मेतिज्ञाने सर्वतरणं केवलमात्मन एव ब्रह्मत्वेन ज्ञाने यः संसारोनृतरूपः केवलं स्वमोहात् कल्पितोहम्ममात्मा स एवाम्बुधिस्तरणेशक्यः तादृशमपि **तरन्तीव** दोषाधारस्यानिवृत्तत्वात्, अन्तर्दोष एव निवृत्तो न तु देहेन्द्रियविषयाणां, अतोनृताम्बुधिस्तीर्णोप्यतीर्णप्राय इत्यर्थः ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के (शोडश कलावाले) समग्र जीवों के आत्म (देह-वास स्थान) रूप तथा जीव रूप आपको अपना ही आत्मा समझते हैं, अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ, यों जो लोग समझते हैं । (वे मानों संसार समुद्र को पार कर गए हैं ऐसा जाना जाता है) जैसे सूर्य अन्धकार मिटा कर नेत्र को देखने का साधन ज्ञान (प्रकाश) देता है जिससे वह वस्तु को देख सकता है । वैसे ही गुरू रूप सूर्य ज्ञानार्थ उपनिषद् रूप नेत्र साधन के ढंग के देते हैं । जो लोग, मैं ही परब्रह्म हूँ, इस प्रकार समझते हैं, वे संसार रूप झूटे समुद्र को, मानो पार करते हैं । 'सर्व ब्रह्म' सब ब्रह्म है, इस प्रकार के ज्ञान होने से सब प्रकार से तरण होता है । केवल अपने को ही ब्रह्म समझने से, जो संसार (अहन्ता–ममता)अनृत[1] है वह केवल अपने मोह से उत्पन्न 'अहं और मम' रूप समृद्र ही पार किया हुआ प्रतीति मात्र देखने में आता है । वास्तविक वह भी, पूर्ण रीति से तरा नहीं गया है; क्योंकि दोष का आधार निवृत नहीं हुआ हैं । अन्तर का दोष ही निवृत हुआ है । देह इन्द्रियों के विषयों का विद्यमान दोष हैं । उन दोषों के नाश हुए बिना 'अहं मम' रूप अनृत समुद्र तरा हुआ भी न तरे हुए के समान ही है ।

आभास—ननु सर्वस्यैव तेन ज्ञानेन कथं न विलय ? तत्राहात्मानमेवेति ।

आभासार्थ—उस (मैं ही ब्रह्म हूँ) ज्ञान से सब (देह, इन्द्रिय विषय दोषों) का नाश होकर मोक्ष क्यों नहीं होता है ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं ।

१—झूठ ।

श्लोक—**आत्मानमेवात्मतया विजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।
ज्ञानेन भूयोपि च तत् प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥२५॥**

श्लोकार्थ—जो लोग, अपने को ही आत्म (ब्रह्म) रूप समझते हैं, वे मानते हैं कि जैसे रज्जु में सर्प की, अज्ञान से उत्पत्ति और ज्ञान से नाश होता है, वैसे ही भ्रम से कल्पित, यह जगत् अज्ञान से उत्पन्न होता है। और ज्ञान से लय हो जाता है (शेष, मैं तो सर्वदा मुक्त ब्रह्म रूप ही हूं)।

सुबोधिनी—ते ह्यात्मानमेवात्मतया जानन्ति, अतस्तेनैव भ्रमाद् यावज् जातं निखिलमपि प्रपञ्चितं प्रपञ्चाकारेणात्मीयतया परिकल्पितं ज्ञानेन भूयोपि तदेव तावन्मात्रमेव लीयते न तु कृतिसाध्यं, तत्र दृष्टान्तो रज्ज्वामहेः कल्पितस्यैव सर्वस्य भोगस्य कायस्य भवाभवावुत्पत्तिनाशौ सर्पोयं सर्प इति स्वबुद्धिकल्पितस्यैव नाशो नान्यस्य जगतो भगवत्कृतस्य नापि स्वकृतस्य भ्रमात् सर्पदेहे रज्जुर्न पुनरावर्तते नायं सर्प इति ज्ञातेपि, अतोऽज्ञानकृतमेव निवर्तते नान्यदित्यहम्माभिमान एव गच्छति नान्यत् ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ—वे लोग अपने को ही ब्रह्म मानते हैं इससे ही वे मानते हैं, कि जो कुछ प्रपञ्च आकार से परिणत[1] है वह 'मैं हूँ' भ्रम से कल्पना की गई है। ज्ञान से वह कल्पित ही बारम्बार लय होता हैं। परन्तु जो प्रयत्न[2] से साध्य[3] होता है वह लय नहीं होता है। जैसे कि रज्जु में भ्रम से ही सर्प के देह की उत्पत्ति और नाश होता है अर्थात् पहले भ्रम से रज्जु को सर्प समझा जाता है पुनः ज्ञान होने पर समझा जाता है कि सर्प नहीं है (इस प्रकार सर्प का न होना (नाश) भी भ्रम ही है; क्योंकि सर्प था ही नहीं तो उसका नाश कैसे इसलिये यह सर्व (सर्प का होना और नाश) भ्रम मात्र है। शेष रज्जु में तो किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। इस दृष्टान्त से यह समझना चाहिए कि अपनी भ्रमित बुद्धि से कल्पित पदार्थ का ही नाश होता है। दूसरे किसी भगवान् के बनाए हुए जगत् और अपने बनाए हुए पदार्थ का नाश नहीं होता है। भ्रम होने पर रज्जु सर्प नहीं बन जाती है और ज्ञान होने पर रज्जु का नाश भी नहीं होता है। उत्पत्ति और नाश तो केवल भ्रम से कल्पित सर्प देह का ही होता है इस प्रकार 'अहं-मम'[4] अभिमान जो अज्ञान रूप भ्रम से हुआ है वह नाश होता है दूसरा (जगत् आदि) कुछ भी नाश नहीं होता है।

श्लोक—**अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात् ।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥ २६ ॥**

श्लोकार्थ—संसार में बद्ध होना और संसार से मुक्त होना ये दोनों अन्य कुछ नहीं हैं केवल अज्ञान ही है अर्थात् मैं ब्रह्म हू अथवा मुक्त हूं, यों समझना अज्ञान ही

१—माया हुआ। २—ज्ञान क्रिया। ३—प्राप्त। ४—मैं और मेरा।

है। सत्य वाणी (उपनिषद्) से प्राप्त, सत्य ज्ञान का स्वरूप ही मोक्ष है उसका अज्ञान ही बन्धन है। कारण विचार करने पर समझ में आ जाता है कि दिन और रात्रि जो सूर्य के द्वारा होती है वही सत्य है।

सुबोधिनी—किञ्च वस्तुतोऽस्य तदपि न निवर्तते मुक्तोहमिति ब्रह्माहमित्येतदप्यज्ञानकृतमेव, आत्माज्ञानादेवैवमपि जानाति, बन्धस्य तज्जनितत्वेन कार्यत्वाविशेषाज् ज्ञानमोक्षावप्यज्ञानकार्यमेव, न हि शयानः स्वप्न उत्थाय भोजनादिकमपि कुर्वन् वस्तुत उत्थितो भवति स्वप्नस्यानिवृत्तेः, तथा भगवच्छक्तेरज्ञानस्याप्यनिवृत्तेर्न तेषां परमार्थतो मोक्षोपि सम्भवति तत्र हेतुमाह ऋतज्ञभावादिति, मोक्षस्त्वृतज्ञानरूपः न त्वज्ञानजनितज्ञानरूपः, भगवज्ज्ञानशक्त्यैव मोक्ष इत्येकादशे वक्ष्यति, किञ्च मोक्षो हि भगवति सायुज्यं, स चाजस्रचिदात्मा नित्यचिदानन्दरूपः तत्राज्ञानकृतप्रपञ्चज्ञानयोरभावाज् जीवस्याज्ञानकृतज्ञानेन कथं प्रवेशः स्यात्? तदाह **केवल** इति, किञ्च स तु **परो** नियामकः, न हि नियम्यैर्भगवदाज्ञाव्यतिरेकेण निकटे गन्तुं शक्यते, अतो जीवब्रह्मज्ञानिनो न मोक्षः, तत्रोपपत्तिं वदन् दृष्टान्तमाह **विचार्यमाणे तरणाविवाहनी** इति, सूर्ये विचार्यमाण एव **अहनी** भवतो न तु स्वबुद्ध्या, अन्यथा निमीलिताक्षः स्वयमेव रात्रिं कुर्यात् प्रसारिताक्षश्च दिनं, अतः सूर्य एवागते दिनमपगते रात्रिरिति **केवलं खण्डाद्वैतवादिनो भ्रान्ता एव** ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ––यदि विचारा जाय तो 'मैं ब्रह्म हूँ' यो मानने वालों का 'अहं[1] मम'[2] यह अभिमान भी वास्तविक रीति से नष्ट नहीं होता है। क्योंकि "मैं मुक्त हूँ" "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार का उनका ज्ञान भी आत्मा के अज्ञान से ही उत्पन्न हुआ है। जैसे बन्ध अज्ञान का कार्य है वैसे "मैं ब्रह्म हूँ" यों समझना भी अज्ञान का कार्य है। दोनों का कारण (अज्ञान) समान होने से उनका ज्ञान तथा मोक्ष भी अज्ञान के ही कार्य है।

जैसे स्वप्न में, कोई पुरुष समझता है कि मैं उठकर भोजन कर रहा हूँ. वास्तविक रीति से, वह उठा ही नहीं है, भोजन करना तो दूर रहा, क्योंकि उसका स्वप्न मिटा नहीं है। वैसे ही भगवान् की अविद्या (अज्ञान) शक्ति भी अब तक उनकी मिटी नहीं है, इससे उनका परमार्थ रूप से मोक्ष का होना भी सम्भव नहीं है। कारण कि मोक्ष तो सत्यज्ञान रूप है, अज्ञान से उत्पन्न ज्ञान मोक्ष का रूप नहीं है। भगवान् की ज्ञान शक्ति से ही मोक्ष होता है। यह एकादश स्कन्ध में कहेंगे। और भगवान् में सायुज्य ही मोक्ष है। वह मोक्ष नित्य चिदानन्द रूप है। वहाँ जब, अज्ञान से उत्पन्न प्रपञ्च तथा ज्ञान दोनों का अभाव है, तब जीव अपने अज्ञान कृत ज्ञान से उसमें कैसे प्रविष्ट हो सकेगा? अर्थात् उस चिदानन्द रूप को कैसे अपने में प्रकट कर सकेगा? यह 'केवल' विशेषण देकर समझाया है और ब्रह्म तो 'पर' अर्थात् नियामक[3] है अतः नियामक की आज्ञा के बिना सेवक उसके पास नहीं जा सकता है। अतः जीव स्वरूप को, जो ब्रह्म मानकर अपने को मुक्त समझते हैं उनका मोक्ष नहीं होता है। इसको दृष्टान्त द्वारा हेतु दे कर सिद्ध करते हैं। जैसे जब सूर्य उदय होने का विचार करता है और उदय होता है, तब

१—मैं। २—मेरा। ३—कर्णधार, आज्ञा देने वाला।

दिन होता है एवं जब अस्त होने का विचार कर अस्त होता है तब रात्रि होती है न कि मनुष्य अपनी बुद्धि से दिन वा रात्रि कर सकता है। किसी के चक्षु बन्द करने से रात्रि नहीं होती है और न आँख खोलने से दिन होता है। दिन रात्रि तो सूर्य के द्वारा ही होते हैं केवल खण्ड अद्वैतवादी भ्रान्त ही है।

आभास––किञ्च ये स्वात्मब्रह्मविचारकाः सर्वसङ्गं परित्यज्य देशान्तरे गत आत्मा प्राप्तव्य इति परित्यागं कुर्वन्ति तेतिभ्रान्ता इत्याहत्वमात्मान मिति।

आभासार्थ—और जो अपने आत्मरूप ब्रह्म का विचार करने वाले सर्व सङ्ग त्याग कर, देशान्तर में जाकर आत्मा प्राप्त करने योग्य है, ऐसा मानते हैं वे अति भ्रान्त हैं। यह इस निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक––**त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।**
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोज्ञजनताज्ञता॥ २७॥

श्लोकार्थ–––आत्म स्वरूप आप (कृष्ण) को पृथक् समझ और भगवद्रूप को आत्मा मानकर उनको बाहिर प्राप्त करने योग्य समझते हैं। अहो ! अज्ञानियों को कितना अज्ञान है।

सुबोधिनी—त्वं कृष्णः सर्वात्मा सर्वरूपस्तादृशं त्वां भिन्नं मत्वा नाहं सर्वः किन्तु विलक्षण इति परं च भगवद्रूपमेव ज्ञानप्रकाश्य आत्मा भगवद्विभूतिरूपो भावनया स्फुरितो व्यापकत्वादिधर्मः साङ्ख्यादिस्मृति–सिद्धस्तमात्मानं मत्वा, स तु न जीवरूपः कदाचिदपि न हि घटः पर्वतो भवति, अतः परमात्मा पुनर्बहिर्गत्वा सन्न्यासं गृहीत्वा मृग्य इत्यहो अज्ञानां भ्रान्तजनानां भ्रमपरम्परा ! कथमेते प्रमाणमप्यविचार्य भ्रान्ता भवन्तीत्याश्चर्यम् ! एवं खण्डभावयुक्तानां "यदा ह्येवैष एतास्मिन्नु दरमन्तरं कुरुतेथ तस्य भयं भवती" तिश्रु-त्युक्तं तेषां भयं निरूप्य ये पुनरिहैवान्तःकरणे भगव-च्चिन्तका अन्तर्यामिणमितरपरित्यागेन भावयन्ति ते कृतार्थाः॥ २७॥

व्याख्यार्थ—आप (कृष्ण) सबकी आत्मा हो और सर्वरूप हो ऐसे आपको पृथक् समझ कर, अपने को मैं सर्व नहीं हूं किन्तु विलक्षण हूं ऐसा मानकर वे भगवद्रूप को ही ज्ञान से प्रकाशित होने वाला आत्मा भगवान् का विभूति रूप, भगवान् से स्फुरित होने वाले व्यापकत्व आदि धर्मवाले साङ्ख्य आदि स्मृतिओं से सिद्ध आत्मा को मानते हैं। वह (आत्मा) तो कभी भी जीव* रूप नहीं होता है जैसे घड़ा पर्वत नहीं होता है। अतः बाहिर जाकर सन्यास लेके परमात्मा को ढूंढना

* जीव कभी भी इस (अविद्याग्रस्त) रूप में वह आत्मा नहीं हो सकता है जैसे घड़ा घड़े के रूप में हो तो पर्वत नहीं कहा जा सकता है—अनुवादक।

चाहिये इस प्रकार की अज्ञानियों के (भ्रान्त जनों के) भ्रम की परम्परा आश्चर्य कारक है; किस प्रकार ये प्रमाण का भी विचार न कर भ्रान्त हो जाते हैं; यह अचम्भा है। इस प्रकार खण्ड भाव वाले अद्वैतवादियों का 'जब ही निश्चय से जो जीव इस परमात्मा में थोड़ा भी भेदभाव करता है उसको भय होता है। इस प्रकार श्रुति में कहा हुआ भय बताकर कहते हैं कि जो फिर यहाँ ही अन्तःकरण में भगवान् का चिन्तन करते हैं अन्य का परित्याग कर अन्तर्यामि की भावना करते हैं वे कृतार्थ होते हैं ॥ २७ ॥

आभास----एगत्र लब्धपदं चित्तमन्यदपि प्राप्स्यतीत्याहान्तर्भव इति अन्तर्भवतीति।

आभासार्थ—एक में चित्त की स्थिरता होने से दूसरे की भी प्राप्ति हो सकती है। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**अन्तर्भवेनन्त भवन्तमेव ह्यतत् त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।**
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणं तं किमयन्ति सन्तः ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ---हे अनन्त! जिन साधनों से भगवान् का चिन्तन[1] नहीं हो सकता है उनको छोड़े तब ही सत्पुरुष अपने हृदयाकाश में स्थित आपको वहाँ ही ढूंढ़ने से पा सकते हैं। जैसे झूठा सर्प समीप न हो तो भी जब तक उस झूठे सर्प के भ्रम को त्यागा नहीं जाता है तब तक समीप स्थित सत्य रज्जू का स्वरूप जानने में नहीं आता है।

सुबोधिनी—अन्तर्भवो हृदयाकाशस्तस्मिन्, हे अनन्त देशकालवस्तुपरिच्छेदरहित, तत्रापि विद्यमानं भवन्तमेव ये मृगयन्ति ते सन्तो भवन्ति, अन्वेषणे प्रकारमाहातत् त्यजन्त इति, न तद् यत्र येषु साधनेषु भगवच्चिन्तनं सम्यङ् न भवति तदतत् त्यजन्तो विरुद्धसाधनपरित्यागेन निरन्तरं भगवच्चिन्तकाः सन्त इत्युक्तं भवति, किञ्च भ्रमबुद्धिमपि त्यक्त्वा भगवच्चिन्तनं कर्तव्यमिति दृष्टान्तेनाहासन्तमपीति, अविद्यमानमनर्प्याहिं सर्पमन्तरेण तद्व्यतिरेकेणान्ति निकटे सन्तं गुणं रज्जुं किमयन्ति जानन्ति ? अन्तरशब्दो नानार्थः सोत्रापरित्यागवाची, भ्रमप्रतिपन्नं विषयमपरित्यज्य वस्तुस्वरूपचिन्तनं न सम्भवति, अतो मूलभ्रमप्रतिपन्नं देहात्मभावं व्यामोहकशास्त्रप्रतिपन्नं च भावं परित्यज्य हृदये विद्यमानो भगवान् भावनीयः, पुनः सन्त इतिपदं ते तथैव भावयन्तीतिप्रमाणकथनार्थम् ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ—हे अनन्त! आपको अनन्त इसलिए कहा जाता है कि आप देश, काल, एवं किसी वस्तु के परिच्छेद[2] से रहित होने से अन्तरहित हो। अर्थात् सब में आप विराजमान हो। आप भीतर रहने वाले हृदयाकाश में भी रहते हो अतः जो सत्पुरुष हैं वे आपको उस (हृदयाकाश)

१—प्राप्ति। २—सीमा।

में ही ढूंढते हैं। किस प्रकार ढूंढते हैं ? वह प्रकार बताते हैं कि जिन साधनों से भगवान् का चिन्तन[1] नहीं हो सकता है, प्रथम, उन विरुद्ध साधनों का परित्याग करते हैं एवं भ्रम का भी त्याग कर पश्चात् हृदयाकाश में चिन्तन करते हैं। इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं। 'अन्तर' शब्द के बहुत अर्थ हैं किन्तु यहां 'अन्तर' शब्द का अर्थ 'अपरित्याग'[2] है। भ्रम से समझ में आए हुए विषय का परित्याग किए बिना सत्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता है। जैसे भ्रम से उत्पन्न सर्प, झूठा होते हुए भी, रज्जु के बदले में सर्प समझा जाता है। उस भ्रम को जब तक मिटाया नहीं जाएगा तब तक रज्जु का सच्चा स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसलिए मूल भ्रम से प्राप्त देह में, आत्म भाव को तथा मोह में डालने वाले शास्त्रों के भावों को छोड़ कर, हृदय में विद्यमान भगवान् की ही भावना करनी चाहिए अर्थात् उनका ही चिन्तन आदि करना चाहिए। 'सन्तः' शब्द दूसरी बार भी श्लोक में इसलिए दिया है कि वे (सन्त) इसी प्रकार (हृदयाकाश में) भगवान् की भावना (चिन्तन) करते हैं।

आभास---यद्यप्येवम्भावनान्तःकरण उचिता तथापि भजनमार्गव्यतिरेकेण तच्छास्त्रव्यतिरेकेण च भगवन्माहात्म्यं न परिज्ञातं भवतीति केवलचिन्तनं तथा नोपयोगाय भगवदाविर्भावं सम्पादयति नापि प्रपञ्चनिवृत्तिमित्याहाथापीति।

आभासार्थ—यद्यपि (जो कि) अन्तःकरण में इस प्रकार भगवान् की भावना करनी योग्य है तो भी जब तक भक्ति मार्ग और भक्ति मार्ग के शास्त्रों से भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान पूर्णतया प्राप्त नहीं किया जाता है तब तक केवल अन्तःकरण में भावना करने से भगवान् का प्रादुर्भाव[3] नहीं होता है और प्रपञ्च भी नाश नहीं होता है। यह निम्न श्लोक से कहते हैं।

श्लोक--अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोपि चिरं विचिन्वन् ॥२९॥

श्लोकार्थ----हे देव ! यद्यपि अन्तःकरण से भावना करनी योग्य है तथापि जब आपके चरणारविन्द युगल की स्वल्प भी कृपा प्राप्त हो जाय तब आपकी महिमा का तत्वज्ञान होता है। आपकी कृपा बिना बहुत काल तक चिन्तन करता रहे तो भी आपकी महिमा के तत्व को कोई नहीं जान सकता है।

सुबोधिनी—हे देव ते पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशेनैवानुगृहीतो भगवन्महिम्नस्तत्त्वं जानाति बहूनां मध्य एकोपि चिरमपि विचिन्वन्नन्यो न जानाति ॥ २९ ॥

१—प्राप्ति। २—त्याग किए या छोड़े बिना। ३—प्रकट दर्शन।

व्याख्यार्थ—हे देव ! आपके युगल चरणारविन्द की लेशमात्र कृपा से अनुगृहीत जीव ही भगवान् की महिमा के तत्त्व को जान सकता है। उसके बिना अन्य, जो कोई बहुत समय तक चिन्तन करता रहे, तो भी नहीं जान सकता है ॥ २९ ॥

आभास----तस्मादावश्यकत्वाल् लाघवाच्च भगवन्मार्गेणैव भगवान् सेव्यो नान्य इतिशास्त्रार्थान् मम भगवद्भक्तेषु जन्मास्त्विति प्रार्थयते तदस्तु मे नाथेति ।

आभासार्थ—अब निम्न श्लोक में ब्रह्माजी प्रार्थना करते हैं कि भगवान् की भक्ति करना आवश्यक कर्त्तव्य है और वह भक्ति मार्ग सरल भी है, अतः भक्ति मार्ग के अनुसार भगवान् की ही सेवा करनी चाहिये, दूसरे की किसी की नहीं करनी चाहिये। यही शास्त्रों का तात्पर्य है। इसलिये मेरा जन्म भगवान् के भक्तों में हो।

श्लोक--**तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवोत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।**
येनाहमेकोपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ----हे नाथ ! यहाँ अथवा दूसरे स्थल में पशु पक्षियों में भी मेरा जन्म तब भाग्यशाली होगा, जब आपके सेवकों में, मैं भी एक सेवक होकर आपके चरणारविन्द को सेवा करूँगा ।

सुबोधिनी—हे नाथ, भक्तिमार्गानुसारेण सम्बोधनं, स भूरिभागो भवो मेस्तु, अत्र गोकुलेन्यत्र वा, किं बहुना ? तिरश्चामपि मध्ये, येन भवेन जन्मनाहमपि भवज्जनानां मध्य एको भूत्वा तव पादपल्लवं निषेवे, अन्यथा विजातीयैः सह भक्ता भजनं न कुर्वन्ति ॥३०॥

व्याख्यार्थ—हे नाथ ! यह सम्बोधन (अर्थात् नाथ कह कर पुकारना भक्ति मार्ग की प्रणाली है) भक्ति मार्ग के अनुसार है। मेरा जन्म विशेष भाग्यशाली वह हो। यहाँ गोकुल में अथवा दूसरे स्थान पर हो। बहुत क्या कहूँ ? मेरा साधारण प्राणियों (पशु पक्षियों) में भी उसी प्रकार का जन्म हो जैसे मैं भी आपके सेवकों में एक सेवक होकर आपके चरण कमल की सेवा करूँ। यदि आपके सेवकों में जन्म न होगा तो आपकी सेवा न हो सकेगी। क्योंकि विजातीयों (अभक्तों) के साथ भगवान् का भजन, भक्त नहीं कर सकते हैं।

आभास----एवं स्वप्रार्थनामुक्त्वा गोकुलवासिनां भाग्यमभिनन्दत्यहो इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्माजी प्रार्थना कर, गोकुलवासियों के भाग्य का अभिनन्दन[1] निम्न श्लोक में करते हैं।

१—प्रशंसा ।

श्लोक—**अहोतिधन्या व्रजगोरमण्यः स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना यत्तृप्तयेद्यापि न चालमध्वराः ॥ ३१ ॥**

श्लोकार्थ—अहो ! व्रज की गौएँ और गोपियाँ बड़ी भाग्यशाली हैं क्योंकि जिनको तृप्त करने के लिए, यज्ञ भी आज तक सामर्थ्य वाले नहीं हुए हैं, उन (आप) ने, स्वयं बछड़ों और पुत्रों का रूपधारण कर, जिनका दुग्ध रूप अमृत बहुत ही प्रेम पूर्वक पान किया ।

सुबोधिनी—व्रजे स्थिता गावो रमण्यश्च धन्याः, यतस्ते त्वया स्तन्यामृतं पीतमत्यर्थं सन्तोषपूर्वकं च, तत्र प्रकारमाह, यासां गोरमणीनां वत्सतरात्मनात्मजात्मना च, विभो सर्वभवनसमर्थ, कथमेतावता भाग्यमित्याशङ्क्याह यत्तृप्तय इति, यस्य भगवतस्तृप्तयेद्यापि अध्वरा यागा नालं न समर्थाः ॥३१॥

व्याख्यार्थ—व्रज में रहने वाली गौएँ तथा स्त्रियाँ धन्य है । कारण कि, आपने, उनका स्तन्य (दूध) रूपी अमृत, अत्यन्त सन्तोष के साथ (तृप्ति पर्यन्त) पिया । किस प्रकार पिया वह बताते हैं कि आप विभु, सर्व समर्थ हो, अतः आपने बछड़ों तथा पुत्रों का रूप धारण कर, गौ और गोपियों का दूध पीया । मैंने दूध पीया, इससे वे धन्य[1] क्यों हुई ? इसलिए श्लोक के चौथे पाद में कहते हैं कि ये विशेष भाग्यशाली इसीलिए हुई हैं, कि आज तक भी यज्ञों ने, आपको वैसा तृप्त नहीं किया है, जैसा कि दूध पिला कर इन्होंने तृप्त किया है ।

आभास—किञ्च न केवलमेतावन्मात्रमेव किन्त्वन्यदपि करोतीत्याहाहोभाग्यमिति ।

आभासार्थ—भगवान् ने केवल इतना ही नहीं किया, किन्तु इससे भी विशेष करते हैं । वह निम्न श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक—**अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥ ३२ ॥**

श्लोकार्थ—नन्दजी, गोपों और व्रजवासियों के बड़े भाग्य हैं, बडे भाग्य है, क्योंकि परमानन्द, पूर्ण सनातन साक्षात् परब्रह्म जिनके मित्र हैं ।

सुबोधिनी—पूर्वकाण्डस्याप्रयोजकता स्वतः स्तनपानेनैव कृता, उत्तरकाण्डस्याप्यप्रयोजकतां कृतवानित्युच्यते यद् ब्रह्म मित्रमिति, ब्रह्म हि सर्वसमं मित्रं हि विषमं हिताचरणादहितादिदूरीकरणाच्च, भगवांस्तु ब्रह्मापि संस्तेषां मित्रं जातस्तत्प्रतिपक्षान् हन्ति तांश्च सर्वतः परिपालयतीति, अहोभाग्यमहोभाग्यमितिवीप्सया पुनःपुनर्भाग्यस्मरणं ज्ञापयति, नन्दगोपस्य व्रजे ये तिष्ठन्ति तेषां सर्वेषामेव, अथवादौ नन्दस्य भाग्याभिनन्दनं ततो

१—भाग्यशाली ।

गोपानां ततो व्रजौकसामितिक्रमोपपत्तिः स्पष्टैव, किञ्च नोपकारेणैव तेषां कृतार्थता किन्तु स्वयमानन्दरूपः फलात्मा स्वरूपानुभवं कारयति, तदाह परमानन्दं पूर्णं सनातनमिति, अनित्यपरिच्छेदरहितो ह्यानन्दः फलमिति ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ—पूर्व काण्ड में कहे हुए, यज्ञादि कर्म करने से जो फल मिलता हैं, वह भगवान् ने स्तन पान करके दे दिया अतः इनको यज्ञ आदि करने की आवश्यकता न रहो। इस प्रकार पूर्व काण्ड की निष्फलता बताई। अब इनके मित्र बने, जिससे उत्तर काण्ड (ज्ञान काण्ड) की भी निष्फलता सिद्ध की। कारण कि यों तो ब्रह्म सर्व के लिये समान हैं किन्तु यहाँ आप मित्र बन कर कर्त्ता हुए, शत्रुओं का नाश किया और चारों ओर से रक्षक बने एवं अहित (शत्रु दुःख) आदि को मिटाने वाले होकर विषम (पक्षपाती) भी बने। अतः ब्रह्माजी दो वार धन्य ! धन्य ! कहकर उनके भाग्य की सराहना करते हैं अथवा क्रमशः प्रत्येक के नन्द, गोप और अन्य व्रज में रहने वालों के भाग्य का अभिनन्दन करते हैं। वे अभिनन्दन करने के योग्य हैं यह स्पष्ट देखने में आता है। भगवान् ने शत्रु नाश कर दुःखों को मिटाया और रक्षक बने इन उपकारों से नन्दादि व्रजवासी वास्तव में कृतार्थ नहीं हुए, किन्तु जो नित्य और असीम आनन्दरूप फल है वह स्वयं पूर्ण परमानन्द सनातन रूप फलात्मा, अपने स्वरूप का उनको अनुभव कराते हैं जिससे वे भाग्यशाली और कृतार्थ हुए हैं।

आभास—एवामधिभौतिकस्य जन्मप्रार्थनेन तेषां भाग्याभिनन्दनेन च भगवान् स्तुतः इदानीमाध्यात्मिकरूपस्य स्वस्यैवाभिनन्दनेन स्तौत्येषामिति।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्मा ने ३० श्लोक में भगवान् को यह प्रार्थना की कि मेरा आधिभौतिक जन्म भवत का हो और ३१ वें तथा ३२ वें श्लोक में व्रज भूमिस्थ भगवद्भक्तों को धन्य धन्य कह कर उनकी श्लाघा[1] की तथा भगवांन् की स्तुति भी की। अब ब्रह्माजी इस निम्न श्लोक में अपने ही आध्यात्मिक स्वरूप का स्वयं अभिनन्दन कर प्रभु की स्तुति करते हैं।

श्लोक—**एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्तामेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।**
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे अच्युत ! इन व्रजवासियों के भाग्य की महिमा तो अपूर्व है ही। परन्तु शंकर आदि एकादश हम भी महाभाग्यशाली हैं क्योंकि इन व्रजवासियों के इन्द्रिय रूप पात्रों से, आपके चरणारविंद के मकरन्द रूप मधुर आसव[2] का वारंवार पान करते हैं।

१—प्रशंसा। २—रस।

सुबोधिनी —तुशब्दः पूर्वापेक्षयाप्याधिक्यकथनार्थः, एषां भाग्यस्य महिमा तावदास्तां ततः पूर्वमेतदेव निरूपयिष्यामः, एतन्निरूपणे तु ततस्त्रयोदशगुणमेषां भाग्यमर्थादेवोक्तं भविष्यति, वयमेतेषां गोकुलवासिनामिन्द्रियाधिष्ठातृदेवा एकादश "दिग्वातार्कप्रचेतोश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रका" श्चन्द्रश्चेति, केचिदन्तःकरणचतुष्टयस्य भिन्नं भिन्नमाहुस्तदा चतुर्दश त्रयोदश वा भवन्ति, सर्वानात्मतया गृहीत्वा वदति वयमिति, बतेति हर्षे, भूरि भाग्यमेषां, यद्येते गोकुलवासिनो नोत्पन्ना भवेयुस्तदास्माकमधिष्ठातृता विफलैव स्यात्, भाग्ये निदानमाहैतद्धृषीकचषकैरिन्द्रियपानपात्रैरसकृद् वारंवारमङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं शर्वादयो महादेवसहिता वयं पिबामः, अङ्घ्रेरुदजं कमलं तत्र मध्वेव मकरन्द एवामृतासवं मिष्टं देहादिविस्मारकं च, रोमाञ्चः स्वेदश्च दशमकार्यं, अन्येषामुपयोगः स्पष्ट एव, पुंसामपि बालककन्योत्पादनादिद्वारा मित्रकौ परित्यज्य शर्वादय एकादशैव वा ॥३३॥

व्याख्यार्थ--श्लोक में 'तु' शब्द पूर्व से भी, गोकुलस्थों का अधिक भाग्य है, यह बताने के लिए दिया है । इन (गोकुलवासियों) के भाग्य की महिमा जो पूर्व में कही गई है उसको तो रहने दो, अर्थात् वह अन्य समय में, फिर कभी कहेंगे, उससे पूर्व यह ही निरूपण करेंगे । यह जो अब निरूपण किया जाएगा उसमें इन व्रजवासियों का पूर्व (हम) से भी १३ गुणा* विशेष भाग्य है यह कहा जायगा । हम इन गोकुलवासियों के इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव ११ हैं ।

१–कान की-दिशाएँ, २–त्वचा[1] की-वायु, ३–आँख का-सूर्य, ४–जिह्वा का-वरुण, ५–नासिका का अश्विनी कुमार, ६–वाणी का-अग्नि, ७–हस्त का-इन्द्र, ८–पाद का-उपेन्द्र, ९–उपस्थ का-ब्रह्मा, १०–वायु का-मित्र, ११–मन का-चन्द्रमा है) कितने ही कहते हैं कि अन्तःकरण चतुष्टय के भिन्न-भिन्न देवता हैं यों मानने से चौदह वा तेरह होते हैं । सब देवों को अपना रूप ही समझ कर ब्रह्माजी कहते हैं कि 'हम' बड़े भाग्यशाली हैं यों कहकर 'बत' शब्द से हर्ष प्रकट करते हैं । और कहते हैं कि यदि ये गोकुलवासी उत्पन्न न होते तो हमारा अधिष्ठातापन व्यर्थ हो जाता । इनके जन्म से हमारा अधिष्ठातापन सफल हुआ है, कारण कि महादेवादि सहित हमने भी इनके इन्द्रिय रूप पात्रों द्वारा बार बार आपके चरणारविन्द के मकरन्द रूप मधुर आसव, जो मिष्ट तथा देहादि का विस्मारक है उसका पान किया है रोमाञ्च[2] और स्वेद[3] होना ये दोनों ही दशम (मित्र) के कार्य हैं, दूसरों का कार्य स्पष्ट ही है । जैसे पुरुषों के लिङ्ग इन्द्रिय के देव का उपयोग, बाल एवं बालिका उत्पन्न करने में होता है । दो मित्र देवो के अतिरिक्त शेष शंकर प्रभृति देव भाग्यशाली हैं ।

आभास—एवं गोकुलवासिनां भाग्यमभिनन्द्य वृन्दावनबृहद्वनादिष्वपि ये वृक्षा-

* हम एक एक इन्द्रिय के अधिष्ठाता होने से एक ही इन्द्रिय से आपके चरणारविन्द मकरन्द के मधुर आसव का पान करते हैं । व्रजवासी तेरह इन्द्रियों से पान करने के कारण महाभाग्यशाली हैं ।

१—चाम, चमड़ी । २—रोम (रुवांटे) खड़े होने । ३—पसीना ।

दयोपि जाता लतागुल्मादयश्च कीटादयो वा तेषामपि भाग्यमभिनन्दति तद् भूरिभाग्यमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार गोकुलवासियों के भाग्य की प्रशंसा कर, अब निम्न श्लोक में वृन्दावन अथवा बृहद्वन आदि वनों में जिन्होंने वृक्ष, लता, गुल्म और कीट आदि रूप से जन्म लिया है उनका अभिनन्दन[1] करते हैं ।

श्लोक–तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवाननन्तस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥३४॥

श्लोकार्थ––यहाँ, वन में अथवा गोकुल में किसी प्रकार का भी जन्म हो, तो बड़ा भाग्य है । क्योंकि यहां गोकुलवासियों के चरण रज का अभिषेक सदा ही होता रहेगा जिन गोकुलवासियों का सम्पूर्ण जीवन भगवान् अनन्त ही है । आज तक भी, जिनके पद की रज को, श्रुतियां ढूंढ रही हैं ।

सुबोधिनी—तदेव जन्म भूरिभाग्यमधिकभाग्ययुक्तं, इह वृन्दावने गोकुले वा किमप्यप्रयोजकमपि जन्म, तत्र हेतुः कतमस्य परब्रह्मणोङ्घ्रिरजसामभिषेको यत्र, कतमस्य गोकुलवासिनो वा यस्यकस्यचित्, येषामुत्पन्नानां गोकुलवासिनां वा निखिलमपि जीवितं स्वार्थं परार्थमैहिकपारलौकिकार्थं च सर्वमेव भगवाननन्तः, अनन्तपदेन ब्रह्मवादप्रकारो व्यावर्तितः, किन्तु विशेषप्रकारेण रजसां माहात्म्यमाहाद्यापि यस्य भगवतः पदरजः श्रुतिमृग्यमेव, श्रुतयो हि भगवत्पदान्वेषणपरा ब्रह्म भगवत्पदं ज्ञात्वा "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" "तद् विष्णोः परमं पद" मित्यादिभिर्ब्रह्म प्रशंसन्ति, रजःप्राप्तौ तु कृतार्थाः सत्यो न पुनर्बोधयेयुः प्रयोजनाभावात् ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ—इस वृदावन वा गोकुल में, उपयोग में आने वाला किसी प्रकार का भी देह जिसको प्राप्त हो, तो वह अधिक भाग्यशाली है, कारण कि उस देह पर भगवान् के चरणारविन्द की रज का और जिस किसी भगवद्भक्त गोकुलवासियों के चरणारविन्द की रज का अभिषेक होता रहेगा । वहां उत्पन्न हुए गोकुलवासियों का, 'सम्पूर्ण सर्व प्रकार का लौकिक पारलौकिक स्वार्थ युक्त परोपकार युक्त' जीवन धन भगवान् अनन्त ही है । 'अनन्त' विशेषण से यह बताया कि यहां ब्रह्मवाद प्रकार नहीं है, किन्तु विशेष प्रकार से, चरणारविन्द की रज का ही माहात्म्य वर्णन है । जैसा कि, आज तक भी, जिस भगवान् के चरणारविन्द की रज को श्रुतियाँ ढूंढ रही है । श्रुति ही भगवान् के चरणारविन्द के ढूंढने में तत्पर संलग्न है । भगवान् के चरणारविन्द को 'ब्रह्म* प्रच्छं प्रतिष्ठा', 'तद्‡ विष्णों परमं पदम्' इत्यादि प्रमाणों से ब्रह्म रूप समझकर उनकी

* ब्रह्म (अक्षर ब्रह्म) अनन्त विष्णु का पुच्छ (अन्तिम भाग) और निवासस्थान है ।
‡ ब्रह्म (अक्षर ब्रह्म) विष्णु का परम पद है ।

१—प्रशंसा ।

प्रशंसा करते हैं। यदि केवल रज की प्राप्ति से ही वे कृतार्थ हो जाती तो फिर प्रयोजन न होने से, भगवान् को जानने का प्रयत्न न करती।

आभास—तेषां फलमेतदेव न भवति, सेवायाः क्रियमाणत्वात्, अतस्तत्फलं कथं नाभिनन्द्यत इत्याशङ्क्य तत् फलं न ज्ञायत एवेत्याहैषामिति।

आभासार्थ—उन (गोकुलवासियों) का यह (भगवान के चरणों की रज) ही फल नहीं है, कारण कि वे सेवा भी कर रही हैं, अतः वह फल, जो सेवा से प्राप्त होता है उसका अभिनन्दन[1] क्यों नहीं करते हो ? इस शंका को मिटाने के लिए निम्न श्लोक में कहते हैं कि उस फल को मैं नहीं जानता हूँ।

श्लोक—**एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति नश्चेतो।**
विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति॥
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवपिता।
ये धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते॥ ३५॥

श्लोकार्थ—हे देव ! आप इन व्रजवासियों को कौनसा फल देओगे इसका विचार करते हुए मेरा चित्त सब स्थानों में ढूँढते हुए भी यही देखता है कि आपके बिना अन्य कोई उत्तम फल है ही नहीं, जो आप इनको दो। इससे मैं मोहित हो रहा हूँ। हे देव ! पूतना केवल सत्स्त्री (यशोदाजी) का वेष धारण कर आपके पास आई, उसको भी आपने कुल (बकासुर-अघासुर दोनों भ्राताओं) सहित मुक्ति दी तो जिन्होंने घर, धन, मित्र, प्रिय पदार्थ, देह, पुत्र, प्राण और अन्तःकरण आदि सब आपके लिए ही रखे हैं उनको कौनसा फल दोगे।

सुबोधिनी—एतेभ्यो घोषनिवासिभ्य एतत्सेवासाध्यमेतत्सम्बन्धि हे देव त्वं किं राता ? किं दास्यसीति नोस्माकं चित्तं त्वत्तोन्यत् फलं कुत्रापि ब्रह्माण्डे सकलेप्ययद् गच्छन् विमुह्यति, यतस्त्वमेव विश्वस्यैव फलं परमानन्दस्त्वतोन्यत् कथं फलं भविष्यति ? तर्ह्यात्मानमेव दास्यामीति चेत् तत्राह, सद्वेषादिवेति, सतो यशोदाया वेषाद् वेषं प्राप्य वेषाद्धेतोर्वा पूतना सकुला भ्रातृसहितापि त्वामेवापिता प्रापिता, अर्थात् त्वय्यैव, देवेतिसम्बोधनं पूज्यार्थं, ये पुनस्त्वदर्थमेव धाम गृहमर्थो धनं सुहृदो मित्राणि प्रियाः प्रीतिविषयाः पदार्था आत्मा देहस्तनयाः पुत्राः प्राणा इन्द्रियाणि चाशयोन्तःकरणमेतत् सर्वं केवलं त्वत्कृते त्वदर्थम्॥ ३५॥

१—प्रशंसा, बखान।

व्याख्यार्थ—हे देव ! इन व्रजवासियों की सेवा से साध्य[1] जो देव आप हो वह आप, इन सेवा करने वालों को कौनसा फल दोगे ? इसके लिए हमारा चित्त कहीं भी समग्र ब्रह्माण्ड में जाते हुए क्या आपके अतिरिक्त दूसरा कोई फल है ? इसमें मोहित होता है। कारण कि आप ही समग्र विश्व के परमानन्द रूप फल हो। आपके बिना दूसरा कोई भी कैसे फल बनेगा। यदि आप कहो कि मैं अपने को ही देदूँगा। इस पर ब्रह्माजी कहते हैं कि केवल यशोदाजी के वेश को धारण करने से पूतना ने भी कुल (दोनों भ्राताओं) के साथ आपको प्राप्त किया, अर्थात् आपने अपने को पूतना को प्राप्त कराया देव सम्बोधन, पूज्य भाव दिखाने के लिए किया गया है जो (वृजवासी) फिर आपके लिए ही घर, धन, मित्र, प्रिय पदार्थ देह, पुत्र प्राण, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण आदि यह सर्व रख रहे हैं उनको आप क्या दोगे ?

आभास---नन्वेतेषां संस्कारो जीवतामेव निवर्तनीयः पूतना तु मारितेति संसार-निवृत्ति दास्यामीति चेत् तत्राह तावदिति ।

आभासार्थ—इस निम्न श्लोक में ब्रह्माजी कहते हैं कि यदि यह शङ्का होती हो कि भगवान् ने पूतना को मारकर मोक्ष दिया किन्तु इनको तो जीते जी ही इनका संसार नाश कर जीवन मुक्ति फल देंगे, ऐसा भी नहीं है ।

श्लोक---तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् ।
तावन् मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ---हे कृष्ण ! रागादिक तब तक चोर का काम करते हैं, घर तब तक कारागृह[2] है मोह, भी तब तक पैरों की बेड़ी है; जब तक मनुष्य आपके (सेवक) नहीं हुए हैं ।

सुबोधिनी—गृहादिषु रागादयस्तावदेव स्तेना विवेकधैर्यापहारकास्तावदेव गृहमपि कारागृहं बन्धन-स्थानं तावदेव पुत्रादिषु मोहोङ्घ्रिनिगडः पादश्रृङ्खला यावत् कृष्ण न ते जनास्त्वत्सेवका न भवन्ति, त्वत्सेवकानां त्वेतानि त्रीण्यपि सात्त्विकादीनि सेवौपयिकानीति शास्त्रतोऽप्यभिलाषितान्येव ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ—हे कृष्ण ! जब तक मनुष्य आपके सेवक नहीं हुए हैं तब तक गृहादिकों में रागादिक विवेक धैर्यादिकों के चोर बने रहते हैं और तब तक ही घर भी कारागृह[2] है और पुत्रादिकों का मोह पैरों की बेड़ी है सेवकों के तो ये उपरोक्त रागादिक पुत्र और गृह आदि सब सात्विक हो जाते हैं जिससे वे सेवा के उपयोग में ही आते हैं। इसलिये शास्त्रों की आज्ञा से

१—प्राप्त । २—जेलखाना ।

भी ये पदार्थ सेवकों को अभिलषित है अर्थात् चाहिये क्योंकि इनके बिना सेवा नहीं हो सकती है ॥३६॥

आभास----नन्वेत् सर्वं साक्षात्स्वरूपे युक्तं न तु कृत्रिम इत्याशङ्क्याह प्रपञ्चमिति ।

आभासार्थ—यह उपरोक्त कहना सत्य है किन्तु उनका उपयोग कृत्रिम[1] स्वरूप में न कर साक्षात् स्वरूप में होना चाहिये । इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक कह कर करते हैं ।

श्लोक **प्रपञ्चं निष्प्रपंचोपि विडम्बयसि भूतले ।**
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ----हे प्रभो ! शरणागत जीवों में आनन्द सन्दोह[2] फैलाने के लिये आप निष्प्रपञ्च हो, तो भी पृथ्वी पर, प्रपञ्च के समान अनुकरण करते हो ।

सुबोधिनी—निष्प्रपञ्चोपित्वं प्रपञ्चं विडम्बयसि प्रापञ्चिकेपि चष्टां करोषि, तत्र हेतुः **प्रपन्ना य जनता तस्या आनन्दसन्दोह**मानन्दसमूहं **प्रथितुं** स्थूलं कर्तुं, ननु विपरीतरूपेण कथं तदधिकं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **प्रभो** इति, सर्वप्रकारेणापि सर्वसमर्थः ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ—आप निष्प्रपञ्च[3] होकर भी प्रपञ्ची के समान चेष्टा[4] करते हो । इस प्रकार (प्रपञ्च के समान) चेष्टा क्यों करते हो ? उसका कारण यह है कि आपको जगत् में शरणागत जनों के आनन्द समूह को बढाना है । आप अलौकिक, निष्प्रपञ्च हो, अतः आपके कृत्रिम प्रपञ्ची रूप से आनन्द कैसे बढेगा ? इस शंका के मिटाने के लिये श्लोक में 'प्रभु' शब्द विशेषण देकर समझाया है कि आप सर्व समर्थ होने से किसी भी रूप से अपनी इच्छानुसार आनन्द बढाने में सर्वथा समर्थ हो इसलिए प्रपन्चवत् अनुकरण करके भी आनन्द समूह को बढ़ा सकते हो ।

आभास--ननु ज्ञानेनाप्यानन्दप्रथनसम्भवात्, किमिति प्रपञ्चं विडम्बयतीत्याशङ्क्याह जानन्त इति ।

आभासार्थ—ज्ञान से भी आनन्द बढ सकता है तो फिर भगवान् प्रपञ्च का अनुसरण क्यों करते हैं इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं ।

श्लोक--**जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो ।**
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः ॥ ३८ ॥

१—बनावटी । २—समूह । ३—बिना प्रपञ्च वाला । ४—इच्छा, प्रयत्न ।

श्लोकार्थ—हे प्रभो ! आपको जो जानते हैं वे भले ही जाने, मैं अधिक क्या कहूँ, मेरे मन, वचन और शरीर से आपकी महिमा नहीं जानने में आती है ।

सुबोधिनी—ये जानन्तो भवन्ति त एव जानन्तु वस्तुतो ज्ञानं स्वप्नप्रबोधरूपं, अतो भ्रान्ता एव ते, ननु तथा सति तन्मतं दूषणीयमिति चेत् तत्राह किं बहूक्त्येति, बहूक्त्या किं प्रयोजनम् ? अल्पेनैव तु दूष्यते, न हि मत्तः कश्चिन् महानस्ति वेदगर्भोहं मम तु मनसो वपुषो वाचोपि वैभवं न गोचरो ज्ञातुं शक्यं, न देहकृत्या परिच्छेत्तुं शक्यं, स हि सर्वं करोति तथा भगवद्वैभवमपि कृत्वा प्रदर्शयिष्यतीतिशङ्कयोक्तं वचसां विषयो न भवत्येव तथा चेतसोपि ।। ३८ ।।

व्याख्यार्थ—जो जानने वाले होते हैं वे भले ही जाने । वास्तविक, ज्ञान[1] भी, केवल स्वप्न से जगाने के समान नहीं है । अतः वे जो कहते हैं, कि हमने जान लिया वे भ्रान्त हैं । यदि यों है तो उस मत के दोष, प्रकट कहने चाहिए । इसके उत्तर में ब्रह्माजी कहते हैं, कि बहुत कहने से क्या लाभ है ? थोड़े से ही, वह मत दूषित हो जाता है, जैसे कि मुझ से, कोई महान् नहीं है, क्योंकि मैं वेद गर्भ हूँ, अर्थात् मेरे भीतर वेद रहते हैं यों कहने का तात्पर्य यह है, कि वेद में जो ज्ञान का वर्णन है वह सब मैं जानता हूँ, ऐसा भी मैं, अपने मन, शरीर तथा वाणी से भी आपकी महिमा को समझ नहीं सकता हूँ । मेरी देह की कृति से आपका परिच्छेद[2] नहीं हो सकता है । यदि कहा जाय कि, जैसे ब्रह्माजी सब बताते हैं वैसे ही भगवान् की महिमा का भी वर्णन कर सकेंगे, तो इसके उत्तर में कहते हैं कि मेरे मन और वाणी को भी आपकी महिमा जानने की सामर्थ्य नहीं है ।

आभास—एवं स्तुत्वा गमनं प्रार्थयति बालकानामानयनार्थमनुजानीहीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्माजी स्तुति कर; बालकों को ले आने के लिए जाने की प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—**अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्ववित् ।**
त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत् तवार्पितम् ।। ३९ ।।

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! मुझे जाने की आज्ञा दो । आप सब जानते हो, क्योंकि सर्वज्ञ हो । आप ही जगत् के स्वामी हो । आपका ही यह जगत् है । जिसे सम्हालनें के लिए मुझे आपनें ही दिया है ।

१—जानना । २—सीमा, हद ।

सुबोधिनी—गन्तुमनुज्ञां प्रयच्छ, कृष्णेतिसम्बोधनं स्वस्य प्रेमख्यापनार्थं, प्रेषणेपराधाभावे वा न किञ्चिन् मया वक्तव्यं यतस्त्वमेव **सर्वं वेत्सि यतः सर्ववित**, तत्र गतस्य स्वातन्त्र्यशङ्का न कर्तव्या, यतस्त्वमेव **जगतां नाथः**, अतोधिकारस्थित्यर्थं प्रेषय, **एतज् जगत् तवैव** त्वयैव चार्पितं मयि स्थापितं, अतः प्रेषणमुचितमेव ॥ ३९ ॥

व्याख्यार्थ—हे कृष्ण ! मुझे जाने की आज्ञा दो । ब्रह्मा ने भगवान् को 'कृष्ण' नाम देकर अपना प्रेम प्रकट किया है । जाने की आज्ञा के विषय में अथवा मेरे अपराध के विषय में, मैं कुछ नहीं कहूँगा, क्योंकि सब कुछ आप सर्वज्ञ होने से जानते ही हो । मैं वहां (ब्रह्म लोक में बालकों को लाने के लिए) जाकर स्वतन्त्र होकर बैठ जाऊँगा इस प्रकार की शंका भी नहीं करनी, कारण कि, सकल जगतों के स्वामी आप ही हो । अतः केवल अधिकारी हो कर, लोक की स्थित्यर्थ वहां कार्य करूँ इसलिए मुझे जाने की आज्ञा दो । यह जगत् आपका ही है, आपने ही मुझे सम्हालने के लिए दिया है । इसलिए मुझे वहाँ जाने की आज्ञा देना उचित ही है ।

आभास—गच्छन् नमस्यति हे कृष्णेति ।

आभासार्थ—जाते हुए ब्रह्माजी श्रीकृष्ण को प्रणाम करते हैं उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन् क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ।**
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रुगाकल्पमार्कमर्हन् भगवन् नमस्ते ॥४०॥

श्लोकार्थ—हे श्रीकृष्ण ! यादवों के कुल रूप कमल का विकास करने वाले ! पृथ्वी, देवता, ब्राह्मण और पशु रूप समुद्र की वृद्धि करने वाले ! पाखण्ड धर्म रूप अन्धकार के संहारकर्ता ! पृथ्वी में स्थित राक्षसों के द्रोही ! सूर्यादिक सर्व से पूज्य भगवन् ! आपको कल्प पर्यन्त मेरी नमस्कार है ।

सुबोधिनी—वृष्णयो यादवास्तेषां **कुलमेव पुष्करं** तस्यजोषो विकासस्तस्य **दायिन्निति** सूर्यरूपतोक्ता, क्ष्मा पृथिवी **निर्जरा** देवा **द्विजा** ब्राह्मणाः पशवश्च त एवो-दधिरतस्य **वृद्धिकारिन्निति** चन्द्ररूपता, **उद्धर्मः** पाषण्ड-धर्मस्तदेव **शार्वरं** तस्य निवारकेत्यग्निरूपता, क्षिति-राक्षसध्रुगिति, क्षितावुत्पन्ना ये राक्षसास्तान् द्रोग्धीत्य-वतारप्रयोजनं, **आकल्पं नमस्त** इति, **आर्कमर्हन्निति**, अर्कमभिव्याप्य सर्वपूज्येति स्वस्यापि नमस्कारे हेतुः ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ—आप सूर्य रूप हो कारण कि आप यादवों के कुल रूप कमल का विकास करने वाले हो । आप चन्द्रमा रूप भी हो कारण कि पृथ्वी, देव, ब्राह्मण और पशु ये ही समुद्र हैं इनकी वृद्धि करते हो । पाखण्ड धर्म रूप अन्धकार को नाश करते हो । अतः आप अग्नि रूप

भी हो। पृथ्वी पर प्रकट हुए राक्षसों का द्रोह[1] करते हो इससे आपके अवतार लेने के कारण का ज्ञान हो जाता है। ऐसे आपको कल्प पर्यन्त मेरी नमस्कार है। नमस्कार करने में कारण बताते हैं कि सूर्य से लेकर सब देवों के आप पूज्य हो, अतः मेरा भी आपको नमस्कार करना उचित है।

आभास—एवं स्तुत्वा गत इत्याहेतीति।

आभासार्थ—इस निम्न श्लोक में ब्रह्माजी स्तुति के अनन्तर आज्ञा ले प्रणामादि करके पधार गए इसका वर्णन है।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—**इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः ।**
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं इस प्रकार ब्रह्माजी भूमा[2] स्वरूप की स्तुति कर तीन परिक्रमा देकर और चरणों में प्रणाम कर अपने लोक को गए।

सुबोधिनी—भूमानं पूर्वमनन्तकोटिब्रह्माण्डरूपेण प्रदर्शितात्मानं त्रिः परिक्रम्य पुनः पादयोर्नत्वाभित इष्टं भगवन्तं स्वस्य धाम वा प्रत्यपद्यत प्रस्थितः, गत इतियावत् ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ—जिसने प्रथम अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड रूप से दर्शन दिया था, उस भूमा स्वरूप आत्मा (श्रीकृष्ण स्वरूप) को तीन परिक्रमा देकर पुनः अपने प्रिय भगवान् के चरणों में प्रणाम कर ब्रह्माजी अपने अभीष्ट[3] धाम को रवाने हुए ॥ ४१ ॥

आभास—ततो भगवत्कृत्यमाह तत इति।

आभासार्थ—ब्रह्माजी के जाने के अनन्तर जो भगवान् ने किया उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**ततोनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुव प्रागवस्थितान् ।**
वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम् ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने ब्रह्माजी को जाने की आज्ञा दी, उनके जाने के अनन्तर, पूर्ववत् स्थित मित्रों वाले तट पर, भगवान् बछड़ों को ले आए।

१—नाश। २—व्यापक। ३—चाहे हुए, इच्छा वाले।

सुबोधिनी—यावद् गत्वा ब्रह्मा स्वगृहं बालकान् वत्सांश्चानयति तावद् भगवानेव ब्रह्माणमनुज्ञाप्य प्रागवस्थितान् वत्सान् पुलिनमानिन्ये, पुलिनमपि स्वकमेव, यत्र पूर्वं बालकाः स्थितास्त्रापि यथापूर्वसखं पुलिनं यथापूर्वं सखायो यत्र पूर्वं पुलिने बालकान् पुर्ववदुपवेश्य पश्चाद् वत्सानयनार्थं गत इव वत्सान् पुलिनमानिन्ये ॥ ४२ ॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्माजी भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर, जब तक अपने घर जाके बालक और बछड़ों को ले आवें, तब तक भगवान् स्वयं जिस तट पर पहले बछड़े खड़े होकर चरते थे, बालक भी बैठकर भोजन आदि करते थे, उस अपने तट पर जहाँ पहले की तरह बालकों को तट पर बिठाकर, पीछे बछड़ों को भी लाने के लिए मानो गए हैं ऐसे बछड़ों को भी वहाँ तट ले आए ॥४२॥

आभास––तदा बालकाः समागतं भगवन्तं कथं ज्ञातवन्त इत्याकाङ्क्षायामाहैकस्मिन्नपीति ।

आभासार्थ—भगवान् बछड़ों को ले आए उस समय बालकों ने भगवान् को कैसे पहचाना जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक––**एकस्मिन्नपि यातेब्दे प्राणेशं चान्तरात्मनः ।**
कृष्णमायाहता राजन् क्षणार्धं मेनिरेर्भकाः ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ----यद्यपि अपने प्राणनाथ भगवान् के बिना एक वर्ष बीत गया था तो भी भगवान् की माया से मोहित उन बालकों ने उस समय को अर्ध क्षण के समान समझा ।

सुबोधिनी—एकस्मिन्नप्यब्दे वर्षे याते गत आत्मनः प्राणेशमन्तरा भगवन्तं विनाल्पोपि कालो यत्र विरहाद् भूयान् भवितुमर्हति तत्र तावन्तमपि कालं कृष्णमायया आहता व्याप्ता न तु ब्रह्ममायया क्षणार्धमेवार्भका मेनिरे ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ—जहाँ अपने प्राणपति भगवान् के बिना अल्प[1] समय भी महान् होना चाहिये था वहाँ पूर्ण एक वर्ष बीत गया तो भी बालकों ने भगवान् की माया से मोहित हो जाने के कारण उस समय को आधी क्षण समझा था । यह माया भगवान् की थी ब्रह्मा की नहीं थी ॥ ४३ ॥

आभास––ननु कथमेतावतः कालस्य विस्मरणम् ? तत्राह कि किमिति ।

१—थोड़ा ।

आभासार्थ—इतने लम्बे वर्ष भर के काल को एक क्षण कैसे समझा। इतना विस्मरण कैसे हुआ ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक---किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः ।
यन् मोहितं जगत् सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ---जिस भगवान् की माया से मोहित यह सकल जगत् अपने आत्मा को ही भूल गए हैं, उस माया से मोहित चित्त वाले यहाँ क्या क्या नहीं भूल सकते हैं ? अर्थात् सब कुछ भूल सकते हैं।

सुबोधिनी----मायामोहितचेतसः किं किं न विस्मरन्ति ? यद् यस्मात् सर्वमेव जगत् मोहितं सदभीक्ष्णं सर्वदैव विस्मृतात्मकं विस्मृत आत्मा येन तादृशम् ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ—माया से मोहित चित्त वाले, क्या क्या नहीं भूल सकते हैं ? जबकि जिस कारण से (माया से) सकल जगत् मोहित होके सदा ही अपनी आत्मा को ही भूल गया है ॥४४॥

श्लोक--ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेतिरंहसा ।
नैकोप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम् ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थ--बालकों ने अपने मित्र श्रीकृष्ण को कहा कि आप बहुत शीघ्र आ गए हमने अब तक एक भी ग्रास नहीं खाया है। यहाँ आओ, अच्छी तरह भोजन करो।

सुबोधिनी—अत एव स्वसुहृदं कृष्णमूचुस्ते त्वयातिरंहसा स्वागतमिति, तत्र हेतुत्वेनाहुर्नैकोप्यभोजि कवल इति, तव गमनानन्तरमेकोपि कवलो नाभोजि न भुक्तः, अनेन भगवति प्रेमापि सूचितं, अत एवैहि, मध्ये पूर्ववत् तिष्ठ, साधु भुज्यतामिति ॥ ४५ ॥

व्याख्यार्थ--इस कारण से ही अपने मित्र श्रीकृष्ण को कहने लगे कि आप बहुत शीघ्र पधारे हो; शीघ्र पधार गये हो, इसकी पुष्टि में कहते हैं कि देखो आपके जाने के पीछे हमने एक भी ग्रास नहीं खाया है; अर्थात् वह ग्रास हाथ में ही है। इस प्रकार कहकर भगवान् में अपना प्रेम प्रकट किया था। इससे अब आप यहाँ आओ हमारे बीच में पहले के समान बैठो और प्रेम पूर्वक भोजन करो ॥ ४५ ॥

आभास--ततो भगवता तथैव कृतमित्याह तत इति।

आभासार्थ—भगवान् ने, जैसे मित्रों ने कहा वैसे ही किया। ये निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**ततो हसन् हृषीकेशोभ्यवहृत्य सहार्भकैः।
दर्शयंश्चर्माजगरं न्यवर्तत वनाद् व्रजम् ॥ ४६ ॥**

श्लोकार्थ—फिर भगवान् हास्य करते हुए बालकों के साथ भोजन कर अजगर का चर्म दिखलाते हुए बन में व्रज को पधारे ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी—अर्भकैः सहाभ्यवहृत्य मुक्त्वाघासुरस्य च चर्म प्रदर्शयन् वनाद व्रजं प्रति न्यवर्तत ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ—बालकों के साथ भोजन कर, अघासुर का चर्म बालकों को दिखाते हुए, बन में से व्रज को पधारे ॥ ४६ ॥

आभास—समागच्छन्तं भगवन्तं वर्णयति बर्हेति।

आभासार्थ—व्रज में आते हुए भगवान् का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**बर्हप्रसूनवनधातुविचित्रिताङ्गः प्रोद्दामवेणुदलशृङ्गरवोत्सवाढ्यः।
वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्तिर्गोपीदृग्गुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम् ॥ ४७ ॥**

श्लोकार्थ जिनकी, ग्वाल बाल पवित्र कीर्ति गा रहे हैं, जिनकी दृष्टि[1] गोपी जनों के नेत्रों, के लिये उत्सव[2] रूप है, मोर पिच्छ, पुष्प, वन की धातु, गेरू आदिकों से, विशेष रीति से, चित्रित अङ्ग वाले हैं, गौओं के बछड़ों को बांधने वाली रज्जु, वंशी, पत्र और सींग की ध्वनि से आनन्द वाले हैं, बछड़ों को शब्दों द्वारा पुचकारते अथवा आगे चलाते हैं, वैसे भगवान् वृज में प्रविष्ठ हुए ॥ ४७ ॥

सुबोधिनी—प्रोद्दामगोबन्धनरज्जुर्दोहसम्बन्धि, अधिको वा, वत्सान् गृणन्नुच्चारयन्, अनुगैर्बालकैर्गीता पवित्रा कीर्तिर्यस्य, गोपीदृशामुत्सवरूपा दृष्टिर्यस्य ॥ ४७ ॥

व्याख्यार्थ—प्रोद्दाम* गायों को दोहने के समय बान्धने में आने वाली रस्सी अथवा इससे भी बड़ी रस्सी, बछड़ों को आगे चलाने के लिये अस्पष्ट शब्द उच्चारण करते हुए बालक जिनकी कीर्ति गा रहे हैं वैसे, गोपीओं के नेत्रों के लिए आनन्द रूप दृष्टि वाले भगवान् व्रज में प्रविष्ट[3] हुए ॥ ४७ ॥

* इस श्लोक की टीका में केवल कुछ पदों के ही शब्दार्थ कहे हैं—अनुवादक।

१—दर्शन, २—आनन्द, ३—प्रवेश अर्थात् पधारे।

आभास—ततो बालका अघासुरवधं व्रज आहुरद्यानेनेति ।

आभासार्थ—बालकों ने व्रज में अघासुर के वध की कथा कही जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**अद्यानेन महाव्यालो यशोदानन्दसूनुना ।**
हतोविता वयं चास्मादिति बाला व्रजे जगुः ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ—आज इन यशोदा और नन्दनन्दन ने अजगर को मारा और इस अजगर से हमारी रक्षा की ।

सुबोधिनी—केचिद् यशोदासूनुनेत्यन्ये नन्दसूनुनेति, वयं चास्माद् व्यालादविताः ॥ ४८ ॥

व्याख्यार्थ—व्रज में आकर, कितनेक बालकों ने कहा कि आज यशोदानन्दन ने और कितनेक बालकों ने कहा कि नन्दनन्दन ने आज सर्प को मारा तथा उस सर्प से हम लोगों की रक्षा कीं (यह सब ने मिल कर साथ में कहा) ॥ ४८ ॥

आभास—एवं भ्रान्तमोहनिवृत्त्यर्थं सर्वसिद्धान्तमुपपाद्य स्नेहाश्रयविवेचनार्थं प्रक्रियान्तरमारभते, स्नेहः स्वात्मनिष्ठः स चात्मा भगवाञ्जीवो वा, सहजस्नेहो भगवति जीवे तत्सम्बन्धात् तदंशत्वादाहोस्विज् जीव एव ? तथा सति भगवति स्नेहः कथमित्याक्षिपते ब्रह्मन्निति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भ्रान्तों के मोह की निवृत्ति के लिए सब प्रकार का सिद्धान्त कहकर, अब स्नेह का वास्तविक[1] आश्रय[2] कौन है ? इसके निर्णय करने के लिये दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं । स्नेह अपनी आत्मा में ही होता है ? वह आत्मा कौन ? भगवान् अथवा जीव ? स्नेह का स्वाभाविक पात्र तो भगवान् ही है । जीव में स्नेह तो इसलिये होता है कि जीव उस (भगवान्) का सम्बन्धी वा अंश है । यदि कहो, कि जीव भी आत्मा है वह ही प्रेम का पात्र है तो (व्रजवासियों का) भगवान् में गाढ प्रेम कैसे हुआ ? इस संशय की निवृत्ति के लिये राजा परीक्षितजी निम्न श्लोक में प्रश्न करते हैं ।

१—असल में । २—पात्र ।

॥ राजोवाच ॥

श्लोक---ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत् ।
योभूतपूर्वः स्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् ॥ ४६ ॥

श्लोकार्थ---राजा कहते हैं, हे ब्रह्मन् ! व्रजवासियों का अपने औरस[1] पुत्रों में जैसा पहले प्रेम नहीं था इतना अभूतपूर्व प्रेम पराए पुत्र श्रीकृष्ण में कैसे हुआ वह कहो ।

सुबोधिनी—जीवस्य देहेन सम्बन्धस्ततः पुत्रादिषु ततो नन्दे ततो नन्दपुत्र इतिक्रमः, परोद्भवे स्वप्राणापेक्षयापि योधिकः प्रेमा स कथं भवेत् स्वोद्भवेष्वपि स्तोकेषु योभूतपूर्वः ? अतोत्र सिद्धान्तः कथ्यताम् ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ—जीव का प्रथम, देह से सम्बन्ध हुआ, पीछे देह से उत्पन्न पुत्रादि में हुआ, पश्चात् नन्द में, उसके अनन्तर नन्द के पुत्र में यह क्रम है । अन्य से उत्पन्न में अपने प्राणों से भी अधिक, जो प्रेम, वह कैसे हुआ । अपने उत्पन्न बालकों में भी इतना पहले प्रेम नहीं था । अतः इस विषय में क्या सिद्धान्त है वह बताओ ॥ ४६ ॥

आभास—तत्र भगवति स्नेहमुपपादयति सर्वेषामिति ।

आभासार्थ—इसके उत्तर में कहते हैं कि स्नेह भगवान् में ही होता है, यह सिद्धान्त है । निम्न श्लोक से नौ श्लोकों में इस सिद्धान्त को प्रति पादन करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक---सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः ।
इतरेपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ॥ ५० ॥

श्लोकार्थ---श्री शुकदेवजी ने कहा कि महाराज ! सब प्राणियों को मुख्य अपनी आत्मा[2] ही प्रिय है। सन्तान और धन आदि दूसरे पदार्थों में जो प्रेम है, सो देह की वल्लभता[3] के कारण ही है ।

१—अपने से पैदा हुए । २—देह । ३—प्रियता ।

सुबोधिनी—लोके तावत् सर्वेषां प्रेमविषय आत्मा देहः, इतरेपत्यवित्ताद्यास्तस्य देहस्य वल्लभतया प्रियतया, युक्तश्चायमर्थः, अन्यथा परबालके परदेहे वा स्नेहः स्यात् ॥ ५० ॥

व्याख्यार्थ—लोक में तो सब के प्रेम का विषय, देह ही है। दूसरे और धन आदि से प्रेम तो उस देह में प्रेम होने के कारण होता है। यह सिद्धान्त योग्य ही है। यदि यों नहीं होवे, तो दूसरे बालकों में वा दूसरी देहों में प्रेम होना चाहिये।

आभास—तत्रापि तारतम्यमित्याह तद् राजेन्द्रेति।

आभासार्थ—इसमें भी भेद है वह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**तद् राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम्।**
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु ॥ ५१ ॥

श्लोकार्थ—हे राजेन्द्र देहधारियों को जैसा स्नेह अपनी अपनी देहों में होता है, वैसा ममता के आस्पद[1] पुत्र, धन और गृह आदि में नहीं होता है।

सुबोधिनी—देहाभिमानवतां यथा स्वस्वकात्मनि देहे स्नेहोहमभिमानविषयत्वान्न तथा पुत्रवित्तादिषु ममताविषयत्वात् ॥ ५१ ॥

व्याख्यार्थ—देह मैं हूँ, इस प्रकार के ज्ञान से देहाभिमानी बने हुए लोगों में, अपनी देह में जैसा प्रेम होता है, वैसा प्रेम जिन पुत्र, धन, गृह में ममता रहती है, उनमें नहीं होता है। कारण कि ममता वालों से अहं[2] में विशेष आसक्ति होती है ॥ ५१ ॥

आभास—नन्वत्र देहो वात्मा वा कः प्रियत्वेन सहजोभिनिर्दिष्टः ? आत्मा चेत् स न देहातिरिक्तः प्रतीतः केनापि पामरेणातः प्रेम कथम् ? तत्र देहश्चेत् को हेतु-रित्याकाङ्क्षायामाह देहात्मवादिनामिति।

आभासार्थ—इस उपरोक्त श्लोक में देह में प्रेम होता है यह कहा। किन्तु वह प्रेम वास्तविक किसमें है, इसका निर्णय नहीं हुआ क्योंकि यदि कहो कि देह में हुआ,तो क्या देह आत्मा से पृथक है ? यदि कहो कि आत्मा में तो क्या आत्मा देह से पृथक् है । किसी भी पामर ने देह, आत्मा पृथक देखी नहीं है तो प्रेम किसमें हुआ? यदि कहो देह में हुआ, तो उसका हेतु कहो। इस पर निम्न श्लोक कहते हैं।

१—पात्र। २—अपने।

श्लोक----देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम ।
यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम् ॥ ५२ ॥

श्लोकार्थ--हे राज सत्तम ! जो पुरुष देह को ही आत्मा मानते हैं, उनको भी जैसे देह प्यारी है, वैसे देह के पीछे लगे हुए पुत्र, धन आदि प्यारे नहीं होते हैं ।

सुबोधिनी—अस्ति देहव्यतिरिक्त आत्मा पामराणामपि मते, तथाप्यङ्गीकृत्याप्युच्यते देह एव आत्मा येषामपि वादिनां, राजन्यसत्तमेतिसम्बोधनं स्नेहार्थं, यथा देहः प्रियतमो न तथा पुत्रादयः ॥ ५२ ॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि पामारों के मत में भी देह से आत्मा पृथक् है, तो भी उनकी देह को ही, आत्मा मानना स्वीकार कर, कहा जाता है कि देह को आत्मा मानने वालों को भी जैसी देह अति प्यारी है, वैसे पुत्रादिक नहीं है । राजा को 'राजन्य सत्तम' सम्बोधन शुकदेवजी ने राजा में अपने स्नेह को प्रकट करने के लिये दिया है ॥ ५२ ॥

श्लोक----देहोपि ममताभाक् चेत् तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः ।
यज् जीर्यत्यपि देहेस्मिञ् जीविताशा बलीयसी ॥ ५३ ॥

श्लोकार्थ--यदि देह भी ममता का स्थान हो जाए तो यह देह आत्मा के समान प्रिय नहीं रहती, क्योंकि जब देह बहुत जीर्ण हो जाती है मरने का भी निश्चय हो जाता है तो भी जीने की बलवती आशा रहती है ।

सुबोधिनी—पश्चादल्पविवेकेन देहोपि ममताभाक् चेत् तर्ह्यसावेव देह आत्मवत् पूर्वानुभूतदेहवदहमभिमानयुक्तदेहवत् प्रियो न भवति, किञ्च प्राणश्चेदात्मा तदापि प्राणवन्न देहः प्रियः, यज् जीर्यत्यपि देहेस्मिन्नपि देहे बलीयसी तस्य जीविताशा ॥ ५३ ॥

व्याख्यार्थ--जीव के स्वल्प भी विवेक जब आजाता है, तब वह समझने लगता है कि मैं देह नहीं हूँ किन्तु देह मेरी है । इस विवेक से जीव को पहले, मैं देह हूँ, इस प्रकार के ज्ञान से, जो देह में प्रेम होता था वह अब नहीं होता है, क्योंकि उसको ज्ञान हो गया है कि मैं देह नहीं हूँ और प्राण ही आत्मा है । इस प्रकार जब मानता है, तब प्राण के समान, देह प्रिय नहीं रहती है । देह जीर्ण होती है । (बेकार हो जाती है) तो भी जीने की आशा बलवती ही रहती है कारण कि देह से प्राण (आत्मा) प्यारे होते हैं ॥ ५३ ।

श्लोक----तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच् चराचरम् ॥ ५४ ॥

श्लोकार्थ---इससे सिद्ध होता है कि सब प्राणियों[1] को अपनी आत्मा ही अति प्रिय है। यह समस्त जड़ और चेतन जगत् उसके लिए ही है।

सुबोधिनी—तस्मादात्मा प्रिय इत्यविवादं, तदर्थं चान्यत् ॥ ५४ ॥

व्याख्यार्थ—इससे (उपरोक्त कहे हुए ज्ञान से) निश्चय है कि आत्मा[2]* प्रिय है, इसमें किसी प्रकार का विवाद[3] नहीं है उस (भगवान्) के लिये ही दूसरे सब हैं ॥ ५४ ॥

आभास----स चात्मा कृष्ण एवेत्याह कृष्णमेनमिति ।

आभासार्थ—इस निम्न श्लोक में स्पष्ट करते हैं कि वह आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही है।

श्लोक----**कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।**
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥ ५५ ॥

श्लोकार्थ----इस श्रीकृष्ण को तुम सब आत्माओं की आत्मा समझो वह भी जगत् के कल्याणार्थ यहाँ देही के समान माया से भासते हैं।

सुबोधिनी—अखिलात्मनामयमात्मा, अस्यैव स्नेहः सहजो धर्म एतद्विषयकस्तदंशः पश्चादन्यत्र गच्छति तदंशेषु, एतन् मैत्रेयीब्राह्मणे वाक्यान्वयादित्यधिकरणे स्पष्टमस्माभिर्व्युत्पादितं, भगवद्धर्मा एवान्यत्र कार्यंशे च भासन्त इति, ननु कृष्ण कथमात्मा ? तत्राह **जगद्धितायेति**, केवलं जगद्रक्षार्थं **मायया देहीवाभाति** वस्तुतस्तु ब्रह्मैव ॥ ५५ ॥

व्याख्यार्थ—यह श्रीकृष्ण, सकल आत्माओं[4] की आत्मा है। इसमें ही जीवों का सहज[5] प्रेम होता है क्योंकि प्रेम भगवान् का ही स्वाभाविक धर्म है। भगवान् के उस स्वाभाविक धर्म (प्रेम) का अंश दूसरों में (उनके अंशों में, जीवों में) पीछे उत्पन्न होता है। इस विषय को हमने मैत्रेयी ब्राह्मण में 'वाक्यान्वयात्' इस सूत्र से स्पष्ट सिद्ध किया है। दूसरे कार्यों में, वा अंशों में, जो धर्म देखने में आते हैं, वे भगवान् के ही धर्म हैं। कृष्ण को आप सब की आत्मा कैसे कहते

---

* सबकी आत्मा भगवान् है। जीव सबकी आत्मा नहीं है अतः अपनी आत्मा कहने का तात्पर्य है कि जीव की जो आत्मा है वह प्रिय है।

भगवान् के लिये ही सब है का तात्पर्य है कि भगवान् के क्रीडार्थ और सेवार्थ सकल पदार्थ हैं न कि जीव के लिए अतः जीव को सब पदार्थों का भगवान् की सेवा में उपयोग करना चाहिये—**अनुवादक**।

१—जीवों। २—भगवान्। ३—झगड़ा। ४—जीवों। ५—स्वाभाविक (कुदरती)

हो ? इस शङ्का को मिटाने के लिये श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहते हैं कि केवल जगत् की रक्षा करने के लिये, माया से, मनुष्य के समान प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः वे ब्रह्म ही हैं ॥ ५५ ॥

श्लोक—**वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थाष्णु चरिष्णु च ।**
भगवद्रूपमपरं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन ॥ ५६ ॥

श्लोकार्थ—वस्तुतः[1] सर्व जगत के कारण श्रीकृष्ण ही हैं। इस प्रकार के ज्ञानियों को, सब चर और अचर जगत्, भगवान् का अपर रूप दीखता है क्योंकि कोई भी वस्तु भगवान् से भिन्न[2] नहीं है।

सुबोधिनी—किञ्च कृष्णं जानतां सर्वमेव स्थावर-जङ्गमात्मकं भगवद्रूपं भाति यदन्यन् नास्त्येव किञ्चन, किञ्चन, ननु भगवतः कथमेवम्रूपम् ? तत्राहापरमिति, परं कृष्णरूपमपरं जगत्, अतो महापुरुषप्रतीत्यापि कृष्णो भगवान्, "यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती" ति तदैव सङ्गच्छते ॥ ५६ ॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण के स्वरूप को वास्तविक रीति से जानने वालों को, सब ही स्थावर और जंगम भगवान् का ही रूप दीखता है; क्योंकि उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं। भगवान् का ऐसा रूप कैसे है? इसके उत्तर में श्लोक में कहते हैं कि 'अपरं' कृष्ण का एक रूप 'पर' है और दूसरा 'अपर' है। 'पर' रूप तो अलौकिक आनन्द मय है और यह 'अपर' तिरोहितानन्द स्वरूप है। अतः महान् पुरुषों की प्रतीति[3] से भी श्रीकृष्ण भगवान् है। 'यस्मिन विदित सर्वमिदं विभाति' (जिसको जानने से सब का ज्ञान हो जाता है) यह श्रुति भी तभी ही चरितार्थ वाली होती है ॥ ५६ ॥

आभास—किञ्च न केवलं सर्वस्य भगवत्त्वे महतां दृष्टिरेव प्रमाणमपि तु युक्ति-रप्यत आह सर्वेषामिति ।

आभासार्थ—सर्व 'भगवान्' है इसमें केवल महापुरुषों की दृष्टि ही प्रमाण नही है किन्तु युक्ति भी इसको सिद्ध करती है यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**सर्वेषामेव भावानां भावार्थो भवति स्थितः ।**
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद् वस्तु रूप्यताम् ॥ ५७ ॥

श्लोकार्थ—सर्व पदार्थों (कार्यों) का कारण होता है तब सब कार्यों के कारणों का कारण आप में स्थित है अर्थात् मूल कारण आप श्रीकृष्ण भगवान् हो। उस

१—सचमुच। २—दूसरी। ३—ज्ञान वा विश्वास।

(भगवान् श्रीकृष्ण) से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। जो पृथक् है ? तो बताओ।

सुबोधिनी—सर्वपदार्थानामबाधितोर्थो भवति कारणे स्थितः, कारणातिरिक्तं कार्यं नास्तिति, तस्य कारणस्यापि कारणं तत्वं भगवानेव, अतद् भगवद्-व्यतिरिक्तं वस्तु किं निरूप्यताम् ॥ ५७ ॥

व्याख्यार्थ—सर्व पदार्थों का अबाधित[1] अर्थ उसके कारण में स्थित होता है। कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता है। उस कारण का भी कारण तत्त्व भगवान् ही है। भगवान् से पृथक् कोई वस्तु नहीं है, तो बताओ ॥ ५७ ॥

आभास---स्नेहोपि धर्मों जगद्वत् पूर्वमुत्पन्नोतो भगवत्येव युज्यत इति प्रसङ्गात् तस्य कारणत्वमुक्तं, सर्वपुरुषार्थरूपत्वाच्च तस्मिन् स्नेह इत्याह समाश्रिता इति।

आभासार्थ—स्नेह भी धर्म है। वह जगत् के समान पहले उत्पन्न हुआ है। इसलिये वह प्रेम, भगवान् में ही होना चाहिये। इस प्रकार प्रसङ्ग से उसको कारण कहा। सर्व पुरुषार्थ रूप होने से उसमें स्वतः स्नेह होता है—यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत् पदं पुण्ययशो मुरारेः।**
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद् विपदां न तेषाम् ॥ ५८ ॥

श्लोकार्थ----भगवान् के पुण्य यश वाले चरण का जिनने आश्रय लिया है और चरण कँवल रूप नौका ही जिनका परम पद है उनके लिये यह संसार-समुद्र, बछड़े के खुर के समान है एवं वही पद (उद्यम) है। विपत्तियों का स्थान (बार-बार जन्म लेना) उनके लिए पद (उद्यम) नहीं है।

सुबोधिनी—ये मुरारेः पदं समाश्रिताः पुण्यं यशो यस्य पदपल्लव एव प्लवस्तत् स्वभावतोपि महत् पदं तेषां भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं तु विपदां यत् पदं न तत् तेषां पदम् ॥ ५८ ॥

व्याख्यार्थ—जो मुर दैत्य के शत्रु[2] के चरणों के आश्रित हैं, जो चरण पुण्य कीर्ति वाले हैं। चरण कमल की नौका है, वह नौका स्वभाव से महत् पद[3] है उन चरणाश्रितों के लिये संसार-समुद्र पार करना वत्स पद को उल्लङ्घन करने के समान सरल है। वही उनका परम पद[4] है। विपत्तियों का पद (पुनर्जन्म लेना) उनका पद[4] नहीं है ॥ ५८ ॥

आभास----उपसंहरत्येतत् त इति।

१—वास्तविक। २—नाशकर्ता। ३—स्थान, आश्रय। ४—उद्यम।

आभासार्थ—निम्न श्लोक से विषय का उपसंहार[1] करते हैं।

श्लोक—**एतत् ते सर्वमाख्यातं यत् पृष्टोहमिह त्वया ।**
यत् कौमारे हरिकृतं जगुःपौगण्डकेर्भकाः ॥ ५६ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कौमार अवस्था में जो चरित्र किया वह बालकों ने पौगण्ड अवस्था में कहा। इस विषय में जो तुमने पूछा था वह सब मैंने तुमको कह दिया।

सुबोधिनी—कौमारे यद् धरिणा कृतं तत् पौगण्डे परिकीर्तितमित्यत्र, तत्रानुपपत्तिः परिहृतेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

व्याख्यार्थ—कौमार अवस्था में हरि ने जो किया वह पौगण्ड़ अवस्था में कहा। इस प्रकार के जो प्रश्न प्रक्षिप्त (पहले अध्याय के ४१ वें व ४२ वें श्लोक में किये थे उन सबका तुमको उत्तर दिया। उस विषय में जो अयोग्यता समझी जाती थी यह समग्र प्रकरण कहकर, उसका निवारण किया ॥ ५६ ॥

आभास—अध्यायत्रयश्रवणकीर्तनयोः फलमाहैतदिति।

आभासार्थ—इन तीन अध्यायों के श्रवण और कीर्तन के फल का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**एतत् सुहृद्भिश्चरितं मुरारेरघार्दनं शाड्वलजेमनं च ।**
व्यक्तेतरद्रूपमजोर्वभिष्टवं शृण्वन् गृणन्नेति नरोखिलार्थान् ॥ ६० ॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने मित्रों के साथ जो चरित्र[2] किए, अघासुर को मारा, हरियाली भूमि पर भोजन किया, प्रकट रूप से अन्य स्वरूप का दर्शन, ब्रह्माजी की करी हुई स्तुति आदि सर्व चरित्रों को श्रवण और कीर्तन करने वाले पुरुष के सर्व मनोरथ सिद्ध होते हैं।

सुबोधिनी—आदौ मुरारेः सुहृदां बालकानां चरितं क्रीडा ततोघार्दनं ततः शाड्वले जेमनं भोजनं चकाराद् वत्सापहरणं, व्यक्तादितरमव्यक्तमलौकिकं भगवद्रूपमजस्योर्वभिष्टवं स्तोत्रं, एतत् सर्वं शृण्वन् गृणन्नपि पुरुषार्थान् प्राप्नोति ॥ ६० ॥

१—समाप्ति। २—क्रीडा।

व्याख्यार्थ—आदि में अर्थात् पहले मुरारि का बालकों के साथ किया हुआ रमण चरित्र पश्चात् अघासुर का वध, हरियाली भूमि पर भोजन करना, 'च' शब्द से वत्सों को चुराना और भगवान् के इस प्रकट रूप से अन्य रूप जो अदृश्य अलौकिक हैं उनका दर्शन, ब्रह्माजी ने जो विशेष स्तुति की है, इन सर्व विषयों को सुनने वाला और कीर्तन करने वाला भी सर्व पुरुषार्थों को प्राप्त करता है ॥ ६० ॥*

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम-स्कन्ध (पूवार्ध) के चौदहवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणविरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तीन प्रक्षिप्त अध्यायों का अन्तिम अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

तीन प्रक्षिप्त अध्यायों में से इस अन्तिम अध्याय में वर्णित कृष्णचन्द्र की रसमई लीलाओं का अवगाहन निम्न लिखित पदों से कीजिएगा -

राग नट

विधि मन ही मन सोच पर्‌यो ।
गोकुल की रचना सब देखत अति जिय मांहि डर्‌यो ॥ १ ॥
मैं बिरंचि बिरच्यो जग मेरो, यह कहि गर्व बढ़ायो ।
ब्रज नर नारि ग्वाल बालक कहि, कौने ठाठ रचायो ॥ २ ॥
वृन्दावन वट सघन तरुवर तर, मोहन सबै बुलायो ।
सखा संग मिलि करत बन भोगि,विधि सन भर्म उपायो ॥ ३ ॥
याते श्याम अतिहि अतुराने, तुरत वहां उठ धायो ।
बालक वच्छ हरे चतुरानन, ब्रह्म लोक पहुँचायो ॥ ४ ॥
यह विचारि सब भए आपुहि, बयरंग प्रकृति करायो ।
सूरदास प्रभु गर्व विनासन, नव कृत फेरि बनायो ॥ ५ ॥

---

* टिप्पणी—इसके अनन्तर का 'एवं विहारैः कौमारैः' यह श्लोक एकादश अध्याय में आया हुआ है अतः इसको पुनः आचार्यश्री ने यहाँ नहीं लिया है और न पुनः उसके अर्थ की आवश्यकता है—अनुवादक ।

राग नट

तब हरि हर्‌यो विधि को गर्व ।
बच्छ बालक ले गयो धरि तुरत कीन्हो सर्व ॥ १ ॥
ब्रह्म लोक दुराय आयो, चरित देखत आप ।
बच्छ बालक देखि के मन, करत पश्चाताप ॥ २ ॥
जब गयो विधि लोक अपने, दृष्टि कँ फेरि आय ।
जानि जिय अवतार पूरन, पर्‌यो पायन धाय ॥ ३ ॥
बहुत मैं अपराध कीनो क्षमा कीजे नाथ ।
जानि यह मैं नहीं कीनी, जोरि कर रह्यो माथ ॥ ४ ॥
बच्छ बालक आनि सन्मुख, शरण शरण पुकारि ।
सूर प्रभु के चरण गहि कह्यो,निकट राखु मुरारि ॥ ५ ॥

राग बिलावल

गान विधि—गोद बैठ गोपाल कहत व्रजराज सों –
व्रज की लीला देखि गर्व विधि को गयो ॥ ध्रुव ॥

त्रिभुवन नायक आनि भये गोकुल अवतारी ।
खेलत ग्वालन संग, रंग आनन्द मुरारि ॥
घर घर त छाकें चली, मान सरोवर तीर ।
नन्द नन्दन के संग चले हो, बालक सखा अहीर ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १ ॥

व्यञ्जन सकल मंगाय, सखन के आगे राख्यौ ।
खाटे मीठे स्वाद सबै रस, ले ले चाख्यौ ।
रुचि सों जेंवत ग्वाल सब, लै लै आपुन खात ॥
भोजन को सब स्वाद लेहों, कहत परस्पर बात ।
गर्व विधि को गयो ॥ २ ॥

देखत गण गन्धर्व, सकल सुरपुर के बासी ।
आपुस में वै कहत, हँसत एई अबिनासी ॥
देखि सबै अचरज भये, कह्यो ब्रह्म सों जाय ।
जाको अबिनासी कहैं हो, सो ग्वालनि संग खाय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ ३ ॥

यह सुनि ब्रह्मा चल्यो, तुरत वृन्दाबन आयो ।
देखि सरोवर सलिल, कमल तेहि मध्य सुहायो ॥
परम सुभग जमुना बहै, तहां बहै त्रिविध समीर ।
पुहुप लता द्रुम देखि के हो,थकित भयो मति धीर ॥
गर्व विधि को गयो ॥ ४ ॥

अति रमणीक कदम्ब, छांह रुचि परम सुहाई ।
राजत मोहन मध्य, अवलि बालक छबि पाई ॥
प्रेम मगन ह्वै परस्पर, भोजन करत गोपाल ।
लावहु गो सुत हेरि के हो, प्रभु पठये द्वै ग्वाल ॥
गर्व विधि को गयो ॥ ५ ॥

बन उपबन सब ढूंढि, सखा हेरि फिरि आये ।
बछरा भये अदृष्ट; केहु खोजत नहिं पाये ॥
सबै सखा बैठ रहो, मैं देखों धों जाय ।
बच्छ हरन हरि जानि जिय हो, आप गए बहराय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ ६ ॥

जब गोविन्द गये दूर, बालकनि हरचो विधाता ।
लैहें तुरत मंगाय, आपुकै जैहो ताता ॥
ब्रह्म लोक ब्रह्मा गयो, लै बालक बछरा संग ।
प्रभु की लीला गनी नहीं विधि,कियो गर्व अति अंग ।
गर्व विधि को गयो ॥ ७ ॥

तब चिन्तामणि चितै, चित्त एक बुद्धि बिचारी ।
बालक बच्छ बनाय, रचे वही अनुहारी ॥
करत कुलाहल सब गये, वृज घर अपने धाय ।
अति आदर करि करि लिये हो,अपनी अपनी माय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ ८ ॥

ब्रह्मा कियो विचार, जाय निज गोकुल देखो ।
करिहैं सोक सन्ताप, नाय पितु मातहि पेखी ॥
आये तहां बिधिना चले, घर घर देख्यो आय ।
संध्या समै होत कौतूहल, जहां तहां दुहि गाय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ ९ ॥

कि यह गोकुल और किधों, मैं ही भ्रम भूल्यो ।
यह अबिनासी होंहि, ज्ञान मेरो भ्रम भूल्यो ॥

अन्तरजामी जानि धों, हरे बच्छ लै आय ।
जगत पितामह संभ्रम्यों हो, गये लोक फिरि धाय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १० ॥
देख्यो जाय जगाय बाल, गोसुत जहाँ राख्यो ।
विधि मन चक्रत भयो,बहुरि वृज को अभिलाख्यो ॥
छिनु भूतल छिनु लोक में, छिनु आवै छिनु जाय ।
एसेंहि करत बरस दिन बीते,थकित भये बिधि पाय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ ११ ॥
तब जान्यों हरि प्रकट ज्ञान चित्त में जब आयो ।
धिग धिग मेरी बुद्धि कृष्ण सों बैर बढायो ॥
लै गोसुत गोपाल शिशु, शरण गए ह्वै साध ।
चारिहु मुख अस्तुति करे हो,प्रभु क्षमो मोहि अपराध ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १२ ॥
अब जानत हों करी तुमहि सों मैं बरि आई ।
प मेरे अपराध क्षमहु त्रिभुवन के राई ॥
ज्यों बालक अपराध शत जननी लेत संभारि ।
शरण गये राखत सदा हो औगुण सकल बिसारि ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १३ ॥
ज्यों खद्योत उड़ि जाय ताहि क्यों तिमिर नसावै ।
दीपक बहुत प्रकाश तरनि सम क्यों कहि आवै ॥
मैं ब्रह्मा इक लोक को ज्यों गूलरि फल जीव ।
प्रभु तुम्हरे यक रोंम प्रति हो,कोटि ब्रह्मा अरु शीव ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १४ ॥
मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया ।
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया ॥
तुम बिनु जानै जीव सब उतपति प्रलय समाहिं ।
शरण मोहि प्रभु राखिये हो चरण कमल की छाहिं ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १५ ॥
कीजै मोहि व्रज रेणु देहु बृंदाबन बासा ।
मांगौ यहै प्रसाद और नाहीं मेरे आसा ॥
जोई भावै सो करो, लता सलिल द्रुम गेह ।
ग्वाल बाल को भृत्य करौ हो, मनहिं सत्यव्रत जेह ।
गर्व विधि को गयो ॥ १६ ॥

जो दरशन नर नाग अमर सुरपति हु न पायो ।
खोजत जुग गये बीति, अंत मोहू न दिखायो ॥
यह व्रज पारस नित्य है मैं अब समुझी आय ।
बृंदाबन रज ह्वै रहों मोहि, ब्रह्म लोक न सुहाय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १७ ॥

मांगत बारंबार शेष ग्वालनि को पाऊँ ।
आजु लियो कछु जानि भक्ष करि उदर पुराऊं ॥
अब मेरे निज ध्यान यहै, रहो जूठ नित खाय ।
और बिधाता कीजिये हो, मैं नहिं छोडो पाय ॥
गर्व विधि को गयो ॥ १८ ॥

तब बोले प्रभु आप वचन मेरो अब मानो ।
और काहि विधि करों तुमहिं ते कौन सयानो ॥
तुम ज्ञाता कर्म धर्म के, तुमते सब संसार ।
मेरी माया अति अगम, वोंहि कोऊ न पावे पार ।
गर्व विधि को गयो ॥ १९ ॥

श्री मुख बानी कहत विलंब, अब नेक न लावहु ।
व्रज परिक्रमा करहु देह के पाप नसावहु ॥
तुरत जाहु वहि लौक को, बिधि कीनी मनुहारि ।
ब्रह्मा करि अस्तुति चले हो, हरि दीन्हो उर हारि ॥
गर्व विधि को गयो ॥ २० ॥

धनि बछरा धनि बाल जिनहि तें दरशन पाये ।
उर मेरो भयो धन्य कृष्ण माला पहिराये ॥
धनि जशुमति जिन बसि किये अबिनाशी अवतारि ।
धनि गोपी जिनके सदन हो, माखन खात मुरारि ॥
गर्व विधि को गयो ॥ २१ ॥

मथुरा आदि अनादि देह धरि आपन आये ।
धनि देवै वसुदेव पुत्र मांगै तुम पाये ॥
चारि बदन मैं कहा कहों, तुम्हरी महिमा गाई ।
सहसानन निशि दिन रटें हो तऊ न गाई जाई ॥
गर्व विधि को गयो ॥ २२ ॥

गाय चरावत ग्वालनु संग करत जेहि ध्यान लगायो ।
ते व्रजबासिन संग रहत अति प्रेम बढायो ॥

वृन्दाबन व्रज को महत कापें बरन्यो जाय ।
चतुरानन पद परसि के हो, गयो लोक सुख पाय ।।
गर्व विधि को गयो ।। २३ ।।

हरि लीन्हों अवतार पार सारद नहिं पावै ।
सतगुरू कृपा प्रताप कछुक तातें कहि आवै ।।
सूरदास कैसे कहे महा पतित अवतार ।
शेष सहश मुख जपत सदा हो,सोऊ न पावत पार ।।
गर्व विधि को गयो ।। २४ ।।

राग धनाश्री

माधो जू जो जन सौ बिगरै ।
सुनि कृपाल, करुणामय कबहू, प्रभु नहि चित्त धरे ।।
जो शिशु जननी जेठर अन्तरगत, शत अपराध करै ।
तऊ तनय तोषि पोषि चित्त, विगसित अंक भरै ।।
द्विज रसनादलि दुःखित होत तब, तो रिसकाहि करै ।
क्षमि द्यत क्षोभ खीर मधु मिश्रित, मुख समीप संचरै ।।
यदपि विटप जरह तन हेतु करि, कर कुठार पकरै ।
तदपि सुभाव सुशील सुशीतल, रिपु तन ताप हरै ।।
धर विध्वंसि हल हतत कृषि करि, बैर बीज संचरै ।
सो सनमुख मुख सहित सतोगुण,शशि बहु फरनि फरै ।।
कारन करन अंत अजित, कहि कहि चरण परै ।
यह कलिकाल चलत नहि मोपें, सूरशरणहि धरै ।।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	६	मुख्य	मुख्य है
९	१७	ह्याश्च	प्याश्च
१२	९	चयत्र	चव्या
१७	९	बहिशुं	बहि:शु
२२	२	श्वदु	श्वतु
२५	९	(नवीन जिनमें)	×
२६	१७	तानां वृष्टि	तानांगति सूचिका वृष्टि
२०	८	ततोप्यन्यतराणि	ततोप्यनन्तानि
३६	६	सुवर्णायानि	सुवर्णमयानि
७१	१४	शङ्क्यास	शङ्क्याहास
७७	२१	अरुणा	ऊरुणा
७८	१६	फ्य	सय
७९	४	अर्थों	हाथों
८४	१	त्ययुक्तं	त्युक्तं
८४	१०	स्ततल	स्तल
८८	७	हरने	रहने
८९	१५	शाली	शालिनी
१०४	१९	क्रियावयाथा	क्रियावस्थाया
१०६	६	वतत्यर्थं	वृत्यर्थं
१२७	१०	जम्भा	जृम्भा
१२९	९	कारण	करणा
१४१	३	सम्भावत्	सम्भवात्
१४८	१५	सुन्दर्य:गाव:	सुन्दर्योगावो
१६७	११	कृतत्रत	कृतवत्य
१७५	२४	केस	कंस
१७५	२६	तवान् स्वधर्म	तवान् भगवान् स्वधर्म
१९२	३	बलाहित	बलरहित
१९३	१७	तये, बते	तयै, वते
२०२	८	तन्गृ	तन्गृं
२०४	२२	तादृशं भवति	तादृशं भिन्नं भवति
२१२	२९	अर्थात...अपने	×
२२०	२०	सदेव	यदैव
२४२	६	रोचुः	प्रोचुः
२४७	८	न्येषु सुव्य	त्येषु सुष्ठुव्य
२५४	५	सम्बन्धिक्ति	सम्बन्धि भक्ति
२५५	२	संत्पुत	संप्लुत
२५९	१६	द्र	द्ग
२७९	६	विन्ये	विंन्दे
२९८	१८	हेतुनन्दहिगे	हेतुर्नन्दगेहि
३०३	१२	कुचपगं	कुचयुगं
३१९	९	यश्टि	यष्टि
३२१	१९	केदाप्य	केनाप्य
३२४	२९	आकृत	प्राकृत
३२७	१०	क्या	काया
३२९	२	यशददातिवाद्यति	यशोददातिद्यतिवा
३३०	१	स्वस्यैवबन्धने	स्वस्यैव स्ववमेवबन्धन
३४४	१०	दोधि	दोपि
३४७	२३	भगवनित्वा	भगवत्वानि
३५१	६	स्त्रीद्रू	स्त्रीद्यू
३५६	५	तत्रादेह	तत्राहदेह
३७२	१३	भगवकिया	भगवत्क्रिया
३७९	२२	शाङ्रवा	साङ्ख्य
३८०	१७	शन्को	शक्नो
३८९	४	प्रातु	प्रादु
३९३	६	स्वाचष्ट	स्वाष्ट
३९९	११	आमनय	आमन्त्रय
४०४	२०	त्वमौ	वत्सौ
४०४	२२	असुर और	असुर बक और
४०८	१	के होन	के न होने
४०८	१४	दम्नि	दम्ना
४१०	१०	तदुक	तदुक्तं
४१०	१७	बेलसो	चेतसो
४१३	१८	ककी	कभी
४१३	२०	क्रु	कु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१४	१०	स्ले	स्थूले
४१५	८	हष	हर्षं
४१८	१९	उपन्दन	उपनन्द
४२४	१	श्लोक की पहली पंक्ति छुट गई है	श्लोक--यावदौत्पातिको रिष्टोव्रजंनाभि भवेदित:
४२८	४	तुतारी	तुरही
४२८	७	एव महान्	एव सर्वत इति सकृदेव महान्
४३१	५	भगवत	भागवत
४३१	६	अकर	अक्रूर
४३३	४	काल	काला
४३४	२०	के दोनों	के बने हुए दोनों
४३४	२०	खिलोने	बैलों
४३५	१५	हुए गो	हुए दोनो और चक्कोंकाले गो
४४४	२४	व्रज	वज्र
४४५	८,१०,२५,२६	व्रज	वज्र
४५४	१०	अथा	रथा
४५८	५	नाण्राणि:	नारणि:
४७८	६	नाप्चु	नाप्यु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४७९	१अ	तेवा	देवा
४८६	१	अगवान्	भगवान्
४९५	९	त्वाभी	त्वार्भा
४९७	१६	मुक्त्वा	भुक्त्वा
५००	२८	अन्तरध्यान	×
५०४	९	तत्तदावं	तत्तम्दावं
५०७	१५	भातृ	मातॄ
५२९	४	छ्रदुन्मीस्य	छ्रादुन्मील्य
५४७	६	हू उत्पन्न	उत्पन्न हूं
५४७	१८	मस्तिषक	मस्तिष्क
५५०	२४	नारायरवा	नारायणो
५६१	२	स्मय	स्वय
५६७	७	एगत्र	एकत्र
५७०	१३	मैंने	आपने
५७३	२३	प्रच्छं	पुच्छं
५७६	२	नन्वेत्	नन्वेतत्
५८०	८	तटले	तट पर ले
५८२	५	वन में	वन से
५८८	१०	किञ्चन	×
५८९	१५	कंवल	कमल

श्लोकों की अनुक्रमणिका-तामस प्रमाण प्रकरण

अध्याय १ से ७

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१	अतोऽर्हत: स्थावरतां	६	२१	३६५
२	अथान्यदपि कृष्ण	३	३	१२७
३	अथाप्यभि भवन्त्येनं	७	४६	४५८
४	अथो यथावन्न वितर्क	४	४१	२६९
५	अध: शयानस्य शिशो	३	७	१३५
६	अनुजानीहि नौ	६	३७	३९१
७	अन्त: प्रविश्यगङ्गा	६	४	३४६
८	अन्ध कूप गभीराक्षं	२	१६	९०
९	अन्वञ्चमाना जननी	५	१०	३१४
१०	अयंवै रोहिणी पुत्रो	४	१२	१९९
११	अलक्षितोस्मिन	४	१०	१९६
१२	अवाद्यन्त विचित्राणि	१	१३	३०
१३	अविदूरे व्रजभुव:	७	२७	४३३
१४	अव्यादजोङ् घ्रिमणि	२	२२	९८
१५	असत: श्री मदान्धस्य	६	१३	३५८
१६	अस्त्वित्युक्त: स	४	५०	२८३
१७	अहो ते देवकी पुत्रा:	१	२९	५३
१८	अहो बतात्यद्भुत	३	३३	१७०
१९	अहो बतास्य बालस्य	७	४५	४५३
२०	अहो ब्रह्मविदांवाचो	७	४७	४५५
२१	अहं ममसौ पतिरेष	४	४२	२७१
२१	अहो ब्रह्म विदां वाचा	७	५७	४५५
२२	आदाय मात्रे प्रति	३	३०	१६७
२३	आसन् वर्णास्त्रयो	४	१४	२०२
२४	इति खरपवनचक्र	३	२४	१६१
२५	इति नन्दादयो गोपा: कृष्ण	७	४८	४५६
२६	इति नन्दादयो गोपा: प्रोक्ता	१	३२	५६
२७	इति प्रणय बद्धाभि:	२	२०	१०८
२८	इति बालक मानोय	३	१४	१४७
२९	इति सञ्चिन्तयज्	४	९	१९५
३०	इत्थं विदिततत्त्वाया	४	४३	२७३
३१	इत्थं संकीर्तित:	६	३९	३९४
३२	इत्यन्तरेणार्जुनयो	६	२६	३७१
३३	इत्यात्मानं समादिश्य	४	२१	२१६
३४	इत्युक्तौ तं परिक्रम्य	६	४३	३९९
३५	इन्द्रियाणि हृषीकेश:	२	२४	१०२
३६	इषामात्रो ग्रदंष्ट्रा	२	१५	९०
३७	उत्तार्य गोपी सुश्रृतं	५	७	३१०
३८	उत्था तव्य मितो	७	१२	४१९
३९	उलूखलंविकर्षन्तं दाम्ना बद्धंच	७	३	४०८
४०	उलूखलंविकर्षन्तं दाम्नाबद्धंस्व	७	६	४११
४१	उलूख लाङ्घ्रे रुपरि	५	८	३११
४२	ऊचुष्य वसित	३	९	१३९
४३	ऋषेर्भगवतस्तस्य	६	२४	३६८
४४	एकदा क्रीडमानास्ते	४	३२	२५३
४५	एकदा गृहदासीषु	५	१	२९८
४६	एकदा रोह मारूढं	३	१८	१४९
४७	एकदार्भकमादाय	३	३६	१७५
४८	एतद् विचित्रं सह	४	३९	२६५
४९	एवं धार्ष्ट्यान्युशति	४	३१	२४९
५०	एवं प्रदर्शिताह्यङ्ग	५	१९	३३१
५१	एवं विहारै: कौमारै:	७	४९	४५७
५२	एवं व्रजौकसां प्रीतिं	७	२६	४३२
५६	एवं साधारणं देह	६	१२	३५७
५४	एवं सम्प्रार्थितो विप्र	४	११	१९८
५५	एवं स्वगेहदामानि	५	१७	३२८
५६	एष व: श्रेय आधा	४	१७	२०८
५७	औत्थानिकौत्सुक्य	३	६	१३१
५८	कट भूमस्य सौरम्य	२	४१	११४
५९	कथ्यतां भगवन्नेतत्	६	१	३४२
६०	कदाचिदौत्थानिक	३	४	१२८

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ	क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
६१	कदाचिद् यमुनातीरे	७	३०	४३७	९६	गोपीभिः स्तोभितो	६	७	४१२
६२	करो वै वार्षिको दत्तो	१	३१	५५	९७	गोप्यश्च गोपाः किल	३	३१	१६९
६३	कलेवरं परशुभिश्छि	२	३३	१११	९८	गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता	१	९	२१
६४	कस्मान् मृदमदान्ता	४	३४	२५७	९९	गोप्यःसंस्पृष्टसलिला	२	२१	९६
६५	कंसः पापमतिः सख्यं	४	८	१९४	१००	गोप्यः सुमृष्टमणि	१	११	२६
६६	कंसेन प्रेषिता घोरा	२	२	६३	१०१	गोप्यो रूढरथा	७	२२	४२८
६७	कालेन व्रजता तात	४	२२	२१८	१०२	गोमूत्रेण स्नापयित्वा	२	२०	८५
६८	कालेन सनानशौचा	१	४	१६	१०३	चक्रवातेन नीतोयं	७	१४	४२२
६९	कालेनाल्पेन राजर्षे	४	२७	२३७	१०४	चक्रयग्रतः सहगदो	२	२३	१०१
७०	किं नस्तपश्चीर्णमधो	३	३४	१७२	१०५	जातयोनौ महादेवे	४	४९	२८२
७१	किं पुनः श्रद्धया भक्त्या	२	३६	११२	१०६	ज्ञातं मम पुरैवेत	६	४०	३९५
७२	किं स्वप्नमेतदुत	४	४०	२६७	१०७	ज्योतिषामयनं साक्षात्	४	५	१९१
७३	कृतागसं तं प्ररु	५	११	३१७	१०८	ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो	४	३८	२६४
७४	कृष्ण कृष्ण महायोगि	६	२९	३७८	१०९	डाकिन्यो यातुधान्य	२	२७	१०५
७५	कृष्णं महाबकग्रस्त	७	३९	४४६	११०	तच्छ्रुत्वैकाधियो गोपाः	७	१९	४२६
७६	कृष्णस्तु गृह कृत्येषु	५	२२	३३५	१११	तत आरभ्य नन्दस्य	१	१८	३७
७७	कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं	४	२८अ	२४२	११२	ततो भक्तिर्भगवति	४	५१	२८४
७८	कृष्णो ब्रह्मण आदेशं	४	५२	२८६	११३	ततस्तु भगवान् कृष्णो	४	२८	२३९
७९	कोटरा रेवती ज्येष्ठा	२	२७	१०५	११४	तत् तत्राद्यैव यास्यामः	७	१८	४२५
८०	क्वचित् पशव्यं विरुजं	१	२६	४९	११५	तत्रोपनन्दनामाह	७	११	४१८
८१	क्वचिद् वादयतो वेणून	७	२८	४३४	११६	तत्र श्रिया परमया	६	२८	३७३
८२	क्षौमं वासः पृथुक	५	३	३००	११७	तथा यशोदा रोहिण्या	७	२३	४२९
८३	खं रेदसी ज्योति	३	३८	१७९	११८	तदहं मत्तयोर्माध्व्या	६	१९	३६४
८४	गर्गः पुरोहितो राजन्	४	१	१८६	११९	तदा बकारिं सुरलोक	७	४२	४५०
८५	गल ग्रहण निश्चेष्टो	३	२८	१६४	१२०	तद् गच्छतं महाभागो	६	४२	३९८
८६	गावो वृषाश्च वत्सा	१	७	२०	१२१	तद् दाम बध्यमान	५	१५	३२५
८७	गावः सर्व गुणोपेता	३	१६	१४८	१२२	तन्मातरौ निजसुतौ	४	२४	२२६
८८	गृहीत्वा परपादाभ्यां	७	३२	४३९	१२३	तमश्मान मन्यमान	३	२७	१६३
८९	गृह्यमाणैस्त्व	६	३२	३८३	१२४	तमापतन्तं स	७	४१	४४८
९०	गोकुलं सर्वमावृण्वन्	३	२१	१५७	१२५	तमङ्कमारूढ	५	५	३०५
९१	गोधनानि पुरस्कृत्य	७	२१	४२८	१२६	तमन्तरिक्षात्	३	२९	१६६
९२	गोप वृद्धामहोत्पाता	७	१०	४१८	१२७	तस्मात् नन्दात्म	४	२०	२१३
९३	गोपान् गोकुल रक्षायां	१	१९	४०	१२८	तस्मै तुभ्यं भगवते	६	३३	३८५
९४	गोपाः परस्परं हृष्टा	१	१४	३२	१२९	तस्मै स्तनं दुर्जर	२	१०	७७
९५	गोपा नन्दादयः श्रुत्वा	७	१	४०६	१३०	तस्याः स्वनेनाति	२	१२	८३

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१३१	तं तालुमूलं प्रद	७	४०	४४७
१३२	तं दृष्ट्वा परम	४	२	१८८
१३३	तं दृष्ट्वा व्रीडिता	६	६	३४८
१३४	तं दृष्ट्वा सहसो	१	२१	४३
१३५	तं मत्वात्मज	५	१४	३२३
१३६	तं वत्सरूपिणं	७	३१	४३८
१३७	ता आशिषः प्रयुञ्जा	१	१२	२७
१३८	तामत्तयष्टिं प्रस	५	९	३१३
१३९	तावङ्घ्रियुग्म	४	२३	२२३
१४०	तावन् नन्दादयो	२	३१	१०९
१४१	तासाभविरतं कृष्णे	२	४०	११३
१४२	तां केशबन्धव्यति	२	५	६९
१४३	तां तीक्ष्ण चित्ता	२	९	७५
१४४	तां स्तन्य काम	५	४	३०४
१४५	तृणावर्तः शान्त रयो	३	२६	१६३
१४६	ते तत्र ददृशुर्बाला	७	३७	४४४
१४७	ते तत्र वर्णितं	२	४२	११४
१४८	तैस्तैः कामैरदीना	१	२६	३५
१४९	तौ दृष्ट्वा मदिरा	६	७	३४९
१५०	तौ वत्सपालकौ	७	३५	४४२
१५१	त्यत्सवा दृष्टिं सुतं	५	१२	३१९
१५२	त्रय्या चोपनिषद्भि	४	४५	२७६
१५३	त्वमेकं सर्व भूतानां	६	३०	३८०
१५४	त्वं महान् प्रकृतिः	६	३१	३८२
१५५	त्वं हि ब्रह्म विदां	४	६	१९२
१५६	दरिद्रस्यैव युज्यन्ते	६	१७	३६२
१५७	दरिद्रो निरहं स्तम्भो	६	१५	३६०
१५८	दर्शयंस्तद्विदां	७	९	४१५
१५९	दह्यमानस्य देहस्य	२	३४	१११
१६०	दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस	१	२३	४५
१६१	दिष्ट्या संसार चक्रे	१	२४	४७
१६२	दृष्ट्वादद्भूतानि	३	३५	१७४
१६३	दृष्ट्वा यशोदा प्रमुखा	३	८	१३८
१६४	देवर्षिर्मे प्रियतमौ	६	२५	३६९
१६५	देव संज्ञितमप्यन्ते	६	१०	३५४
१६६	देवाश्च परि सन्तुष्टा	७	३४	४४१
१६७	देहः किमन्नदातुः स्वं	६	११	३५६
१६८	दैत्यो नाम्ना तृणा	३	२०	१५५
१६९	द्रोणो वसूनां प्रवरो	४	४८	२८१
१७०	धेनूनां नियुते प्रादाद्	१	३	१६
१७१	न चान्तर्न बहि	५	१३	३२०
१७२	न ते तदुक्तं जगृ	७	५	१४०
१७३	न ते श्रद्दधिरे	३	१०	१४०
१७४	नन्दो महामनास्ते	१	१५	३३
१७५	नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने	१	१	११
१७६	नन्दस्य पत्नी कृत	३	५	१३०
१७७	नन्दः किमकरोद्	४	४६	२७७
१७८	नन्दः पथि वचः	२	१	६१
१७९	नन्दः स्वपुत्रमादाय	२	४३	११५
१८०	नमः परम कल्याण	६	३६	३९०
१८१	न यत्र श्रवणादीनि	२	३	६५
१८२	नवकुङ्कुमकिञ्जल्क	१	१०	२३
१८३	न ह्यन्यो जुषतो	६	८	३५०
१८४	ना पश्यत् कश्च	३	२३	१६०
१८५	नायं सुखापो भगवान्	५	२१	३३४
१८६	नाहं भक्षितवानम्ब	४	३५	२५९
१८७	नित्यं क्षुत्क्षाम	६	१६	३६१
१८८	निशाचरीत्थंव्यथित	२	१३	८५
१८९	नूनं बतर्षिः सञ्जातो	२	३२	११०
१९०	नूनं ह्यदृष्टनिष्ठो	१	३०	५४
१९१	नेमं विरञ्चयो न	५	२०	३३२
१९२	नैकत्र प्रियसंवासः	१	२५	४८
१९३	पतमानोपि तद्देह	२	१४	८९
१९४	पद्भ्यां भक्त हृदिस्था	२	३७	११२
१९५	पयांसि या साम	२	३९	११३
१९६	पितरो नान्व विन्येतां	४	४७	२७९
१९७	पीत प्रायस्य जननी	३	३७	१७७
१९८	पुरा नारद शापेन	५	२३	३३६
१९९	पुरानेन व्रजपते	४	१८	२०९
२००	पुंसस्त्रिवर्गोभि	१	२८	५१

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
२०१	पूजितः सुख मासीनः	१	२२	४४
२०२	पूतना लोक बालघ्नी	२	३५	११२
२०३	पूर्ववत् स्थापितं	३	१२	१४४
२०४	पृश्निगर्भस्तु ते	२	२५	१०३
२०५	प्रागयं वसुदेवस्य	४	१५	३०३
२०६	बहूनि सन्ति नामानि	४	१६	२०४
२०७	बालग्रहस्तत्र	२	७	७१
२०८	बालं च तस्या उरसि	२	१८	९२
२०९	बालाः प्रोचुरनेनेति	७	४	४०९
२१०	बालेन निष्कर्षय	६	२७	३७१
२११	बिभर्ति क्वचिदा	७	८	४१३
२१२	भूमौ निधाय तं गोपी	३	१९	१४९
२१३	भूम्यां निपतितौ तत्र	७	२	४०७
२१४	भ्रातर्मम सुतः	१	२७	५०
२१५	महद् विचलनं नृणां	४	४	१९०
२१६	महार्हवस्त्राभरण	१	८	२१
२१७	मुक्तः कथञ्चिद	७	१३	४२१
२१८	मुक्तं बकास्यादुप	७	४३	४५१
२१९	मुहूर्तमभवद् गोष्ठं	३	२२	१५९
२२०	य एतत् पूतनामोक्षं	२	४४	११६
२२१	य एतस्मिन् महाभागाः	४	१९	२११
२२२	यच्छृण्वतोपैत्य	३	२	१२५
२२३	यथा कण्टक विद्धाङ्गो	६	१४	३५९
२२४	यदासीत् तदपि न्यूनं	५	१६	३२७
२२५	यदूनामपृथग्भावात्	४	१३	२०१
२२६	यदूनामहमाचार्य	४	७	१९४
२२७	यदिमौलोकपालस्य	६	२०	३६५
२२८	यदृच्छया च देवर्षि	६	५	३४७
२२९	यद्येवं तर्हिव्यादे	४	३६	२६१
२३०	यन्न म्रियेत द्रुमयो	७	१५	४२३
२३१	यर्ह्यङ्गनादर्शनीय	४	२५	२३०
२३२	यशोदा रोहिणीभ्यां	२	१९	९४
२३३	यस्यावतारा ज्ञायन्ते	६	३४	३८७
२३४	यातुधान्यपि सा	२	३८	११३
२३५	यानि यानीह गीतानि	५	२	२९९
२३६	यावदौत्पातिको	७	१६	४२४
२३७	येनयेनावतारेण	३	१	१२४
२३८	येऽसूयानृत दम्भे	३	१३	१४५
२३९	रुदन्तं सुतमादाय	३	११	१४२
२४०	रुदितमनुनिशम्य	३	२५	१६२
२४१	रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा	६	२	३४३
२४२	रोहिणी च महाभागा	१	१७	३६
२४३	वत्सान् मुञ्चन्	४	२९	२४३
२४४	वनं वृन्दावनं नाम	७	१७	४२४
२४५	वल्गुस्मितापाङ्ग	२	६	६९
२४६	वसुदेव उपश्रुत्य	१	२०	४१
२४७	वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जात	१	२	११
२४८	वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्द	३	१५	१४७
२४९	वाणी गुणानुकथने	६	३८	३६२
२५०	वारुणीं मदिरां पीत्वा	६	३	३४५
२५१	वासुदेवस्य सानिध्यं	६	२२	३६६
२५२	विप्रा मन्त्रविदो	३	१७	१४८
२५३	विबुध्य तां बालक	२	८	७३
२५४	वृद्धान् बालान्	७	२०	४२७
२५५	वृन्दावनं गोवर्धनं	७	२५	४३२
२५६	वृन्दावनं सम्प्रविश्य	७	२४	४३०
२५७	वृषायमाणौ नर्दन्तौ	७	२९	४३५
२५८	व्रजः सम्मृष्टसंसिक्त	१	६	२०
२५९	व्रजन्तमव्याद्	२	२६	१०४
२६०	स एव मुक्तो देवर्षि	६	२३	३६७
२६१	स कपित्थैर्महा	७	३३	४४०
२६२	स जात कोपः स्फु	५	६	३०७
२६३	सद्यो नष्टस्मृति	४	४४	२७५
२६४	स भवान् सर्व लोक	६	३५	३८८
२६५	समेत्य चैकत्र कृता	३	३२	१७०
२६६	स वै बको नाम	७	३८	४४५
२६७	सन्तत्रसुःस्मः तद्	२	१७	९०
२६८	सा खेचर्यैकदोपेत्य	२	४	६८
२६९	सा गृहीत्वा करे	४	३३	२५५
२७०	सा तत्र ददृशेविश्वं	४	३७	२६३

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
२७१	साधूनां समचित्तानां मुकुन्द	६	१८	३६३
२७२	साधूनां समचित्तानां सुतरा	६	४१	३६६
२७३	सामुश्च मुश्चाल	२	११	८०
२७४	सावीक्ष्य विश्वं	३	३६	१८०
२७५	सूपविष्टंकृता	४	३	१८८
२७६	शृङ्ग्यग्नि दष्ट्	४	२६	२३४
२७७	सौमङ्गल्य गिरो विप्रा	१	५	१६
३७८	श्रुत्वा तद विस्मिता	७	४४	४५२
२७९	स्वप्नदृष्टा महोत्पाता	२	२९	१०५
२८०	स्वमातु: स्विन्न	५	१८	३२९
२८१	स्वं स्वं वत्स कुलं	७	३६	४४३
२८२	हन्यन्ते पशवो यत्र	६	९	३५३
२८३	हस्ताग्राह्ये रचयति	४	३०	२४७

श्लोकों की अनुक्रमणिका-प्रक्षिप्ताध्याय ३

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१	अजनतां त्वत्पदवी	३	१९	५५६
२	अज्ञान संज्ञौ भवबन्ध	३	२६	५६४
३	अणिमाद्यैर्महिम	२	५२	५२३
४	अत: क्षमस्वाच्युत	३	१०	४४७
५	अत्र भोक्तव्यमस्मा	२	६	४९४
६	अत्रैव मायाधम	३	१६	५५३
७	अथापि ते देव पदा	३	२९	५६८
८	अथाघनामाभ्य	१	१३	४७०
९	अथापि भूमन् महिमा	३	६	५४२
१०	अद्यानेन महाव्याला	३	४८	५८३
११	अद्यैव त्वदृतेस्य	३	१८	५५४
१२	अनुजानीहि मां कृष्ण	३	३९	५७७
१३	अन्तर्भवेनन्त	३	२८	५६७
१४	अम्भो:जन्मजनि:	२	१५	५००
१५	अस्मान् किमत्र ग्रसिता	१	२४	४७६
१६	अस्यैव देव वपुषो	३	२	५३७
१७	अहोतिधन्या व्रज	३	३१	५७०
१८	अहोतिरम्यं पुलिनं	२	५	४९४
१९	अहो भाग्य महो	३	३२	५७०
२०	अहो मित्राणि गदत	१	१९	४७३
२१	आत्मादिस्तंब	२	५१	४२३
२२	आत्मानमेवात्म	३	२५	५६४
२३	आस्तृतायाम मा	१	२२	४७५
२४	आंध्रिमस्तकमा	२	४९	५२२
२५	इत एतेत्र कुत्रत्या	२	४२	५१८
२६	इतीरेशेतर्क्ये	२	५७	५२७
२७	इति व्यवस्या जगरं	१	१६	५७१
२८	इतिसञ्चित्यदाशार्हो	२	३८	५१५
२९	इत्थ द्विजा यादव	१	४०	४८५
३०	इत्थमात्मात्मनात्मा	२	२७	५०८
३१	इत्थं मिथो तथ्य	१	२५	४७६
३२	इत्थं सतां ब्रह्म सुखा	१	११	४६८
३३	इत्थं स्म पृष्ट: स	१	४४	४८७
३४	इत्य भिष्टूय भूमानं	३	४१	५७९
३५	इत्युक्त्वाद्रिदरी	२	१४	४९९
३६	उत्क्षेपणं गर्भगतस्य	३	१२	५४९
३७	उत्थायोत्थाय कृष्ण	२	६३	५३२
३८	ऊचुश्च सुहृद: कृष्णं	३	४५	५८१
३९	एकदा चारयन् वत्सान्	२	२८	५०९
४०	एकस्त्वमात्मा पुरुष:	३	२३	५६१
४१	एकस्मिन्नपि यातेब्दे	३	४३	५८०
४२	एतत् कौमारजं कर्म	१	३७	४८३

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
४३	एतत् ते सर्वमाख्यातं	३	५६	५६०
४४	एतत् सुहृद्भिश्चरितं	३	६०	५६०
४५	एते यदा मत्सुहृदो	१	१५	४७१
४६	एवमेतेषु सुचिरं	२	४३	५१६
४७	एवं विधं त्वां सकला	३	२४	५६३
४८	एवं सकृद्ददर्शाज	२	५५	५२५
४९	एवं सम्मोहयन् विष्णुं	२	४४	५१९
५०	एषां घोषनिवासिना	३	३५	५७४
५१	एषां तु भाग्य महिमा	३	३३	५७१
५२	कालस्वभाव संस्कार	२	५३	५२४
५३	किमेतदद्भुतमिव	२	३६	५१४
५४	किं किं न विस्मरन्ती	३	४४	५८१
५५	कृत्यं किमत्रास्य	१	२८	४७८
५६	कृष्णमेनमवेहि	३	५५	५८७
५७	कृष्णवत्सैरस	१	३	४६४
५८	कृष्णस्य विष्वक् पुरु	२	८	४९५
५९	केचित् पुष्पैर्दलैः	२	९	४९६
६०	केचिद् वेणून्वाद	१	७	४६६
६१	केयं वा कुत आयाता	२	३७	५१५
६२	को वेत्ति भूमन् भगवन्	३	२१	५५८
६३	क्वचिद् वनाशाय मनो	१	१	४६३
६४	क्वाप्यदृष्ट्वान्त	२	१७	५०१
६५	क्वाहं तमो महदहङ्	३	११	५४८
६६	गावस्ततो गोष्ठ	२	२४	५०६
६७	गुणात्मनस्तेपि	३	७	५४४
६८	गोगोपिनां मातृ	२	२५	५०७
६९	गोपास्त द्रोधनाया	२	३२	५१२
७०	चतुर्भुजाः शङ्ख चक्र	२	४७	५२१
७१	चन्द्रिका विशदस्मेरैः	२	५०	५२२
७२	जगत् त्रयान्तो दधि	३	१३	५४९
७३	जानन्त एव जानन्तु	३	३८	५७६
७४	ज्ञाने प्रयास मुद पास्य	३	३	५३९
७५	तत् चेजु जलस्थं तव	३	१५	५५२
७६	तत्छ्रुत्वा भगवान्	१	३०	४७९
७७	ततोतिकायस्य निरूद्ध	१	३१	४८०
७८	ततोतिकुतु कोद्	२	५६	५२६
७९	ततोतिहृष्टाःस्व	१	३४	४८१
८०	ततोनुज्ञाप्य भगवान्	३	४२	५७९
८१	ततो नृपोन्मर्दन	२	२३	५०५
८२	ततोर्वाक् प्रतिलब्धा	२	५८	५२९
८३	ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य	२	१६	५०१
८४	ततो विदूराच्चरतो	२	२९	५१०
८५	ततो हसन् हृषी केशो	३	४६	५८२
८६	तथति पाययित्वाभी	२	७	४९५
८७	ततः कृष्णो मुदं कर्तुं	२	१८	५०१
८८	ततः प्रवयसो गोपाः	२	३४	५१३
८९	तताधनच्छदा देवा	१	२९	४७९
९०	तदाघवदनान्	२	४	४९३
९१	तत्तद्वत्सान् पृथङ्	२	२१	५०४
९२	तत् तेनु कम्पां	३	८	५४५
९३	तत्र नैसर्ग दुर्वैरा	२	६०	५३०
९४	तत्रोद्वहत्पशुप	२	६१	५३०
९५	तदद्भुतस्तोत्रसु	१	३५	४८२
९६	तदस्तु मे नाथ स	३	३०	५६९
९७	तद् ब्रूहि मे महायोगिन्	१	४२	४८६
९८	तद् भूरि भाग्यमिह	३	३४	५७३
९९	तद् राजेन्द्रयथा	३	५१	५८५
१००	तद्वीक्षणोत्प्रेमरसा	२	३३	५१२
१०१	तन्मातरो वेणु	२	२२	५०४
१०२	तं दृष्टवा तादृशं सर्वे	१	१८	४७३
१०३	तम्यां तमोवन् नैहारं	२	४५	५२०
१०४	तस्मात् प्रियतमः	३	५४	५८६
१०५	तस्मादिदं जगद	३	२२	५५९
१०६	तान् दृष्ट्वा भय सन्त्र	२	१३	४९८
१०७	तान् वीक्ष्य कृष्णः	१	२७	४७८
१०८	तावत् प्रविष्टास्त्व	१	२६	४७६
१०९	तावत् सर्वे वत्सपालाः	२	४६	५२१
११०	तावदेत्यात्म भूरा	२	४०	५१६
१११	तावद् रागादयः स्तेना	३	६६	५७५
११२	तेनेव सर्वेषु बहि	१	३२	४८०
११३	तैनेव सार्धं पृथुकाः	१	२	४६४
११४	त्वामात्मानं परं	३	२७	५६६

क्र० सं०	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
११५	दावोष्ण खर वातोयं	१	२३	४७५
११६	दृष्ट्वात्वरेणनिज	२	६२	५३१
११७	दृष्ट्वाथतत्स्नेह	२	३०	५१०
११८	दृष्ट्वार्भकान् कृष्ण	१	१४	४७०
११९	देहात्मवादिनां पुंसा	३	५२	५८६
१२०	देहोपि ममताभाक्	३	५३	५८६
१२१	धरा धरोष्ठो जल	१	१७	४७२
१२२	नारायणस्त्वं न हि	३	१४	५५०
१२३	नैतद् विचित्रं मनुजा	१	३८	४८४
१२४	नैते सुरेशा ऋषयो	२	३९	५१६
१२५	नौमीड्य तेभ्रवपुषे	३	१	५३५
१२६	पश्येषमेनार्यमनन्त	३	९	५४६
१२७	पीनाहि भोगोत्थित	१	३३	४८१
१२८	पुरेह भूमन बहवोपि	३	५	५४१
१२९	प्रतिस्पर्धेते सृक्कि	१	२१	४७४
१३०	प्रपञ्चं निष्प्रपंचोपि	३	३७	५७६
१३१	फल प्रवालस्तबक	१	४	४६५
१३२	बर्हप्रसूनवनधा	३	४७	५८२
१३३	बिभ्रद् वेणुं जठर	२	११	४९७
१३४	ब्रह्मन् कालान्तर	१	४१	४८५
१३५	ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे	३	४९	५८४
१३६	भारतैवं वत्सपेषु	२	१२	४९८
१३७	मुष्यन्तोन्योन्य	१	५	४६६
१३८	यत्पादपांसुर्बहु	१	१२	४६९
१३९	यदि दूरं गतः कृष्णो	१	६	४६६
१४०	यस्य कुक्षाविदं सर्वं	३	१७	५५४
१४१	यावद्वत्सकवत्स	२	१९	५०२
१४२	यावन्तो गोकुले बालाः	२	४१	५१७
१४३	राजन्नाजगरं चर्म	१	३६	४७३
१४४	वयं धन्यतमा लोके	१	४३	४८६
१४५	वस्तुतो जानता मत्र	३	५६	५८८
१४६	विकर्षन्तः कीशबाला	१	९	४६७
१४७	विच्छायाभिः प्रधा	१	८	४६७
१४८	व्रजस्य रामः प्रेम	२	३५	५१३
१४९	व्रजौकसां स्वतोके	२	२६	५०८
१५०	शनै रथोत्थाय	२	६४	५३२
१५१	श्रीकृष्ण वृष्णिकुल	३	४०	५७८
१५२	श्री वत्साङ्कदोरत्न	२	४८	५२२
१५३	शृणुष्वा वहितो राजन्	२	३	४९३
१५४	श्रेयः स्रुतिं भक्ति	३	४	५४०
१५५	सकृद्यदंगप्रति	१	३९	४८४
१५६	सतामयं सारभृतां	२	२	४९२
१५७	सत्यज्ञानानन्ता	२	५४	५२५
१५८	सत्यमर्ककरारक्त	१	२०	४७४
१५९	सपद्येवाभितः पश्यन्	२	५९	५२९
१६०	समाश्रिता ये पद	३	५८	५८९
१६१	समेत्य गावोधो	२	३१	५११
१६२	सर्वे मिथो दर्शयन्त	२	१०	४९६
१६३	सर्वेषामपि भूतानां	३	५०	५८४
१६४	सर्वेषामेव भावानां	३	५७	५८८
१६५	साकं भेकै विलङ्घ	१	१०	४६८
१६६	साधु पृष्ठं महाभाग	२	१	४९१
१६७	सुरेष्वृषिष्वीश	३	२०	५५७
१६८	स्वयमात्मात्म	२	२०	५०३

राग केदारो

रे मन गोपाल सों कर हेतु ।
नाम की दृढ बार कर ले उबरे तेरो खेतु ॥ १ ॥
मन सुवा तन पींजरा रे, बन्ध्यो रहत निकेतु ।
काल फिरत बिडाल तनु धरि, अब धरें तो हि लेतु ॥ २ ॥
विष विदारण सेय हरि को, उतरे सायरु सेतु ।
सूर भज गोविन्द को यों, गुरु बताए देतु ॥ ३ ॥

राग सोरठ

सोई भलो जो हरि यश गावे ।
श्वपच गरिष्ठ हेत रज सेवक बिन गोपाल द्विज जन्म नसावे ॥ १ ॥
जोग यज्ञ जप तप तीरथ, भ्रमे जँह जँह जाय तहां उहकावे ।
होय अटल भगवन्त भजन तें अन्य आश नश्वर फल पावै ॥ २ ॥
कहुँ न ठौर चरण पंकज बिनु, जो दसहू दिसि फिरि फिरि आवे ।
सूरदास प्रभु साधु संग तें आनन्द अभय निशान बजावे ॥ ४ ॥

राग विहाग

भरोसो दृढ इन चरनन केरो ।
श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माहिं अंधेरो ॥ १ ॥
साधन और नहीं या कलि में जासों होय निवेरो ।
सूर कहा कहें दुविध आंधरो विना मोल को चेरो ॥ २ ॥

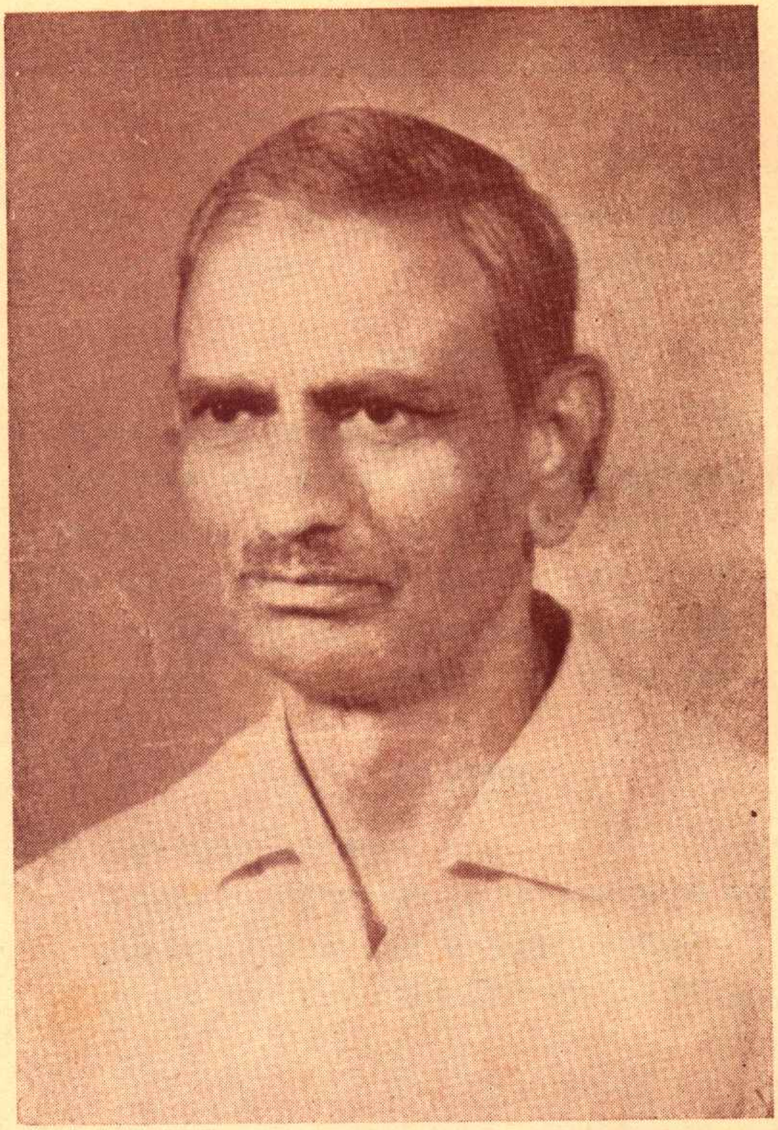

प. भ. श्री नन्दलालजी मानधना, साम्भर निवासी

श्री सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद के सर्व प्रथम मनोरथी

। श्री हरि ।

प.भ. श्री नन्दलालजी मानधना साम्भर निवासी का संक्षिप्त जीवन वृत

परम भगवदीय श्री जेठमलजी मानधना (माहेश्वरी) की धर्मपत्नी श्रीमति जमुनाबाई साम्भर (राजस्थान) में एक पुत्र रत्न को प्रकट कर एक मास के भीतर ही परलोक सिधारी। नवजात शिशु श्री नन्दलाल के अग्रज भाई बहिन सब शान्त हो चुके थे, इसलिए उनके पितृ चरण के होते हुए भी इनके पूज्य मामाजी श्री गोवर्धनदास जी एवं श्री रामविलास जी सोनी के यहां इनका लालन पालन होने लगा। इनके मातृ एवं पितृ पक्ष के परिवार प्राचीन पुष्टि मार्गीय वैष्णव थे इससे इनमें बाल्यकाल से ही वैष्णवी सुसंस्कारों ने स्थान कर लिया। यह मातृहीन बालक माता के स्नेहयुक्त पोषण से तो वंचित था हो कि लगभग आठ वर्ष की अवस्था में इनके पितृ चरण ने भी सदैव के लिए अपने भतीजे श्री लक्ष्मीचन्दजी एवं इनके मामाजी श्री गोवर्धनदास जी सोनी को इन्हें सौंप कर गोलोक वास किया। इस प्रकार जिस बाल्यावस्था में एक बालक माता-पिता के लालन पालन से पल्लवित हो कर एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है वह इन्हें प्राप्त नहीं हुआ। ये एक विचारशील बालक थे। इससे इनके कोमल हृदय में उत्साह एवं उल्लास के स्थान में उदासी ने घर कर लिया और इस अपार संसार में ये अपने आप को अकेले रह जाने का अनुभव करने लगे। इनको श्री लक्ष्मीचन्दजी जो बालोतरा के रेलवे स्टेशन के प्रमुख (स्टेशन मास्टर) थे, साम्भर से इन्हें बालोतरा ले आए कुछ समय तक वहां पर रख कर अपने एक मित्र के संरक्षण में उन्होंने जोधपुर में शिक्षण के लिए इन्हें भेज दिया। इनका मेट्रिक तक का शिक्षण हुआ तब ही इन्होंने अपने अध्ययन की इति श्री कर के रेलवे के लोको ऑफिस में एक क्लर्क का स्थान प्राप्त कर लिया। इस समय तक बाबू श्री लक्ष्मीचन्दजी का स्थानान्तर जोधपुर में क्लेम्स इंस्पेक्टर पद पर हो चुका था और इससे ये उनके साथ में ही रहने लगे थे। अब इनका अबोध बाल्यकाल समाप्त हो चुका था और विचार शीलता गाढ हो चुकी थी इससे रेलवे सर्विस कुछ मास तक कर, ये साम्भर में अपने पूज्य मामाजी की फर्म "गोरधनदास ग्वालदास" में कार्य करने को चले गए।

साम्भर में इनके मामाजी एक प्रतिष्ठित वैष्णव थे घर में भगवत्सेवा अच्छे ढंग पर होती थी, जहां नियम पूर्वक सत्संग कथावार्ता का काम चालू था, इससे इनका चित्त प्रसन्न रहने लगा और इनके स्वास्थ्य में भी अभिवृद्धि हुई। वहां पर ही इनका विवाह २३ जनवरी, १६२८ के शुभ दिन एक कुलीन सुयोग्य सुन्दर कन्या के साथ हो गया। संयोग वश वह भी पितृहीन अपने कई भाई बहिनों में से बची हुई इकलौती सन्तान माता के पास थी। स्वभाव की वह गम्भीर एवं मित-भाषी थी इससे इस नव दम्पति में उत्तरोत्तर स्नेह बढने लगा। अक्टोबर सन् १६२६ में बी० आर० हरमन एण्ड मोहता की सुविख्यात फर्म जिसकी एक शाखा लाहोर में थी उसमें इनको एक

क्लर्क का पद अच्छे वेतन पर प्राप्त हो गया । वहां पर इनकी कार्य दक्षता एवं परिश्रम से उन्नति हुई जिससे वेतन वृद्धि के साथ साथ विश्वसनीय कुशल कार्यकर्ताओं में इनकी गणना होने लगी । सन् १९३८ में इनको दिल्ली भेज दिया गया । वहां से लगभग एक वर्ष के पश्चात् इनका स्थानान्तर इलाहाबाद हो गया, जहां से ये सन् १९४० के जुलाई में मेनेजर, मारवाड़ सीमेंट कम्पनी के वर्तमान पद पर जोधपुर भेज दिए गए जहां का काम अव्यवस्थित था । यहां ये अथक परिश्रम एवं कार्य कुशलता से फर्म के प्रोप्राइटर राव बहादुर श्री शिवरतनजी मोहता के एक विश्वसनीय एवं सम्मानित कार्यकर्ता बन गए हैं । अच्छी वेतन, फर्म के लाभ पर उचित कमीशन तथा निजी शेयर बिज़नेस में पर्याप्त लाभ होने से इनकी आर्थिक दशा समुन्नित हो गई ।

श्री नन्दलालजी का बाल्यवस्था में ही ब्रह्म सम्बन्ध पूज्यपाद गोस्वामी श्री गोपाल लालजी महाराज (शृंगारी ठाकुर) मथुरावालों द्वारा सम्पादित हुआ था । ये एक भावुक हरि गुरु वैष्णव सेवा परायण हैं । सौभाग्य से इनको एक पतिव्रता पत्नी प्राप्त हुई जिनका ब्रह्म सम्बन्ध पूज्यपाद तिलकायत श्री गोवर्धनलालजी महाराज श्री द्वारा हुआ था । श्री सौभाग्यवतीजी का सदैव से एक लक्ष्य यही रहा कि मन, क्रम, वचन एवं क्रिया से पति को हर समय प्रसन्न रखना इससे इनका दाम्पत्य जीवन सुख से बीतने लगा । सन्तानपक्ष इनका निर्बल रहा क्योंकि प. भ. सौभाग्यवति ने एक पुत्र को सन् १९४२ में जन्म दिया जो एक सप्ताह के पश्चात् शान्त हो गया । प्रसव काल में ही यह युवती वात रोग से ऐसी पीड़ित हुई कि जिससे ये कभी मुक्त न हुई । इसके पश्चात् इस दम्पती को संसार से वैराग्य हो गया और विशेषतया सौभाग्यवतीजी ने अपने शेष जीवन के समय को भगवत्सेवा व पति सेवा में ही व्यतीत किया । उनने व्रज चौरासी कोस की यात्रा दो बार की, श्री गिरराज की दंडवती परिक्रमा पति सहित सन् १९३९ में की पुरुषोत्तम मास में अधिकतर वे नाथद्वारा में ही रहती थीं । पुष्टिमार्गीय ग्रन्थ एवं अन्य सेवोपयोगी वस्तुओं का वैष्णव समाज को भेंट करने में उनकी अभिरुचि थी । भगवत्मंडलियों में रुग्ण दशा में भी उपस्थित होती थी जिससे जोधपुर में बहुत प्रसिद्ध हो गई । विधवा दुःखी महिलाओं को आर्थिक सहायता, विद्यार्थियों को छात्र वृत्ति देने में पतिदेव को प्रोत्साहित करती रहती थी । उनको अष्टछाप के अनेक पद कण्ठस्थ थे परन्तु लज्जाशील अधिक होने से मण्डली में पद गान कदाचित् ही करती थी ।

श्री नन्दलालजी सन् १९६० में ही एक बहूमूल्य भूमि अंश लेकर चोपासनी मार्ग में ही भवन निर्माण इस अभिप्राय से करवाया कि जिससे चोपासनी से जोधपुर पधारते एवं वापिस लौटते समय पूज्यपाद गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज की कृपा दृष्टि इस भवन पर पड़ती रहे और यह स्थान इस पथ में होने से कदाचित् इस प्रकार कुछ सेवोपयोगी बन सके तथा श्री मद्वल्लभाचार्यचरण के सेव्य उन श्री श्याम मनोहर प्रभु को प्रसन्नता का कारण हो सके जिनकी सेवा में महाराज श्री रत हैं । इस भवन निर्माण की नींव पूज्य महाराज श्री के वरद् हस्त से डलवाई गई । सन् १९६३ से इस भवन में इन्होंने रहना आरम्भ किया जिससे पूर्व कई विवाह

गो. वा. परम भगवदीया श्रीमती सौभाग्यवती नन्दलाल मानधना
श्री सुबोधिनो–हिन्दी अनुवाद की द्वितीय मनोरथी

जैसे शुभ कार्य इसमें सम्पादन हुए। इनके भाई श्री लक्ष्मीचन्दजी के पुत्रादि पर इनका सहज स्नेह है।

वि० सं० २०२१ में अधिक चैत्र सुदि ७ (ता० २० मार्च, ११६४) के दिन प० भ० सौभाग्यवतीजी अपनी वयोवृद्धा माता के साथ तांगे में श्री श्याम मनोहर प्रभु के दर्शनार्थ चोपासनी संध्या के पांच बजे जा रही थी कि राह में घोड़े का पैर फिसलने से वह नीचे गिर गया इससे इस महिला भक्त की गर्दन पर झटका लगने और रीढ की हड्डी की नस को आघात पहुँचने से, गर्दन के नीचे का भाग शून्य हो गया और गांधी अस्पताल में बहूमूल्य उपचारों के पश्चात् ता० २६ मार्च, १६६४ के दिन दोपहर में मानसी भगवत्सेवा में लीन यह कहते हुए कि ठाकुरजी पधारे हैं जल्दी आरती जोड़ो श्रीमती सौभाग्यवतिजी अपने प्रिय पतिदेव को छोड़ कर चली गई। रुग्णावस्था में गरदन में भीषण पीड़ा होते हुए भी अष्टाक्षर मंत्र जप व पद कीर्तन का क्रम जारी था। जिस मनुष्य के माता पिता भाई बहिन, पत्नी एवं सन्तानादि होते हैं उस का स्नेह इन सब में विभाजित होता है परंतु श्री नन्दलालजी का स्नेह (इन सबके अभाव में) केवल पत्नी में ही केन्द्रीभूत था तथापि भगवत् कृपा से इन्होंने एक आदर्श वैष्णव होने का प्रमाण दिया कि गृह भंग जैसे आपत्ति काल में नेत्रों को सजल भी नहीं होने दिया न वाणी में कातरता आने दी जिसे देख कर बड़े बूढ़े सभी चकित हो गए। श्री मद्वल्लभाचार्य चरण के "विवेक धैर्याश्रय" ग्रन्थ को इस प्रकार व्यौहार में लाकर दिखा देना इस वैष्णव रत्न का ही कार्य था। पत्नी का दाह क्रिया करके लौटते समय जब मेरा हृदय द्रवी भूत दशा में था कहने लगे "भाई ! मेरे जीवन का दूसरा अध्याय आज समाप्त हुआ"। पहला अध्याय था माता पिता के लालन पालन व स्नेह से वञ्चित जीवन एवं परिश्रम से जैसे तैसे अपने पैरों पर खड़ा होना।

भगवद् कृपा से इनके जीवन का तीसरा अध्याय बड़े ही विलक्षण ढंग से प्रारम्भ हुआ। इनकी आयु पचास वर्ष से ऊपर होने पर भी इनके कुछ वैष्णव मित्रों ने इनके कोई सन्तान न होने से व भगवत्सेवा में सहायता के लिए पुनः विवाह करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। सब परिस्थितियों का अवलोकन कर इन्होंने स्वीकृति इस शर्त पर दी कि कन्या तीस वर्ष से अधिक उमर की व अपने ही समाज की हो। कदचित् इनने, वैष्णवों की आज्ञा उल्लंघन न हो और ये भी नवीन गृहस्थ जाल में न फंसे इस विचार से ही ऐसी कड़ी शर्त रखी हो। परन्तु भगवान अद्भुत कर्मा हैं। एक तेतीस वर्ष की सुशिक्षित कुलीन एवं धनी परिवार की कन्या का विवाह उसके ज्येष्ठ भ्राता ने इनके साथ अक्षय तृतीया वि० सं० २०२३, (२३ अप्रेल, १६६६) के दिन कर दिया। एक सप्ताह में श्रीमती शकुन्तलादेवी का ब्रह्मसम्बन्ध पूज्य पाद तिलकायत श्री गोविन्दलालजी महाराज द्वारा हुआ जिससे विवाह होने के एक पक्ष में ही श्री नन्दलालजी को निज इच्छानुकूल भगवत्सेवा में एक सहायक प्राप्त हो गया। सब से विचित्र बात यह है कि इनकी दोनों पत्नियों के स्वभाव, शरीर, कद, कदावर, हंसने बोलने के ढंग व पति सेवा में समानता है। प्रभु की लीला अनन्त है, वह कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं कहलाता है। शकुन्तला देवी ने ३१ मार्च, १६६७ के दिन एक कन्या को जन्म दिया है जिसमें भद्गवभावों के दर्शन होते हैं।

श्री नन्दलालजी में हरि गुरु वैष्णव परायणता तो स्वभाव से ही विद्यमान है। सार्वजनिक कार्यों में भी उपयुक्त आर्थिक सेवा करते रहते हैं। साम्भर में स्थित श्री गोवर्धननाथजी के मंदिर भवन में कूप की व्यवस्था एवं भवन का जीर्णोद्धारादि कराया। चोपासनी से ३-४ माईल पर एक श्री नाथजी की बैठक है वहाँ रु० ५०००) को लागत का वैष्णवों के लिए एक कूप तैयार करवाया है। श्याम मनोहर प्रभु की सेवा में हर समय रत रहते हैं। श्रीमद्भागवत की टीका श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी का हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। इस अभाव की पूर्ति के लिए केवल एक बार कहने मात्र से इन्होंने एवं प० भ० सौभाग्यवतीजी ने रु० १०,०००.०० भेंट करके अनुवाद कार्य प्रारम्भ कराने में जो प्रशंसनीय सहयोग प्रदान किया है वह हिन्दी जगत् एवं सम्प्रदाय में चिर-स्मरणीय रहेगा। इनकी प्रथम पत्नी सौभाग्यवतीजी का मनोरथ था कि निष्काम सेवार्थ एक धर्मार्थ प्रन्यास (ट्रस्ट) का निर्माण किया जाए जिससे दीन दरिद्र महिलाओं, विद्यार्थियों, रोगियों की आर्थिक सहायता तथा आध्यात्मिक ग्रंथ प्रकाशन से सार्वजनिक सेवा हो सके। उनकी इच्छा पूर्ति निमित्त श्री नन्दलालजी ने, जो शेयर्स श्री सौभाग्यवतीजी के नाम के थे और जिनका मूल्य उस समय लगभग ७५,०००) रुपये का हो गया था, उस रकम का एक धर्मार्थ ट्रस्ट बनाने की स्वीकृति देदी। इस पर प्रसन्न होकर उनने एक वसियतनामा लिखवा लिया कि शरीर का क्या भरोसा है उनके गोलोकवास होने के पश्चात् श्री नन्दलालजी ने अपने विवाह होने की नई परिस्थिति के प्रलोभन में न आकर उस वसियतनामे के आधार पर "श्री सौभाग्यवती नन्दलाल मानधना चेरिटेबल ट्रस्ट" स्थापित कर दिया।

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल के कार्यालय को इन्होंने निज निवासस्थान में ही गत ७ वर्षों से रखा है।

श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द से हमारी विनम्र प्रार्थना है कि इन आदर्श वैष्णव के सब मनोरथ सफल हों और इनकी हरि गुरु वैष्णव सेवोपयोगी भावना उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। इस दीन किङ्कर पर इन महानुभाव की कृपा चिरकाल से रही है जिसके फल: स्वरूप पुष्टिमार्ग ग्रहण करने एवं इनकी पूर्व पत्नी सौभाग्यवती के गुरू भाई बनने (अर्थात् उनका और मेरा एक ही समय में ब्रह्मसम्बन्ध हुआ) का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। इनके प्रति मेरी पूर्ण श्रद्धा होने से एक वैष्णव जिनको महाप्रभुजी सानुभाव है उन को चम्पारण्य में श्री मद्वल्लाभाचार्य चरण की अपने प्राकट्य महामहोत्सव के दिवस वि० सं० २००७ में आज्ञा हुई कि इस को नन्ददास कहा करो तब ही से मुझे यह नाम प्राप्त हुआ यद्यपि मेरा लौकिक नाम रामचन्द्र है।

श्री नन्दलालजी की इच्छा न होने पर भी श्री अध्यक्ष महोदय पूज्य पाद गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज की एक मात्र आज्ञा पालन निमित्त यह लेख मैंने प्रस्तुत किया है।

तदीयजन चरणरजाभिलाषी

नन्ददास (रामचन्द्र)

॥ श्री हरिः ॥

गोलोकवासी प.भ. श्री यमुनादासजी मूंधड़ा व प.भ. चि. गिरधरलालजी मूंधड़ा, बीकानेर निवासी का संक्षित जीवन चरित्र

राजस्थान प्रान्त के श्री बीकानेर नगर में यह मूंधड़ा परिवार एक प्रमुख वैष्णव परिवार है। विष्णुस्वामि पथान्तर्गत श्री वल्लभ मार्गानुसरण करते हुए इस परिवार को लगभग १२५ (एक सौ पच्चीस) वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

इस कुल के पूर्वज श्री सवाईरामजी (माहेश्वरी) मूंधड़ा थे। जिनके यहां श्री फतहचन्दजी तथा उन्हीं के सुपुत्र स्वनाम धन्य श्री मदनगोपालजी मूंधड़ा हुए। आप महामना, उदार एवं भगवदासक्त पुरुष थे।

जिस समय कलकत्ता नगरी में माहेश्वरी समाज द्वारा संचालित व्यापार व्यवसाय का प्रायः अभाव सा ही था उस समय सर्व प्रथम आपने सूती कपड़े का व्यवसाय आरम्भ कर अपने श्रम एवं लगन से उत्तरोत्तर व्यवसाय में उन्नति की। भविष्य में उनके सुपुत्र श्री नरसिंहदासजी ने वूलन (ऊनी वस्त्र) की दुकान खोली जो अब विशाल रूप से चालू है जिसे उनके द्वितीय सुपुत्र श्री गोकुलदासजी ने संचालित कर रखी है।

उपरोक्त उल्लेख के प्रमाण में कि श्री मदनगोपालजी महोदय भगवदासक्त पुरुष थे, इतना उल्लेख ही उपयुक्त है कि आपने अपने गृह बटवारे में भौतिक सम्पत्ति का मूल्य अल्प अंकन कर परम्परागत पंच सैवोपासना के स्वरूपों में से पारलौकिक भावरूप युगल स्वरूप श्री मदनमोहनलालजी एवं उनकी श्री स्वामिनीजी को ही अपना मान कर स्वीकार किया और जिन्हें पुष्टि मार्गीय स्वरूपों के रूप में पुष्ट करा कर उनकी सेवा का क्रम वल्लभ कुल सेवा पद्धति के अनुसार चालू किया। इन के अतिरिक्त बीकानेर में बालू के धोरों में अकस्मात् एक स्वरूप इनके नानाजी को प्राप्त हुआ जो श्री बालकृष्ण का स्वरूप है। इस स्वरूप द्वारा स्वप्न में उन्हे यह आज्ञा हुई कि मुझे तुम श्री मदनगोपालजी के यहां पधरा आवो। इस प्रकार यह स्वरूप तथा अन्य स्वरूप भी उनके यहां कृपा पूर्वक विराज रहे हैं। यथा :—

> जिनके गृह सतब्द अवधि सो ठाकुर सहित समाजै,
> लैन सतत संततिगत सेवा धन्य करन के काजै।
> यशोदात्संग ललित लालम श्री बालकृष्ण शुभ भ्राजै,
> मन्मथ मोहनलाल स्वामिनियुत मधिनायक राजै।
> †श्री वल्लभ आचार्य चरण के श्री हस्ताक्षर गाजै,
> श्री गोकुलनाध अनाथ नाथ के चरणपादु सुविराजै।

---

† श्री आचार्य चरण श्रीमद्वल्लभाचार्य के श्री हस्ताक्षर स्वनाम धन्य श्री यमुनादासजी मूंधड़ा द्वारा पधराये हुए हैं।

विष्णु स्वामि पथान्तरगत श्री वल्लभ मारग अनुसर,
वैश्य मूंधड़ा वंश कुलोद्भव मदनगोपाल मान्यवर।
सेवा-व्रत मस्तकधर सुखकर सब स्वरूप पधराए,
कलिकाताख्य नगर प्रभु हित तजि श्री बीकापुर आए।

श्री बीकानेर में आकर आपने प्रभु हित क्या किया ? उसका उल्लेख इस भांति है—

शहर द्वार नत्थूसर बाहिर मारग करमीसर के,
सैसोलाव तालाव निकट स्थित मंदिर विश्वेश्वर के।
मालिक नरसिंहसाय मदनगोपाल सुख्यात फर्म के,
निज नामाख्य बगीची क्रय करि राखी हित मंदिर के।
ता थल कों जु पवित्र करन सौभाग बढ़ावन हित को,
*परम दिव्य मंदिर समरायौ मकराना पत्थर को।
जहं श्री मदनमोहनलाल प्रभु परिकर सहित विराजै,
श्री श्री मदनगोपाल वंश को धन्य करन हित काजै।

श्री मदनगोपालजी के श्री नरसिंहदासजी तथा उनके यहां सुपुत्र रूप से श्री यमुनादासजी आदि पाँच पुत्रों एवं दो सुपुत्रियों का जन्म हुआ तथा श्री यमुनादासजो के गो. वा. श्री घनश्यामदासजी, चि० जीवनदास, चि० रणछोड़दास, चि० दामोदरदास, चि० कृष्णदास, चि० उद्धवदास का जन्म हुआ ये पुत्र पौत्रादि सब परिवार अद्यावधि प्रभु सेवारत हैं।

पद्य

पुत्र पौत्रादि सकल परिकर परिवार रहत सेवारत,
अद्यावधि तब सौं नित तन मन धन निज संपति अरपत।
श्री नरसिंह स्वरूप इष्ट-वत सेवत पूर्व समय तै,
तिन प्रताप नरसिंह सुत पायो मदन गोपाल अंशतै।
शुभ श्री कुक्षि "राधा" तै प्रकटे यमुना, गोकुल गिरिधर,
गोपालदास अरू ग्वाल दास वाई बैया, छुटियावर।

गो.वा.प.भ. श्री यमुनादासजी––

श्री यमुनादासजी मूंधड़ा महोदय, बुद्धिमान, सहृदय एवं विचारशील थे। अपने जीवन काल में आपने एक कुशल व्यापारी के नाते व्यापारिक धनिक वर्ग में तथा प्रभु-सेवा-संलग्न-चित्त युक्त उच्च कोटि के वैष्णव नाते से वैष्णव समाज में अग्र-गण्यता प्राप्त की। आप का इस कुल उस कुल दोनों कुलों में अधिक सम्मान एवं प्रतिष्ठा रही है। पू० पा० गौस्वामी श्री कन्हैयालालजी महाराज प्रथम पीठाधीश्वर कोटा वालों द्वारा ब्रह्म–सम्बन्ध प्राप्त कर श्री मथुरानाथजी के घर

* यह मंदिर श्री यमुनादासजी, श्री गौकुलदासजी महोदयों द्वारा सिद्ध करवाया गया है।

प. भ. गोलोकवासी श्री यमुनादासजी मूंधड़ा बीकानेर निवासी

को आपने अपना गुरू गृह बनाया। बीकानेर में श्री मदनमोहनलालजी की सेवा आप आजीवन सस्नेह करते रहे। कारण वश आपको कलकत्ते उस समय जाना पड़ा था जब कि आप व्यापार से अवकाश प्राप्त थे। आप उस समय का श्री मदनमोहनलालजी का वियोग सहन नहीं कर सके फलतः उनके वियोग ही में आप उनसे आत्मसात हुए।

बीकानेर के श्री मदनमोहन लाल जी का मंदिर आपने अपनी उपस्थिति में मकराने पत्थर से अति सुन्दर कलात्मक प्रकार से सिद्ध कराया। गुरू घर की सेवा के विषय में आप श्री मथुरानाथजी के मंदिर की सुचारू सेवा सम्पादनार्थ मंदिर-ट्रस्ट के एक ट्रस्टी के रूप में अन्य वैष्णव यथा राजा बाबू दामोदरदासजी, श्री किशनगढ़ नरेश, मणिभाई अहमदाबाद, हरि–शंकरजी हरदा प्रभृति के साथ रहकर श्री मथुरेशजी का सेवा प्रबंध कई वर्षों तक संभालते रहे। श्री मदनमोहनलालजी की वैभव सेवा क्रम में सभी सेवकों मुखिया, भीतरिया इत्यादि की यथा स्थान नियुक्ति रहने पर भी आप समस्त परिवार सेवा अपने हाथों से सम्पादन कर "सेवापिकायिकी कर्यों" की आज्ञा का पालन करता आ रहा है। आपकी कीर्तन संगीत में भी अथिक रुचि थी आपकी मधुर कंठ की दैन ईश्वरीय थी अतः सुमधुर कण्ठ से जब आप प्रभु सम्मुख कीर्तन करते उस समय सभी श्रोतागण मुग्ध हो उठते थे। आप कीर्तन बड़े भाव के साथ गाते थे। मंदिर में दर्शनार्थ समागत वैष्णवों का समादर, नियम पूर्वक कथा वार्तादि से प्रेम, गुरू सेवार्थ सर्वोच्च भावना आदि सद्‌गुण भूषणों से आप विभूषित थे। पुष्टि मार्गीय प्रचार कार्य में भी आपकी अधिक रुचि थी अतः आपने पुष्टि मार्गीय साहित्य संकलन भी कर रखा था। सेवा रीति के अद्वितीय जानकार थे, इसी हेतु कोटा वाले मुखियाजी श्री गोकुलदासजी से आपका अधिक स्नेह सम्बन्ध था। मगनलाल जी शास्त्री श्री मूलचन्द जी तेलीवाला आदि पुष्टि मार्गीय से रुचि रखने वालों से भी आप अधिक सम्पर्क कायम रखते थे।

व्यापार क्षेत्र में प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर जब कलकत्ते में ब्रिटिश सरकार द्वारा एक विजय सूचक आयोजन हुआ था उसमें ईडन गार्डन की विद्युत् से सजाए जाने का ठेका नरसिंहसहाय मदनगोपाल इलेक्ट्रिक कन्सर्न ने लिया था उस आयोजन में अद्वितिय, उत्तम श्रेणी की सजावट के कारण इस कन्सर्न को अधिक यश प्राप्त हुआ। उसका प्रमुख उत्तर-दायित्व श्री यमुनादास जी मूंधड़ा पर ही था आपकी कुशल नीति द्वारा प्राप्त यश के फलस्वरूप हुगली, चिनसूरा, चन्दन नगर में विद्युत् प्रसार का लाइसेन्स सर्व प्रथम हिन्दूस्तानी वर्ग के रूप में आपको ही प्राप्त हुआ और इसी हेतु से आपने ईष्ट इण्डिया इलेक्ट्रिक सप्लाई एण्ड ट्रेंक्सन कम्पनी लिमिटेड की नींव डाली जो आज भी श्री नरसिंह सहाय मदनगोपाल फर्म द्वारा सुरक्षित संचालित है।

सामाजिक प्रवृत्तियों में भी आप ने अधिक कुशलता प्रदर्शित की थी। आप की निस्पक्ष न्याय नीति से पक्षी विपक्षी (वादी, प्रतिवादी) दोंनों दल पूर्ण सन्तुष्ट हो जाते थे। माहेश्वरी समाज में कोलवार सम्बन्ध को लेकर एक वैमत्य हो उठा था जिसमें अखिल-भारतीय माहेश्वरी सभाकी ओर से एक जाँच कमीटी नियुक्त की गई थी जिसके एक प्रमुख निर्णायक सदस्य आप

भी थे आपने अपना बहुमूल्य समय तथा द्रव्य भी व्यय किया, आप स्थान स्थानों में वास्तविकता की कसौटी के लिए पर्यटन करते रहे, तथा अपनी निष्पक्ष राय अपने सहयोगी निर्णायक सदस्यों को दी।

श्री घनश्यामदासजी श्री यमुनादासजी के ज्येष्ठ पुत्र जिनके पार्थिव देह का अवसान हो चुका है कुशल व्यापारियों में थे जिन्होंने ने अपने सभी भाईयों को व्यापार में निपुण बनाया। उनके अनुज श्री जीवनदासजी इस समय व्यापार से अवकाश प्राप्त हैं किन्तु आप हरि गुरु सेवा परायण हैं। आपके अथक प्रयत्न से मुंबई के श्री दाऊजी की हवेली को नींव से रूपान्तर करा दिया गया। निर्माण के समय सरकारी ऐसी अड़चने उपस्थित हुई थीं जिन्हें सुलझाना साधारण काम नहीं था किन्तु आपकी कुशल कार्य शैली के साथ प्रथमेश गोस्वामी श्री रणछोड़ाचार्यजी महाराज को कृपा प्रसाद से यह सेवा कार्य आपके हाथों सम्पादित हुआ। श्री रणछौड़दासजी, श्री यमुनादासजी के तृतीय पुत्र हैं। ये भी धैर्यवान, शान्त एवं सेवा परायण भगवदीय हैं। इन तीनों के अतिरिक्त दामोदरदासजी, कृष्णदासजी एवं उद्धवदासजी ने विद्युत व्यवसाय को सुचारू सम्पन्न सम्पादित कर रखा है, तथा इनके द्वारा संस्थापित श्री नरसिंहसहाय मदनगोपाल इलेक्ट्रिक कम्पनी की शाखाएं भारत के प्रमुख नगरों में सर्वत्र हैं जिनसे सब प्रकार लौकिक अलौकिक सम्मान का संरक्षण हो रहा है। श्री यमुनादासजी तथा श्री गिरधरदासजी के सुपुत्रों द्वारा वल्लभ वेदान्त अध्यापन कार्य की पीठ, 'हिन्दु विश्व विद्यालय' में स्थापित कराई गई जिसमें आप लोगों ने २५,०००) रुपयों की सेवा की तथा सुबोधिनो अनुवाद प्रकाशन में लगभग रु० ७,५००) की सेवा की है।

पुष्टि मार्गीय विविध कार्यों में इन सब का सदा सहयोग रहता है। श्री रणछौड़दासजी अ० भा० पुष्टि मार्गीय वैष्णव परिषद् कलकत्ता शाखा के मंत्री कई वर्षों तक रहे। इस समय श्री जीवनदास उपाध्यक्ष पद पर हैं व इनके अनुज श्री दामोदरदासजी उसी संस्था के कोषाध्यक्ष हैं। बम्बई नगर में श्री उद्धवदासजी परिषद् शाखा के मंत्री हैं। श्री घनश्यामदासजी के पुत्र श्रीदास जी मद्रास में परिषद् शाखा के संयुक्त मंत्री हैं। श्री उद्धवदास जी प्रति वर्ष श्री मद्वल्लभाचार्य चरण के उत्सव का आयोजन चंपारण्य में बड़े समारोह से करते हैं। आप वैष्णव सेवा में प्रमुख भाग लेते हैं तथा अपने पितृ चरणों के सदृश ही सुमधुर कण्ठ से कीर्तन अति सुन्दर करते हैं।

गो. वा. प. भ. श्री गोकुलदास जी—

आप श्री यमुनादास जी के अनुज थे जिन्होंने वस्त्र व्यवसाय का कार्य व्यवस्थित रूप से संभाल रखा। ऊनी वस्त्र की दुकान भी आप ही के अधिकार में रही। आप अपने ज्येष्ठ भ्राता के समान उनके दूसरे हाथ ही थे। कुशाग्र बुद्धि तथा भगवत्सेवा में 'चेत स्तत प्रवणं' रहे। श्री मदनमोहनलालजी की व्रज यात्रा में आपने अन्य सभी भाईयों के साथ भाग ले कर श्री की व्रज यात्रा गो० श्री रणछोड़ाचार्यजी महाराज प्रथमेश के साथ की। आपके छ कन्याएं एवं दो सुपुत्र श्री गोपीदासजी एवं श्रो वल्लभदासजी दोनों ही सेवा पारायण एवं व्यापार कुशल हैं।

प. भ. श्री गिरधरदासजी मूंधड़ा, बीकानेर निवासी.

प.भ. श्री गिरधरदासजी--

श्री गिरधरदासजी श्री नरसिंहदासजी के तृतीय पुत्र हैं। आपको आपके पितामह श्री मदनगोपालजी एवं पितृचरण श्री नरसिंहदासजी का अधिक स्नेह प्राप्त रहा है। आप उपरोक्त महानुभावों के सानिध्य में अधिक रहे। आपकी साम्प्रदायिक दीक्षा एवं वैदिक दीक्षा दोनों ही श्री रणछोड़लालजी महाराज कोटा वालों द्वारा हुई हैं। आपका भी गुरुघर कोटा श्री मथुरेशजी का ही है।

आप के पितामह तथा पितृचरणों दोनों ही के अवसान के समय में आप उनके सानिध्य में रहे तथा अपने पितामह श्री मदनगोपालजी की अन्तैष्टि क्रिया अपने हाथों ध्रुव घाट पर श्री मथुराजी में सम्पादन की। आपकी उम्र उस समय लगभग १० साल की थी। १४ वर्ष में आपने गृहस्थ जीवन पर पदार्पण किया तथा व्यापार कुशल रहकर लक्षावधि धन-राशि को अपने अधिकृत किया। आपके चिरंजीव तीन श्री गोविन्ददासजी, श्री माधवदासजी एवं श्री जगमोहन दासजी हैं एवं दो कन्याएं हुई।

श्री गिरधरदासजी का स्वभाव अति मृदुल किन्तु नियन्त्रण शक्तियुक्त होने से व्यवहार कुशल हैं। सभी सार्वजनिक कार्य कलापों में इनकी रुचि है। उदारता परोपकारितादि गुणों के विकास ने इन मैं चार चांद लगा रखे हैं।

पुष्टि मार्ग के प्रचार की अलौकिक भावना से ये सदा भावित रहते हैं। इनके मनोरथ तो सदा ऊँचे ही रहते हैं और प्रभु उन्हें परिपूर्ण भी करते हैं। आपने संगीत साहित्य कला मंदिर की स्थापना की जिसके छात्र बीकानेर नगर में प्रमुख नृत्यकार, संगीतज्ञ, वादक होकर यश फैला रहे हैं। विशाल पुस्तकालय के हेतु स्थान चयन कर रक्खा है तथा पुस्तकें भीं संग्रहीत हैं। उसकी समुन्नति समयानुसार होगी ऐसी आशा है। हरि गुरु वैष्णव सेवा के साथ दरिद्रनारायण की सेवा भी आप के स्वभाव में है। फलतः असहाय, रोगी, अभाव ग्रस्त आप की ड्योढ़ी से खाली हाथ नहीं जाते हैं। समाज की सभी संस्थाओं का पोषण आपके द्वारा होता रहता है। आप सौन्दर्यो पासक हैं। निर्माण कार्यों में अधिक प्रीति, निर्मित वस्तु की रक्षा में विशेष अभिरुचि किन्तु विलय की ओर आपका ध्यान कभी खींचने पर भी नहीं खिंचता हैं। आप लोकप्रिय नागरिक हैं।

रहे अनुदिन सेवारत एक तै एक अधिक भक्ति युत,
कथा कीर्तन श्रवण, मनन, चिंतन निधिध्यासन संयुत।
राग भोग श्रृंगार युक्ति राजस सेवा प्रकरण हित,
राखे मुनीम कीर्तनयां सेवक परचारकादि समयोचित।
चेतस्ततप्रवणं सेवा हित तन धन विनियोजन के कारण,
गोप कूप अरु गोप तलाई खनवाई जल कष्ट निवारण।
बीकानेर वासी वैष्णव जिन पुष्टि मारग सेवा पधराई,
सो सब सेवा हित यथेष्टजल लेत करण हित प्रभु सेवकाई।

मन नित रह सेवा रत जिनको करि प्रयत्न एक खानखनाई ,
ता मधि मनमथ मन मोहन हित मनहर गौशाला बनवाई ।
परम भागवत शिव अरु हनुमत, जिनके स्थान हते पूरबसौ ,
तिनकी सुख सेवा प्रबन्धकर, तिन हित मंदिर सिद्ध कराई ।

भगवद् सेवा परायणता भी आप में कूट-कूट कर भरी है । यह पारिवारिक गुण इस कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य में स्वाभाविक ही है । जिसके कारण आप प्रभु सेवा रत अनुदित रहते हैं । व्यापारिक जीवन से मुक्त होकर आपने अपना आजीवन निवास का मुख्य ध्येय बीकानेर में श्री मदनमोहनलालजी की सेवा में लगे रहना ही बना लिया । व्यौपार व्यवसाय का पूरा भार अपने प्रतिष्ठित सुपुत्रों पर छोड़ कर आपने अवकाश प्राप्त जीवन अपनाया जिसे श्री मदनमोहन लालजी की सुख सामग्रियों, तथा विविध उपकरणों की सिद्धि में व्यतीत किया । पूर्वजों द्वारा विराट जगत् की सेवा के लिये लक्षावधि द्रव्य खर्च कर बनवाए हुए कूप, बावड़ियां आदि जल संचय स्थानों की सुन्दर व्यवस्था कर उन्हें नव निर्मित ही की भांति सजा दिया । मरुभूमि में जल का कष्ट निवारण कर वैष्णव समाज में जल की सुविधा के प्रकारों की रचना की । गोप तलाई को सुन्दर उपवन के रूप में बना कर प्रभु को वहां मनोरथों पर पधारने के रूप की बनवाई । बगीची को नवीनतम रूप प्रदान कर उसे अधिक सुन्दर सिद्ध की गई । इस प्रकार की विविध सेवाओं में लक्षावधि द्रव्य-व्यय हुआ जिसमें सभी परिवार का सहयोग है किन्तु आपने २५ वर्षों तक निरन्तर अथक परिश्रम में लगे रहकर तन, मन और धन लगाया यह आपकी सेवा अधिक महत्व की है । आपने अपने बीकानेर का निवास सफल सिद्ध कर लिया । राजस्थान में उद्योग धंधे खोलने और कृषि तथा गौरक्षा के पक्ष में भी आपका प्रयत्न है और वह भी भगवदीय भावना की पुट से रंजित हैं । आपने बीकानेर में एक कारखाना खोला है जिसका मुख्य उद्देश्य बीकानेर के लोगों की सहायता के साथ अपने परिवार के व्यक्ति, जो कलकत्ते के मुख्य निवासी बन चुके हैं, वे इसी निमित्त से बीकानेर में आवें और मदनमोहनलालजी के साथ में उनका सम्बन्ध कायम बना रह सके ।

प.भ. श्री ग्वालदासजी–

आप श्री नरसिंहदासजी के सब से छोटे पुत्र हैं, जो एक चतुर व्यौपारी हैं तथा वैष्णवों में भी उच्च कोटि की गणना में आते हैं । श्री मद्वल्लभकुल के आचार्य महानुभावों के प्रति इनकी अटूट श्रद्धा है एवं पुष्टिमार्ग के ये सच्चे पुजारी हैं । वे भवन निर्माण द्वारा धनोपार्जन करने के अधिक पक्षपाती हैं, इस रुचि को कार्य रूपता देकर आपने एक बड़ी आय मकान किराए के रूप में प्राप्त कर रखी है । आपके तीन पुत्र श्रीहरिदासजी, श्री तुलसीदासजी एवं श्रीमनमोहनदासजी तथा दो कन्याएँ हैं । आपके तीनों ही सुपुत्र सेवा परायण तथा व्यापार कुशल हैं ।

आज कल आप अवकाश प्राप्त हैं तथा अब अपने श्री ठाकुरजी सहित मोहनकुञ्ज जतीपुरा में व्रज वास हेतु रहते हैं तथा वैष्णव सेवा कर अपना जीवन सार्थक बना रहे हैं ।

वल्लभलाल गोस्वामी, बीकानेर

सुबोधनी

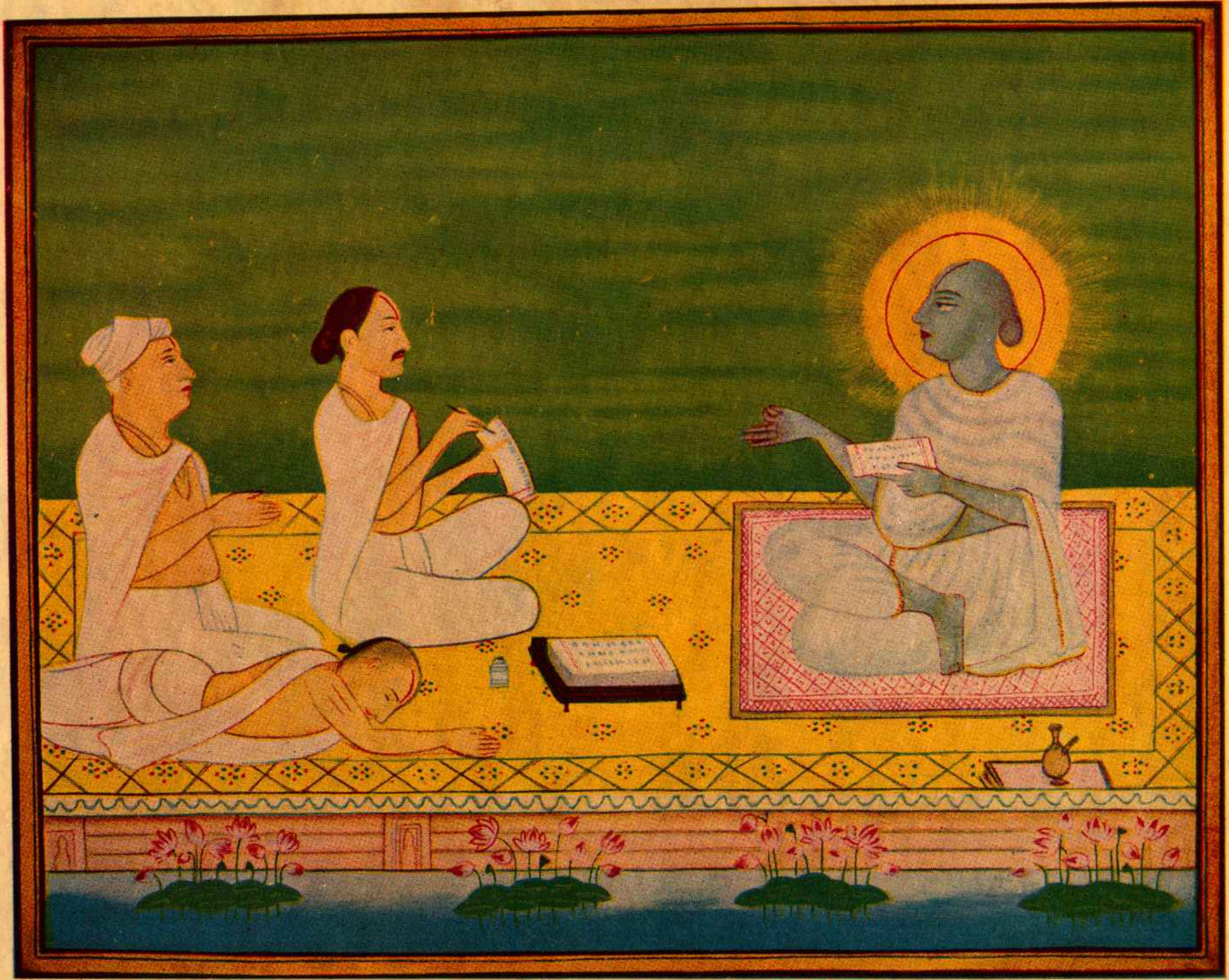

भ. श्री माधव भट्टजी

ी कृष्ण दास मेघन

मोदरदासजी हरसानी

अखण्ड भूमण्डलाचार्य

चक्र चूडामणि

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण

श्रीमाधवभट्टजी को

श्रीसुबोधनी लिखवा रहे